अमृत-सन्तान

अमृत-सन्तान

(लोक-जीवन पर आधारित उड़िया भाषा का उत्कृष्टतम उपन्यास)

लेखक

गोपीनाथ महान्ती

अनुवादक

युगजीत नवलपुरी

भूमिका

हरेकृष्ण महताब

साहित्य अकादेमी की ओर से-

भारती-भण्डार, प्रयाग

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
की ओर से
भारती-भंडार, प्रयाग द्वारा प्रकाशित

प्रथम हिन्दी संस्करण
१९५७
मूल्य बारह रुपये

श्री विन्ध्याप्रसाद ठाकुर द्वारा
लीडर प्रेस, प्रयाग में मुद्रित

प्राक्कथन

भारत की जनता का एक भाग वह है जो 'क़बायली' कहलाता है। जिन लोगों को उनके बीच रहने का अवसर मिला होगा, उन्होंने इतना तो अवश्य ही अनुभव किया होगा, कि ये लोग कितने सीधे-सादे और निश्छल होते हैं। इसी कारण केवल इन्हीं को 'अमृत-सन्तान' कहा जा सकता है। यही इस उपन्यास का नाम है। सरकारी कर्मजीवन के दौरान में गोपीनाथ महान्ती को कई बार क़बायली अंचलों में रहने के अवसर मिले हैं। इन लोगों से विविध भाँति के सम्पर्क-संबंध के संयोग भी उन्हें मिलते रहे हैं। इसलिए इन 'अमृत-सन्तानों' के विषय में साधिकार लिखने की आवश्यक योग्यता उनमें है। सच पूछिये, तो इस उपन्यास में उड़ीसा के दक्षिणी भागों की क़बायली जनता के जीवन का वर्णन है। लेखक ने उन लाखों लोगों के हर्ष-विषाद को सशक्त ढंग से प्रस्तुत कर दिया है, जो समाज के विविध स्तरों में सभ्यता के विषम विकास के कारण अपने अन्य भाइयों से कटे-छँटे सदियों तक दूर पड़े रहे हैं। इन अन्य भाइयों का ध्यान उधर तो कभी जाता ही नहीं था। आज भी उड़ीसा में दो स्थानों पर अशोक के वे शिलालेख मौजूद हैं, जिनमें सरकारी अधिकारियों को यह आदेश है, कि वे क़बायली जनता का विशेष ध्यान रखा करें। ये शिलालेख मानो सभी संपृक्त लोगों को यह याद दिलाते रहते हैं कि सभ्यता की परिधि से बाहर पड़े लोगों को 'सद्धर्म' या सच्ची सभ्यता के पथ पर लाने के अपने कर्त्तव्य से आप चूक गए हैं। श्री गोपीनाथ महान्ती का उपन्यास वास्तव में अशोक के उस महान् संदेश की ओर अंगुलि-निर्देश है। मुझे पक्का विश्वास है कि भारतीय पाठकों को इस उपन्यास के द्वारा यह जानने का अवसर मिलेगा कि उड़ीसा के जंगलों

में उनके अपने ही भाइयों की एक जमात किस प्रकार का जीवन बिताती है।

रही इस उपन्यास के साहित्य-गुण की बात, तो इस संबंध में यह कहने की कोई जरूरत ही नहीं, कि उड़िया साहित्य में इसका स्थान उन कृतियों में है, जो रचना की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं। इस उपन्यास में विषय-वस्तु और भाषा ने मानो एक-दूसरे से सफलता की होड़ लगा रखी है। उपन्यास की यदि कोई आलोचना की जा सकती है, तो यही कि कलेवर में बहुत बड़ा होने के कारण यह आधुनिक काल के व्यस्तता-ग्रस्त जीवन के लिए उपयुक्त नहीं है। इस आलोचना को संगत मान लेने पर भी मेरे विचार में 'अमृत-सन्तान' आज के भारत के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में से है। साहित्य अकादेमी ने इसे जो मान्यता दी है, उसकी पात्रता इसमें प्रचुरता से विद्यमान है। यदि साहित्य अकादेमी न होती, तो यह उपन्यास उड़िया-भाषी जनता के बाहर शायद ही पहुँच पाता। जनता के एक भाग के विषय की जानकारी दूसरे भागों में फैलाकर राष्ट्र की सामूहिक एकता का निर्माण करने का जो प्रयास साहित्य अकादेमी कर रही है, उसके लिए मैं हृदय से उसका धन्यवाद करता हूं।

भुवनेश्वर (उड़ीसा) हरेकृष्ण महताब

एक

किसी अछोर अतीत के पुरखों के इस कंधिस्थान[1] में जंगल के अन्दर चार हज़ार फ़ीट ऊँचे गाँव में मरबू साँवता का घर है। वह कंध है। उसकी भाषा अत्यन्त प्राचीन 'कूभी' है। उसका गोत्र है 'मणिआका'। पहाड़ों की तराइयों में उपजनेवाला साँवा मनुष्य जाति का आदिम अनाज है। कूभी भाषा में उसीका नाम है 'मणिआका'। सो, मरबू साँवता साँवा गोत का कंध है। गाँव का नाम है म्याापायु।

मरबू साँवता अपने गाँव का कुलवृद्ध है। वह गाँव का मुखिया है, गाँव का सरदार है। वह सभी कुछ है। इसीलिए तो वह साँवता है। उसकी गोतियादारी में पाँच सौ घर कंधों के हैं। इतने सारे वीरों का मौलिमणि है वह मरबू साँवता।

वह राजा नहीं, प्रजा है; पर है वह कंधों का सरदार। वह साँवता है। वह कौपीन पहनता है। सिर के ताँबे के रंग के बाल फर-फर उड़ते रहते हैं। मुँह से तंबाकू की पीक वह निरन्तर फेंकता रहता है। फिर भी वह सरदार है। साँवता जिलाये सो जिये, साँवता मारे सो मरे। उसे सब अधिकार हैं। वह साँवता है। कंधों की धारणा है कि रैयत के दरिद्र होने पर भी राजा से रैयत का आभिजात्य अधिक ऊँचा होता है। राजा छोटा भाई होता है, प्रजा यानी कंध बड़ा भाई होता है। बड़ा भाई घुड़सवारी के लिए चाबुक की कमाची तोड़ने जा रहा था। इतने में ही छोटा भाई घोड़े की पीठ पर आके जम गया। उसी दिन से छोटा भाई राजा है,—ठग भाई कहीं का! न्याय से जो चीज़ बड़े भाई को मिलनी थी, उसे उसने हथिया लिया। बड़े भाई का उचित अधिकार छीन कर वह गद्दी पर जम कर बैठ गया था। बड़ा भाई रैयत-का-रैयत ही रह गया, कंध-का-कंध ही

---

१ कंधिस्थान = कंध जाति का देश।

रह गया। बड़ा भाई सरबू साँवता रह गया। छोटे भाई का, यानी राजा का यह बैर-भाव उसने माफ़ कर दिया। उसने माफ़ करना ही सीखा है। अब भी छोटे भाई को वह कोई कम प्यार नहीं करता। कंधिया भाई, माल-भूमि पर तन कर खड़े पहाड़ की तरह ऊँचा तथा आकाश की तरह उदार और सरल होता है।

समय बीता। कंधिया भाई पहाड़ के ऊपर की अपनी टूटी-फूटी झोंपड़ी में बैठा रो रहा था। उसकी पीठ पर गरम लोहे से दागे जाने की साम है, 'चियाँदाग'। उसके मन में घाव है। पेट में भूख है। मगर उसने सहना सीखा है। सर्वंसहा माता 'दरतनी'[1] का बड़ा बेटा कंधिया भाई जो ठहरा!

उतरते पूस की धूप है। अस्सी बरस का बूढ़ा सरबू साँवता द्वार के सखुए के पेड़ में उठँग कर जगा-जगा ही सपने देख रहा है। खुले गलियारे के दोनों ओर मुँहामुँही होकर घरों की दो बड़ी लंबी-लंबी पाँतें इधर से उधर तक चली गई हैं। इन्हीं दो पाँतों के घरों की गिनती तक ही साँवता के राज की इतिश्री है। मगर इतना ही कैसे? निगाहें जितनी दूर तक जा पाती हैं, उतनी दूर तक झिलमिल-झिलमिल हलका कुहासा है। उस इलके कुहरे के भीतर तने-तने नुकीले पहाड़ हैं। पहाड़ों के तले-तले अन-गिनत लहरियों की तरह पोली गुफाएँ हैं, खड्ड हैं, झरने हैं। सभी उसी के पुरखों के हैं। उधर उस पार लुप्त दिग्वलय के भीतर गंजाम के पठार हैं। वहाँ भी कंध बसते हैं। वे 'कुइ'-भाषी कंध हैं। फिर उसके बाद अठ (अठगढ़) की गढ़जाति है। फिर छत्तीसगढ़ है। उसके बाद बस्तर है, मध्यप्रदेश का भूखंड है। फिर माल्यवंत पहाड़ के कोया हैं। सभी उसी के तो हैं! कंधिस्थान बड़ा विशाल है। वहीं उसके बुनियादी पुरखे नाचे-कूदे और 'गये'। वह भी 'जायगा'। सब उसका है, फिर भी वह राज्यहीन है, बड़ा भाई जो ठहरा।

---

१ दरतनी = धरती।

सरबू साँवता बीमार है। छाती में दर्द है। देह दुख रही है। वह 'उस' युग का बूढ़ा है। वह चला गया, तो बच रहेंगे सिर्फ़ लौंडे-छौंडे। वह अपनी पकी उमर के बीते बरसों को टटोल-टटोल कर मन-ही-मन ख़ुश होता है। अपने कंध-दर्शन के अनुसार वह बैठा-बैठा यही सोच रहा है कि बुरे लोगों की आत्मा का अगर नया जनम होता है, तो वे झटपट मर जाते हैं। सिर्फ़ भले लोगों की आत्माएँ ही पुनर्जन्म होने पर दीर्घ आयु पाती हैं। वह पिछले जनम में भला था, इस जनम में भला है, इसके बाद उसका अगला जनम होना अटल है, अनिवार्य है। यह सोच-सोच कर उसे ख़ुशी होती है। वह कंध-संस्कृति का भंडार है। इसी बात पर भर देकर वह कहता है—"जाना ही हुआ, तो जाऊँगा। यह देह तो पुरानी पड़ गई है। बेकार होके रह गई है। इसे फेंक कर फिर नए सिरे से जन्म लेना ही बेहतर रहेगा।" वह सोचता है कि जन्म लेना तो अपने बस में है, आयत्त में है; इसलिए दुःख की कोई बात ही नहीं है।

पठारी जंगल की ओर मुँह किए सरबू साँवता यही सोच रहा था। सोच रहा था कि दुबारा जन्म होगा कि नहीं। मालभूमि कितनी सुन्दर है। इस सुन्दर मालभूमि के अत्यन्त सुन्दर रंग-बिरंगे पहाड़ों की गोद में स्फटिक की तरह स्वच्छ झरने हैं। चारों ओर हलदिया रंग के अड़सी के पीले-पीले फूल छाए हैं। अड़सी का मधु लेकर मधु-मक्खियाँ दीवारों तक में छत्ते लगाने में व्यस्त हैं। सब सुन्दर-ही-सुन्दर है!

पर—

सरबू साँवता सोच रहा था कंधों के फूटे नसीबे की बात। दुर्भाग्य दिन-पर-दिन बढ़ता ही जा रहा है। तराई के मैदानों की सपाट धरती छिन गई, तो कंध इन पहाड़ों पर चढ़ आए। अब पहाड़ भी सारे-के-सारे परायों के हो गए हैं। अपना कहने को अब कुछ नहीं रह गया है। अब तो बस, परायों का बोझ है और परायों का ही जुआ है। यह जुआ देह को काटता है सो काटता है, मन को भी काटता है। कंधों का राज मिट चुका है।

उनका देश छिन्न-भिन्न हो चुका है। किसी दिन ऐसा भी हो सकता है कि लोग यह भी भूल बैठें कि कंध नाम के भी कभी कोई लोग थे।

है तो वह बड़ा भाई ; पर सदा कँगले-का-कँगला ही रह आया है। बड़े-बूढ़े कहते थे कि कभी किसी ज़माने में राम नाम के कोई राजकुमार थे। वह अपनी स्त्री और भाई को लेकर इसी वन में भाग आए थे। उन दिनों कंध देश में दक्षिण के साहूकारों का भारी अत्याचार फैला था। पूँजीदारों के अत्याचारों के खिलाफ़ कंधों ने उपयुक्त सरदार पा लिया। प्रास्का (हनुमान बन्दर) वंश के हनु कंध और जांबाका (भालू) गोत्र के जांबवान ने उनकी सहायता की थी। तमाम दूसरे-दूसरे गोत्रों के कंध उनकी सेना में सिपाही बन गए थे। टुकड़ों-टुकड़ों में बिखरी हुई कंध जाति को राम ने एकजुट किया था। दीन-हीन दरिद्र मजूरों और किसानों की सेना ने बरछे, खाँड़े, पत्थर और बाँस ले-लेकर 'पूँजीवादी'[1] सभ्यता के विरुद्ध युद्ध किया था और उसे उलट-पुलट डाला था। आगे चल कर वही दरिद्र नेता राजा बन बैठे। फिर वही 'पूँजीवादी' सभ्यता वापस आके जम बैठी। दरिद्र जन जहाँ थे, वहीं रहे। अछूत-अछोप जहाँ थे, वहीं रहे। उनकी कीर्ति गाई वाल्मीकि जाति के रत्नाकर ने।

राजा राजा रहा। प्रजा प्रजा ही रही। हालत बदल नहीं पाई।

ज़मीन चली गई है। भात चला गया है। जाति टुकड़े-टुकड़े हो गई है। कंध के रूप में जन्म लेने का मतलब केवल अपमान-ही-अपमान है, मान नहीं।

सरबू साँवता सोचता गया—ऐसे भी दिन थे, जब कंध राजा थे, युद्ध करते थे। युद्ध का संकेत बाजा आज भी रह गया है, नाच अब भी है ; पर युद्ध अब नहीं रहा। रह गया है सिर्फ़ उस युग का चीत्कारमय युद्ध-घोष—'टुणु हायुमु!' 'हाण!',—'सात्री साजी किंहिमाइँ, मेरिया साजी

---

१ यहाँ तात्पर्य शायद धनवादी या वर्गवादी सभ्यता से है।—अनु०

किंहिमाइँ !' ('शत्रु की बलि चढ़ा रहा हूँ, 'मेरिया'[1] की बलि दे रहा हूँ।') अब और शत्रुओं की बलि नहीं पड़ती। अब और 'मेरिया' की बलि नहीं दी जाती। 'दरमू'[2] कब से भूखा है, 'दरतनी' कब से भूखी है। कंध की अब वह सकत ही नहीं रही कि वह शत्रु को पछाड़ कर और 'हत' कर दोनों उपासे-पियासे देवताओं को शान्त करे।

गाँव सुनसान है। सरबू साँवता अकेला ही पड़ा हुआ है। 'दरतनी' (धरती) माता की पूजा शुरू हो चुकी है। गाँव के सभी लोग गाँव के छोर पर जाकर जमा हैं।

यही, पूस लग रही है। पूस की धूप में महुए की दारू का-सा स्वाद और नशा है। धूप की चिलचिली में घुमड़ी-सी लगने लगती है। हलके कुहासे में परछाइयाँ तिरती-तिरती-सी, उतराती-उतराती-सी चलती हैं। अतीत की और भविष्य की परछाइयाँ। सोचते-सोचते बूढ़ा ऊँघ-ऊँघ पड़ता है, आँखें झिप-झिप आती हैं।

गाँव के छोर पर 'झाकड़'-देवता की फुलवाड़ी में दुड़ुम-दुड़ुम ढोल बज रहा है। जानी (पुरोहित) मंत्र पढ़ रहा है—"सभी सुख से रहें, उपज अच्छी हो, मेंह बरसे, वर्षा पाले, बाघ न खाए, रोग न हो।"—केवल शुभ-ही-शुभ कामनाएँ हैं उसकी। इतने शुभ-शुभ की योजनाएँ बनती रहती हैं; पर यहाँ कौन-सा शुभ इस कंध-देश में फैल रहा है ? सब तो उच्छन्न-उच्छिन्न हो गया !

यह प्रसिद्ध मेरिया-पूजा (बलि-पूजा) कंध-देश में पूस के लगते और माघ के चढ़ते ही हुआ करती है। उन दिनों, पहले ज़माने में, तो आज के दिन मानुस-बलि पड़ा करती थी। बलि पड़ने वाले आदमी को कुछ दिन पहले से ही साँवता के घर में रखा जाता था। उसकी रखवाली की जाती थी। पूजा के दिन लोग कोलाहल करते हुए उसे लाने

---

१ बलि के लिए सुरक्षित मनुष्य।

२ दरमू = धर्म-देवता, सूर्य-देवता।

जाया करते थे। उस दिन का समवेत चीत्कार आज भी कानों के परदों पर बज-बज उठता है। सैकड़ों-के-सैकड़े लोग एक ही सुर में गरजा करते थे —

"ओड़े नाटती शिंडी, ओड़े नाटती त्रायु !
(अरे गाँव के बड़मानुष, अरे गाँव के मुखिये।)
कोयु हिपा हाबुमन्नेकि, मेल्ल हिपा हाबुमेन्नेकि
(मुरगी का चूज़ा है कि नहीं ? मोर का छौना है कि नहीं ?)
निदा सेड़ा हाबुमन्नेकि निदा मृञ्जि हाबुमन्नेकि
(तेरा बेटा है कि नहीं ? तेरा लाड़ला है कि नहीं ?)
नाङे माघ लूजू व्याते, पूषु लेंजु व्याते
(मेरा माघ माह आया, पूस माह आया)
कोयु हिपा हियामुँ मेल्लु हिपा हियामुँ
(मुरगी-चूज़ा दे दे, मोर-छौना दे दे।)

साँवता को पैसे देकर बलि के मानुस को मोल ले लिया जाता था। यही प्रथा के अनुसार रीति थी। उस मोल लिए गए बलि-मानुस को दरमू-दरतनी के लिए मार डाला जाता था। इस तरह कितने ही निर्दोष लोग देवता के पत्थर-तले बलि हो जाते थे।

अब ज़माना बदल गया है। मानुस-बलि का रिवाज तो अब और रहा नहीं। अब तो मानुस के बदले सूअर और सूअर भी न मिला, तो चूहे की बलि चढ़ाते हैं। पियें दरमू-देवता चूहे का लहू ! खायें दरतनी माता चूहे का माँस ! मानुस को खा-खा कर तो उन्होंने एकदम खोखला कर रखा है। अब मानुस की देह में लोहू तो रहा नहीं।

रक्त-पूजा का बाजा लिमेणी (विराट् ढोल) बज रहा है। बूढ़ा साँवता अतीत के सपने देख रहा है। उन दिनों रोकने-टोकने को कोई न था, कहने-सुनने को कोई न था। कंध अबाध थे। मानुस की धारणा थी कि अपने ही गरम-गरम लोहू का तर्पण करने से देवता को शान्ति मिलती है। इसीलिए मानुस अपना बलिदान करता था, आत्मत्याग करता था।

अपने ही भीतर से एक जन को देवता के आगे बलि चढ़ा कर चीख़-चीख़ कर गुहार उठाता था आदमी —

हाजी हिलारेटू, कानी हिलारेटू

(कोई न मिटे, बाघ न रहे)

आबारे मण'बे, बालारे मण'बे

(सभी सुख भोगें, शान्ति में रहें),

राजी काङाल आते जका, बिसी काङाल हिलारेटू

(राज्य में अकाल पड़े तो पड़े, देश में अकाल न पड़े)

उलि गोजालेंहें तासा आपदि, लेसुण गोजालेहें तासा आपदि

(प्याज़ की फ़सल भरी-पूरी हो, लहसुन की फ़सल भरी-पूरी हो)

(ओट्टा माड़ालेहें पोड़् पायापे, पाथेर माड़ालेहें काँला ञाँञापे !

(बन की बेल-सी खेती फैल जाय, जंगल-सी फ़सल फैल जाय)

मापुरुहिकि आदार हिंहिमंजाइ, निङ पेण्णु बोगु हिंहिमंजाइ

(हम महाप्रभु को नैवेद्य देते हैं, हे देवता, हम तुम्हें भोग देते हैं !)

राजी ऊजो आताइ देस, ऊजो आताइ टिंजिम जाने

(राज्य उज्ज्वल हो, देश उज्ज्वल हो, तुम्हारे भोग पाने से ।)

मानुस की बलि ! पिच-पिच करता हुआ आदमी का लोहू । लोहू, जिससे आँखें मिच जाती हैं । लोहू, जिसमें बाल जटा जाते हैं । आदमी का लोहू ; पर वे केवल यह लोहू देखने के लिए ही आदमी का वध नहीं करते थे । वे तो सारी गोतियादारी के मंगल के लिए ही बलि चढ़ाते थे । सोचते थे, शायद देवता प्रसन्न होंगे । ऊपर दरमू (धर्म) देवता, नीचे दरतनी (धरती) माता । पर हाय रे, कितने दुःख की बात है ! क़दम-क़दम पर वे भी यह ज़रूर समझा करते थे कि यह बलि क्या देते हैं, एक-एक करके बाछते हुए अपनी ही गोत शेष कर रहे हैं । हर पूजा पर कंध-गोष्ठी का एक जन निकलता जाता था । यही कारण था कि पूजा के आठ दिन या पंदरह दिन पहले से ही वे बलि को राजसी मान के साथ रखते थे । बलि की हरेक इच्छा, हरेक आशा, वे पूरी करते थे । बलि के दिन वे

दारू पी-पी कर मात उठते थे। और तब तक पीते ही चले जाते थे, जब तक कि उनका सारा-का-मारा विवेक गहरे नशे में सो न जाय। फिर भी कितनी करुण होती थी उनकी विनती —

रे देवता, तेरी ही शांति के लिए यह नरबलि है !
मेरा इसमें पाप नहीं, पाप नहीं !
तूने सिरजा है, तूने ही खाया है !
मेरा इसमें पाप नहीं, पाप नहीं !

निङे बार पूजा हिंहिमंजाइ
(तुझे बारह पूजाएँ दे रहा हूँ)
बार लहा हिंहिमंजाइ
(बारह धूमें दे रहा हूँ)
नाङे पाप्पू हिले
(मुझे पाप न लगे)
नाङे दोह हिले
(मुझे दोष न लगे ।)

इट्टा कांडा तिंजिम जाने (बरछे खाते हैं)
मेरिया-कांडा तिंजिम जाने (भाले खाते हैं)
मेरिया डोड़ुलि तिंजिम जाने
(तेरी ही बलिबंध रस्सी खाती है)
मनांङ कालिनि तिंजिम जाने
(तेरी ही कुल्हाड़ी खाती है)
तळे दरतनी मातातो, उप्रे दरमू देम्ता
(नीचे धरती माता, ऊपर धर्म देवता)
निङे नान हिंहिमंजाइ, नाङे पाप्पू हिले
(मैं तो तुझे देता हूँ, मुझे पाप न लगे)

नानू कोड़े आये पप्पू हिले
(मैंने तो एकदम कुछ भी नहीं किया, मुझे पाप न हो।)

इसी तरह वे अपने-आपको धोखा दिया करते थे। अपने-आपको छल कर दरमू के लिए, दरतनी के लिए, कितने ही निर्दोष लोगों को वे बलि चढ़ा डाला करते थे। आज साँवता की आयु बीत चली है। सारे बलि शेष हो चले हैं। दरमू अब भी है। दरतनी अब भी है। पर कंध की कोई बढ़ंनी नहीं हुई।

सरबू साँवता सोच रहा था—सब बेकार है। चारों ओर अंधेर-ही-अंधेर है। अपना तो ख़ैर, अगला और पिछला जीवन एक हिसाब से सुख से ही कटा है। कोई चिन्ता नहीं, कोई अफ़सोस नहीं। शिकार, खेती, दारू और मौज-मजे, बस इसी में अस्सी साल कट गये। कभी किसी के मुँह से 'रे' नहीं सुनी। कभी किसी को 'हुज़ूर' कह कर नहीं पुकारा। जिससे भी बात की, 'ओड़े सोइ, ओड़े सोइ' (हे साथी, हे सँघाती) ही कहा। किसी की औरत पर नीयत नहीं बिगाड़ी, किसी और की औरत की चाह तक नहीं की। न कभी किसी की जगह-ज़मीन छीनी-झपटी। सीधा-सपाटा रहा जीवन-भर, सखुए के पेड़ की तरह सल्लग। अब तक जिस तरह से दिन कटे हैं, भले कटे हैं; पर अब इस इतने बड़े विशाल-वृषाल देह के अन्दर कहीं कोई पुरज़ा बिगड़ गया है। किसी भी घड़ी वह अटक जा सकता है।

जाने दो!—फिर जन्म तो लेना ही है! मँड़ुए का स्वाद है, माँस का स्वाद है, दारू का नशा है और सुन्दर-सुहावनी यह वन-धरती है। अड़सी के पीले-पीले फूलों से सजे-सँवरे ये ढालवान हैं, ये छोटे-छोटे ढालू पहाड़ हैं। हरे-नीले कमरख की तरह के ऊँचे-नीचे इन पहाड़ों के ऊपर ये रंग-बिरंगे हलके-फुलके ढीले-ढाले मेघ हैं। इन्हीं सब में सपने विचरते रहे हैं। ना, इतने सुन्दर मानुस-जनम से वह अलग नहीं हो सकेगा!

सरबू साँवता उठ कर खड़ा हो गया। घर जाकर अपना अलगोजा

उठा लाया। पूस की मन-हुलासी धूप में उस पठार के ऊपर खड़ा होकर अपने गज-भर लंबे अलगोजे में उसने दो-कोस लंबी रागिनी छेड़ दी। अपने ब्याह के समय की रागिनी—

"जेइ ता निळ'स, मा बाइले बाइले
जेइ ता ताळ'स, मा बाइले बाइले"

इसी पठार पर विचरनेवाली अपने यौवन-काल की प्रेयसियों, निळस, ताळस, लेंबर, डुंबर आदि के नाम ले-लेकर प्राचीन रीति से बूढ़े साँवता ने अलगोजे में पुकारा। मानो उस पर हाल आया हो, देवी का आसन आया हो। मानो 'नाचिनी' देवी आप उस पर सवार हो गई हों। अलगोजे की धुन-धुन में वह आज जीवन-शक्ति की पूजा करेगा। बूढ़ा कुत्ता दसरू रसोड़े से चौंक कर भागा-भागा आया और साँवता के पैर चाटने लगा। अलगोजा बजाते-बजाते साँवता नाचने लगा। जीवन सत्य है, जीवन सुन्दर है, पुरानी देह के गल जाने पर फिर इसी सुन्दर धरती पर जन्म लेना है उसे!

पूस की धूप में तितलियाँ उड़ रही हैं। न जाने कितने जाने-अनजाने वन-फूलों की दौंकी-दौंकी गंध मँह-मँह करती आ रही है। वन-देश की अपनी निजी गंध है यह। सामने के पहाड़ के ऊपर धूप लहर रही है। गाँव ऊँघ रहा है। साँवता अलगोजा बजा-बजा कर नाच रहा है।

यकायक छाती के भीतर न जाने क्या कैसा तो होने लगा। देह बीमार थी। छाती में दर्द था। सखुए के पेड़ से उठँगकर एक हाथ में अलगोजा लिए और दूसरा हाथ बूढ़े कुत्ते के ऊपर रखे, साँवता जरा-सा लुढ़क पड़ा। छाती के भीतर कैसा-कैसा तो होने लगा। सिर में पीड़ा थी, आँखों के आगे गोल-गोल काली-काली छायाएँ नाच रही थीं। थोड़ी ही देर में सरबू साँवता की संज्ञा लुप्त हो गई। नीचे दरतनी ऊपर दरसू—कंध जाति की सब से बड़ी पूजा के दिन सरबू साँवता की मृत्यु हुई।

दो

गाँव के ऊपर एक ओर को हट कर एक और गाँव है। पहाड़ की ऊपरवाली चोटी के आधे रस्ते पर रेंड़ की फ़सल लहलहा रही है। उसके बाद भीषण गहन वन शुरू होता है। एक ओर सात-पाताल तले उतरता हुआ घोर अँधियारा जंगल है। नीचे तलहटी में सघन कुंज हैं। उनके उस पार तटहीन पहाड़ हैं। एक ओर को खेती की तराई है। खेती की तराई को घेरे हँसिए की तरह अधचंदा बनाए विराट् पर्वत खड़े हैं। दूसरी ओर गाँव है। पहाड़ के नीचे ढालवान है। ढालवान धनखेती के चौर में उतर कर फिर गहन-काननमय पर्वत के ऊपर की ओर को चढ़ता ही चला गया है।

जिधर भी देखें, अनगिनत पहाड़ों से भरे पठार-ही-पठार हैं। घने-घने जंगल हैं। तहियाए हुए से, थाक-पर-थाक सजाए हुए से, ऊपर और उसके भी ऊपर, पहाड़ों की डोलीनुमा चोटियाँ हैं। गाँव के अन्दर आज इतनी धूमधाम है, पाँच सौ लोगों के घर हैं; पर बाहर से देखने पर पता ही नहीं चलता कि आखिर गाँव है कहाँ पर। गाँव के ऊपर का धुँआँ कुहरे के धुएँ में घुल-मिल कर एकाकार हो गया है। और यह धुआँदार कुहरा खेतों के ऊपर, जंगलों के ऊपर फैलता चला गया है।

यही उसकी, सरबू साँवता की, बुनियादी 'भुँई' है। पुरखों की डीह है। आर्य आए, पर वह तो कल की ही बात है। उनके पहले, परसों, द्रविड़ आए थे। उनके भी पहले हलदिया रंग के नुकीले मुँह और चिपटी नाकवाले और टिमटिमाती नीली-नीली आँखों वाले लोगों के सोते-के-सोते आए थे। गदवा, पारेंगा, सवरा, मुंडारी, फिर कुङ-काङ-चुङ-चाङ-भाषी लोगों के सोते। पर आदिम काल के पहाड़ों के संगी, धरतनी माता के पूत, यहाँ के कंध ही हैं। उन्हीं का यह अपना निजी राज है, उनकी खेती-'भुँई' है, शिकार-'भुँई' है।

पर्वतखण्ड की तरह उसकी विशाल देह शाल के पेड़-तले पड़ी है।

हवा झिर-झिर झिर-झिर बह रही है। लगता है, जैसे अलगोजे की अन्तिम तान की सर्वान्तिम स्वर-लहरी सचमुच ही वहीं घूम-घूम कर चकराने लगी हो, गूँजने लगी हो, चकोह की तरह भँवराने लगी हो। गाँव सुनसान है। गाँव के लोग पूजा में व्यस्त हैं।

कुछ समय यों ही बीत गया। साँवता की कोई सुगबुगी नहीं मिली। मक्खियाँ घेर आईं। मालिक की देह के पास बैठा दसरू कुत्ता दरमू देवता की ओर मुँह करके विकल होकर चीख उठा—वौ. .वौ. . वौ. . .वाउ—! दरमू ने पहाड़ के उस पार मुँह छिपा लिया। इस पार से उस पार तक छिपती-छिपाती कटती-कटाती छाया-प्रकाश की तिलचावली लकीरें फैल गईं। ढोर-डंगर लौट आए। धूल के बादल रंग-अबीर की तरह उड़ने लगे। झरने के किनारे का धड़-धड़-धड़ाक् ढूँ-ढूँ-ढाँ-ढाँ कोलाहल समाप्त हो गया। बड़गद के छतनार-झंखाड़ पेड़ तले चूहे का लोहू और पकाई दारू ढालकर, वेदी के मंडप के ऊपर मुरगी के अंडे डाल कर, हलदिया और लाल बिंदकियों से चित्रित लकड़ी के छोटे-छोटे खाँड़ों और बरछों को खिलौने की बाघमूर्ति के आगे सजा कर, और सभी मंतर-तंतर तथा मंगल-कामनाएँ शेष करके, गाँव के लोग गाँव की ओर चढ़ने लगे। पूजा शेष हो गई है, अब छक-छक कर दारू चढ़ाने और थक-थक कर मौज मनाने की बारी है।

प्रकाश की रेखा छोटी पड़ गई। छाँह की रेखा बढ़ गई। दसरू बैठा-बैठा रोता रहा। उसकी कुकुरिया आँखों के कोनों से आँसुओं की बड़ी-बड़ी बूँदें टपाटप-टपाटप टपकती रहीं।

गुमसुम सुनसान गाँव में यकायक चहल-पहल बढ़ गई। आनंद का हर्षरोर गूँज उठा। दारू के दौरों की अगवानी हुई। दोनों पाँतों के घरों से दारू ला-ला कर खुले गलियारे में रखी गई। अपने-अपने हाथों में मिट्टी के टूटे बरतनों के खप्पर, कद्दू की तुंबियाँ, बोतलें, टिनपाट, आदि ले-लेकर गाँव के सारे लोग दारू के मटकों को घेर कर बैठ गए। गीधों के खँखासने की तरह बूढ़ों की खड़खड़ाती गंभीर बोली दारू के लोभ में और भी बेकल

हो उठी है। किसी ने अभी पी नहीं, तो कोई अभी-अभी पीना शुरू करने जा रहा है। बूढ़ा बैल मार कर उसकी लाश दो टुकड़ों में फाड़ कर टाँग दी गई है। लोहू टपाटप-टपाटप बह रहा है। दारू के दौर खतम होने पर 'बड़ी आग' जलाई जायगी। आधा माँस तो आग में सेंक-भूनकर यों ही खा लिया जायगा। बाकी आधे की सगौती पकेगी। कहीं पुरुषों का मदपान चल रहा है, तो कहीं स्त्रियों का। स्त्रियाँ अपने हलदी-पुते मुँहों, माथों और सिरों पर रेंड़ का तेल चुपड़े हुई हैं। वे पंगत लगा-लगा कर बैठी हैं और किचिर-किचिर बातें कर रही हैं। जहाँ-तहाँ दो-चार कंध-बच्चे रेंग रहे हैं। वे अपनी-अपनी कमर में छोटे-छोटे कौपीन खोंसे हुए हैं। उनमें से कोई एक टाँग से रेंग रहा है, तो कोई दोनों पैरों कुदक रहा है। कई धूल में लोट रहे हैं। उनके चेहरों और आँखों में उज्ज्वल हास खिला हुआ है। आज बड़े दिन का बड़ा तेवहार है।

कुत्ता दसरू दर्दीले सुर में भूँक रहा है। माँस की गंध से उसके नथनों के बाल आप-ही-आप फूल-फूल उठते हैं। रोने के बीच-बीच में माँस की गंध सूँघ-सूँघ कर उसके नथने फड़फड़ा उठते हैं; पर क्या करे बेचारा? पास में साँवता की लाश पड़ी हुई है। खाली देह साँप की केंचुल की तरह पड़ी है। साँवता के साथ वह एक ही थाली में भात खाया करता था। जंगल में दोनों एक ही जगह शिकार किया करते थे। रातों को जब बाहर अनजान भय विचरता रहता था, जब खेंड़े की अँधेरी तलहटी में जमडुरके[1] की आँखें धू-धू बलती होती थीं, तब घर के अंदर अलाव के पास दोनों इकट्ठे ही सिकुड़े-सिमटे सोया करते थे। वह, दसरू, और उसका साँवता! अब और कौन है, जो उसके थूथन की मूँछों को दुह-दुहकर लाड़ लड़ाएगा? अब और कौन है, जो उसके मुँह में तंबाकू का धुआँ भर दिया करेगा? अब और कौन है, जो देह में घाव-फुंसी होने पर सुखुआ[2] के पानी से धो-धो कर चंगा

[1] जमडरका—लकड़बग्घे की जाति का ख़ूँखार जानवर होता है। इसकी खाल पर करैले के पत्तों जैसे चकत्ते होते हैं।—अनु०

[2] सुखाई हुई मछली।

कर दिया करेगा? उसके साँवंता के बिना अब कौन उसके कूकुर-मन की बात समझेगा? सभी भूल जायँगे। मानुस का भुलक्कड़ मन ही तो ठहरा। पर वह—?

दसरू कभी साँवता का मुँह चाटता है, तो कभी पाँव। वह समझ चुका है कि अब तो सब ठंडा पड़ चुका है, सब शेष हो चुका है। रह-रह कर वह आसमान को फाड़-फाड़ कर चीख उठता है, देवता की ओर मुँह करके। देवता तक अपना चीत्कार पहुँचाता है वह। कुत्ता वहाँ से उठा नहीं।

कुछ देर बाद, और दारू लाने, घर से बरतन और माँस लाने, साँवता के घर के लोग घर को आए। साँवता का भाई लेंजू (चाँद) कंध आया। साँवता का बेटा दिउड़ू (कातिक) कंध आया। दिउड़ू हट्टा-कट्टा जवान है। चेहरा कलिंगी-लड़ाई[1] के कलँगीदार मुरगे की तरह है। पैरों से लमगोड़ा है। उसकी घरवाली पुयू (फूल) को नौ महीने का पेट है। इन के अलावा साँवता की क्वाँरी बेटी पुबुली (तितली) है। ले-देकर यही साँवता का परिवार है।

लेंजू पास के घर में घुसा। उसने दारू सहेज रखने के लिए छोटा-सा कनस्तर रख छोड़ा है। दिउड़ू की आँखें नशे से टलमल हैं। पुबुली खूब सजी-धजी है।

सब ने सोचा था कि साँवता और दिनों की ही तरह अलसाकर कहीं सो रहा होगा। दिउड़ू का मन खट्टा हो गया था। आज के-से दिन भी बापा आनंद-मौज में मातने के बजाय अब तक सोया ही है। जरा देर बाद दिन की रोशनी डूब जायगी। दिउड़ू ने सोचा था कि चल के बापा को जगा दे, यही उसका कर्त्तव्य है। उधर गाँव की दारू में से पेट में कुछ सहेज लेने के बाद घर में जुगा रखने को कुछ ले जाना भी था ही। दिउड़ू पाखे की ओर

---

१ मुरगों के पैर में छुरी बाँधकर 'कलिंगी लड़ाई' लड़ाते हैं। दो में से एक मुरगा लड़ते-लड़ते मर जाता है। वह हार जाता है, जीतनेवाला उससे वह मरा मुरगा और चार आने पैसे पाता है।—अनु०

गया। कुत्ते की बेकार भौं भौं-भू भूँ से वह भिन्ना उठा था। पत्थर के एक ढोके का निशाना साधकर वह कुत्ते की ओर ज़रा-सा उचका। फिर साँवता को पुकारा। कोई जवाब नहीं आया। पास आकर उसे हिलाया-डुलाया। कोई जवाब नहीं। बारंबार झँझोड़ने-झकझोरने के बाद ही वह समझ पाया कि मामला क्या है। दारू से माने अपने सिर को उसने पीछे की ओर को झटका दिया। उसकी छाती के अंदर पसलियों के तले मानो शीत का कोई सर्द झोंका सोने की तरह हहरकर पैठ गया। आखरी बार 'बापा' पुकार कर माथे पर हाथ टेके दिउड़ू धसककर बैठ रहा।

दिउड़ू चीखा। घर के लोग जुड़ आए। सब मिलकर रोए। सिर पीटे। छातियाँ पीटते रहे। नखों से अपने गाल नोंच-नोंच कर चमड़ी खींच-खींच कर लोहू बहा-बहा लिया। सभी विकल हो-हो कर बिलखते रहे, छटपटा-छटपटा कर लोटने रहे।

तेवहार का आनंद-उछाह जाने कहाँ बिला गया। साँझ के आसमान का घना अँधियारा घिर आया। "आलो आलो हातेउँ हातेउँ!" (हाय हाय, मर गया मर गया!) तेल-हलदी पुते मुँहों-देहों पर गाँव के गलियारे की रेत चिपक गई।

रोना सुन कर सब झुंड-के-झुंड जुड़ आए। आदमियों की भीड़ लग गई। रोदन बढ़ा। स्त्रियाँ पाँतें बाँध-बाँधकर बैठ गईं और समान स्वर में गा-गाकर विलाप करने लगीं—

"आलो आलो हातेउँ हातेउँ!
निङ्गे ओयाताणाकि निङ्गे तिजाताणाकि पाप्पू!"

पुरुष साँवता की लाश को घेरकर व्यस्त हो पड़े। अभी कितने 'करम' करने पड़े हैं। दसरू उठा। फूल-झाड़ू सी दुम धरती पर पटक-पटक ली, देह को झाड़ लिया। आदमी ने आदमी के आदर-सम्मान का भार ले लिया। अब उसे छुट्टी है। माँस और लोहू की गंध सूँघता-सूँघता वह वहाँ से निकल पड़ा। चारों ओर "हौ-हा-घौ-घा" का कोलाहल फैला हुआ था और उस कोलाहल के भीतर सम स्वरों में मृत्यु का छंद प्रवाहित था—

"निङ ओयाताणाकि निङ तिंजाताणाकि पाप्पू!"

(तुम्हें सोख लिया क्या? तुम्हें खा गया क्या? हाय हाय!)

दूर-दूर के पेड़ और पहाड़, जो दिन के समय धूप की चकाचौंध में बिलाए रहते हैं, यकायक प्रकट हो उठे। लाल-लाल लकीरोंवाले दिग्वलय की पृष्ठभूमि में उनकी धुँधली-धुँधली आकृति कुछ देर तक साफ़-साफ़ दिखती रही। कुछ देर यों ही दिखते रहने के बाद फिर वे सभी अँधियारे के सागर में डूब गए। रात हो गई।

स्त्रियों को रोने के लिए छोड़कर पुरुष अपनी-अपनी आँखें पोंछकर तैयार हो गए।

कितने बूढ़े और कितने जवान वहाँ जमा थे। सब-के-सब रूखे-से पड़ गए थे। साँवता के आगे तो सभी बच्चे ही थे न! साँवता 'उस' युग का आदमी था। राह-किनारे के पीपल के अकेले झंखाड़ पेड़ की तरह।

पर बैठ रहने से काम चलनेवाला नहीं था। बहुत सारे काम अभी बाकी पड़े थे। बूढ़े जामिरी कंध ने पिक्का[1] सुलगाकर भारी गले से आवाज़ दी—"क्यों रे, बैठे ही रहोगे सब क्या रे?" कुछ ऐसा लगा, मानो सभी इसी पुकार की बाट जोह रहे थे। कामबेला जानी को याद आया कि वह गाँव का जानी[2] है। गांडरू कंध को याद आया कि वह गाँव का डिसारी[3] है। दारू के नशे में सिर्फ़ रोने-पीटते ही बैठे रहे, तो रात यों ही बीत जायगी। गाँव का चाकर, और एक तरह से समझिए तो गाँव का बुद्धिदाता बारिक[4] भरसा सुंडा डंब सभी संस्कारों की सामग्रियों की जुगाड़ें करने को पुकारता हुआ फेरे लगाने लगा। दारू का मटका घर लाया गया। कंधों पर टाँगियाँ[5] डाले जंगली कंध अँधेरे में अंतर्धान हो गए।

लाश घेरे बैठी औरतों का विलाप, मरणगीत, जारी था। साँवता को संगीत से बड़ा प्यार था। उसका जन्म संगीत में हुआ था और मरण भी

---

१ तंबाकू के पत्ते को लपेटकर बनायी हुई देसी चूरुट जिसका पूरा नाम है धुँगिया पिक्का। इसे चिलम में भी पीते हैं।—अनु०

२ जानी—पुरोहित। ३ जोशी। ४ नाई। ५ कुल्हाड़ी।

संगीत में ही हुआ था। अँधेरा घिरा हुआ था। घर-घर के आगे आग सुलग रही थी। ओसारों में फुसफुस कानाफूसियाँ चल रही थीं। कुतूहलवश अगर कोई बच्चा संस्कार देखने को गलियारे में उतर पड़ता, तो माँएँ उसे डाँट-डपटकर ऊपर ओटे पर खींच-खींच लातीं। अपनी पुरानी जानी-पहचानी दरतनी की आखरी ओस पीता हुआ सरबू साँवता सो रहा था। थोड़ी देर और पी ले। फिर तो उसकी अवस्थिति केवल लोगों के भुलक्कड़ मन के आलोक-छायामय वन में ही रह जायगी। वहीं रहेगा वह। वह जिसके चार कोड़ी साल इसी दृष्ट-स्पृष्ट पृथ्वी पर एक-एक करके कट गये हैं।

दिउड़, सारे संस्कारों की सामग्री जुटाने और व्यवस्था करने जा रहा था। पुयू और पुबुली धाड़ मार-मार कर रो रही थीं। जामिरी कंध की बुढ़िया पुयू को अँकवार में समेटे बैठी थी। "छिः माँ! तेरी देह आजकल तुनुक है। कैसी है तू! यों अधीर होके मत रो। तेरे लिए यह ठीक नहीं है।" पुयू को हिचकियों पर हिचकियाँ आ रही थीं। ससुर उसका बाप से भी बढ़ कर था। बाप तो बचपन में ही चल बसा था। साँवता बड़े लाड़ से बुलाया करता था—"पुयू, फूल की रानी मेरी, कहाँ गई मेरी पुयू!" पुयू के पेट रहा और दिन-दिन फूलने लगा, तो वह दिन-दिन बढ़ते आग्रह से अपने स्वामी के मुँह को निहारा करने लगी और स्वामी था कि उसका वह आग्रह समझता ही नहीं था। हँसकर काम पर चला जाया करता था। समझता था, तो साँवता। क्योंकि साँवता और तरह का था। वह पुयू को सिर से पैर तक निहार-निहार कर सिर हिलाया करता था। सामने गलियारे में घुँगिया पिक्का सुलगाए बैठा वह पुयू को पैनी निगाहों से एकटक निहारता ही रहता था। रह-रह कर बूढ़े का चेहरा यकायक कोमल हो-हो उठता था। उस पर सरल शिथिल हास खिल-खिल उठता था। वह अधिक कुछ कहता नहीं था। उसकी मुद्रा से ही उसके मन की बात समझ में आ जाती थी। पुयू हुलस-हुलस उठती थी।

वह बूढ़ा! आज नहीं रहा वह! जिसकी बाट जोहता हुआ बुड्ढा

इतनी उछाह से निहारता रहा करता था, उसका जन्म अब आज ही कल में होने वाला है ; पर बूढ़ा देख नही पाया उसे !

पुयू रोती रही। बीच-बीच में कभी-कभी कोई अनजान भय उसे यकायक झकझोर डालता था। अँधियारा घना आया। लाश पड़ी रही। यह तो साँवता नहीं। पुयू का जी होता था कि वह घर के अंदर जाके सो पड़े ; पर वह बैठी रोती रही। रोदन-गीत में सुर मिलाकर गा-गा कर रोने से रुलाई या भय कुछ भी जान नहीं पड़ता।

पुबुली भी रोती रही। वह जन्म से ही बापा को वैसे-का-वैसा ही देखती आई थी। उसका बापा कभी जवान रहा ही न था। बस इतनी-सी ही बात थी कि बापा उसकी एकमात्र संपत्ति था। माँ मर चुकी थी। माँ के मरने के बाद से वह मटर-गश्ती में ही बढ़ी है। टोले की बूढ़ियाँ कितनी ममतावाली हैं ! कंध टोले के सभी बच्चे उन सभी के थे। फिर गाँव की लौंडियाँ थीं। वह दल की लड़की है। किसी अकेले व्यक्ति की नहीं। मगर उसका बापा उसी का आश्रित था। राँधने-पकाने, गरम पानी ला देने, टहल-टिकोरे करने, किसी को बुलाने-जुलाने आदि के लिए बापा सोलहों आने उसी पर निर्भर था। इतना ही संबंध था उसका। कंध-कुल का स्वामी साँवता अपनी इस बुढ़ापे की बेटी के साथ ज़्यादा बातचीत नहीं करता था। अस्सी बरस के दौरान में उसकी दो-दो कंधिनें मर चुकी थीं। दस-दस बच्चे गुज़र चुके थे। बुखार, त्रिदोष, छाती का दर्द और न जाने कितने कौन-कौन-से रोग उन्हें उठा ले गए थे। उनके बाद यह बेटा और यह बेटी, दोनों यम राजा के जूठन के तौर पर बच रहे। बेटे की बात तो वह समझ पाता था। बेटा उसके काम का सँघाती था ; पर बेटी ? बेटी केवल टहल-टिकोरे को थी। बेटी परगोत्री होती है, उसके साथ इससे अधिक और क्या संबंध हो भला !

पर इस नीरवता के अंदर भी कहीं पर अंतर का कोई कोलाहल-मय संबंध था। वह आज इस छीना-झपटी में टूट चुका था। किसी-किसी दिन बापा अपनी विशाल हथेली से बेटी का सिर थपथपा-थपथपा कर भारी खसखसे गले से कहा करता—" इतनी धूल कहाँ से घुरेट लाई ? " इसी तरह

रोज़-रोज़ की न जाने कितनी ही सारी बातें उसे याद आ रही थीं। इन सब को मिलाने पर बनता था---बापा! वही बापा आज नहीं रहा। जहाँ अब तक सब पूर्ण-ही-पूर्ण था, वहाँ आज रह गया है सिर्फ़ नाहीं—नाहीं-नाहीं---

अभाव सहा नहीं जा रहा था। प्राणों के अंदर से दुख का गर्जन निकल रहा था। पुबुली फफक-फफक कर रोती रही। गाँव की स्त्रियों का एकतान विलाप उसके रुलाई-भरे मन के ऊपर अपना शीतल हाथ फेर-फेर जाता था। यह शीतल स्पर्श सचमुच ही उसे रुँधे अँधेरे के भीतर से राह दिखा रहा था। कुछ देर तक पुबुली बेसुरे सुर में रोती रहती, लोटती रहती। फिर, उस प्राचीन रोदन-छंद में गला मिलाकर गीत के धारे में बह-बह चलती थी---

निङे ओयाताणाकि। निङे तिंजाताणाकि। पापू।
तितिया कुतानी डुगिति। तांबेरा कुतानी डिगिति।
ना हाइ हातिया ना, पापू।

कंध गाँव का 'रिंगाजानी' पुरोहित भी होता है, ज्योतिषी भी। उसने गणना-शोध करके यह योग बताया है कि जल्द ही, झुटपुटा पड़ते ही, सारे दाह-संस्कार पूरे कर न लिए गए तो कल तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। जलावन की लकड़ी-वकड़ी लेकर गांव के लोग जंगल से लौट आए। अर्थी उठी। दोनों ओर जलती लुकाठी की मशालें लिए, शोक-विलाप गाते हुए, रैयत कंध अपने साँवता को ढो ले गए। आधा रास्ता पार करने पर बीच राह में फूटी हाँड़ी और ताज़ा भात रख दिया गया। उसके बाद वे आगे चले, दूर, और दूर। मसान पहुँच कर लकड़ी की चिता सजाई गई। साँवता को उस पर सुला दिया गया। उसके सिर के पास फूटी हाँड़ी और टूटी टोकरी रख दी गई। फिर ऊपर से और लकड़ी जोड़ी गई। साँवता के सिर पर रेंड़ का तेल ढाल दिया गया। आग लगा दी गई। आग लगाने के साथ-ही-साथ सभी के सभी भाग खड़े हुए।

सब ने नहाया-धोया और सिर में तेल लगाकर गाँव लौटे।

अँधेरी रात में सरबू साँवता अकेला जलता रहा। चिता चड़चड़ाती-

कड़कड़ाती जलती रही। बिखरी-बिथुरी छल्लेदार वेणियों की तरह धुआँ ऊपर की ओर को उठता चला गया। नीचे विकट-विकराल नीली-नीली लपटें और उनकी लौ की लहरियाँ लहराती रहीं। साँवता जल कर भस्म हो गया। जीवन सत्य है, जीवन सुंदर है।

साँवता जल गया।

तीन

रात सपने की तरह बीत गई। सुबह सब उठे। कमेरों की सुबह का अर्थ ही है कोलाहल। वही सुपरिचित सनातनी कोलाहल फिर गूँज उठा। ढोर-डंगर चरने जाएँगे। खेतों में हल जाएँगे, लोग जाएँगे। गिरस्ती की सौ-सौ तहोंवाली रीत फिर शुरू हुई। गाँव के एक ओर, कुहरे के भीतर सूरज एकदम लाल-लाल होकर निकला। सूरज आप 'उठा' क्या, अब और किसी को बैठने न देगा। सारा-का-सारा रंग-ढंग पहले ही-सा है। चारों ओर शोर-गुल है, गुहार-पुकार है। कुछ भी तो नहीं बदला। बदला है सिर्फ़ वह घर जिसमें साँवता सोता था। वहाँ आज पुबुली के महीन गले की रुलाई की आवाज़ उठ रही है।

अब उसके भी इस गिरस्ती के जंजाल शेष हो जायँगे। अब तक उसके मन में इस घर से जाने की बात कभी भी नहीं उठी थी। यहाँ किसी ने उसे अटका नहीं रखा था। फिर भी वह गई नहीं यहाँ से; पर आज सवेरे उसने पहले-पहल यह समझा कि वह किस कारण यहाँ से जा नहीं रही थी। माँ न थी, न थी; बाप तो था? बूढ़े बाप को छोड़कर किसी और का घर सँभालने जाना जाने कैसा-कैसा तो लगता था। इसीलिए पुबुली गई नहीं।

अब बाप नहीं रहा। अब वह इधर से मुक्त है; पर ऐसी मुक्ति क्या कभी उसने चाही थी? पुबुली ने कभी यह समझा ही नहीं कि बापा बूढ़ा हो गया है। बाल-बच्चों की निगाहों में बाप कभी बूढ़े होते ही नहीं। सच तो यह है कि बापों की कोई वयस ही नहीं होती। फिर भी बापा-बापा की उसकी पुकार डूब ही गई। वह ठहरी बेटी। इस कुल के उसके जीवन को न जाने किसने बीच में से ही काटकर अँधेरा कर डाला। पुबुली की हिचकी और फफकी-भरी रुलाई किसी तरह से रुकने का नाम ही नहीं लेती। लोट-लोट कर, छटपटा-छटपटा कर वह उसी तरह रोती रही।

साँवता की चिता के ठंढे अंगारों पर धूप आ गई। कुछ जले कठकोयलों

के ढेर हैं और कुछ अधजली बुझी लुकाठियाँ हैं। बस यही कुछ बच रहा है चिता में। हड्डियों के ढेर हैं। कुछ हड्डियाँ काली हैं, कुछ उजली। पास में एक खप्पर, एक फूटी हाँड़ी और एक टूटी टोकरी पड़ी हैं।

और कल तक वही था सरबू साँवता, पाँच सौ घर कंधों का सरदार!

गाँव के लोग फिर लकड़ी और आग लेकर वहाँ आ पहुँचे। प्रथा के अनुसार चिता-फूल को सुबह दुबारा जलाया जाता है। लोगों की यह भीड़ अधिक देर यहाँ टिकेगी नहीं। उतरे-उतरे चेहरों से यह अप्रिय काम झटपट शेष करके यहाँ से चला जाना होगा। दिउड़ु भी था। साँवता के चले जाने से उसी के सिर पर न जाने कितना सारा भार आ पड़ा है। उसके मुँह पर दुख पथरा आया है। आँखें काच की तरह हो आई हैं। मुँह से बोल नहीं फूट रहे हैं। ठंडे फूल को जमा करके अधजली हड्डियाँ फिर चिता में डाल दी गईं।

अब सब काम तमाम हो गया।

लेंजू कंध को होश आया। अब सब कुछ खतम हो चुका है। बड़ा भाई अब घर के आगे पत्थर की चौक पर बैठा नहीं करेगा। उसका वह बड़ा लंबा-सा धुँगिया पिक्का फूँकना और वह बीच-बीच का खाँस-खाँस उठना अब और नहीं रहा। बड़ा भाई तो गया, बच रहा है वह। ऐसे ही एक दिन वह भी चल बसेगा। लेंजू कंध रो पड़ा। दिउड़ु थमका-थसका-सा आग की ओर निहारता ठिठका खड़ा रहा। डिसारी ने पुकारा—"छिः! यह क्या अशुभ करते हो! पीछे की ओर भी कहीं देखते हैं?"

जंगली कंध-भैये फिर नहाए-धोए, अपने-अपने सिर में रेंड़ का तेल चुपड़ लिया और घर की ओर लौटे। यहाँ पुबुली बैठे गले से अब तक रोये ही जा रही थी। वह रोना आदमी का रोना नहीं, जानवरों का-सा फेंकड़ना था। मानो गोली खाकर भागा हुआ बनैला सूअर झरने के किनारे कीचड़ में लोट-लोटकर रो रहा हो।

दिउड़ु ने उस दिन कोई काम नहीं किया। बाप जिस पत्थर पर बैठा करता था, उसी पर थसका बैठा रहा। अनमना-सा धुँगिया पिक्के के

कश लगाता रहा। लेंजू ढोर-डगर खोलकर चराने ले गया। पुयू घर में नहीं है। जंगल में कंदा खोदने गई है। आएगी तो रसोई होगी। घर में पुबुली है, जो कहीं पड़ी रो रही है। दरवाज़े पर दमरू पड़ा है। द्रुम तले सिर गोंते सो रहा है। दिउड़ू बैठा रहा। चारों ओर एकदम सुनसान है। कहीं कोई पत्ता भी नहीं खड़क रहा। तबियत होती है कि बैठा-बैठा कुछ सोचे आदमी। और सोचो तो रह-रहकर सिर के भीतर तूफ़ान-सा उठ खड़ा होता है। आँखों में आँसुओं की झड़ी लग जाती है। मन करता है कि झुक जायँ, टूट जायँ, नीचे गड़ जायँ। फिर तबियत होती है कि अपने को सँभाल कर कुछ सोचा जाय; पर जैसे सिर्फ़ भाँय-भाँय-सा लगता है। आँखें शून्य में गड़ी रहती हैं। धुँगिया पिक्का आप-ही-आप सुलगता रहा। सारा यों ही जल गया।

चार

सुबह जब पुयू की नींद खुली, तो पुबुली अभी सो ही रही थी। दिउड़ू भी अभी जगा नहीं था। कुहरा काफ़ी घना छाया था। उठे थे अभी सिर्फ़ गाँव के बूढ़े। अपने-अपने ओसारों में आग जलाकर देह सेंक रहे थे। कुछ समय और बीता। पुयू बाहर आई। जामिरी कंध की बुढ़िया उठ चुकी थी। ओसारे में आग ताप रही थी। पुयू भी उसी के पास जा बैठी। फुस-फुसाती आवाज़ में बुढ़िया के साथ कुछ यों ही गपशप करने लगी। कुछ क्षण यों ही बीते। झन-झन की आवाजें आने लगीं। गाँव की ओर भी माँ-बहनें उठ पड़ी थीं। उजाला हो गया। मुरगियाँ इधर-उधर भागने-दौड़ने लगीं। गाँव के बिलबिलाते पनालों पर सूअर सुड़-सुड़ सों-सों करते हुए घूमने लगे। झाड़-पोंछ के काम कर चुकने पर पुयू घर के और कामों में लग गई।

पुबुली अभी भी सो ही रही थी। पुयू का मन कैसा तो हो रहा था। पुबुली के सिरहाने जा बैठी। उसका सिर सहलाने लगी। बड़ा अलसाया-सा लग रहा था। सहलाते-सहलाते पुबुली के सिर पर आँसुओं के दो धारे झड़ पड़े। लम्बी उसाँसें भरती पुयू बाहर चली गई।

गाँव की औरतें झोले (नदी) की ओर जा रही थीं। पुयू भी उनके साथ हो ली। बातें करते रहने से मन कुछ हलका लगा। तब तक आसमान चारों ओर से लाल-लाल हो आया था। पुयू लौट आई। सूरज निकल रहा था। लेल्लू कंध के ओसारे में छोटे-छोटे कच्चे-बच्चे बड़े ढोल को पीट-पीट कर डुमडुमा रहे थे। गाँव के लोग काम पर जा रहे थे। दिउड़ घर में न था। पुबुली ज़ोर-ज़ोर से रो रही थी। पुयू ने सोचा कि बाहर ही क्यों न चली जाऊँ।

सुबह के इस गड़बड़झाले में भी उसे सारा कुछ सुनसान-सुनसान-सा लग रहा था। जान पड़ता था कि हर चीज जान-बूझकर चुप्पी साधे

हुई है। घर काट खाने को दौड़ता था। गाँव का सारा कलरव मिल-जुल कर भी किसी विराट् शून्यता की पीठिका बना हुआ था। रह-रहकर उसे अन्दर से बाहर को धकिया-धकिया रहा था।

गाँव की माँ-बहनें झुंड बाँध-बाँध कर काम को चलीं। अधिकांश गईं कंदा खोदने। जंगल में भाँति-भाँति के कंद होते हैं। बहुत गहरे खोद कर निकालना पड़ता है। कोई बड़ा-सा कंदा हाथ लग गया, तो एक में ही मजे से दो-दो दिन की खर्ची चल जाती है; पर कंदे जहाँ होते हैं, वहाँ पहुँचने के रास्ते बड़े बीहड़ और दुर्गम हैं। रास्ते में तरह-तरह के भय घेरे रहते हैं। बाघ चोटें करते हैं। भालू पीछा करते हैं। पुयू जाना नहीं चाहती थी। पेट में रह-रह कर कुछ चुभ-सा रहा था। देह को मानो कोई नीचे-ही-नीचे को खींचे ले रहा था। जाने का मन नहीं हो रहा था; पर घर पर भी तो मन नहीं लगता। घर पर रहने की अपेक्षा बाहर घूम-फिर आना ही बेहतर है।

छोटी-सी सेंधमार खंती लेकर पुयू झुंड में जा मिली। सभी पास के पहाड़ की चोटी की ओर चलीं। नीचे रेंड़ का जंगल है। स्त्रियाँ एक दूसरी के पीछे पाँत बाँध कर पहाड़ पर चढ़ने लगीं। खड़ी चढ़ाई थी। पैर टिकते न थे। दोनों ओर शून्य-ही-शून्य था, सिर्फ़ आकाश। चढ़ाई क्रम-क्रम से ऊपर-ऊपर को उठती गई। ऊपर, ऊपर, और ऊपर। और ऊपर सूरज धू-धू जल रहा है। दोनों ओर के शून्य में कुहरे का सागर हिलोरें मार रहा है। उस कुहरे के तले न जाने कितने अगम-विजन वन छिपे पड़े हैं। न जाने कितने सूने पाँतर हैं, बाघों के चरावर और हिरनों की चरागाहें छिपी हुई हैं। सूरज केवल ऊपर-ही-ऊपर विकसा है। नीचे के तलों में उसकी किरणों की पैठ नहीं है, धूप का नाम नहीं है। केवल अँधेरे झरने हैं, जो साँय-साँय करते, फुहियों के तूफान उठाते बहे चले जा रहे हैं।

रेंड़वनी पीछे छूट गई। जंगल शुरू हुआ। इसके आगे अधिकतर ऊबड़-खाबड़ उखड़े पत्थरों के ढोके मिलते हैं। पैर फिसले नहीं कि इधर

या उधर के अँधेरे रसातल में लुढ़क पड़ना अनिवार्य है। और ऊपर चढ़े। अब दोनों ओर आँवले के जंगल हैं। डालियों में गुच्छों-के-गुच्छे आँवले गुँथे हैं। जगह-जगह ठूँठ हैं, जगह-जगह नंगे तघड़ चटियल पत्थर हैं। कहीं-कहीं झाड़ियों के झुरमुट भर ही हैं। बीच-बीच में इकले-दुकले बड़गद खड़े हैं। हर कहीं साबे घास का वन है। साबे पोरसे-पोरसे भर से भी ऊँची बढ़ी हुई है।

और आगे धरती सँकरी होती चली गई है। चारों ओर के धूप-कुहरे मिले झिलमिल-झिलमिल आसमान में पहाड़ की अकेली चोटी सिर ऊँचा किये खड़ी है और प्रश्नवाची मुद्रा में ऊपर को निहार रही है। पर इस प्रश्न का कहीं कोई उत्तर नहीं है।

दूसरी ओर थोड़ा-थोड़ा ढालू एक बड़ा-सा सूना मैदान है। मैदान बहुत धीरे-धीरे नीचे को उतरता चला गया है। मैदान के ऊपर जहाँ-तहाँ अनगिनत खोह और गुफाएँ हैं। उन्हीं के आस-पास बड़े-बड़े कंदे होते हैं। खूब मिलते हैं। यही कंधनियों का कार्यक्षेत्र है।

सिर के ऊपर पेड़ पर बैठा खूब बड़ा-सा एक झालरपंखा मोर धूप सेंक रहा है। उस पार के खड्ड में अनगिनत मोर रहते हैं। जंगल के अन्दर से जंगली मुरगों की बाँगें आ रही हैं। जहाँ-तहाँ जंगली मुरगों के परिवार अकड़-अकड़ कर घूम रहे हैं। थोड़ी देर और घूम-फिर कर ये सब न जाने कहाँ लापता हो जाएँगे।

गाँव की माँ-बहनें तितर-बितर होकर कंदे ढूँढने के लिए बिखर गईं। देखते-ही-देखते वे आँखों से ओझल हो गईं। इतनी ऊँची चढ़ाई लाँघने के कारण पुयू कुछ बेचैनी महसूस करने लगी। सभी के बिखर जाने पर वह अकेली पड़ गई थी। पास में एक पत्थर पड़ा था, उसी पर बैठ रही। पास ही कहीं से औरतों का गुल-गपाड़ा आ रहा था। धीरे-धीरे वह भी बन्द हो गया। सभी काम में जुट पड़ी होंगी। मोर छिप गए। मुरगे बाँगें दे-देकर चले गए। सूरज और भी ऊपर को चढ़ गया। पुयू का मन हो रहा था कि जहाँ की तहीं सो पड़े। पेड़ों की छाँव

में, वनफूलों की गंध में सो पड़ने की वैसे भी तबीयत होती है। जीवन में जहाँ-तहाँ पर बहुत बार मन होता है कि आदमी सो रहे। पर कामों की भीड़ रहती है। सोना सम्भव नहीं होता।

पुयू उठी। ढलवान पर एक ओर को थोड़ा उतर गई। पास का कुहरा फट गया था। दूर का कुहासा भी पतला हो चला था। जंगल पाताल की ओर उतरता चला गया है। पुयू ने करजनी, इंगुदी (मलका-वन) और सियाड़ी[1] के कुछ बेर तोड़े। कुछ पत्ते तोड़ लिये। बाँस की कोमल-कोमल कोंपलें तोड़-तोड़कर जमा कीं। वहीं कहीं कंदे की भी एक बेल दिखाई पड़ी। पुयू बैठ गई और मन लगाकर कंदा खोदने लगी।

पेट भारी है। नौ माह के गर्भ का बोझ है। चारों ओर से न जाने कितने ही देवी-देवताओं और भूत-प्रेतों की अशुभ दृष्टि पड़ रही है। निर्जन-निश्शब्द वन है। पर नीचे धरतनी है, ऊपर धरमू है। विश्वास है। चीन्हा-पहचाना जंगल है। पुयू को कोई डर-भय नहीं। पेट के भीतर का विचित्र जीव न जाने कब से उसका एक नया संगी बन गया है। जाने कैसा-कैसा तो लगता है। एक देह के अन्दर किसी और देह का निवास! फिर भी पहलेवाले डर-भय अब कट गये हैं। पुयू मन-ही-मन अपने उस अनजाने संगी से बातें कर रही थी। कल्पना में अपने उस आनेवाले अतिथि के भविष्य के रूप गढ़ रही थी।

उस नीरवता में उसे सहसा साँवता की सुध हो आई। न जाने कब से बैठा-बैठा बूढ़ा साँवता समय की गति माप रहा था। वह मरना नहीं चाहता था। मरनेवालों जैसा वह जग भी नहीं लगता था। फिर भी मर ही गया। कुलवृद्ध को पूरी आशा थी कि अब वह पोते का मुँह

---

१ सियाड़ी बड़े काम की बेल है। इससे चौपदी सी जाती है, कलफ बनता है और इसके पत्ते छातों पर बिछाये जाते हैं। वन-जातियों के लोग इसकी बेरी (फल) को आग में भूनकर खाते हैं। इसकी टहनियों से सन निकलता है। सियाड़ी के सन में गाँठ बाँधकर युद्ध, शांति, विद्रोह या मेल के सन्देश वन-जातियों के गाँव-गाँव घुमाए जाते हैं।—अनु०

देख कर ही मरेगा। पोता उसे ढारस बँधाता आ रहा था। उसे इतना संतोष हो गया था कि उसका पुराना स्रोत आगे बढ़ता जा रहा है।

पुयू कंदा खोदने में जुट गई। न जाने कैसे-कैसे अजीब-अजीब विचार उसके मन में उठने लगे। ये जो इतने सारे विचार आया करते हैं, इनमें से न जाने कौन-कौन-से कहाँ-कहाँ से आते हैं। काम करते समय न जाने क्यों और कहाँ से आ-आ कर ये मन-प्राणों को रँग-रँग जाते हैं।

धूप और बढ़ी। चिड़ियाँ भी सिर के ऊपर से न जाने कहाँ से आकर कहाँ को चली गईं। आस-पास से और-और औरतों की मुँहा-मुँही की आवाजें अब बिल्कुल नहीं आ रही थीं। पुयू के पेट का वह बोझ इधर से उधर हुआ। देह के भीतर बिजली की-सी कोई अजीब सनसनी कौंध गयी। पुयू को बड़ा कष्ट हुआ। शायद 'पीड़ा' शुरू हो रही है!

कंदा खोदना छोड़ पुयू थोड़ा-सा ऊपर को चढ़ गई। पत्थर की एक चट्टान के ऊपर बैठ गई। वहीं सखुए के नन्हे से पेड़ पर लदफद सियाड़ी की बेल छोटी-सी छाँव फैलाए भालूकुणी[1] जैसी लग रही थी। अकेली उठँगी-उठँगी ही पुयू को वेदना शुरू हो गयी।

---

१ "भालूकुणी ओसा" उड़ीसा की क्वाँरियों का व्रत है। भादों के हर एतवार को क्वाँरियाँ एक छोटे-से मँड़वे में भालूकुणी देवी की पधरावनी करके उसे पूजती हैं। मूर्ति गज-भर से लेकर पोरसे-भर तक ऊँची होती है। "भालूकुणी" देवी की कथा ननँद के ऊपर बड़ी भाभियों के अत्याचार और छोटी भाभी के प्यार की दिलचस्प कहानी है।

इस व्रत के दिन क्वाँरियाँ रूखे बालों को भालू के झबरों की तरह बिखेर-बिखेर कर नाचती हैं। नाचनेवालियों को भी "भालूकुणी" ही कहते हैं।

"भालूकुणी" की मूर्ति की बनावट तराई की उस 'श्रीसप्ता' या 'श्रीशप्ता' देवी की तरह बेढंगी और चिपटी होती है, जिसके बारे में लड़कियाँ गाती हैं कि "हे सिरिसपता! आँख देलू कान देलू नाक काहे चपता!' अर्थात् "हे श्रीसप्ते! आँखें दीं, कान दिये; पर नाक क्यों चिपटी कर दी?"—अनु०

सामने आसमान की मोहक नीलिमा फैली थी। नीचे नीले-हरे वन लहलहा रहे थे। दोनों के बीच फांक की तरह सारा शून्य-ही-शून्य था। साफ-सुथरा उजला-धपाधप शून्य। फांक जैसी उस शून्य में चीलें कनकौवे की गुड्डियों की तरह तिरती फिर रही थीं। काली-काली चिड़ियों के गोल-के-गोल फिंके-हुओं की तरह उड़-उड़ जाते थे। कोई कहीं रुकता-अटकता न था। दुखियों को ऐसे फांक जैसे शून्य से कोई ढारस, भरोसा या सहारा नहीं मिलता। फिर भी पुयू उस शून्य में आँखें गड़ाए वेदना के हूल झेलती रही।

न जाने कब से वह इसी दिन की बाट जोह रही थी। यह अपेक्षा आप-ही-आप मन में आ समाती है और फिर सहज ही चली भी जाती है। चिड़ियाँ अंडे देती हैं। दो-चार बार चहकती-चहचहाती हैं, चीं-चीं-चूँ-चूँ करती हैं, मौखिक समवेदना जताने के लिये उसका नर पुकारता हुआ उसके पास दौड़ा आता है। गायें-भैंसें लेरू-बछरू जनती हैं। मानुस-जात के बच्चे होते हैं। देखने में यह सब कुछ कितना सहज-सरल-सा लगता है! पर हाय, कष्ट कितना होता है!

रोओ भी तो यहाँ सुननेवाला कौन है? पुकारो भी तो कोई पास नहीं आयगा। पुयू ने छाती पत्थर कर ली। भय उठ-उठ कर कलेजे तक हूलता आता था; पर आते ही उसे वह नीचे को ठेल-ठेल देती थी। यहाँ आदमी प्रकृति से युद्ध किए बिना कुछ भी नहीं पाता। और अपना युद्ध वह लड़ता भी आप ही है। अकेले, निहत्थे। मरने का भय नहीं करता।

रह-रह कर जब-तब दुख उठ-उठ आता है। औचक तूफान की तरह। देह के ऊपर ज्वार-भाटों का खेल खेल-खेल जाता है। पुयू चीख-चीख उठती है। रोती है। पल भर को सारी सुध-बुध बिसर-बिसर जाती है। बाहर की चमचमाती धूप, खुली प्रकृति आदि किसी का भी ध्यान नहीं रहता। सब भूल जाती है। लगता है, जैसे उसकी देह के भीतर कोई भयंकर विप्लव हो रहा हो। भीतर-ही-भीतर जैसे लगातार चीर-फाड़, खींच-तान, नोंच-खोंच चल रही हो। और परिणाम? केवल अंधकार, केवल दुख, केवल

वेदना! पुयू दोनों हाथों से सखुए के उस पेड़ को जकड़ कर चिपट जाती है। युवा गाछ की छाल में दाँत गड़ा देती है। देवता खेलाते-खेलाते हाल आ जाने पर ओझा की देह में जैसे बल आ जाता है, उसी तरह पुयू को भी अपने में बल का संचार होता जान पड़ा। उसी तरह वह कँपकँपा उठी और वहीं लुढ़क गई।

इसी तरह कितना समय कट गया, उसे ध्यान न रहा। सहसा उसे लगा मानो तूफान थम गया हो। आँखों के आगे छाया अँधेरा फट गया। बहरे पड़ गए कानों में कैसी तो कुछ चिल्लाहट-सी सुन पड़ी। किसी नये जीव की चिल्लाहट। मानो कोई जोर-जोर से पुकार-पुकार कर उसके कान फाड़े डाल रहा हो, ताकि वह सुने। पुयू ने चकित होकर देखा। धरती पर पड़ा-पड़ा एक लाल-लाल-सा नन्हा मानुष रो रहा है। पुयू होश में आ गई।

पुयू ने दोनों आँखें फाड़-फाड़ कर देखा : एँ,—यही है बच्चा उसका! यही उसके अन्तर में इतने दिनों से आँखमिचौनी खेल रहा था। यही है उसका! बिल्कुल उसी का! उसी के भीतरी लोहू और मांस का टुकड़ा!

तूफान थम गया था। पर पुयू का मुँह मलिन कर गया था। उस मलिन मुँह से उसने स्नेह और कुतूहल के साथ बच्चे को बारम्बार निहारा। बिलकुल लाल-लाल था वह। उसकी दोनों भिची-भिची-सी आँखें उदयकाल के सूरज की तरह थीं और अधरतिया की छाँव-तले की ठहरी नदी-सी गहरी थी उनकी दृष्टि। बच्चा कभी हाथ-पैर मारता है, तो कभी कुछ टटोलता-सा है। चार हजार फीट ऊँचे पहाड़ के ऊपर नया जन्म हुआ है, कंध घराने के बेटे का जन्म।

हाथ बढ़ा कर पुयू ने बच्चे को धर लिया। अबल देह में बल का संचार हुआ। मन में तरह-तरह की सूझें जगीं। देखा-देखी सीख-सीख कर पुयू अब तक भीतर-ही-भीतर बहुत सारी बातें जान-समझ गई है।

कुछ समय बीत जाने पर पुयू उठी। बच्चे का रोना अभी भी बन्द नहीं हुआ है। उधर सूरज खड़ा सिर के ऊपर चढ़ आया है। वन के

भीतर धूप कहीं फीकी-फीकी है, तो कहीं चकाचक चमचमा रही है। पुयू कमजोरी महसूस कर रही है। अकेली पुयू बेचारी! बच्चे को छाती में चिपका कर उठ खड़ी हुई। सिर के लम्बे-लम्बे बाल बिखरे पड़ रहे हैं। चिथड़े-चिथड़े हो चुके कपड़े का हाल बेहाल है। देह से काला पानी बहता ही चला जा रहा है; पर छाती अब रीती न रही। छाती पर उसका छौना है, उसका पहलौंठा छौना, बेटा!

अबल हाथों में एक धारदार पत्थर लेकर पुयू ने आप ही अपने बच्चे की नार काट दी। कटी जगह पर पहचानी दवा का पत्ता कुचल कर लेप दिया। आप एक और बूटी उखाड़ कर खा ली। बच्चे के मुँह में एक और खास पत्ते का रस चटा दिया। इतना तो कंध-देश का सामान्य ज्ञान है। पैरों तले औषध मिल जाती है।

बच्चे को कलेजे से चिपकाए पुयू लौट पड़ी। पर इस गंदगी-नापाकी को लेकर गाँव को लौटा तो नहीं जा सकता न? आधी राह पार कर चुकने के बाद रेंड़ के जंगल के भीतर से नीचे झरने की ओर उतर चलने को एक और पगडंडी है। उसी पगडंडी से कछार की अड़ार (करारे) के किनारे-किनारे से धीरे-धीरे कदम साधती वह उतर पड़ी। धीरे-धीरे। कमजोरी बेहद महसूस हो रही थी; पर फिर भी एक पत्थर से दूसरे पत्थर पर पैर जमाते हुए उतरने में उसके पैर काँप नहीं रहे थे। उसे हर कहीं चौकन्ना रहना पड़ेगा। सिर्फ इसी बच्चे के लिए। एक हाथ से उसे थामे और दूसरे हाथ से पगडंडी के किनारे-किनारे पेड़ पौधों और बेलों-लत्तरों को पकड़-पकड़ कर दीवार-सी खड़ी पगडंडी से वह नीचे को उतर पड़ी। सर्वजया मातृमूर्ति! झरने का सुनसान किनारा! कहीं कोई नहीं दीखता। नहाने-धोने की बेर निकल चुकी है। पथरीली धारा है। और रेतीली पेटी है झरने की। दोनों ओर केवल जंगल-ही-जंगल भरे हैं। इधर-उधर ताका। झरने के किनारे सियाड़ी के पत्ते बिछाकर उस पर कोमल बच्चे को सुला दिया। आप झरने में उतर पड़ी। डुबकियाँ

लगा-लगा कर नहा लिया। कपड़ा धो लिया। साफ-सुथरी हो लेने पर बच्चे को कलेजे से चिपकाए पुयू गाँव की ओर चल पड़ी।

पुयू को इस बात का कोई ध्यान भी न था कि अभी-अभी वह पहाड़ के ऊपर अकेली ही मरण के साथ रण करती हुई क्षत-विक्षत हो उठी थी। कब? मानो वह किसी दूर अतीत की बात हो। वह लाल सूरज की तरह के लाल-लाल चेहरे वाले बच्चे का मुँह निहारने लगी। यही उसके जीवन का प्रभात है! वह इस बच्चे की माँ है! वह भाग्यवती है!

किसी दिन वह भी धाङड़ी (युवती) होकर, बदन में हलदी का उबटन पोते, जूड़े में फूलों के गुच्छे खोंसे, बावली-सी बनी, चैंती तेवहार पर गीत गा-गा कर अपने "मन का मानुष" ढूँढ़ती डोला करती थी। पता नहीं क्यों, किसलिए, वह तितली की तरह पवन-लहरियों में पंख खोले उड़ती फिरती थी। अतीत की बात वह नहीं जानती। जानती है तो बस इतना ही कि उन सभी सवालों का जवाब अब मिल गया है उसे। अब वह मानुप-छौने की माँ है। वह दरतनी है। दरमू उसकी गोद में है।

उस समय धूप उतरती आ रही थी। पुबुली का राँधना-पकाना खतम हो चुका था। दिउड़ु खा-पी चुका था। धीरे-धीरे उसके मन में कोई आशंका उठती आ रही थी। इतनी अबेर हो गई, पुयू नहीं लौटी। क्यों नहीं लौटी वह? बार-बार वह सोचता था कि कंधे पर टाँगिया (कुल्हाड़ी) डाल ले और बरछा तथा नली[1] लेकर उसे ढूँढ़ने निकल पड़े जंगल की ओर। पर फिर सोचता कि शायद उसकी आशंका निराधार ही है।

कि तभी गाँव के छोर पर गुल-गपाड़ा सुनाई पड़ा। गाँव की सारी-की-सारी माँ-बहनें जाने-क्या कुछ शोर मचाती एक ही ओर को दौड़ी जा रही थीं। सब जैसे एक ही साथ बातें कर रही थीं। कोलाहल-सा मचा था। दिउड़ भी उसी ओर लपका। देखा, पुयू बच्चे को लिये बीच

---

[1] बारूद भर कर चलाई जानेवाली देसी बंदूक। इसे 'ओड़िया-नली, भी कहते हैं।—अनु०

रास्ते पर खड़ी है। सब उसे ही घेरे खड़ी अचरज जताती बातें कर रही हैं। दिउड़ अकचकाकर, ठिठककर, खड़ा हो गया। किसी ने बच्चे को लेकर उसकी आँखों के आगे उठा दिया। अब दिउड़ू हँस पड़ा। नए आगंतुक के इस अद्भुत अभ्युदय ने सभी दुखों, सभी संतापों को मन की डाली से उड़ा डाला।

पुवुली आई। भावज को अँकवार में भर कर चिपका लिया। गाँव-भर की स्त्रियों के जुलूस में घिरी पुयू अपने घर को चली। ऐसा जान पड़ रहा था, मानो उसने कोई बड़ा-सा अंचभेवाला कृत्य कर डाला हो, ऐसा-कुछ कि जिसकी तुलना सारे देश-भर में कहीं भी न हो। छोटा बच्चा रो रहा था। पुयू हँस रही थी।

पाँच

जाने कब से यह पुरानी धरती ज्यों-की-त्यों ही पड़ी हुई है। उस पर चार-दिनों की घर-गिरस्ती का गोरखधंधा जाने कब से त्यों-का-त्यों ही लगा हुआ है। सब अँकुरते हैं, उगते हैं, पेड़ बनते हैं, झड़ पड़ते हैं। दो-दो दिनों का सारा खेल है।

जाने कहाँ का पानी कहाँ को चला जाता है। सभ्यता मिट्टी के तले, जंगलों की आड़ में, डूब रहती है। किसी एक अतीत की धारा खोजने में भटकता-भटकता मनुष्य आप भी भूत हो जाता है। गहन-घन निविड़ मिट्टी सभी संकेतों, सभी परिचयों को अपना बना लेती है और अपने में लुका-छिपा लेती है। समाधि के ऊपर घास सुख से लहराती है। घास के फूल खिलते-खुलते हैं और झड़ पड़ते हैं।

जो जाता है, सो जाता है। जो रोता है, सो भी चला जाता है। जो आता है, किसी को पहचान तक नहीं पाता, सो भी चला जाता है।

सरबू साँवता 'चला' गया था। आज की इस धरती को टटोलता हुआ वह कब यहाँ था, यह कौन कह सकेगा ?

पर वह था सचमुच एक मानव-पर्वत। सचमुच आस-पास के इन पहाड़ों की ही तरह। जब देखो वह उसी तरह का ही दिखाई देता था। स्थापाथु और सरबू साँवता एक थे, अभिन्न थे।

सरबू साँवता इस धरती को प्यार करता था। चुन-चुन कर, बीन-बीन कर, छाँट-छाँट कर प्यार करना तो वह जानता ही नहीं था। उसने जो कुछ भी देखा, जो कुछ भी पाया, सब को प्यार किया। कहीं नंगी-गंजी तो कहीं घसियाली धरती की धूल भरी मिट्टी के ऊपर लेटे-लेटे वह सपने गढ़ता रहता था। वहीं गोबर, वहीं थूक, वहीं खाल के जलने-झुलसने की चिरायँध, वहीं कूड़े-कचरे, सब वहीं पास ही पड़े रहते थे। वह घाव-फुंसी से कभी न डरा। वह साँप के डँसने के डर से कभी न डरा।

खून-खराबे या मारकाट में भी वह कभी न डरा। पूजा के समय कंध-पुरोहित जिस तरह चावल चुगते मुरगे के सिर को नख से नोंच कर धड़ से अलग कर डालता है, उसी तरह यह सरबू सांवता भी जानवरों को मारता, खलियाता, खाता। उन्हें स्नेह के साथ पालता और आनन्द के साथ खाता। उसमें किसी तरह का विकार नहीं था। वह अलगोजा बजाता। पहाड़ी प्रदेश की सुन्दरता में वह अपने-आपको भुला देता था। जीवन को वह अनुभव करता था, उसमें रस लेता था, स्वाद ले-लेकर, चख-चखकर, छक-छक कर उसे पिया करता था। पी-पीकर मात उठता था। जंगल के भीतर खदेड़-खदेड़ कर प्यार करता था वह। दिन के समय, खेतों और खलियानों के पास वासना की मांसल पुकार का जवाब देता था वह।

अस्सी बरस के उसके प्यारों का अस्सी बरसों का पुराना इतिहास था। "मैं" और "मेरा" कह-कहकर, प्यार और ईर्ष्या करने के लिए उसके पास जो भी फैली-सिकुड़ी गिरस्तियाँ थीं, वे सभी अब भी हैं। अगर नहीं है कुछ, तो वह आप ही नहीं है आज। उसका यह घर, उसका यह बेटा, उसकी यह बेटी, उसकी ये गोरू-गायें, उसके बैठने का यह पत्थर, सब उसी के हैं। यह पोता जो अभी कल ही 'आया' है, यह भी उसी का है।

पर वह नहीं रहा अब!

नदी के किनारे, जहां अशुभ राख, कठकोयले और अधजली लुकाठियाँ बिखरी पड़ी हैं, वहाँ भी नहीं है वह। उसके लिए जो भी होना चाहिए था, सब कुछ हुआ। पर कुल नौ दिनों तक ही। इस धरती के लोगों ने कुल नौ दिनों के अन्दर ही उसके सभी स्पर्श, सभी संपर्क, पोंछ-पोंछकर, लीप-पोतकर, बुझा डाले। नहाना-धोना तो पहले ही हो चुका। रह गया था केवल लीपना-पोतना और नई हाँड़ी में माँस-भात पकाना। मुरगे के चार चूज़े काट कर उसके नाम पर उनका लोहू ढुल दिया गया। चूज़ों के माँस को लोगों ने खुद खा लिया। गाँव के पुरोहित ने उसका

नाम ले-ले कर पुकारा। कहा, सरबू साँवता, सरबू साँवता, अब और मत आना तुम। कभी मत आना। जिस राह आये थे, उसी राह चले जाओ। हमारे ऊपर अपना जाल मत फैलाओ। हमें रोग मत दो। हम हैं तभी तो हमने, जो कुछ बन पड़ा हमसे, तुम्हें दिया? हम न होते, तो यह सब कौन देता तुमको? कौन पूछता तुमको? मिट्टी खा-खा कर पंदरहियों साल तुम यों ही पड़े रहते। सरबू साँवता, सरबू साँवता, जो कुछ भी हमने दिया है, उसी पर सन्तोष करो। जो दिया है वही लेकर चले जाओ। निकल जाओ भाई, जाओ अब। फिर मत आना।

बस सिर्फ पराया बना देने का मन्त्र :

नीङे हियातोमी
(तुम्हें दे रहे हैं हम।)
मांबु मचालिसा हियातोमी
(हम हैं तभी तो तुम्हें दे रहे हैं हम,)
मांबु हिलाआतेमा एंबा, हियातुमा
(हम न होते तो तुम्हें कौन देता, क्या देता ?)
मांबु कोयूहिपा हिहिम् जानोमि
(हम मुरगे के चूज़े दे रहे हैं।)
कोयुहिपा आसनाहा निनु हालामुने
(मुरगे के चूज़े लेकर तुम चले जाओ।)
निनु इंबिजिर त्वातु एजिर हालामु
(तुम जिस राह आये थे, उसी राह जाओ।)

बस कुल नौ दिनों तक। सबों ने उसे पराया बना ही डाला। कहा, जाओ जाओ। अब वह प्रेत है, अशुभ है। आदमी की जात के गरम चूल्हों के पास अब उसका स्थान नहीं रहा। भात की हाँड़ी में अब उसका बखरा नहीं रहा। मन की हाँड़ी में भी अब उस का भाग नहीं रहा। वह न रहा। वह अब कोई न रहा। अब वह एक नाम भर रह गया है। न जाने कितनी आत्माएँ शून्य की ओर उड़ी चली जाती हैं। केवल अपने नाम की

केंचुल भर ही उतार-उतार कर फेंक जाती है। समय उस उतारी हुई केंचुल को भी घुन की तरह खा डालता है। धूल बनाकर धूल में मिला डालता है। सो, धूल अब धूल में मिल गई है। माटी माटी में मिल गई है। अनगिनत नाम हैं ऐसे। आज उन्हें चुन कर एक दूसरे से फुटकाया नहीं जा सकता।

गाँव के बीचोबीच "बड़ी आग" का अलाव जल रहा था। मुरगे के चार चूजों का लोहू ढाला गया। पकाई हुई दारू ढाली गई। 'उड़ा सत्तू गोविन्दाय स्वाहा!' सरबू साँवता की आतमा शांत होवे। पुरोहित काम बेला जानी ने श्राद्ध-क्रिया के मंत्र उचारने समाप्त किए। कंध लोग बैठे इसी समाप्ति की बाट जोह रहे थे। अब एक साथ शब्द करके सब की दीर्घ उसाँसें निकल पड़ीं। गूँज गईं। अब सरबू साँवता का प्रेत गाँव छोड़ कर बाहर निकल गया। अब शांति है। कलरव उठा। दारू पीने का दौर चला। कंध ढोलकिये झूम-झूम कर माँदल पीटने लगे। कंध लड़के बड़े-बड़े अलगोजों में समवेत स्वर टेरने लगे। आमने-सामने की दो पाँतों में खड़ी होकर कंध धाङड़ियां (युवतियाँ) नाचने लगीं। आगे आतीं, पीछे जातीं, सनातन रीति से नाचती रहीं। दारू पीने का यह दौर भी समाप्त हो गया। सब ओर कुछ गड़बड़-गड़बड़-सा गोलमाल हो उठा। फिर भात और माँस का भोज हुआ। किसी के ऊपर लोग कौवों की तरह काँव-काँव करते बरस पड़े। सब एक जगह जमा होकर गुल-गपाड़ा करने लगे। हो-हल्ला हुआ। बाजे का बजना थमता ही न था। अलगोजा भी रह-रह कर टेर-टेर उठता था। भोज के बाद गाँव के जूठे रास्ते के ऊपर लोग फिर नाचने लगे। फिर मौजें मनाई जाती रहीं। कोई ऐसा न बचा, जो उसके बाद भी होश में रह गया हो। पुबुली नाच रही थी। दिउडू लोट रहा था। लेंजू करवट के भर झुक-झुक कर और हाथ पैर झटकार-झटकार कर, कूद-फाँद रहा था। गाँव के लोग खुश हो रहे थे।

यह भी एक तेवहार ही है। प्रेत भगाने का तेवहार! गरम-गरम आग, नाच, भोज। नदी-किनारे के विजन वन में कठकोयले का ढेर पड़ा

है । सियार उधर कहीं हुँकरता-फेंकड़ता जा रहा है । वन की चिड़ियाँ विकराल भयावनी आवाज़ में पुकार-पुकार उठती हैं । ठंडी हिवाल रात है । गाढ़ी अँधियारी रात है । नदी के भीतर से रह-रह कर एक आवाज़ आ रही है । ठीक जैसे जंगल खर्राटा ले रहा हो । बुझी हुई चिता के ऊपर जुगनुओं की पाँतें झुक-झुक भुक-भुक करके जल-जल उठती हैं । ओस जमा होती जा रही है ।

रात गहरा चली । बीच रास्ते की " बड़ी आग " का अलाव बुझ गया । अलाव की थूनियाँ भी बिखर कर धीरे-धीरे मर गईं । सब सुनसान पड़ गया । बीच-बीच में आग कभी-कभी भुकभुका कर बल-बल उठती । मानो रह-रह कर किसी को मुँह चिढ़ा रही हो । फिर वह झँवा जाती और उस पर राख की तहें पड़-पड़ जातीं । गाँव का गलियारा निस्तब्ध हो रहा । किवाड़ें लग गयीं ।

मरबू साँवता को अँधेरे से डर लगता था । उसे गरमाहट प्यारी थी । घर-घर में किवाड़ों के पट लग गए हैं । बड़ी कड़ी ठंड है । अँधियारा है ।

छः

सभी यही कहते कि पुयू का बेटा बड़ा सुघड़-सुन्दर होगा। पुयू खुशी से फूल उठती। बच्चे को गोद में लिये वह बैठी रहती। बच्चे के सिवा उसे और कुछ सूझता ही नहीं था। वही उसका सब-कुछ था। कोमल बच्चा 'दूध' में मुँह लगा कर चूसता। थन को अपने नन्हे-नन्हे हाथों में टटोलता। प्यासी आँखों से पुयू अपने बच्चे को निहारती रहती। छाती खुली रख कर भोजन से भरा दुद्धू (थन) वह बच्चे के मुँह के आगे कर देती। उसी रास्ते से गाँव के लोग आते-जाते। स्त्री या पुरुष जिस किसी का भी मन होता, वहाँ रुक जाता और बच्चे तथा पुयू का कुशल-क्षेम पूछता। वह किसी तरह का भी संकोच किये विना उसी तरह बैठी रहती, उसी तरह बैठी-बैठी बातें करती। माँ का दूध तो बच्चे का भोजन होता है। उसमें भी कोई शरम की बात हो सकती है भला? इस में शरमाने की क्या बात है, यह कोई कंधिनी माँ समझ ही नहीं पाती। कंध-समाज की समझ में यह बात नहीं आ सकती। कंधिनी माता गर्व के साथ बच्चे को पिलाती है। वह अबल तो नहीं, दुबली तो नहीं, बाँझ तो नहीं है न? उसने अपने लोहू से गढ़ कर बच्चे को तैयार किया है। उसे दूध पिलाकर मानुष बनाने की शक्ति भी रखती है।

पुबुली जबरदस्ती बच्चे को छुड़ा ले जाती। कहती—तू कामकर। मैं थक गई। बच्चे को लेकर वह घर के अन्दर पैठ जाती और गुनगुनाकर गीत गाने लगती। चारों ओर एक बार ताक-झाँक लेती और फिर धीरे से बच्चे का मुँह अपनी छाती में लगा देती। बच्चा टटोलता, परिचित क्षेत्र उसे मिल नहीं पाता। बच्चा रोने लगता। पुयू पास-ही-पास मँड़ला रही होती। उसका दूध बह रहा होता। पुयू कहती, "दे तू, इसे मुझे दे दे। और जा, जाके चोटी कर ले। यह तुम्हें चैन नहीं लेने देगा। उठने-बैठने नहीं देगा।" पुबुली का भीतरी मन भीतर-ही-भीतर बार-बार कहता कि

वह हार गई। छाती के भीतर कहीं पर न जाने क्या धुकुर-धुकुर करता। मन करता कि बच्चे को छाती से चिपका ले और नाचने लगे।

पुयू बच्चे को दूध पिलाती। पुबुली खड़ी-खड़ी एकटक निहारती रहती। उदासी उसके मुखड़े पर उतर-उतर आती। आँखों में सपने तिरने-उतराने लगते। यही माँ है! और यही उसका नन्हा छौना है! यह उसके भाई का बेटा है, और वह आप उसी भाई की बहन है। एक बार पुयू ने ननँद से कहा था—"इसकी आँखें तो देख, इसका माथा तो देख, सब कुछ ठीक तुम्हारी ही तरह है। तुम्हीं पर पड़ा है। तुम्हारे ही पास से यह-सब लाया है यह। और पैर? ठीक तुम्हारे ही पैरों की तरह छोटे-छोटे न होंगे क्या? देख तो ज़रा, देख, देख।" पुयू हँसते-हँसते लोटपोट हो गई थी। पुबुली भी हँसी थी।

पुबुली बच्चे को बहुत प्यार करती है।

छोटे-से आईने में अपना मुँह निहार-निहार कर तेल-हलदी मल लेने पर पुबुली कोई-न-कोई बहाना करके बच्चे को एकटक देखती है। तो सचमुच क्या उसी के रूप की छाया पुयू के बच्चे पर पड़ी है? पुयू बच्चे को दुलराती है। बच्चा छिपकिली की तरह माँ की देह से चिपक जाता है। पुबुली लम्बी उसाँसें छोड़ती है। न जाने क्यों, मन रीता-रीता-सा लगता है। अट्ठारह बरसों की तमाम अभिज्ञताओं की झोली झाड़-झूड़कर पुबुली उसमें से अनुभूतियाँ चुनती है। वहाँ केवल दुखों-ही-दुखों की अनुभूतियाँ हैं। मरी हुई माँ की लुगड़ी की फुँफुदी मानो सचमुच ही उसके बदन में झटके दे दे जाती। बूढ़े बापा की यादें आतीं। और न जाने कितनी क्या-क्या बातें याद आने को आवेक दूर तक उठ-उठ आती हैं और फिर छिप-छिप जाती हैं।

पुबुली उदास होकर कहीं दूर को टक लगा के निहारने लगती है। यह रहा पहाड़। वह, इस पहाड़ के उस पार। वहीं बंदिकार गाँव है। हिकोका वंश के कंधों की बस्ती है। सुबह शाम वहाँ धुआँ उठता है। गाँव नीचे उतर कर तलहटी में है। पेड़ों के झुरमुट हैं। झुरमुटों से धुआँ उठता

है, धुएँ के छल्ले उभरते हैं। उन छल्लों के तार निगाहों में पकड़े-पकड़े कुछ सोचा करना पुबुली को अच्छा लगता है। वहाँ का गबरू जवान सांवता है हिकोका हारगुणा। दिउड़ की तरह उतना गरांडील लम्बा नहीं है; पर देह खरादी हुई-सी है। बचपन में उसने हारगुणा को कितनी ही बार देखा है। बीच-बीच में वह आया करता था और सरबू सांवता के चरणों के पास बैठा करता था। पुबुली धुएँ का खेल देखती है। सरबू सांवता न जाने किधर इसी धुएँ में मिल गया। वह हारगुणा को प्यार करता था।

पुबुली हारगुणा के बारे में ही सोचती है। लोग कहते हैं कि सांवता की बेटी की जोड़ी पहाड़ के उस पार के सांवता के साथ खूब फबेगी। इधर कुछ दिनों से हारगुणा नहीं आया। फ़सल की कटनी की धूम का समय आ गया है। पुबुली बेकार ही हारगुणा की अवस्था का अन्दाज़ा लगा कर आह भरने लगती है। आह, बेचारा! उसके भी, बेचारे के, माँ-बाप नहीं हैं!

बच्चे का नाम रखा जानेवाला है। पुयू अपने बेटे के भावी की बात सोचती है। बच्चे को आँचल से कमर में खोंसकर बैठी हुई, टोले की माँ-बहनों से गप-शप करते समय, पुयू सब से यही पूछती रहती है कि बच्चे को नाम कौन-सा दिया जाय।

पुयू सोचती है कि कोई बड़ा-सा नाम होगा। गुरु-गम्भीर, भयंकर। ऐसा कि जिससे बड़ा होने पर लोगों के ऊपर उसका रौब पड़े, लोग उसे मानें, उससे डरें। "दामाणा, मेंड्रेड्डा, टंड्र!" मन होता है कि दिउड़ू से पूछ देखा जाय कि उसकी क्या राय है। दिउड़ू को न जाने क्या तो हो गया है, वह अब अकसर लापता ही रहा करता है। दिखाई ही नहीं देता। बच्चे के पैदा होने के बाद पुयू का शरीर दुबला हो गया, वह अबल पड़ गई है। लोग यही कहते हैं। पुयू को दिउड़ू पर कुढ़न आ रही है। हुं:, ऐसी क्या कामों की भीड़ आ पड़ी है! न जाने कितनी बातें पूछने को जी होता है। ऐसी बातें, जो केवल उसके-दिउड़ू के सलाह करने की हैं। फ़सल की कटनी लगी है। गाँव के सारे लोग पहाड़ की तलहटी में चले गए हैं। गाँव

खाँव-खाँव करके काटने को दौड़ता है जैसे। पुबुली भी मँड़ुए के खेत पर चली जाती है। पुयू के लिए मँड़ुए का भात रख कर भाई और चाचा के लिए खेत पर कलेवा ले जाती है। खेत के ऊपर ऊँची मचान बाँध रखा गया है। पकी फ़सल और कटी पसई की रखवाली में लोग अपने-अपने मचान के ऊपर ही 'गोहिया मँड़ई'। (आधे पीपे के आकार की छोटी झोंपड़ी) में रतजगे किये लेटे रहते हैं।

पुबुली कोई साँझ पड़े लौटती है। दमरू कुत्ता भी उसके साथ ही लौटता है। रातों को, जंगली जानवरों को भगाने के लिए, जब ध्यान आता है, लोग चिल्लाते हैं, हुशकारते हैं, किलकली भरते हैं, सिंघे बजाते हैं। पुबुली नींद में पड़ी सोती है। पुयू सिंघे की आवाज सुनती रहती है। बीच-बीच में कभी कभी सिंघे की टेर सुन कर दमरू धड़फड़ा उठता है और एक ही तान में यो-यो-यो ऽऽऽ. . .कर के रोने लगता है। बच्चा गिरि-याने लगता है। आग भुकभुकाती रहती है, धुआँ छल्लाता रहता है। झुके-झुके-से घर में जाड़े के मारे सिकुड़ी-सिकुड़ी गुड़ीमुड़ी लेटी पुयू दिउड़ को याद करती रहती है।

फ़सल के पकने और कटने के इन दिनों में जंगल की आड़ के उन खेतों में कंध-देश में न जाने कितनी हँसी-खुशी, कितनी 'लेन-देन'[1] चलती रहती है। माघ का महीना केवल ब्याह-शादियों का महीना होता है। पकी फ़सल को केवल देख-भर लेने से पेट भर जाता है। जड़ावर धूप मस्ती में मतवाला कर देती है। जाड़ा लोगों को एक जगह जमा कर देता है। पुयू पुबुली को अजीब निगाहों से देखती है। उसके भीतर टटोलकर देखने की तबीयत होती है मानो। पुबुली घोर नींद में सोई पड़ी है। जाड़े की निस्तब्ध अँधेरी रात है। शब्द केवल सिंघों की टेर का होता है। चचा को वहाँ जगाकर क्या दिउड़ यहाँ नहीं आ सकता था ? पुरुषों का मन सच-मुच न जाने कैसा होता है ! पुयू सोचती ही रह जाती है।

---

१ प्यार की।—अनु०

सवेरा हो चला था। कुहरा बहुत घना था। पास के गोंठ में दोनों-के दोनों बैल रँभा रहे थे। पुयू उठी। देखा, पुबुली उठकर जा चुकी थी। घर के भीतर धुँधला-धुँधला-सा उजाला आ चुका था। पुयू अंठा-मठियाकर[1] सो गई और पुबुली की बाट जोहती रही। दोनों बैल फिर-फिर रँभा-रँभा उठे। घर के भीतर उजाला कुछ और बढ़ा। बच्चे ने आँखें खोल दीं और उन्हें फैलाकर टुकुर-टुकुर ताकने लगा।

पुयू बच्चे को गोद में काँखिया कर उठ पड़ी। उसी समय उसने देखा कि नार गिर पड़ी है। पुयू का आलस छूट गया। नार गिर चुकी, आज घर-बार का लीपना-पोतना आदि पचासों काम करने होंगे। दिउड़ू पर उसे खीझ हो आई। घर की जवाबदेही वह तनिक भी सँभालता ही नहीं। केवल एक बार कि दो बार घर आकर मुँह दिखा जाता है। उसमें भी जाने कैसी जल्दी पड़ी रहती है उसे।

गाँव के बारिक (नाई) भुरसा मुंडा का छोटा बेटा तुरुंजा छोरा गाय चराने को खूँटे से खोलने आया। पुयू ने उसी की मारफ़त दिउड़ू और लेंजू के पास संदेश भेजा। भुरसा मुंडा को भी बुलवा भेजा। साँवता के मरने पर अब दिउड़ू ही गाँव का सरदार होगा। यह बात तो जैसे स्वयं-सिद्ध है। बारिक गाँव के सरदार का हुकुम-बरदार होता है। इसी के लिए तो वह "बारिक-भुँई" की उपज खाता है। भुरसा मुंडा ही संदेश लेकर गाँव-जवार जाता है।

वह सुनने के सँग-सँग ही छुटता हुआ आ पहुँचा। पुयू ने अपने नैहर के गाँव सिङ-टिङ को संदेश पठाया। शुभ कामों में नैहर को संदेश पठाने की रीति है।

पुबुली अब भी दिखाई नहीं पड़ी। कुहरा फट चुका है। जासिरी कंध की बुढ़िया के पास छौने को छोड़कर, नार के गिर जाने की बात बताकर, पुयू पहाड़ पर चढ़ गई। जाकर वहाँ से लाल गोपी माटी लाई, उजली खड़िया मिट्टी लाई, सियाड़ी के पत्ते लाये।

१ उठने का विचार टाल-टूल कर।

लौटती बेर आके देखा कि बुढ़िया के पास बच्चे को लिये बैठी पुबुली गप्पें लड़ा रही है। पुयू ने घर-बार लीप-पोत डाला। गोंठ-बथान पोंछ-पाँछ लिया। दर-दरवाजे पर सियाड़ी के पत्तों के बंदनवार लटका दिए। यह शुभ चिन्ह होता है। कपड़ा उबाल लिया।

नदी से लौट कर आई, तो देखा कि दिउड़ आ पहुँचा है। जाड़े की ठंडी रात में सिंघा टेर-टेर कर मचान का रतजगा करने के बाद वह अब भर-पेट दारू पी रहा था।

पुयू को देखा, तो उधर ही मुड़ गया और पत्नी के पीछे-पीछे पैर झटकारता हुआ घर के भीतर घुस आया। बोतू बकरे[1] की-सी नशीली आँखों से निहारता हुआ उसने पुयू का हाथ पकड़ लिया और झटका देकर उसे अपनी ओर झटक लिया। पुयू बच्चे को लिये थी। बोली—"छिः छिः, बेटे को झटका लगेगा।" बच्चा मुँह में स्तन भरे हुए एक आँख से बाप को कनखियों निहार रहा था। दिउड़ दुबक गया। पुयू बोली, "दारू पी के मात जाने से तो इस घड़ी काम नहीं चलने का। कितने काम पड़े हैं। बेजुणी को बुलाना है। डिसारी के पास जाकर सलाह लेनी है। नार गिरी है। बच्चे का नाम रखा जाना है।"

दिउड़ बेजुणी को बुलाने के लिए निकल पड़ा। यंत्र की तरह गया वह। बड़ी मस्ती में मात कर इतने दिनों बाद आज वह घर आया था। पुयू दुबली दिख रही है। मुँह पर पानी नहीं है। जाड़े से होंठ और गाल जगह-जगह फट गए हैं। बाल बिखरे हैं। मन की आँखों के आगे वही मूरत बार-बार आ जाती है। उस पर मन डोलता ही नहीं। पीछे से वही मूरत कोंच रही है—जाओ, काम करने जाओ। ठंड से दिउड़ की देह फूल-फूल उठती है। मुँह में बस कुछ खारा-खारा सा स्वाद है। बच्चा होने के बाद से पुयू जब देखो घुड़क कर, हुशका कर, हाँक देती है। बच्चा होने के पहले भी इसी तरह घुड़क कर भगा-भगा दिया करती थी। जंगल का मानुष ठहरा दिउड़। इस तरह कितने दिन चलेगा? सुबह-

---

१ साँड़ बकरे।

सवेरे गाँव की धाङड़ियाँ (युवतियाँ) सिर पर हँड़ियाँ और घड़े तथा काँख तले लुगड़ियाँ लिये नदी को जा रही हैं। डुंबर जा रही है, नीलम जा रही है। हिरनियों की तरह ये मादाएँ! दिउड़ू उन्हें निहारता हुआ बढ़ता गया मूँज की खाट सिर पर डाले भुरसा मुंडा के बेटे बाळ मुंडा की पत्नी सोनादेई जा रही है। साल भर हुआ केला के गाँव से आई है। बाळ मुंडा लंबतड़ंग-सा आदमी है। देह पर बस दो-दो हड्डियाँ भर ही हैं। सोनादेई नीचे को सिर झुकाए चली जा रही है। कितनी सुन्दर है यह! इसके गोल-गाल मुखड़े पर न जाने कौन एक अँधेरा-सा घोले रहता है। उस अँधेरे के बीच धू-धू करती जलती रहती हैं तो केवल उसकी दोनों आँखें। कनखियों से इधर-उधर को झुकती उसकी लवें बीच-बीच में भभक-भभक उठती हैं।

दिउड़ू ने लम्बी उसाँस छोड़ी। साल-भर पहले के दिनों की पुयू उसे याद आई। कितनी देर से दमरू कुत्ता पीछे-पीछे चला आ रहा था। रास्ते भर केवल कुत्ते-ही-कुत्ते और पिल्ले-ही-पिल्ले जहाँ-तहाँ भरे पड़े हैं। कुढ़-कुढ़ कर भौं-भौं-भौं-भौं भौंक-भौंक उठते हैं।

सात

बेजुणी के घर पहुँचा। गाँव के छोर पर यह अकेला ही घर है उसका। चारों ओर बालछड़ी की झाड़ियों की बाड़ है। बाड़ के घेरे के भीतर वाले आँगन में भी चारों ओर बेतरतीब घास-फूस उगी हुई है। उस आँगन के बीच में एकचाड़ी (एक ही छान से बनी हुई) मँड़ई की एक झोंपड़ी है। बेजुणी बुढ़िया वहीं रहती है। अपना कहने को उसका दुनिया में कोई नहीं है। कंध-समाज में बेजुणी का एक विशिष्ट स्थान है। वह जब भी चाहे, उस पर हाल आ जाता है और वह देवता या प्रेत खेलाने लगती है। जिस किसी भी देवता को वह बुलाती है, वही आकर उस पर सवार हो जाता है। वह बाँझ है। मरने और जीने की दो अवस्थाओं के बीच बेजुणी बुढ़िया एक सीढ़ी है।

लोग उसे प्यार नहीं करते। वह असुन्दर है। उसकी उँगलियाँ सिकरे बाज़ के पंजों की तरह मुड़ी-मुड़ी-सी हैं। मुँह में दो बड़े-बड़े पीले हल्दिया दाँत हैं। आँखें धूमिल-धूमिल सी हैं। सारे बदन की चमड़ी झूल गई है। कोई उसे भली आँखों नहीं देखता। पर डरते सभी हैं उससे। उसकी छाती हड्डियों का एक पंजर भर है। उस छाती के ऊपर काच के रंग-बिरंगे दानों की मालाएँ हैं। गुच्छे-के-गुच्छे ढोलनी ताबीजों की मालाएँ हैं। उनमें जड़ी-बूटियाँ बन्द हैं। वह असाध्य साधनाएँ करती है। आग पर चलती है। काँटों पर बैठती है। पेट में खाँड़ा भोंक लेती है। वह देवता की वाहन बेजुणी है।

दिउड़ू बेजुणी की बाड़ के पास ही ठिठक कर खड़ा हो गया। उस घर के चारों ओर नंगे-नंगे काले-काले, बड़े-बड़े पत्थर हैं। झुंड-के-झुंड पेड़ों के कुंज हैं। लोग कहते हैं, बेजुणी साँप पालती है। लोग कहते हैं, वह सियारों-गीदड़ों से बातें करती है।

मँड़ई [1] के ओसारे से किसी के बातें करने की आवाज़ सुनाई पड़ रही है। दिउड़ू अन्दर घुस गया। ओसारे में टाँगें पसारे बैठी बेजुणी बुढ़िया धूप सेंक रही है। सिर के बालों के झोंटों के ऊपर सन की तरह लटों की लटें अनगिनत चोटियों की तरह लटक रही हैं। कान में मदार के फूल झूल रहे हैं। कमर में एकरंगे की रंगीन गमछी (छोटा अँगोछा) लिपटी हुई है। आप-ही-आप कुछ बक रही है वह। इसी तरह आप-ही-आप-वह न जाने किस-किस के साथ बातें करती रहती है।

जाड़े की ठंडी बयार सनसनाती हुई चल रही है। इसी बयार से बेजुणी को छूकर और उसके कानों में कुछ कह कर प्रेत अपनी राह उड़े चले जाते हैं। बेजुणी की आँखें सामने के शून्य पर टिकी हुई हैं। हाल के हल-चले जुते खेत की उठी अखावरों और धँसी सिरावरों की-सी झुर्रियों से भरे अपने छुटल्ले माथे और धुआँती-धुआँती-सी अपनी उन आँखों से वह दूर भविष्यत् को निहारती रहती है। उसकी दृष्टि दिव्य है। उसकी उन आँखों में आमना-सामनी देखने की, उन आँखों में आँखें डाल कर देखने की हिम्मत किसी की भी नहीं होती।

दिउड़ू ने ऊँची आवाज़ से पुकारा—"बेजुणी, हे बेजुणी।" बेजुणी ने मुँह फेर कर देखा। हँसी। सिर्फ "आँ-आँ" किया। उसके दो बड़े-बड़े पीले-पीले हलदिया दाँत निकल आए। आगे-पीछे को गरदन हिला कर बोली—"नार गिर गई है।"

दिउड़ू बोला— "जानती हो तो हो!"

बेजुणी फिर हँसी। बोली, "मैं और जानूँगी नहीं?" फिर अपने-आप से कहने लगी—"मरबू सांवता का डुमा (आतमा) पैदा हुआ है। हाकिना, हाकिना" और फिर मन-ही-मन कहने लगी,"साँवता, साँवता, आ गया फिर तू रे। बेजुणी अब धाकड़ी नहीं रही कि उसे वन-वन नचाये फिरेगा तू। होऽ! तुझे गोद में लेके बैठूँगी! क्या खिलाऊँगी भला? दूध तो रहा

[1] मंडपाकार झोंपड़ी।

नहीं अब !" बेजुणी हँसी—"सरबू था तू ! हाकिना हुआ ! हाकिना, हाकिना !" बेजुणी बुढ़िया आप-ही-आप बकती रही। दिउड़ ठिठका बुत बना खड़ा रहा।

दिउड़ू ने फिर कहा—"बेजुणी, बेजुणी ! आज तुम मेरे बच्चे का नामकरण करोगी न ? बुलाने आया था मैं।" बेजुणी प्रकृतिस्थ हुई। कान से मदार के फूल उतार डाले। पतली-पतली टाँगों और हाथों के ऊपर कपड़ा खींच कर उनका नंगापन ढँक लिया। बोली—"जियेगा रे पूत, जियेगा तू। नाम रखना है न ? गोरू-लौटान[1] के समय जाऊँगी। अभी तो 'योग' (साइत) नहीं है। जा, पुयू को कह रख। गाँव को बता दे।"

अब यह बेजुणी केवल एक बेसहारा बुढ़िया भर ही रह गई है। लोग बच्चे जनते रहें और वह देवता से पूछ-पूछ कर उनके नाम धरती रहे, पूजा करती रहे, ही-ही-ही-ही करके नाचती रहे !

दिउड़ू लौट गया। गाँव के गलियारे में आकर उसने सोचा—"शायद बेजुणी पगला गई है। अब वह भी खिसक जायगी। ढह जायगी !"

डिसारी को बुलाने गया। डिसारी पांडरू कंध खेतों की ओर जा रहा था। पांडरू कंध कोई खास बूढ़ा नहीं है। सुन्दर-सुडौल सुपुरुष है। गोरा-चिट्टा आदमी है। उसकी दैवी शक्ति के ऊपर गाँव के लोगों का अपार विश्वास है। वह 'कंध-सिद्धान्ती' है। पर उसमें आडम्बर नहीं है। वह भी तम्बाकू पीने वाला खेती-बाड़ी करनेवाला साधारण कंध ही है। उसका बाप प्रसिद्ध डिसारी था। मेरिया-पूजा का 'योग' शोधा करता था। रन पड़ने पर किस घड़ी किस साइत में निकलना होगा, कब किस दिन क्या करने से क्या फल होगा आदि-आदि, सारी बातें वह शोध-शाध कर बता दिया करता था। पांडरू कंध ने भी थोड़ा-बहुत सीख रखा है। आधी रात के समय तारों भरे आसमान को निहार-निहार कर, नक्षत्रों को गिन-गिन कर वह जो विधान दे देता है, वह अटल होता है। "गणना" करके

---

१ गोधूलि।

वह जो भी कहता है, सो सब-का-सब फलित होता है। किस दिन ब्याह का लग्न है, किस दिन किस समय कौन-सी पूजा करनी है, किस दिन नया आम खाया जायगा, इत्यादि-इत्यादि सब कुछ वह रत्ती-रत्ती ठीक-ठीक "टीक" देता है। रातों के तारे गिन-गिन कर।

डिसारी ने भी कहा—"गोरू-लौटान की बेर—"।

दिउड़ू लौट आया। घमघमायी धूप-घाम में घूमते-घामते उसे भूख लग आई। अंटी की फोंफी[1] का तंबाकू चुक चुका था। पुयू के ऊपर वह और भी खीझ उठा। कहाँ गोरू-लौटान की बेर और कहाँ अभी से खड़ी धूप में उसने बेकार ही इतना दौड़वा दिया।

हाकिना, हाकिना,— नाम तो बुरा नहीं है। सुनने में अच्छा ही लगता है। दिउड़ू ने सोचा—लेकिन हाकिना कहने से तो कंगाल, भुक्खड़ और बेचारे का बोध होता है। उसका बेटा क्या भुक्खड़ होगा? बेजुणी को अक्ल नहीं है!

पर नाम देना तो बेजुणी के हाथ में है नहीं। जिस नाम के कहने से चावल खड़ा हो जायगा, वही नाम तो देगी न वह? इसमें तो देवता का ही हाथ रहता है। खैर, पीछे देखा जायगा!

बाट जोहते-जोहते दिन ढल गया। सूरज अस्ताचल की ओर उतर पड़ा। पुयू छटपटा रही थी। अंटशंट कामों में लगी रहकर वह कई बार पसीने से तर-बतर हो-हो गई थी। फिर भी पैर उसके धरती पर नहीं पड़ रहे थे। मन होता था कि कुछ और काम होता करने को। आज उसके बच्चे का नामकरण होगा। उस नाम को अपना कर और सभी देवी-देवताओं का आशीर्वाद ओढ़कर यह बच्चा सखुए के पेड़ की-सी सीधी सड़क से होता हुआ पुरखों की इस पठारी धरती के ऊपर खड़ा होगा। पुयू उसकी माँ है। मानुष के इस लिलार (कपाल) में न जाने कितने

---

1 कंध बटुए के बजाय बाँस के चोंगे या 'फोंफी' में तंबाकू रखते हैं और उस चोंगे को कौपीन की अंटी या सिर के बालों में खोंसे रखते हैं। —अनु०

अनिष्ट हुआ करते हैं। जंगल में बाघ, बिलों में साँप और देह में जाने कितनी तरह के ज्वर-ताप, सरदी-खाँसी, छाती के दर्द आदि लगे ही रहते हैं। दस-दस को जनो और पाल-पोस कर बड़ा करो, पर अकसर दसियों में से एकाध ही यम राजा का जूटन बन कर बच रहता है। और फिर उस बचे-खुचे हुए एकाध के कपाल में भी साहूकारों और बड़े लोगों की न जाने कितनी धौंसें सहना, न जाने कितनी कुदृष्टियाँ सहना बदा रहता है। फिर वह बढ़ेगा और बढ़कर पहाड़ के सिरे पर ही वह मानुष होगा। कोई बदनज़र मत लगाये जी उस पर, कोई कोप न करे जी उस पर, आहा!

दरवाजे के ऊपर सतरह बार झाड़ू लगायी गयी। वहाँ पूजा होगी। आलपना के रंगीन पिठार, भालिया के फल, सियाड़ी के पत्ते, नये दीये आदि-आदि न जाने कितने जतन से जुटा रखे हैं उसने। एक पत्तल के चारों कोनों के चारों खूँटों के ऊपर हलदी की बुकनी रखी गयी, दूसरे पत्तल के ऊपर अरवा[1] चावल रखा गया। पुयू बारम्बार उसे देख-देख जाती है और इधर-उधर भटकने लगती है।

लोग जुटे। बाजे बजे। डिसारी और बेजुणी को संग लेके दिउड़ आया। पुबुली नहा-धोकर, साफ़-सुथरी होकर, जूड़ा बाँध कर, राह देख रही थी। भीड़ बढ़ी। पांडरू डिसारी ने योग-मुहूरत दे दिया। अब शुरू हो जाय। धूप जलायी गयी। बेजुणी को हाल आया। देवना खेलाया जाने लगा।

बाजे के ताल-ताल पर बेजुणी बुढ़िया सुध-बुध खो-खोकर, बेसँभाल हो-हो कर, नाचने लगी। थोड़ी दूर हट कर गाँव के लोग बैठे देखते रहे। बेजुणी उछलती-छलाँगती, कूदती-फाँदती, दौड़ती-धूपती, धूप का धुआँ पीती। बीच-बीच में चौंक-चौंक पड़ती और चौंक कर पास के किसी आदमी पर टूट पड़ती, उचक कर उसे धर लेती और उसकी चोटी पकड़-पकड़ कर उसे नीचे की ओर घसीटने लगती। लोग मुँह झुकाये स्थिर बैठे रहते।

---

१ धूप का या आतप चावल उबले धान के चावल से अधिक पवित्र माना जाता है और अक्षत आदि के काम आता है।—अनु०

बावली बेजुणी को नाचती छोड़कर पांडरू जानी बजवैयों में से आधे लोगों को 'झाकड़' देवता की पूजा करने के लिए उठा ले गया। पूजा समाप्त करके काफी देर बाद लौटा। बेजुणी तब भी मंत्र पढ़-पढ़ कर नाचती ही जा रही थी। साथ में और भी दो बूढ़ियाँ आ लगी थीं। बेजुणी हाल आने पर या थक कर इधर-उधर लुढ़कती तो उन्हीं के हाथों में जा गिरती।

सूरज डूबा जा रहा था। बेजुणी का नाच अब बन्द हुआ। पुयू बच्चे को लेकर खड़ी हुई। बेजुणी ने रंगोली के पिठार बिछा दिये। हलदी की बुकनी और अरवा (आतप) चावल के अच्छत उस पर उँड़ेल दिये। मुरगे के तीन छोटे-छोटे चूजे लाये गये। उन्हें तीनों बुढ़ियों ने पकड़ रखा और अरवा चावल के अच्छत चुगाने लगीं। बाजे बजते रहे। धूप का धुआँ घना होकर उठ रहा था। बेजुणी मंत्र पढ़े जा रही थी। मंत्रों में ही तमाम शुभकामनाएँ उचारती रही, सभी शुभ असीसें मनाती रही। सभी दिनों, महीनों और ऋतुओं के नाम ले लेकर पुकारती रही। और फिर मुरगी के एक के बाद एक तीनों चूजों की गरदनें तोड़ डालीं और उनके लोहू को धरती पर उँड़ेल दिया। फिर पकी दारू ढाली। बेजुणी के सिर पर दिया जल रहा था। जलते दिये को सिर पर साधे साधे ही उसने जच्चे-बच्चे की प्रदक्षिणा की। पहाड़ के उस पार सूरज आधा डूब चुका था। उसी ओर निहारती हुई, दिये में पानी भर कर मंत्र पढ़ती हुई, बेजुणी ने उस पानी को ढुलका दिया। अब आयी नाम देने की बारी। पुयू का आग्रह बढ़ चला। वह उतावली हुई जा रही थी। सभी नीचे की ओर ताकने लगे। बेजुणी नीचे बैठ कर एक-एक नाम पुकारती गयी और हर नाम के साथ एक-एक हलदी-रँगा चावल फेंकती गयी। प्रथा यह है कि जिस नाम पर अच्छत का हलदियाया चावल मिट्टी पर सीधा खड़ा हो जाता है, वही नाम बच्चे को दिया जाता है।

बेजुणी एक-एक नाम ले-लेकर पुकारती गयी:—

दिनों के मुताबिक—सोमा, मँगळारू, बुधू, गुरू, शुकू, शनू।

महीनों के मुताबिक—जेठू, आसाढ़ू, बाड़ापनू, बेस्सू, दमरू, दिउडू।

जानवरों के नामों पर—मेल्लू (मोर), लेल्लू (चील), मायूँ (हिरन) ।

पेड़ों के नामों पर—फूलों के नामों पर—कामबेळा (नारंगी), जामू (अमरूद), मुंडुरा (ककड़ी) डंडा (गन्ना), देरू (बाँस) माहाञ्गाँ (आम)

प्राचीन कंध नाम—जागिली, बबनें, गँइआँ, लेत्ता, लँका, आरजू।

नक्षत्रों के नाम—आसनी (अश्विनी) वारनी (भरणी), सालपा (शुक्र), रांडा (मंगल), ऊत्तरा-लदा—

फिर लेंजू (चाँद), टीणी (बिजली), पियू (मेघ)—नजाने कितने नाम हैं !

नामों के सोत बह चले। पुयू की छाती में हथौड़ा सा लगा। बड़े आग्रह के साथ वह साँसें रोके बाट जोहती रही। पर अच्छत खड़ा होने का नाम ही नहीं लेता। बेजुणी निर्विकार-भाव से नामों की तालिका गाती ही चली जा रही थी। वह निहार-निहार कर देखती कि देखें किस नाम पर चावल खड़ा होता है। निहार तो सभी रहे थे। वे बार-बार सोचते कि इस भीड़-भड़क्के में और अँधेरे-उजेले की इस लुकझुक अधरोशनी में अच्छत वह दिखा, वह खड़ा दिखा ! कितनी देर का समय यों ही बीत गया। बेजुणी खोखले गले से गरजी, "हाकिना—" ! चावल उठ खड़ा हुआ। बच्चे का नाम रखने से दरमू-तरतनी—

मिणिआका हाकिना ! यही नाम रहा उसका ।

पांडरू कंध करवट की ओर झुका आँखें मूँदे पत्थर की मूरत की तरह बैठा हुआ था। आँखें खोलकर बोला, "यह है सरबू साँवता का डूमा (आत्मा)।"

पुयू की आँखों से आँसू के दो धारे बह चले। पुबुली दोनों हाथों से मुंह ढक कर रोती हुई भाग गई।

पुयू ने बच्चे को दुलारते हुए पुकारा, "हाकिना, मेरा सोना, मेरा माणिक ! "

पूजा समाप्त हुई। दारू और पिक्का पीने का तेवहार कल होगा। दिउड़ू बोला, "दे, क्या रखे हुई है। खेत पर जाना है।" पुयू बोली, "आज भी जाओगे ?"

"जाऊँगा नहीं भला ? वहाँ पकी फ़सल को साँभर चर जायेंगे, हिरनें चर जायेंगी। डमरे और पटके[1] कोई चुरा ले जायगा। मैं भी क्या तेरी तरह घर के कोने में सिर्फ बैठा ही रहूँ ?"

खा-पीकर और आग की लुकाठियों का बड़ा सा पूला लेकर दिउड़ू चला गया।

पुबुली कहाँ है ? पुयू ने मीठे गले से पुकारा, "पुबुली ! किधर को गई ? आ न इधर ज़रा, हाकिना बुला रहा है।"

---

१ डमरे-पटके जानवर हुशकाने के लिए आवाज करने को रखे जाते हैं।—अनु०

आठ

ऊपर गाँव है। तलहटी में खेत हैं। उसके पार फिर जंगल-ही-जंगल हैं। जंगलों से भरे पहाड़ हैं। ढलवानों पर कटे सखुओं की ठूँठी जड़ों की समाधियाँ हैं। जहाँ तक निगाहें जाती हैं, काले-काले पत्थरों के हार-के हार पड़े दिखाई पड़ते हैं। फिर दोनों ओर और भी घने जंगल हैं। बीच की खुली जगहों में साँवा और तीसी (अलसी) के खेत लहलहा रहे हैं। कुछ और ऊपर को जाइये तो कांदुल (बड़ी अरहर) के खेत हैं। और इन सब के बीच-बीच के निचले पनियाले भागों में धनखेत हैं, जिनमें धान है।

साँवा और मँडुए की फ़सलें पक कर कोई आधोआध कट भी चुकी है। बाकी अभी पकी नहीं हैं। धान हलदिया गया है। लोगों ने अपने-अपने खेतों में रतजगों के लिए मँड़ैयाँ बना रखी हैं। इनमें से कितनी तो ऊँचे-ऊँचे मचानों के ऊपर बनी हैं और कितनी मँड़ैयाँ ऊँची उठी हुई, तनी हुई, चोटीनुमा चट्टानों पर या पेड़ों की डालियों पर बाँध रखी गयी हैं। नीचे आग जलती है। जगनिये (रतजगा करनेवाले रखवाले) बीच-बीच में नीचे उतर कर आग तापते हैं। रहना ऊपर मँड़ैयों के अन्दर होता है।

माघ चढ़ा है। बड़ी ठंड है। अँधेरी रातों को ढलवानों और खड्डों में सिर्फ कुहरा-ही-कुहरा लहराता रहता है। तारों की झिलमिल लौ में कुहासा भुकभुकाता-सा दिखाई पड़ता है। कुहासे के अन्दर जहाँ-तहाँ अलावों की लवें तिरती-सी, हिलोरती-सी, नजर आती हैं। दूर से देखने पर बाघ की आँखों की तरह दमकती हैं।

हिरनों और साँभरों के झुंड-के-झुंड पें-पें में-में करते हुए उतरते हैं और कांदुल (बड़ी अरहर) के खेतों में घुस पड़ते हैं। मचानों पर सिंघे बज उठते हैं। चारों ओर से विकट-विकराल कंठस्वर सुनाई पड़ने लगता

है। शोर मच जाता है। लोग कनस्तर पीटने लगते हैं, टमक (एकमुँहा माँदलनुमा ढोल) बजाने लगते हैं। बनैले सूअर ढों-ढों करते हुए फ़सल उखाड़ने के लिए उतर आते हैं। कुटरे[1] घसर-घसर करते हुए मँड़आ खा जाते हैं। कभी-कभार दूर के किसी मचान से देसी बन्दूक ठाँय-ठाँय छुटती है और पहाड़ी कंदराओं और घाटियों की नीरवता भंग कर देती है।

सारी रात इसी तरह कुछ-न-कुछ शोर होता ही रहता है।

कभी-कभी महाबल बाघ मचानों के नीचे से दुमदुमाते, गरजते और पाहुलों (पंजों) की थप-थप थाप से जंगल कँपकँपाते निकल जाते हैं। मचानों से गड़-गड़ पानी चू पड़ता है। पेड़ झम-झम करके काँप उठते हैं और उनके पत्तों से धूल झड़ पड़ती है। इन दिनों बाघ बहुत " लगते " हैं। मचान अगर ऊँचे न हुए या फाँद-छलाँग कर मचान पर जा पहुँचने का सोंप-सुभीता रहा, तो ये बाघ आदमियों को झाड़ते-झँझोड़ते और हिलाते-डुलाते ले भागते हैं।

और भी न जाने कितने जीव-जन्तु हैं इस जंगल में। न जाने कितनी तरह की आवाज़ें होती हैं। रीछ बच्चों का रुलाई की-सी आवाज़ में रोते हैं। खूसट की डरावनी चिड़किड़ी सब से अलग तरह की होती है।

ये सभी रोर और सारी ठंड मिल-जुल कर अँधेरी रात पर छायी रहती है। इस अँधेरी रात में भी लोग वहाँ जागते हैं। ठिठुराती ठंड और भिगोती ओस में ये कंध वहां पर रतजगे इसलिए करते ह कि कहीं ऐसा न हो कि गाढ़े पसीने की कमाई उस तैयार फ़सल को ये मुफ्तखोर हिंसक जानवर चट कर जायँ।

उस ठंडी अँधेरी रात में लेंजू कंध मचान के ऊपर मँड़ैया में लेटा हुआ है। पास में दिउड़ भी सोया पड़ा है। बिस्तरे के नाम पर सिर्फ़ थोड़ी-सी सूखी फूस उछरा (छितरा) रखी गयी है और ओढ़ने के नाम पर टाट की फटी-चिटी बोरियाँ उनके तन को किसी तरह ढँके हुई हैं। पास

१ कुटरा छोटे आकार की हिरनों की एक दुर्लभ जाति है।

के खेत के जगनियों के शोर-गुल से लेंजू कंध की नींद उचट गयी। ठंड हू-हू करके घुसी आ रही थी। दिउडू फिर भी सो रहा था। लेंजू आहिस्ता-आहिस्ता मँड़ैया के मुँह की ओर गया। छींके की बोरसी में अब भी थोड़ी-बहुत आग धुकपुका रही थी। चौकन्ना होकर उसने बाहर की ओर झाँककर देखा। कहीं कुछ दिख नहीं रहा था। दिख रही थी कोई चीज़ तो सिर्फ़ तह-की-तह, थाक-की-थाक अँधियारी ही। कुहरा धुँगिया चुरुट के धुएँ की तरह फैल रहा था। ऊपर तारे टिमटिमा रहे थे। लेंजू ने धुँगिया पिक्का सुलगा लिया और बाहर की ओर अँधियारे में आँखें गड़ाये निहारता रहा। आज की रात नींद आने की नहीं। तबीयत अजीब सहमी-सहमी-सी लग रही थी।

अकेलापन बेतरह अखर रहा था। अपना एकाकी जीवन बेसहारे-दुखियारे भिखारी की तरह तलहटी के अँधियारे में लोटता जान पड़ रहा था। लेंजू, तेरा कोई नहीं!

बूढ़ा भाई था सरबू साँवता। उसी का मुँह तक-तक कर इतने सारे दिन एक ही रौ में कट गये। आज वह भाई भी न रहा। कोई नहीं तेरा लेंजू, कोई नहीं!

कभी उसका भी ब्याह हुआ था। हाँ, इस लेंजू कंध का भी। कहाँ, अभी उस दिन को हुए ही कितने दिन हैं, जब रुकनी ने आकर उसके घर को उजाले से भर दिया था! रुकनी बेचारी को बाघ खा गया। कंध जाति के परम्परागत नियम के अनुसार अब लेंजू का ब्याह अगर हो सकता है तो केवल उसी स्त्री से हो सकता है, जिसके पति को किसी बाघ ने खा डाला हो। और किसी से भी नहीं।

अशब्द अँधेरी रातों को खेतों पर रतजगा करने बैठो तो रुकनी बरबस याद आने लगती है। जाड़े की ऐसी ही ठंडी रात थी वह भी। मँड़ए के खेत में नीचे धरती पर ही छोटी-सी गोहिया[1] मँड़ैया थी। चाहे जितना भी

---

१ छोटे-से इकहरे छप्पर को अर्धवृत्ताकार मोड़कर बनायी गयी कोई हाथ-भर ऊँची झोंपड़ी।—अनु०

मना करो, रुकनी नहीं मानती, रातों को पीछे-पीछे भागी चली आती। कहती, यहाँ तुझे डर लगेगा, वहाँ मुझे डर लगेगा। ऐसी ही ठंडी रात थी वह भी। दरवाज़े के मुँह पर ऐसी ही आग जल रही थी। आग के पास रुकनी सोयी पड़ी थी। आधी रात के समय आर्त्त चीत्कार सुन कर नींद खुल गयी। रुकनी नहीं थी। थीं केवल उसकी विकल चीखें। वे भी धीरे-धीरे दूर-दूरतर-दूरतम होती चली जा रही थीं। आग-वाग मर चुकी थी, धुआँ कब का बिला चुका था। रात ओस से भींग कर और भी ठंडी पड़ गयी थी। वह बावला सा दौड़ पड़ा। रुकनी की आवाज़ आनी बन्द हो गयी। दूर अँधेरे में पास-पास लगी दो आग की बड़ी-बड़ी चंचल लवें साथ-साथ बढ़ी जा रही थीं। धरती से कोई छाती भर ऊपर की ऊँचाई पर। दूर से तो वे केवल पास-पास सरकती दो लवें ही दिखाई पड़ती थीं। ये आँखें थीं। बाकी सब कुछ अन्धकार के सागर में लय हो गया था। पर इन लवों से ही पता चल गया था कि बाघ शरीर से बहुत ही विशाल और महाबल[1] है। देखते ही देखते जंगल के अँधियारे में न जाने किधर कहाँ छिप गया। सुबह लोग आये। मँडुए के खेत में घिसटन पड़ी थी। झाड़ियों-झुरमुटों में रुकनी की लुगड़ी के छोटे-छोटे चीथड़े गुच्छे-के-गुच्छे अटके पड़े थे। मेंड़ के पास बड़े बाघ के पाहुलों (पंजों) के निशान थे। एक जगह थोड़ी-सी धरती लोहू से रँग गयी थी। उसके बाद घनघोर, अगम जंगल था।

रुकनी, हँसने-हँसानेवाली रुकनी, ठिठोलीबाज़ कौतुकी रुकनी, प्यारी-प्यारी रुकनी, ओऽऽह !

मन टूट गया। खेती उजड़ गयी। फिर भाई ने सहारा देकर खड़ा किया था। कहा था, "हेइ, यह देख। यह सब किसके लिए है ? सब तेरा ही तो है ?"

भाई भी चला गया। वह आप भी एक दिन यों ही चल बसेगा। पैंतालीस का तो हो भी चुका। पर जीवन वृथा ही चला गया। रात की

---

१ महाबल, बाघों की जाति-विशेष का नाम है।—अनु०

ठिठुरी-ठंडी अँधियारी बारंबार यही भावना जगा-जगा जाती है। मरबू का दिउड़ू है, दिउड़ू का हाकिना है; पर उसका कौन है ? उसका कोई नहीं ! उसके चल बसने पर किस्सा ही तमाम हो जायगा। आज रुकनी के साथ बिताये दिनों के आनन्द को वह आँखों से ओझल नहीं कर पाता। वह बस यही सोचता है कि अब उसके लिए बाट जोहती हुई घर पर बैठने वाली कोई नहीं है। अब कोई उसकी बाट नहीं जोहता। कोई नहीं ! देह सुलगती रहती है। मन-उखड़ा-उखड़ा सा रहता है। इसी तरह उखड़े-उखड़े रह कर ही जीवन बीत जायगा। भोग उसके कर्म में बदा ही नहीं है।

लेंजू कंव धुँगिया चूरुट पीता रहा और सोचता रहा। सोचता रहा कि उसके भाग में न जाने कितने प्रकार के भोग हो सकते थे। तलहटी के अँधियारे से धीरे-धीरे तरह-तरह की भावनाएँ आ-आकर उसके मन को गरमाने लगीं। बाहर बड़ी ठंड थी। लेंजू अभी अधेड़ भी नहीं हुआ है। रोज़-रोज़ की देखी-सुनी कितनी ही औरतों के चित्र वह मन-ही-मन देखने लगा। उन्हें देख-देख कर और उन चित्रों में अपने मन के विकारों को रँग-रँग कर वह खुश हो उठा। खुश हो उठा अपनी यह करतूत देख-देख कर। भाई के मरने के बाद से वह हलके मन से इस तरह की बातें कभी-कभी सोच सकता है। अब मन के भीतर किसी का भी डर-भय नहीं रहा। अब मन उसका खुला-खुला हो गया है। मन चाहता है कि जीवन के रहते-रहते दुनिया के तमाम अनुभव सोख ले, कुछ छोड़े नहीं। अब इसमें कोई बाधा नहीं रही।

कहीं किसी ने कनस्तर पीटा और सिंघा फूँका। शोर-गुल सुनकर दिउड़ू जग पड़ा। मँड़ैया के मुँह पर आया। नीचे थप-थपाथप दुम-दुमादुम शब्द हो रहा था। दिउड़ू ने पुकरा, "इंचाबा (छोटे बापू), सुनाई नहीं पड़ता तुम्हें ? जानवर हमारी खेती खाये जा रहे हैं। आधेक चट कर जायँगे ऐसे तो। बैठे-बैठे क्या कर रहे हो ? बस ऊँघ रहे हो बैठे-बैठे !"

दिउड़् जानवर हुशकाने को विकृत स्वर में चीखा, "ई-ई-हा, ई-हा !" बोला, "तुम किसी भी काम के नहीं हो। दो, सिघा मुझे दो।"

लेंजू विरक्त हो उठा। सोचने लगा, यह दिउड़् सांवता हो गया है, इसीलिए अब बढ़-चढ़ कर बातें करता है। चौंक उठा। बोला, तू तो छाती में घुटने टिकाये घिकुड़ी मारे सो रहा था। जागता कौन था ? अब सरदारी दिखाने चला है !" उसके अकारण क्रोध को दिउड़ समझ नहीं सका। उसने खूब जोर की फूँक लगा कर सिंघे की टेर गूँजा दी। जानवर भाग गये।

लेंजू बकर-बकर टुकुर-टुकुर मुँह ताकने लगा। चुपचाप टाट ओढ़ ली और मँड़ैया में खिसक गया। घुटनों पर पेट टेक कर सो पड़ा।

पर नींद नहीं आयी लेंजू कंध को। सोचने लगा कि दिउड़् ने उसका अपमान किया है। उसका कोई नहीं है, कोई नहीं ! वह पराये घर में खुँसा हुआ है। उसी तरह जिस तरह छान की बनी-बनायी, बँधी-बँधायी ठाठ में ऊपर से कोरो बाँस खोंस कर लगा दिया जाता है। बेगारें खटता रहता है। अपमान सहता रहता है। बातें सुनता है। बहुत रोष आया उसे। वह फिर नहीं उठा।

दिउड़् बैठा रहा। रात गहराई। दिउड़् को चिढ़ आई। उसका सारा कोप पुयू के ऊपर जा पड़ा। वह पुयू के सम्बन्ध की सारी बातें एक-एक करके सोचने लगा और उन में उसके अपराध ढूँढ़ने लगा। सोचने लगा कि देखें पुयू ने कहाँ कौन-सा कसूर किया है, जिसके लिए कि उसे गालियाँ दी जा सकें। जगे रहने के लिए उसके पास बस यही एक उपाय था।

नौ

रात बीती। भोर हुई। पुयू अपने बच्चे को लिये-लिये काम-धाम में लग गई। काम-धाम के बीच-बीच में वह रास्ते को भी निहार-निहार आती थी। आज उसके मायके के लोग आनेवाले हैं। सँदेशा गया है। भुग्मा मुंडा बारिक गया है।

उसके बाप के गाँव—मिङटिङ! सुबह-सवेरे निकलो तो पहुँचते-पहुँचते सूरज हाथ भर ढल आता है। लेडेङ के पास मिङटिङ घाटी का पहाड़ पार करने के बाद भी काफ़ी दूर चलना पड़ता है।

वहाँ न बाप हैं, न माँ। कितने दिन हुए वह वहाँ गई तक नहीं है। बस कुछेक बुढ़िया भर हैं वहाँ। उनके वंश-कुटुंब हैं। उन्हीं में से कोई-कोई आयगा। बच्चे की नार गिरी है, ननिहाल से किसी के आये बिना काम नहीं चलने का।

पुयू अच्छी तरह जानती है कि जाड़े का कुहरा तैर कर इतने सवेरे-सवेरे वहाँ से कोई आ नहीं सकेगा।

पर कोई आयेगा आज ज़रूर। राह कह रही है कि कोई आयेगा। इतनी सीधी-सटीक राह है! गाँव के पहाड़ से उतर कर जंगल के भीतर कहीं पर गुम हो गयी है।

जिस दिन अपने पुरुष का मुँह देखा था, मायके के पहाड़, झरने, सब भूल गयी थी। उस गाँव की गलियों की जिस धूल में नित-दिन नाचती फिरती थी, उस धूल को भी भूल गयी थी। और आज बेटे का मुँह निहारती है तो धीरे-धीरे उस पुरुष को भी भूलती जा रही है। इसके आगे जैसे सारा-कुछ भूल जायगी अब! पर इसी तरह किसी-किसी दिन किसी बात पर कोई बात याद आने लगती है। मन के भीतर केवल हलके बादलों सा कुछ तिरने-उतराने लगता है।

हुँ :, उस जली-उजड़ी[1] डीह की बात पर किसलिए सोचती है ? आयु के सोते में खिंची वह न जाने कब से उस ओर से मुँह फेर कर एक हीरो में बह चली है ।

अब इतने दिनों बाद आज कहीं ध्यान आया है कि सूरज वहाँ भी उगता है और वहाँ के भी ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों की चोटियों को रंगे-बिरंगे रंगों में रँग-रँग डालता है । कि वहाँ भी मोर नाचते हैं । कि वहाँ भी छोकरियाँ काम से लौटती बेर पेड़ों से उजले-उजले फूल गुच्छे-के-गुच्छे तोड़-तोड़ कर जूड़ों में खोंस-खोंस लेती हैं और एक ही सुर में गले मिलाकर गीत गाती हुई आती हैं । पहाड़ के उस पार से छोकरे इन गीतों के जवाब में जवाबी गीतों के बोल बोलते हैं ।

वह भी कभी छोकरी थी !

न जाने कितने लोग उसके मुँह को निहारा करते थे । पाने या न पाने की दुविधाओं-संदेहों के संघर्ष में उनकी आँखों की लौ पल-पल जलती-बुझती रहती थी । वहाँ पर उसका अपना कोई नहीं है ; पर उसका भी एक नैहर तो आखिर है ही । वहाँ उसका अतीत है, वह अतीत जिसकी बातें सोचना अच्छा लगता है ।

आज नैहर के लोग आएँगे । पुयू ने अपने घर के काम खूब मन लगा-लगा कर किए । अपनी देह के अंग-अंग को निहार-निहार देखा । वे क्या सोचेंगे ? सोचेंगे कि पुयू क्या सचमुच बच्चे की माँ हो चुकी ! सोचेंगे कि पुयू यहाँ पर दुख में है । जान पड़ता है यहाँ वाले इसे खाने-पीने को नहीं देते । सिर्फ़ काम ही कराते हैं । पुयू ने अपने हाथ-पैर निहारे । हाथ के कंगन और पाँव के कड़े एक बार काट कर छोटे कर दिये जाने पर भी फिर ढीले पड़ गये हैं । पुयू को हँसी आ गयी । धत्तेरे की, आज उसका मन भी कैसा धाङड़ियों[2] जैसा हो गया है ! धाङड़ियों की उमर ही वह उमर होती है, जिसमें देह के अभाव मन को खलते हैं । तभी वे न जाने कहाँ से आकर मन की रागिनियों में बेसुरे सुर की तरह फूट-फूट पड़ते हैं ।

---

१ गाली है । २ क्वाँरी नवेलियों ।

ननँद के साथ जरा हँसी-ठिठोली की। "आज मेरे मायके से कैसे-कैसे लोग आ रहे हैं। सज-धज के रहो। वरना कहीं ऐसा न हो कि वे तुम्हें पसन्द ही न करें।" पुबुली भी अन्दर-ही-अन्दर एक उछाह का-सा अनुभव कर रही थी। ऐसी उछाह जो धाङड़ियों के मन में नये लोगों की बाट जोहने से पैदा होती है। वैसे ऊपर से तो उसने इस ठिठोली को हँस कर उड़ा दिया।

दोनों नहा-धोकर साफ़-सुथरी हुईं। जूड़े बाँधे। पुबुली अपने कपड़े-लत्ते पहन-ओढ़ कर सज-धज गयी। दिउड़ और लेंजू दोनों आकर खा-पी गये। दोनों के मुँह आज कुछ भारी-भारी दिख रहे थे। दोनों कटे-कटे-से रहे। मुँह फुलाये रहे।

गाँव के मर्द खेतों को चले गये। आधेक छोकरियाँ भी चली गयीं। बेर हाथ-भर ढल गयी। पुयू कनखियों से बच्चे को निहारती उसके पास घर के अन्दर लेटी थी। कुछ देर बाद दूर से किसी गीत की आहट सुनाई पड़ी। अचीन्हें कंठों से गीत के बोल टेरता हुआ बटोहियों का कोई दल चला जा रहा था। खेतों में काम करती हुई इस गाँव की धाङड़ियाँ उस गीत के जवाब गा रही थीं। कंध-देश की यह आम बात है कि धाङड़ियों को देखते ही धाङड़े गीत गाने लगते हैं। कुछ देर वे गाते हैं तो कुछ देर ये गाती हैं। राह चलते बटोही भी गीतों-ही-गीतों में अपने मन की बात राह-बाट को सुनाते हुए चलते हैं। उन्मत्त प्रकृति आदमी से बरबस गीत गवा लेती है, उसे नचाती है, मतवाला बना देती है। कंध-देश में जो कुछ भी होता है, गीतों के द्वारा होता है।

गीत के शब्द पास आने लगे। पुयू कान पातकर सुनने लगी। गीत की आवाज़ का शोर बढ़ता गया। गूँज पास आती गयी। पुयू ने धीरे-धीरे गीत के अर्थ को पकड़ना शुरू किया।

गाने वाले कह रहे थे, "अहे, अनजानी-अचीन्ही युवतियो, साध-श्रद्धा से हम तुम्हें निळसँ, ताळसँ, लेंबरँ, जाम्बरँ आदि नाम दे रहे हैं। तुम इन नामों को अपना लो। हो सके तो हमें अपने मन में रखना, हो सके तो हमें याद

रखना। भला किसलिए हमें पूछोगी तुम ? जुगनुओं की तरह झलक दिखा कर न जाने कहाँ पर अन्तर्धान हो जाओगी। "ऐसी" चिड़ियाँ जिस तरह पत्तों के झुरमुट से पुकारकर न जाने कहाँ छुप रहती हैं, उसी तरह तुम भी अपने मुँह छुपा लोगी। हम अच्छी तरह जानते हैं कि तुम हमें उसी तरह झाँक-झाँक कर देखोगी, जैसे केंकड़े बिल से बाहर झाँक-झाँक लेते हैं। हमारी याद तुम्हारे मन से न जाने कहाँ चली जायगी, उसी तरह जिस तरह हाट से दूकानें बढ़ा ली जाती हैं। तुम ठहरीं "बड़े लोग", तुम्हारे कोठेवाले घरों से हरदम चूने की बुकनी झरती रहती है, तुम भला किसलिए हम गरीबों की ओर ताक रही हो ?"

पुराने जमाने का गीत। उसकी टेक है : सुनुगुंडा डुलॅना हेऽ।"

जेइके मा'ळॅ निळॅस'ऽ, जेइके मा'ळऽ तालॅस'ऽ

सुनुगुंडा डुलॅना हेऽ!

जेइ आचगुलु बाइले, जेइ डुंबॅर'ऽ बाइले,

सुनुगुंडा डुलॅना हेऽ!"

जाने-पहचाने अंचल का जाना-पहचाना गीत। पुयू दौड़ी आयी। पहाड़ की तलहटी के रास्ते पर कुछ लोग एक तान एक स्वर से गीत गाते हुए ऊपर की ओर चढ़े आ रहे हैं। गाँव के उस छोर पर लड़कियों का एक झुंड एकट्ठा होकर गीत का जवाब तैयार करने में जुट पड़ा। दूर कहीं पर एक और झुंड लड़कियों का है, जो कहीं और एक जगह जमा होकर गीत का जवाब गा रहा है और गाता हुआ गाँव की ओर ही आ रहा है। स्वरों-स्वरों की ठेलाठेली लगी हुई है। 'सुनगुंडा' के साथ अनुप्रास मिलाने के लिए "हिड्डागुंडा" (हलदी की गाँठ) की टेक लगायी गयी है।" ना, ना, तुम ठहरे धनी सौदागर ! इतनी सारी हलदी सँजो रखी है ! तुम्हारे घर में हर घड़ी हलदी झड़ती रहती है। दूर बाट के बटोही, मान-अभिमान भूल जाओ, परिश्रम और थकान भूल जाओ, काम तो दिन-रात लगा ही रहता है, थोड़ी देर के लिए आराम भी तो कर लो। आओ, हमारे गाँव में आओ, हमारे गाँव में घड़ी भर अटक जाओ।

आओ, हम कितने ही गीत गायेंगे, कितनेही नाच नाचेंगे। देखना है, हम तुम्हें भुलाती हैं या तुम्हीं हमें भुला देते हो।"

पुबुली लड़कियों के झुंड में जा मिली। कंध युवती कंध युवक का गीत सुन लेने पर चुप नहीं रह सकती। पुयू हँस-हँस कर फटी पड़ रही थी। गीत पुराना है, कोई नया नहीं है; पर जितनी ही बार सुनो, हँसी रोके नहीं रुकती। हाकिना बड़ी-बड़ी आँखें फाड़े ताक रहा था। गाँव की युवतियाँ एकट्ठी होकर गाँव के निकास पर खिसक आयीं। पहाड़ के ढलवान के ऊपर धीरे-धीरे एक के बाद एक करके छः सिर उभरे, छः गरदनें उभरीं। उनके कंधों पर काँवर के भार हैं, टाँगिया (कुल्हाड़ियाँ) हैं और हाथों में बरछे लगी लाठियाँ हैं। पुयू दौड़ी-दौड़ी उधर को ही भाग चली। ये उसके बाप-गाँव (मायके) के लोग हैं। सब के आगे-आगे गोरे दक-दक वर्ण और हट्टी-कट्ठी काठी की बलिष्ठ देहवाला बेशू कंध है। बेशू मिङ्गटिङ गाँव के रघू साँवता का बेटा है। कमाल का जवान है पट्ठा, घनघोर गहन वन का शिकारी। उसके हाथ में बरछा है। कंधे पर बहुत बड़ी-सी ओड़िया बन्दूक है। मिङ्गटिङ गाँववाले ढलवान के ऊपर चढ़ गये। गीत बन्द हो गया। काँवर की बहँगियों पर घौद-के-घौद केले हैं, चार मुरगे हैं, छोटी टोकरी में अपने खाने-पीने के साज-सरंजाम हैं, मेज़बान के घरवालों के लिए मेहमानी की सौगात के पुए हैं। पीछे-पीछे एक बूढ़ा कंध आ रहा है। मेटा कंध, नाते में पुयू का चचा लगता है। कुछ दूर और पीछे, मेटा कंध से थोड़ी हीदूर के फ़ासले पर लाठी टेकता हुआ चला आ रहा है इस गाँव का बारिक बूढ़ा—भुरसामुंडा डम्[1]।

सभी आगे बढ़ आए। झोड़िया-सुपारी के पेड़ तले बेशू कंध अटक रहा। उस समय बेर झुटपुटे की हो चली थी। सुपारी की झोड़ियों (बेरों) के गुच्छे-के-गुच्छे लटके हुए थे। पेड़ ऐसा लगता मानो बाल खोले हुई,

१ डम् (डंब'ऽ) आदिवासियों की एक जाति है। विशेष परिचय के लिए सैंतीसवाँ अध्याय देखिये।—अनु०

कोई कंध-तरुणी ठिठक कर खड़ी-की-खड़ी रह गई हो। हारिल चिड़ियाँ सुपारी की बेरियाँ खा रही थीं। वेशू ने सोचा कि ज़रा अपनी करामात भी क्यों न दिखा ले! पाहुना है, पहुनाई की कुछ भेंट की जुगाड़ हो जायगी। नली[1] उठा कर उसने ठाँय-से फैर किया और चार-चार हारिल चिड़ियाँ एक-साथ नीचे आ रहीं। गाँव के सारे लोग दौड़े आये। इस गाँव के लोगों ने उस गाँव के लोगों की अभ्यर्थना की और पूछ-परिछन करके उन्हें अपने साथ-साथ गाँव के भीतर ले आए। दिउड़ साँवता को खेत से बुलाने के लिए खबर भेजी गई।

१ देसी 'ओड़िया' बन्दूक।

दस

गाँव के बीचों-बीच बड़ा-सा चिकना-चौकोर पत्थर पड़ा है। यही गाँव की बैठक है, गाँव का "भेरामण्"। सभी वहीं जा बैठे। पहले धुआँ-पत्री (धुँगिया बीड़ी) का आदान-प्रदान हुआ। 'अंटा' रेशम की कोपीन पहने डोचुरू ने सिर की चोटी से बड़ी-बड़ी धुँगिया बीड़ियाँ निकाल बाहर कीं। एक सूखी टहनी के ऊपर दूसरी नुकीली टहनी खड़ी करके दोनों हाथों से उसे मथानी की तरह नचाकर आग पैदा की किसीने। धुँगिया बीड़ी में आग धरायी गयी। बीड़ी सुलगी। टुप-टाप गपशप शुरू हुई। कंध-रीति से धुँगिया-धूम्रपान की पंगत लग गयी। बस, सिर्फ़ हँसी-ठिठोली और राह-बाट की गपशप की पंगत।

कंध और धुँगिया, दोनों अभिन्न संगी हैं। गप चल रही है, बच्चे-बड़े सभी मौज मना रहे हैं, सभी भकाभक धुआँ छोड़ रहे हैं, पास सटकर बैठे हुए अनर्गल बातों की धारा-सी बहा चले हैं।

इस साल बाघ कोई वैसे नहीं लगे। हो सकता है अब बघलगी[1] कुछ बढ़ जाय। रास्ते में बाघ रहते हैं। एक सूअर जंगल के अन्दर कहीं पर घुट-घुट-ठक्-ठक् करता हुआ किकिया रहा था। जिसे बाघ खा जाता है, उसका प्रेत "बाघ-डुमा" (बघौत) बन कर जंगल के अन्दर भटकता फिरता है। छोटे बच्चे जैसी उसकी आकृति होती है, सिर गंजा, और होंठ और आँखें एकदम लाल टेस्। रास्ते में, आते समय, बघौत लकड़ी काट रहा था और नन्हे-से बच्चे की तरह रो रहा था। इतना सुनना था कि पाँडरू कंध ने कान खड़े किये और आँखें नचाकर पूछने लगा : "कहाँ, कहाँ ?" वह डिसारी (जोशी जी) है। उसे विद्या आती है। "ऐसी ललकार मारूँगा कि फिर कभी बघौत दिखाई नहीं देगा !" नहीं तो बघौत

---

१ बाघ लगना या बघलगी आदमी पर बाघ के हमलों की बहुतायत को कहते हैं।—अनु०

सभी को डराता रहेगा। आदमखोर बाघ की पूँछ पर चढ़ कर उसे और भी आदमखोरी करना सिखलायेगा। बाघ को वह आदमियों की जात-जमात के सभी रंग-ढंग और क़ायदे-क़ानून बतला देगा।

हाँ, तो, रास्ते में कुटरा[1] कान हिला-हिलाकर साँवा के खेत खाये जा रहा था। बड़े चालाक होते हैं कुटरे भी। खेत के बीच में कभी नहीं आते। खेतों की कोर-कोर पर ही जंगल के किनारे-किनारे चरते हैं। कुंजों की आड़ में छुपता-छुपता बेशू कंध छूटा चला जा रहा था। कुटरे को आहट मिल गयी। वह जंगल में घुस गया। हाँ भाई! और क्या होता भला? कहा भी है, "मोर देखने को, कुटरा सुनने को"! सच है!

चारों ओर फ़सल की कटनी शुरू हो गयी है। लेकिन क्या होना है? इतनी सारी, बोझ-की-बोझ, पुंज-की-पुंज, फसल सब जाके घुस जायगी साहूकार के घर में। खेतों में, बाघ-चौर में, हल जाने के पहले के भूखे-सूखे दिनों में साहूकार आ-आकर अगाऊ (पेशगी) दादनें लगा लगा गया है। दादन देते समय ही भाव भी ठहरा गया है। मुँहदेखा भाव, किसी के लिए रुपये में बीस 'माण'[2], तो किसी के लिए तीस 'माण' धान। उस समय दादन में किसी ने रुपये लिये, किसी ने थोड़ा-सा घना धान लिया, तो किसी ने दस-पाँच बूँद दारू पी ली। उसीके बदले अब साहूकार के घर में सारी की सारी फ़सल उँड़ेल देनी पड़ेगी। कंध-देश की पूरी-की-पूरी उपज, धान, मँडुआ, साँवा, कौनी (पीला साँवा), छोटी अरहर, तिल, अलसी-तीसी, रेंड़ी आदि सब कुछ उसके हवाले कर देना पड़ेगा। बात चल रही है कि कब किस दिन किस गाँव में साहूकार के दूत को देखा गया है।

---

१ छोटे आकार की हिरनों की एक दुर्मिल जाति।

२ १ माण = १/२, १/३ या १/४ सेर, अलग-अलग इलाके में अलग-अलग तोल। कटक में १/२ सेर।—अनु०

उसके बाद अधिकारियों की बात चल निकली है। फ़सल की कटनी के इन्हीं दिनों में उनके भी दर्शन होते हैं। कोई लगान की वसूली करने आता है, तो कोई घर की तलाशी करने। उनके लिए बँहगी ढोनेवाले भारियों की जरूरत पड़ती है, तरह-तरह की चीजों की जरूरत पड़ती है, न जाने क्या-क्या उनकी भेंट चढ़ानी पड़ती है। कंधिया भाई उन्हें भी संतुष्ट कर देंगे। इधर-उधर से दोनों गाँवों के कंधों को एकट्ठा करके अधिकारियों के शिकार की जुगत भी करनी पड़ती है।

मवेशी की चोरी की बात चली। कुछ लोग घेर-घार कर दूसरों के ढोर-डंगर मार डालते हैं। कुछ लोग ढोरों को जहर दे देते हैं। केवाँच के फल को भिगो कर और बट कर उसे नुकीले-नुकीले काँटों के जरिये ढोरों के बदन में चुभो-चुभो देते हैं। कुछ लोग ऐसा भी करते हैं कि निर्जन खातों में ढोरों के दोनों सींगों के बीच कुल्हाड़ी उलट कर दे मारते हैं। यह सारी करतूतें डंब'ऽ लोगों की होती हैं। वे अपने हाथों खेती करने से घिनाते हैं। दूसरों का अन्न, फोकट का माल, उड़ाते हैं और इस मुफ्त-खोरी के भरोसे ही जीते हैं। जाड़े के इन दिनों में फ़सल के अनाज के साथ-साथ मवेशी की अनगिनत खालें भी हाट में निकल आती हैं।

दोनों गाँवों के लोग एक जगह बैठकर कंधिया जीवन की विशिष्ट घटनाओं की चर्चा कर रहे हैं। गप-शप सुनने के लिए औरतें भी जुट आयी हैं। गोद में, काँख तले, बच्चे लिए डोकरी (विवाहिता) कंधनियाँ और जूड़े बाँधे, मुँह में तेल-हलदी पोते धाङड़ियाँ, सभी आ गयी हैं। कंध-समाज में शिष्टाचारों की कोई कमी नहीं है। कंध-बैठकों में स्त्रियों—डोकरियों-धाङड़ियों—की भी जगह है। वे अपनी-अपनी रायें देती हैं, सलाहें देती हैं और चर्चा के विषय को सरस बनाकर उसे आगे बढ़ाती हैं।

बेशू कंध ने फिर शिकार की गप छेड़ दी। ओड़िया नली (देसी बन्दूक) उसकी गोद में पड़ी है, बरछा नीचे लिटा रखा गया है और उसका फलक बेशू की अंटी के पास है। अपनी उत्तेजित आँखों और तर-बतर माथे पर तरह-तरह के भाव लाकर वह अपनी अभिज्ञताएँ चुन-चुन कर सुना रहा

है। कहानी उसकी बढ़ चली है। उसके साथ के लोग उसकी बातों पर सिर हिला रहे हैं और इस गाँव के लोग बिलकुल चुपचाप होकर दम साधे सुन रहे हैं। शिकार को ढूँढ़-ढाँढ़ कर, आहट ले-लेकर, टोह लगा-लगा कर, अकेले ही घोर निर्जन वन में पठकर शिकार मारने का वर्णन हो रहा है। इस तरह से शिकार करने का नाम ही "डोकराबेंट" है। रात को मचान की झोपड़ी में बैठकर शिकार की राह देखने की कहानी चली। नीचे बाघ अपने शिकार को फाड़-फाड़ कर चड्-चड् चड्-चड् करके खाता है। फिर बाघ से मुँहामुँही की मुठभेड़ हो जाने की बात भी उठी। बाघ के दौरे से आत्मरक्षा करने की बात हुई, जिसे सुन कर आँखों की पलकों का गिरना तक बन्द हो जाता है, रोआँ-रोआँ सिहर कर काँटो-काँट हो उठता है। बेशू कंध ने अपनी बातों से सभी के ऊपर एक नशा-सा डाल दिया। हारिल की चहक डूब गयी, मोर की केका डूब गयी, आस-पास के सभी स्वर-शब्दों को डुबोकर बेशू कंध की वर्णना सब के ऊपर छा गयी। बेशू कंध के वर्णनों में दूर की किसी पहाड़ी कंदरा में बसे किसी मिङटिङ गाँव की जीती-जागती तसवीर सनने-वालों की आँखों के आगे आ खड़ी हुई। वहाँ बगले के पंखों से उजले धराधर पानीवाली छलछलाती नदी 'चंपा-झरना' बहती है। वहाँ चारों ओर अगम-सघन-गहन वन छाये हुए हैं, जहाँ कभी धूप तक पैठ नहीं पाती और हर घड़ी रह-रह कर शिकारियों की नलियाँ ठाँय्-ठाँय् छूटती रहती हैं, दिन-रात शिकार होता रहता है।

ग्यारह

साँझ हुई। लोग जुटे। दिउड़ू-लेंजू घर लौटे। हाकिना को बाहर लाया गया। छोटी-सी पूजा की गयी और फिर उसके ददिहाल-ननिहाल के लोगों ने एक-साथ उसे आशीर्वाद दिये :

"बड़ी आयु हो—
वन का जन्मा छौना वन की भाँति ही हर घड़ी पूर्ण रहे।
तेरा जीवन झरने की भाँति बह चले।
सुख से रह, शान्ति मे रह, स्त्री-पुत्र-धन-जन से भरपूर रह।
कोई भी अभाव तुझे न रहे।"

बाजे बजते रहे। दोनों कुल के लोग बैठे रहे। "छोटी आग" जलती रही। पत्तों और टहनियों का छोटा-सा मंगल-मँड़वा तैयार किया जाता रहा। तैयार हो चुका तो पुरोहित (जानी) मंत्र पढ़ने लगा और पढ़ता ही चला गया। सातों दिन और बारहों मास के नाम लेकर कंध-देश के एक-एक पहाड़ का सुमिरन किया गया। हर सुमिरन के साथ मंगल की वर्षा होती रही। सब मंगलों से बढ़कर मांगलिक मंगल यह था कि सरबू साँवता का "डुमा" (आत्मा), दिउड़ू सांवता का पूत, स्वतंत्र आनन्द के साथ हँसी-खुशी में अपने दिन बितायेगा, इस कंध-धरती पर आनन्द मनायेगा, 'राज्य' उजागर होगा, कुल उजागर होगा।

अनवरत धारा की तरह बहनेवाले कंध-देशी गीतों की तरह मंत्रों के सोते का तार भी कभी टूटने नहीं पाता था। डुड़ूम-डुड़ूम बज रहे बाजों के सँग-सँग स्तुतियों का अनर्गल प्रवाह भी जारी रहा। उन दिनों धरती का बालपन था। चारों दिशाओं में सिर्फ़ कीचड़-ही-कीचड़ और पानी-ही-पानी का देश फैला था। पेड़-पौधे कोई न थे। उसी कीचड़-पानी में दरतनी माता ने प्रथम कंध-कंधनी को जन्म दिया। भूत-प्रेत मुँह बाकर उसे खाने दौड़े। दरमू महाप्रभु ने सात दिन तक अँधेरा करके उसे छिपाये

रखा। सेमल की डोंगी में बैठ कर वे उतरते रहे। उजाला हुआ, भुँई (धरती) सूखी, जंगल उगे। महाप्रभु ने कहा, अब घर-गिरस्ती बसाओ। जब उन्होंने दोनों को मिलाया तो वे कहने लगे कि हम तो भाई-बहन हैं। फिर महाप्रभु ने उन्हें अलग कर दिया और अकेले-अकेले जंगलों-जंगलों भटकाया। खूब भटका चुकने पर फिर एक जगह ला मिलाया। लेकिन फिर भी वही चीन्हाचीन्ही हो गयी। फिर दोनों कहने लगे कि हम तो भाई-बहन हैं। एक दूसरे को लेकर घर बसाने को वे किसी तरह राज़ी ही न हों। लाचार होकर महाप्रभु ने चेचक-रोग सिरज दिया। चेचक ने भाई और बहन दोनों के चेहरे बदल डाले। अब वे एक दूसरे को पहचान न पाये और पति-पत्नी बन कर घर-गिरस्ती करने लगे। उनके सात बेटे हुए। पहला मिणिआका, दूसरा हिमेरिका, तीसरा हिकोका, और उसके बाद प्रामका, मपका, जांबाका, मेलाका। हर बेटे के नाम पर एक-एक वंश चल पड़ा। फिर नातियों के नाम पर वंश चले। देवता बढ़े। आईन बने, कानून बने। इतिहास बने, पुराण बने। उसके बाद वह देश हाथों से निकल गया।

देश गया, सभ्यता भी टूट-फूट गयी। सब बरबाद हो गया, बच रहे सिर्फ़ ये आदिम पहाड़ी पठार। ये भी देवता ही हैं। ये भी सुमिरन-जोग हैं। ये प्राचीन गिरिकंदराएँ हमारी डीहें हैं, आदिवास हैं। सब कुछ मिट जायगा, चला जायगा, रह जायगा बस इतना ही—सघन-गहन वन को ओढ़े, खोये अतीत का विस्मय फैलाये, आसमान पर सिर टेके, महाबली पर्वत शिखर ही बच रहेंगे। बच रहेंगी उनकी चोटियाँ, उनकी प्रकांड-प्रकांड पर्वतमालाओं की दमक—कंध-संस्कृति के विकट-विराट संस्मारक!

कांडाराणिति[१]	—	तिणिराणिति
रेकमाड़िति	—	कुलेपाणिति

१ कांडाराणि माड़ि (पठार) उर्फ़ हाथीमाड़ि पहाड़ चार-अड़ार गाँव के पास है। तिणिराणि, लचूमणि गाँव के पास के विशाल पर्वत का नाम है। (तिणि = बिजली)। रेकमाड़ि, काकिरिगुम्मा गाँव के पास है।

कोड़िहिमाड़िति[1]	—	शोबाहाँमाड़िति
पांड्रामाड़िति	—	डंड्रमाड़िति
हातिमाड़िति	—	बायामाड़िति
गुआमाड़िति	—	आंदामाड़िति
पाशापाटिआति	—	सोजेंताड़िआति
लेंजूवालिति	—	गास्काकोटाति

इसी संस्कृति के ऊपर आगे की ओर मुँह करके शाल के पेड़ की तरह मिणिआका हाकिना खड़ा होगा। उसके नाम-करण के साथ-ही-साथ उसके ददिहाल और ननिहाल दोनों ही कुलों की ओर से इतनी पूजा और इतना मंत्र-पाठ होना तो निहायत ही आवश्यक है। पृथ्वी! —मनुष्य का जन्म! —कंध जाति! —कंध देश के सदा-जागरूक भीषण गिरि-शृंग! —मिणिआका हाकिना! इतने मंत्र एकदम आवश्यक हैं। इसलिए कि इन से यह सूचित होता है कि हाकिना कोई कहीं का बिलल्ला नहीं है, कोई कुकुरमुत्ता नहीं है, सिवार नहीं है, जो समय के प्रभाव से अपना चित्र-विस्तार करके, आँखें चौंधिया कर बीते कल के अँधियारे के बाद से आगामी कल के अँधियारे के पहले तक ही चमकता रह पाता है! वह कोई बिलल्ला नहीं है कि जिसका न ददिहाल का कुल-खूंट हो और न ननिहाल का, जिसका

---

१ कोड़िहिमाड़ि, चेम्मा गाँव के पास का अत्युच्च पर्वत है। शोबाहाँमाड़ि नाराणपाटणा के कुम्हारपुट के पास है।—पांड्रामाड़ी, दंडाबाड़ी गाँव के पास है, पंचड़ा से दशमंतपुर जाने के रास्ते में पड़ता है।—डंड्र-माड़ि, दशमंतपुर के अन्तर्गत जोड़ीपाई के पास है।—हातिमाड़ि, मिड्ङटिङ्ङ और चंपाझरना के पास है।—बायामाड़ि, नाराणपाटणा का आत्मापर्वत है, बायामाळ अंचल में।—गुआमाड़ि, गुआमाळ अंचल का बड़ा पहाड़ है।—आंदामाड़ि प्रसिद्ध दुदारी-मुठार देवपठार की सब से ऊँची चोटी है। पाशा-पाटिया काप्सिपुटका विख्यात दिक्पाल है तथा सोदेंताड़िआ या सोजेंताड़िआ बिजाघाट-गढ़ती अंचल का।—ले०

न कोई मूल हो न बुनियाद, जिसका न कोई अतीत हो न इतिहास, जो सिर्फ पहाड़ी ढलवान के हलदिया अमर-बेल की तरह निर्मूल हो, जो गीली लकड़ी पर उगे छत्रक की तरह गोत्र-हीन हो !

बाजे बजते रहे। मंत्र पढ़े जाते रहे। इसी तरह न जाने कितना समय बीत गया। इस बीच धुंगिया का दौर समाप्त हुआ और दारू का दौर शुरू हुआ। फिर दारू का दौर भी समाप्त हो गया। छोटा-सा भोज हुआ। दोनों पक्ष के लोग पंगत पर बैठे। कंध-गोष्ठी में मिणिआका हाकिना शामिल हो गया। एक नए सदस्य की वृद्धि हुई ।

बारह

अशब्द डरावनी रात है। दो घड़ी बाद चाँद निकला। दूर के ऊँचे पहाड़ के ऊपर हँसियों की धारें जगमग-जगमग चमक रही हैं। हँसिये इसलिए जगमगा रहे हैं कि पूस का महीना है। पूस के महीने में फसल की कटनी लगती है। कंध डिसारी के मेड़िङ-शिरा[1] योग में कटनी का श्रीगणेश होता है। चहल-पहल बढ़ गयी। दूर परजों[2] के गाँव मे पूस-त्योहार के बाजों की गूँज सुनाई पड़ रही है। कंधी अलगोजों के जोड़ों के जोड़े पठारी रागिणी टेर रहे हैं। उनकी गूँज भी यहाँ तक आ रही है। चाँद निकला, सँग-सँग आनन्द का कोलाहल भी उठा। टोले-मुहल्ले की लड़कियाँ इस घर से उस घर आवा-जाही करने लगीं। टोले-मुहल्ले के लड़के खरुए के कछौटे कसे, लाँगें बाँधे इस ओर से उस ओर आने-जाने लगे। जगह-जगह दरवाजों पर आग जल रही है। आग को घेर कर झुंड-के-झुंड लोग गुड़ीमुड़ी हुए बैठे गप्पें लड़ा रहे हैं। पुबुली की सहेलियाँ उसे ढूँढने आयीं—रेदेंऽ आई, पुल्में आई, काठकें आई, टिटेंऽ आई, जंजइ आई। अकेली-अकेली घर में क्या बैठी हो? जाड़ों की चाँदनी रात में, भीने-भीने उजाले में गीत नहीं गाना है? टोले के इस छोर से उस छोर तक गीत गाते हुए कई-कई चक्कर लगाने पड़ेंगे। पुबुली भी अपने घर में बैठी-बैठी मन-ही-मन ठीक यही बात सोच रही थी। गाँव के गलियारे में चाँदनी छिटक आई है। दोनों ओर की नन्ही-नन्ही झोपड़ियाँ उसके आगे सिर नवा रही हैं। इस गाँव में आज नए लोगों का वासा पड़ा है। हँसी सुनाई पड़ रही है, सीटी सुनाई पड़ रही है, मुरुड़ी (बाँसुरी) पुकार रही है। लड़कियाँ गीत गाती हुई बाहर निकल पड़ीं। लड़के एक जगह जमा हो गए। बड़े-

---

१ मृगशिरा नक्षत्र।—अनु०

२ विशाखापट्टनम्, विजगापट्टम्, जयपुर पठार आदि में बसने वाली गोंड़-परिवार की आदि-ओड़िया-भाषी आदिम-जाति विशेष।—अनु०

बूढ़ों में से कोई-कोई आग की बोरसियाँ लिये खेतों की ओर निकल पड़े। लेंजू भी उधर ही चला गया।

धीरे-धीरे गाँव के गलियारे में गीतों का उच्छल एकांत आनन्द बह चला। बूढ़े जामिरी कंध ने गाँव के बारिक से कहा कि लड़कों-बालों की साध जगी है, अब डंग़ॅऽ बाजा मँगाओ।

लड़कियों ने मिङटिङ गाँववालों को लक्ष्य करके गीत छेड़े। आदर से उन्हें नये-नये नाम दिये : लेडुग, जिरू, केबूड़ा, आर्गू। गीतों-गीतों में नाम देना और नाम पाना हर घड़ी लगा ही रहता है। मिङटिङ गाँव के लोगों ने भी जवाबी गीतों में लड़कियों को नाम दिये : डेंजुरी, बायरी, निळसॅं, ताळसॅं, आंदुजोड़ू, पंगुजोड़ू। गीत बढ़ चले। गाते-गाते गानेवाले नाच उठे। गीत भी चलते रहे, नाच भी चलता रहा। एक दूसरे को पकड़े हुई लड़कियाँ गीत गाती हुई लड़कों की ओर खिसकती आईं। लड़के भी हाथ-पैर झटकारते नाचते-गाते लड़कियों की ओर खिसकते गये। गाने और नाचने में बेशृ कंध सब के आगे-ही-आगे रहता। उसके पास-पास रहते उसके दल के गुँइये : मुद्री. जागिली, मुर्जू, लेता आदि। गीत के नशे में पूस की सरदी किसी को महसूस नहीं हो रही थी। पहले तो सामान्य आदर-मान के गीत गाए गए, स्नेह की पुकार के गीत गाए, मधुर संबोधन के गीत गाए गए। फिर धीरे-धीरे गीत उत्तरोत्तर ऊपर-ही-ऊपर को चढ़ते गए :

"आओ हे आओ कामिनियो, झटपट डग भर आओ!
गैयों-बकरियों के जैसे झटपट पग धर आओ!
कामिनियो आओ,
आओ, आओ!

"आओ, आज संग-संग मेंढ़क-अजगर, जाओ !
कामिनियो आओ!
आओ, आओ !

(पाइन-पाइन राचुड़े कुड़ाँमि !)

गीत के नशे में और बाजों के ताल-ताल पर अब दोनों दलों में भेंटा-भेंटी भी हो चली और उसके साथ-ही-साथ धाङड़ियों के सान्निध्य से धाङड़ों का रक्त भी गरमाता गया। परिचय का गहन सान्निध्य बढ़ा कर, हाथों के फंदे में हाथों को छानकर, पूरी देह को थर-थर कँपकँपाकर, डुलाकर, धाङड़ियाँ बारम्बार बढ़-बढ़ आतीं और चिपक-चिपक जातीं।

"धुँगिया इचन हियामू
गाँजिया इचन हियामू।"

("ज़रा धुँगिया बीड़ी तो देना"—गीतों ही गीतों में)

धाङड़ों के गीत और भी उग्रतर हो चले। ओसकणों के अंग सुन्न पड़ते गये और वे बेसुध होकर आकाश से मिट्टी-कीचड़ की इस धरती पर गिरने लगे। धरती पर, जहाँ सिर्फ़ मिट्टी-ही-मिट्टी की बातें होती हैं, जहाँ सर्जन होता है, जहाँ बौर मंजरने के लिए पराग लेने की नीयत से भौरों को फाँसने के लिए भाँति-भाँति के फूल भाँति-भाँति के फंदे फैलाते हैं, जहाँ नन्हे-नन्हे बच्चों का जन्म होता है, जहाँ नवजात शिशु अपनी नन्ही-नन्ही उँगलियों से मिट्टी को बकोटते हैं! धाङड़ों के मत्त गर्जन में साँड़ के डकराने का-सा स्वर गूँजने लगा। गीत बढ़ चला: "जीवन में श्रेष्ठ क्या है?—मिलन! मिलन ही जीवन का चरम बिन्दु है। फूल तो मिट्टी का पात्र है। उसमे पराग झरता है। उसमें रस भरता है। लेकिन, ऐ फूल, संसार में सिर्फ तू-ही-तू नहीं, और भी बहुत कुछ है!" धाङड़ों ने नये गीत की टेक पकड़ी: "बाँसुरी की टेर का प्रबल खिंचाव टाला नहीं जा सकता!" (निमादेरू जंबेए!)।

"पुचि जंबेलि पुयूलो
तांडि शुगेलि पुयूलो
निमावेरू जंबेए।"

धाङड़ियाँ भी यही टेक दुहराने लगती है। आँखों में नशे का सुरूर है। अंग-अंग फड़क रहे हैं। पैर लड़खड़ाने लगे हैं। धाङड़ों और धाङड़ियों के दल आपस में मिल चुके हैं। मिल-जुलकर वे ऊँचे-ऊँचे सीधे तने खड़े

पहाड़ों और गहरे-बहरे खातों-खड्डों के ऊपर गीतों की माला बिखेरे दे रहे हैं। "निमादेरू जंबेए।" इतने में ही सब कुछ आ जाता है। प्रकृति भी, पुरुष भी। आकाश भी और मिट्टी भी। बाहर सर्जनी-शक्ति की माया है, भीतर पर-ब्रह्म है और साथ ही वह अनादि देवता योगीश्वर महादेव भी है: अर्धनारीश्वर! गाँव के सभी लोग-लुगाई गीत और नाच में शामिल हैं। बूढ़े-बुढ़ियों का योगदान दर्शकों के रूप में है। देख-देख कर और सुन-सुन कर उन्हें ऐसा महसूस होता है मानो यौवन के बीत चुके—खो गये, चले गये—दिन फिर लौट आये हैं। कंध लोग यौवन को प्यार करते हैं, जीवन को प्यार करते हैं। कहीं नाच-गान शुरू हुआ नहीं कि वे रात-रात भर उसी में मगन-मतवाले रहते हैं। बूढ़ों-बूढ़ियों के दल भी सब-के-सब आ जुटे हैं। उन्होंने अपने क्वाँरे बाल-बच्चों को पूरी छूट दे रखी है। धाङड़ी की इच्छा के ऊपर और धाङड़े की इच्छा के ऊपर किसी की लगाम नहीं होती। समाज परे हट रहता है। लगाम वह तब लगाता है, जब ब्याह हो चुकता है।

रात काफ़ी ढल जाने तक "निमादेरू जंबेए" चलता रहता है। इस गीत के समाप्त होते-होते सारा मामला कुछ गोल-माल जैसा हो जाता है। गीत समाप्त होते ही कोई कहीं, तो कोई कहीं चल देता है। नींद में ही उठ कर चल देनेवाले की तरह पुबुली और उसकी पाँच सखियाँ मिङटिङ गाँव के लोगों के साथ गाँव के रस्ते के आँतरे पर जा मिलीं। बातचीत तो बहुत थोड़ी-ही-थोड़ी हुई, दोनों दल केवल पास-पास खड़े रहे। पुबुली बेशू कंध के मुँह को टकटकी लगाये निहारती रही। बेशू कंध सुरुड़ी बाँसुरी टेरता रहा। पुबुली छाया की तरह रास्ते के उस पार खड़ी थी। बेशू कंध का सुन्दर मुखड़ा और ताँबे के रंग के उसके बालों में कढ़ी उसकी माँग चाँदनी में दमक-दमक उठती थी। पुबुली हिरनी की भाँति गरदन टेढ़ी किये इस अचीन्हे अतिथि को निहारे जा रही थी। न तो उसके मुँह से कोई बोल फूट रहे थे और न उसके अंगों में कोई हरकत ही हो रही थी।

चाँदनी और बाँसुरी की प्राण-हुलासी टेर! और इसके साथ-साथ हट्ठा-कट्ठा बलिष्ठकाय शिकारी बेशू कंध!—सब मिल-मिलाकर मानो किसी आदर्श की सृष्टि कर रहे थे। कंधुणी (कंध-रमणी) इसी आदर्श को प्यार करती है। इस समय उसे हारगुणा की कोई भी सुध नहीं आ रही थी। हारगुणा बचपन का था, बेशू कंध था यौवन का। तो सचमुच क्या यह बेशू कंध ही उसके मन के प्रश्न का उत्तर है? मानो इन इतने सारे वर्षों तक वह इसी रात की बाट जोहती रही हो, इसी व्यक्ति के लिए प्रतीक्षा-रत रही हो, मानो यही उसके जीवन की प्रभाती हो!

बेशू कंध ने बाँसुरी रख दी। दोनों होश में आये। निस्तब्ध रात है। संगी-साथी सब जहाँ-तहाँ चले गये हैं। कोई कहीं गया होगा, तो कोई कहीं! ओस पड़ रही है। और ओस पड़ने की टिप-टिप टिप-टिप आवाज़ उठ रही है। थप्-थप् थप्-थप्। पुबुली लौट पड़ी। परछाई, नन्ही सी परछाई, सँग-सँग चली। रात आगे बढ़ने के बजाय वहीं गोल-गोल चक्कर काटती चल रही है। चाँदनी रात की तितलियों की तरह। थोड़ी ही दूर आगे बढ़ी होगी कि बेशू कंध पास आ लगा। कँपकँपाते से धीमे गले से कंध बोला, "बस्नपि" (हे कुमारिके!)। पुबुली इस स्वर से चौंक उठी। कंध देश में इस "स्न" अक्षर की भी अपनी अद्भुत माया है। गोपनीय बातों के लिए, दो दिलों की प्रगाढ़-प्रगूढ़ बातों के लिए, सारी दुनिया से छिपा रखी गयी अनमोल बातों के लिए, यह "स्न" अक्षर ही नये शब्दों की सृष्टि करता है। पुबुली घूम पड़ी और उसके आमने-सामने खड़ी हो रही।

बेशू कंध की जलती-सी तमतमायी आँखों में चाँदनी की किरणें पड़ रही हैं। नथने फड़क-फड़क उठ रहे हैं। दोनों होंठ झूल पड़े हैं। निचला होंठ आगे की ओर को उभरा आ रहा है। अपनी चौड़ी सुडौल छाती थर-थराता हुआ पुबुली की ओर झुक कर बेशू कंध ने फिर "स्न" का सहारा लेते हुए कहा: "बस्नपि!" (हे कुमारिके!)।

पुबुली ने उत्तर दिया "एस्नेना दास्नादा?" (किसलिए पुकार रहे हो?)

बेशू कंध ज़रा-सा पीछे को हट गया। थूक निगलता-निगलता बोला, "लोस्नड़ा मास्नान्ने" (काम है)। और फिर कंध देश की प्राचीन खुशामदी बातें शुरू हुईं। ठीक वही सवाल-जवाब, जो हज़ारों-हज़ार बरसों से कंध-देश में होते चले आ रहे हैं। हज़ारों-हज़ार बरसों से अनगिनत बार कंध क्वाँरे-क्वाँरियों के जोड़े रास्तों की ओट में, पेड़ों की आड़ में मुँहा-मुँही खड़े होकर पूर्वराग की इसी रागिणी में परस्पर को संबोधित करते आ रहे हैं, हँसियों में, प्यारों में, कंध-धरती को नया जन्म देते आ रहे हैं, और इस तरह उस युग से इस युग तक उसे सजाते-सँजोते आ रहे हैं।

पुबुली कुछ देर तक नीचे को मुँह किये खड़ी दाँतों से आँचल का छोर चबाती रही और पैर कँपकँपाती रही। फिर उसी दशा में खड़ी-खड़ी बोली, "वेम्नेस्मु।" (कहो)[१]।

बेशू ने अधीर होकर कहा: "हिस्नियादेकि आस्नाए?" (दोगी कि नहीं?)।

पुबुली ने होंठो-ही-होंठों में मुस्करा कर कहा: "एस्नेह्ना आस्ना हेलोओं।" (ऐसा कुछ ले तो नहीं रखा है मैंने जो दे दूँ।)

बेशू इस उत्तर के लिये तैयार नहीं था। अकबकाकर बोला: "दुस्नुञ्जाहिस्नेयामू।" (कोई घुँगिया हो तो दो।)

पुबुली ने सहज भाव से उसके मुंह को निहारा। बोली: "एस्नेता तल पास्ना: मास्नाइँ?" (कहाँ से पाऊँ?)

बेशू ने कहा: "देस्नेदे हिस्नियास्नामू।" (हो तो एक दे दो।)

पुबुली ने कहा: "एस्नेना पणा हिस्नियाहिं?" (कहाँ से दूँ?)

१ इसके आगे की पूरी बातचीत में "तू" का प्रयोग है। यही कंध-पद्धति है। हिन्दी में अखरता, इसलिए "तुम" की क्रियाएँ दी हैं।—अनु०

बेशू ने आग्रह के साथ अपनी गाँठ टटोली। कहा : "निस्निङ्के हिस्निया हिलाआतेहुएँ नास्नानू।" (तो मैं ही दूँगा तुझे।)

पुबुली खिलखिलाकर हँस पड़ी। कहा : "तास्नातिहुएँ !" (फिर दे ही दो।)

बेशू ने धुँगिया बढ़ा दी। पुबुली ने उपहार ग्रहण किया। फिर मुँह नीचे की ओर गाड़े-गाड़े थोड़ी दूर आगे बढ़ गयी। थोड़ी ही दूर गयी होगी कि बेशू ने पीछे से आकर उसके आँचल को झटक दिया और उसके कान के पास मुँह सटा कर फिर धीरे से कहा : "बस्नपि ! " (हे कुमारिके !)

पुबुली पीपल-पात की तरह नीचे से ऊपर तक कँपकँपा रही थी। बोली : "एस्नेना दास्नादा ? " (क्या ?)

बेशू ने मनाने-फुसलाने के-से स्वर में कहा : "नास्नाताणा नेस्नेहि मुस्नानुति ? " (मेरे साथ अच्छी तरह रहोगी न ?)

पुबुली ने कहा : "मास्नाना आतिहें निस्निनुएँ ? " (रहूँगी क्यों नहीं ? बल्कि तुम्हीं नहीं रह पाओगे !)

"निस्निइनू मानास्नाटों वास्नातिहें इस्निनी कास्नाता योस्नालाइँ।" (तुम हमारे गाँव में आ बसो तो जो कहते हैं न—)

बेशू ने कहा : "वास्नानि याके इस्नि इंबिया योस्नालादि उस्नुजेए त्वास्नाइँ ? " (आ जाने पर फिर ऐसी ही बातें करोगी झूठ। फिजूल ही क्यों आऊँ ?)

पुबुली ने बेशू की ओर अपना मुंह बढ़ा दिया। हँसकर कहा : "वास्नातिहि निसाँ कास्नार्योमि।" (तुम्हारे आने पर सब ठीक हो जायगा। घरजमाई[1] हो रहना।)

बेशू ने कहा : "आस्नात् ओओं।" (यह नहीं पार लगेगा मुझसे।)

---

१ घर-जमाई, ससुरालवालों के परिवार में शामिल हो जानेवाला पुरुष।

हेस्नो ओंगाँम्रों वास्नाम् ? (तुम्हीं घर छोड़कर उदुलिया [1] निकल क्यों नहीं आतीं ?)

पुबुली ने कहा—"लास्नाजा आस्नाएकि ?" (मेरे कोई लाज ही नहीं है क्या ?) फिर वह दो डग आगे बढ़ गई। उसकी छाती तले कोई तूफ़ान मचलता आ रहा था और उमड़ता-घुमड़ता आँखों की ओर बढ़ा आ रहा था। बेश् भी पीछे-पीछे पैर झटकारता आ गया। सफ़ाई देता हुआ-सा, चिरौरी करता हुआ-सा बोला "कास्नायों मि अस्नाडोओं।" (घर-जमाई बनना मुझसे हो नहीं सकेगा।)

पुबुली फिर अटक गयी। कहा—"वास्नाल्कावास्ने होदिकि ?" (घर-जमाई बन जाओगे तो कोई पत्थर तोड़ना पड़ेगा क्या ?)

बेश् ने अत्यन्त भावावेग के साथ कहा—"वास्नाम्।" (निकल आओ।)[2]

पुबुली के मन के भीतर बेचैन संशय का जो कोलाहल था, वह एकाएक लुप्त हो गया। एक मन यह भी कहता था कि लो तुम हार गई, लेकिन मन की और गहराइयों में उतरने पर विजय के उल्लास का कलरोर सुनाई पड़ रहा था। उसके अन्दर जो कुमारी कन्या थी, वह उठ कर बाहर निकल गई। साँस खूब तेज चल रही थी; लेकिन पैरों में कोई गति शेष नहीं रह गई थी। चल तो रही थी वह, लेकिन चाल उसकी बेजान थी। बेश् बेसहारा-सा होकर उसका मुँह निहारता रहा। पल भर भी धीरज धरना उसके लिए पहाड़ हो उठा था। दो ही छलाँगों में दूरी पार करके वह पास आ लगा और पुबुली के कंधे पर हाथ रख दिया। मुँह झुकाकर उसके पास ले आया और फिर उसी अधीर स्वर में पुकारा

१ ब्याह के लिए मनचीते पुरुष के साथ चोरी-चोरी भाग निकलने को "उदुलिया या उदूलिया निकलना" कहते हैं और ऐसे ब्याह को "उदुलिया ब्याह"। हिन्दी शब्द "उढ़रना" का भाव इससे कुछ-कुछ मिलता-जुलता है।—अनु०

२ अर्थात् 'उदुलिया' निकल आओ।

"बस्नपि।" (हे कुमारिके!) उसकी गरम-गरम सांसों से पुबुली के गाल उसके मुँह के और पास खिचे जा रहे थे। इच्छा हो रही थी कि आँखें मूँदकर उसके ऊपर ढह पड़े। फिर भी वह बोली—

"लास्नाजा, कुस्नुइँ।" (ना-ना-ना! लाज लगती है।)

बेशू फुसलाहट के-से स्वर में उसके कान के पास मुँह ले जाकर फुस-फुसाया—"एस्ने एंबारि हिलोरी।" (यहाँ कोई नहीं है।)

पुबुली उसी तरह तन्मय होकर बोली—"लास्नाजा, कुस्नुइँ। (ना-ना-ना! लाज लगती है।)

देह को धीमे से झटक कर उसने अपने को छुड़ा लिया और धीरे-धीरे चली गई। बेशू विह्वल होकर उसी ओर टकटकी लगाए निहारता रहा। पुबुली की परछाईं घरों की छाया में मिल कर न जाने किधर खो गई।

बेशू खड़ा रहा। फिर धीरे-धीरे अपने वासे की ओर चला गया।

तेरह

उमी रास्ते के छोर के पास गाँव के डिसारी,[1] पांडरू कंध की झोंपड़ी है। पाँडरू कंध बूढ़ा है। रास्ते के ऊपर निश्चल बैठा हुआ वह तारों को देख रहा था। आसमान में ये जो मारे तारे छोटे-छोटे बुंदकों की भाँति जलते रहते हैं, उनका प्रभाव आदमी की घर-गिरस्ती पर पड़ता है, उनका योग आदमी के आने-जाने पर, आदमी की आपसी खींचा-तानी पर पड़ता है। कोई योग भला होता है, तो कोई बुरा। कुल सत्ताइस नक्षत्र हैं। उनके नामों के अनुसार सत्ताईस योग होते हैं। योग भला न हो तो कंध अपनी चौखट के बाहर पैर तक नहीं करता। इसीलिए डिसारी को रात-रात भर मेहनत करनी पड़ती है।

गाँव में आज इतनी चहल-पहल दुई, लेकिन पांडरू डिसारी वहाँ टिका नहीं, थोड़ी ही देर बैठ कर चला आया। उसका ध्यान तो आसमान के तारों पर लगा हुआ था। भोर होते-न-होते लोग आ पहुँचेंगे और पूछ-ताछ करने लगेंगे। पूछेंगे, फ़सल किस समय काटी जाय? फ़सल काटने के लिए डिसारी को 'मेड़िङ-छिरा'[2] योग चुन देना होगा। लोग पूछेंगे, रास किस समय घर लायी जाय? अब इसके लिए उसे 'उत्रा योग'[3] ढूँढ़ना पड़ेगा। किसी को जूड़ी आती होगी, तो वह आकर पूछेगा कि जूड़ी उतरवाने के लिए बेजुणी को किस समय नचवाए? इसके लिए 'लिदा' योग निश्चित करना होगा।

डिसारी मेहनत से डरता नहीं है। वह संसार का हालचाल देखता है, नक्षत्रों को निहारता है और फिर यह देखता है कि जिस योग के फल

---

१ डिसारी = 'दिशारी' अर्थात् जोशी।

२ मेड़िङ-छिरा या मेड़िङ शिरा = मृगशिरा।

३ उत्रा = उत्तरा।

जो होने चाहिएँ, वे फलित हो तो रहे हैं न। इतनी मेहनत से और इतने कष्ट से तैयार किया हुआ किसी का घर अंधड़ में उड़ जाता है, किसी की गाय-गोरू मर जाती है, किसी का पूत मर जाता है ! परिश्रम का मूल्य मिलता है और भी अधिक परिश्रम के रूप में ! रूखे बाल स्निग्ध नहीं हो पाते !

उस समय डिसारी को 'जेटी' योग की खोज थी। एक आदमी पूछ गया है कि उसे नदी के कगारे को तोड़ कर धनखेती बनानी है, सो वह पहली कुदाल किस समय मारे। डिसारी ऊपर की ओर देखता-देखता बेकल हो उठा था। उसने देखा कि मिङटिङ गाँव के धाङड़ों और इस गाँव की धाङड़ियों का एक झुंड रास्ते के उस ओर से चला आ रहा है। डिसारी ने मूँड़ हिला कर सोचा—ठीक ही तो है, इस समय 'रेदासी' योग चल रहा है, इसी योग में धाङड़े धाङड़ियों की खोज में निकलते हैं। डिसारी हँसा। वे रास्ते को पार करके उधर चले गये। सोचते होंगे कि कोई जान नहीं पाएगा। सोचते होंगे कि रास्ते के इस पार शायद कोई आता नहीं होगा ; लेकिन वह न जाने कब से इस रास्ते के ऊपर बैठा देखता रहा है कि क्वाँरे-क्वाँरियों के कितने ही दल ठीक इसी "रेदासी" योग में रास्ते के उस पार मुँड़-मुँड़ पड़े हैं। वे सोचते होंगे कि उनका यह क़ाम इस दुनिया में कोई नया काम है, कि इस राह और कोई कभी आया ही नहीं होगा। अपने जीवन में न जाने कितनी बार यह 'रेदासी' योग आ चुका है। डिसारी सोचता गया—कि आखिर वह भी तो मानुष ही ठहरा ! वह भी बारम्बार इसी तरह 'योग' के अधीन हो चुका है। डिसारी ने सोचा कि यह बड़ा पत्थर किस योग में बना होगा भला ? जरूर किसी भले ही योग में बना होगा। शायद रोहिणी-योग में बना हो। उस पत्थर को लाँघकर क्वाँरे-क्वाँरियों के कितने ही झुंड उस ओर से इस ओर को चले आए। डिसारी को अचम्भा हुआ कि ऐसा क्यों हो रहा है ? 'रेदासी-योग' तो अभी समाप्त हुआ ही नहीं, फिर ये लौटे क्यों आ रहे हैं ? बाँसुरी बजी। उसके बाद कितनी ही देर तक "बस्नपि-एस्नेना-

दास्नादा" होता रहा। डिसारी ने सिर हिलाया, योग कभी चूक नहीं सकता! इस योग का लक्षण ही यही है। उसने सब कुछ देखा-सुना। सब-कुछ ठीक-ठीक रीति से ही चल रहा था। उसी प्राचीन रीति से। संभाषण भी उसी ढंग से हो रहे थे। प्यार होने पर ऐसा लगता है कि सचमुच अपनी यह बात दुनिया में बिलकुल नई-निराली है। बाकी जो कुछ भी है, सब पुराना है, गला-पचा है, सिर्फ धूल-कीचड़ है, पेड़-पत्थर है। जवानी के दिनों के औद्धत्य को बूढ़े डिसारी ने माफ करना सीखा है। अरे, कान के पास मुँह ले गया! इन्हें हो क्या गया है? ना-ना, अलग हटकर चले गए, ठीक हुआ, ठीक-ठीक! लेकिन चले गए तो क्या, फिर इनका मिलना-जुलना होगा। 'रेदासी' योग की बात-चीत इतने में ही समाप्त नहीं हो जाती, और चाहे जो-कुछ भी हो जाय। अब सिर्फ 'रेती'—योग के पड़ने की देर है। 'रेती' योग के पड़ते ही 'रेदासी' योग की ये फुसफुसाहटें ब्याह का रूप ले लेंगी। अगला महीना चैत का आ रहा है। 'रेती-योग' उसी के आस-पास पड़ेगा। पांडरू कंध इसी तरह सोचता रहा। लड़का कौन है यह? पता नहीं! चेहरा-मुहरा तो अच्छा-खासा है! काठी मजबूत है। काम में निश्चय ही चौकस होगा। लड़की तो खैर सरबू साँवता की बेटी है। डिसारी ने तारों को देख कर दंडवत-प्रणाम किया। सरबू साँवता ने बात ठहरायी थी कि इसका ब्याह बंदिकार गाँव के हारगुणा साँवता से होगा। उस समय डिसारी ने मुँह मोड़ लिया था। हारगुणा लौंडा तो अच्छा है, लेकिन किया क्या जाय, उसका जन्म ही 'बड़ेनाइ'-योग में हुआ था। उस योग में जिसका जन्म होता है, उसका ब्याह और विवाहित जीवन बड़े दुख में होता है। वह इतनी सुन्दर कन्या को ब्याह कर आनन्द से घर-गिरस्ती कैसे कर सकता था भला? हुँः! व्यर्थ!

आकाश को निहार-निहार कर उसने भविष्य के विषय में अनेक तथ्य निर्धारित कर रखे थे।

देर हो चली। अँधेरे में सिर्फ तारे ही तारे नजर आ रहे थे। वहाँ, ऊपर के उस लोक में सब के भाग्य-दुर्भाग्य की बात तय हो रही है। डिसारी

के माथे के भीतर सिर्फ योग-ही-योग भँवर की तरह चक्कर काट रहे हैं। सालपा[1] उगा। जगमग-जगमग चमक उठा। अगर इस योग में किसीका जन्म हो तो बस साँप-ही-साँप काटा करेंगे उसे।

धुँगिया सुलगाकर पाँडरू कंध अपने घर की ओर चल पड़ा।

१ शुक्रतारा।

चौदह

सवेरा हुआ—

धूल और कूड़े से भरे गाँव के गलियारे में धरा ही क्या है? वही रोज-रोज का दृश्य है, जो सदा से रहता आया है। कभी इस पर चहल-पहल होती है, तो कभी सुनसान सन्नाटा। गाँव का जीवन ही ऐसा है कि चला चला, न चला न चला, थम-सा गया। कोई रस नहीं यहाँ। छलछलाते उच्छल मन में यहाँ तरंगें नहीं उठतीं। दिन की रोशनी में अभिसार के लिए यहाँ कोई एकांत या उद्यान भी है, तो बस एक अमराई है। धाङड़ी कंध-देश की कामकाजी लड़की है और धाङड़ा है कंध किसान।

रातवाली चहल-पहल ही यादगार के रूप में कहीं जूड़ों के टूटे गजरों से फूलों की पँखुड़ियाँ झड़ रही हैं, कहीं रातवाले अलाव की राख है, तो कहीं जूठे पत्तल हैं। सब को झाड़-बुहार कर साफ कर दिया गया। गाँव के गलियारे में काँटा-झाड़ू फिरी। हलवाहे के हेंगे की तरह होती है यह झाड़ू, उस पर किसी बच्चे को बिठाल देते हैं और एक आदमी उसे खींचता हुआ इस छोर से उस छोर तक एक दौड़ लगा लेता है। बस, इतने में ही सारा गलियारा चकाचक साफ हो उठता है।

सिङटिङ गाँव से आए हुए पाहुने ण्णशापायु से विदा होने के लिए तैयार हुए। उनके गाँव में भी फसल की कटनी लगी है। वहाँ भी रातों को पहाड़ की तलहटी में खेतों की रखवाली के लिए रतजगे करने पड़ते हैं। अपना काम-काज छोड़छाड़ कर आज-कल एक अधियारी [1], और बहुत हुआ तो दो-दो अधियारी भी दूसरे के घर रुक रहना बहुत होता है। अधिक रुकना तो बिलकुल असंभव है।

---

१ काम करने के एक दिन के समय का आधा भाग, आधी दिहाड़ी।

सुबह के समय गीत नहीं सुनाई पड़ते। जिधर देखो उधर ही स्त्री-पुरुष राह-बाट पर झटपट डग भरते चले जा रहे हैं। सभी को कोई-न-कोई जल्दी पड़ी है, सभी व्यस्त हैं। किसी को जंगल से कंदे खोद कर लाना है, किसी को खेत के काम करने हैं, तो किसी को गाय-गोरू चराने ले जाना है। लोग चले जा रहे हैं। थोड़ी ही देर में सभी की देहों से टपाटप पसीना चूने लगेगा, मुँह में धूल उड़ने लगेगी। पहाड़ी देश का काम है, कोई हँसी-खेल नहीं है। लोग चले जा रहे हैं। इस समय किसी के पैर नाचने के लिए नहीं खुजलाते। इस समय कोई अलसाकर मुरुड़ी-बाँसुरी टेरने को जरा बैठ नहीं रहता।

मिङटिङ गाँव के कंध अपने कंधों पर बँहगी उठाकर विदा हुए। जाते समय कहने लगे, चैत में आएँगे। उस समय लगभग महीने-भर फुरसत के दिन होते हैं। होली के-से हुड़दंग होते हैं, मौज मनाए जाते हैं, शिकार होता है। उसी समय फिर भेंट-मुलाकात होगी, तब तक के लिए विदा। धाङड़ियाँ मंद-मंद मुस्कुरा रही थीं। रात वाला परिचय उतना ही भर था। बेशू कंध ने पीछे मुड़कर देखा। पुयू खड़ी थी, पुबुली खड़ी थी। उन्हें देख कर बेशू ने कहा—"इस गाँव के लोग कसबा हाट नहीं जाते क्या?" पुबुली ने कहा—"जाते क्यों नहीं? जिसे जरूरत होगी, वह डुंबागुड़ा हाट भी जायगा।" कमवा-हाट जाना हो, तो मिङटिङ के रास्ते से जाना होता है और उधरवालों को डुंबागुड़ा-हाट जाना हो, तो उन्हें भी झ्यापाय के रास्ते ही जाना होता है। बेशू समझ गया। लेकिन कुछ कहा नहीं, केवल हँस दिया। पुबुली ने लम्बी उसाँस छोड़ी। पुरुष होते ही इसी तरह के हैं। उनकी सारी साध बस उसी एक घड़ी के लिए होती है! उसके बाद कोई अरमान नहीं होता उनके मन में। उसका नारी-मन पुरुष को दोष दे रहा था। पुरुष आप कोई असुविधा तो भुगतता नहीं, सब स्त्रियों के मत्थे ही तो थोप देता है न?

मिङटिङ के लोग चले गए।

नदी में गाँव की स्त्रियाँ नंगी नहा रही थीं। नंगी नहाना ही कंध स्त्रियों का अभ्यास है। पराए गाँव के लोग उसी रास्ते नदी की पेटी में उतर कर चले गए, जरा मुड़कर देखा भी नहीं नहानेवालियों को। देखना शिष्टाचार के विरुद्ध होता और फिर इस देश में तो सभी प्रायः नंगे-ही-नंगे होते हैं। प्रकृति नंगी होती है और प्रकृति से गिनती शुरू करके गिनते चले जाइए, कौन-सी ऐसी चीज है, जो यहाँ नंगी नहीं है ? इसीलिए नंगी देह में यहाँवालों को कोई विशेष बात दिखाई नहीं देती। नंग यहाँ किसी के लिए न तो ऐसी चीज है, जो आकर्षण की हो, न ऐसी जो चौंका दे।

रास्ते में बेशू कंध चुपचाप, गुम-सुम रहा। धूप कुछ और तेज हुई। अब लगने लगा कि राह बड़ी लंबी है। बहुत चलना है अभी ! हाँ, मँगनी तो कर ली, ब्याह करने में भी कोई आपत्ति नहीं ; लेकिन ब्याह होगा किस तरह ? नाना भाँति के संकल्प-विकल्प, नाना भाँति के सुझाव-प्रस्ताव उसके माथे में चकराते रहे। वह ठहरा सीधा-सादा आदमी। जवाबदेही की बात सोचते ही उसका सिर चकराने लगता और सारी विचार-शृंखला गड़बड़ हो उठती। धाङड़ियों से मिलना-जुलना उसके लिए कोई नयी बात नहीं थी। उसके पास इसकी कला है। धाङड़ियाँ उसकी ओर मन देती हैं ; लेकिन कल की रात क्या हो गया ? पता नहीं क्या से क्या हो गया; और जब बात टूटी, तो इस बात पर आके टूटी कि ब्याह कर लिया जाय, कभी-भी, किसी भी दिन ! उसने यह तो अभी तय ही नहीं किया था कि अब ब्याह कर लेना है ! और दो-चार बातें की होतीं तो शायद पुबुली ठीक हो जाती। किसलिए दौड़ा आया था वह इस गाँव को ? मँगनी के लिए दूल्हन ठीक करने को ? वापस जाना बड़ा बुरा लग रहा था, कुढ़न-सी हो रही थी। ऐसा लग रहा था मानो आदमी आराम से टाँगें पसारे सो रहा हो और ऐसे में कोई अचानक आकर झकझोरने लगे और हिला-डुलाकर जगा डाले !

गाँव ओझल हो गया। अब पठारी जंगल शुरू होते हैं। बुढ़ऊ पीछे ही रह गए। चढ़ाई का रास्ता है, चल नहीं पाते बेचारे। अब बेशू कंध

आगे हो गया। उसकी नई जवाबदेही ठहरी। दल के सभी लोगों के अन्द शिकारी एक वही है। जंगल में कोई आपद-विपद आए, तो सभी को अपन पीठ की आड़ देकर आपद का सामना करना उसका कर्तव्य है। उस पीछे-पीछे हैं मुवरी, जागिली, मुरजू और लेता। उन्हें हँसी आ रही है कल की रातवाली बातों पर, उन लड़कियों की बात पर। बेशू ने कहा "बुढ़ऊ बीच में आ जायँ।" सभी को होश हुआ कि अब सतर्क रहन जरूरी है। हाथों में बरछे हैं, कंधों पर टाँगिया कुल्हाड़ियाँ हैं और फि बेशू की नली [1] है। फिर भी, चाहे जैसे भी चलो, बाघ लगते ही हैं। सार ज़मीन ही यहाँ की ऊँची-नीची ऊबड़-खाबड़ है। बाघ कहाँ छिपा पड़ होगा, पता नहीं चलता। सभी नाक फड़फड़ाकर गंध लेने लगे। एक तर की बेल होती है, जिसके फूलों में बाघ की जैसी ही गंध होती है फूल ठीक 'काळ-खुंटे'[2] के फूल की तरह का होता है। बीच-बीच में कभी कभी आदमी इस गंध से चौंक-चौंक पड़ता है।

आँखें हर घड़ी चौकस-चौकन्नी थीं। कान खड़े थे सभी के। न जान किस कुंज की आड़ में जानवर छिपा बैठा हो। जंगल बेतरह घना हो गय है और खूब बढ़ा है। जाड़ों के दिनों में जंगल ज्यादा होता ही है। गिरल के लाल-लाल फूलों ने दोनों ओर लाल रोशनी-सी कर रखी है। झुंड-के झुंड साँभर गिरली के फूल खाने के लिए पहाड़ों से उतरते हैं। रास्त दोनों ओर के जंगलों की संधि के ऊपर सीधा चला गया है। जिध देखो उधर ही ढेर-के-ढेर पत्थर हैं। कहीं घाटी है, तो कहीं खड़ा ढलवा है। कहीं-कहीं छोटे-छोटे झरने हैं। उनके भीतर तो जंगल और भी अंध कारमय है।

मुरगे की बेर हुई, मोर की बेर हुई, दिन का कितना समय यो ही चलते-चलते बीत गया। जंगल घना होता गया। बीच बीच में झरने

---

१ देसी बन्दूक 'ओड़िया-नली'।

२ फूल विशेष।

के किनारे कुरूप धनेस चिड़ियाँ टें-टें कर उठती थीं। एक जगह जंगली नींबू के पेड़ पर माटों[1] का एक बहुत बड़ा छत्ता लगा था। कंध चिल्ला पड़े : "मइरिका, मइरिका!" (माटों का खोंता, माटों का खोंता!) जागिली और आर्जू नीचे उतर पड़े तथा उचक कर डाल पकड़ ली। बेशू ने टाँगिया मारकर छत्तेवाली डाल काट ली। तब तक लेता मुन्नू ने लकड़ियाँ रगड़ कर आग पैदा कर ली और बुढ़ऊ सूखी लकड़ियाँ बटोर लाए। जागिली और आर्जू के सिर के बालों के अन्दर और सारी देह में 'मइरिका' चिपट गए। माटों के काट खाने से परेशान होकर दोनों चिल्लाने, कूदने और छटपटाने लगे, बाल नोंचने लगे : लेकिन छत्ते को छोड़ा नहीं। छोड़ते कैसे? माटा कंधों का प्रिय खाद्य है, और भाग्य से ही मिलता है! इसीलिए उन्हें साथ ही महा-आनन्द भी मद्गम हो रहा था। आग की लपटों में झुलसा-झुलसा कर माटे बटोर लिए गए। अब उन्हें जब चाहें बुकनी बनाकर मँड़ुए की लप्सी में छिड़क दिया जा सकता है। अहा, कितना स्वादिष्ट खट्टा-खट्टा-सा लगता है। उस स्वाद की कल्पना से ही सभी के दिल खुशी से बाग-बाग हो उठे। जागिली और आर्जू हँस रहे थे। बुढ़ऊ कह रहे थे—माटों ने काट खाया, यह अच्छा ही हुआ है। मिनहा कट जायगा, जूड़ी-ताप नहीं होगा। ज्वर-ताप होने पर कितने लोग माटे से कटवाकर चंगे होते हैं। फिर तुम्हें अब और क्या चाहिए?"

नगद लाभ हुआ 'मइरिका'। कुछ दूर और आगे बढ़ने पर बंदरों का झुंड दीखा। कंध-बंधुओं को फिर कई नाच नाचने की जरूरत आ पड़ी। बंदर भी अतिप्रिय खाद्यों में है। बेशू ने पीछा किया और एक बन्दर मार लाया। बूढ़े कंध के मुँह से लार टपक रही थी। लड़कों का विश्वास खोने के डर से बूढ़े कंध धुँगिया चबाने लगे। अब यही थोड़ी दूर तक की वह सामने दिखाई दे रही राह भर ही समतल राह है। जंगल-झाड़ियों के बीच जगह-जगह कंध किसानों की मँड़ैयाँ भी दिख जाती हैं। खेतों की

१ पेड़ों के पत्तों में छत्ते लगानेवाले लाल चींटे या घोड़नो।

खड़ी फसल के बीच लोगों ने छोटे-छोटे घरों मे बना रखे हैं। यहाँ पानी भी काफी है। रसोई पकाने के लिए उत्तम जगह है यह। उसके बाद से फिर छाती-फाड़ चढ़ाई शुरू होगी और शुरू होगा घनघोर जंगल। शुक्र यही है कि राह रोज-रोज की चालू राह है, जानी-पहचानी हुई।

झरने के किनारे बड़े झंखाड़-सा आम का एक विशाल और छतनार पेड़ है। पेड़ तले दो चौड़े-चौड़े चपटे-चिकने पत्थर पड़े हैं। बैठने के लिए चौकियों का काम देते हैं ये। जगह-जगह पत्थरों को सजाकर चूल्हे बना रखे गए हैं। अधजले-से इन पत्थरों के चूल्हों में राख भी है। जंगल के अन्दर ऐसे कितने ही स्थल होते हैं। बटोहियों के खाना पकाने की ये रोज-मर्रा की जगहें हैं। जंगली रास्ते की निशानियाँ हैं ये।

आगे एक जगह एक छोटी-सी अमराई है। अमराई मे कितने ही चौड़े-चौड़े पत्थर पास-पास सटे पड़े हैं। मानो चारों ओर के पहाड़ों से ढलवानों के चट्टानों से टूटकर जितने भी पत्थर अलग पड़ गए, वे सभी यहीं उतर आए हों और एकट्ठा पंगत जमा बैठे हों। यह इस बात की निशानी है कि यह अमराई कोई डँगरिया (जंगली) हाट है। सप्ताह में एक बार यहाँ पर एक छोटी-सी हाट लगती है। कुल मिलाकर सिर्फ दो घंटों के लिए। उन दो घंटों के लिए ही लोग दूर-दूर से आते हैं, पूरी तरह सज-धजकर आते हैं। दो घंटे बीत जाने पर हाट की जगह पर सिर्फ कौए और गौरैए जमा होते हैं, जो सांझ पड़ने तक यहीं जमे रहते हैं। उसके बाद फिर यह जगह एकदम सुनसान पड़ जाती है, अगले सात दिनों तक के लिए।

खाने-पकाने की जगह, हाट, बैठकर सुस्ताने और पसीना सुखाने का ठौर, चढ़ान का सिरा, उतरान का तला—ये ही वे विभाजन हैं, जिन मे जंगल का रास्ता बँटा हुआ है।

सो, सिङ्ङ-टिङ्ङ गाँव के बटोहियों ने चूल्हे-चौके के ठौर पर बँहगियाँ उतार रखीं। मण्यापायु न जाने कितनी दूर पीछे रह गया। यहाँ से

अब सीधा गांव-मुहाँ रास्ता है। आज अबेर हो गई। जान पड़ता है, पहुँचते-पहुँचते शिकार की बेर भी निकल चुकेगी। आज दिन का काम भी अकाज हो गया। धूप सीधे सिर पर आ गई है। अब पूरी राह पसीने और ऊमस में कटेगी। नई जगह की नई अनुभूति मन में होने लगी है। दूर की याद दूर पीछे रह गई है। मुखरी-जागिली-ऐना-आर्जू भूल चुके हैं कि पिछली रात पराए गाँव में कैसे कटी थी। वह सब तो हाड़-मांस की अनुभूतियों की बात ठहरी, देह के भोग की बात ठहरी। भोग बस उसी घड़ी-एक भर का खेल होता है। खाना-पीना कर चुकने के बाद कोई खाद्य की बात सोच-सोच कर कविता करने नहीं बैठता। फिर नया भोग होता है, नया खाद्य मिलता है—आगे की बातें आगे होती हैं। आग सुलगी। बूढ़े को चूल्हे के पास बैठाकर नौजवानों ने अपनी अपनी कौपीनें उतार डालीं और झरने के पानी में डुबकियाँ लगा-लगा कर नहाने लगे। नहाते समय पानी में बैठे-बैठे बेशू के मन की आँखों के आगे पुबुली का मुखड़ा नाच रहा था। पछतावा हो रहा था कि कुछ ठीक-ठाक कर आना, कुछ फैसला करके आना उचित था। ऐसा लग रहा था मानो कहीं कुछ अधूरा-ही रह गया हो। पहाड़ी झरने का ठंडा हिवाल पानी जिस समय माँस को सनासन काट खा रहा हो, देह का मांस जिस समय ढोका-ढोका पत्थर की तरह फूल-फूल उठता हो, उस समय ऐसा विरला ही कोई होगा, जो किसी एक बात में अपना मनोयोग दे सके।

पुबुली का ध्यान आ रहा था। वह अति-सहज भाव से कह रही थी—"घरजमाई बन कर यहीं आ बसो।" जरा-सा हँसकर और अपने को उसके हाथों से हलके से खिसका लेकर वह चली गई। चली गई; लेकिन उसकी छाती के तले कहीं पर एक रीता सूनापन जड़ गई। 'घरजमाई' बन कर वह आ नहीं सकेगा। अपना मान भी तो है, अपनी इज्जत भी तो है? सांवता का बेटा ठहरा! लेकिन चाहे जैसे भी हो, वह फिर आएगा और फिर आजमाएगा। इतने में ही कहानी कोई शेष नहीं हो गई है।

बेशू कंध ने बारम्बार पुबुजी का ध्यान किया। ना, इतने में ही शेष नहीं है। यह तो अभी श्रीगणेश ही है।

पंद्रह

जंगल—जंगल—जंगल—

जहाँ कहीं भी खड़े हो जाओ, चारों ओर घनघोर जंगल ही जंगल नजर आता है। जंगल के वासी आराम के साथ उसाँसें भरते हैं। वनराजि की इसी चहारदीवारी के भीतर उनकी सारी की सारी घर-गिरस्ती है; लेकिन जंगल-जीवन में बाहर का कोई आदमी अगर यहाँ पर आ जाय, तो उसकी साँसें रुँध-रुँध जाती हैं। वह यहाँ पर बन्दी है।

यहाँ न राह है, न बाट। न गाड़ी, न छकड़ा। आदमी खुद ही अपनी बँहगी का भार ढोता है। अगम-गहन वन के अन्दर से बुझती-मिटती-सी पगडंडी चली गई है। दिन को खुलती है, रात को बन्द हो जाती है। कहीं उठती, कहीं उतरती, सर्पिल-सर्पिल-सी यह पगडंडी इस गाँव से उस गाँव तक चली जाती है। पंदरह कोस, बीस कोस। इसी तरह पंदरह-पंदरह बीस-बीस कोस पार कर लेने के बाद ही कहीं छगड़े की लीक-वाली सड़क मिल पाती है। जाड़ों के दिनों में पोरसा-पोरसा भर ऊँची कँटीली पीरी-घास [1] उग-उग आती है और पगडंडी को दोनों ओर से दबा-दबा डालती है। ऊपर जगह-जगह जंगली बेलें पेड़ों-पेड़ों फाँदती हुई छा जाती हैं। पैरों की छाप से, ठोकरों की घिसन से बनी हुई पगडंडी सघन जंगल-झाड़ियों में छिप रहती है। रास्ते पर जहाँ-तहाँ पत्थरों के ढेर पड़े होते हैं। बीच-बीच में तटहीन झरने पड़ते हैं। पगडंडी झरने के पास पहुँचते-पहुँचते एकदम मिट जाती है। और फिर उस पार फिर कहीं-न-कहीं से शुरू होती है। जंगल के वासी यह जानते हैं कि झरने के पार फिर कहाँ से शुरू होती है पगडंडी।

गाँव जितने भी हैं, सब दूर-दूर पर हैं। उपत्यका के भीतर जहाँ पर पानी और खेती के लिए उपयुक्त मौसमों की सुविधा होती है, वहाँ

---

१ 'साबे' जाति की एक घास जिससे रस्सी, छान आदि बनाते हैं।—अनु०

खेती की जाती है; लेकिन उपत्यका के अन्दर जंगल अत्यन्त ही सघन-गहन होते हैं। वहाँ सिर्फ जंगली जानवर ही रहते हैं। जहाँ धरती की तहों के अन्दर लोहे या मैंगनीज वाले पत्थर हैं या सुप्त ज्वालामुखियों के पथराए लावे हैं, वहाँ कोसों-कोस तक सखुए के जंगल फैले हुए हैं। और-और जातियों के पेड़ भी हैं जरूर, मगर प्रधानता सखुओं की ही है। जहाँ सतह आपेक्षिक रूप से नीची है और तले की मिट्टी रेतीली, हलकी और अवरखिया है तथा पत्थर जो भी हैं, ढीले और उखड़े हैं, चट्टानबंद नहीं हैं, वहाँ कोसों-कोसों तक बाँसों के जंगल हैं। इन जंगली बँसवारियों में भाँति-भाँति की जातियों के बाँस होते हैं. कोई ठोस तो कोई पोले, कोई मोटे-झोटे तो कोई सीधे-छरहरे, कोई लम्बे-लम्बे तो कोई ठिगने-ठिगने।

पहले इन जंगलों में कोई राह नहीं थी। मनुष्यों की जाति की हिरावल सेना, अर्थात कंधिया भाइयों ने पहले-पहल यहाँ राह बनाई। उनके हथियार थे काँधे की टाँगिया कुल्हाड़ियाँ और आग। कंध कम्हार (अर्थात् लुहार) ने लोहिया-पत्थर गला-गलाकर लोहा निकाला और टाँगिया तैयार की। आज भी वे इसी तरह टाँगिया बनाते हैं। टाँगिया को लेकर कंध जंगल काटते हैं, राह साफ करते हैं, खेत-परती साफ करते हैं। कटे पेड़ों में धूपवाले दिन आग लगा देते हैं, जिसकी राख खेतों की खाद बनती है। समय-समय पर ये पहाड़ों के ऊपर गाँव बसा डालते हैं। पहाड़ों के अगम जंगल-झाड़ साफ करके खेती करते हैं। पहले साल मँड़ुआ बोते हैं, दूसरे साल अरहर, रेंड़ और तीसी अलसी, तथा तीसरे साल साँवा बोते हैं। साल-दो-साल और बाद पाँक पड़ जाती है। न पड़ी तो मिट्टी का रस चुक जाता है और कंधिया भाई वहाँ से अपना गाँव उठा लेते हैं और फिर किसी नए जंगल की तलाश में निकल पड़ते हैं। कभी-कभी खेती करके छोड़े हुए खेतों को ही, जंगल-झाड़ काट-छाँट कर फिर से आबाद करते हैं। ऐसी खेती को 'सरुआडंगर' तास (खेती) कहते हैं। ऐसे खेतों में उपज बहुत कम होती है और खेती भी ज्यादा दिनों तक हो नहीं पाती। इसीलिए कंध लोग ठिठोली में कहा करते हैं कि—

सरुआडंगर नाम
कुटरा हिरन का माँस
और बूढ़ों-बुढ़ियों की माँस

तीनों एक-जैसी चीजें हैं। कंध जंगल साफ़ करके परती तोड़ते हैं, नौतोड़ खेतों को आबाद करते हैं। खेतों के आबाद होते ही पीछे-पीछे लगी "सभ्यता" आती है। अर्थात् साहूकार आते हैं, सफेदपोश आते हैं। जब वे देखते हैं कि जमीन अच्छी है, तो झट उसे हथिया लेते हैं और कंध वहाँ से हटकर और ऊपर पहाड़ों पर चढ़ जाता है। इस तरह नीचे से सभ्यता उसे खदेड़ती ही जाती है और वह सदा-ऊपर सदा-ऊपर चढ़ता ही जाता है। इसीलिए जहाँ जंगल हैं, वहीं कंध हैं। जंगल कट जाते हैं, दिशाएँ खुल जाती हैं, तो कंध भी वहाँ से उड़ जाते हैं।

पहाड़ों के ऊपर कंधों की खेती होती है। नीचे जिन खेतों को उन्होंने स्थायी खेती के योग्य बनाया, और छोड़कर ऊपर चले आए, वे सभी खेत अब पराये हो चुके हैं। धीरे-धीरे साहूकार आते गए, खेत बढ़ाते गए, कंध-देश में लूट मचाते गए। जहाँ आँखों को सुहानेवाली धनखेतियाँ कोसों तक फैली हुई हों, वहाँ समझो कि साहूकार, सूँड़ी, ब्राह्मण और तैलंगे आ चुके हैं। बाहर की सभ्यता के सड़े माँड़ की तरह फिंक कर वे कंध-देश में आए थे। जब इन जंगलों में आए थे वे, तो सिर्फ़ एक-एक लोटा और एक-एक कंबल अपने साथ लाए थे। आजकल वे ही यहाँ महाजन बने बैठे हैं। सूँड़ियों ने दारू बेच-बेच कर खेत हथियाए। ब्राह्मणों ने जहाँ-तहाँ से भीख में मिले चावल को एक जगह जमा करके गाँव के मुखियों के घर रख-रख छोड़े और उसी चावल की डेढ़ी[1] लगाई और धीरे-धीरे डेढ़ीदारों ने जमीनें उसी कर्ज में हड़प कर लीं। तैलंगे सभी उपाय करते हैं। कोई डेढ़ी या लगानी की महाजनी करता है, तो कोई खामखा सेवक और गुलाम बनकर तिकड़म से खेत मार लेता है। न जाने कैसे-कैसे छल-

१ सूखे दिनों में अनाज उधार देकर फसल के समय उसका ड्योढ़ा अनाज वसूलने की प्रथा डेढ़ी लगाना कहलाती है। —अनु०

छंद करते हैं ये लोग भी। हितू और मीत बनके आते हैं, साथी-सँघाती बन के दोस्ती गाँठते हैं और दारू-शराब पिला-पिला कर धीरे-धीरे पालथी मारके बैठ जाते हैं। जो अधिकारियों की शरणागत होते हैं, उनके तो सात खून माफ़ रहते हैं। कागज़ और 'बटू', 'बटू'[1] और कागज—बस इन्हीं दो चीजों के हेरेफेरे में जमीन हासिल हो जाती है। किसी ने रेहन-बंधक कह कर केवाला-बैनामा लिखा लिया है, तो किसी ने रसीद के बहाने नादार (बाज़दावा, ज़मीन पर अपने हक़ से बाज़ आने का त्याग-पत्र) लिखा लिया है। न बन्दोबस्त है, न खतियान है, न मिलकियत की जरा-सी भी धारणा है। जिसकी लाठी उसकी भैंस है और यहाँ पर जिसकी उजली पोशाक है, उसी की लाठी भी है और भैंस भी। कंधिया भाई तो इधर कागज पर 'बटू' लगाता है और उधर नई जमीन की खोज में ऊपर भटकने चल देता है।

अंधेरा जंगल है। इसके आगे कोई राह नहीं है। धीरे-धीरे उनका व्यापार-व्यवहार बढ़ता गया है, उनके शहर-बाजार बसते गए हैं, उनके गाँव आबाद होते गए हैं और होते जा रहे हैं। देसिया (कंध-देशवासी) का धान देसिया को ही कर्ज में देकर वे सूद खाते हैं। देसिया उनका मुहताज, उनका टुकड़खोर बन जाता है। वह अब भी अपना वही पुराना खेत जोतता-बोता है, लेकिन अपने खेत के रूप में नहीं, बल्कि उनका चाकर बनकर। इसलिए यद्यपि फ़सल उपजाना तो अब भी उसी का काम है, लेकिन फ़सल का मालिक वह नहीं रहा। फसल के मालिक हैं साहूकार। वे फ़सल पकने के पहले ही हर कंध के घर थोड़े-थोड़े पैसे बिखेर देते हैं और फसल के पकते ही दसगुनी सस्ती दर पर सारी-की-सारी रास उठा ले जाते हैं। इस खरीदारी को कहते हैं "गड़म"। गड़म—अर्थात् फूँक और ताली, देसिया खनम! गुंडुरू चिड़िया फाँसने के जाल-जैसा साहूकार-तंत्र का जाल जंगल के अन्दर यत्र-तत्र फैला हुआ है। इसी जाल का नाम है सभ्यता।

---

१ बटू = अँगूठे की छाप।

इसी जाल में कंधिया भाई भी पकड़ जाता है। जरा देर छटपटाता है और फिर उसका काम तमाम हो जाता है। धोखे में आकर वह ठग लिया जाता है, पैसे गँवा देता है और पराश्रयी टुकड़खोर बनकर अपने नसीब के साथ अपने बेटों-पोतों का नसीब भी खट मरने को बाँध जाता है। लेकिन काश, इतने से भी अगर निस्तार मिल जाता! इस जंगल के बाहर के लोग इस जंगल-देश में आँखें चौंधिया देनेवाली नई रोशनी लाते हैं, लाते हैं रंग-बिरंगे काच; और देसिया उसी पर मात-मात जाता है। कहाँ तो वह अब तक अपने ही हाथों का बनाया हुआ धुँगिया पीता आ रहा था और कहाँ अब सभ्यता उसे बीड़ी के दर्शन कराती है। अब तक वह अपने ही हाथों के बुने कपड़े पहनता आ रहा था। 'डंबॅऽ' की खरुआ-खादी, 'मिरिगाण' का घटाकार कोरों की कशीदाकारी वाला मोटिया, 'परजा' लोगों की 'पाँचिया' साड़ी, 'गदबा' के केरंगपट की 'बाघ-पट्टिया' साड़ी आदि उसके सनातनी पहरावे थे। सभ्यता ने इन सब की लुटिया डुबो दी। इनके बदले अब वह नए-नए कपड़े दिखलाती है, कोट-कमीज़ दिखलाती है। देसिया का मन होता है बाबू बनने का, तो वह कोपीन के ऊपर ही एक कोट डाट लेता है। तैलंगे साहूकार की नकल करके अपनी कौपीन के ही ऊपर कानों में कुंडल लटका लेता है और सिर पर बेतरह बड़ा-सा पग्गड़ बाँध लेता है। उसी पग्गड़ में वह गंडे-भर धुँगिया पिक्का खोंस लेता है। और इतना ही नहीं, वह अपनी वंश-परम्परा से, अपनी बुनियाद से, घृणा करना सीख लेता है, अपनी भाषा को भूल जाना चाहता है और बातें करते समय इसी नीयत से कुछ-कुछ तेलुगू और कुछ-कुछ ओड़िआ के शब्द मिला-मिला कर बोलता है।

सड़कों के किनारे-किनारे के देसिया भाई अपनी भाषा भूल गए, अपनी सनातनी वेश-भूषा छोड़-छाड़ डाली। घर बनाने और घर-गिरस्ती चलाने की उनकी अपनी प्राचीन शैली भी इधर कुछ दिनों से मिटती जा रही है। 'गदबा' लोगों के घर मंदिर की तरह नुकीले और सीधे ऊँचे-ऊँचे हुआ करते थे। 'परजा' लोगों के चौखूँट घर रंग-बिरंगी मिट्टियों

से चित्रित हुआ करते थे। जहाँ कंध-गोष्ठी के घरों की आमने-सामने खड़ी पाँतें देखने वालों में सम्मान के भाव जगाती थीं, वहाँ अब भेड़ों के रेवड़ के लिए बनी झोंपड़ियों जैसी चंद भद्दी और गंदी झोपड़ियाँ बिखरी मिलती हैं।

उसी तरह सामाजिक जीवन में भी गड़बड़झाले पैदा हो गए हैं। नई सभ्यता के कौर में पड़कर समाज टूट चला है। साबुन की धोई साड़ियाँ पहननेवाली स्त्रियाँ, अधिक साबुन-धुले, अधिक उजले-पोश बाहरी पुरुषों के साथ "निकल" जाती हैं। सड़कों के किनारे-किनारे के देसिया-दिहातों में बसने-वालों की हड्डियों की मज्जा के अन्दर टाँकी और सूजाक के रोग आँध्र-देश मे आकर पैठ गए हैं।

कंध-भाषा के कोश में "वेश्या" शब्द का कोई प्रतिशब्द नहीं था। 'गदबा'-भाषा के कोश में भी ऐसा कोई शब्द नहीं था। लेकिन सौरपल्ली हाट, नाराण-पाटणा, बंधूगाँव और आलमंडा के कंध, डुमरीपुट, सिमिलि-गुड़ा, जइनगर और नौरंगपुर के गदबा, नाराण-पाटणा और कोरापुट के पास के चिदिरिगाँव एवं अन्य कितने ही इलाकों के परजा तथा सभी इलाकों के वे ईसाई डंबें'ऽ या पाणें'ऽ, जिन्हें नई हवा लग चुकी है इस जाति-क्षय-कारी रोग के शिकार हो रहे हैं[1]। इन में से किसी के भी कोश में किसी बुरे शब्द की आवश्यकता कभी नहीं हुई थी; लेकिन आज ये भयानक रोग उनके बीच आग की तरह फैलते जा रहे हैं। जंगल और सड़क की माटियों के संघर्षण मे जो लोग नया रूप पा रहे हैं, वे विश्वामित्री सृष्टि की तरह एक अनोखा दृश्य उपस्थित करते हैं। वे हैं उद्देश्य-हीन काम-क्षुधा के फल। उनके शरीर-गठन में कोई चुन-चुनाव न था, कोई योजना न थी। उनके मस्तिष्क दुर्बल हैं, उनके मन में विकट पशुता भरी है, उनके शरीर में ये रोग या गँठिया, बाई, सूजे-पेट आदि इनके उपरोग घर किए हुए हैं। उनके चेहरे विशिष्टताहीन हैं: आँखें साहबों की सी,

---

१ कंधों के अतिरिक्त गदबा, परजा, डंबें'ऽ, पाणें'ऽ आदि भी इस क्षेत्र की आदिम जातियाँ हैं।—अनु०

माथे ब्राह्मणों के से, होंठ कंध लोगों के से, भौहें गदबा-लोगों की सी !

उनका अतीत झड़ चुका है, मिट चुका है। हो सकता है, पुश्त-पर-पुश्त फेर-बदल होने के बाद शायद कहीं वे कोई नया दल बाँध कर नई जाति बन जायँ। उनका अपना मूल-वंश क्या है, यह कोई नहीं जानता। वे पराये टुकड़ों पर पलनेवाले कुली-मजूरे बन गए हैं। संझा का झुटपुटा होते ही वे झुंड बाँधे सड़कों पर आवा-जाही करते दिखाई देते हैं। उनकी आँखों में आशा नहीं है। उनकी छाती में दम नहीं है। दारू की दूकानों के पास वे भीड़ लगाये रहते हैं। उनकी स्त्रियाँ जूड़ों में फूल खोंसे और कपड़े सजा-सुजूकर पहने, हें-हें करती हुई भटकती फिरती हैं। निर्जन रास्ते पर पुरुष को देखते ही गीत गुनगुनाने लगती हैं।

इस अधकचरे प्रेत-दल के भीतर कितने ही ऐसे हैं, जो देश-विदेश के कितने ही बड़े-लोगों और छोटे लोगों की संतानें हैं। कौन कह सकता है कि कौन किसका लड़का या लड़की है ? एकांत बँगले, विलायती शराब का नशा, घर को भुलाए-बिसराए हुआ बटोही और उसका निर्जन बनवास, नंगा वनदेश—सब ने मिल-मिलाकर यह विश्वामित्री सृष्टि रच डाली है, गुमनाम सृष्टि। 'बाट के बटोही' तो चले गए, किसी दूर देश में अपनी बेदाग मान-प्रतिष्ठा ओढ़े, शान से सिर उठाए चले रहे होंगे; लेकिन यहाँ उनकी प्रेत-संतति नाम-गोत्र से हीन होकर मारी-मारी फिर रही है। यह प्रेत-संतति किसी भी कुल की नहीं है। इसका कुल है, कुली-कुल, टुकड़खोर-कुल, सीटी-बजाऊ वेश्या-कुल।

अबूझ-अनाड़ी वनदेश में सभ्यता का यही पहला रूप है।

सोलह

मण्यापायु इस सभ्यता से दूर है, बंदिकार दूर है, मिङटिङ दूर है। वहाँ जंगल हैं, बाघ हैं, पठार हैं, राह-बाट नहीं है। आज भी वहाँ कागा-हारिल टर्राते हैं। आज भी तोते-मैने वहाँ घरू मैनी-चिड़िया की तरह आँगन में छतनार फैले पेड़ पर आ बैठते हैं। आज भी वहाँ बाड़ी में मोर नाचते हैं। कंध-देश के प्राचीन रीति-रिवाज वहाँ आज भी बच रहे हैं। आज भी वहाँ गाँव के मुखिया का मान है। आज भी वहाँ सामाजिक 'जन'-तंत्र है ; लेकिन घोर जंगल के एकदम भीतरी भाग में बसे हुए इलाके में भी बाहरी दुनिया का प्रभाव थोड़ा-थोड़ा पड़ने लग गया है। 'मेरिया'[1] बन्द हो चुकी है। अधिकारी कमान (गश्त) लगाने आते हैं। मालटू (आबकारी विभाग के लोग) दारू चुआना देखने आते हैं। जगुआली (जंगल-गारद) जंगल की क्षति देखने आते हैं। साहूकार ठग से अर्जित खेत देखने और गालियाँ बकने आते हैं, अपना पसारा बढ़ाने आते हैं। लेकिन अभी तक इस इलाके में लीकोंवाली सड़कें नहीं आई हैं, अभी तक पहाड़-पठार के गोपनीय भेद बाहर नहीं गए हैं। रखवाले हैं बाघ, रोग, पहाड़।

लेकिन धीरे-धीरे यों ही किसी दिन जंगल की छाती को चीर कर लीकों की सड़क बन जायगी। उस रास्ते से छकड़ों में लद-लदकर यहाँ की फसल अँधेरे से उजाले की ओर चली जायगी। रेलगाड़ियों में लद-लदकर यहाँ के लोग आसाम के चाय-बागानों में जाने लगेंगे। फिर यहाँ भी बँगले खड़े हो जायँगे। अधिकारी आ बिराजेंगे। स्कूल, अस्पताल, कचहरी आदि खुलेंगे और उनके लिए और-और अधिकारी पधारेंगे। फिर यह जंगली देश भी सभ्य हो उठेगा। परिवर्तन-हीन कंध देश युग-सभ्यता की पदचापों से दुलक उठेगा, कँपकँपा उठेगा, गूँज उठेगा।

कंध डिसारी आसमान के तारे गिनने में लगा हुआ है। दिव्य-दृष्टि

---

१ 'मेरिया' = नरबलि की प्रथा ।

से भविष्य को निहारता बैठा हुआ है। पता नहीं क्यों, सारा भविष्य कुछ गोलमाल-सा दिखाई पड़ रहा है। जाने क्या गड़बड़झाला है यह सारा कुछ। उसका रूप क्या है, यह समझने का धीरज नहीं रहता। हो-न-हो, यह सारा अपने मन की ही कल्पना है। हो-न-हो, यह दारू के नशे का धुआँ है।

जंगल खिसक गया है। मिटता-सा जा रहा है। बरसातें कम पड़ गई हैं। घर टूट गए हैं। खेत हाथों से निकल गए हैं। जाति मिटती जा रही है। रक्त गँदला हो चला है। नये रोग फैलने लगे हैं। शोर-शराबा बढ़ गया है। भाँति-भाँति के विचित्र-विचित्र शब्द होते हैं, जिनसे कान पक चले हैं। उनके मारे जंगल का अपना शब्द-स्वर डूबने लगा है।

चारों ओर कुछ लोग चक्कर लगाते फिर रहे हैं। पेड़ों-पेड़ों रेंग रहे हैं। घर-घर घूम रहे हैं। वे मुस्का (लाल बन्दर) नहीं हैं, प्रास्का (हनुमान बन्दर) नहीं हैं, पर हैं बन्दर। और उनकी दुमों में बड़ी-बड़ी लपटोंवाली आग लगी हुई है। उसी आग की गरमी से छटपटाते हुए वे जहाँ-तहाँ रेंगते फिर रहे हैं। फाँदते-फलाँगते फिर रहे हैं। झुंड-के-झुंड फिर रहे हैं ये बंदर। न पेड़ हैं, न पौधे हैं, न डाल है, न पात है, बस नंगे-नंगे पत्थर हैं केवल। उन्हीं पत्थरों पर ये दुम-जलते बन्दर फाँदते फिर रहे हैं। गाँव-के-गाँव, देश-के-देश जल-जल कर भस्म हुए जा रहे हैं। धुआँ आसमान तक उठ रहा है। वैसे ही जैसे जंगल की अगियारी[1] करने पर धुआँ उठता है। खानदानी डिसारी पांडरू कंध इसी तरह के न जाने कितने सपने देखता है। देख-देखकर उसका सिर बावले का-सा चकराने लगता है। सिर हिलाता-हिलाता वह घर जाता है। और पेट में थोड़ी दारू डाल लेने के बाद ही आश्वस्त हो पाता है। फिर भी कंध-डिसारी सोचता है कि गुदड़ी ओढ़ कर सो रहने पर भी नक्षत्रों का योग कभी टलने

१ खेत निकालने के लिए जंगल के किसी भाग के जलाए जाने को अगियारी कहते हैं।—अनु०

का नहीं। जो होना है सो होके ही रहेगा। कंध भाग्य की दुहाई दे-देकर घर-गिरस्ती करता जाता है। नूर के लड़के, मुँह-अँधेरे, पहाड़ के ऊपर, आसमान के नासूर की तरह, जंगल के किनारे-किनारे लीकोंवाली सड़क की लाल रेखा दिखाई देती है, जो धीरे-धीरे लम्बी होती-होती भीतर की ओर, और-और भीतर की ओर, धँसती ही चली आती है।

सतरह

लेंजू कंध मन-ही-मन अनेक बार दिउड़ू के साथ संधि कर लेता है। लेकिन फिर मन-ही-मन चिढ़ भी उठता है, कुढ़ भी उठता है। दिउड़ू उससे बहुत छोटा है। उसका भतीजा है; लेकिन दिउड़ू सांवता भी तो है! दिउड़ू सांवता है और लेंजू कंध उसकी रैयत है, प्रजा है। कंध-देश के नियम-कानून के अनुसार सांवता गाँव का सरदार होता है। सभी रैयत उसके अधीन होती है, उसके प्रति वफ़ादारी के बंधन में बद्ध होती है। पहले के दिनों में तो सांवता ही दलपति भी होता था। अर्थात् सांवता जिसे जो कहता था, उसे वह करना ही पड़ता था। दिउड़ू अपने चाचा से कभी भी वैसी बाध्यता की माँग नहीं करता। फिर भी लेंजू कंध सोचता है कि उसके हाथों वह अपमानित हुआ है। भाई के मरने के बाद उसके मन में छल पैठ गया है। वह बरस पड़ने के लिए बहाने ढूँढ़ता रहता है।

सरबू सांवता कुछ कहता नहीं था। दिउड़ू भी कुछ कहता नहीं है। लेकिन ऐसा लगता है कि दिउड़ू का कुछ न कहना जैसे एक अवहेलना हो, निरादर हो। सरबू सांवता का कुछ न कहना क्या था, इस विषय में लेंजू कंध ने कभी चिन्ता नहीं की।

जब वह घर आता है और देखता है कि घर पर अब भाई नहीं रहा, तो घर उसे काटने दौड़ता है। क्यों काटने दौड़ता है, यह वह नहीं जानता। सिर्फ कुछ अशांत-अशांत सा महसूस होता है। हर घड़ी खाँय-खाँय भाँय-भाँय-सी उदासी छाई रहती है। घर पर टिक रहने को जी नहीं चाहता।

घर आना ऐसा लगता है, मानो चोर की तरह किसी और के घर में घुस रहा हो। थहराकर वह ओसारे के ओटे के ऊपर बैठ रहता है, धुँगिया सुलगा लेता है और गाँव की ओर निहारता हुआ कुछ सोचने लगता है। गाँव में काम-धंधे लगे हैं। सभी व्यस्त हैं आज-कल। जब देखो तब

लोग किलबिल-किलबिल करते हुए इधर से उधर और उधर से इधर आते-जाते दिखाई पड़ते हैं। जब देखो तब कुछ हलचल-सी, कुछ चहल-पहल-सी मची रहती है। कोई खेतों को जा रहा है, तो कोई खेतों से लौटा आ रहा है। जहाँ देखो वहीं, सिर पर कटी फ़सल के बोझ लादे झुंड-के-झुंड लोग दिखाई पड़ते हैं। गाँव के निकास पर फ़सल, पुआल और भुस की रासें लगी हैं। साल-भर की कमाई को बटोरने का असल दिन आज ही है, आज ही फ़सल सहेजी जायगी।

खेतों की उपज घर आ रही है। लेंजू कंध बैठा-बैठा देख रहा है। पुआल के पुंज तले से, फ़सल की रास तले से आसों-उमंगों भरे लोग सालुकणी[1] की तरह बोझों में मुँह छिपाए आवा-जाही कर रहे हैं। छूँछा कलरव उठ रहा है। वह आप भी साँवता के खेतों की फ़सल ढोकर घर लाया है। हर साल ढो लाता है, आज भी ढो लाया है। लेकिन गाँव वालों की इस घर-गिरस्ती के झमेले को तीक्ष्ण दृष्टि से निहारता हुआ बैठा-बैठा धुँगिया फूँकना उसे एक तरह से अच्छा लगता है। पास में दसरू कुत्ता बैठा हुआ दुम पीट रहा है। उसे थपथपाने में लेंजू कंध को मजा आ रहा है। दुनिया को देख-देखकर उसे इस जाड़ों के दिन भी उमस जैसी लगती है। काश, इतने सारे लोगों की तरह उसका भी एक अपना न्यारा घर होता! अलग घर-गिरस्ती का ध्यान होते ही उसे कुछ यादें टटोलने लगती हैं। ध्यान होता है कि अलग घर होता, तो वहाँ कौन होती! कि कंध-देश की रीति के अनुसार पीछे पीठ से लगी बैठी कौन उसके सिर से जूएँ निकालती होती! कौन धूप के समय पानी गरमाकर और कद्दू के तुम्बे में डाल कर उसे मल-मल कर नहलाती-धुलाती! बहुत सी बातें इसी तरह मन में उठने लगती हैं।

पीछे की ओर हाकिना का रोना सुनाई पड़ता है। पुयू उसे बहला रही है। लेंजू कंध के मन पर यकायक जाने कैसा तो परिवर्तन आ जाता

१ देखिए फुटनोट, पृष्ठ २८

है। अब उसे एकदम परायापन महसूस होने लगता है। लगता है जैसे वह चोर की तरह किसी और के घर में घुसा बैठा हो। धीरे से उठकर वह खेतों की ओर चल देता है।

उस दिन पुयू ने बच्चा उसके हाथों में थमा दिया था। लेंजू कंध छोरे को प्यार करता है; लेकिन इतने नन्हे-से बच्चे को सँभालना उसके लिए बड़ा कठिन काम है। उसने अपने दोनों लम्बे-लम्बे हाथ अत्यन्त आग्रह के साथ बढ़ा दिए थे। हाकिना दादा के पास आया तो, लेकिन आते ही अपने नन्हे-नन्हे हाथ-पैर छटपटाने लगा और टिमटिमाती आँखों से शून्य की ओर निहारता हुआ बेतरह रोने-चिल्लाने लगा। लेंजू कंध को यह बड़ा कैसा-तो लग रहा था। बड़े जतन के साथ वह बच्चे को लिए हुए था। बहुत डरता-डरता-सा। बड़ा डर उसे इस बात का लग रहा था कि कहीं ऐसा न हो कि उसके रूखे पत्थर-जैसे हाथों से दब कर उस कमल-कोमल सुकुमार मांस के लोथड़े को पीड़ा पहुँचे। ले-देके यही तो वंशधर है, उसका भी और उसके मर चुके भाई का भी। मन करता था कि बच्चे को लिए-लिए वह नाच उठे, वैसे ही, जैसे दारू के नशे में नाचा करता है। लेकिन उसे न जाने कैसा-कैसा लग रहा था। न जाने क्या उसे बहुत अखर सा रहा था। बड़ा कुंठित-कुंठित-सा हो कर वह बच्चे के मुँह को निहार रहा था। रोते-रोते बच्चे का मुँह सँवाकर काला पड़ गया, बच्चे ने मूत दिया और पुयू हँसती-हँसती आई और बच्चा उसके हाथों से ले गई। अपनी गोदी में, अपनी देह में बच्चे को बाँध कर वह काम के लिए बाहर निकल पड़ी। माँ के पास आते ही बच्चे का रोना-चिल्लाना बन्द हो गया। लेंजू की साँस-में-साँस आई। वह कोई भी जवाबदेही अपने सिर लेना नहीं चाहता और यह जवाबदेही तो उसकी अपनी निजी है भी नहीं।

इसी तरह एक-एक करके कई दिनों की कितनी ही अनुभूतियाँ उसके मन को बेतरह कचोट-मसोस रही थीं। लेकिन इन अनुभूतियों में उलझी बात की गुत्थी को वह समझ नहीं पा रहा था। वह न तो कुछ सोच पाता था, न मन में तोल पाता था। केवल इतना ही महसूस करता था कि उसका

जी दिउड़ के ऊपर उबल-उबल आता है; केवल इतना ही महसूस करता था कि इस घर से किनारा कर लेना चाहिए। वह दूर-ही-दूर रहता था।

जाड़ों का मध्यकाल है। दिन के समय भी अँधेरा बार-बार घिर-घिर आता है। लेंजू कंध को ऐसा महसूस होता है, मानो कोई ऐसी चीज जो उसके भीतर, उसके मन की गहराइयों के भीतर, चुपचाप पड़ी थी, वह अब उभर आना चाहती है। यह धुँधली-धुँधली-सी " कोई-चीज " इस तरह के जीवन को स्वीकार नहीं करती। यह धारणा उसकी व्यर्थता को अस्वीकार करना चाहती है। उसके सिर में कील ठोंक कर यह बात बिठा देना चाहती है कि वह तीन-कौड़ी का नहीं है, बे-मसरफ नहीं है। ताँबे के रंग के उसके सिर के बाल जगह-जगह कत्थई हो चले हैं। गाल एकदम धँस चले हैं। बढ़े हुए बालों से ढँका चेहरा हड्डियों का ढाँचा-मात्र रह गया है। फिर भी दिनों-दिन उसे ऐसा लगता है, मानो किसी दिन वह इस कैदखाने की दीवारों के अन्दर से खिसककर भाग निकलेगा। तब उसके ये कत्थई बाल और हड्डियों का ढाँचा रह गया चेहरा हार जायँगे। फिर वह उसी तरह का जीवन बिताएगा, जैसा कभी बिता चुका है। इस तरह सोचते-सोचते जीने की उसकी प्यास बढ़ उठती है। वह सोचने लगता है कि कुछ करना जरूरी हो गया है। नहीं तो, यों ही बूढ़ा हो जायगा, आयु छीज जायगी और इस तरह यह इतना बड़ा जीवन हाथ से निकल जायगा!

इतने दिनों तक मानो कोई बाधा बन कर खड़ा हुआ था। उस बाधा बनने वाले का नाम था सरजू सावंता। एक-एक करके लेंजू कंध पूरी सूची बना बैठता है कि उसकी जरूरतें क्या-क्या हैं। दिल समझता है। मन के भीतर बात उठती है, तो उसे छिप-छिपकर सोचना होता है। उसकी जरूरत क्या है? उसे जरूरत है जीवन की। जो चला गया है, जो बीत गया है, उस जीवन को। फिर नए सिरे से जीवन बिताने की।

कितनी तेजी से बीत गया है उसका जीवन! इस तेजी की माप है उसके भाई की मृत्यु, दिउड़ के बेटा होना। दिउड़ खुद अभी कल का

छोकरा ही तो है। समय बीता जा रहा है। एक-एक घटना यह चेतावनी दे जाती है कि जरा सोचो तो, कितना समय बीत गया!

मापने बैठो तो हिसाब लगता है कि क्या लाभ हुआ और क्या घाटा।

मन उद्विग्न हो उठता है कि घाटे को लाभ के रूप में परिणत कैसे किया जाय। लेंजू कंध घर बसाने के लिए उतावला हो उठता है, छटपटा उठता है।

भाई के मरने के बाद लेंजू कंध को ऐसा लगता है मानो कल का लौंडा यह दिउड़ उसके प्रति एक मखौल-भरा व्यंग बन गया है, उसके ठूँठ छूँछे जीवन के प्रति एक दँतुल्ला विद्रूप बन गया है। चचा-भतीजा दोनों दारू पीते हैं, दोनों पी-पीकर बुत्त हो उठते हैं और फिर दोनों उस एक-ही घर को आते हैं; लेकिन भतीजे की उमर एक उमर है, उसकी घर-गिरस्ती है, कुटुम्ब है, भतीजे के आगे अभी इतना बड़ा जीवन पड़ा है। और चचा का अस्तित्व एक तघड़-चटियल वीरान पत्थर की तरह है। इस नंगे पत्थर-जैसे अस्तित्व के पीछे अस्तगामी सूर्य उस पार के अँधियारे की ओर ढला जा रहा है। इसीलिए उसका मान-अभिमान, उसके भीतर का सब कुछ, बाहर आ जाने को छटपटाने लगा है। वह निरुद्देश्य है, वह निष्क्रिय है, वह विधाता का उपहास है। वह पत्थर की तरह निश्चल होके बैठा रहता है। धँसे गालों के ऊपर कितनी ही भावनाएँ साँसें रोके मँडलाती रहती हैं। माथे के ऊपर भावनाओं की परछाइयाँ पड़ती रहती हैं। आँखें शून्य में टँगी रहती हैं। वह निश्चल भाव से बैठा रहता है। इसलिए कि उसका अधिकार चुपचाप देखते रहने-भर का ही है। वह पैंतालीस पार कर रहा है। वह दादा की पीढ़ी, बाप की पीढ़ी, में गिना जाने योग्य हो चुका है। लड़कियाँ कभी भी अपने संगी के रूप में उसे ध्यान में नहीं ला सकतीं। उसकी परछाईं पड़ने पर लड़के-लड़कियाँ केवल यही सोचेंगी कि शायद वह अदब मनवाना चाहता है। किसी को उससे ईर्ष्या नहीं होगी। मानो वह हो ही नहीं!

खेतों के किनारे पर खलियान है। दिन के समय ही खलियान के पीछे के कुंजों की ओट में जाने कौन-कौन बातें करने को खिसक गए हैं। फुसफुसाकर बातें करते हैं, धीमे-धीमे हँसते हैं, मान-मनौवल, फुसलाव-फुसलौवल करते हैं। उन्हें न देखने का बहाना करते हुए लेंजू कंथ घूम जाता है। ऐसे दिन धूप के समय निर्जन वन में इधर-उधर चक्कर लगाना बड़ा अच्छा लगता है। कौन जाने कहीं किसी समय कोई हिरन या साँभर भागता दिख जाय। लेंजू कंथ घूमता-घामता पत्तों की आड़ से उन्हें ताकता-झाँकता भी रहता है। कान उनके शब्दों को पकड़ने के लिए खड़े किए रहता है। लड़कों-लड़कियों की बातें सुनाई पड़ती हैं। खुशियों की गप-शप चल रही है। लेंजू कंथ के होंठों पर हँसी खेल जाती है। देह में रक्त का वेग तेज हो उठता है। वह आगे को ओर बढ़ जाता है। उसकी पद-चापों के शब्द से और उसकी परछाईं से चौंक कर पेड़ों से चिड़ियाँ उड़-उड़ जाती हैं। लड़कों-लड़कियों के जोड़े भी चौंककर चुप हो रहते हैं। कोई कहीं सिकुड़ जाता है, तो कोई कहीं सिमट जाता है। कोई जमीन पर लेट रहता है, तो कोई हँसता-हँसता छलछलाता हुआ इधर-से-उधर दौड़ जाता है। लेंजू कंथ सिर्फ हुशका भर ही सकता है। हाँ, वयोवृद्ध मान्य आदमी जो ठहरा!

न जाने कैसा किंभूत-किंपुरुष, कैसा कुरूप-कद्रूप है वह। कोई उसके पीछे से आकर हँस-हँस कर, स्वर कोमल बना-बनाकर यह नहीं कहता कि "एस्नेदा-दास्नादा", "लास्नाजा कुस्नुई"! वह प्रेत की तरह जहाँ-तहाँ मारा-मारा फिरता है। आँखें चक्के की तरह नाच-नाचकर चारों ओर देखती हैं, कान सुनते हैं, रक्त गरमाता है; लेकिन फिर भी सिर्फ देखने-वाला-भर ही तो है वह?! अपने को आश्वस्त-विश्वस्त सिद्ध करने के लिए सिर हिलाने के सिवा और कुछ उसके बाँटे में नहीं है।

उसकी भावनाओं के साथ बाहरी दुनिया का उसके प्रति संबंधशील व्यवहार ताल-मेल नहीं मिला पाता। उसके अभाव-अभियोग उसके मन के अन्दर-ही-अन्दर मर जाते हैं।

इसी तरह के विकार उसके मन में प्रायः नित्य ही आते हैं। वह जान-बूझकर अपने मनको मतवाला बना लेता है। धाङ्ड़ी खोजता है। न पाकर हताश होता है और लौट आता है। मन को वह जितना ही मतवाला बनाता है, उतनी ही उसके मन की प्यास भी बढ़ती जाती है। बाहर से वह वही पैंतालीस-वर्षीय समाजपति रहता है। अपने आपको धोखा दे-देकर सिर हिलाने का वह खेल उसे मजबूर होकर खेलना ही पड़ता है।

आदमी अपनी वयस का हिसाब नहीं रखता। वयस ही आदमी का हिसाब रखती है। हमजोली लड़के-लड़कियाँ, अपने-अपने समय के अनुसार अपने अलग-अलग दल बाँध-बाँध लिया करती हैं।

दल के चारों ओर दुर्भेद्य बाड़ खड़ी कर ली जाती है। उस बाड़ के उस ओर से लेंजू कंव झुंड से बिछड़े हुए ढोर-डंगर की तरह झाँकता है। अन्दर घुसने का कोई उपाय नहीं रह गया है। रह गई है बस हाय-हाय, रह गया है बस हाथ-पैर मारना।

अपने घायल मन को सहलाने के लिए वह दिउड़ के साथ झगड़ता है। झगड़ने से, रूठने से, घाव के चारों ओर पड़ी हुई पपड़ियाँ नुँच जाती हैं। इससे घाव तो बढ़ता है, लेकिन मन शांत हो जाता है।

उस दिन दुपहरी में खा-पीकर खेत के पास टहलते समय उसने देखा कि इस गाँव की और पास के दूसरे गाँवों की काम-कला-प्रवीणा रति-तुल्या लड़कियाँ इधर से उधर आ-जा रही थीं। अनाज की कटनी की धूम मची हुई थी। मछली पकड़ने के दिनों में चिड़ियों के जोड़े और अनाज की कटनी के समय, फसल तैयार करने के समय, मनुष्यों के जोड़े आपस में एक दूसरे को फुसलाने में व्यस्त हो उठते हैं। जगह-जगह जंगल-झाड़ साफ करके छोटे-छोटे खलियान बनाये जा रहे हैं, अनाज के बोझों के पुंज लगाने की जगहें बनाई जा रही हैं। खलियानों के लिए तैयार की गई जगहों पर घी, सिंदूर और फूल से निशान बनाए जा रहे हैं। पुंज लगाने की जगहों पर कँटीले झाड़-झंखाड़ों से छप्परबन्द ऊँचे-ऊँचे पुंज लगाए

जा रहे हैं। चारों ओर से बोझ लानेवाली लड़कियों के झुंड-के-झुंड आ-जा रहे हैं। दिउड़ॖ मांवता आया। वह दारू पीके, आँखें लाल-लाल करके आया है। मतवालापन दिखा-दिखाकर गीत गाता हुआ वह इधर-से-उधर टहल रहा है। लड़कियाँ हँस-हँसकर उसके साथ सख्य-भाव बरतती हैं। लेंजू कंध को यह बात बहुत अखरी। धीरे-धीरे उसका रोष चढ़ा। दिउड़ॖ ऐसा तो नहीं था! अब तक वह नशा-पानी करने पर इस तरह मतवाला नहीं होता था, इस तरह बावला नहीं होता था। कहीं पर लड़कियों का झुंड उसकी ओर पीठ करके कटी रास बाँधने में लगा था। पीछे से मतवाला दिउड़ॖ लड़खड़ाता हुआ आकर उन्हें धकियाने लगता है, पकड़ के उठाने लगता है। लड़कियाँ हड़बड़ाकर हँसती-हँसती तितर-बितर हो जाती हैं और भाग खड़ी होती हैं। लेंजू कंध ने सोचा, यह तो कोई अच्छी बात नहीं! किसी मांवता को दिन-दुपहर के समय खुले खेत में ये फूहड़ अश्लील-ताएँ करना जरा भी शोभा नहीं देता। नशे में धुत आदमी कहने से कुछ सुनेगा तो नहीं, अलबत्ता उसे टोकने पर खामखा गुल-गपाड़ा मच जायगा।

सोचा, बेटे का बाप बन जाने से और गाँव का मांवता बन जाने से दिउड़ॖ के सिर पर पित्त चढ़ गया है। इस तरह तो वह एकदम बरबाद हो रहेगा।

बड़ी कुढ़न लगी। ये लौंडे-लौंडियाँ—छिः!

बुदबुदाते हुए वहाँ से खिसक कर लेंजू कंध ने सोचा कि उधर उस आम के पेड़ तले थोड़ी देर बैठ लिया जाय। वहाँ पर छोटे-छोटे बच्चे रेंगा-रेंगी दौड़ा-दौड़ी खेल रहे हैं। बच्चों का खेलना उसे सदा से बहुत प्रिय लगता आया है। आम के पेड़ की छाँह हाथ हिला-हिला कर बुला रही है। आम के पेड़ के उस ओर जामिरी कंध की धनखेती है। वहाँ पर कोई स्त्री काँख तले टोकरी दाबे जगह-जगह रुक-रुक कर कुछ चुनती हुई-सी दिखाई पड़ रही थी। देखा कि वह तो भुरसामुंडा बारिक की बहू और बाळमुंडा डंबँऽ की पत्नी सोनादेई है। अच्छा है, आम के पेड़ की छाँह अच्छी है, वहाँ बच्चे भी खेल रहे हैं। लेंजू कंध वहीं चला गया।

करवट के बल लेटी-सी जगह है वह। "प्यारे भाइयो, क्या खेल रहे हो तुम?" "खरहा-शिकार खेल रहे हैं। खरहे और जंगली कुत्ते का खेल। हम हैं खरहे। हम भागेंगे।" "हम हैं जंगली कुत्ते। हम घाटी में घात लगाएँगे, हुशकारेंगे, हुलकाएँगे, खदेड़ेंगे, पकड़ेंगे।" बच्चों ने गुल-गपाड़ा-सा मचाते हुए बड़े आग्रह के साथ जवाब दिए।

सोनादेई धान चुन रही है। अनाज की कटनी हो चुकने पर गरीब-गुरबे इसी तरह घूम-फिर चुन-चानकर कुछ धान बटोर लेते हैं। जान पड़ता है, सोनादेई ने उधर के खेत चुन डाले, अब इधर ही आ रही है। सचमुच, डंबँऽ की यह बहूटी कितना कष्ट उठाती है।

"अरे भाइयो, धूप में इस तरह दौड़ते क्यों फिरते हो? पत्थर से हाथ-पैर छिल जायेंगे। लहूलुहान हो रहोगे। तुम्हारे बाप गालियाँ देंगे।"

"क्यों रे, इस तरह हुल्लड़ क्यों मचा रहा है रे? बच्चो, तुम शांत होकर खेलो। कैसे दुष्ट बच्चे हो तुम लोग भी।"

आम के पेड़ की छाँह! बच्चों का खेल-कूद! सोनादेई इधर ही बढ़ती आ रही है। सच तो, ज्यादा धान तो इधर ही पड़ा होगा। हुं:, कैसी बुद्धू परेई है वह भी!

लेंजू कंध के नीति-वचन से बच्चे चेत गए। खिसक गए वहाँ से। हाँ, ठीक ही तो है। वह उनका संगी-साथी तो हो नहीं सकता। सच! सो, वे भड़क गए। वैसे ही, जैसे चटसाले के गुरुजी के अपना परिचय देते ही बच्चे भाग खड़े होते हैं। खेलने की जगह उन्होंने दूर खिसका ली। दूर जहाँ नजर न आ सकें। एक बड़ी-सी चट्टान की ओट में।

दार्शनिक लेंजू कंध ने चुपचाप मेड़ पर बैठ कर धुंगिया सुलगा लिया। मन-ही-मन दिउड़ को गालियाँ दीं। बड़ा बे-कहन, बड़ा छुटेरा हुआ जा रहा है वह!

सोनादेई पेड़ के पास आकर खेत का धान चुनने लगी। लेंजू कंध को पेड़ की छाँह बड़ी अच्छी लगी। धुंगिया के लम्बे कश से छाती में धुआँ भर लेना बड़ा अच्छा लगा।

सोनादेई मुँह से कुछ नहीं कहती ; लेकिन उसके हाव-भाव कितने सुघड़, कितने सुखकर हैं। उसकी भंगिमा कितनी सुन्दर होती है और उसकी पेशियों को गठन कितनी सुडौल है। सब मिल-मिलाकर मानो ये अंग उसकी ओर से सब-कुछ कह डालते हैं। कहते हैं, मैं बे-आसरा हूँ, मेरा पति निकम्मा है, पति-कर्म में अक्षम है !

मेरे पास देह भी है, मन भी है, सब-कुछ है ; पर मैं धारा के बहाव में पड़ा फूल हूँ, सहारा चाहती हूँ, आश्रय चाहती हूँ। मानो उसकी भंगिमा कहती हो कि देखो मेरी जवानी, इतनी प्यासी रहती आई हूँ, इतनी प्यासी हूँ, चुल्लू-भर पिलाएगा कोई ? कौन बुझाएगा मेरी प्यास ?

संसार के ऊपर भार-सी बनी है वह। जवाबदेही-सी। हाँ, यह सोनादेई। और कितनी सुन्दर ! कितनी सुघड़-सुडौल ! धूप में पूरी वनखंडी के खेतों-खेतों भटक कर धान चुनना उसे शोभा नहीं देता। कितना परिश्रम करती है !

सोनादेई मुँह उठाकर देखती है। कुछ देर तक अपनी दोनों बड़ी-बड़ी टलमल आँखें स्थिर रखती है। लेंजू को न देख कर, लेंजू के भीतर की ओर बहुत दूर तक झांक लेती है, और फिर काम में लग जाती है।

"तुझे भेजकर सभी ने छुट्टी पा ली ! अहे सोनादेई, बारिक बूढ़ा कहाँ गया ?" सोनादेई ने मुड़कर धीरे से मुसकुरा दिया। कहा—"सब अपने-अपने काम से गए हैं।"

"इतनी धूप में काहे को भटक रही हो ? जरा थोड़ी देर को कहीं बैठके सुस्ता ही लेतीं ?"

सोनादेई हँसी। काम करती रही और कनखियों झाँक-झाँक लेती रही।

लेंजू कंध को यह सब बहुत अच्छा लगा। उसके मुँह का स्वाद बदल गया। छटपटाहट-सी लगने लगी। सोनादेई धान चुनते-चुनते और आगे बढ़ती गई। गरदन बाँकी करके हेर लेती और फिर मुँह फेर लेती। खेतों ही खेतों वह काफी दूर निकल गई। लेंजू कंध ने देखा कि जहाँ वह बैठा

है, वहाँ अब न तो बच्चों का खेल-कूद है और न पेड़ की छाँह। छाँह जाने कब से वहाँ से टल चुकी थी। धूप ठीक सामने से पड़ रही थी।

लेंजू कंघ उठा और वहाँ से चल दिया।

अठारह

मिणियाका हाकिना के कंधदेश में आए कोई महीना लग चुका होगा। है तो वह नन्हा-सा ही बच्चा, लेकिन इस धरती के ऊपर उसका भी समान अधिकार है। आदमी की देह और मन के लिए जो-जो कुछ चाहिए, वह सब है उसके पास। वह ठीक उतना ही पूर्ण या अपूर्ण है, जितना कि इस दुनिया में आदमी के और सारे बच्चे पूर्ण या अपूर्ण होते हैं। उसका जन्म-दिन कहीं पर लिख नहीं रखा गया। न उसका जातक बना, न कुंडली बनी। कोई उसके जन्मदिन का उत्सव भी नहीं मनाता। उसके जन्म लेने से राज्य-भर में शोर नहीं मचा, हलचल नहीं फैली। उसकी छवि की यादगार तसवीरें कहीं नहीं छपीं। संसार के अनगिनत बच्चों की तरह एक बच्चा वह भी है, बस।

लेकिन आकाश के नक्षत्रों ने यह 'योग' दिया है कि वह राजा नहीं होगा, कि उसकी नैया नहीं बहेगी, कि आदमी को खिलौने बनाकर वह खेल-खेल कर फेंकता नहीं फिरेगा, कि वह आदमी को नचाता नहीं फिरेगा, खटाता नहीं फिरेगा, जोतता नहीं फिरेगा, कि वह स्वर्ग में नसेनी लगानेवाले रावण साहूकार के-से चौमहले-अठमहले कोठे नहीं खड़े करेगा। उसके जीवन में इस तरह के अनेक नकार, अनेक "यह-नहीं वह-नहीं" हैं। यही उसके नक्षत्रों का 'योग' है।

दैव ने उसके लिए एक पघा बनाकर उसे खूँटे से बाँध दिया है। जहाँ तक पघे का गिराँव है, वहीं तक वह घूम-फिर और चर-चुग सकता है। उस गिराँव के घेरे के बाहर उसके लिए बस नकार-ही-नकार है, बस नाहीं-नाहीं है।

बच्चा होता है तभी से माँ यह कल्पना करने लग जाती है कि इसके कपाल में, इसके भाग में क्या-क्या बदा है। स्नेह से उसके नन्हे सिर को थपथपाती हुई सोचती है कि यह टुग्रा-सा छौना सचमुच एक दिन भरा-

पूरा मनुष्य होगा, लेकिन क्या है इसके भाग्य में ? वह देवता-पितर मनाती है, मनौतियाँ मानती है, बारह डिठौरियाँ लगाती है, छुप-छुपकर ज्योतिषी को बुलाती है और बार-बार पूछती है कि सब भला तो है, या और-कुछ है, कहो, कहो न ? ज्योतिषी धरती पर खड़िया से लकीरें बनाकर योगायोग के हिसाब करता है और लंबी-चौड़ी गणनाएँ करके बता देता है कि योग के अनुसार क्या होनेवाला है। इतने से ही माँ सन्तोष का अनुभव करती है।

ज्योतिषी यह नहीं कहता कि क्या नहीं होगा।

मिणियाका हाकिना का जन्म जिस घड़ी-मुहूर्त में हुआ है, उस घड़ी-मुहूर्त में जन्मे संसार के और-और बच्चों से वह उन्नीस किस बात में है ? लेकिन उसके कपाल में अनेक दुर्भोग भुगतना फिर भी शेष रह जायगा। उसके संग-संग जन्मे बच्चे बड़े होकर उसके लिए नियम-कानून के बंधन बाँध देंगे, उसे पानी-पानी कर छोड़ेंगे, बींध-बींध कर उसे छलनी कर डालेंगे और हजार बार ठेंगे पर नचाएँगे। वह गरीब भाई, कंधिया भाई जो ठहरा !

जितने जन्मते हैं, उनमें से अधिकांश यह नहीं समझ पाते कि उनके जीवन में यह "नाहीं-नाहीं" कितनी अधिक संख्या में है। उनके कौर भी बिना कुछ पूछे-ताछे ही चलते रहते हैं। जो-कुछ पाते हैं, चबा लेते हैं। बीड़ी का कोई एक टोटा हो कि सीताभोग मिठाई हो, जातक-कुंडली के अनुसार पाए हुए को मिलाकर समझ लेते हैं और न-पाए पदार्थ का तो और कोई हिसाब ही नहीं होता। वे खाते हैं, पीते हैं और बाकी पाँच पंचों के संग आगे की ओर मुँह किए दस-की-चली सनातन राह पर अंत-अंत तक चलते चले जाते हैं।

थोड़े-से ही लोग ऐसे होते हैं जो झुंड को हाँकते हैं। सूचियों में उनके नाम निकलते हैं। उनके इशारों पर दुनिया में तूफान उठते हैं, वज्र घहरते हैं, नावें गिरती हैं। खरहे ही अधिक हैं, बनैले कुत्ते कम हैं।

मिणियाका हाकिना माँ की छाती से दुनिया को देखता है। नरम-गरम, हलका-हलका गुनगुना 'दूध' माँ का। अजस्र-अशेष झरने की धार

की तरह माँ का दूध धीरे-धीरे मुँह में आता रहता है। कोई अभाव नहीं उसे, कोई अभियोग नहीं। खुला आसमान, नीला आसमान, कितना सुन्दर है! कहाँ, वहाँ तो कोई आड़-मेड़ नहीं है न?

उसी आराम से मिणियाका हाकिना आँखें मटकाता है और कनखियों से देखता है कि एक ही सीध में घरों की दो पाँतें यहाँ से वहाँ तक चली गई हैं। हर घर में चूल्हे हैं, हर घर में गरमाहट है, सब घर समान हैं।

लोगों को वह छाती-भर की ऊँचाई से देखता है। उसकी आँखों में कोई भी तो उन्नीस-बीस नहीं जान पड़ता! सभी चेहरे हिलते-डुलते दिखते हैं। स्थिर रहता है केवल एक चेहरा,—उसकी माँ का। वह चेहरा हर घड़ी एक-जैसा ही रहता है। कभी-कभी हाकिना की दुनिया हिलती-डोलती है, पेंगे भरती झूलती है। एक टोकरी में पैठकर घर की धरन से और धरन से नहीं तो किसी पेड़ की डाल से लटका वह झूलता रहता है। जाने-पहचाने चेहरे पास नहीं होते, हाकिना को नींद आने लगती है। कितनी ही बार ऐसा भी होता है कि वह बाहर खुले में ही नंगी जमीन पर डाल रखे गए एक पोतड़े के ऊपर पड़ा रहता है। आँखों के आगे से कितनी ही छवियाँ गुजर जाती हैं। एक-एक करके वह सब को पकड़ने की चेष्टा करता है। पकड़ नहीं पाता। रोने लगता है। बहुत मामूली-से अभाव पर ही वह रो उठता है और रोने पर अभाव दूर भी हो जाता है। मिणियाका हाकिना के टुन्ने-से सिर के अन्दर भेजे में एक छोटी-सी लकीर, एक छोटी-सी छाप पड़ जाती है कि रोने से अभाव मिट जाता है।

अपना अभाव मिट जाने पर वह एक नन्हा दर्शक बन जाता है। कबूतर की आँखों जैसी आँखें हैं, सरसों भी बिखेर दी जाय, तो दिख जाती है; लेकिन उसकी चितवन में केवल प्रश्न-ही-प्रश्न होते हैं। इस दुनिया की छल-छंदों-भरी बँधी-बँधाई चाल उसकी समझ में नहीं आती। काग का बच्चा काग की चोंच में चोंच डाले कुछ खा रहा था। आदमी आया और दोनों उड़ गए। कितनी ही चिड़ियाँ उसके चारों ओर फुदकती रहती

हैं; लेकिन उनके मन हर घड़ी चौकन्ने, हर घड़ी बेचैन रहते हैं, पास कभी नहीं फटकतीं वे। उसकी इच्छा होती है कि वे उसके और पास आके बैठें। सब के लिए उसके मन में एक चाह जगती है, लेकिन कोई भी उसके पास टिकने का नाम नहीं लेती।

हाँ, इससे उसका देखना कोई कम नहीं पड़ जाता। वह रंग पहचानने लगता है और रंग-रंग की पहचान के अनुसार अलग-अलग ढंग से सिर हिलाने लगता है। जिस समय टोकरी में पैठा वह पेड़ की डाल से लटक रहा होता है, उस समय वह सभी रंग-बिरंगी चमक-दमक वाले रंगों को अपनी निगाहों में सहेजता है। रंगों की चकाचौंध से सारी दुनिया झिल-मिल-झिलमिल दिखाई देती है। लेकिन फिर रंग बदलते जाते हैं, हाकिना को अभाव महसूस होने लगता है और वह रो पड़ता है।

माँ के नित-के-देखे चेहरे के वर्णों की पहचान रखने के लिए उसकी आँखें भटकती हैं; लेकिन अब वहाँ भी घड़ी-घड़ी परिवर्तन दिखाई देता है। कभी-कभी माँ के मुँह से उज्ज्वल वर्ण की दौंक बुझ जाती है और रह जाती है सिर्फ गेरुए रंग की कांति, जिसे देख कर रुलाई आती है।

टुआ-सा आदमी है तो क्या, उसके भी मन की गहराइयों में अभाव की तरंगें और पूर्णता की लहरियाँ उठती-गिरती रहती हैं, टकराती रहती हैं। वह रोता है, हँसता है और सभी बातों से माँ की गोद में और-और उलझता जाता है, और-और फँसता जाता है।

उन्नीस

उस दिन ननँद-भावज दोनों खा-पी चुकने पर खड़ी धूप के समय गाँव की और-और औरतों के साथ जंगल में लकड़ी काटने जा रही थीं। कंध-स्त्रियों को अकसर इस तरह लकड़ी काटने जाना पड़ता है। पुरुष खेती के कामों में ही व्यस्त रहते हैं। हाकिना माँ की छाती से बँधा था। आँखें खोलने के दिन से ही उसके वन-जीवन का आरंभ हो चुका था। पुयू कुछ कमजोरी महसूस कर रही थी। पता नहीं, इधर कुछ दिनों से वह दिनों-दिन कमजोर क्यों होती जा रही है ?

धूप ढल रही थी। भारी जंगल है। सखुए और बाँस का जंगल। नीचे पत्थरों के ढेर हैं जहाँ-तहाँ। जहाँ-तहाँ सूखी डालियाँ और सूखे बाँसों के अंबार पड़े हैं। दीमक लग रहे हैं उनमें। इस जंगल से बाँस काटकर बाहर नहीं ले जाता कोई। भाँति-भाँति की जातियों के बाँस हैं।

गाँववालियाँ पैर झटकारे चली जा रही थीं। बीच-बीच में जगह-जगह आस-पास लोगों के आपस में बतराने की आहट कुछ इस तरह सुनाई पड़ती, मानो जंगल उसाँसें ले रहा हो। जगह-जगह फावड़ों-कुदालों की चोट पड़ने की ठकाठक गूँज आ रही थी। कँकोड़ी जाति[1] के पौधों के सघन और गहन वन के बीच में जंगली झोले[2] का पानी काच के खंभे की भाँति लेटा पड़ा था। दोनों ओर सीधे-सीधे, ऊँचे-ऊँचे सखुओं की फुनगियों में जगह-जगह जो फाँकें रह गई थीं, उनमें झकाझक रोशनी बरस रही थी। अँधेरे और उजाले की छायातप-वनभूमि के ये स्थल बड़े सुहावने हैं। यहाँ की मिट्टी कंध-महिलाओं की जानी-पहचानी है।

रास्ते में चढ़ाई-उतराई भी खूब पड़ती है। राह चढ़ने लगती है, तो चढ़ती ही चली जाती है। इतनी ऊँची, इतनी ऊँची कि सखुओं की फुन-

---

१ फर्न की जाति के।

२ गहरे खात में बहता पहाड़ी झरना।

गियाँ भी बहुत नीचे रह जाती हैं। फुनगियों की सतह की बराबरी पर से फिर और पेड़ों की जड़ों की सतह शुरू होती है। फिर राह उतरने लगती है और भँवर की तरह भँवराती हुई छाँह धुँधले अँधियारे के समुद्र में ढुलकती-ढुलकती उस समुद्र के उस तलदेश में जा पहुँचती है, जहाँ अगम-विजन निस्तब्ध वन के तले पतला-सा झरना रीं-रीं करता हुआ रोता-ठिनकता रहता है। नीचे उतर कर लंबी-लंबी डग भरते और पतले-पतले पत्थरों-पत्थरों पंजे टेकते हुए झरने को दो कुदानों में पार कर लेने के बाद फिर वैसी ही चढ़ान शुरू हो जाती है। झरने के करारे की टूटी-फूटी पगडंडियों से फिर ऊपर को चढ़ना पड़ता है।

रास्ता यहीं खतम नहीं हो जाता और न काम ही खतम होता है। कौन-सा काम कब शुरू होता है और अब खतम, इसका पता कोई नहीं रखता। ठीक से और सफाई से काम निपटाने के लिए कोई किसी काम से लगा अटका नहीं रहता, अटका तो रहता है अपनी आदत से लाचार होकर।

कंवनियाँ संग-संग बढ़ी जाती हैं। कहीं-कहीं सूखी टहनियाँ बीच रास्ते में पड़ी-पड़ी बाट जोह रही होती हैं, कहीं सीधे-सीधे मरे पेड़ खड़े होते हैं। कंवनियाँ काम से लग जाती हैं, लकड़ी काट लेती हैं। कोई सियाड़ी के पत्ते तोड़ती हैं, कोई कंद-मूल खोद निकालती हैं। कोई बाँस की कोंपलों के कल्ले तोड़ती हैं कलिए के लिए, कोई फूलों के गुच्छे देखते ही लालायित होकर उन्हें तोड़ने के लिए दौड़-दौड़ पड़ती हैं। कुंजों की ओट में कहीं बन-मुरगी के अंडे पड़े हैं, तो कहीं मोरनी के। सिर के ऊपर जहाँ-तहाँ माटों[१] के झोंझ-के-झोंझ खोंते लगे हैं। चट्टानों के जोड़ पर मधु-मक्खियों के छत्ते हैं। पारखी आँखें भाँप लेती हैं, अलग से ही चीन्ह लेती हैं।

कुछ दूर और ऊपर उठकर आम के किसी झमाटदार झंखाड़ पेड़-तले सभी पंगत लगाकर टाँगें पसार-पसार कर बैठ जाती हैं। कोई बच्चे को लाड़ती-दुलारती हैं, दूध पिलाती हैं, तो कोई आगे-पीछे बैठी एक-दूसरी

१ लाल चींटों।

की जुएँ निकालती हैं। कोई चुपचाप धुंगिया के कश ही लगाने लगती है। गप-शप शुरू हो जाती है। स्त्रियों की इस सभा में मनुष्य-जीवन की बड़ी-बड़ी समस्याओं पर विचार-विमर्श और बहस-मुबाहसे होते हैं।

इनके साथ सम-ताल निभाते हुए जंगल के अन्दर जंगल के अन्यान्य जंतु भी इसी तरह आवाजाही करते रहते हैं। पेड़ों की छाँव-तले उनकी भी बैठकें हुआ करती हैं। बड़े-बड़े पेड़ों तले बंदरों की सभा लगती है। नीचे तलहटी के झोले (नदी) की रेत पर हिरनों और साँभरों के झुंड के-झुंड विचरते हैं। छिदरे-छिदरे कुंजों और गुल्मों-झाड़ियों से छाये ढालों-ढलवानों पर झुंड-के-झुंड मोर टहल लगा रहे होते हैं। खाद्य वस्तुओं से भरपूर जंगल के अन्दर झुंड बाँध कर भटकते हुए कहीं दो-चारेक छोकरियों के साथ समय काटना, परस्पर समीपता और सुखालाप के मजे लेना और जंगल की सैर करना, बस यही इतनी-सी तो चर्या है इनकी। न काम, न धाम। अगम-निबिड़ वन के भीतर जीव-जन्तुओं के घर सुझाई नहीं पड़ते, लखाई नहीं पड़ते। उसी तरह पर्णकुटियों की बनी आदमी की बस्तियाँ भी छिपी-छिपी ही रहती हैं, जंगल का ही एक अंग जान पड़ती हैं। पास आ जाने पर भी सुझाई नहीं देतीं। जो हाल वनपशुओं का है, वही वनदेश के वासी मनुष्यों का भी है। सब की एक ही दशा है।

सिणियाका हाकिना सब कुछ देखता है, कान खड़े किए सब कुछ सुनता रहता है और वन-देश की धरती के साथ उसकी जान-पहचान बढ़ती जाती है। प्रश्न-पर-प्रश्न उठते रहते हैं। विस्मय की तरंगों पर तरंगें उठती रहती हैं। खंड-खंड छिदरी-छिदरी और बिखरी-बिखरी, छितरी-छितरी अनुभूतियाँ इकट्ठी हो-होकर, एक-दूसरे में घुल-घुल कर आकार धारण करने लगी हैं। वन की संतान वन को पहचानने लगा है।

लड़कौरी पुयू जंगल का उपभोग करती रही, सैर के मजे लेती रही। आज कितने दिनों बाद उसे इसकी छुट्टी मिली है। खुले मैदानोंवाले इलाकों के लोग अगर इस घोर अँधियारे जंगल को देखें, तो उनके कलेजे कँपकँपा उठेंगे। और अगर वे इस घोर गुंजान जंगल के अन्दर चलें, तो

गहरे झोलों में पड़के उनके पैर मुड़क-मुड़क जायेंगे। यहाँ बाघ हैं, भालू हैं। यहाँ साँप हैं, बिच्छू हैं। किस घड़ी जीवन से हाथ धोना पड़े, इसका कोई ठिकाना नहीं है। खुले देशों के लोग इस जंगल से डरते हैं। जीव-जंतुओं के भय से भी भारी भय जंगल के अनजाने अन्तरालों का होता है। पतली-पतली पगडंडियों के ऊपर एक के पीछे-एक पाँत बाँधकर चलना पड़ता है। बड़े-बड़े पेड़ों के तले-तले घनी 'पीरी'[1] घास के अगम जंगल होते हैं। 'कोरापुटिया' पौधों के जंगल होते हैं। जहाँ ये जंगल हैं, वहाँ आदमी एक दूसरे का मुँह तक देख नहीं पाता। केवल शब्दों के द्वारा ही देखा-सुनी और जान-पहचान हो पाती है। लेकिन अनजानेपन की चौंक से भरे इस जंगल के भीतर कंधिया भाई को बड़ा आनन्द मिलता है। यों कहें कि यही उसका आनन्द है। और यही कंधनी की खुशी है। उसकी साध है। निर्जन वन सच पूछिए तो निर्जन है नहीं। वहाँ जाने-पहचाने, अति-परिचित पेड़-पौधे और सिल-पत्थर एकांत के संगी होते हैं। जीव-जंतु ?— जीव-जंतु तो दूर के सपने होते हैं, मन को हुलसानेवाले सपने। वे भी अपनी अति-परिचित डगर से टहल लगाकर चले जाते हैं। भय और कष्ट ? हाँ, भय और कष्ट भी होते हैं। न होते तो शायद इसमें वह सुन्दरता नहीं होती, जो अभी है। लेकिन जहाँ-जहाँ भय है, वहाँ वहाँ भय के सँग-सँग देवता भी हैं। जंगल-जंगल में 'होरू-पेनू' (वन-देवता) हैं। नाम लेके पुकारो तो "ओ-ो-ो" कहकर गुहार का जवाब देते हैं और कहीं भी जाओ कंध-जगत् के घर-देवता 'झाकर-पेनू'[2] तो हैं ही। वे बस इतना चाहते हैं कि गाढ़ पड़े पर तुम उन्हें एक बार सुमिर लिया करो। इन देवताओं का आशीर्वाद बना रहे, तो शुभ-ही-शुभ, मंगल-ही-मंगल होता है। अमंगल पीछे रह जाता है। देवता के ऊपर विश्वास करके और उस विश्वास के ऊपर अपना भार टेक कर आदमी आगे की ओर मुँह किए बढ़ा

---

१ साबे-जातीय घास-विशेष।

२ पेनू = देवता।

चला जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के सहारे वह सदा सचेत रहता है, और ठेस-ठोकर लगने या ऊँच-नीच स्थिति में पाँव पड़ जाने पर भी सब-कुछ भाग्य के हवाले छोड़ कर टाल जाता है। आँखों से दो धारे आँसू भले ही बह लें, दिल में अफ़सोस नहीं रहता।

इसी विश्वास को लेकर कंचनी बघेले वन में लकड़ी काटने जाती है। इसी विश्वास के साथ वह पर-मुंडे-पैहारी बच्चे को पाल-पोस कर आदमी बनाती है। जंगल-झाड़, सिल-पत्थर, जाड़ा-घाम और बरसात के रूप में ठाकुरजी ने जो परिवेश उसे दिया है, उसी के बीच रहकर वह बच्चों का लालन-पालन करती है। उसके ये घर-बार उजड़कर कहीं और किसी और सूखे पठार पर चले जाते हैं, उसे कोई अफ़सोस नहीं होता। जहाँ रहे, वहीं घर। बाघ की दहाड़ उसका परिचित शब्द है। चील औ गीध उसके नित-दिन के संगी हैं। यह इतना-कुछ न होता तो उसका संसार अपूर्ण रह जाता। ऐसा लगता, मानो कहीं कोई फाँक पड़ गई है, कहीं कोई रीतापन रह गया है।

बाहर का भय भय नहीं होता। बाहर का कष्ट कष्ट नहीं होता।

बाहर शीतल पवन तालियाँ दे रहा होता है और फिर भी भीतर से ज्वालामुखी की तरल आग का सोता फूट-फूट कर निकलता रहता है, रोका नहीं जा सकता न? जला मारता है, भस्म कर डालता है। उसकी कोई दवा नहीं होती। हुआ तो हुआ। ज्वालामुखी भड़का तो भड़का। रूँध रखी गई रुलाई का मुँह भी उसी तरह किसी जरा-सी बात से, किसी जरा-से कारण से खुल पड़ता है। बाहर की चिलचिलाती धूप या झिलमिल-झिलमिल करते, दमकते, छोटी-छोटी सुन्दर चिड़ियों जैसे मेघ आदमी को बहला नहीं पाते। कोई भी ढारस उसे ढारस नहीं बँधा पाता। आदमी रोता है, तो बस रोता है।

मन की गहराइयों में कोई अँधेरी कन्दरा है। उसी के भीतर हँसी और रुलाई की तरंगें रहती हैं। जब उनमें ज्वार आता है, तब बाहर निकलने

के लिए वे बराबर धक्के-पर-धक्के देती हुई सदा-ऊपर सदा-ऊपर उठती आती हैं और उनके छलकने की छलछल ऊपर भी सुनाई देने लगती है।

गाँववालियाँ लकड़ी काट चुकने पर जंगल से निकली आ रही थीं। सब से पीछे-पीछे बूढ़ियों और अधेड़ स्त्रियों का दल था। और सबसे आगे-आगे झुंड से बिछड़-बिछड़ कर चल रही क्वाँरी बेटियों का झुंड। बहुएँ बीच में थीं। राह चलते समय दल का यह विभाजन आप-ही-आप हो रहता है, कोई जानबूझकर पाँतें नहीं सजाता। पुबुली आगे-आगे है। उसकी सेना अग्रगामी तितलियों की वाहिनी है। उसी वाहिनी में रेंदेंऽ है, काठ्कँऽ है, टिटेंऽ है, पुल्में है। काम करने का तो सिर्फ एक बहाना होता है, अपनी साख बनाए रखने के लिए और दूसरों का विश्वास बनाए रखने के लिए। वैसे, काम से किसी का कोई मतलब नहीं होता। खाली मन सब से अलग रहने को किसी एक बहाने का सहारा ढूँढ़ता है। सबसे अलग हाथ-में-हाथ उलझाये कंधे-पर-कंधा झुकाए, गरदनें टेढ़ी किये, एक दूसरे के कान में कुछ फुसफुसाने का अवसर ढूँढ़ता रहता है। अकारण ही हँस-हँस कर लोट-पोट हो जाने के लिए एकांत की ताक में रहता है। इस कलरव का न तो कोई अर्थ होता है, न उद्देश्य। उद्देश्य अगर कुछ रहता है तो आनन्द। आनन्द जो कि यौवन के सपनों का रूपान्तर है। रूपान्तरित सपनों की कहानियों में छिटफुट बिखरी-बिखरी अनुभूतियों की बातें छौंक दे जाती हैं। कि कौन किस समय दो घड़ी के लिए आँखें चौंधियाकर चला गया था! कि उसे किसी ने गाँठ बाँध कर सहेज-सँजो के रखा नहीं है! कि वह तो केवल एक प्रतीक मात्र है! कि मन की गहराइयों के तलदेश पर उसकी छाप नहीं है! इसीलिए वह हँसी का उपादान है। छोटी-छोटी बातें, भाषा स्वल्प, अभिव्यक्ति अधिक और फिर बातों के बाद हँसी। हँस-हँस कर ही कोई अपने गहन मुँदे, निर्द्वार, मन की गहराइयों की यादें उकसा-उकसा लेता है। उन यादों को जो किसी 'रेवासी'-योग की बाट जोहती सोई पड़ी होती हैं! अनजाने ही उकसा किया जाता है उन्हें। सपनों में बहता जा रहा कोई हँस-हँस पड़ता उज्ज्वल

मुखड़ा किरीट-कुंडल पहने सामने आकर आँखें खोल देता है। आँखों से आँखें मिलती हैं। आँखें चार होते ही युवती की गूँजती हुई हँसी की गूँज जाने कहाँ बिला जाती है। हँसती वह अब भी है लेकिन हँसी गूँजती नहीं, उससे कोई शोर नहीं उठता। फिर तो अनंत शब्द-ब्रह्म की पृष्ठभूमि में अनादि मंत्र की धुन बजने लगती है। युवती सिर नवा लेती है। दल से बिछुड़कर अकेली ही अलसाती रहती है। डग भारी-भारी पड़ने लगते हैं। गहरी, उमँड़ती, छलकती, धार-धार हो पड़ती आँखों में भावी का नशा छा जाता है। पहली चौंध-चौंक सँभाल लेकर वह देखती है कि चारों ओर नए बौर, नए पत्ते और नए फूलों की बहार है। देखती है फूलों की पँखुड़ियों से दिशाएँ भर गई हैं। देखती है और देख कर वह भी अपने घाव की पपड़ियाँ झाड़ने लगती है।

इन्हीं युवतियों के पीछे-पीछे लड़कौरी बहुओं की जमात है। नई कोंपल फूट आई है। लता ने पेड़ को कसकर पकड़ लिया है। स्थिति ने उद्दिष्ट पा लिया है। बेराह की राहवाले काँटे नहीं रहे अब। वह नोंच-चोंथ नहीं रही। साथ ही, प्रतीक्षा का वह आनन्द भी न रहा, वे उच्छ्वास भी न रहे। पिटी-पिटाई लीकवाली चली-चलाई राह पर चलने का आराम मिलने लगा है। चलने का आनन्द केवल अभ्यास से मिलता है। चलना धीरे-धीरे होता है। बच्चे का जन्म हो चुका है। और भी बच्चे जन्म लेंगे। गिरस्ती आरंभ हो चुकी है। और भी बढ़ेगी गिरस्ती। ये संसार के प्रवाह में धारागत हो चुकी हैं। इनका आनन्द रोजमर्रा की जिन्दगी जीने में है। उनके निर्भर अवलंब हैं चारों ओर से ठोंक-बजाकर देखे-परखे हुए लोगों और वस्तुओं के बल के उपादान। ये उपादान स्वप्न नहीं हैं, स्मृति-मात्र नहीं हैं, ये हैं केवल विश्वास।

बूढ़े भविष्य पीछे-पीछे हैं। उनका प्रकाश अस्तंगामी हलदिया सूर्य के आलोक में है। उनमें न विश्वास का दंभ है, न स्वप्न का नशा। डग कँपकँपाते हुए पड़ते हैं, मन में निष्फल विद्रोह है, विचारों में छक्के-पंजे हैं।

जंगल-जंगल की राहें पार करते यही तीन दल हैं।

बूढ़ियाँ पेड़ों को ठूँठ कर डालती हैं। सभी डालें काट लेती हैं। कोंपलें तोड़-तोड़ कर बांस की कोठियों की जड़ें उघार डालती हैं। राह चलती हैं तो धीमे-धीमे, पैर जमा-जमा कर। ठेस बचाती चलती हैं। लौंडियों की आलोचना करती हैं। राह को गालियाँ देती हैं। संसार के जितने दुखड़े, जितनी फरियादें, जितने अभियोग हैं, सब उन्हीं के बाँटे पड़े हैं।

"अरी छोरियो, किधर को ताकती राह चलती हो री? माटे का कितना सुन्दर झांझ खोंता छोड़के निकल गयीं! यह देखो न, वह रहा, वहाँ। तोड़ लिया होता तो काम न आता?"

"तू ही तोड़ ले न दादी?"

"अरी, तोड़ने का बल-बूता ही होता मुझ में तो तुम्हें क्यों पुकारने जाती?"

"आ...देखो, देखो। क्या हो गया है इन्हें? अब थोड़ी ही देर में झुटपुटा होने जा रहा है। जीव-जंतु निकलेंगे। जरा भी डर-भय नहीं इन्हें! चल पड़ीं जंगल के भीतर पैठकर फूल लोढ़ने।" भटकते-भटकाते, मुड़ते-माड़ते, चक्कर खाते रास्ते से बढ़ते हुए गाँव पास आ रहा। जंगल के तले से धीमे-धीमे ढुलते ढलवान से उतर कर वे नीचे तलहटी में आ गईं। इसके बाद अब पत्थरों के ढेरों के ऊपर छिदरी-छिदरी झाड़ियोंवाले इक्के-दुक्के डूँगर हैं, दूर-दूर पर पाँत-के-पाँत खेत हैं और उनके उस पार गाँव के पहाड़ की चढ़ान का ढलवान है।

गाँव के पास की इस खुली पथरीली तलहटी में न जाने कितनों को बाघ खा चुका है। जंगल के अन्दर उतनी चोटें नहीं करते बाघ, जितना कि जंगल के पास की इन खुली जगहों में लगा करते हैं।

दूर से कंध गायकों के जोड़े अलगोजे की टेर सुनाई पड़ी। चैत अब कोई दूर नहीं रहा। अभी से चैती नशे का कुछ-कुछ आभास चारों ओर से मिलने लगा है। अलगोजे की टेर सुनाई पड़नी थी कि पास के दल की

लड़कियाँ चट्टानी डूँगर के ऊपर जहाँ-की-तहाँ थमक कर खड़ी हो गईं। उनके नथने फड़क रहे थे।

"खड़ी क्या हो रही री? बेर डूब चली है। क्या बू ले रही हो? चलो, पैर झटकार के भाग चलें।" बूढ़ियाँ पास आ लगीं। लड़कियाँ अभी भी उसी तरह पथरीले डूँगरों और टेकरियों पर ज्यों-की-त्यों खड़ी थीं। सूरज डूब रहा था। उसका तेज आसमान में ऊपर-ही-ऊपर ढुरता हुआ धीरे-धीरे पहाड़ के उस पार बहा जा रहा था। अलगोजे का स्वर पास आया। भार को बँहगियाँ उठाए और हाथों में बरछे लिए, ऊँची आवाज में बातें करते हुए कुछ लोगों का एक झुंड परती के ऊपर से निकली हुई सीधी पगडंडी से चला आ रहा था।

भेंट-मुलाकात हुई। किन्हीं अचीन्हे कंधों का दल था यह। दल के बीच में एक लड़की थी। उसके पास-पास सटा चल रहा था एक नौजवान। बड़े आनन्द के साथ वे चले आ रहे थे। लड़कियाँ उस लड़की से जा मिलीं। दूसरी स्त्रियाँ भी पास जा खड़ी हुईं। लड़के भी कितने बहानों से, हँसी-ठिठोली और गपशप करने के लिए, पास आ लगे।

"अहे दादी, धुआँपत्री (धुँगिया) है क्या तुम्हारे पास? पिलाओ ना!—इस जंगल के बाघ मतवाले तो नहीं हुए हैं न?—गाँव में दारू चुलाई है तुमने? चलें तो दोगी?" वे पेंड्कापाँइ गाँव के लोग हैं। लड़की गेचेला गाँव की बहू है। उसके पास वाला नौजवान पेंड्कापाँइ का क्वाँरा लड़का है। बाकी और सभी लोग उसके अपने लोग हैं। जाने कितनी ही बार गेचेला गाँव के रास्ते ही यहाँ वाले कस्पाहाट जाया करते हैं। रास्ते में इस लड़की के साथ पहले भी देखादेखी हो चुकी है। लड़की का दूल्हा उससे ड्योढ़ा बड़ा है। वयस में। बड़ा ही नशेबाज है। फिर भी वह सांवता का भाई है। लड़के लड़की में मेल हो गया है। अपने विवाहित जीवन में उस सांवता के भाई ने इस लड़की को मानो खा-चबा डाला। नशेबाज पति बड़ा अत्याचार करता है। अपने बड़े भाई सांवता को मना-फुसला कर छुट्टी पा लेता है। लड़की जाना चाहती है लेकिन उसके लाख माहीं-

नाहीं करने पर भी उसे गेचेला-गाँव में अटका रखा जाता है। उसने अपने पति को साफ़-साफ़ शब्दों में यह कह कर मामला खतम कर दिया कि "तेरी कोई दरकार नहीं मुझे।" कंव-कानून के अनुसार इतना कह देने के बाद ब्याह आप-से-आप टूट जाता है और तलाक हो जाता है। फिर भी यह वहाँ से आ नहीं पा रही थी। "बड़ी-बड़ी तिकड़में और दाँव-पेंच लगाने के बाद आज कहीं कस्पाहाट लाकर वह छू—!" अब मुक्त है वह।

लड़कियों का आग्रह बढ़ा। घर छोड़ आयी बहू सहानुभूति पाकर बड़े उत्साह से अपनी रामकहानी कह चली। बताने लगी कि कितने अत्याचारों के बाद वह नया पति ठहरा कर घर से निकल आयी है। उसने कोई नई बात नहीं की। मन न माने तो नया पति कर लेने का अधिकार कंव-देश में है। अपने मन की खुशी से, अपनी मरजी से ही अपने अतीत की ओर पीठ करके चली आयी है वह। उसका पति उसके सँग-सँग है। उसके पुराने पति को जब पता चलेगा तो वह नशा उतरने पर अपने बंधु-बांधवों को लेकर ढूँढ़ने निकलेगा। बहुत हुआ तो वह हरजाने के रुपए ले लेगा। बस, इतना ही भर उसका अधिकार है। स्त्री के ऊपर कोई अधिकार नहीं है उसका। हो सकता है कि लाठी-बरछे और तीर भी चल जायँ। साथ के कंध युवकों ने यह बात हँसी में उड़ा दी। कहने लगे—"उसके लिए हम तैयार हैं।"

"अच्छा दादी, चलें हम। घड़ी भर अटक रहे, अब अँधेरा पड़नेवाला है।"

कुछ दूर निकल जाने पर धाङड़ों ने लंबी-लंबी तानों में गीत छेड़ा, "आज हमारा भाग्य अच्छा है। देखो न, कैसे हम वन की चिड़िया को पिंजरा खोल कर उड़ाए लिए जा रहे हैं। अपने संगी के लिए!—आज जो-कुछ हुआ, हमारे लिए शुभ ही शुभ हुआ। बस, जरा सी कसर रह गई। वह यह कि तुम दिखीं तो, पर छिप गईं। तुम भी तो वन की चिड़िया ठहरीं। लेकिन हमारे साथ उड़ जाना तुम्हें नहीं भाया। जान पड़ता है कि तुम इस बात से डर गईं कि आगे की राह अँधेरी है, सूनी-सूनी है और सिर्फ भारी-भारी—"

गीत की लहर दूर जाकर गुम न हो जाय कहीं, इस डर से लड़कियों ने उनके गीत की कड़ियाँ समाप्त होने के पहले ही एक-तान से गले साध-कर उनका जवाब दिया—"हम पिंजरे की चिड़ियाँ नहीं, ऐ संगी। हम तो वन की चिड़ियाँ हैं, वन की चिड़ियाँ। हम संगी खोजती हैं, बंधु खोजती हैं। तुम खोजते फिर रहे हो पिंजरे की चिड़ियाँ। अगर ऐसी बात न होती तो क्या तुम आज रात रुक नहीं जाते परदेसी? अच्छा, जाओ जाओ! भली-भली कटे तुम्हारी रात, शुभ हो तुम्हारी रात।"—गीत के सुर खूब मिले, गले भी खूब मिले। इसीलिए आगे-आगे चलनेवाले दल में हँसी छूट रही थी, बीचवाले दल में बहस चल रही थी और पीछेवाले दल में आलो-चना के छींटे कसे जा रहे थे।

साँझ पड़ आई। गँवई गीदड़ हुआँ-हुआँ कर उठे। जंगल की सैर में आज विशेष-कुछ नहीं हुआ। बस, यह अंतिम दृश्य जरा मजे का रहा। बातों का विषय बनी रही वह अनजानी अनचीन्ही लड़की, जिसने दूसरों का भरोसा करके अनजानी राह पर पग धर दिये हैं। वह सभी की हिम्मत का प्रतीक बनी हुई थी। सभी को चौंका देनेवाले अचंभे की मूर्ति। रोजमर्रा आदर्श की कंध लड़की। जो खुद रचती है और खुद मिटाती है। कैसी दमक उठ रही थी उसके मुँह पर न्याय के तेज की! उसने अपने समाज को पहचान लिया है। अपने समाज के न्याय-अन्याय की बात जान ली है, समझ ली है। वहाँ, समाज में, अपमान सहना, अवहेला-अनादर सहना अन्याय है। अपनी रुचि के प्रतिकूल मुँह दुबकाये पड़ा रहना वहाँ पाप है। सर्वजया नारी ने अपनी मर्यादा रख ली है। अब पीछे से पुरुष चाहे जितना पछताता रहे! दुर्बल पुरुष की बनाई हुई गोष्ठी अब पीछे से चाहे जितना तपती रहे।

गाँव लौटने के पूरे रास्ते पर सिर्फ यही बात होती रही—

माघ की साँझ है। इसीलिए इतनी ठंडक है। इसीलिए अँधेरा इतना गहन है। वह दल इस सारी ठंड और इस सारे अँधेरे को रौंदता हुआ अपनी राह बढ़ा चला जा रहा होगा। बनबासियों के लिए यही आदर्श

है। इसी आदर्श के पीछे भले-बुरे का कोई विचार नहीं होता। आदर्श है तो आदर्श है, बस। आदर्श वही हो सकता है, जिसके पीछे चल पड़ने को मन करे।

पुयू का बच्चा उसकी छाती के ऊपर ऊँघ रहा था। उजेला मिटा कि उसे नींद धर दबाती है। पुयू बहुत सारी बातें सोच रही थी। दिउड़ू लौटकर आया होगा और फिर खेत पर चला गया होगा। वह लड़की जिस दूसरे आदमी का हाथ पकड़ कर चली गयी, ठीक उसी की तरह कभी उसका और दिउड़ू का स्नेह भी अटल था। लेकिन दिउड़ू बदल-सा गया है। इसीलिए उसका मन अब वैसा नहीं रहा कि पुयू के लौट आने तक वह उसकी बाट जोहता बैठा रहे। क्यों इस तरह बदल गया है दिउड़ू ? क्या अपराध हुआ है पुयू से ? कितनी बार उसे मान-अभिमान होता है और वह रूठ रहती है। दिउड़ू अब उसे मनाने की, मान-भंग करने की, कोई चेष्टा नहीं करता। उस ओर उसकी निगाह एकदम होती ही नहीं। मान-अभिमान आप ही होता है और आप ही मर-मिट जाता है। आप ही रूठती है वह और आप ही मनती है। इस तरह उसकी छाती-तले दिनों-दिन एक कोटर, एक रिक्तता, घर करती जाती है।

दिउड़ू स्त्री के ऊपर अत्याचार नहीं करता। कुछ भी नहीं करता वह। लेकिन यह कुछ भी न करना भी बदल जाने की ही एक निशानी है। स्त्री का मन भाँपने-परखने में कुत्ते की नाक से भी अधिक तेज होता है। सिर्फ भाँपके ही स्त्री अपने पति के मन का पूरा हाल समझ लेती है। वह समझ लेती है कि अब उसके पति का मन किसी और झोले-झरने की ओर बह चला है।

पुयू का बल घट गया है। बस इतना ही वह समझ पाती है अपने बारे में। और ऊपर से तुर्रा यह कि काम-धंधे भी पहले से बढ़ गये। अब ये सब नये धंधे इस टुन्ने से नन्हे मानुष के लिए ही हैं। पुयू उसे दूध पिलाती है, लाड़ली-दुलारती और बहलाती है। अनजाने ही उसकी आँखों में आँसू छलछला-छलछला आते हैं। मन के भीतर सवालों की अजस्र

झड़ी लग जाती है। कोमल सुकुमार छौना माँ के मुँह को टुकुर-टुकुर निहारने लगता है ; लेकिन उसे किसी भी सवाल का जवाब नहीं मिलता। मन की यह अनजानी हूक आप ही आप बुझ तो जाती है, लेकिन दिनों-दिन कुछ ऐसा होता जा रहा है कि किसी बात पर कोई बात ध्यान में आने लगती है। जैसे आज बेर डूबने की बेर की वह बटोही लड़की !

जीवन का रस मन को सराबोर कर देता है। आदमी अपने भीतर न जाने कितने सुखों के, न जाने किन-किन मुखों के सपनों को जगमगाते हुए देखने लगता है। घिसी-पिटी लीकवाली राह के आराम-चैन की चेतना जाने कहाँ छिप जाती है और उसकी जगह आ जाती है किसी नए रूप की, किसी नई सृष्टि की चेतना। फिर उत्तेजना जल कर भस्म हो जाती है। और अपने पीछे अपनी ठंडी राख भर छोड़ जाती है। काम करने की इच्छा होने पर आदमी देखता है कि उसके हाथ ही गायब हैं। बाँबी के ऊपर कोमल लताओं का जाल लोट रहा होता है, फूल खिल रहे होते हैं, लेकिन लता-वितान के तले का पेड़ कब का ठूँठ हो चुका होता है, खोखला हो चुका होता है, दीमक उसे चट कर गए होते हैं।

पुयू गुमसुम चलती रही। पुबुली शोर मचाती रही। जिस स्वयंवरा लड़की को वे पीछे छोड़ आई थीं, उसकी बातें पुबुली की मंडली के गपाष्टक में से चुकने का नाम ही नहीं ले रही थीं।

"सच री पुल्में, छोड़ दिया सो ठीक नहीं किया। रात को उन्हें गाँव में रख लेतीं, सवेरे विदा कर देतीं, यही अच्छा होता। जाड़े की रात, जंगल की राह—"

"कोई दरकार नहीं पुबुली, कोई दरकार नहीं। जंगल की राह उनका क्या कर लेगी ? उसका कर्म तकुए-सा सीधा पड़ा है। नशेबाज, अधेड़, चिड़चिड़े दूल्हे को छोड़ कर भले दूल्हे, जवान दूल्हे का हाथ पकड़ के जो नया घर बसाने चली है, उसके मन में अगर डर-भय होता, तो वह अपना सुख अपने हाथों हरगिज गढ़ न पाती।"

"हाँ, हाँ। सो तो ठीक है। लेकिन जो भी कहे तू, रात हमारे गाँव में काट लेते वे, तो अच्छा ही होता। राह में अगर बाघ लगे तो?"

"न रहे न सही। चैत लगने दे, फिर जाऊँगी उसके गाँव। राह-बाट की चीन्हा-चीन्ही तो हो ही गई है, जाने पर पूछेगी नहीं क्या?"

पीछे से बूढ़ियों ने ठिठोली की, "क्यों री छोरियो, ललचा-ललचा के अधीर क्यों हुई जा रही हो? तुम भी चली क्यों नहीं गईं उनके सँग-सँग, राह बतलाने के लिए? डर क्या था, इतने सारे तो धाङड़े थे?—"

"ना-ना, बुला लाना ही अच्छा रहता। हमारी छोकरियाँ खूब नाचतीं, रात भली तरह कट जाती। देखा नहीं, मिङटिङ गाँव के गदराते जवानों के सँग कितनी भली पट गई थी उस रात। आह, कितना सुन्दर—!"

आगे-आगे फुदकती जा रही लड़कियाँ खूब हँसीं। एक दूसरे के गले में हाथ डाले हँसती-हँसती नाचती-नाचती वे गाँव के भीतर पैठीं।

पुबुली को मिङटिङ गाँव का बेशू कंध याद आने लगा।

कोई बंधन नहीं, कोई बाधा नहीं। जीवन उतना नीरस नहीं है जितना कि कभी-कभी लोग सोच बैठते हैं। बस, डोरे में गाँठें डाल-डाल कर दिन गिनते रहना होता है। इतना ही तो? पुबुली इसी तरह की बातें सोचती रही।

इक्के-दुक्के तारे निकल आए थे। अँधेरे में गाँव के गलियारे में रोशनी की धारियाँ पड़ रही थीं।

बीस

म्ग्यापायु की फ़सल-कटनी समाप्त हो चली थी। खेत सूने-सूने लगते थे। नंगे, खाँय-खाँय करके काटने दौड़ते थे मानो। दिन के समय खेत के रखवालों की मँड़ैयों में लड़के बैठे-बैठे खेला करते थे। कोई मचान के खूँटड़ों पर चढ़ता तो कोई खूँटड़े पकड़-पकड़ कर बंदरों की तरह खिसकता-खिसकता बाहर खेत में कूद-कूद पड़ता।

देखो तो टुकड़े-टुकड़े बिखरे हुए खुले मैदान ही जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ते। बीच-बीच में कहीं-कहीं पछोतरी फ़सल [1] वाले पीले-पीले से खेत दिख जायँ तो दिख जायँ। धीरे-धीरे ये भी कट जायँगे और पछवत फ़सल उठा ली जायगी।

दिउड़ साँवता का काम शेष हो चला था। साल-भर की मेहनत की कमाई काट-बाँध कर वह और लेंजू कंत्र घर में सहेज रहे थे। अब थोड़ी सी अलसी रह गई है, वह भी निपटा ली जायगी।

किसानी का काम ऐसा ही हलका काम होता है। फसल सहेज रखी, अब अगली फ़सल की बातें सोचना और हाटों-हाटों भटकना भर रह गया है। दम लेने की भी फुरसत न देनेवालों कामों से किसी तरह छुट्टी लेकर किसान अब जरा देर बैठकर अलगोजे भी टेर लिया करेगा। सब-कुछ धीमे-धीमे अलस-अलस भाव से चलता रहेगा।

अब अधिक समय घर पर ही कटा करेगा। चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द की धूम रहेगी। आदमी की जरूरतों को ऐन वक्त पर महसूस करके, आदमी के अवकाश के अवसर को सरस बनाने के लिए महुए के पेड़ों से पके महुए [2] झरने लग पड़े हैं। पहाड़ की कंदराओं के अन्दर झोलों-

---

१ पछवत, या वह फ़सल जो किसी कारण देर से पकती और देर से काटी जाती है।—अनु०

२ तात्पर्य शायद महुए के फूलों से है; क्योंकि दारू कोयनों (पके फलों) से नहीं, बल्कि सूखे फूलों से बनती है।—अनु०

झरनों नदी-नालों के किनारे-किनारे दारू पकाने का महोत्सव अभी से शुरू भी हो चुका है।

उस दिन दुपहरी को दिउड़् कहीं बाहर निकला हुआ था। घर में बैठा-बैठा जी उचट रहा था। काम-काजी लोगों को घर में बैठे रहना बड़ा कैसा-तो लगता है, बुरी तरह अखरता है। वहाँ पुरानी गुदड़ी की भाँति बारम्बार वही-का-वही दृश्य देखने को मिलता है। बच्चे को गोद में चिपकाए हुई माँ, बिना काम के कामों से व्यस्त होकर बावली-सी बनी हुई इधर की चीज उधर और उधर की चीज इधर रखने में मशगूल बहन, दरवाजे पर सदा की तरह चारों टाँगें मिलाए पेट में सिर दुबकाये पड़ा दसरू कुत्ता, उसके फूल-फूल जाते दब-दब आते नथने, और लेंजू कंध घर से फ़रार !

दिउड़् गाँव के इस छोर से उस छोर तक गया। गलियारे के दोनों ओर बटोरी हुई फ़सल बेढंगे, बेतरतीब तौर पर पड़ी है, लोग उसे ओसाने-पछोरने और चुनने-चानने में लगे हुए हैं। जहाँ-तहाँ लाल मिर्च सूखने को धूप में चटाइयों पर फैला रखी गई है। तंबाकू के पत्ते सूखने को फैला रखे गए हैं। कहीं पर कोई बैठा-बैठा मूंज की रस्सी की खाट बुन रहा है। बूढ़े कसकर गूदड़ लपेटे, पानी टपकाती आँखें मिचमिचा-मिचमिचाकर धुंगिया पी रहे हैं। बच्चे खेल रहे हैं। गाँव के इस छोर से उस छोर तक यही दृश्य है। एक जगह आलसी नौजवानों की टोली ओसारे में बैठी गाँव का बड़ा ढोल लिये पीट रही है। दिउड़् का जी कुढ़ने लगा। मन कुछ विरक्त-सा हो उठा। इधर जाने कितने ही दिनों से उसकी तबियत कुछ इसी तरह से उचाट-उचाट-सी रहने लगी है। मन कड़वा-कड़वा सा हुआ रहता है। कोई ऐसी राह नहीं सूझती, जिस पर नाक की सीध में चल पड़ा जाय। जीवन निरुद्देश्य हो उठा है। धूप का तेज दिनों-दिन और भी तेज होकर मन के भीतर तपन-सी पैदा करने लगा है। अधपके आम की तरह जरा-जरा मीठी जरा-जरा खट्टी होती है जाड़े की ऊमस और चैत की धूप। आदमी मन के इस खटमिट्ठेपन का जवाब बाहर

खोजता है, लेकिन बाहर कोई जवाब हो तब तो मिले ? जी में कुढ़न होने लगती है।

नई-नई मिली सरदारी-साँवतागिरी के अभिमान से छाती फुला-फुला कर दिउड़ू चारों ओर निगाहें डालता है। मन-ही-मन वह न जाने कितने ही फूल-चंदन-धूप-अर्घ्य पाने की राह देखता है। पुरखों की सात पीढ़ियों तक के परदे एक-एक करके उसके मन की आँखों के सामने से उठते हुए चले जाते हैं। मतवाले साँड़ की तरह सींगों से मिट्टी उखेड़ता गरदन फुला-फुला कर आगे की ओर देखने के लिए, उस आदिम अतीत का मन पाए हुए किसी आदिम व्यक्तित्व को अपने भीतर से बाहर निकाल लाने के लिए उसकी तबियत मचल-मचल रही है। लेकिन यह हो कैसे ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर दिउड़ साँवता को मिल नहीं पाता। चैती धूप की चमक मन को मतवाला बनाए दे रही है। बाहर की ओर देखने पर लेंजू कंध के हड्डी-हड्डी उभरे हुए मुँह का ध्यान हो आता है। उस चेहरे पर एक तरह की अवज्ञा, एक तरह की हिकारत से भरी बाँकी हँसी जड़ी दीखती है। दीखता है पुयू का चेहरा, उसका सूखा-सूखा, सिमटा-सिमटा, सुकड़ा और नीरस चेहरा। पुयू की आँखें अब पहले की तरह कुंजों-झाड़ियों में टटोलकर दिउड़ू को ढूँढ़ा नहीं करतीं। अब तो वे उसे देखते ही शंकाओं से भर-भर उठती हैं। अब उसका व्यक्तित्व उस टुन्ने-से, नन्हे-से बच्चे के चारों ओर बँधा-बँधा सा, गिरवीं पड़ा सा रहता है। दिउड़ू पहलेवाली वह सारी बातें खोजता है उसमें, लेकिन कहीं कुछ भी मिल नहीं पाता। लगता है मानो उसे कोई रोग लग गया हो। नींद नहीं आती। दोनों आँखें मटैली-मटैली सी हो गयी हैं। ऐसा लगता है मानो आँखों को कोई चारों ओर से पकड़-पकड़ कर एक साथ चारों दिशाओं में खींच रहा हो। इसी कारण संसार के प्रति उसके मन में एक विद्रोह-भावना जगने लगी है। विद्रोह इसलिए, कि वह ठहरा काम-काजी आदमी, लेकिन काम-धंधे के बाद उसे ज़रा देर भी शान्ति नहीं मिलती। विद्रोह इसलिए कि कोई उसके महत्त्व को महसूस नहीं कर रहा

है। विद्रोह इसलिए कि कोई उसके पीछे लगा आकर उसका पसीना नहीं पोंछता, पसीना पोंछकर जरा देर बिजना नहीं झलता।

दिउड़ ़ साँवता गाँव के गलियारे में जगह-जगह थोड़ी-थोड़ी देर अटक-अटक कर आगे की ओर बढ़ता गया। अंटी में हाथ डाले और नंगी देह को धूप खिलाता हुआ वह कुछ देर को अलस चितवन से गलियारे के निकासे की ओर निहार-निहार लेता। निहारने का कोई अर्थ उसकी समझ में नहीं आता, फिर भी निहारना उसने जारी रखा। कोई अपनी जगह से उठकर उसकी ओर आने का नाम ही नहीं लेता। हार मानकर वह आगे की ओर चल देता।

गाँव के छोर पर जरा सा अलग हट कर बारिक का घर है। बारिक जाति का डंबॅऽ है। इसीलिए यह अन्तर है, इसीलिए उसका घर औरों से अलग हटकर है। अलग एक पाँत में छोटी-छोटी सी कुटियाँ हैं। छप्पर-छान उसकी नुँची-चुँथी और अस्तव्यस्त है। उसकी कड़ियाँ-बातियाँ निकली हुई हैं। चारों ओर टूटी हुई बाड़ का ध्वंसावशेष बिखरा पड़ा है। बाड़ के ध्वंसावशेष के भीतर झाँटी के ठिगने-ठिगने अधमरे पेड़ छड़ों की तरह गड़े-से हैं। घास के ऊपर कुम्हड़े और लौकी की बेलें फैली हुई हैं। गंदगी फैलाती हुई राख और कचरे के छोटे-छोटे धूर जिधर-तिधर लगे हुए हैं। कबूतर और मुरगे टहल रहे हैं। झोंपड़ी के पाख से लटकी झूलती फटी-चिटी धोतियाँ और कपड़ों के चिथड़े सूख रहे थे। छान में एक जगह पर किसी गाय की चारों टाँगों की खुर-सहित हड्डियाँ खुँसी थीं। ये लोग जाति के ओछे हैं, डंबॅऽ हैं। दुनिया का विश्वास है कि आदमी की श्रेणियों में ये सबसे निचली श्रेणी के लोग हैं। इन के लिए न कोई मान मान है, न अपमान अपमान। इसीलिए अपने आत्मसम्मान को बढ़ा-चढ़ाकर दिखलाने के लिए न तो इनके कोई इच्छा होती है और न ये कभी उसकी चेष्टा ही करते हैं।

डंबॅऽ के घर का श्रीहत-पना देख कर उसका अनुभव करने की चेतना दिउड़ ़ साँवता में उस समय न थी। पिछवाड़े के मैले-कुचैले गंदे ओसारे

में बैठी बाळमुंडा की जोरू सोनादेई बाल सुखा रही थी। खड़ी दुपहरी की बेर थी। नहा-धोकर एक फटी-सी धोती पहने बाल बिखेरे बैठी थी वह। भुक्खड़ और मरियल-सा एक कुत्ता कूड़े के एक ढेर को पंजों से नोंचने-छितराने में व्यस्त था। पास ही मुरगों-मुरगियों का झुंड किलबिला रहा था।

उसी कुत्ते की तरह दुबला बारिक भुरसामुंडा कंधों पर फैली रूखी जटाएँ झाड़ता, दाँतों की चमचम चमकती पाँतें निपोरता, और हाड़-हाड़ उभरे गालों में मुसकुराता उठ आया। उस के पीछे-पीछे आया उसका लंबतड़ंगा नौजवान बेटा तुरुंजा। कौपीन पहने, हाथ में एक लकुटिया लिये और धूल में अटा हुआ। अत्यन्त विनय दरसाता और गरदन हिलाता हुआ बारिक बोला, "साँवता साँवता! खाना-पीना हो चुका? इस खड़ी दुपहरी की धूप में किधर निकले हो साँवता?"

बारिक खुशामदें करता है। साँवता के मातहत का बारिक जो ठहरा! साँवता गाँव का सरदार है, नायक है। हर रैयत के पास से लगान वसूल करके राजा के घर अमीन-रिबिणी[1] के पास जमा करना उसका काम है। गाँव की लाभ-हानि को समझना उसका कर्तव्य है। वह ठहरा गाँव का बड़ा-आदमी। सभी के आदर-मान का पात्र। और बारिक ही साँवता के हाथ का औज़ार होता है। गाँव के अन्दर जिस किसी तरह के भी काम को करना दरकार हो, साँवता के हुकुम से बारिक को ही करना होता है। दौड़-धूप करनी हो, तो वही रैयतों के घर-घर, खेत-खेत की दौड़ लगाता है। साँवता जहाँ जाने को कहे, वह जाता है। फिर, वह गाँव की रखवाली भी करता है। साँवता उसके भले-बुरे की बात पूछता रहता है। बारिकी के काम के बदले में वही उसे ज़मीन देता है। खाने-पीने के लिए वही सीधा-पानी देता है। रैयत-घरों से भी फी-घर थोड़ा-थोड़ा कुछ मिल जाता है उसे। इसी तरह बारिक का काम चल जाता है।

---

१ रेवेन्यू, राजस्व का अधिकारी।

कूट-बुद्धि का जो भी काम होता है, वह बारिक डंबॅऽ का ही होता है। घर जोड़ना, घर फोड़ना, झगड़े लगाना, झगड़े उठाना, सलाह देना सब कुछ बारिक डंबॅऽ ही किया करता है। स्वभावतः डंबॅऽ का माथा-भेजा बचपन से ही उपजाऊ होता है। उसमें हर घड़ी कोई-न-कोई दुष्ट बुद्धि खेलती रहती है, हर घड़ी कोई-न-कोई खुराफात सूझती रहती है। डंबॅऽ के पास ले-देके बस यही होता है। डंबॅऽ स्वयं श्रमकातर होता है, मेहनत से जी चुराता है। इसलिए चार सीधों (खूराकियों) की सबील करने के लिए कोई-न-कोई टिप्पस बिठालना, कुछ-न-कुछ सोच निकालना मानो एक प्रकार से उसका व्यवसाय ही होता है। भुरसामुंडा पुराना, पका हुआ, बारिक है। उसे यह अच्छी तरह मालूम है कि दिउड़ साँवता अभी कच्ची उमर का जवान है तो क्या, हाकिम उसका वही है, कि उसके भले-बुरे को देखने का अधिकार इसी साँवता के हाथों में है।

अलसौंही निठल्ली घड़ी में बारिक की वाक्-चातुरी कोई बुरी नहीं लगी। "तू है साँवता, है न ? तेरा बारिक हूँ इसीलिए न इधर जरा देर को अटक गया है ? ठीक ही तो। हम तेरा गू-मूत खाके पड़े रहते हैं। सरबू साँवता मेरा बाप-जैसा था। तू भी तो मेरा बाप-जैसा ही ठहरा। जिलाये तो तू, और मार डाले तो तू ! तू तो हमारा सब-कुछ है !"

पीछे से सोनादेई झाँक रही थी। "क्या करता ? मेरा कपाल ही ऐसा है, साँवता। सब बदे की बात है। मेरा बाप-जैसा सरबू साँवता मर गया।" बारिक रो पड़ा। "कच्ची जवानी के दिनों में ठीक तेरी ही तरह का हुआ था वह भी। ऐसी ही काठी, ऐसा ही गात-गोड़ (शरीर) ! लाख लोगों में अलग से पहचान लिया जा सकता था !—मैं भी सभी प्रभुओं, सभी अधिकारियों की सेवा करता पड़ा रहता हूँ !—जो-जो आए, गए। जितने भी आए, सब गए। साला कह-कह कर गाली देते थे, बस ! और कुछ भी नहीं कहते थे।—मैं, और हमारे बाल-बच्चे, हम सभी, समझ तो, तुम्हारे कुत्ते ठहरे, कुत्ते। देखेगा न तू ?" बारिक

वातरोगी की तरह बातें करता है। एक बात से दूसरी बात पर छलाँगता चलता है। तड़ातड़ एक पर एक नयी बात उँड़ेलता रहता है।

"समझा साँवता ? सब मेरे बदे का फेर है। धरती मेरी सिमट के इत्ती-सी रह गई है! और कुटुंब बड़ा है। सब के मुँह को अन्न अँट नहीं पाता। साँवता ने कहा था कि खेत का थोड़ा-सा और टुकड़ा कहीं से देगा। क्या दिया ? और देता भी कैसे ? आप ही तो मर गया !"

बारिक फिर सिसकियाँ भरने लगा। मुबकते-मुबकते उसने देखा कि दिउड़ू तो अन्यमनस्क है, पीछे की ओर देख रहा है। फिर कहने लगा—"देखा मेरा कपाल, साँवता ? साल भी नहीं लगा, इस छोरी को केलार-गाँव से लाया था। इसके बदले में इसके बाप को तीन कोड़ी (साठ) रुपयों की थैली दी थी। लाया था कि इसे लेके बेटा घर बसाएगा। ऐसी बहू साँवता, लेकिन कपाल ने क्या किया ? बेटा इस बहू के पास भी नहीं फटकता। बहू कहती है, निचु-निचु (नहीं-नहीं) ! कब किसके साथ समर्ता (नया पति करके) भाग जाय, कौन कह सकता है ?"

दिउड़ू की सुध लौटी। पूछा—"भाग जायगी ? किसलिए ?"

"पूछ, पूछ, साँवता, उसी से पूछ। मेरे बेटे के साथ तो उसकी जाटी (झगड़ा) नहीं लगती। लगती है मेरे साथ। हर घड़ी मेरे ही साथ लगती है। कहती है, मुझे किसलिए बहू बना लाए थे ?—पूछ, पूछ, उसी से पूछ।—ए सोनादेई—"

सोनादेई ने हँस दिया और उठकर बाड़ के पास आ गई। नीचे की ओर मुँह गाड़कर खड़ी हो गई। बारिक ने कहा—"पूछ इससे कि क्यों भागेगी ? पूछ न, कि क्या मैंने इसे दंड दिया है ? कि क्या मैंने इसे भूखी रखा है ? कह, मैं हट जाता हूँ पीछे।"

दिउड़ू साँवता का आग्रह बढ़ता जा रहा था। वह सभी के हानि-लाभ को समझने-बूझने का अधिकारी है। उसके शासन में बारिक की बहू गाँव छोड़कर भाग जायगी ?—क्यों, किसलिए ?

"तू भाग जायगी ?"

सोनादेई चुपचाप मुँह नीचे को गाड़े खड़ी रही।

"किसलिए भाग जायगी तू ?"

कोई जवाब नहीं।

"कह, कह। मुझ से डर मत। बारिक अलरा (परेशान) करता है ?"—स्वर को और झुका कर—"बाळमुंडा तेरी खातिर नहीं करता ?"

फिर दोनों गुमसुम रहे। दिउड़ू ने खूब धीरे-धीरे पूछा—"बाळ-मुंडा को क्या हुआ है ? कुछ हो तो नहीं गया है ? काइला (बीमारी) है कुछ उसे ?—कह-कह—"

सोनादेई का मुँह पसीने-पसीने हुआ जा रहा था। एक पैर को हिला-हिला कर वह चंगुल से नीचे की धरती को घिस रही थी। खड़ी रही, खड़ी रही, और फिर चुपचाप घूम पड़ी और वहाँ से चली गयी। दिउड़ू ने सिर्फ इतना सुना—"छी-छी।"

सोनादेई हँसती-हँसती चली गई। दिउड़ू को भी हँसी आई। यह सोनादेई डंबॅऽ जाति की न होकर अगर कंधनी होती, तो वयस के हिसाब से वह उसकी पत्नी होने के उपयुक्त थी। अब उससे वह क्या पूछे कि वह अपने पति को छोड़ कर भाग जाना किसलिए चाहती है ? बूढ़ा बारिक तो बावला है, बावला। बारिक फिर आ गया। बोला—"नहीं कहा न ? मैं जानता था कि वह नहीं बतलाने की। है ही ऐसी। बचपन में ही इसके माँ-बाप ने इसे गूँगी बना दिया था। सिर्फ़ तू ही पूछ सकता है साँवता। तू ही पूछ उससे। जब तेरी इच्छा हो आके पूछ इससे और समझ ले कि बात क्या है। मैं तो पूछ-पूछ के हार गया। हार मानकर अब हट गया हूँ। साँझ की बेर आके अकेले-अकेले में इससे पूछताछ और समझावन-बुझावन कर ले।" बारिक ने हँस दिया। दिउड़ साँवता हँसकर वहाँ से बाहर होकर चल पड़ा। पीछे से बारिक ने पुकार मारी—"मेरी जमीन की बात हेताना (मन में रखना) साँवता। साँवता, तेरी दया !"

इक्कीस

दिउड़ आगे की ओर बढ़ा। यहाँ से गाँव का छोर खतम हो जाता है। उसे पता नहीं था कि वह जा कहाँ रहा है। मन चूँकि जाने को हो रहा है, इसलिए जा रहा है, बस ! गाँव के इस छोर पर मेंड़ की तरह अमराइयों और फल-बागीचों के छोटे-छोटे जंगल मानो कहीं से फलाँगकर ऊपर उठ गए हैं। दिउड़ उन्हीं में से एक के ऊपर जाकर खड़ा हो गया। छाया पड़ने लगी है। आमों में बौर लग गए हैं। कटहल के फूलों की मन मतवाला कर देनेवाली सुगंध आ रही है। पाँव तले सीधे खड़े करारे-से ढलवान के ऊपर रेंड़ के पेड़ हैं। सामनेवाली ढलान से उतरने पर एक विराट् गुफा के समान उपत्यका है, जो पहाड़ के गोल-गोल होने के कारण गुफा-जैसी लगती है। वहीं कंवों के बाग हैं—"कंव-चाड़िया।"

पवन डोली। देह को भली लगी। अकचकाकर, अचंभे से चौंककर, दिउड़ ने चारों ओर निगाह फेरी। हवा में कहीं से ताजा दारू की महँक आ रही थी।

हवा के कारण ही शायद धुँआ नजर नहीं आ रहा है। निश्चय ही किसी-न-किसी 'कंध-चाड़िया' में दारू की भट्ठी लगी है।

दिउड़ उतर पड़ा।

ऊपर गाँव है, नीचे पैड़ियों-पैड़ियों खेत हैं। सब से निचली पैड़ी पर पहाड़ के ठीक बीच में पक्की गच की तरह समतल गहरी जमीन है, साफ़ कर डाले गये जंगल-झाड़ की नींव के ऊपर। एक-एक अंचल में एक-एक आदमी की खेती है। वहाँ चास-घर (पाही खेती के घर) हैं। बाँस की फट्ठियों से बुनी चटाइयाँ गोल-गोल मोड़ कर और उन्हीं से घेर कर गोठ की अँगनई की दीवारों जैसी दीवारें बना ली गई हैं। ऐसे गोठनुमा घेरों की उधर कई पाँतें हैं। खेत के ऐसे छोटे-छोटे टुकड़ों की जो बहुत बड़ी-बड़ी पाँतें हैं, उनमें लोगों के अपने-अपने अलग-अलग बगीचे हैं। इन्हीं

को 'चाड़िया' कहते हैं। इन में हर कहीं खेती नहीं होती। बीच-बीच में जगह-जगह पर चट्टानें हैं, जिन पर जंगल-झाड़ उगे हुए हैं। लता-गुल्मों के छितरे-छिदरे, बिखरे-बिखरे कुंजों के वन हैं। जहाँ खेती होती है, वहाँ अरहर की फ़सल खड़ी है, तंबाकू और रेंड़ की फ़सलें लगी हैं। बीच-बीच में लाल-मिर्च और हलदी की बाड़ियाँ भी हैं। चारों ओर के पहाड़ों से झर-झर कर सीधे-सीधे लाल-लाल झरने इन खेतों में उतरते हैं। ऊँचाई पर की बाड़ियों में पानी उठा ले जाने के लिए कूँड़दार ढेंक-लियों का बन्दोबस्त है। पानी के पास जहाँ-जहाँ उपजाऊ चकले हैं, वहाँ कंधों के आदिम फल 'कांबेला' (संतरे) के उद्यान हैं। पानी की अच्छी सिंचाई पाकर संतरे के पेड़ खूब झमाटदार हो-होकर बढ़े हैं। कहीं-कहीं तो उन के जंगल-के-जंगल उग आए हैं। पकने पर अकसर फल झड़-झड़ कर झरनों के सोतों की राह बहते हुए नदियों में पहुँच जाते हैं। एक आदमी की 'चाड़िया' और दूसरे आदमी की 'चाड़िया' के बीच में कंकड़ों-पत्थरों के ढूह-डूँगर और टेकरियाँ हैं, जिन पर जंगल के छोटे-छोटे खित्ते उगे हुए हैं। कहीं-कहीं गहरे 'झोले' हैं। इन में पानी सुब-कता हुआ चलता है, रेत सरसराती हुई चलती है। इन पथरीले कुंजों के जंगल में और इन रेतीले झरनों में हिरनें उतरती हैं। चैत में चारों ओर से खेदा लगाने पर यहाँ आकर शिकार पिट जाते हैं।

दिन के समय चाहे जब जाइए, इन 'कंध-चाड़ियों' में कोई-न-कोई जरूर मिल जायगा। दिन के समय इन में गाय-गोरू भी रखते हैं। कोई-कोई मँड़ैया ही ऐसी होगी, जो सूनी पड़ी मिलती है।

दारू की बड़ी तेज़ गंध आ रही है। दिउड़ू बेचैन हो उठा। जिससे पूछो वही कहता कि मुझे कुछ पता नहीं।

दिउड़ ने सोचा कि इस 'कंध चाड़िया' में किसी 'झोले'[1] के किनारे की मँड़ैया में दारू कहीं जरूर बनाई जा रही है। उसने सोचा, दारू बहुत काफ़ी चुलाई जा रही होगी, वरना अगर ऐसा न होता तो पवन

---

१ करारेदार गहरे पहाड़ी सोते।

में ऐसी उत्कट गंध हरगिज़ नहीं होती। उसने सोचा कि यहीं कहीं कोई बड़ा चूल्हा होगा, जिस पर हंडा चढ़ा होगा और उसमें सड़ा महुआ पकाया जा रहा होगा। हंडे के ऊपर ढक्कन होगा, ढक्कन से बाँस की बाँकी फोंफी (नली) निकली होगी जो किसी और चौमूँद (अछिद्र) हाँड़ी में जा पैठी होगी। यह होगी "धरणी" हाँड़ी (थूनी-हाँड़ी या नाड़ी-हाँड़ी)। इस हाँड़ी में टेढ़ी उठँगा रखी गई बाँस की अधफट्ठी-फोंफी की राह झोले के किनारे-किनारे पेड़ों तले कितने लोग लेटे-लेटे धरणी-हाँड़ी को निहार रहे होंगे। दारू के तैयार होने पर पीने का दौर, छायामय निस्तब्धता का मदसेवन....यही कंधिया भाई का ऐश है, यही उनका स्वर्ग है। दारू की गंध, फागुन की मन्द पवन, सुन्दर 'कंध -चाड़िये' का वातावरण...आदमी दिन-दुपहर को ही सपने देखने लगता है।

अनुभूति की आँखों में बारंबार उभर-उभर आनेवाली वही प्रिय छवि आज फिर दिउड़ू साँवता को हिर-फिर कर याद आ रही थी; लेकिन यह छवि केवल इतने से ही पूर्ण नहीं होती। इसके साथ "कुछ और" चाहिए। चाहिए काले-काले बुंदकोंवाली रंगीन साड़ी पहने, और दो गोल-गोल वर्तुल पिण्डों वाला, मानुष-जीव। वह साँभर नहीं होता, लेकिन पीछे लगो, पकड़ने दौड़ो, तो साँभर की ही तरह दोनों पैरों पर उछलता-छलाँगता भाग खड़ा होता है। वह चिड़िया नहीं होता, लेकिन उसकी पुकार चिड़िया के सीधे गले से निकली चहकार की तरह ही सुनाई पड़ती है। आदमी और भी विह्वल होकर खातों-घाटियों, दर्रों, कंदराओं में प्रतिध्वनि गुँजाता हुआ दौड़ता जाता है। वह छवि, वह छवि है पहाड़-देश की धाडड़ियों की छवि। पकी दारू की गंध की तरह वह पकड़ में आने-आने पर होकर भी जाने कैसे भाग निकलती है, गुम हो जाती है।

केवल उतने ही अभाव के कारण यह सारे फूल, यह सारी-की सारी दारू-मदिरा, छाया-तले की यह सारी अँधियारी, 'झोला' किनारे की यह सारी आड़-ओट, सब अपूर्ण हैं।

दिउड़ू ढूँढ़ता हुआ भटकता रहा।

रीते-रीते से फाँकदार मन के पीछे एक और छवि है, एक फूली-फली हुई छवि। वहाँ उसका घर है, वहाँ पुयू है, पुबुली है, लेंजू है, हाकिला है; लेकिन मन की सारी प्रवणता, सारी भावनाएँ आगे की ओर, किसी अनजानी, अनचली राह की ओर उन्मुख हैं। वह अनचली राह बार-बार याद आती है। भुलाने की लाख कोशिश करने पर भी वह औचक में, अन-चेती अ-चौकस हालत में, रह-रह कर चिहुँक-चिहुँक उठती है। रोष बढ़ता है, पछतावा होता है, अनुताप होता है, लेकिन फिर भी वह अन-चली राह नहीं मानती। पुकारती ही जाती है। कंध अपनी वयस का हिसाब नहीं रखता। जाने कितने वर्ष बीत गए, छः बरस हो गए होंगे शायद, कि जब वह अनचली-अनचीन्ही राह का अनन्य बटोही था। होठों पर हँसी खेलती रहती थी, देह में प्रथम यौवन उमड़ता रहता था।

उन दिनों मन में न जाने कितने प्रकार की भावनाएँ थीं, न जाने कितने अरमान थे। सोचता था, संसार के सारे सुख भोगूँगा। सोचता था, किसी दायित्व के भार से अपने कंधे बोझल नहीं करूँगा। कितने ही दिनों तक जीवन यों ही हलके पंखों उड़ता रहा था। शक्तिशाली सरबू सांवता के कुल में बेटे के नाम पर वही एकलौता बेटा था। कोई यह नहीं कहता था कि अमुक काम करो, अमुक मत करो। कोई रोकता-टोकता नहीं था, कोई मना नहीं करता था। अपने हमजोली अन्य नौजवानों के साथ होड़ में वह कितनी ही बार जीता, कितनी ही बार हारा। अनचली-अन-चीन्ही राह की बटोहीगिरी में हार-जीत दोनों के मजे लेता रहा था वह।

आज वे मजे नहीं रहे। आज वह-सब कुछ भी न रहा। आज जैसे सब-कुछ धरा-धराया-सा, बँधा-बँधाया-सा है।

दारू और धाङड़ी की भावनाओं से अभिभूत होकर वह 'कंध-चाड़ियों' के फेरे लगाता रहा। इसी बीच न जाने कब और कैसे पुयू का ख्याल आकर उसके मन पर छा गया। इसे न तो वह जान सका और न रोक ही सका। मिङटिङ गाँव की बस्ती जंगली बस्ती है। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं वहाँ। दिउड़ सांवता गोत (पाहुने,पहुनाई करने) गया था।

वहाँ भी 'कंध-चाड़िये' हैं। एक पहाड़ी झरना दो धारों में बँटकर दोनों ओर बह रहा था। राह-बाट में ही जान-पहचान हुई। धाङड़ी कुछ इस तरह चली गई, मानो उसे कुछ पता ही न हो। दोनों आँखों में उज्ज्वल दमक भरकर हँस-हँस कर पुकारा—"आ-आ"। रात को नाच के समय परिचय गाढ़ा हुआ। 'कंध-चाड़िये' में गीतों और बाँसुरी की टेरों से उच्छल हो-होकर आँखमिचौनी के खेल खेले। इसी तरह फागुन के दिन थे वे भी। इसी तरह महुए के फूल झड़ रहे थे। इसी तरह "कंध-चाड़िये" से दारू की उत्कट गंध उठ रही थी।

उस दिन भी वह इसी तरह अनमना-अनमना-सा हुआ चल पड़ा था। अरहर का वन पार करके, रेंड़-वनी पार करके, और आगे निकल गया था। आगे एक बड़ा-सा 'कंध-चाड़िया' था। वहाँ सीधी धारावाले 'झोले' के उस किनारे डूँगर के ऊपर संतरे का बगीचा था। मुँह के पास ही गिरली के बेमौसमी फूल ठीक इसी तरह गुच्छ-के-गुच्छ फूले हुए थे। लाल-लाल सीधे-सीधे ऊँचे-ऊँचे गुच्छे थे उनके। दिउड़ू संतरे के कुंज की ओट में छिपने चला। रास्ते में एक जगह नीले-नीले फूलों का जंगल था। इन फूलों का कोई नाम नहीं होता। जंगली फूल हैं ये। पेड़ों के इस छोर से उस छोर तक ठसाठस लदे हुए थे। उसके बाद उजले-उजले फूलों के गुच्छों वाले जंगल थे। ये जंगल छोटे-छोटे टुकड़ों में इधर-उधर फैले हुए थे। तले की हरियावल के ऊपर बड़े सुहावने लग रहे थे। इसी तरह रह-रह कर सुगंधमय फूलों के जंगल भी आ जाते थे। पथरीली जगह है वहाँ की। संतरे का कुंज भी पार कर गया। 'कंध चाड़िये' में किसी की खुली बाड़ी थी। धुँधले-धुँधले प्रकाशवाले उस घोर जंगल के बीच सीधी सटीक पगडंडी निकल गई थी। उसे देखकर अनुमान होता था कि आगे चल कर पास में ही कोई खेतवाही-घर है। उस दिन की वह छवि, वह दृश्यावली, सारी-की-सारी आज भी जैसी-की-तैसी दिख रही है। मन कुछ भी सोचना नहीं चाहता, कुछ भी पहचानना नहीं चाहता। मन कुछ भी करने से रोकना नहीं चाहता। मन चाहता है कि सब-कुछ समेट-बटोर

ले। मन मान करना चाहता है, आदर पाना चाहता है। होश धीरे-धीरे खो चला है, सुध धीरे-धीरे सो पड़ी है, चैन पड़ चली है धीरे-धीरे। वह कल-चालित की तरह चला जा रहा है। कुछ पता नहीं, यह मिङटिङ है या म्ण्यापायु। कुछ पता नहीं, यह छः बरस पहले का दिन है, या उसके छः बरस बाद आज का। कुछ पता नहीं, उस पुरानी छवि में क्या-क्या अनुभूतियाँ रूप ले रही हैं। कौन जाने! कौन पूछे और किससे पूछे?

खेत की रखवाली करने के लिए बनी हुई झोंपड़ी के पास से गुज़रते समय झोंपड़ी के अन्दर से किसी के गुनगुन-गुनगुन गाने की आवाज़ सुनाई पड़ी। यह भी मानो पहले से ही मालूम था। एक झोंपड़ी की ओलती के पास एक ढक्कनदार हाँड़ी छींके से झूल रही थी। ठीक पहले की ही तरह। दिउड़ ने ढक्कन खोल कर देखा। खोलते ही उसके मुँह के ऊपर एक विकट-विचित्र छवि खेल गई। हाँड़ी में दारू थी। थोड़ी-सी दारू पीकर देह गरमा ली और उस झोंपड़ी की ओर धीरे-धीरे चल पड़ा, जिससे गीत की गुनगुनाहट आ रही थी। दोनों ओर केले के बाग लगे हैं। झींगुरों ने झीं-झीं-झीं-झीं की एकतान और अछोर टेर पकड़ ली। अब उस खेतवाही झोंपड़ी की धीमी-धीमी, दबी-दबी गुनगुनाहट जंगली मैंने के ढलती रात के गीत की तरह सुन्दर लगने लगी। बाईं ओर गहरे 'झोले' में पानी का छल-छल-छलछल स्वर सुनाई पड़ रहा है। चारों ओर निस्तब्ध नीरवता है।

झोंपड़ी का मुँह खुला हुआ था। भीतर एक ही टाँग पसारे बैठी एक धाङड़ी बिलकुल अकेली थी। कमर के पास खुले आँचल में फूल भरे थी। आँचल का दूसरा छोर पसार कर उस पर बहुत सारे फूल उँडेल रखे थे और बड़े ही अलस-अलस भाव से उनमें से एक-एक फूल धीरे-धीरे उठा-उठा कर माला गूँथ रही थी। साथ ही अन्यमनस्क भाव से कुछ गाती भी चल रही थी।

यह सारा-कुछ, यह सारी छवि ठीक उस दिन जैसी ही है। दिउड़ दनदनाता हुआ भीतर पैठ गया। अत्यन्त उल्लसित होकर वह चिल्ला पड़ा— "हादिगो" (वाह-वाह! ठीक-ठीक!)।

धाऊड़ी चौंक पड़ी। बावली-सी चितवन से उसे निहार कर और आँचल के फूल वहीं बिखेर कर वह झोंपड़ी के अन्दर से ही छलाँगें भरती छूमंतर हो गई। पलक मारते ही सारा खेल खतम हो गया। पीछे की छवि पीछे को भाग चली। अरे, यह तो उस दिन के मिड्डटिङ गाँव की उस दिनवाली पुयू नहीं ! यह तो म्यापायु के 'कंध-चाड़िये' में बैठी पुल्में थी, पुबुली की सहेली ! वह दिन तो बहुत पहले जा चुका है। पुरानी यादों के पीछे-पीछे आदमी पेड़-पौधों को पहचानता हुआ आधेक राह यों ही चला चलता है, सपने में चलता हुआ-सा। फिर कहीं ठेस लगती है, आदमी गिरकर चित-पट होने लगता है, और तब कहीं सुध लौटती है, होश आता है।

दिउड़् थमककर, थहराकर, वहीं बैठ रहा। झोंपड़ी के अन्दर एक-दम सन्नाटा छा रहा था।

पुयू नहीं, यह तो पुल्में थी !......हुआ क्या ? पुयू को खोजते-खोजते वह इतनी दूर कैसे चला आया ?....और आ ही गया तो क्या हुआ ? पुल्में भाग क्यों गई ? दो पल निराले में रुक रहती तो क्या होता, दिउड़् को कुढ़न महसूस होने लगी। जी चिड़चिड़ा उठा।

दारू का नशा चढ़ता ही गया। सिर चकराने लगा। बाहर धूप बड़ी कड़ी थी। दुपहरी चिलचिला रही थी। दिउड़ नंगी चट्टान पर ही लंबी तानकर सो गया। बिखरे पड़े फूल नंगी देह में लग रहे थे, जिससे देह सिहर-सिहर उठती थी। दिउड़् ने हाथों-पैरों से रौंद-रौंद कर, घिस-घिस कर, उन्हें परे टाल दिया। बेकार का कूड़ा-करकट, हुंः !

दिउड़् गाढ़ी नींद में पड़ा रहा।

बाईस

डुंबागुड़ा हाट का दिन था। पुबुली ने आकर कहा—"चलना नहीं पुयू? सभी जा रहे हैं!"

"इतनी दूर?"

"अरे दूर क्या, पुयू? लोग सुबह निकलते हैं, दुपहर को पहुँच लेते हैं और फिर साँझ तक लौट आते हैं। थकन लगेगी, तो रात को उधर ही रह जायेंगे। क्या कहती हो?"

पुयू हँसी। कहा—"रास्ते में बंदिकार पड़ता है। कितना अच्छा नाम है उस गाँव का। है न री पुबुली?" बंदिकार का नाम ले-लेके पुयू पुबुली को चिढ़ाती है। बंदिकार गाँव में हारगुणा साँवता का घर है।

पुबुली होंठ काटने लगी। कहा—"सिर्फ़ बंदिकार ही क्यों? और कोई भला गाँव नहीं पड़ता रास्ते में?...अ-अ, आ, तेरा सिर खुजला दूँ। चल, आज चलें डुंबागुड़ा। सभी जा रहे हैं। भैया भी जा रहे हैं। तू नहीं जायगी?"

पुयू ने अब और कोई ठिठोली नहीं की। उसके मुँह का पानी सूख गया। हाँ, कंध देश में चलन तो यही है कि कोई हाट-बाट जाय या किसी और गाँव को घूमने-टहलने जाय, तो उसके पीछे-पीछे उसकी पत्नी भी जाती है। व्याहता स्त्री अपने पति की परछाईं होती है। लेकिन उसकी दशा तो न्यारी है। पत्नीत्व का आदर-मान और सुहाग की साधें उसे जो मिलनी थीं, सब मिल चुकी हैं शायद; और अब वह दौर शायद सचमुच ही समाप्त हो चुका है। दिउड़ू के साथ वह हाट जाय, तो क्या दिउड़ू इस बात को सहन कर लेगा?

पुबुली उसे निहारने लगी। उसका ध्यान तोड़कर पूछा, "रो क्यों रही है पुयू? क्या हुआ है तुझे?"

"रोती हूँ? हाँ, यह सोच-सोचकर रो रही हूँ कि तू डुंबागुड़ा जायगी।

जानती है, तू ठहरी अभी बच्ची, और डुंबागुड़ा कोई ऐसी-वैसी मामूली जगह तो है नहीं ! क्योंकि देख न, कितनी दूर है ? उतनी ही दूर है, जितनी दूर कळाहाँड़ी है। रस्ते में न जाने कितने जंगल हैं, कितने पहाड़ हैं, कितने नदी-नाले हैं। अकेली बोड़गाड़ नदी ही ऐसी है, जिसे बीसियों जगह पार करना पड़ता है। और पुबुली, इतने पर ही बस होता, तो भी कोई बात थी, तू है धाङड़ी लड़की, क्वाँरी युवती। कौन जाने, रास्ते में शायद कोई तुझे फुसलाकर ले उड़ा तो........" ।

भावज के मुँह को उलटी हथेली से मूँदकर पुबुली ने कहा—"रहने दे, रहने दे। जान गई मैं। क्या हुआ है तुझे, कुछ कहेगी भी ?"

"कहूँगी।"....पुयू ने भारी आवाज से हँस दिया। उसकी दुर्बल देह मानों टूक-टूक होकर फट जाना चाहती है, बिखर जाना चाहती है। फिर भी वह खूब जोर से हँसी। कहा—" नहीं हुआ कुछ तो तुझे ही नहीं हुआ है। मुझे क्या हुआ है सो तू जानती नहीं है ? अरी, मुझे (मेरे) बेटा हुआ है, बेटा !"

पुबुली कुछ देर तक पुयू के चेहरे को और उसकी देह के अंग-अंग को टुकुर-टुकुर निहारती रही। मानो वह अपनी भावज को आज नए सिरे से, नए रूप में देख रही हो, मानो आज उसे पहली बार ही देख रही हो ! बड़ी देर तक यों ही चुपचाप ताकती रही उसकी ओर। उसके अपने भी चेहरे पर उदासी उतर आई—"सच पुयू, सच-सच बता, ऐसी हीन-बल कब हो रही तू, इस तरह सूख-साख कर बँदरिया जैसी कब हो गई ? दिनों-दिन सूखती ही जा रही है। क्या रोग लग गया है तुझे ? ते ी हँसी खुशी क्या हुई ? तेरी बोल-बतरान कहाँ गई ? तेरा घूमना-फिरना किधर गया ? अब तू न तो गाती है, न कोई शौक करती है। सिर के बालों में जटाएँ पड़-पड़ गयी हैं। क्या हुआ है, बताती क्यों नहीं ? बता न, डिसारी को पूछकर, दवा करने........"

बात फेरकर पुयू ने कहा—"सचमुच डुंबागुड़ा जायगी ? कौन-कौन जा रहे हैं ? "

"गाँव के लगभग आधे लोग। आजकल की हाट छोड़ता कौन है भला? जिनिस (अनाज) हुई है। सो क्या सँजो-मँजोकर सड़ाई जायगी? कुछेक जने इस फेरे में निकले हैं कि कहीं से धुँगिया लायँगे। "खदि-पटा"[1] फट चला है, चैत आ रहा है, न जाने किन-किन चीज़ों की, न जाने कितनी ही चीज़ों की जरूरत है। अब तो रास्ता भी पहले जैसा कोई अगम-दुर्गम नहीं है। और, घर में बैठी रहने से होना क्या है?"

पुयू ने ज़रा देर सोचा। पुबुली का इतना प्रबल आग्रह वह टालना नहीं चाहती। बोली—"अच्छा तो फिर, जा।"

"और तू?"

"मैं?"—पुयू ने अत्यन्त करुण भाव से ननँद को देखा—"अरी, तुम लोग तो लड़कियाँ हो, क्वाँरी युवतियाँ। दौड़ी-दौड़ी चलने के लिए। छलाँगती, फाँदती और रेंगती-राँगती चलने के लिए, तुम्हारे पास डोमनियों[2] जैसा बल है। अब मैं क्या पहले जैसी हूँ कि तुम्हारा साथ निभा सकूँगी? कहीं जाना होता है, तो रो-धोके कूँथ-काँख के, किसी तरह राह पार लगा पाती हूँ। इस बच्चे की भी बात तो सोच देख ज़रा। चित-लेटुआ[3] बच्चा है और दूर की राह है। ना, मैं नहीं जा सकूँगी।"

"बच्चे को मैं गोद लिए चलूँगी। तूने क्या सोच रखा है कि बच्चा सिर्फ़ तेरे ही है? कितनी बहुएँ बच्चे ले के जा रही हैं, तू भी क्यों नहीं चलती?"

"ना-ना, सोना मेरी, बरजोरी न कर मुझसे, दया कर। समझी पुबुली? इधर कुछ दिनों से अधिक खटने पर मेरे हाथ-पैर झिनझिनाने लगते हैं। पता नहीं, धूप बढ़ रही है इसलिए, या कि और कोई बात है। उठान की चढ़ाई चढ़ने पर सिर चकराने लगता है और छाती-तले कुछ ऐसा सुन्न-सुन्न सा लगता है, मानो मूर्च्छा आ रही हो।"

---

१ खरुए या मोटिए की छोटी साड़ी।

२ मूल : डंबँऽ स्त्रियों।

३ इतना नाज़ुक और कमसिन कि जो पट या करवट लिटाया न जा सके।

"फिर मुझसे छिपा क्यों रही थी तू कि तुझे क्या हुआ है ? भैया को कहूँ ?"

"भैया तेरा कोई मेरे भीतर पैठा है कि जान लेगा तो चंगा कर देगा ? अरी, यह सब कुछ नहीं है। इस बच्चे का जनम जो हुआ है न, उसी से ऐसा होता है। इतना मुँह मत चिढ़ा री बहना मेरी। इतना मत लजवा। रह गई तू बच्ची-की-बच्ची ही। लगता है, अभी हुए ही कितने दिन हैं। कुछ दिन और बाद आप ही आप चंगी हो जाऊँगी। तू जायगी तो जा। मेरे लिए गंडा-भर (चार) खाजे खरीद लाना। वहाँ समझ-बूझकर होशियारी से चलना। जंगल की राह है, घाटी-डूंगर हैं, 'डिक्रा' (टेकरियाँ) हैं। देख-सुनकर, समझ-बूझकर जाना। बीच में चलना, बहादुरी दिखलाने को दल से फूटकर अकेली मत पड़ जाना। एक बंदिकार घाटी ही ऐसी है, जिसे लाँघना तेरे लिए टेढ़ी खीर साबित होगा। तू समझेगी तो ?.... कि नहीं री ?"

पुबुली हँसी।

हाट घूमना कंव-देश के युवक-युवतियों का कोई काम नहीं होता। वह तो एक बहाना होता है, एक सुयोग होता है। अछोर-विस्तारी सुनसान राहों में कितने नए-पुरानों से जान-पहचान होती है, चीन्हा-चीन्ही होती है। हाट में 'दसो-राज्यों' के लोगों से [1] भेंट-मुलाकात हो जाती है। वहाँ 'लेन-देन' चलती है। धाङड़े मूढ़ी (मुरमुरे), गुड़, खाजे, उबले कंद-मूल, काच के रंग-बिरंगे मनकों के हार, पीतल की अँगूठियाँ आदि खरीद देते हैं। धाङड़ियाँ धुंगिया, बीड़ियाँ, पौंडे गन्ने आदि खरीद देती हैं। इसी लेन-देन के वातावरण में, हाट की चमक-दमक के बीच दिलों का आपसी खिंचाव शुरू हो जाता है। हाट-हाट नहीं, एक समारोह होता है, एक महोत्सव होता है।

कोई काम नहीं रहता, कोई खरीद-बिक्री करनी नहीं होती। बहुत हुआ, तो कोई दो पैसे के लोन (नमक) के लिए ही चला जा रहा है और

---

१ सभी वन-जातियों के लोगों से।

कोई बेचने के लिए अँजुली-भर लाल मिर्च ही ले चला है, लेकिन फिर भी दस-दस कोस, पंदरह-पंदरह कोस चौतरफ़ी के लोग चोंटों-पीपड़ों की तरह पाँतें लगाए हाट की ओर बढ़ते रहते हैं। सारे-के-सारे रास्ते रंगों से रंगारंग और गीतों से गुंजायमान रहते हैं।

पुयू का इशारा पुबुली समझ गई थी। डुंबागुड़ा जाते समय बंदिकार घाटी रास्ते में ही पड़ती है। हाँ, बंदिकार में हारगुणा सांवता है, धाङडा है अभी। पहले हारगुणा बराबर आया करता था। गाँव के लोग यह मान बैठे थे कि पुबुली को लेके हारगुणा अपनी गिरस्ती बसाएगा, कि दोनों गाँव के दोनों साँवता आपस में नाता जोड़ लेंगे।

हँस-हँसकर पुबुली ने कहा, "इसीलिए तो तुझ से कह रही थी संग-संग चलने को। तू चल, राह बताती चलना। घर बैठी-बैठी सिर्फ़ कह देने से क्या होगा? तू चलती तो..."

"मैं जाऊँ, तब तो तेरे पैरों छाँद पड़ जायगी री। खामखा, मुफ्त में सिर्फ़ गालियाँ सुननी पड़ेंगी तुझ से। तू जा।" पुयू ने हलकी-सी सूखी हँसी-हँस दी। मुँह भी उसका सूखा-सूखा ही रहा। पुबुली की छाती पर छुरी-सी चल गई। हार मान कर तय यही पाया कि वह जायगी। वह उठकर सजने-धजने चली गई। अकेली पुयू न जाने क्या-क्या सोचेगी। लेकिन खैर, अब तो जाना ही है। पुयू से रूठने की कोशिश में उसने अपने मन को कुछ दंभ दिया—पुयू नहीं जाती तो न जाय, मेरी बला से!

पुयू अकेली बैठी बच्चे को दूध पिलाती रही। उस घर से पुबुली के गुनगुन-गुनगुन गीत गाने की आहट सुनाई पड़ रही थी।

पुबुली वह गीत गुनगुना रही थी, जो दो दल मिलने पर सवाल-जवाब के रूप में एक-दूसरे को सुनाते हैं। छोटी-सी आरसी के आगे खड़ी वह तेल-हल्दी की उबटन से चुपड़े हाथ तेजी से गालों और गरदन पर मले जा रही होगी। रेंड़ का तेल लगाकर बाल सँवार रही होगी, आईने में अपना मुँह निरख-निरख कर देख रही होगी, अपना मुँह देख-देखकर हँस रही होगी, मुद्राएँ-भंगिमाएँ बना रही होगी।

पुपू को कोई ईर्ष्या नहीं हुई, बल्कि दया आई पुबुली के ऊपर। जाती है तो जाय। 'योग' उसका नहीं मिला होगा, इसीलिए वह इतने दिनों तक 'बैठी' रही है। और तब तक पुपू 'सासुरे खटती' रही है।

न बाप रहे, न माँ रहीं, न जाने कितने दुःख, कितने कष्ट उसके भाग्य में बदे रहे हैं। और भी कितने दुःख-कष्ट अभी भुगतने हैं, कौन जाने ? बाप के मरने के बाद कितनी विरस हो पड़ी थी। लगभग टूट ही गयी थी। कितने दिनों तक दिन-रात मुँह सुखाए बैठी रही थी। आज अगर फागुन की हवा लगने से उसका मन डोर-साँकलें तोड़ने को हो रहा है, तो यह अच्छी ही बात है। कोई क्यों रोके-टोके उसे ? पुपू पुबुली की बात ही सोच रही थी। हाँ, उसमें परिवर्तन आ गया है। उसकी चाल में, उसकी चितवन में, उसकी बातों में, परिवर्तन आ गया है।

कोई बस गया है उसके मन में। कौन ? हारगुणा तो नहीं ? मिङटिङ गाँव का कोई तो नहीं ? फिर और कौन ?

बस इतना ही तो धाङड़ी का रहस्य होता है।

पुपू खूब समझती है कि यही इतनी-सी बात है, जिसे खोलने से नारी के मन को बड़ा ही कष्ट होता है। उसके आनंद का तीन-चौथाई भाग तो इसी आश्वासन से निहित होता है कि 'वह बात' कोई और नहीं जानता।

जो भी हो, अब तो पुबुली जायगी ही। अपनी राजी-खुशी से अपनी मरजी से जायगी। लेकिन उसके बाद ?

सोचो तो मन सूख जाता है। वह भी जायगी। उसका रंग-ढंग ही बता रहा है कि वह जायगी। सभी गईं, रहना किसे है ?

बच्चा दूध पी रहा है। सोचने का समय नहीं है। दूध पी रहा है और एक आँख से माँ का मुँह भी निहार रहा है। सूखे हाथों से बच्चे को चिपकाए पुपू बैठी रही।

आज जल्दी करने की कोई जरूरत नहीं है। जिनके लिए जल्दी करनी होती है, वे तो आज हाट जा रहे हैं। पूरे दिन भर के लिए आज छुट्टी है उसे। डुंबागुड़ा हाट जाने वालों के आज ही लौट आने की कोई आशा नहीं

है। कारण, स्त्रियाँ भी साथ जा रही हैं। काम-काज नहीं है, इसीलिए आज सारे अवसाद घिर आए हैं और पूरे अस्तित्व को झकझोरे डाल रहे हैं। न जाने कितनी-कितनी बातें एक-एक करके सोचनी पड़ रही हैं। एक ओर यह बच्चा है और दूसरी ओर अपने सारे हानि-लाभ हैं।

पुबुली सज-धजकर निकली। अपने लिए और अपने भाई के लिए खाने-पीने की पाथेय वस्तुओं की पोटली बाँधी। एक बार दिउड़ू भी कुछ देर के लिए घर के भीतर आया और अपनी ज़रूरत की चीज़ें उठा ले गया। पुयू सोच रही थी कि वह एक बार और जरूर आयगा। उसका दिउड़ू पता नहीं कैसे थोड़ा बिगड़ गया है। बच्चे का मुँह देखकर कभी-कभी यह आशा होती है कि दिउड़ू पछताएगा, अनुताप करेगा। घर किया था, कोई खेल नहीं किया था। और वह गिरस्ती इतने दिनों के मनमुटाव के बावजूद अभी समाप्त नहीं हुई है। आदत के अनुसार आज भी वह निश्चय ही आकर पूछेगा "आज क्या-क्या आएगा? तेरे लिए किन-किन चीजों की दरकार है?"

आज हाट का दिन है, उसमें सलाह लिए बिना दिउड़ू जायगा भी तो किसलिए जायगा? वह ठहरी घर की लक्ष्मी। मरद-बच्चे तो कमा-धमाकर ला देते हैं, घर चलाती है तो आखिर वही! ज़रूर पूछने आयगा दिउड़ू। वह सोच रही थी कि वह कहेगी क्या। जी में हो रहा था कि खिंचाव की बात साफ़ कह डाले। — "आज कल तुझे क्या हो गया है? सिर तो नहीं फिर गया? घर-गिरस्ती की बात बूझना-सूझना तो दूर रहा, घर में रहना भी मानो काटने दौड़ता हो, घर की छाया भी नहीं छू पाती। इतने दिन हो गए, बात को मुँह तक नहीं खोला। जब देखो तब सिर्फ़ गुर्र-गुर्र फ़ों-फ़ों! क्यों किसलिए? अपराध क्या है मेरा? देख बाबा, अपमान-अनादर और हेला-अवहेलना में पड़ी रहने के लिए कंध-समाज की डोकी (स्त्री) कोई पट्टा नहीं लिखे होती है। यह सूँड़ी या पाइक का घर तो नहीं कि पति के जो जी में आए करे, अपने पीछे और भी सत्तर लौंडियाँ ही चाहे क्यों न लगा ले, फिर भी चुपचाप मुँह ढाँपे पड़ी रहना पड़ेगा?

और आज-कल के ज़माने में तो सूँड़ी या पाइक के घर में भी इतना कौन सहती है ? हमारा घर तो कंव-घर है कंध-घर। हमारे कंव-घर की गिरस्ती मन के मिलने से चलती है। मन मिलना ही हमारे ब्याह की नींव होता है। मन न मिले, तो एक ही बोल काफ़ी होता है 'नानु कुइनि।' (मैं नाहीं करती हूँ, मेरी इच्छा नहीं है।)"

"ठीक है, और क्या होगा, ब्याह टूट जायगा, बस ! अगर किसी कारण से तुम्हारी इच्छा नहीं है, तो साफ़ कह दो कि क्यों, और मैं अलग हो जाऊँगी। इसी तरह कितने माह बीत गए, कुछ हिसाब भी किया है ! आखिर औरत का मन ही तो है मेरा भी ? या कि तेरे जानते मैं कोई पत्थर हूँ ?"

मन-ही-मन पति के साथ मान-मनौवल करते-करते आखिर आँखों से आँसू झरने लगे। बाहर से दिउड़ू की आवाज़ सुनाई दे रही थी—"अरी, जल्दी कर !" उसकी रूखी-कड़ी बात सुनकर पुयू का सपना टूट गया। वह जी कड़ा करके, अपने को काठ की तरह निश्चेष्ट बनाकर बैठी रही, बाट जोहती रही। तुरुंजा डंबें'ऽ और लेंजू आए। तीन बहँगी अलसी बाहर गई। खाने-पीने के सामान की पोटली सिर पर डाल कर पुबुली तैयार हुई। औरतों का एक बहुत बड़ा सा झुंड सिरों पर पोटलियाँ डाले आ पहुँचा। "ऐं, कौन हाट जायगी री ? पुबुली ? निकल, निकल !"

ज़रा-सा हँसकर पुबुली ने विदा माँगी—"जाती हूँ"—पुयू ने कहा, "जा।"

तेईस

पुयू चुपचाप ताकती रही, बस। गाँव के आधे लोग जमा हुए और सौदा-सुलुफ लिए बातें करते हुए डुंबागुड़ा हाट को चल पड़े। दिउड़ू गया, लेंगू गया। दिउड़ू इतना कहने के लिए भी जरा इधर नहीं आया कि अच्छा जाता हूँ।

वैसे ही रीता-रीता मन लिए वहीं-की-वहीं बैठी रही पुयू। तिल-भर भी इधर-उधर नहीं टसकी। सोचा—जान पड़ता है कि उसके और दिउड़ू के बीच यही अंतिम बार है। रुलाई आ रही थी, लेकिन रोक ली उसने। बाहर कोई सांत्वना तो है नहीं कि रोए वह! मरुभूमि की तपती रेत पर आँसू डालने का जी नहीं होता।

अपना कोई दोष उसे नहीं दिखा। सारा दोष दिउड़ू का ही है। वह बदल गया है। सोचा, आदमी ऐसा ही होता है। उस का सारा स्नेह चार-दिना की चाँदनी होता है। वह आप-ही-आप कुछ बकती-झकती आकर इस घर क पानी 'डंबेऽ कर' पीने [1] नहीं लग गई थी। न जाने कितनी दौड़ धूप की थी दिउड़ू ने। न जाने कितने फुसलौवल किये थे, कितने दिलासे दिये थे। सदा ऐसा ही स्नेह बनाए रखूँगा! तू फूल की तरह सिर्फ़ हँसा करेगी! तू पुयू (फूल) है! कड़े काम जितने हैं, वे मेरे बाँटे रहेंगे, तेरे बाँटे रहेगा केवल हँसना, केवल हँसना! आएगी नहीं तू? "अगर नाहीं कर दी तू ने तो मैं रिस-रिस कर मर जाऊँगा। क्या होगा इस विफल जीवन को लेकर?"

उसने विश्वास कर लिया था।

दिउड़ू ने उसका विश्वास नहीं रखा।

दसरू कुत्ता आकर पास में खड़ा हो गया। कें-कें करने लगा, पूँछ पीटने लगा। वह कह देना चाह रहा था कि उसे भूख लगी है। हठात् पुयू कोमल हो उठी। उसे साँवता याद आ गया। साँवता होता तो आज वह फ़रियाद

---

१ डालकर पीने नहीं लगी थी, अर्थात् ब्याह की पहल उसने नहीं की थी।

कर रही होती। आज फ़रियाद सुननेवाला भी कोई नहीं।

लंबी उसाँस भरकर, विकल होकर, पुयू ताकती रही। हाकिना सो गया। धूप बढ़ आई । सूनापन भाँय-भाँय लग रहा था। दसरू का सिर अपने बदन से चिपका कर पूछा।"भूख लग गई है क्या रे ? ठहर, देती हूँ खाने को।"

तब तक जामिरी कंध की बुढ़िया पाखवाले घर के दरवाज़े पर नहाने का पानी रख गई । बूढ़ा जामिरी कंध नहाने आ बैठा। जामिरी कंध का नहाना भी पूरे घंटे भर का होता है। रोज़ ठीक इसी समय दोनों बूढ़ा-बूढ़ी वहाँ आ बैठते हैं। बूढ़ी बूढ़े को नहला देती है। जामिरी की बूढ़ी ने लौकी की तुंबी में पानी लेकर बूढ़े के ऊपर उँड़ेला और मल-मल कर उसे धो-पोंछ दिया, सँवार दिया। रोज़ की तरह बूढ़ा स्वस्ति की मुद्रा में मुँह चमकाता नन्हे बच्चे की तरह बैठा रहा। बूढ़ी का लाड़-प्यार और सहलाना-बहलाना सहता रहा।

कंध देश में पति को नहलाना पत्नी का अधिकार और अभ्यास दोनों ही होता है। चाहे कोई कितनी भी हँसी क्यों न उड़ाए, लेकिन कंध देश के दाम्पत्य जीवन का इतना ज़रा-सा यह स्वाँग बहुत ही पुराना शिष्टाचार है। पुयू यह दृश्य सुखी आँखों देखती रही। बुढ़िया बूढ़े को कितने धीमे-धीमे, कितने लाघव से, कितने जतन के साथ मलती है। धीरे-धीरे रगड़-रगड़ कर उसके बदन का सारा मैल छुड़ा डालती है । जामिरी कंध ने नहाना-धोना खतम कर लिया, तो बुढ़िया ने अच्छी तरह से पोंछ दिया उसका सारा बदन। जामिरी कंध कोई लाचार अपंग नहीं है, अच्छा-खासा तंदुरुस्त और पक्की मज़बूत काठी का बूढ़ा है।

बाल-बच्चे पैदा हुए, बढ़े, अपनी-अपनी अलग-अलग घर-गिरस्ती की, लेकिन बूढ़ा-बूढ़ी तब से अब तक ज्यों-के-त्यों एक-दूसरे को प्यार और आदर करते चले आ रहे हैं।

पुयू ने पुकारा—"हेऽ दादी, इधर आ।"

"क्या ? गयी नहीं री, हाट नहीं गई ? हाँ, लड़कीर ठहरी, जाती भी

कैसे ? अरी, तो निश्चिन्त बैठी है। खाना-पीना हो-हवा गया ?"

"आज पकाना नहीं है। जी अच्छा नहीं है।"

'तो उपवास रहेगी क्या ? यह क्या ऍंडी-बैंडी बात—"

"नहीं सच।"

"छिः! छिः ! यह भी कोई बात हुई। आ, मेरे संग आ। कुछ खा ले चार कौर। नहीं खायगी तो दूध सूख जायगा। फिर यह बच्चा क्या खायगा ?"

"अच्छा नहीं लग रहा, दादी। खाने का जी नहीं हो रहा।"

"रहने दे, रहने दे। आ इधर। आ, आ—" कहते-कहते बूढ़ी घसीट ले गई। मन-ही-मन अपने स्वतंत्र मतामत गाती रही : "हुँ :, देखो तो भला आजकल के बच्चों के रंग-ढंग ।—हुँः, मैं जानती हूँ री, सब जानती हूँ ! आ, आ।"

बूढ़ा राह ताकता बैठा होगा। जब तक बूढ़ी नहीं जायगी तब तक मुँह में ग्रास नहीं डालेगा। बस, स्नेह ही तो सब-कुछ है। प्रेम के ब्याह को बंधन जहाँ तक सहन होता है, होता है, जहाँ नहीं होता, वहाँ टूट जाता है। और जहाँ नहीं टूटता, बना रहता है, वहाँ रूखापन आ जाता है, वज्र की-सी कठोरता आ जाती है, जो अंत-अंत तक बनी रहती है, अंत-अंत तक खिंचाव-दुराव बना रहता है।

चौबीस

हाट की बाट है। कंधे पर बँहगी के बोझ हैं। पैर तड़ातड़ उठते चलते हैं। झटपट-झटपट। राह में गड्ढे पड़े, खाई-खात पड़े, डूह पड़े, डूँगर पड़े, पड़ते रहे। कँकरीली राह है। जहाँ-तहाँ पत्थरों के ढेर-के-ढेर पड़े हैं। पैर सब- कुछ छलाँगते उड़े जा रहे हैं। रेतीली राह है, मरी नदी की चिता-राख गरम बालू है। चलनेवालों के कदमों से उड़ी जाती है।

लोग चले जा रहे हैं।

पुरुषों ने कमर में पतली-पतली कौपीनें पहन रखी हैं। मैली-कुचैली चिक्कट कौपीनें। बाकी सारी देह नंगी। उनकी काली-कलौंही-सी देहों की एक-एक पेशी चमक रही है। पसीने से लथपथ हैं वे। कंधों पर टाँगिया कुल्हाड़ियाँ पड़ी हैं, हाथों में लग्गों जैसी लाठियाँ हैं, जिनमें बरछों के फल लगे हैं। पुरुष बोझ से लदे-फँदे जा रहे हैं।

न जाने पहाड़ की किन-किन घाटियों, कंदराओं और खातों-खड्डों के भीतर से सीधी-सीधी पगडंडियाँ निकली चली आई हैं। पगडंडियों का जाल-सा बुन गया है। राहें नहीं दीखतीं। दीखती हैं सिर्फ लोगों की पाँतें, पाँतों पर पाँतें। लोग एक के पीछे दूसरे हो लेते हैं और पाँतें आप-ही-आप बन जाती हैं। घुटनों तक के भाग नीचे की पीरी-घास और लता-बेलियों के जंगल में छिपे हुए हैं। टटोल-टटोल कर चलना पड़ रहा है। अलग-अलग टोलों-बस्तियों की अलग-अलग धारें टेढ़ी-मेढ़ी उतरती चली आ रही हैं, मानो स्वर्ग से उतर कर पाताल की ओर तल-पर-तल पार करती उतरती चली जा रही हों।

छोटे बच्चे टोकरियों में बैठे, बँहगियों से लटके हुए, ढोए जा रहे हैं। सिरों के ऊपर लौकियों की तुंबियाँ लटक रही हैं। बोकचे लटक रहे हैं, पोटलियाँ झूल रही हैं। और नीचे, टोकरी के अन्दर टुकुर-टुकुर ताकती हुई नन्ही-नन्ही टिमटिम करती आँखें हैं। उन्हें भी तो हाट देखन

का शौक है। देख-सुन कर ही तो वे समझेंगे-बूझेंगे, सीखेंगे।

स्त्रियाँ भी अनगिनत हैं। हाट-बाट में दोनों ही जगह राज्य उन्हीं का है। भाँति-भाँति के पहनावे पहन रखे हैं उन्होंने। वह जा रही है एक 'गदबा' युवती। बालों में उसके लाल फीते हैं। दोनों कानों में पीतल के खूब बड़े-बड़े-से कुंडल हैं, जो कंधों को छूते हैं। देह पर हाथ के बुने करड रेशम की लुगड़ी है, जो कसकर बँधी देह के साथ मिल कर एकाकार हो गई है। कमर के पास पिछौटे पर मोटे सूत की गेंडुली कपड़े को फुलाए रखती है। परजा लड़की या डंबँऽ लड़की या कंध लड़की, सभी के दो हाथ और दोनों पैर चारों खुले और खाली होते हैं। गदबा का गोरा हलदिया रंग अलग से ही दिखाई पड़ रहा है। 'परजुणी' (परजा जाति की स्त्री) के गठीले-गठीले हाथ-पैर इस छोर से उस छोर तक गोदनों से गुदे हुए हैं। हँसी-ठिठोलियों और रंगारंगी की दुनिया है यह। हाट की बाट जो ठहरी !

कुछ दूर आगे निकलने के बाद दिउड़ और लेंजू के बीच झगड़ा ठन गया। दिउड़ एक हलका-सा बोझ लिए था ; इसलिए मजे में गपशप करता हुआ आगे-आगे निकला जा रहा था। उसके वजनी बोझ कुछ तुरुंजा और कुछ लेंजू ढो रहे थे। लेंजू चलने में पिछड़-पिछड़ जाता था। तुरुंजा अपनी चंचल आँखें नचा-नचा कर सोच रहा था कि आह, हाट की राह में तो कितने प्रकार की हँसी-ठिठोलियाँ हो सकती थीं, कितने मौज-मजे हो सकते थे, कितने लोगों को छकाया जा सकता था, चिढ़ाया जा सकता था, नकलें उतार कर उल्लू बनाया जा सकता था, लेकिन कंधे पर इतना भारी बोझ लेकर वह सब करना संभव नहीं है। जी उदास-उदास लग रहा था। लड़कियाँ आगे-आगे बढ़ी जा रही थीं। मन की भड़ास निकालने की कोशिश में तुरुंजा ने लेंजू को ही चिढ़ा दिया। कहने लगा, "देखा,—साँवता कितना आगे-आगे निकल गया है ! तेरे जैसा तो नहीं है न ! साँवता है साँवता ! इसीलिए तुझे और मुझे भारी बोझ ढोना पड़ता है और उसका बोझ हलका है। बात भी ठीक ही है। साँवता मान में बड़ा होता है,

सबसे सब-घड़ी सब-कहीं बड़ा होता है! वह आगे-आगे नहीं चलेगा, तो और कौन चलेगा? वही तो हमारा सिर है, मुखिया है, सरदार है!"

तुरुंजा और भी न जाने कितना क्या-क्या बक गया होता, लेकिन लेंजू कंध इतने में ही क्रोध में आ गया। बोला—"चुप रह डम-पटकार[1]! कल का छोकरा दिउड़् क्या खाकर हमारा सर-सरदार होगा। सर नहीं—, धोखा देकर बदजात ने उठान की चढ़ाईवाली राह में मुझे इस टंटे में फँसा दिया है और यह उसकी तारीफों के पुल बाँध रहा है, ना :— "

तुरुंजा यही तो चाहता था। जो हो, मजे का तमाशा तो अब जरूर खड़ा होगा। बोला, "ऐसा क्या झूठ कह डाला है मैंने कि मेरे ऊपर इस तरह खिसिया रहा है तू? तू भी तो बँहगी ढो रहा है, मैं भी बँहगी ढो रहा हूँ। तू भी रैयत है, मैं भी रैयत हूँ। गाँव के साँवता तो हम नहीं हैं न? साँवता है वह। वह आगे-आगे जा रहा है, हमें पीछे-पीछे जाना है—! "

लेंजू झटपट पैर झटकारता आगे बढ़ गया और पुकारा—" अरे दिउड़, ठहर, ठहर। "

दिउड़् रुक गया। फिर दोनों के बीच बातों की वितंडा बढ़ चली। बोझे बदलने को उधर न तो दिउड़् ही तैयार हो रहा था और न इधर लेंजू ही बोझ बदले बिना माननेवाला बन्दा था। बीच राह में महा-रार मच गई। दिउड़् कह रहा था—"देखता हूँ कैसे नहीं ढोता है तू? क्या हुआ, हुआ क्या है? आधे रास्ते तू ढो ले चल, फिर बाकी आधे रास्ते मैं ढो लूँगा। लेंजू और भी खिसिया उठा। आखिरकार बँहगी नीचे पटककर बोला—"मुझ से ढोया नहीं जायगा। मैं तेरी तरह मूँछ-उठान जवान नहीं हूँ! यह रहा तेरा भार! रहने दे यहीं पर! "

दिउड़् झट नरमा आया। बोझ बदल लिए। लेकिन लेंजू फिर भी पिछड़ा का पिछड़ा ही रहने लगा। दिउड़् भारी बोझ लेकर भी वैसे ही आगे-आगे निकल चला।

---

१ डवेंऽ झूठा! (गाली है।)

बीच घाटी में आकर लेंजू अकेला ही बैठ रहा। धूप बड़ी कड़ी लग रही थी। देह से पसीना गड़-गड़ गड़-गड़ चू रहा था। बहुत ऊँचे पर आ गए हैं वे लोग। ऊपर पाँती-पाँती नुकीले पहाड़ों के पाँखुड़ों पर तलहिटयों में बस्तियाँ बसी हैं। बहुत दूर-दूर तक दिखाई पड़ता है यहाँ से। जगह-जगह पहाड़ों के सिलसिले हैं। बाकी सारा देश इतने ऊँचे पर से थाली की तरह समतल दिखाई पड़ता है। यहाँ लोगों की आँखें धुँआ-धुँआ, नीले धूप-धोए कुहरे से ही हार मानती हैं। निगाहें चाहें जहाँ तक जा सकती हैं।

ऊपर पहाड़ों की संधियों के ऊपर लोगों की बल खाती हुई पाँतियाँ एक ही सीध में तले-ऊपर होती बढ़ रही हैं। ऐसी कोई पाँच पाँतियाँ हैं। सब कुंडलाकार गोल-गोल चक्कर काटती हुई ऊपर बढ़ रही हैं। कहीं-कहीं जाकर पाँतों की यह कुंडली सीधी हो जाती है, तो कहीं ऊपर के नीले जंगलों में मिल कर अंतर्धान हो जाती है। भीषण गहन वन के भीतर से गुजरते जंगली रस्ते के बगल-बगल से गहरे अंध-घुप्प 'झोले' बह रहे हैं। उनकी तलपेटियाँ दिखाई नहीं देतीं, सिर्फ सूँ-सूँ-सूँसूँ आवाज सुनाई देती है। थकान के मारे लेंजू का सारा उत्साह हवा हो गया। राह की भटकी पवन का कोई झोंका कोमल किसलयों को थर-थर कँप-कँपा देता और इस कोने से उस कोने टहलता हुआ दो-दो बातें कर जाता। लेंजू ने अपना धुँगिया सुलगा लिया। मन की गहराइयों में विरक्ति की पृष्ठभूमि के ऊपर दुनिया-भर की उदास-उदास सी भावनाएँ आ पहुँचीं। लेंजू धुँगिया के कश लगाता अधलेटा-सा बैठा सोचने लगा—कोई नहीं, मेरा कोई नहीं है।—कोई मुझे खोजता-पूछता नहीं है! कल तक जो दिउड़ उसकी गोद में हुआ करता था, वही आज बाप के मरने के बाद से मन-ही-मन कोई भारी महापुरुष बन बैठा है!

लेंजू सोच रहा था कि ये लोग उसके कोई नहीं होते, कि यह घर उसका अपना घर नहीं है, कि यह काम उसका अपना काम नहीं बेगार,

है । सबको तो सब-कुछ है, केवल वही एक ऐसा है, जिसका कहीं कुछ नहीं।

झुंड-के-झुंड लोग चले जा रहे थे। लेंजू बैठा-का-बैठा ही रहा। लोगों की इस भीड़-भाड़ में गैर का बोझ ढोकर राह चलने को उसका मन जरा भी नहीं हो रहा था।

कुछ देर बाद—यह लो, यह तो सोनादेई ही है न ? उसके सँग-सँग बारिक भुरसा मुंडा आ रहा है। बारिक की काँवर (बँहगी) छोटी-सी है। सोनादेई के सिर पर एक पोटली है। हाट जा रहे हैं वे भी।

"पिछड़ गए हो साँवता—"

लेंजू उठा। हँसा। बोला, "बूढ़ा हो चला बारिक।"

"क्या ? तू ? बूढ़ा तू रे ? साँवता, क्या कहता है तू। अभी उसी दिन तो तुझे पीठ पर लादे घुमाता फिरता था मैं। इतना-सा हुआ करता था तू—! " सोनादेई ने हँस दिया। बारिक ने कहा—"हम सारे बैठे-के-बैठे ही रहे और तुम सारे मन-ही-मन बूढ़े भी हो चले ? "

साथ ही चल पड़े। बारिक उसे 'साँवता' कह कर पुकारता है। लेंजू बेतरह खुश हुआ। ऐसी छोटी-छोटी बातें चेतन मन के किसी मरम पर पहुँच कर बजने लगती हैं, अन्तर्मन के भीतर कोई बिजली सी कौंधा-कौंधा जाती हैं। चेतन मन में कोई रूप-छवि उभर आती है और अचेतन मन की गहराइयों में उसकी परछाइयाँ खेल जाती हैं।

"साँवता !—" कितनी खुशी की बात है ?! सच तो ! उन दिनों बड़ा भाई था। तब अकेला नहीं था मैं। हम दो थे। अपने उजले बालों में जटाएँ डालकर वह साँवता बन गया था। बड़ा अच्छा लगता था देखने में। खूब मानता भी था। और अब ? यह गू का लेंड़, आज का दिउड़ू साँवता कहलाएगा और वह आप सामान्य रैयत मात्र रहेगा ? बाहर से हाकिम आएँगे और साँवता को खोजेंगे तो वह सारे सवालों पर अपने मतामत दे लेगा, गाँव के भले-बुरे का जिम्मेदार होगा, सौ लोगों को सवार करके पथरीली नदी में डोंगी चला लेगा !

सांवता होने का अधिकार उसका है, दिउड़ू का नहीं।

प्रसंग उठाकर लेंजू ने ही बात शुरू की—"बूढ़ा तो चला गया। अपना गाँव किस तरह चल रहा है, देखता है न तू? लौंडों-छौंडों से कहीं कोई काम चला है? वह तो कहो कि उस जमाने का तू बच रहा है, जो सहारा है। नहीं तो लोग किस के भरोसे इस जंगल में पड़े रहते?"

"सत्त कहता है सांवता, सत्त कहता है तू। बूढ़े-पुरनिए ठीक इस बूढ़े बड़गद के जैसे होते हैं, कुछ करें-करें कि न करें, देखने भर से ही मन के भीतर साहस आ जाता है। एक बूढ़ा भी खड़ा रहे, तो सारा मामला ठीक-ठीक रहता है। क्या होगा? अब के लोग क्या इन बातों को समझते हैं? गाँव के लिए इतना क्या-कुछ किया! कितने गाँवों के लोग आए, निहोरे किए और कहा कि चल हमारे गाँव का बारिक हो रह। हल देंगे, बैल देंगे, खेत देंगे, जो माँगेगा तू वही देंगे, चल। नेच दिया, सांवता, नेच दिया[१]। कहा मैंने—यह भुँई नहीं छोड़ूँगा, यही मेरी अपनी भुँई है, इसी की माटी नोंच-नोंच कर पड़ा रहूँगा। क्या करूँ, बूढ़ा हो गया! इसी कारण अब कुछ पार नहीं लगता अपने से। और उधर बारहों प्रकार के अभाव अलग बढ़ चले हैं। खाद (भोजन) की अँटाई नहीं होती। दिउड़ू सांवता से टुकड़ा भर खेत माँगता फिर रहा हूँ। पता नहीं, देगा कि नहीं देगा। लड़के का लड़क-बुद्धि मन ही तो ठहरा!"

"लड़कों के मन का कोई ठीक नहीं बारिक। उन्हें अपने सिवाय और कोई नहीं सूझता।"

"दूसरों का दुख समझ सकने पर ही तो कोई दस जनों का सरदार होके गाँव चलाएगा? ये लौंडे-छौंडे क्या समझेंगे?"

एक बार सन्देह-भरी आँखों से उसकी ओर झाँककर बारिक ने कहा—"सत्त। सत्त।"

लेंजू ने कहा, "दारू का मतवाला कहीं का!"

बारिक ने हामी के अन्दाज में सिर हिला दिया।

---

१ नकार दिया, नाहीं कर दी।

बोझ हलका लगने लगा। धूप पसीना बन कर देह से बही जाती रही। पीछेवाले लोग धीरे-धीरे आगे हो-हो गए।-लेंजू ने कहा—"अपनी ब्याहता से मन नहीं मानता!" सोनादेई का कुतूहल बढ़ा। वह एकदम पास-पास लग आई। लेंजू ने कहा—"कितने दिन हो गए, साथ उठना-बैठना तक नहीं होता। न कोई खुशी न कोई साथ। घर की बात अब गैर को क्या बताऊँ?! लौंडियों-छौंडियों को देखते ही अधीर हो उठता है। अब पंचायत भी कराई जाय तो किससे?"

सोनादेई की उत्सुकता खूब बढ़ी जा रही है। हँसती-हँसती-सी आँखों से वह बारम्बार लेंजू का मुँह निहारने लगती थी। बारिक ने सोच-साच कर सिर्फ इतना ही कहा—"हुँ, हुँ:—हुँ।"

फिर कुछ देर और सोच लेने के बाद बारिक ने कहा—"तू किसलिए यों ही पड़ा है सांवता? तू सांवता क्यों नहीं हुआ? अमीन-रेबिणी[1] के पास दस जने आके फरियाद करते और अपनी आँखों सब-कुछ देख-समझ कर वे लोग फिर कुछ करते तो कितना सुन्दर हुआ होता! गाँव के भाग खुल गए होते। तेरे जैसा सांवता! मैं तो दिन-रात तेरे पैरों तले होता ही। क्या कहना है तेरा?"

लेंजू ने सिर्फ लंबी उसाँस भरी।

सोनादेई के सान्निध्य की चेतना अंगारे की तरह अंतर को उबाल रही थी। बाढ़की नदी का फूला हुआ ज्वार और उसके ऊपर बहा जा रहा अंगारे का ढेर।

"क्या कहता है तू? सदा सब दिन इसी तरह उड़ता ही चलेगा? सूखे पत्ते की तरह? तू मुँह से एक बार यह बात कह तो डाल। सुनते ही मैं जतन में लग पड़ूँगा। कोई कठिन काम नहीं है यह। अमीन-रेबिणी[1] को खुश कर देने से जो चाहो वही हासिल कर लो! हाँ, अब तो आने ही वाले हैं, लगान वसूल करने के लिए। कहूँगा मैं।

---

१ अमीन-रेवेन्यू, राजस्व-अधिकारी।

"ना साँवता, ना। अब और आगा-पीछा मत कर तू। तेरा भाई था। गाँव को कितनी अच्छी तरह मानता था। कितना सुहाता था। उसके बदले में अब तू है। तू साँवता होगा, अपने 'चगला पुअ[1]' के ऊपर तू शासन करेगा। वह आदमी अभी हुआ ही कहाँ है? उसका बाप उसे तेरे हवाले कर गया है। तू ही तो आदमी बनाएगा न उसे—"

"क्या होगा बारिक, सो क्या होगा? उसकी कोई भी बात क्या ठीक है? अपनी घरवाली से तो यों है और राह-बाट में जो भी दिख गई, उसके पीछे-पीछे दौड़ पड़ता है। कहीं कोई ठौर-ठिकाना भी तो हो उसका! बस, ले-देके दो ही बातें रह गई हैं, पेट में सदा दारू भरी रहे और आँखें चारों ओर नाचती रहें, छि:—"

अब लंबी उसाँस छोड़ने की बारी सोनादेई की थी। अब राह की थकान सिर्फ उसी के लिए रह गई थी। "दूर की राह है। सभी निकल आए हैं। घर पर कौन रहा?"

"घर पर बाळमुंडा है। जरा उलटबाँसी तो देखो। बूढ़ा बाप हाट करने जाय और मुस्टंडा जवान बेटा घर बैठा रहे...."

"कंधे पर लाद नहीं लाया—"

सभी हँसे। बारिक ने कहा—"ना, ना, सच रे साँवता। सचमुच बड़ा ही आलसी है वह भी। इस युग के सभी लौंडे आलसी—"

बाळमुंडा की आलोचना सोनादेई के कानों को बहुत ही भली लग रही थी। सोनादेई का सान्निध्य लेंजू कंध के अन्दर खूब फुरती भर रहा था। मुँह खोल कर तो कोई किसी से बात नहीं कर रहा था; लेकिन मन-ही-मन उनकी आपस में सुलह-सलाह चल रही थी। बात चुक जाने पर लेंजू कंध ने भरोसा पाकर कहा—

"समझा बारिक? बेटे-बिटौने यों निस्ता-पिस्ता[2] होके घर में बैठ

---

१ धरम-बेटे अर्थात् भतीजे।

२ आलसी और निकम्मे।

रहें, तो बहुओं की रखवाली के लिए बाप को दौड़ना पड़ ही जाता है!"

"झूठ नहीं कहा साँवता तूने। सच-सच।"

पच्चीस

कुछ देर बाद—

आगे-आगे सोनादेई और उसके ठीक पीछे-पीछे लेंजू कंध चल रहे थे। बारिक कुछ आगे बढ़ गया था।

राह बड़ी भली लग रही थी। कैसी सुन्दर ठंडी-ठंडी छाँहोंवाली राह थी। इसके बाद पहाड़ थे, ऊपर-ऊपर। पहाड़ों-पर-पहाड़, ऊपर-ऊपर, और उसके भी ऊपर तक। सीधे-सीधे सखुओं के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों के घने-घने जंगलों से ये पहाड़ भरे पड़े हैं। जंगलों के तले-तले न जाने कितने प्रकार के फूल हैं, लताएँ हैं, गुल्म हैं। जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे टुकड़ों में विशेष-विशेष प्रकार के जंगल हैं। वह उधर केलों का जंगल दिखाई पड़ रहा है। घोर जंगल के बीच में, पहाड़ के ढलवानों के ऊपर। बूढ़े पहाड़ के फटे होठों से झर-झर-झर-झर पानी चू रहा है। जहाँ-जहाँ पानी झरता है, वहाँ-वहाँ फूलों के वन हैं। ऊपर-ऊपर आमों में बौर लगे हैं, कटहलों में लेंढ़ (फूल) लगे हैं, और तले-तले मृत पत्रों और मंजरियों से धरती पर गद्दियाँ-सी बिछ गई हैं। चारों ओर मधुमक्खियाँ उड़ती फिर रही हैं और उनका गुनगुन-गुनगुन गान सुनाई पड़ रहा है। जगह-जगह अनजानी जंगली नदियों की साँय-साँय सों-सों आवाज सुनाई पड़ने लग जाती है।

राह यों ही कटे तो ठीक। आगे-आगे सोनादेई और पीछे-पीछे लेंजू। कोई किसी का मुँह देख नहीं पाता। सिर्फ पैरों की आहट, देह झाड़ने की हजारों अंग-भँगियाँ और लेंजू कंध की थकी-थकी साँसों का बजना ही एक दूसरे को अपने सान्निध्य की सूचना देते हैं। सोनादेई की आकृति के आकर्षण से राह चलने में खूब मन लगता है। मन में उमंगों की हलचल उठती है, लहरियाँ उठती हैं। कंधे के ऊपर उपरले और निचले कपड़ों की गाँठ कितनी सुन्दर है! डंबेऽ चलन का कपड़ा इधर लाल है तो उधर नीला; इधर हरा है, तो उधर धानी। बाँहों के पिछले भाग खुले

हैं, पैरों की पिंडलियाँ खुली हैं, बीच-बीच में गँठी-गँठी, उभरी-उभरी पेशियाँ तरंगों की तरह उठती-गिरती जान पड़ती हैं, नित के जाने-पहचाने, सदा के सुन्दर प्रातःकालीन पर्वत-देश की तरह।

पीछे से दल-के-दल लोगों के कितने ही झुंड बातें करते, चहल-पहल मचाते, गीत गाते, हँसते-खेलते आ-आकर आगे निकल-निकल जाते हैं, लेकिन सोनादेई अपनी चाल तेज करने का नाम ही नहीं लेती। लेंजू कंध भी काम-धाम की बातें भूलकर आवेश-भरे मन से, यंत्र की तरह उसके साथ-साथ चलता रहता है।

'राज्य' भर में[1] उथल-पुथल मचाते हुए से एकतान गीत चल रहे हैं। कंध युवक-युवतियों के। पहाड़ों के किसी अँधेरे संधि-स्थल से उनके दल-के-दल गीत गाते हुए आ-जा रहे हैं। लेंजू कंध पसीने-पसीने हो उठा है।

"बारिक-बूढ़ा किधर गया सोनादेई?"

"उस रस्ते कहीं दारू पीने गया होगा।"

फिर कोई अधिक बात नहीं हुई। संपर्क फिर एक दूसरे के पैरों की आहट सुन-सुन कर और भंगिमाएँ देख-देख कर ही बना रहा—.

बातें मन-ही-मन हो रही थीं। मानो सब-कुछ खुल चुका हो, स्पष्ट हो चुका हो। सवाल हो रहे हैं, जवाब हो रहे हैं, सब-कुछ आप-ही-आप हो रहा है, बिना कुछ बोले ही।

"मुझे पहचाना—?"

"पहचाना, पहचाना। ये तेज-तेज साँसें, पैरों की ये बे-ताल चापें, यह असंभव-सी लगती चुप्पा-चुप्पी, सब पहचानती हूँ।"

"तो फिर भाग चलें न?"

"भाग चलें किसलिए? मैं तो भिखारिन ठहरी इस दुनिया में। जो ही मिलता है, ले लेती हूँ।"

"तो लोगी?"

---

१ पूरे इलाके में।

"सो नहीं जानती। मैं क्या चाहती हूँ, यह जानना भी नहीं चाहती। मैं तो जो पाती हूँ, ले लेती हूँ।"

"कह क्या रही है?"

"कुछ नहीं।"

"तो जाऊँ मैं?"

"देखता नहीं मूर्ख कहीं का! आप ही तो किस तरह मेरे पीछे लगा पड़ा है। अब इससे अधिक क्या कहूँगी?"

"और पास आ जाऊँ, कोई उज्र-एतराज तो नहीं?"

"मुझे डर लगता है। मेरा भी समाज है। सभी समाजों की तरह यहाँ भी सभी का नियंता होता है भय।"

"तो मैं पिछड़ रहूँ?"

"ना, ऐसे ही अच्छा है। कौन जाने कब मेरे मन का तीव्र आग्रह वह सुयोग ला ही दे। भय के तले भी आसरे के लिए जगह है। दिये तले भी तो अँधेरा होता है न?"

लेंजू कंध चालीस-छाप[1] है। सोनादेई इसके आधे की होगी। ब्याही औरत है वह। सोनादेई उसके लच्छन देख रही थी। वयस नहीं देखती थी वह। दोनों दोनों के लच्छन और हाव-भाव ही देख रहे थे। इस निगाह ने वयस और अवस्था के सभी असामंजस्यों को सड़ा डाला था। लेंजू कंध सोच रहा था कि उसके दिन यों ही तीन-कौड़ी के (निरर्थक) होके बीत गए हैं। इसीलिए अब भूख लगी है। अब भोग-भोजन की जरूरत आ पड़ी है। सोनादेई भी ठीक यही बात सोच रही थी। बाळमुंडा उसका 'पुरुष' (पति) नहीं है। बाळमुंडा तो उसका बंधन मात्र है। संसार के जितने भी पुरुष हैं, सभी बाळमुंडा की अपेक्षा कहीं अच्छे हैं, कहीं भले हैं!

राह कुछ निर्जन पड़ने लगी। लेंजू कंध का दम घुटने-सा लगा। राह-किनारे से फूलों का एक गुच्छा तोड़कर, बहुत आगा-पीछा करने के बाद

१ चालीस साल की उम्रवाला।

हिचकता-हिचकता उसे सोनादेई के हाथ में देकर बोला : "ले यह पहन ले। सभी तो फूल पहन कर हँसती-हँसती चल रही हैं, तू किसलिए सूने सिर चलती है ? "

सोनादेई चौंक पड़ी। जरा-सा हँस दिया और चारों ओर निहार कर फूलों का गुच्छा हाथ की मुट्ठी में लेके चल पड़ी। कुछ दूर जाने पर, मुरझाए जा रहे फूलों को उसने जूड़े में खोंस लिया। अब वह पैर झटकारकर तेजी से चलने लगी।

"क्यों री, इतनी तेज किसलिए चलने लगी ? "

"बड़ी देर हुई जा रही है साँवता।"

लेंजू कंध पीछे-पीछे चलता रहा। औरतों का मन वह समझ ही नहीं पाता। अब उसे चेत हुआ कि इस घाटी के चक्करदार रास्ते से तो वह बेकार ही आया। बंदिकार के रास्ते जाओ तो राह सीधी पड़ती है। और बंदिकार जाने कितनी दूर दाएँ छूट गया। पूछा—"इस रास्ते क्यों आई तू, बता तो भला ? " सोनादेई ने बड़े ही सहज-भाव से कहा—"तुम्हारे बारिक ने पहले से ही कह रखा था कि इधर से चलने पर दारू की भट्ठी से थोड़ी पीता चलूँगा।" लेंजू कंध ने सोचा कि वह तो बेकार ही इस चक्करदार और चढ़ाईदार रास्ते से आया। दारू पिये बारिक और उसके लिए कष्ट उठाए वह ! अब खिसियाए भी तो किसके ऊपर ? दिउड़ू मजे करता धाङ्ड़ी-आम-खेंदा के रास्ते जा रहा होगा और वह—! थोड़ी दूर और आगे बढ़ने पर बगल के एक ढलानी रास्ते से दारू पीकर आँखें ढुल-ढुल किए बारिक आ पहुँचा।

बड़ा-सा मुँह बनाकर नशे की ऊँची भर्राई आवाज में बोला—

"है न ? सो ही तो मैं भी सोच रहा था रस्ते-रस्ते, कि तू धाङ्ड़ी-आम-खेंदा के रस्ते मुड़ गया कि इधर आया ? अपनी धाङ्ड़ी को अकेली छोड़ के और रस्ते जाता भी कैसे तू, आँ-ाँ-य् ? यह किसकी धाङ्ड़ी है ? मेरी धाङ्ड़ी कि तेरी धाङ्ड़ी ? मैं तो बूढ़ा हो गया, मेरी अब क्या होगी वह ? तू धाङ्ड़ा है, यह तेरी ही है। और कांय (क्या) ? धाङ्ड़ों

की न होगी धाङड़ी, तो क्या बूढ़ों की होगी ? हेऽऽऽ सोनादेई, भाग-जाऊँगी भाग-जाऊँगी कह-कह कर अब और कभी जाटि[1] मत लगाना। हाँऽऽ! नीका (भला) धाङड़ा है ! हेऽ ऽ ऽ य्, इधर आ, यह तेरा है, नीका धाङड़ा यह—यह नीका धाङड़ा तेरा है ! " उसके मुँह को उलटी हथेली से बन्द करके सोनादेई ने कहा—"हुआ, हुआ । चल-चल ।"

पीछे देखा, लेंजू कंध मुँह बाए हँस रहा था। उसकी छाती की धड़कन दुम्-दुम् दुम्-दुम् दुमकने लगी। बाँह फैलाकर बारिक की पीठ को समेटती हुई कहने लगी—"चल चल !" बारिक पुकार उठा—"मुझे किसलिए यों पकड़ रही है री ? मैं तो बूढ़ा हूँ बूढ़ा। उसे पकड़ उसे। पकड़ उसे। वही तेरा है..."...! सोनादेई ने उसका मुँह बन्द करके फिर कहा—"चल चल बावला, देर हुई जा रही है।"

"देर ? काहे की देर ? काँय् (क्या) देर ? धाङड़ा-धाङड़ी एकट्ठे हों, तो देरी का सवाल कौन पूछता है ? कैसी बातें करती है री..."

बारिक शोर मचाता हुआ चला। उसे पकड़े-पकड़े चली सोनादेई ! लेंजू कंध कुछ पिछड़ गया। सोचा, दारू मिलती, तो थोड़ी-सी मैं भी पी लेता।

---

१ टंटे ।

छब्बीस

रास्ता, रास्ता, रास्ता—

पुबुली चली जा रही थी। रास्ते का कहीं छोर ही न हो जैसे। उसे ध्यान नहीं था कि पुयू साथ नहीं आई। पुयू, जो कि उसकी परछाईं-सी है, उसका अपरार्ध भाग सी है। पुयू मान करके, रूठ करके, रह गई है। यही उनका पहला विच्छेद है। जिस राह से वह आई है, उस की ओर उदास टकटकी बाँधे निहारती हुई पुयू गाँव के गलियारे में खुलते ओसारे के ओटे पर बैठी होगी। लंबी-लंबी उसाँसें भर रही होगी। घर में कोई और नहीं है। जानदार नलके की तरह बच्चा उसकी सूखकर हाड़-हाड़ हुई छाती को नोंच-बकोट रहा होगा, चूस रहा होगा।

उसे ध्यान नहीं था कि पुयू उससे कट कर अलग पड़ गई है, कि अब वह अकेली है। सीधी राह जंगलों-जंगलों चली गई है। उसमें सतरह मोड़, अठारह बस्तियाँ पड़ती हैं। राह का उच्छ्वास कहीं भी अंकित नहीं रहता, उसकी कहानी तो उस पर चलनेवाले बटोही ही होते हैं। नए लोगों को देख-देखकर चौंकना और पुराने लोगों की बाट जोहना, यही उसका दिन-रात का काम है। प्रत्येक मोड़ पर, बल्कि कदम-कदम पर, नए-पुरानों की प्रतीक्षा लगी रहती है। पुबुली चली जा रही थी।

झुंड-के-झुंड नवयुवक समीप आते हैं। उनके शरीर मानो रंदे मार-मार कर सुघड़-सुडौल बनाए गए हों। उनके पहुँचों पर बाले[1] हैं। उनकी चोटियों और कानों में वनफूल गुँथे हुए हैं। हाथों की लाठियों और उनमें लगे बरछों को ऊँचा उठाए वे बड़े दर्प के साथ पास से गुजर-गुजर जाते हैं। उनकी खुली देहों में घुटनों तक धूल-ही-धूल अटी हुई है। सब गुजर जाते हैं। कोई यह पूछने नहीं आता कि तुम्हारा परिचय क्या है। इस चलती-फिरती हुई छवि को देखकर मन के भीतर केवल एक गुदगुदी-सी होती है, केवल एक

---

1 वलय, कड़े।

कुतूहल-सा उठता है। धाङड़ियाँ हँसती हैं, एक दूसरे को चिकोटियाँ काटती हैं, धकियाती हैं और बिखरकर जंगल के भीतर चली जाती हैं। निरर्थक हँसी हँसती हैं ये। इन्हें देख-देख कर लड़कों के झुंड-के-झुंड अकारण ही सीधी राह खो बैठते हैं, भटक जाते हैं। सीधी राह छोड़कर ज़रा उसी ओर ढुलक पड़ते हैं। पैर उनके लड़खड़ाने लगते हैं। वहीं आकर यह इच्छा होने लगती है कि किसी-न-किसी बहाने चाल धीमी कर ली जाय। कोई पीछे-पीछे चलता है। टेढ़ी राह जाओ तो टेढ़े, और सीधी राह जाओ तो सीधे। कोई उसी तरह आगे-आगे चलता है। देखने में पुराना खिलाड़ी जान पड़ता है। मानो धाङड़ियाँ बाहर निकली हैं, राह चल रही हैं, तो बाट-पूजा पाना उसका पावना हो, पुराना अधिकार हो।

"पुबुली, वह रहा बंदिकार के गदबा-पठार का सेंहुड़-कुंज। वहाँ से ज़रा और ऊपर चढ़ चला जाय, तो—"

"क्यों? पहले से ही किसी को कह रखा है क्या, टिटँ'ऽ ?"

"मेरे कहने से ही क्या वह रहनेवाला है वहाँ?"

"लड़का बहुत ही अच्छा है? कि नहीं री?"

"बहुत ही अच्छा पुल्में। कब चुना री? आज रास्ते से ही उढ़र भागने[1] के इरादे से निकली है क्या री?"

"मैं भाग जाऊँ और तू रो-रो के जान देती रहे! न क्या?"

"तू अपनी मरज़ी से जायगी, मैं काहे को रोने लगी?"

"रोएगी नहीं? ज़रा आँखें तो देखूँ—" और फिर ठहाकों की धूम मच जाती है। रास्ते में एक-एक आदमी के साथ मिल चलने से इतने सारे लोग हो गये हैं। सब गोल बाँध-बाँध कर चलते हैं तो एक चलायमान दृश्य बन जाते हैं। इस तरह मनुष्य-मनुष्य न रहकर मनुष्य-जाति बन जाता है, एक पुरानी और घिसी-घिसाई छबि बन जाता है।

रास्ते से ज़रा एक किनारे हट कर गदबा-पठार पर भगोड़ों की बस्ती

१ ब्याह के लिए किसी पुरुष के साथ भाग निकलने।

जैसी बस्ती बसी है। वहाँ गदबा जाति के लोग रहते हैं। वे हिकोका हारगुणा की रैयत हैं।

गदबा और उनका छोटा-सा अंश पारेंगा, एक विशिष्ट जाति है। गुणुपुर पारला के सौराङों को लेकर और मुंडा-मुंडारी जातियों को भी मिलाते हुए ये गदबे और पारेंगे बंगाल और आसाम के रास्ते प्राचीन चीनी रक्त की जातियों की एक पूरी पट्टी के पश्चिमी छोर पर हैं। भारत की मिट्टी पर बसते हुए भी गदबा लोगों के चेहरे ठीक वैसे ही हैं, भाषा ठीक उसी प्रकार की है, चरित्र में वही स्वाधीनता-प्रियता, निर्भीकता, मस्त अल्हड़पना, भाग्यवादिता, दकियानूसी, अतिशय जादू-टोना-प्रियता आदि विशेषताएँ हैं।

कंध लोग गदबा को गदबा नहीं "कद्माँ" कहते हैं। गदबा लोग अपने आपको अपनी भाषा में 'गुत् बू' कहते हैं। एक ही गाँव में पास-पास बसे होने पर भी कंध लोग गदबा लोगों की बोली नहीं समझते, गदबा लोग कंधों की बोली नहीं समझते। एक जाति का कोई व्यक्ति दूसरी जाति के किसी व्यक्ति से कोई पैंच-उधार नहीं करता। सभी अपनी-अपनी छोटी-छोटी-सी गोष्ठी की स्वतंत्रता बनाए रखने में ही व्यस्त रहते हैं।

इस गदबा-पठार में कुएँ-जैसे गहरे खड्ड के भीतर बस्ती बसी हुई है। देवलों की तरह ऊँचे-ऊँचे नुकीले-नुकीले घर हैं। पीरी[1] घास के गोल-गोल छप्पर छा रखे गए हैं। बस्ती के चारों ओर नीचे से ऊपर की ओर चार-दीवारी उठती गई है। ढलवानों पर पेड़ भी उगे हुए हैं। खुली खदान की तरह लगती है यह बस्ती। अजीब है! इसके बाद ज़रा-ज़रा-से ढलवाँ ये खुले खेत हैं। उनमें मक्के की फ़सल होती है, अरहर होती है। उसके बाद कंध-बस्ती है, बड़ा गाँव बंदिकार।

गदबा-खड्ड के भीतरी भाग भी दिखाई पड़ते हैं। लोग कोई-कोई ही हैं। पूरा खात सिर्फ़ सूअरों, मुरगों और कुत्तों से भरा है। बेर ज़रा ढलने

---

१ साबे-जातीय फूस।

के बाद देसिया गाँव में कोई नहीं रहता, और आज तो तिस पर भी हाट का दिन है।

हारगुणा के गाँव के लोग हाट चले गए हैं। धूप पड़ रही है। बंदिकार के उस ओर एक बड़ा अच्छा-सा कुंज है। कुंज के बाद पानी है। निश्चय हुआ कि रास्ते का खाना-पीना वहीं हो।

बंदिकार गाँव के भीतर पैठते समय गाँव के लोग वहाँ नहीं थे। थीं केवल बुढ़ियाँ और उनके साथ नन्हे-नन्हे बच्चे। गाँव के निकास पर न तो बाट-परिछन[1] के गीत सुनाई पड़े और न कल-कल छल-छल हँसी सुनाई पड़ी। घरों की टट्टियों पर रस्सियाँ बाँध रखी गई हैं। दरवाजों के ऊपर कुत्ते पहरे दे रहे हैं।

"इसी घर में तू फबेगी पुबुली। देखा नहीं, किवाड़ पर कैसे सुंदर चित्र उरेहे गए हैं, कितनी हलदी पालिश में लगी है—

"तू थक-माँद गई है, तू यहीं रह जा री टिटॅऽ। मेरे पैर तो अभी थके नहीं हैं। " हँसती-हँसती वे गाँव में पैठीं और बढ़ी चलीं।

बाहर से तो हँसकर उड़ा दिया ; लेकिन भीतर-ही-भीतर पुबुली जरा दब जरूर गयी। ये सब झूठमूठ इतना मखौल करती हैं। वह तो जाने कब की, बचपन के दिनों की बातें हैं। दोनों बूढ़ों ने अपने-अपने मन में यह मनसूबा किया था कि वे बंदिकार और म्ण्यापायु को एक सूत्र में बाँधेंगे, कि पुबुली और हारगुणा का ब्याह रचाएँगे। बूढ़े-बूढ़ियाँ बच्चों के खेल में भी कभी-कभी हाथ लगा देती हैं। झूठमूठ के ब्याह-सम्बंध पक्के करके बूढ़े मन-ही-मन खुश होते हैं। उनके ब्याह तो अब फिर होने के नहीं, इसीलिए औरों के ब्याह की बातों में रस लेते हैं वे। गुड्डों-गुड़ियों के ब्याह के सपने देखने से उनकी अपनी सूखी-लकड़ी सी हाड़-हाड़ देह में कल्पना के झरने छलाँगें भरने लगते हैं। काठ की खूँटियों जैसे बेजान पड़ गए घट्ठों को मिला-मिला कर याद करने से खोए अतीत की सारी बातें नई हो-होकर आँखों के आगे

१ गाँव के बाहर जाकर आगंतुकों की अगवानी करने और कुशल-क्षेम पूछने की रस्म।

आ खड़ी होती हूं। ये सारे खेल तो बूढ़े-बूढ़ियों के कौतुक होते हैं, कंध युवती उन्हें अपने सिर-माथे चढ़ा लेने को बाध्य नहीं होती।

हारगुणा की बात? वह तो न जाने कितनी तहों के तले दब गई। हजारों पैबंद लग चुके हैं उसके ऊपर से।

फिर भी पुबुली ज़रा दब गई। हाथों से ग्रहण नहीं करना है, न सही, पर आँखों से देख लेना वह ज़रूर चाहती है। और वैसे उसने ग्रहण न करने की ही कोई प्रतिज्ञा तो की नहीं, कोई कसम तो खाई नहीं है। हाट की बाट की बटोहीगिरी का आधा मजा तो इसी में है।

सौदा न भी लेना हो, तो मोल-तोल करने का मज़ा तो लिया ही जाता है।

हारगुणा नहीं है। गाँव के नवयुवक भी यहाँ कोई नहीं हैं। इधर धूप बढ़ चली है। और डुंबागुड़ा कितनी दूर है। कोमल किसलयों से फिसल-फिसल कर, पथरीली मिट्टी से फिसल-फिसल कर पलटती धूप आँखों को चौंधियाए दे रही है।

माँदगी, थकान! कुंज की छाँह तले टाँगें पसारकर बैठती हुई पुबुली बोली—"यही अच्छी जगह है। अब खाना-पीना हो ले।"

सत्ताईस

धूप-घाम है तो क्या, लोग हैं कि न जाने कितनी-कितनी दूर से चले ही आ रहे हैं। कहीं यहाँ तो कहीं वहाँ, धरती की फाटों-दरारों और सिलवटों में छिपी-छिपी-सी उनकी बस्तियाँ बसी हुई हैं। लोग ! आदमी ! दो पैरों पर सीधा खड़ा होने वाला जंतु ! इस जंतु की देह का भार तो पृथ्वी के ऊपर रहता है; लेकिन सिर आसमान की ओर तना रहता है। अकेला-अकेला तो यह जंतु मानो कुछ भी नहीं होता। अकेले उसकी कोई बिसात नहीं होती। कमर लगाकर एक छोटे-से पत्थर को भी उखाड़ पाने का ज़ोर उसमें नहीं होता। विस्तार में वह पीरी-घास [1] के पौदे से भी उन्नीस पड़ता है। ले-दे के चारेक हड्डियाँ होती हैं, जिन में चंद बोटियाँ मांस की अटकी होती हैं। कितना छोटा होता है आदमी ? उसका सारा ज़ोर एकट्ठा होने में, एकजूट होने में है। एकट्ठा हो लेने के बाद ही आदमी आँखों से देखने लायक होता है, तभी वह दल बाँधकर नाच करता है, गपशप करता है या झगड़ा-तकरार करता है।

जंगल के अंदर आदमियों की बस्ती, गाँव, किधर है, यह पता आसानी से नहीं चलता। पहाड़ों के संधि-स्थल पर दो-चार जन जमा हो जाते हैं। चारों ओर सूनी-सूनी पड़ी हुई खाली ज़मीन होती है, बाहर जंगल, खेत और पत्थर—

लोग एक जगह जुटते नहीं कि उनकी नाना-विध लीलाएँ शुरू हो जाती हैं। सभा-पंचायतें होती हैं, पाँत-पंगतें बैठती हैं, लड़ाई-भिड़ाई होती हैं, जंगल-झाड़ जलाकर "पोड़ू"[2] खेती होती है। लोग रेतीले मैदानों की काली चींटियों की तरह थोड़ी ही जगह में खदबद-खदबद भरे रहते हैं।

---

१ साबे-जातीय फूस।

२ जंगलों को जलाकर उनकी राख पर की जानेवाली नौतोड़ खेती को "पोड़ू खेती" कहते हैं। विस्तृत विवरण के लिए तिरसठवाँ अध्याय देखिए।

शहर बसते हैं, गाँव बसते हैं। पहाड़ कटते हैं, नदी बँधती है। सारा-कुछ मनुष्य-दलों के हाथों की ही करामात है। घटनाओं के नाम चाहे जो भी हों,—और नाम भी कोई एक नहीं, बहुतेरे होते हैं,— उन्हें घटित करते हैं ये ही दल या गण। इन्हीं रेत के चीटों की गति और विरति से इतिहास के युग बनते हैं। पानी बह चला, ये चींटे भी उसमें दल-के-दल बह गए। आग घिर आई, ये चींटे भी थोड़ी देर छटपटाने के बाद उसी में पटपटाकर भस्म हो गए। जगह खाली हुई और फिर झुंड-के-झुंड आ जुड़े। फिर जंगल-झाड़ साफ़ किए गए, फिर उजले धपाधप कोठे देखते ही देखते प्रगट हो गए, पत्थरों पर पत्थर जड़-जड़कर मंदिर आकाश की ओर उठ चले। अपने हाथों के रचे गंधमादन के तले और उसके आसपास में इनकी हड्डियों के टुकड़े बिखरे पड़े रहते हैं, कोई पूछता तक नहीं। इन्हीं में से कोई ऐसा होता है,जो हाथों में हथियार लेकर घोड़े पर चढ़ बैठता है। वह कमाता नहीं, सिर्फ़ खाता ही खाता है। वह देता नहीं, सिर्फ़ लेता ही लेता ह। वह औरों के लिए न्याय और विचार की साँकलें गढ़-गढ़कर उनमें उन्हें बाँधता है, आप कभी नहीं बँधता। और, सभी के गाँव उसी के नाम पर होते हैं। लाल-लाल आँखें दिखलाकर वह लूट-पाट करता है और सभी के धन हथियाकर छाती फुलाता है। छाती फुला-फुलाकर वह गद्दे या गद्दी के ऊपर बैठा-बैठा गरजता रहता है कि "वीरभोग्या वसुंधरा! मैं वीर हूँ, मेरी पूजा कर!"

वह इतने लोगों में एक अकेला जन ही है। औरों की तरह ही वह छोटा-सा, अपूर्ण, असमाप्त, सीधे पैरोंवाला जंतु है। अमित भीड़ोंवाले झुंड-के-झुंड लोगों के दलबद्ध निःश्वासों के झोंकों में वह उड़ जा सकता है। गरमियों के पसीने और जाड़ों के पेशाब में उसकी जल-समाधि हो सकती है। ज़रा सी जगह में खदबद-खदबद भरे इतने सारे लोगों की एड़ियों तले कुचलकर, बुरादा बन कर, वह पलक मारते ही मिट्टी में मिल जा सकता है; लेकिन उसका कुछ नहीं बिगड़ता। कुछ नहीं होता उसे। वह तो सिर्फ़ घोड़े चढ़ता है और लोगों को हाँकता फिरता है।

कुछ नहीं होता उसे। कारण, अभी तक आदिम रात्रि का अंधकार इस धरती से कटा नहीं है। यह वह अंधकार है, जिसके बारे में कंध डिसारी कहता है कि इसने उन दिनों (आदिम युग में) पृथ्वी को ढँक रखा था। जहाँ की रात अभी भी कटी नहीं होती है, वहाँ वह रात का पिशाच बनकर आता है, मुरदों को खड़ा करता है, सोए लोगों को चलाता है, नचाता है। उसकी अवस्थिति और आविर्भाव उसी आदिम रात्रि की आदिम असभ्यता की अवस्थिति के परिचायक हैं।

इस डुंबागुड़ा हाट को ही ले लीजिए। कोरापुट ज़िले के अंदर शार और कळाहाँड़ी राज्य की दक्खिनी सीमाएँ बराबर-बराबर दूरी पर ही हैं यहाँ से। इस ओर और उस ओर की प्राकृतिक सीमाओं की तरह पहाड़ यहाँ पर दोनों किनारों को छोड़ गए हैं। दोनों के बीचोबीच में उपत्यका है। इस ओर से पहाड़ की डाँड़ी लाँबा-लाँबी[1] पंदरह कोस की पड़ती है, पूरब-पश्चिम (सूरज-मुँहा)। कसाकंदू से भीतर-भीतर बागरी से लेकर गिरली-गुम्मा काटगड़ा तक। बड़े विशाल पर्वत हैं। उनके ऊपर पाँतर हैं। उस पार कळाहाँड़ी के बाँसों के जंगलों से भरे छोटे-छोटे पहाड़ों की लहर-लहर लहराती-सी श्रेणियाँ हैं।

डुंबागुड़ा हाट कोरापुट ज़िले की एक बहुत बड़ी-सी हाट है।

यहाँ से लाल सड़क बहुत-कम बहुत-कम तो (कम-से-कम) कोई पंदरह कोस पर होगी। लोग काँवरों और बहँगियों पर भार लादे चले जा रहे हैं। मवेशियों की कच्ची खालें। भार-की-भार गाय की खालें, भैंस की खालें। कळाहाँड़िया बैल भी कोई बैल होते हैं! मरियल-मरियल से, नन्हे-नन्हे, बकरियों जैसे लगते हैं। हाँके लिये जा रहे हैं लोग ये नन्हे-नन्हे, ठिगने-ठिगने बैल। देसी लोहे के फावड़ों और कुदाल-कुदालियों के, हल के फलों के, भार-के-भार ढोए जा रहे हैं। गोदरी गाँव के प्रसिद्ध कम्हारों (लुहारों) की बनाई ओड़ियाँ-नळियाँ[2], ,बरछे-बरछियाँ, छुरे-छुरियाँ आदि लिए

---

१ लंबाई में।

२ देसी बंदूकें।

जा रहे हैं। लिये जा रहे हैं रंगीन मिट्टी की हाँड़ियाँ, मटके, रंग-बिरंगे चित्र-विचित्र माट, फूल-झाड़ू और न जाने कितनी-कितनी तरह के क्या-क्या सौदे-सुलुफ। और, सभी चीज़ों से बढ़-चढ़ कर तो—खेतों की पैदावार।

छोटे-छोटे हड्डी-हड्डी निकले चमरी घोड़ों[1] पर सवार हो-हो कर आते हैं अतिकाय साहूकार। नशे में धुत्त, कानों में कुंडल झुलाते, और नाँदों जैसी बड़ी-बड़ी तोंदें निकाले हुए। बड़े ज़बरदस्त साहूकार हैं ये। इन में कितने बिशोई (सूँड़ी) हैं, कितने तेलुगु हैं। सोपन्ना, पा'पन्ना। गंफा गधबना, अंडाभरपु, डालिसेठि, डो'गिला अप्पलस्वाँयँ। एंकय्या पेंटय्या, मातय्या। चलपति राव, जगन्नाथ राव, रामाराव, गुंफूस्वामी, नारण-मूर्ति।

ये लोग साहूकार हैं। इनकी जाति में भी, इनके देस में भी, अधिकतर लोग किसान-मजूर ही हैं। अधिकतर लोग वहाँ भी दरिद्र ही हैं। लेकिन ये साहूकार हैं। छकड़े लाए हैं। वहाँ सड़क के ऊपर खड़े कर रखे हैं। रुपयों की थैलियाँ लाए हैं। नाप-तौल करने के लिए "माण"[2] लाये हैं, पायली लाए हैं। बड़े माण, छोटे माण, बड़ी पायलियाँ, छोटी पायलियाँ। कोई चीज़ खरीदनी हो तो बड़े माण या बड़ी पायली से नापते-जोखते हैं और कोई चीज़ बेचनी हो तो छोटे माण या छोटी पायली से। बड़गद के पेड़-तले गेंदे की खील जैसी काली-काली अलसी की रास पहाड़-जैसी ऊँची हो चुकी है। जहाँ तहाँ मँडुए, धान, हलदी, छोटी अरहर, तिल, रेंड़ी, आदि की रासें भी इसी तरह पड़ी हैं। यही रासें हैं हमारे कंधिया भाई का सर बस। अबोध देसियों (आदिवासियों) के झुंड उबले कंद-मूलों की मंडी में ही व्यस्त हैं। रंगीन काच के मनकों की मालाओं वाली दूकानों में ठसम-ठस भीड़ लगी है। सस्ते में, सुलभ माल उठा ले जाने के लिए साहूकार पथश्रम

---

१ पुच्छल घोड़ों।

२ माण = १/१२ गउणी। गउणी के तारतम्य के अनुपात में ही माण का तारतम्य भी घटता-बढ़ता है। कटकी चार-सेरी गउणी का माण १/३ सेर, छः-सेरी गउणी का माण १/२ सेर, तीन-सेरी का १/४ सेर। —अनु०।

करके, घोड़े पर सवार हो-होकर आए हैं। एक खेप की लदान में ये सारी चीजें ढो-ढोकर दुलभ सूँड़ी के घर, चंपिया सूँड़ी के घर, पहुँचादी जायँगी। वहाँ से सारी-की-सारी शीडी-सेठी के गोदाम में या चिटी बाबू के गोदाम में पहुँचेंगी और उसके बाद प्रकाश में। खेतों की सारी फ़सल, सारी उपज यों ही चली जायगी। बदले में आ जायँगे थोड़े-से रुपए। देखिये उन रुपयों को बाँस की फोंफियों (नालियों) में भर कर मिट्टी तले गाड़ देंगे। लेकिन मिट्टी तले गड़े ये रुपए भी देखते-ही-देखते न जाने कहाँ उड़ जायंगे। उसी साहूकार के सूद भरते-भरते और शिस्तू (लगान) देते-देते फोंफियाँ फिर खाली-की-खाली हो रहेंगी। उसके बाद फिर वही हू का आलम, फिर उसी तरह भूँजी भाँग नदारद। फिर उसी तरह नखों से खोंट-खोंट कर, खंतियों से गोड़-गोड़ कर पहाड़ के ऊपर, पथरीली चट्टानों की संधियों-फाँकों में एक बार और खेती होगी। फिर एक बार और रातों को दारू पी जाने लगेगी, नाच होंगे, डुङ डुङा बाजे बजेंगे, बाँसुरियाँ टेरी जायँगी। हाट में पैठने की राह पर हाट के ठेकेदार लोग "पानू"[1] वसूल कर रहे हैं। सिर पर लदे खोमचों की छीना-झपटी कर रहे हैं, हाथों की मरोड़ा-मरोड़ी कर रहे हैं। कोई बँसही खँचिए[2] में बाँस के कच्चे कल्ले भर लाया है। उसे पक्का दो पैसे 'पानू' देना पड़ेगा। 'फाराष्टी'[3] वनजात द्रव्यों का कर उगाह रहा है। लाल पगड़ीवाले दो जने छाती फुला-फुला कर टहल लगा रहे हैं। हाथ में छोटी-छोटी लकुटियाँ लिए हैं। इनमें से कई तो कल तक देखिए ही थे, आज लल-मूँड़े (लाल सिरवाले) हो गए हैं। लोग उन्हें देखते ही राह छोड़कर अलग खड़े होते जा रहे हैं। भीड़-भड़क्के और शोर-शरापे उनके आगे और पीछे आप-ही-आप फटते जा रहे हैं। पास ही साहूकारों के दल बैठे हैं। सब के आगे एक-एक लकड़ी की पेटी पड़ी है। अनाज की माप-जोख चल रही है। सिरों पर बड़े-बड़े पग्गड़ हैं और होठों तले मछली की-सी बू

१ हाट-कर।

२ बाँस की कमाचियों की पतली फट्ठियों से बुनी नन्ही टोकरी।

३ जंगल के महकमे का चौकीदार, फॉरेस्ट-गार्ड।

वाले काले-काले सूठा-पिका (चूरुट) दबे हैं। कानों में कुंडल झूल रहे हैं और हाथ की कलाइयों में पिटे सोने के बाले (कड़े) पड़े हैं। ये हैं चेका (ढेला) चौधुरी साहूकार।

पीछे की ओर से खाल-मंडी की सड़ी घिनौनी गंध आ रही है। गैहट्टी (गाय-हाट) में गाय की गंध है। घाँव-घाँव शोर-शरापा मचा है। "अच्छा ओसर (बछड़ा) है। यों दिखता है तो क्या, यह देखो दाँत इसके, दस रुपए से कम में नहीं देने का।" जहाँ-तहाँ सूखे कीड़ों की तरह काले-काले सुखवे[1] पड़े हैं। मक्खियों ने घेरे डाल रखे हैं। अनगिनत दूकानें हैं। सड़ी गँधाती फफूँदी-भरी घोल-दही[2] है। उसमें लौकी की तुँबिया डुबो रखी गई है। लाल नमक की छोटी-छोटी ढेरियाँ लगी हैं। धुँगिया पिके हैं, लाल मिर्च है, हलदी है। जंगली कंदमूल हैं। तिल की खली की लाइयाँ (लड्डू) हैं, साँवा की लाइयाँ हैं, मुरमुरे की लाइयाँ ढेर-की-ढेर हैं। लोग चल रहे हैं। बाजार के मोड़ों पर धक्कम-धक्का, रेल-पेल, घिस्सा-घिस्सी, पकड़ा-पकड़ी लगी हुई है। इन्हीं भीड़ों में बागरी-गाँव, चेमा गाँव, केलार-गाँव आदि के कोढ़ी ग्वाले और दूर के गाँव बरिगिमुठा के कुष्ट-रोगी कंध भी हैं। कसपा-वालसा, कुमुड़ा और गुड़ा-अंचॅ के "यज"-रोगी कंध भी इन्हीं में हैं। इनके गालों, पीठों और अंग-अंग पर जहाँ-तहाँ चप्पा-चप्पा भर के, रकाबी-जैसे बड़े-बड़े घाव हैं, जिन्हें नन्हे-नन्हे काले-काले मच्छड़ घेरे हुए हैं। स्वस्थ लोग भी इन्हीं के बदन से बदन घिसते हुए आ-जा रहे हैं। चिकने-चुपड़े छैल-छबीले धाङड़े और चिकनी-चुपड़ी छैल-छबीली फूल पहने हुई बनी-ठनी धाङड़ियाँ भी। मक्खियाँ और धूल, गुड़ की हंडियाँ और पिट्ठे ! जो जहाँ बैठा है, वहीं उसका मुँह चल रहा है। लाई-लड्डू हों कि पकाए-उबाले कंदमूल हों कि कोई फल हों, सब भकोसे जा रहे हैं। अधिकतर दूकानें छोटी-छोटी हैं।फिर भी शोर-गुल से कान बहरे हो रहे हैं।

---

१ सुखाई हुई मछली।

२ मक्खन बढ़ा या सेपरेटा दही।

अनगिनत लोग हैं। अनगिनत पहाड़ी बोलियाँ बोली जा रही हैं। कोई थककर आम के पेड़ तले बैठ रहा। फिर एक बार हाट के भीतर धँसने के लिए तैयार हो ले रहा है। उधर कोई हाथ भाँज-भाँज कर किसी झुंड के बीच मसखरी कर रहा है। रस्तों पर भाँति-भाँति की जातियों के वन-देशीय कुत्ते हैं। नन्हे-नन्हे रोएँ और बड़ी-बड़ी पूँछोंवाले कुत्ते, " बिराड़ी " कुत्ते हैं। आँखें कैसी बड़ी-बड़ी हैं। भालुओं की तरह झबड़े और झाड़ूओं जैसी बड़ी-बड़ी पूँछोंवाले कुत्ते कंध-घरों के कुत्ते हैं। ये भी हाट देखने के लिए न जाने कितनी-कितनी दूर से पीछे लगे चले आए हैं। भले कुत्ते हैं, तो उनके साथ कटाह (काट खानेवाले) कुत्ते और सड़ियल-मरियल घेड़ कुत्ते भी हैं। गाएँ हैं, भैंसे हैं, आदमी हैं। गोबर है, बकरी की लेंड़ियाँ हैं। धूल है। रंभान है, मिमियान है, गर्जन-तर्जन है। रंग-बिरंगे दृश्य और शब्द हैं।

यही हाट है। मनुष्य की पृष्ठभूमि। इस पृष्ठभूमि को काट दिया जाय तो लेंजू, दिउडू, पुबुली, पुल्में आदि किसी को भी समझना असंभव हो उठेगा। यह गड़बड़िया, मनमौजी, मस्त-बेपरवा, दायित्वहीन गिरस्ती ही मानव-समाज की नींव है। वह जिधर इच्छा हो, उधर ही निकल पड़ना चाहता है। वह जहाँ मन हुआ वहीं थूक डालना चाहता है। कोई चोरी-चोरी नहीं। उसके मन में कोई शंका या धुकधुकी नहीं है। वह वहाँ, पेड़ तले, औरतें खड़ी हैं। सिर के ऊपर बोझ हैं और बैठकर पेशाब करने का उन्हें अभ्यास भी नहीं है। और इधर-उधर कई जगह धाङड़े-धाङड़ियाँ बड़े प्रेम और उत्कंठा के साथ थोड़ा लिपटा-लिपटी किए ले रही हैं। हाट के भीतर पर-पुरुष की देह-में-देह टेके बैठी स्त्रियों की संख्या भी अनगिनत होगी। देह की ओर कोई ध्यान नहीं है, मुन्ना माँ के स्तन को चभर-चभर चूस-चूस कर अपनी मरजी भर दूध पी रहा है, छोड़ रहा है। यहाँ न कोई विकार है, न कोई बंधन। छंदोहीन चित्र-चपल धड़कने ही इस देश के छंद हैं।

बेर ढल न जाय कहीं! लोग बातें करते-करते हाट से निकले और पाँतों की पाँतें जिधर-तिधर छूट पड़ीं। आज की अनुभूति इतनी ही रही। देखना-

सुनना हो लिया । कोई तो पंदरहेक कोस दूर से केवल इतने-से काम के लिए आया था कि पैसे का घुँगिया खरीदना था । सो, खरीद लिया। कोई दसेक कोस की दूरी पार करके बस इतने-से काम के लिए आया था, कि उसे अपनी बाड़ी के चार-एक बैंगन बेचने थे । बेच चुका वह भी । कोई बकरी का नन्हा-सा पठरू कंधे पर कँधिया लाया था । अब वह मारे खुशी के नाचता-नाचता वापस जा रहा है। फिर वैसे ही जुलूस सज गए, जैसे कि आती बेर सजे आए थे। किसी के कंधे की बहँगी उतरी आ रही है। किसी की बहँगी पर एक ओर तो नन्हा-सा बच्चा है और दूसरी ओर सिर्फ़ पत्थर का एक ढोका भर है, भार समान रखने के लिए। हो-हल्ला मचा है। घाँव-घाँव शोर हो रहा है। हाट उखड़ रही है। डँगरिया (पहाड़ी) हाट ठहरी। देखते-ही-देखते आस-पास के पड़ोस तक में भी लोगों का कोई नाम-निशान न रह गया।

साँझ हुई। हाट से लौटते बटोही कुछ दूर जाकर एक जगह जुटे और बैठ रहे। भैंसों के लोटने के डबरे के पास, या नदी के किनारे, या पहाड़ों के संधि-स्थल के ऊपर जहाँ परतियों के टुकड़े हैं, जहाँ हलके झाड़ों के छितरे-छिदरे जंगल हैं। जंगल के तले जगह-जगह टिकना कोई हँसी-खेल तो नहीं। वहाँ झगड़े-टंटे होते हैं, गप-शप की पंगतें बैठती हैं, गीत और नाच की महफ़िलें जमती ह।

रात बढ़ी। आग बुझ गई। सभी सो पड़े। ऊपर खुला आसमान है, नीचे पेड़ों की जड़ों के पास एकट्ठे पड़े चार-चार सौ लोगों की फों-फों करती बजती उसाँस हैं और सामने पथरीली भैंस-लोटान नदी की कल-कल, तरंगें और साँय-साँय ध्वनि करता प्रवाह है।

सभी सो रहे। पुबुली, सोनादेई, दिउड़ू, लेंजू, सभी। रात, सुनसान रात है। रह-रहकर जंगली चिड़ियाँ चहचहा उठती हैं। चार सौ लोग घोर नींद में बेसुध पड़े हैं। इन में से एक-एक को उठा कर देखिए तो एक-एक जीवन-व्यापी उपन्यास मिलेगा आप को। हाँ!

अट्ठाईस

हिकोका हारगुणा कंध बंदिकार गाँव का साँवता है।

हिकोका उसका गोत्र है। नाम है हारगुणा। कंध उसकी जाति है। बाप उसका लेंजू था। लेंजू अर्थात् बड़ी चील। नर-चील। बेटे का नाम धरे जाते समय 'हारगुणा' नाम पर ही चावल खड़ा हुआ। बेटा हारगुणा-सागुणा अर्थात् जटायु पक्षी हुआ। खैर, यह भी कोई बुरा नाम नहीं है। सुन्दर नाम है। गाँव के उस पार जो विराट् पर्वत उठता चला गया है, उसकी नाक आकाश के भीतर तक धँसी हुई है। ऊपर से सखुए के महाकार पेड़ घास के पौधों जैसे छोटे-छोटे दिखते हैं; लेकिन पहाड़ की उस नाक के भी और जाने कितने ऊपर, सुन्दर नीले आकाश में हारगुणा सागुणा (पक्षी) उड़ता है। यह भी एक विस्मय की ही बात है। जो वस्तु विस्मय पैदा करती है, कंध-मानस में वही सुन्दर मानी जाती है। इसीलिए हारगुणा नाम भी सुन्दर नाम है।

उन्नीसवाँ लग चुका है, बीसवाँ चल रहा है। अब समय आ गया है कि वह अपनी दुनियादारी सँभाले। घर-संसार के प्रपंच का भार उठाने की योग्यता भी उसमें आ गई है। पाँच वर्ष की अवस्था पार कर लेने के बाद उसने एक नन्ही-सी कौपीन पहन ली थी और माँ-बाप तथा गाँव-गँवई के भाई-बंदों के साथ वह भी पहाड़ों पर निकल पड़ा था और नन्ही खुरपी लेकर खुचर-खुचर मिट्टी खोदने लग गया था। सात बरस का हो लेने पर उसने बकरियों की चरवाही सँभाल ली थी। नौ बरस का होते-न-होते हल की मूठ भी पकड़ ली थी। पेड़ काटना, पेड़ों पर चढ़ना, दौड़ना आदि सभी कलाएँ उसने बचपन के दिनों में ही हासिल कर ली थीं। छै बरस का होने के बाद ही उसने धुंगिया (धुआँपत्री या धूम्रपान) की आदत पकड़ ली थी। नौ बरस का होने पर दारू पीना भी सीख लिया था। चौदह वर्ष की अवस्था में, जब कि देह भीतर से सिहरती-सिहरती

भरी चली आ रही थी, उसने स्त्री-जाति को पहचाना। उन्नीसवें के किनारे लगते-लगते वह अब अपने-आप में पूर्ण हो चुका है।

बाप नहीं है। माँ नहीं है। कोई भाई-बंद भी नहीं है। अपने घर का मालिक वह आप ही है। खेती-बाड़ी काफी है। खूब फूला-फैला धंधा है। गाय-गोरू आदि भी काफी बड़ी तादाद में हैं। खेती-बाड़ी के काम-धाम करने के लिए वह खुद है और गोतियों[1] के रूप में उसके आश्रित उसके हलवाहे हैं। कच्ची वयस में ही मुरब्बी (संरक्षक) का अभाव हो जाने के बावजूद उसका सिर कभी फिरा नहीं। इसका कारण यह हुआ कि सिर फिरा लेने का कोई अच्छा-खासा प्रलोभन उसे उपलब्ध नहीं हुआ। जो भी चाहा उसने, वह उसे मिलता गया। ऊँचे पर्वतों से घिरे उसके दिग्वलय के ऊपर कभी किसी अगिया-बैताल ने छलावे का कोई ऐसा पिशाच-दीप नहीं जलाया कि जो उसे अशांति में चूर-चूर होकर झुलस मरने के लिए बुलाता।

हिकोका हारगुणा ने ब्याह नहीं किया। उसकी संस्कारी धारणा में मौज-मजे करना एक बात है और ब्याह करके घर-गिरस्ती बसाना एक बिलकुल ही और बात। ब्याह के विषय में उसके अपने निश्चित मतामत हैं और सभी मतामतों के पीछे से झाँकता है एक छोटा सा मोह। अट्ठारहवें से उन्नीसवाँ और उन्नीसवें से बीसवाँ लगा-लगा ही तो है! दोनों सँग-सँग चलते हैं।

वहमोह क्या है? वह है, ग्ण्यापायु के साँवता की बेटी। पुबुली। हिकोका हारगुणा को संभ्रम से प्यार है। वह ठहरा भी। साँवता का बेटा ही तो! आप भी साँवता है। इसलिए उसे अपने ही जैसे साँवता की लड़की मिलनी चाहिए। यह जरूरी है। आस-पास के किसी भी गाँव के साँवता

---

१ गोती = क्रीत नौकर। गोती प्रथा इस अंचल की विशेषता है। सूद में या दाम लेकर आदमी अपनी सेवाएँ महाजन या साहूकार के हाथों बेच डालता है और रूखा-सूखा खाकर उसकी निर्वेतन सेवा करता है। इस प्रथा की विशेष जानकारी एकतीसवें अध्याय में है।

के घर फिलहाल कोई लड़की नहीं है। है तो केवल एक पुबुली ही है ले-दे के।

लेंजू कंध ने अपने बेटे के लिए पुबुली को पसन्द किया था। हारगुणा ने इस बात को भी अपने मन में याद रखा है। यह सब "कारण" की बातें हैं, "क्यों-कैसे" की बातें हैं, विषय-बुद्धि की बातें हैं और हारगुणा विषयबुद्धि से अच्छी तरह संपन्न है। ऐसा नहीं है कि केवल मोटी-मोटी बातों या कारणों ने ही दो-दो-पाँच के आगापीछा के तर्कों से उसे अब तक अटकाए-उलझाए रखा हो। नहीं, उसने पुबुली को देखा था। बचपन के दिनों से ही उधर का जाना-आना लगा रहा है।

बात इससे अधिक और कुछ नहीं थी कि पके बूढ़े सरबू साँवता की धुआँ-धुआँ चितवन के आगे सिर झुक जाता था, सब सोचा-गुना जहीं-का-तहीं अटक जाता था। अपने मन की रोक-थाम और नियंत्रण की पीड़ा और प्रतीक्षा की पोटली बाँध कर हारगुणा लौट-लौट आता था और सोचा करता था।

सरबू साँवता मर गया। खबर आई। हारगुणा सोच रहा था—अब जरूर जाना है वहाँ, क्योंकि जाना जरूरी है। लेकिन जाने की सोचते रहिए और अपनी दुनियादारी के हजार झमेले पैरों के फंदे हो रहते हैं और जाना नहीं हो पाता। सो, इसी तरह दिन-रात की रखवाली करते-करते बेल पकने के दिन भी चले गए।

फिर कटनी लगी, हाट-बाजार के काम आ पहुँचे। साहूकारों के साथ सौदेबाजी के मोल-तोल करने पड़े, उपज के माल की बिक्री करनी पड़ी।

उन्नीसवें वर्ष के दायित्व भी बहुत-सारे होते हैं।

लोग कहते हैं "ब्याह क्यों नहीं कर लेते?" चारों ओर से बस यही एक बात, तूफान की तरह लपकी आती है। कान बहरे हो उठे हैं सुनते-सुनते। वह आप भी अपने आप से पूछता है: ब्याह क्यों नहीं कर लेते? लेकिन न जाने कैसे तो फिर पिछड़-पिछड़ जाता है। कोई शंका उसे ठिठका देती है। असल में वह औरों से जरा न्यारा-सा है। दूल्हन लाना

ही तो सब-कुछ नहीं है न ? उसके अलावा और भी अनेक सपने हैं उसके। मन-ही-मन ये सारे सपने छटपटाते रहते हैं।

ननिहाल उसकी नारणपाटणा के पास है। यहाँ से बहुत-बहुत दूर। घाटियों-पहाड़ों की चढ़ाई-उतराई वाली तीन दिनों की राह है। साल में दो बार ननिहाल जाता है वह। ननिहाल के लोग भी सौगात ले-ले के आते हैं और न्योत के ले जाते हैं।

ननिहाल जाते समय जंगल की कोर पर बसी बस्तियों की सभ्यता उसके मन को उकसा-उकसा देती है। वह सोचता है कि बड़ा होकर वह भी उन जैसा ही होगा। तेलंगे साहूकार के चौखूँट कोठे, छप्पर की छान, सामने की ओर बँधी हुई टट्टियाँ, छकड़े, गोदाम, कारोबार—ये सब उसके मन को मथ-मथ डालते हैं।

बारम्बार यही धारणा लेकर हारगुणा साँवता लौटता है। मन में डूब कर सोचता है। निविष्ट मन से अपने पुराने संस्कारों की जाँच-परख करता है और यह सोचता है कि इनमें कहाँ पर कौन-से परिवर्तन हो सकते हैं। उसकी ननिहाल के लोग घर में तो कौपीन पहनते हैं; लेकिन बाहर निकलते समय सभी एक छोटा-सा उजला धपाधप कपड़ा लपेट लेते हैं, बदन में कोट-कमीजें डाल लेते हैं, कानों में कुंडल लटका लेते हैं, और कलाइयों में बाले (कड़े) पहन लेते हैं। हारगुणा के किशोर-सुलभ सपनों में यह-सब भी हैं।

बाप उसका पुरानी दो-पाँतिया बस्ती को छोड़कर अलग एक गोदाम-घर बनाके मरा है। नारणपाटणा इलाके के साहूकारों के धान-कोटुओं की तरह यह भी एक कोटू[1] ही है। थोड़ी-थोड़ी दूर के अन्तर पर डेढ़ पोरसे की ऊँचाई पर गोल-गोल माटनुमा टोकरे हैं, जिनमें धान रखते हैं। इन बड़े-बड़े माटनुमा टोकरों की पेंदें छोटे-छोटे मचानों के ऊपर होती हैं। टहनियों और मिट्टी की बनी इनकी दीवारें खूब पोख्ता होती हैं और

१ बखार।

इनके उपरौटे मुँदे होते हैं। नीचे और ऊपर धान निकालने और धान भरने के लिए किवाड़बन्द मुँह होते हैं।

हिकोका हारगुणा की कल्पना में आधुनिकता का यही प्रथम वास्तविक रूप आया था। इस पर अनेक आपत्तियाँ उठी थीं। गाँव के जानी-ड़िसारी पुरोहित-गणक आदि सभी ने आपत्ति की थी कि जो अब तक कभी न चला, उसे लेंजू साँवता किस तरह चलाएगा। लेंजू साँवता ने कोई आपत्ति न सुनी। उसकी ससुराल के लोगों ने खड़े होकर उसकी मदद की थी। कोटू खड़ा करने में उन्होंने पूरा हाथ बटाया था और इस तरह कोटू तैयार हुआ था।

हिकोका हारगुणा की आँखें खुल गई थीं। लेंजू कंध की एक साध और थी। वह यही सोचते-सोचते चल बसा था कि किसी तरह एक छकड़ा बना लेता। इस इलाके के बनवासी कंध भाइयों में ऐसा कोई भी नहीं था, जिसके पास अपना छकड़ा हो, यद्यपि छकड़े के साथ जान-पहचान तो लगभग सभी की हो चुकी थी। काँवरों में बिक्री का माल बोझ-बोझ कर और आदमी के कंधों पर लाद-लाद कर इतनी दूर-दूर की हाटों में माल ले जाना कैसा तो बेतुका लगता है! परेशानी होती है। छकड़ा होता, तो क्या ही अच्छा होता! लेकिन पहाड़ी घाटियों के रास्ते छकड़ा चल भी तो नहीं सकता? बरसात के दिनों में चप्पा-चप्पा धरती जंगलों या खेतों से भर जाती है। धूप के खुले सूखे दिन तो यही चार महीने होते हैं। लेकिन गोरू-उतार लीकों के रास्ते छकड़ा ढुलका ले जायँ तो उत्तर के पठारों की ओर भले ही न जाय, दक्खिन लक्ष्मीपुर की ओर तो छकड़ा जा ही सकेगा! इस बात की पूरी संभावना है। उसके बाद गोरू-उतार लीकें पकड़े-पकड़े बारह गाँवों के बारह [1] छकड़ों का साथ पकड़ के बढ़ जायगा छकड़ा, और बढ़ते-बढ़ते धीरे-धीरे नारणपाटणा की समतल भूमि की ओर,और नहीं तो रायगढ़ की समतल भूमि की ओर निकल जा सकेगा।

---

१ 'बारह' यहाँ 'अनेक' के अर्थ में है।—अनु०

सो, हारगुणा की भावी योजनाओं की कुंडली के अन्दर यह बात भी थी। छकड़ा तैयार होगा, छकड़े में माल लाद कर वह रायगढ़ जायगा, वहाँ से छकड़े में लादकर धुँगिया-पिका लायगा और फिर आस-पास की हाटों में और डुंबागुड़ा की हाट में उस धुँगिया-पिका की बिक्री आजमायेगा।

इसी तरह मन-ही-मन न जाने कितने नए-नए अभियानों की योजना बनाता वह। काम में लोट-लोट कर और उलझ-उलझ कर उसके दिन कटते गए। ब्याह करने की चिन्ता उसके मन को ग्रस नहीं सकी। ब्याह कर लेना तो उसके अपने हाथ की बात थी। जो चीज उसके हाथों की पहुँच में नहीं थी, उसे हासिल करने में उसका मन अधिक मगन रहता था। वह बहुत ऊपर,बहुत ऊपर उड़ जाना चाहता था। 'हारगुणा' जो था !

पच्चीस जनों के कंधों पर अपना माल काँवरों के भारों में लाद-लाद कर वह खूब पहले ही हाट के लिए रवाना हो गया था। मध्य हाटमें , कुछ समय पहले से ही अपना सौदा भरपूर भावों बेच भी लिया था। खूब लाभ रहा था उसे। पहले ही लौट आया था। अब चैन आ गया है। आगे से ही सभी चीजों का संग्रह, सभी चीजों की जुगाड़ करना और सँजोना है। उसके बाद चैत का "मउछब" (महोत्सव) होगा, मास-व्यापी समारोह । साल-भर के प्यासे मन को छका-छक भर कर मौज-मजे मनाना और फिर साल भर तक हड्डी-तोड़ काम में जुट पड़ना ! चैत के बाद फिर चिलचिलाती धूप में मिट्टी, कंकड़ और पत्थर के साथ गुत्थमगुत्थी चल पड़ेगी।

हाट से लौट कर उसी साँझ को हारगुणा घेरे-घेरे जाकर अपनी सारी संपत्ति देख-भाल आया। थकना तो वह जानता ही नहीं। वह देख आया कि गोंठ में सभी गाय-गोरू हैं कि नहीं, गुहा के धान-कोटुओं पर हर कहीं रखवाले हैं कि नहीं। हर साँझ हर घेरे में पहुँच कर देख-भाल कर आना उसका नियमित काम है। उसके बाद वह गाँव का चक्कर लगाता है। गाँव के लोगों के साथ दिन-भर के हानि-लाभ की चर्चा कर लेता

है। गपशप करते-कराते और गाँव का चक्कर पूरा करते-कराते घर लौटते समय रात हो-हो जाया करती है। और रात होने का मतलब ही है कि खाना-पीना किया और नाच-गान, मौज-मजे किये। और कुछ न हुआ तो अकेले ही निराले में बैठकर बाँसुरी टेरते रहे।

हारगुणा बैठे-बैठे बाँसुरी टेरता रहा। रात बढ़ चली।

वही पुरानी बाँसुरी और उसमें एक ही पुरानी उदास-उदास रागिनी! गीत में कुल दो ही पंक्तियाँ। उन्हीं दो पंक्तियों को वह फिर-फिर कर दुहराता रहा। अँधेरी रात में उतरते फागुन की नन्ही-सी आँधी हू-हू करके उठी और हिला-कँपा चली। पहाड़ी देशों में आँधी कितनी बार उठा करती है, इसका कोई ठिकाना नहीं।

बाँसुरी टेरनी बन्द कर दी। बाहर रात घुप्प अँधेरी थी। हवा जोर की थी।

हारगुणा निराले में अकेला सोया था। जी छटपटा रहा था। नींद नहीं आ रही थी। मन करता था कि इस अँधेरी रात में वह पहाड़ के पठार के ऊपर कहीं जा निकले। अँधेरी तूफानी रात में सिर धुन-धुन कर गुनावन करने को जी चाहने लगा। यही भाव सभी भावनाओं के ऊपर छा गया।

अकेलापन अखरने लगा। रात को बाँसुरी टेरना बन्द करने के बाद उसे अकसर ऐसा ही लगने लगता है। मन पुकार-पुकार कर घर-बार बसाने का आह्वान करने लगता है। गाय-गोरू, कोटू-बखार, हाट-व्योपार.— आधी रात के समय ये चीजें नहीं होतीं। उस समय यह सब व्यर्थ जान पड़ने लगती हैं। फिर, किसकी बाट जोहनी है उसे? जितनी भी कल्पित पात्रियाँ उसके योग्य हो सकती थीं, उन सब के बारे में उसने एक-एक करके सोच देखा। न जाने कितनी ही ऐसी हैं, जिनके साथ उसकी जान-पहचान है। अँधेरी रातों में, तूफानी रातों में, याद करने पर वे सभी आ जुटती हैं। हारगुणा ने एक-एक को निराले में चुन देखा। किसी की नाक छोटी लगी, तो किसी की कमर कुछ अधिक सीधी-छरहरी जान-पड़ी। कोई अधिक हँसती ही नहीं, तो कोई निहायत ही फजूल हँसा करती

है। सभी को उसने नापसन्द कर दिया। आपसी परखा-परखी हो चुकने पर एक दूसरे से विदा होने के लिए पुरानी पद्धति से ब्याह वह नहीं करने का। सौ बात की एक बात यह है कि वह जिसे प्यार करेगा, उस पर सरबस निछावर करके ही प्यार करेगा।

नापसन्द तो खैर करता है, लेकिन फिर भी सब के बारे में सोचना अच्छा लगता है।

सब के अन्त में, सब की यादों के तले से पुबुली निकल आती है। मानो और सभी गलत हों, वही एक ठीक हो। मानो वह चिरंतनी हो। पुबुली को आड़ में बिठाये रख कर और सभी को एक-एक करके बुलाना और चुनाव में रद्द करके लौटा-लौटा डालना अच्छा लगता है। यह भी हारगुणा का एक खेल है।

रात बढ़ चली। धीरे-धीरे हारगुणा ने यह निश्चय किया कि यों बैठे रहने से उसका काम नहीं चलने का। यों तो अकेलापन इसी तरह खाँय-खाँय करके काटने दौड़ता रहेगा। अब वह जरूर लग पड़ेगा। कंध देश में धाङड़ी की इच्छा से ही व्याह होता है। उस पर और किसी का भी कोई बस नहीं चलता। धाङड़ी होड़ा-होड़ी, बदाबदी के परिश्रम का अंतिम सुफल होती है। हारगुणा को पक्का विश्वास है कि पुबुली उसे प्यार करती है, कि पुबुली उसे "नाहीं" नहीं करेगी। बस, एक बार मुँह खोलकर पूछ लेने भर की ही तो बात है।

ढली रात के पिछले पहर में वह सपना देख रहा था कि उसका नया छकड़ा तैयार हो चुका है। वह नए छकड़े को हाँके लिए जा रहा है। अलसी लादे जा रहा है, लौटती बेर धुँगिया लाद लाएगा। असली कलिंगी तम्बाकू का धुँगिया। नारियल के डाभ के पानी में पाग दे देने पर ऐसा लगेगा मानो हलदी में खूब गाढ़ा रँग दिया गया हो। छकड़ा चला जा रहा है, चैत के फूले वनों के बीच से हारगुणा साँवता का छकड़ा चला जा रहा है! बड़े-बड़े पहाड़ सामने दिखाई पड़ रहे हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अब आगे राह नहीं है, कि छकड़े की पहुँच का यही अंतिम

छोर है। लेकिन फिर भी छकड़ा अटकता नहीं है। चला जा रहा है, पहाड़ की संधि-संधि से गुजरता, पत्थरों-चट्टानों के ऊपर लीक बनाता छकड़ा चला जा रहा है, चला जा रहा है। न जाने कितने नए-नए वन और नए-नए गाँव नजर आ रहे हैं। संतरों के कुंज हैं। संतरे फले हुए हैं। झुंड-की-झुंड धाऊड़ियाँ आ-जा रही हैं। कह रही हैं—छकड़ा कितना सुन्दर बना है! कहती हैं—कहाँ जा रहे हो, हमें भी बिठा लोगे? ना-ना-ना। मनमाने गीत गाता हुआ वह चला जा रहा है, चलता ही चला जा रहा है। सब-कुछ देखता चल रहा है, पर कहीं अटक नहीं रहा है। एक टेकरी के ऊपर पुबुली खड़ी है। छकड़ा रुक पड़ा। पुबुली उतर आई। अब दोनों एक ही छकड़े में हैं और अब छकड़ा आसमान में उड़ चला है। पहाड़ों की चोटियाँ पास से छूती हुई-सी छूटती जा रही हैं। हवा साँय-साँय चल रही है। चारों ओर सिर्फ धुआँ-धुआँ बादल हैं। बादलों के ऊपर तिरता-तिरता उसका छकड़ा चला जा रहा है, चला जा रहा है।

किसी के शोर-गुल मचाने से नींद टूट गयी। बावले की तरह आँखें फाड़े वह चारों ओर निहारने लगा। कहाँ? न कहीं छकड़ा है—न पुबुली है, न बादल है।

"जान पड़ता है कल रात खूब पी ली थी साँवता? नौजवानों को इतना पीना ठीक नहीं!..." माइला-कंध गंभीर मुद्रा बनाए खड़ा था। माइला कंध गाँव के गोंठों का रखवाला है।

"ऍं ? —"

"दो पाड़े [1] मरे पड़े हैं। देखोगे? चलो।"

हारगुणा हड़बड़ा कर छलाँग मारता उठ खड़ा हुआ। बोला — "क्या? क्या कहा?"

"दो पाड़े।"

दौड़ा-दौड़ा हारगुणा गोंठ की ओर गया। सचमुच दो पाड़े मरे पड़े

१ भैंस के बच्चे।

थे। न बात न चीत, एक रात यों ही चल बसे। हारगुणा का माथा ठनका। "आगे से तू कुछ जानता था माइला ?"

"कुछ नहीं।"

"फिर ?"

माइला कंध को डर लग रहा था। कान के पास मुँह ले जाकर बहुत धीमे-धीमे कहा—"बड़े सुघड़, प्यारे और देखने-जोग हो रहे थे। कल किसी की बदनजर लग गई होगी। किसी ने पाङ्कि[1] दी होगी सांवता। अब इसमें किसकी क्या बस है, कह भला ?"

तीन दिनों तक जंगल में चरने के लिए भटकते रहने के बाद कल ही साँझ की बेर पाड़े घर आए थे। रात को कुछ-न-कुछ जरूर हुआ है। नहीं तो यों अचानक...। गोंठ के अन्दर सभी ढोर अपने-अपने खूँटों पर थे। खोले जाने के लिए हुँकर-हुमच रहे थे। भैंसों की आँखों में चिरा-चरित, चिर-अभ्यस्त गंभीर, किन्तु निर्बोध चितवन जस-की-तस थी। कोई पागुर कर रही थी, कोई पूँछ झल रही थी, कोई सिर डुला रही थी। उनके पास ही दो मरे पड़े पड़रू पड़े थे। उधर किसी का ध्यान ही नहीं था। कोई भ्रूक्षेप तक नहीं कर रही थी। बड़ी हैरानी थी। हारगुणा के मुँह का थूक सूख गया। एक-एक भैंस को हाट में बेचने पर और नहीं तो कम-से-कम तीन बीसे (साठ) रुपए जरूर आते। भैंस कंध की बहुत बड़ी संपदा होती है !

विषाद के बाद कोप उमड़ा। हारगुणा ने आँखें पोंछ लीं, माथे पर झूलते बालों के गुच्छ को उलटी हथेली से पीछे की ओर ठेल दिया और गरजा, फूला, कँपकँपाया। क्रोध आने पर वह बहुत ही भयंकर दिखाई पड़ता है। टाँगिया कुल्हाड़ी तान कर माइला कंध की ओर लपकता हुआ वह गरजा— "तेरे ही कारण मेरे पड़रू मरे हैं। और अब तू भला बन रहा है ! निङ्के टुणुहाँईनि (काट डालूँगा तुझे) !"

---

१ पाङ्कि देना = जादू-टोना कर देना।

सब ने धर-पकड़ लिया उसे। माइला कंध व्याकुल होकर बकता रहा : "बेकार मुझ पर कोप कर रहे हो साँवता। मुझे कुछ पता नहीं, कुछ पता नहीं।"

लोग जुटते गए। भीड़ बढ़ती गई। किसी ने कहा— "देह पर तो कोई निशान-विशान नहीं है। जरूर 'पाङा' है किसी ने!" पाङने की बात ही कारण-रूप में सब के मन में जँच गई। साँवता ने आँखें लाल-लाल करके गरदन फुला-फुला कर गरजते हुए कहा : "पाङा है? अच्छा, हाँ, देखा जायगा कि किसने 'पाङा' है। बुला बेजुणी को, कर पूजा, लगे देवता का आसन उसके ऊपर, नाचे वह नाचे। ठाकुर आप ही बक देगा कि किसने 'पाङा' है। उसके बाद—"

डंबँऽ लोगों का एक झुंड मुँह बाए उधर की ओर ही ताकता खड़ा था। मरे पाड़े देखकर उनके जी ललचा रहे थे। हारगुणा उधर ही लपका। "तुम सारे किसलिए यहाँ मँडरा रहे हो रे? या तुम्हीं ने जहर देके मार डाला है और अब देखने आए हो?"

उसके तेवर देखकर सभी "हम नहीं", "हम नहीं" करते हुए खिसक भागे। खिसियाए आदमी के मुँह लगना ठीक नहीं होता। कंध को जब यह विश्वास हो जाता है कि किसी ने उसकी मिलकियत में पैठकर उसके माल-मता को नुकसान पहुँचाया है, तो उसके रोष का ठिकाना नहीं रहता। और वनवासी लोग रोष में आते ही अपने कंधे पर लटकती टाँगिया कुल्हाड़ी तान लेते हैं। परिणाम को सोच-समझकर या परिमाण को माप-जोख कर सामाजिक न्याय की परिधि के भीतर चलने का उनका अभ्यास नहीं होता। इसीलिए, अगर कहीं खेत-बाड़ी के बारे में झगड़ा-टंटा हुआ, या कहीं किसी की छेई हुई सळप-ताड़ी [1] को कोई और उतारकर

---

१ सळप साबू—सुपारी की जाति का एक तालवृक्ष होता है, जिसे असमिया भाषा में "हरळ" या "सरळ" बंगला में "गोल-साबू", मैथिली में भाड़ि और शास्त्रीय लातीनी में "वार्मोता कुरस" कहते हैं। इसकी घौदें छे-छेकर ताड़ी चुलाई जाती है।—अनु०

चढ़ा गया, किसी ने किसी की औरत को आँख मारी या किसी ने किसी पर कोई अत्याचार किया, किसी ने किसी के छड़ी मार दी या किसी ने किसी का कुछ अस्त-व्यस्त कर दिया, कि बस, एक के काँधे का टाँगिया उछलकर दूसरे के काँधे पर जा पड़ता है और बात की बात में खून-खराबे हो जाते हैं। अनायास ही जानों से हाथ धो लेना पड़ता है। आदिम मन का नियंता होता है भय। भय की मात्रा स्थितियों के दबाव से दिनों-दिन जैसे-जैसे बढ़ती जा रही है, खून-खराबों की तादाद वैसे ही वैसे घटती जा रही है। तथापि रह-रह कर उन पुराने वन्य लोगों का दंड-विधान उभर-उभर पड़ता है। उस उभार के समय वह कोई रोक-टोक नहीं मानता, कोई विघ्न-बाधा नहीं मानता, किसी भी आधुनिक नियम-कानून की पाबंदी नहीं मानता !

उनतीस

चिलचिलाती दुपहरी में बंदिकार गाँव की बेजुणी गाँव के साँवता के दरवाजे पर रेंग-रेंग कर और फाँद-फाँद कर नाचती रही। गाँव के लोग जमा होकर "दैवी संदेश" की प्रतीक्षा करते रहे। दोनों पाड़ों की लाशें एक किनारे पड़ी थीं। भनभन-भनभन करती मक्खियाँ उन्हें घेरे थीं। सभी साँसें बाँधे इस बात की बाट जोह रहे थे कि देखें बेजुणी किसके सिर बिजली गिराती है। धूप-गुग्गुल का धुआँ पी-पी कर और बाजों की आवाज से बहरी होकर वह किसी एक के मत्थे दोष मढ़ देगी। फिर पंचायत के सामने उस बेचारे अभियुक्त का विचार होगा। मजा होगी। गुजरे जमाने के दिन होते तो बेजुणी के बोल पर दोषी ठहराए गए व्यक्ति को लोग जान से ही मार डालते। अगर जान न भी लेते तो हाथ-पैर तोड़ कर लंज बना डालते और शर्मिंदा करके गाँव से निकाल बाहर करते। लेकिन अब जमाना बदल गया है, जमाने के कायदे-कानून बदल गए हैं। अब जान नहीं ली जाती। हाँ, कष्ट जरूर पहुँचाया जाता है। बस इतना ही हेर-फेर हुआ है।

हर कंध-गाँव में साँवता, जानी, डिसारी आदि की तरह बेजुणी भी एक आवश्यक संस्थान होती है, एक अनुष्ठान-पात्री होती है। हारगुणा का रोष घटता आ रहा था। अब उचित उपाय जो हो रहा था, उचित प्रतिकार जो हो रहा था!

मोरों के उतरने की बेर हो जाने तक बेजुणी नाचती ही रही। नाच-नाच कर थहराने लगी, तो क्लांत स्वर में बोली—"पाड़े मरे, मरे। क्या हुआ जो मर गए? काटकर खा जाओ। बात-बात पर मुझे बुलाते हो! मेरा मन होगा, कहूँगा, न होगा, नहीं कहूँगा। हम ठहरे देवता! हम तुम्हारे कोई चाकर तो नहीं?"

बेजुणी के स्वर में देवता जवाब दे रहा था।

गाँव के लोगों ने उसे भाँति-भाँति के निवेदनों से फुसलाया ; लेकिन देवता न माना, न माना। उलटे बिगड़ खड़ा हुआ। कहने लगा, "देखो, कहे देता हूँ, फिर जो कहीं बुलाया, तो तुम्हारा 'आल्रा' (नुकसान) कर देंगे।"

बेजुणी का नशा टूटा। जो लोग अतिशय-विश्वासी थे, वे कहने लगे कि पाड़ों को देवता ने ही खाया है। देवता की इच्छा! जिसे खाने का मन हुआ, खा लिया। कितने ही और लोग ऐसे थे, जो चुप लगाए रहे। देवता के ऊपर विश्वास रहने के बावजूद इस गाँव की बेजुणी के ऊपर कितनों का ही कोई विश्वास नहीं है। घुसुर-फुसुर कानाफसी चलती रही। इतने में ही खबर मिली कि फिर एक जोड़ा पाड़े मर गए हैं। इस बार किसी और के। ये भी ठीक उसी तरह मरे हैं।

जानी ने कहा—"इस तरह तो सभी पड़रू मर जायँगे, सभी भैंसें मर जायँगी। अगर बेजुणी यों ही कहती रही कि हम देवता हैं, हम कुछ नहीं बताते, तब तो हमारा किस्सा तमाम ही समझो!"

"इस बेजुणी को अब नहीं पूछना। चलो, हम म्ण्यापायु की बेजुणी को पूछें। असली देवता उसी को लगते हैं।

"इस तरह की बेजुणी से हमारा क्या होगा? चलो हो, म्ण्यापायु ही चलें, फिर। और क्या करना है भला?" हारगुणा साँवता ने कहा। दूसरे गाँव में हाथ फैलाना, वैसे, साँवता को अच्छा नहीं लगता। वह किसी का एहसान लेना नहीं चाहता। लेकिन क्या करे? निरुपाय है आखिर!

मरे पाड़ों को गदबे खरीद ले गए। गदबे गाय नहीं खाते, भैंस ही खाते हैं।

हारगुणा ने हामी भर दी। डिसारी योग धर देगा और उसी योग का मुहूर्त देख कर पाँच-भाई कंधों का एक दल म्ण्यापायु चला चलेगा। बेजुणी को देवता लगाकर और पाड़ों के मरने का कारण पूछ-बूझ कर वे लौट आएँगे और फिर प्रतिकार किया जायगा। कोई नई बात होती देख कर वनवासी लोग चुप बैठे नहीं रह सकते। वे खोद-खोद कर कारण

को समझते-बूझते हैं। अर्थात् अपने-आपको यह विश्वास दिलाते हैं कि हमने असली कारण समझ-बूझ लिया। इसीलिए हर बात को अच्छी तरह परख-परखकर देखना एक तरह से उनका अभ्यास बन गया है। हर नई बात पर उन्हें कुतूहल और सन्देह होता है। लालटेन जलती क्यों है? घड़ी के अन्दर टिक-टिक, टिक-टिक आवाज क्यों होती है? छतरी बन्द क्यों हो जाती है? इन और इन्हीं जैसे अन्यान्य छोटे-छोटे से प्रश्नों से लेकर जनम-मरण, अनावृष्टि-अतिवृष्टि, अकाल-महामारी आदि एक-एक चीज का कारण ढूँढ़ना उनकी आदत में शामिल है। जिस चीज को वनवासी समझ नहीं पाता, उससे वह डरता है। जैसे कागज के ऊपर अँगूठे की छाप देने से वह बेतरह भय खाता है, अपने संबंध में कुछ भी लिखे जाने से वह बहुत घबराता है। पाड़े पटापट मर क्यों गए, इसका कारण नहीं जानना भी उसके लिए भय का विषय है।

जंगल में यत्र-तत्र बाघ फिरते हैं, साँप-बिच्छू फिरते हैं। समाज में साहूकार फिरते हैं, अधिकारी फिरते हैं। इन सब के बीच कंध जाति अगर अब तक इस आश्चर्यजनक रूप से बची रही है, तो सिर्फ इस कारण खोजने के अभ्यास के ही बल-बूते पर बची रही है।

"मण्यापायु! '—हारगुणा ने सोचा, —"एक पंथ दो काज! चैत आ चला है, और उस गाँव में पुबुली—

तीस

सुबह होते-होते दो और पाड़े मर गए।

दिन के समय कुछ भी पता नहीं चला था, रात को जाने क्या हो गया कि सुबह तक पाड़े ऐंठकर काठ बन गए। उनके शरीर पर कहीं भी चोट आदि का कोई निशान नहीं था। न ही साँप आदि के काटे होने के ही कोई लक्षण थे। फिर भी दो दिनों के अन्दर इस गाँव के छः पाड़े चल बसे।

काटकर देखने पर पाया गया कि रक्त मलिन तक नहीं पड़ा था। अत्यन्त चमकते लाल रंग का रक्त निकला। अन्तर बस इतना ही आया था कि रक्त में दाने पड़ गए थे।

देह की किसी खरोंच-खराश के रास्ते किसी सीलन-भरी जगह से ऐनथ्रॉक्स के कीटाणु घुस गए थे। यह बात कंध-आँखों को सूझ नहीं सकती थी। वनवासी मानव की कल्पना तक में नहीं आ सकती थी। वनवासी मानव माथे टेकता है, बेजुणी नचाकर देवता से जवाब पाना चाहता है, विश्वास करता है। विश्वासों-ही-विश्वासों में उसके दिन कट जाते हैं।

बंदिकार के साँवता और कुछ जने जेठरैयत[1] म्ण्यापायु की बेजुणी से पूछकर पाड़ों के मरने के सत्य कारण का अनुसंधान करने चल पड़े।

चिलचिलाती धूप थी। नंगे खेत खाँय-खाँय करके काटने दौड़ते थे। फसल खेतों से उठ चुकी थी। अब सब खुला-खुला था। धीरे-धीरे वन का तेज कुम्हला आया, चढ़ान शुरू हो गई।

कुछ दूर और निकलने पर जंगल के अन्दर "बाघमारू" खड्ड पड़ा। वहाँ गोबर पड़ा था, बगल की ओर जरा ढुल कर एक जगह मवेशी की हड्डियाँ पड़ी थीं, और चार बड़े-बड़े बुझे हुए वन-चूल्हे ठंडे मुँह बाए पड़े थे।

---

१ रैयतों में मान्य।

टिङ्कू कंध ने कहा—यह देखो न जरा, साँवता। यह किसी डंबँऽ पट-कार [1] का काम है। गाय मारी है और खूब छक-छक कर मजे करते हुए पका खाया है, महा-उत्सव किया है।"

सोउना कंध ने कहा—"यह कैसे समझा तूने कि गाय मारी है उन्होंने? सिर्फ चूल्हों के होने का यह मतलब तो नहीं होता कि गाय मारी गई है। मरी गाय की हड्डियाँ क्या जहाँ-तहाँ पड़ी नहीं होती हैं? यह भी कोई बड़ी बात है?"

"ना भाई ना। डंबँऽ न रहे होंगे, तो भला और किसे इतना लोभ होगा कि औरों की गाय-गोरू के सिर पर टाँगिया दे मारी और पका खाया? जितना बाघ नहीं खाता, उतना ये डंबँऽ खाते हैं। सच! कि नहीं? बड़ी गंडा जाति (बदमाश) है इनकी भी—"

हारगुणा साँवता ने अपनी कोई राय नहीं जाहिर की। उसे एक प्रच्छन्न भय सता रहा था। गाँव के ये छः-छः पाड़े जो मर गए, उसमें क्या डंबँऽ का कोई हाथ न होगा? वे तो हैं ही डुंबा (पिशाच) जाति के, पा'ना (मेंढ़क) जाति के। क्या यह संभव नहीं है कि उनमें से किसी ने कभी लुक-छिप कर जहर दे दिया हो? गाय-गोरू को जहर मिला देने में या लुक-छिप कर मार डालने में धुरंधर वे ही लोग हैं। खेती-बाड़ी या रोजी-रोजगार करना उन्होंने छोड़-छाड़ दिया है। अब जहीं-तहीं जंगलों और पोड़ियों (जलाये हुए जंगलों) में मवेशियों की टोह लेते फिरते हैं। मवेशियों को सूखा [2] लगे, खुरहा (जरखोरा) लगे, चेचक हो जाय, तो उन्हें जंगल में हाँक देने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता। और पशु-धन में फैली ऐसी ही महामारियों के समय डंबों की बन आती हैं। ठीक इन्हीं दिनों वे अपनी अदावतें निकालते हैं, ठीक इन्हीं दिनों उनकी हिंसकता बढ़ जाती है।

---

१ एक गाली। डंबँऽ जाति को गाली देना कंधों का तकिया-कलाम-सा है।

२ पशुओं की एक बीमारी, जिसमें वे सूखकर काँटे हो जाते हैं।

हारगुणा ने कहा—"इस तरह बक-बक करने से क्या होने को है? ज्ञापायु की बेजुणी बूढ़ी अगर सचमुच ही इस तरह वाक् [1] देना जानती है, तब तो अब थोड़ी देर में सारी बात मालूम ही हो जायगी। और अगर डंबों ने हमारे पाड़ों को जहर दिया होगा, तब हम क्या उन्हें यों ही छोड़ देंगे?"

टिङू ने कहा—"मालूम हो जाय तब न? उसका नाम-ठिकाना, गाँव-गिराम सब मालूम हो जाने भर की बात है। कौन कह सकता है कि किस गाँव का कौन डंबें'ऽ आया था? काम-धाम न रहने पर खामखा बदमाशी करने के लिए डंब'ऽ-कुदा (डंबों के दल) जहीं-तहीं फिरते रहते हैं। किसी ने देख लिया, तो कह देते हैं कि 'गोड़' जा रहा हूँ [2]। या हाट जा रहा हूँ, सौदाबारी करने जा रहा हूँ, या रोजी-रोजगार करने जा रहा हूँ। इसी तरह के न जाने क्या-क्या कितने सारे बहाने बना डालते हैं वे। उनसे पार पा सकोगे भला?" सोउना ने कहा—"और मान लिया कि उन्होंने जहर दे ही दिया हो, मगर तुम जान कैसे पाओगे? चारे में माहुर डाल दिया होगा, जड़ी-बूटी खिला दी होगी, घुँघची-केंवाछ की उबटन बटकर और उसकी नुकीली सुइयाँ बनाकर चुभो दी होंगी। अरे, वे तो उस्ताद होते हैं इन बातों में उस्ताद! न जाने कितने उपाय जानते हैं—"

हारगुणा उसाँसें भर रहा था। जीवन में न जाने कैसी-कैसी जटिलताएँ हैं और वह है कि उसे इन तमाम जटिलताओं का समाधान करना पड़ेगा। तब कहीं वह समालोचना से छुटकारा पा सकेगा। तब कहीं इन लोगों को यह विश्वास आयगा कि वह उनका नायक है, उनका साँवता है। अपनी गोष्ठी के तमाम भले-बुरे का जवाबदेह ठहरा वह!

---

१ वाक् ेना = वाक्य देना, देवाभिभूत बेजुणी का रहस्य खोलना।

२ गोड़ जाना = संबंधियों के पास पहुनाई करने जाना।

खीझ के मारे विरक्त-सा होकर उसने कहा—"क्यों भला? बस ले-दे के वही बात, वही बात! वही ढाक के तीन पात के तीन पात। अरे, कोई और चर्चा छेड़ो।"

"सच-सच।"—टिमा कंध ने कहा—"अब यहाँ से जंगल शुरू होता है। अब कोई गीत उठाओ, गीत।"

किसी ने एक पाँती गाकर गीत छेड़ दिया। उसके गीत छेड़ते ही सबों ने एक ही स्वर पर गले साध कर सुर धर लिए। सुर को गर्जनों की उच्चता तक उठा-उठा कर लहराते हुए हमारे कंध बढ़ चले। यही उनके राह-चलने की मनातन रीति है। गीत की टेक थी—"बाइले, बाइले।" गीत-ही-गीत में वे बीच-बीच में अपनी तमाम दुख-दुर्दशाओं की गाथा भी गाने लगे। खेती की अवस्था, साहूकार की गाली, मरे पाड़ों के गुणानुवाद—सब गीत में बँध आए। गान ने बातचीत की जगह ले ली। अन्तर इतना ही रहा कि गीत में बात-चीत से कहीं अधिक प्रमुखता स्वर-लहरी की रही।

कुछ दूर जाने के बाद कोई उसी ओर भागा आता हुआ दिखाई पड़ा। जाने कौन था वह, जो पूरे जोर से दौड़ा चला आ रहा था। उसके हाथों में एक लंबर[1] और एक फट्ठा था। फट्ठे में जाने क्या तो बँधा हुआ था। कुछ और पास आने पर ऐसा लगा, मानो एक बड़ी-सी लाल मिर्च बँधी हो फट्ठे में। गीत की लहरियाँ बिखर कर बिला गईं। सब के मुँह का थूक सूख गया। सभी थमक कर जहीं-के-तहीं खड़े हो गए। सभी की टकटकी उस लाल मिर्च पर ही टँगी थी।

आनेवाले ने अब अपनी चाल धीमी कर दी। पास आते समय खूब सुस्ताया हुआ-सा चलने लगा। पास पहुँच कर हाथ के फट्ठे को टेक कर खड़ा हो गया। उसके मुँह पर अत्यन्त प्रसन्नता के भाव झलक रहे थे और माथा पसीने से सराबोर था।

एकदम पास सट कर उसने हँस दिया और कहा—"ओ हो, नसीब अच्छी है! यहीं भेंट हो गई। धूप में दौड़ता-दौड़ता इतनी लंबी राह

१ एक प्रकार की छोटी-सी ढोलकी।

पार करके आया था और अब फिर उसी तरह दौड़ता-दौड़ता बंदिकार तक जाना पड़ता। खैर, बैठ लो जरा-सा। आग हो तो जरा निकालो।"

"कहाँ से आए हो?"

"बहुत दूर से। भालू-जोड़ी से। जा तो रहा था, तुम्हारे गाँव बंदिकार तक; लेकिन अब चलने की सामर्थ नहीं रह गई है। अब यह तुम ले लो। और मेरा काम तो बस यहीं से समाप्त होता है।"

"तुमने यह कैसे जाना कि हमारा गाँव बंदिकार है?"

आगन्तुक हँस पड़ा। कहा—"वही तो बता रहा था। अकेला आदमी था, चारों ओर कान खड़े किए सुनता आ रहा था, कि तुम्हारा गीत सुना। जो भी हो, आखिर ठहरे तो तुम भेंडिया [1] लोग ही।—अरे भाई, तुम अपने गीत में यह पद भी गा रहे थे कि हम बंदिकारिया हैं! यह न सुनता, तो मैं अपनी राह लगा उधर-ही-उधर से चला गया होता। कहाँ से मिलता ऐसा अवसर? वह तो यह कहो कि मेरा "योग" (संयोग) था कि यहाँ से मेरा भार उतर जायगा।"

"भार?"

"हाँ, भार!"—उसने लाल मिर्च की ओर उँगली से संकेत किया। "यह चिट्ठी अमीन ने भिजवाई है। फटिकियाम से। इस चिट्ठी को डोक्री-बेड़ा जाना है। 'रिबिनी' के पास। जरूरी डाक थी। इसीलिए मिर्च बाँध दी गई है। दौड़े-दौड़े ही जाना पड़ेगा। मेरी पाली बंदिकार तक है। वहाँ से तुम जो करो, तुम्हारी इच्छा! भेंट तो हो ही गई। अब यहाँ से तुम समझ लो, मैं तो जा रहा हूँ।"

धुँगिया का टोंटा कौपीन में खोंसकर और टाँगिया कंधे पर डालकर वह आगन्तुक जंगल के अन्दर पैठ कर किसी और राह से कहीं निकल गया।

लाल मिर्च बँधा फट्ठा और वह चिट्ठी वहीं उसी तरह पड़ी रही। विचार-विमर्श होता रहा और सभी उसी चिट्ठी की ओर निहारते रहे।

---

१ कच्चे नौजवान।

जिस चिट्ठी में लाल मिर्च बँधी रहती है, वह इन पहाड़ियों की समझदारी में बहुत ही जरूरी चिट्ठी मानी जाती है। उसे लेकर दौड़ते हुए ले जाना और पहुँचा देना सभी वनवासियों को लाजिम होता है। लाल मिर्च बाँधने के बाद चिट्ठी किसी एक के हाथ में थमा देनी होती है और पता-ठिकाना समझा देना होता है। इतना कर चुकने के बाद चिट्ठी भेजने वाले के कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है। उसके बाद चिट्ठी आप-ही-आप चल पड़ती है, दौड़ती हुई चल पड़ती है। जिसे थमाई जाती है, उसके मत्थे यह जवाबदेही आ पड़ती है कि वह उसे लेकर दौड़ पड़े और अगले गाँव तक पहुँचा आवे। हरकारे का यह काम करने के लिए वह आदमी बाध्य होता है।

किसी पुराने जमाने से यह प्रथा कंध देश में चली आ रही थी। जान पड़ता है कि कंधों के राजत्व-काल में ऐसा नियम रहा होगा कि लाठी में चिट्ठी लटकाकर उसमें एक लाल मिर्च बाँध देने से संदेशा जरूरी माना जायगा और उसे पहुँचाने के लिए सभी बाध्य होंगे। इस काम को करने से इनकार करने की छूट किसी को नहीं रही होगी। कालक्रम से यही प्रथा इस नए रूप में आ गई है। अब इसका लाभ गैर लोग उठा रहे हैं। अब उनके काँवरों और बँहगियों समेत भेजी गई घरेलू चिट्ठियों के साथ भी लाल मिर्च बाँध दी जाती है।

हारगुणा ने कहा—"आधी राह चले बिना ही बेगार थोप गया। खैर, अब जाना तो पड़ेगा ही। जा। हमारे गाँववालों के गोढ़ी तक जाने की बात है। जा, वहाँ तक जाकर पहुँचा आ।" रघू कंध, जो दास कंध था, गोल से निकल कर चला गया। दल पतला पड़ गया।

अब रास्ते-रास्ते उसी चिट्ठी की चर्चा चलती रही।

"कौन जाने क्या लिख भेजा है—"

"शिस्तूदास्तू (लगान) की बात है, कि कमान (गश्त) की बात है, कि क्या है, कौन कह सकता है?"

"नहीं तो महीन चावल, घी, कचूर, मुरगी, बकरी आदि की बात—" सोभेना ने कहा,—"किसी के घर शादी-ब्याह तो नहीं है ?"

"जंगल में आने पर उनके घर कब शादी-ब्याह जैसी धूम नहीं रहती है भला ?"—टङू कंध ने कहा—"कहीं पर एक बार पधारा नहीं कि भार-पर-भार और काँवर-पर-काँवर पहुँचाए जाने लगते हैं। हम बोझ ढो-ढो कर मरते हैं और 'बाइले-बाइले' (भार ढोनेवाले शादी-ब्याह के अवसरों पर यही आवाज लगाते हैं) चिल्लाते हुए आते-जाते ही रहते हैं। ठीक वैसे ही जैसे दूल्हन खेटने (पहुँचाने) के समय होता है।"

सभी हँस पड़े।

"चीज-बस्त के साथ अगर डंबँऽ परिवारों या ईसाई-परिवारों के लोग भी हों, तो निर्जन जंगलों में ब्याह मनते ही रहते हैं। ऐसी तो है उनकी रहन और ऐसे हैं उनके रिवाज।"—सोभेना बोला।

सभी होः—होः करके ठठा पड़े और हँसते-हँसते लोटपोट हो गए।

युवक साँवता ने एकदम गंभीर हो कर कहा—"तुम लोगों ने बस हँस भर दिया है केवल। बात तो समझते ही नहीं।"

"क्या ?"

"चिट्ठी तो गई। अब उसके पीछे-पीछे अगर कोई कमान (गश्त) पड़ गई, तब तो हमारी गत बन रहेगी। काँवरों और बँहगियों के भार ढोने-ढोते हमारे कंधे टूट जायँगे।"

"ऐसा न कह साँवता, ऐसा न कह। यह सब अशुभ बातें हैं। कब हमारे गाँव में किसी की कमान पड़ी है कि अब पड़ेगी ? हम तो जंगल की दुर्गम खोलों में बसे हैं। बहुत अरसे से वे सारे जंजाल हमारे यहाँ बंद हैं। कभी-कभी छठे-छमासे बड़े अधिकारी वहाँ उतर भी आए, तो आराम-चौकी की गोड़ियों (पायों) में बाँस बाँधकर डोली बना ली और उन्हें चढ़ाकर उठा ले चले। हाँ, अधिकारी उस डोली में बैठना चाहें तब ! और हम करेंगे भी क्या ? वे ठहरे हमारे माँ-बाप। छड़े अकेले लोग। उठाओ, ले चलो ! लेकिन इतने पर ही बस होता तब न ? वहाँ तो

दलाइत बाबुओं (चपरासियों) के लिए भी डोली चाहिए, गुमाश्ता बाबुओं (किरानियों) के लिए भी डोली चाहिए, टहलुओं के लिए चाहिए, तो रसोइए के लिए चाहिए, जूते ढोने वाले के लिए चाहिए, तो पानी ढोने-वाले के लिए चाहिए ! और सब के अन्त में, कुत्ते के लिए भी एक डोली होनी ही चाहिए। ये चढ़-चढ़ के बैठें और हम ढोएँ ! कैसा मखौल है ? "

डोली का रिवाज तो बन्द हो गया है सोभेना भाई। टिङू कंध ने कहा—" गबरमेंटू का अडर हुआ है कि डोली ढोना बन्द करो, नहीं तो पहाड़ की कितनी ही दुर्गम कंदराओं में क्यों न होते, इससे छुटकारा मिलने वाला नहीं था। "

" सच, सच। "—सोभेना ने कहा—" संड [1] साहेब आया था एक। आह, न जाने कहाँ गया बिचारा ! कहीं भी हो, उसकी बढ़ती होवे ! हजार बरस जिए वह। उसी ने छुटकारा दिलाया। छुटकारा दिला दिया कंधों को डोलीवाही से। वही इस रिवाज को बन्द कर गया। हाट-बाट में डुग्गी (ढिंढोरा) पिटवाई उसने कि गबरमेंटू-अडर, डोली बन्द। कि अब कोई भी किसी को डोली मत दे [2] । अहा—हा, देवता आदमी था देवता। बड़े भले मानस का डुमा [3] था। जहाँ कहीं भी हो, उसकी जय-जयकार होती रहे। कंध लोगों का असल माई-बाप वही था। "

बंदिकार का बूढ़ा जानी शळपू कंध अब एकदम जरा-जर्जर हो गया है। उसकी भौंहें और बरौनियाँ तक पक-पक कर उजली हो गई हैं। बूढ़ा बिचारा अपनी आयु का दुर्वह भार ढोता हुआ चुपचाप चला जा रहा था। संड साहेब का नाम सुनते ही उसकी धुआँ-धुआँ नीली आँखों से कोई आग-सी लौ ले उठी। उसकी देह के अंदर कोई बिजली-सी कौंध गई। कंध जाति कृतज्ञता के मारे बँध कर बंदी हो रहती है, दया पाकर आप-

१ संड का अर्थ होता है साँड़, लेकिन यहाँ तात्पर्य 'सैंडर्स साहब' से है।

२ किसी को डोली पर मत ढोए।

३ आत्मा।

ही-आप साँकलें पहन लेती है। इसके सिवा संसार में और कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो उसके दुर्दांत मन को बेड़ियाँ पहना सके।

"कौन-सा नाम ले बैठे रे बेटो, आज तुम?"—शळपू कंध ने गले की नसें फुला कर खोखली-सी आवाज में कहा—"आहा-हा-हा,—आज का सारा दिन धन्य हो गया। तुमने कभी देखा भी है उसे? उस संड साहब को? देखे होते तो ये पापी आँखें पवित्र हो गई होतीं।"

संड साहेब की यादों से राह की कर्कशता कोमल हो उठी। बूढ़ा शळपू कंध शून्य की ओर निहारता हुआ, बारंबार सिर नवा-नवा कर प्रणाम करता हुआ, कहता गया—

"अधिकारी आते हैं और शासन करने के लिए हमारी इस कंध पृथ्वी को विजय करते हैं; लेकिन संड साहेब? संड साहेब हमें प्यार करने आया था, हम पर श्रद्धा करने आया था, बेटे की तरह हमें पालने आया था।"

"पहले साहेब लोगों के डिसारी (मिशनरी पादरी) ही थे वह। फिर पुलिस के सुप्रंट (सुपरिटेंडेंट) होकर आए। साहेब भला किस लिए कहा जाय उसे? रंग में साहेबों-जैसा गोरा जरूर था, लेकिन अंदर से इतना भला था कि ठीक कंध की तरह ही था। हमारी ही तरह मोटिया खदि के कपड़े (लुगा-पटा) पहनता था, कद्दू की तुंबियाँ लटकाए फिरता था, बरसात होने पर 'पत्री' सिलाकर 'तळा-तळी' (बरसाती नहान) नहाता था, किसी एक ही आदमी को साथ में लेकर जंगल में पैठ जाता था। और ओह, चाल भी क्या चाल चलता था वह! क्या घाटी और क्या, 'डिक्का' सब 'हिंड' मारता था। हमारी ही तरह 'पेजे' (मँड़ए की लपसी) खाता था, पेड़ की जड़ों तले खुले में उघारे बदन ही सो रहता था। ऐसा तो साहेब था वह! न घमंड, न अभिमान, न ढोंग, न आडंबर, कोई भी बुराई नहीं थी उसमें।

"जब आता, हमारे लिए घुँगिया लिए आता, पीठा (केक) लिए आता। साधारण लोगों की तरह अकेले-ही-अकेले टहलता हुआ गाँव के,

गलियारे में आ पहुँचता और पुकारता—" नायक महाराज, साँबता महाराज प्रणाम, प्रणाम ! "

" ओसारे के ओटे पर बैठ रहता और कहता—'कोई डर नहीं, कोई भय नहीं। हम तुम्हारे बंधु हैं, अपने हैं। थोड़ा-सा 'पेज' खिलाओगे ?' संड साहेब एक महात्मा था महात्मा।"

" अपनी जाबी (जेब) से खाम निकालता, कागद निकालता और कहता—लो, यह लो ! तुम तो लिखना-पढ़ना नहीं जानते, फिर अगर कोई तुम्हारा आलरा (नुकसान) कर बैठे, तो क्या करोगे तुम ? यह देखो अगर कोई तुम्हें मारे-पीटे, तो इस कागद पर जले कोयले से इस तरह की एक लकीर लिख देना और अगर कोई पैसे माँगे तो इस कागद पर इस तरह का एक गोल निशान खींच देना। फिर उस चिट्ठी को इस खाम में बन्द करके भेज देना। कैसे भेजोगे ? हाट के दिन कोई नारण-पाटणा या डुमरीपुट या कोरापुट जा रहा हो, या किसी टेसन (स्टेशन) जा रहा हो, तो, उसी के हाथ भेज कर डाक में डलवा देना। चिट्ठी पाते ही मैं झट आ पहुँचूँगा। और आना भी था, वह, संड साहेब। वचन देता ही नहीं था, वचन निभाता भी था।

" कोई एक अधिकारी था, दोरागारू हाथी जैसा आदमी था वह। गरजता था, बाघ की तरह। उसके आते ही सभी का खून सूख-सूख जाता था। इतनी बड़ी-सी तो उसकी एक डोली थी। गाड़ी जैसी। इतनी बड़ी कि उसके अन्दर ही वह सो सके, बैठ सके, सामान रख ले सके। हर तीसरे कोस पर गाँव के लोग उसकी राह में खड़े रहा करते थे। साँझ के समय वह डोली में सवार होता था। डोली ढोने वालों को दौड़ती रफ्तार में उसकी डोली ढोनी पड़ती थी। डोली के दोनों ओर बीस-बीस आदमी जलती मशालें और बरछे लिए साथ-साथ दौड़ते रहते थे। उनके पहरे में डोली बढ़ती थी। हर छै कोस के ऊपर लोग बदले जाते थे। एक ही रात में कोरापुट से गिरलीगुमा तक की राह तय कर ली जाती थी, पूरे तीस कोस की।

"संड साहेब ने उसको भी सजकर सीधा कर दिया। एक बार वह डोली पर सवार होकर कहीं जा रहा था। ढो रहे थे हमीं, हाँ। हमीं अहोऽ। संड साहेब ने डोली रुकवा ली। दोरागारू ने कहा,--'कौन है ?' इन्होंने कहा—'मैं संड हूँ, मैं सुपरदंड हूँ, पहचाना ?' कहा—'बहुत ऐश कर लिया तू ने । अब चरबी बढ़ गई है, अब उतर जा और तू ढो डोली।' उसने हमें डोली में भर दिया और उससे डोली ढुलवाई। कहा—'अब समझा कि डोली चढ़ने में कैसा मजा आता है ? गबरमेंट का अडर (सरकार का आदेश) है कि डोली बन्द करो। तू ने किसी दिन और भी डोली की सवारी की है क्या ? देख, फिर चढ़ेगा डोली में !"

"संड साहेब डोली बन्द कर गया।"

सभी ने कहा—"बड़ा भला साहब था। जाने कहाँ चला गया। अब फिर उसे देख भी पाएँगे क्या ?"

"देख नहीं पाएँगे ?" शळपू कंध ने कहा—क्यों नहीं देख पाएँगे भला ? जब तक जीते रहेंगे, तब तक भले ही न देख पाएँ, क्योंकि वह कहाँ और हम कहाँ, लेकिन मरने के बाद तो भेंट होगी ही। उस नगरी में उसे खोज लेंगे हम। पूछ-पूछ कर ढूँढ़ निकालेंगे। कहेंगे, कहाँ गया हमारा संड। मैं बंदिकारिया [1] शळपू कंध आया हूँ। जरा बता तो देना उसे। फिर भेंट होगी। पहले ही जैसा नेह-मोह, पहले ही जैसा आदर-मान, पहले ही जैसी पूछ-ताछ, पहले ही जैसी खोज-ढूँढ़, सब कुछ पुराने दिनों का-सा ही होगा। वह हमें धुँगिया देगा, हम उसे पेज देंगे—।"

सभी एकदम मौन पड़ गए। बात चुक गई । लाल मिर्च आई है, शायद कोई पधार रहे हैं।—हाँ भाई सभी संड साहेब नहीं होते !

म्ण्यापायु [2] पास आया। चढ़ान पर धाङड़ियों का एक झुंड मिला।

---

१ बंदिकार गाँव का निवासी ।

२ मूल में यहाँ, शायद भूल से, बंदिकार का नाम छप गया है। नामों की यह गड़बड़ कई स्थलों पर है, उन्हें ठीक कर देने की स्वतंत्रता अनुवादक ने ली है।—अनु०

गीत छिड़े। जवाबी गीत छिड़े। गीतों-गीतों सवाल-जवाब हुए। छलांगें भरते, उछलते-फांदते, कपड़े उड़ाते, सारे फेफड़े का जोर लगा-लगा कर पुकारते हुए नौजवान आगे बढ़ चले।

लाल मिर्च की सुध भूल-बिसर गई।

इकतीस

म्‍यापायु गाँव के 'भेरामण'[1] में पंचायत बैठी है। कंध जाति के सामाजिक जीवन में बात-बात पर पंचायत बैठती है। किसी ने किसी को गाली दे दी तो पंचायत, किसी की गाय किसी की फसल चर गई तो पंचायत! ये सब तो खैर छोटी-छोटी बातें हैं। व्यभिचार का शमन करना, चोर को दंड देना, अन्याययुक्त विषय पर मतामत प्रकट करना आदि भी पंचायत के द्वारा ही होता है। फिर कंध-गोष्ठी के स्वार्थ की बातें हैं। कहाँ जंगल मारना[2] है, और कहाँ घर बनाना है, किस गाँव या दल से मित्रता करनी है, किस गाँव या दल से शत्रुता करनी है आदि-आदि विषयों पर पंचायत में ही विचार होता है।

आज की पंचायत में एक विशेषता थी। इस गाँव के बूढ़े बाअळी कंध का बेटा सुग्री कंध घर की दशा बिगड़ जाने पर दूसरे गाँव में जाकर भोगिला जगनाथँऽ नाम के शुंडी (सूँड़ी) के घर 'गोती' रह गया। गोती माने क्रीत दास या चाकर। उससे दसेक रुपए कर्ज लाया था। उस कर्ज के बदले में उसे दो साल तक बिना वेतन लिए उसकी चाकरी बजानी पड़ी। दिन-रात का बँधुआ हो गया वह। महीने में सिर्फ एक पुटी[3] मँड़आ खाने को मिलता। जाड़ों में एक कंबल मिलता। रुपए-रुपए वाला। सुग्री कंध साहूकार की बकरियाँ चराता। साहूकार के घर के पास ही बकरियों के रेवड़ का घेरा था। उस रात घेरे की रखवाली का भार साहूकार को सौंप कर सुग्री कंध खाना खाने चला गया था। लौटकर

१ गाँव के गलियारे का वह मध्य-स्थल, जहाँ कंध-गाँव की सभा-पंचायत आदि होती हैं।—अनु०

२ साफ करना या जलाना।

३ अनाज मापने का एक परिमाण = १० गउणी। १ पुटी।

जब तक वह आए-आए तब तक साहूकार भी अपने घर चला गया था। लौट कर आने पर सुग्री कंध ने देखा कि एक कलरा बाघ[1] घेरे में घुसकर सभी बकरियों का काम तमाम कर चुका है। अब उन्हें फाड़-फाड़ कर खाना ही बाकी रह गया है। सुग्री कंध टाँगिया उठाकर उस पर टूट पड़ा। बाघ भाग खड़ा हुआ। साहूकार को खबर मिली, तो वह भी आया और बकरियों का दाम सुग्री कंध के मत्थे कर्ज के रूप में मढ़ दिया। घेरे में अधिकांश तो पठरू मेमने ही थे; लेकिन साहूकार की दलील यह थी कि वे सभी कुछ दिनों बाद बढ़ते। इसी बिना पर उसने पठरुओं का दाम भी बड़े-बड़े बकरों के हिसाब से ही लगाया। कहने लगा, " तू अगर खाने के लिए घर न गया होता तो मेरे बकरे-बकरियाँ नहीं मरतीं न? इसलिए अब तू ही उनकी मौत का जिम्मेदार है और उनका दाम तुझे चुकाना ही पड़ेगा। " सुग्री कंध के पास रुपये-पैसे कहाँ? इसलिए साहूकार ने यह फैसला कर दिया कि इस साल तो वह पहले की शर्त के मुताबिक ही काम करेगा। साल लगने के बाद कर्ज के पाँच रुपए और बकरे-बकरियों के दाम के पचपन रुपये उसके मत्थे बाकी रह जाएँगे। इन साठ रुपयों के बदले में सुग्री कंध को पंदरह बरस खटना पड़ेगा। खाने के लिए महीने में एक पुटी मँड़ुआ मिला करेगा। वेतन के रूप में कोई रुपया-पैसा उसे नहीं मिलेगा। पाँच रुपए साल के हिसाब से ये साठ रुपए तो वैसे बारह वर्षों में ही सध-पट जाते, चुक जाते, लेकिन भोगिला जगनाथँऽ ने उससे यह बात मनवा ली कि इन पठरुओं के बढ़ने पर वह उन्हें बेचता और बिक्री से दाम के जो रुपए मिलते उन्हें सूद पर उठाता और सूद-दर-सूद ले-लेकर इन रुपयों को तिगुना कर लेता। इस तरह उचित तो यह था कि चाकरी की मीयाद पंदरह बरस के बदले बीस बरस की रखी जाती, मगर साहूकार ने दया कर के पाँच बरस माफ कर दिए हैं। इन्हीं सारी शर्तों के ऊपर पंदरह बरस की क्रीत-दासता का नौकरीनामा भोगिला जग-

---

१ चीते की जाति का एक लकड़बग्घा, जिसके बदन पर करैले की पत्तियों जैसे धब्बे होते हैं।—अनु०

नार्थँऽ ने आने के टिकस[1] वाले कागज पर सुग्री कंध से लिखवा लिया। भविष्य का यह रूप देख कर रो-पीट लेने के बाद सुग्री कंध ने गाँव के लोगों की सलाह लेने के लिए पंचायत बुलाई है। इसीलिए आज यह पंचायत बैठी है।

नौजवानों के दल और बूढ़ों के दल एक दूसरे से उलझ पड़े थे। खूब वाद-विवाद चल रहा था। इसी बीच बंदिकार के लोग भी आ गए। दिउड़् सांवता कह रहा था "दे मेंड़िदे (मत मान, इनकार कर दे)। क्या कर लेगा साहूकार तेरा? बाघ ने बकरों को खा डाला है, सो अच्छा ही किया। तू ने बाघ को सिखला थोड़े ही दिया था? दोष इसमें अगर किसी का है, तो साहूकार का ही है। तेरे आने के पहले ही रेवड़ का घेरा छोड़कर वह चला क्यों गया.? —"

बूढ़ों का दल 'मेंड़िदे' ने के विपक्ष में था। उनका अगुआ था लेंजू कंध। लेंजू कंध ने कहा—"तुम तो समझ ही नहीं पाते। साहूकार को हर-जाना तो चाहिए ही। अब वह हरजाना किस तरह पाए?"

"बाघ से ले हरजाना।"

"क्यों? 'गोती' बाघ रहा था या सुग्री गोती रहा था? खूब! गोती का काम है, बकरियों की रखवाली करना, बाघ का काम है बक-रियों को मारना। बाघ ने तो अपना काम ठीक ही किया है। अपना काम अगर किसी ने नहीं किया है, तो 'गोती' ने। सो, 'गोती' अब भरे हरजाना।"

"खूब साहूकार की ठकुरसुहाती बात कर रहे हो चाचा! बूढ़े लोगों का विचार क्या इसी तरह का होता है? या बूढ़ा होने से लोगों का माथा बिगड़ जाता है? बकरियाँ तो बाघ ने ही खाईं, बेचारे सुग्री ने क्या किया? वह तो साहूकार को कहकर जरा खाने चला गया था। यह कोई दोष में दोष हुआ, जो उसके मत्थे अपराध थोप रहे हो?"

---

१ स्टांप।

"नहीं, नहीं, माथा तो लौंडों-छौंडों का ही एकदम ठीक-ठाक रहता है। उन्हीं के विचार काँटों-तुले होते हैं। हुँह! सौंवता क्या हो गया तू, तेरी बुद्धि आसमान छूने लगी! हाँ ना? और हम बड़े-बूढ़े सब के सब उल्लू हैं। हओ, सुग्री कंध का कोई दोष हो कि न हो, अब तो साहूकार ने उससे लिखवा लिया है! अब क्या करोगे, करो तो देखें!"

"क्या करेंगे? उसका लिखा-पढ़ा उसके पास पड़ा रहे। धो-धो कर चाटे वह! या अपना लिखा-पढ़ा लेकर जाय अपने बाप के पास। इसमें हमारा क्या आता-जाता है? मैं 'गोती' नहीं खटने का। अब उसे जो करना है, करे।"

"ऐसी दुर्बुद्धि देकर तू सारे गाँव के लोगों को उजड़वा देगा रे छोरा। लौंडों-छौंडों की बुद्धिः—छिः—थूः—छिः!" लेंजू कंध ने पच्च से थूक दिया।

"मामूली सी बात पर तू बड़े लोगों से बैर मोल लेगा और एक के कारण सभी मरेंगे! कि नहीं? क्यों, क्या कहते हो पांडरू जानी? सच कहता हूँ कि नहीं? साहूकार की ओर सभी बड़े-बड़े लोग हैं। किसी को उसने पैसे दिए हैं, तो किसी को महीन चावल, कबूतर, गुड़, संतरे, अरहर की दाल आदि दी है। जरूरत पड़ने पर चाहे जितनी औरतें भी जुटा देता है। जितने बड़े-बड़े लोग आते हैं, सब के डेरे उसी के घर पड़ते हैं! और उससे बैर? बच के निकल सकेंगे हम लोग? उसके तो सब कुछ हैं, सभी हैं। हमारा ही कोई नहीं है, कोई नहीं, कोई नहीं।" लेंजू कंध ने अत्यन्त ही करुण भाव से अपना सिर हिलाया।

उसके ओजस्वी भाषण और उसके ढंग से सभी बड़े-बूढ़े मुग्ध हो उठे और सिर हिला-हिला कर कह उठे—"सच, सच।"

पांडरू जानी ने कहा—"सब योग की बात है बच्चो, योग की बात है। सितारों की माया है सब-कुछ। बेकार ही बहसा-बहसी में थूक सुखा रहे हो तुम लोग। यह रहा ऊपर (आकाश की ओर हाथ करके), यह रहा! ऊपर ग्रह-नक्षत्र घूम रहे हैं। उनके मिलने-बिछुड़ने से ही हमारे तुम्हारे भाग्य बनते-बिगड़ते रहते हैं। बहुत पुरानी बात है यह। साहूकार

का जन्म माकड़ी योग में हुआ है। इसीलिए वह पटकार[1] है। उसके पास हमारा सुग्री ठीक 'सअदा' योग में पहुँचा था। इस योग में आदमी की दुर्गत होती ही है। पठरुओं का जन्म 'मागा' योग में हुआ था। 'मागा' में जन्म न हुआ होता, तो उन्हें बाघ नहीं खाता। सभी योग एक साथ आ मिले। एक पटकार हुआ, पटकारी की। दूसरे को बाघ का ग्रास बनना था, बनना पड़ा। तीसरे की दुर्गत होनी थी, सो हुई। अब तो भाई, टँम (दस्तावेज) लिखी जा चुकी है, वचन दिया जा चुका है। अब मुकरोगे तो कैसे मुकरोगे?"

इसी तर्क के बीच बंदिकार के लोग आ पैठे। उन्होंने भी बहस में भाग लेना शुरू कर दिया। थोड़ी-थोड़ी देर रहकर लोग हो-हो-होइ-होइ करके एक ही साथ बोल-बोल उठते हैं। यही पंचायत में विचार करने का ढंग है। फिर, विचार हो लेने पर एक कहता है और बाकी सुनते हैं। फिर बहसा-बहसी शुरू हो जाती है।

दिउड़ ने कहा, "तुम बूढ़े न्याय की बात तो कहोगे नहीं, खाली डर-भय दिखाओगे या योग-महूरत की बातें करोगे। एक आदमी को साहूकार सेंतमेंत में परेशान कर रहा है, वह तुम्हारे आगे फरियाद करने आया है। और तुम हो कि बड़े लोगों के साथ बैर ठनने पर अपनी चमड़ी में खरोंच लगने के डर से डरा रहे हो और बहाने बना रहे हो! और तुम्हीं अपने आपको कंध मानते हो? लाज-शरम नहीं रही कि इस तरह डरी-डरी-सी बातें करते हो तुम लोग? बड़े लोग पीटते रहेंगे और तुम लातों की मार खाते हुए भी कहते रहोगे कि "चितम, चितम[2]"! मैदानी लोगों की तरह के किस गाँव के कंध हो तुम लोग? डरपोक बूढ़ों को अगर अपने प्राणों का इतना भय है, तो वे पंचायत में किस मुँह से बैठते हैं?" भारी गोलमाल मच गया। बंदिकार के बूढ़े शळपू ने गंभीर होकर कहा—

---

१ जालसाज, झूठा, ठग।
२ "जो आज्ञा, जो आज्ञा!"

"लड़का साँवता, तू किसी और गाँव का कंध नहीं है कि 'मेड़िदे'-ने की सलाह दे रहा है? कंध मरने से नहीं डरता। कंध डरता है "असत्त" से, अपने सत्त से डिगने से। तुम्हारे सुग्री ने वचन दे दिया है, राजी हो चुका है। अब उन सारी बातों को पलट देने का विधान तू किस अक्किल (अक्ल) से दे रहा है? कंध कभी भी वचन देकर वचन नहीं तोड़ता। अगर साहूकार ने अन्याय किया है, तो उसे दंड वह देगा (ऊपर की ओर हाथ उठाकर)। दंड देने का अधिकार तुम्हारा नहीं है। तुम तो अपनी बात में आप ही बँध पड़े हो!"

सभी मौन पड़ गए। थोड़ी देर सोच-साच कर हारगुणा ने कहा—"जानी, शत्रु को ठिकाने लगाने का कोई योग नहीं है क्या?"

"है, है क्यों नहीं? हमने क्या कभी युद्ध नहीं किया है? हमने क्या कभी शत्रु का निपात नहीं किया है?"—पांडरू जानी की आँखें चमक उठीं। शून्य की ओर आँखें उठाकर उसने कहा, "अभी हाल ही की तो बात है। न जाने कितनी मार-काट हुई, कितने युद्ध हुए। 'रोहिणी' योग में 'मेड़िया' की पूजा की जाय। 'अस्ता उत्रा' के शुभ योग में घर से पैर निकाले जायँ। 'जेटी' योग में युद्ध आरंभ किया जाय। 'पुर्षआ' योग में शत्रु का निपात किया जाय—"

"तो फिर वही हो जानी। साहूकार हमारा शत्रु है। हमें 'पुर्षआ' योग चाहिए। हम कमाएँ और वह खाए? हम भूखों मरें और वह दौलत सहेजे? तीन कौड़ी के आसामी से वह साहूकार बन बैठे, और हम बिना दोष के लातें खायें? उसका कर्ज तो बाप-दादों के सात-सात पुश्तों में भी सध न पाए और हमारी गाय ब्याने पर उसे दूध के कलदार याद आएँ? उसकी बकरी को खाए बाघ, और हरजाना हम भरें? ना-ना-ना! वह हमारा शत्रु है, शत्रु है! दो निकालो 'पुर्षआ' योग। 'टुणु हायुँमुँ' (मारो, मारो!)[1]

नौजवान आसमान गुँजाते हुए गरज उठे—"टुणु हायुँमुँ, टुणु हायुँमुँ!"

१ कंध जाति का समर-घोष।

उसके बाद बूढ़ों की फटकार शुरू हुई।—"छिः छिः ! क्या हो गया है तुम नौजवानों को ? ऐसे तपते माथे से तो अपने पैरों में आप ही कुल्हाड़ी मार बैठोगे ! बाप-दादों के नाम डुबो दोगे तुम ! पुलिस है, मेसरेट (मजिस्ट्रेट) है, कैदखाना है, फाँसी है। फिजूल फिजूल, ओसारे में खड़े होकर 'टुणु हायुँमुँ, टुणु हायुँमुँ' चीख रहे हो ! बुद्धि भी है माथे में या सिर्फ दारू ही दारू भरी है ?" पंचायत उठ गई। बआळी और सुग्री निराश होकर लौट गए।

उसके बाद अतिथियों के आवभगत का अध्याय शुरू हुआ। दारू, घुँगिया और मीठी बातों का दौर चला।

"इतने दिनों बाद?—"

"धाङड़ी ढूँढ़ने निकले हो माँवना ?"

"वह दुख की बात क्यों छेड़ते हो ? मरब माँवता मर गया !"

बत्तीस

'अच्छा तो यही हारगुणा है!'—पुबुली ने उसे देखा। यह कहाँ का दूल्हा है उसका! क्या खाकर?

उसने मन-ही-मन जाने कितनी ही कल्पनाएँ की थीं। फिर अपनी आँखों से देख लेने पर छाती थरथरा उठी। लाज लग रही थी। शायद सचमुच उसी के लिए हारगुणा आया है। नहीं तो इतने लोगों को साथ घसीट लाने और बँहगी-काँवर ढोए लाने का क्या—

घर के भीतर से पुयू पुकार उठी—"आज दिन-भर कहाँ भटकती रही है युवती? सिर के बाल तेरे रूखे फर-फर उड़ रहे हैं। देह सारी धूल से अटी पड़ी है। आ, जूड़ा बाँध दूँ।"

"और तू कहाँ की बनी-ठनी सोह रही है पुयू, कि मुझे चुन रही है?"

"अच्छा अच्छा री, हुआ, हुआ, आ, आ।" पुयू ने हँस-हँस कर पुकारा—"अब वयस आ रही है मेरी रूप-सिंगार करने को। मुझे पीछे दूल्हे पसन्द नहीं करेंगे, न करें, तू तो आ, कुछ खा-पी भी तो ले!"

पुबुली को हँसी नहीं आ रही थी। अनचीन्हे-अनजाने लोगों को देखकर और उनके उद्देश्य की गंध पाकर वह कुछ-कुछ घबरा-सी गई थी। डर लग रहा था। इस संधि-काल में मन स्थिर नहीं था। जितनी ही बार वह सोचती कि अब कोई निर्णय कर लेना उसके लिए आवश्यक हो उठा है, उतनी ही बार उसका मन और भी शंकित हो-हो उठता, और भी पीछे की ओर हटता जाता। वह सोचती कि अभी वह इस बात के लिए प्रस्तुत नहीं है। सोचती कि उसे अभी कुछ और देख-सुन लेना है, और सोच-समझ लेना है, कि उसे कुछ और समय चाहिए, मुहलत चाहिए।

किसी ने कहीं पर तुरही फूँकी। हाकिना टुकुर-टुकुर ताकता आहट ले रहा था। हाकिना की आँखों में अब समझ की लौ बलने लगी है। पुबुली ने हाकिना को गोद में ले लिया और बहलाने लगी। बड़ा शीतल

लगा। मानो इस पेंगे भरते अंधड़ में यह बित्ते-भर का बच्चा ही उसका आश्रय हो। पुयू हँस रही थी। पुयू जाने क्या कह बैठे, इस आशंका से पुबुली भीतर-ही-भीतर कँपकँपा रही थी। बोली—"जाती हूँ मैं। बच्चे को जरा घुमा-फिरा लाऊँ—"

"अरी जा, जा," पुयू बोली, "भली बुद्धि कभी तो नहीं आएगी न तुझे?—बच्चा गोद में लेकर बाहर निकलेगी तू? और अगर कोई यह समझ बैठे कि यह छौना तेरा ही है तब? फिर कोई वर तेरे पास फटकेगा भी? कौन दौड़ा-दौड़ा आयगा किसी बच्चेवाली के पास? कह तो भला? यों नहीं करते! बच्चा मुझे दे दे। धो-पोंछ कर साफ-सुथरी हो ले और फिर सज-धज कर, बन-ठन कर, निकल। हारगुणा आया है। बंदिकारिए आए हैं। ऐसी मत हो—" पुयू ने ठठाकर भारी-भारी-सी हँसी हँस दी और हाथ बढ़ा दिए। हाकिना उछलकर माँ की छाती से जा चिपका। पुबुली दौड़ती हुई भाग खड़ी हुई।

पुयू पुकारती रही—"इस तरह बेचैन होकर भाग चली री! ऐसी भी क्या जल्दी है? न फूल पहने, न हार पहना—"

पुबुली को लाज लग रही थी। बहुत दिनों के बाद आज उसे लाज लग रही है। बात पक्की हो जाने पर बनवासी लड़की को लाज नहीं लगती। तब तो वह बल्कि आगे-आगे ही चल निकलती है। मायके के सभी नेह-मोह, सभी माया-ममता के डोर काटकर वह पराए हाथ धरे-धरे जंगलों-जंगलों कहीं और चली जाती है। लेकिन अभी उसकी बात पक्की नहीं हुई है। हारगुणा आया भी है, तो असमय आया है। 'अदिनिया'[१] आया है हारगुणा। बचपन के दिनों में जिस तरह की फुसुर-फुसुर लगाए रहता था, उसी की कोई प्रतिमूर्ति हो मानो।

साँझ डूबी जा रही थी। गाय-गोरू वन से लौटे आ रहे थे। पुबुली

१ युवक-युवतियों के पूर्वराग के लिए निश्चित दिनों में न आकर अन्य ऋतुओं में आये विवाहार्थियों का आगमन 'अदिनिया' आगमन कहलाता है।—अनु॰

जल्द-जल्द पैर बढ़ाती गाँव के बाहर की ओर चली जा रही थी। राह में जिस किसी से भी भेंट होती, सब के मुँह में बस एक ही रट थी—"हारगुणा आया है, हारगुणा आया है।" "किधर चली जा रही है तू? हारगुणा आया है।"

पहाड़ी पठार की साँझ, सूरज का डूबना दसों दिशाओं को रँगे डाल रहा था। वन की फुनगियों की लहरियादार सतह के ऊपर सुनहरी रंगीनी की अबीर-गुलाल-सी झर रही थी। चैती बयार सुकुमार किसलयों से सजे-धजे अधनींदे ऊँघते पेड़ों को सहला रही थी। क्या यह बयार और क्या ये पेड़, सभी धीरे-धीरे मलिन पड़ते जा रहे थे। हर कहीं एक ही बात गूँज रही थी—"हारगुणा आया है—"

पुल्में मिली—"आज अकेली ही निकली? हाँ हाँ, मैं समझ गई! जा, जा! मैं जान गई कौन-कौन उधर जा रहा है। हारगुणा आया है।"

गाँव के बाहर, सुपारियों के कुंज में एक सुपारी के पेड़ तले, जड़ के पास, एक सिल पड़ा था। पुबुली उसी सिल के ऊपर टाँगें पसार कर बैठ गई और सोचने लगी। सोचने लगी कि लोग उसकी स्वाधीनता झपट ले जाने के लिए इतने आतुर क्यों हैं? हारगुणा आया है तो आए, उसका क्या—

बिना कारण ही पुबुली को रुलाई आने लगी। पुबुली रो पड़ी। रोने से मन कुछ-कुछ हलका लगा। वह रह-रह कर बस एक ही बात सोचती रही। फिर-फिर कर वही बात, वही बात। बाप न रहा, सरबू साँवता न रहा। जाने कहाँ से हाकिना के रूप में उसके 'डुमा' (आत्मा) का नया जनम हुआ! सो, यह हाकिना भी अब पीछे छुट जायगा। पुयू छुट जायगी। गाँव छुट जायगा। और फिर किसी अनजाने वन-देश में उसकी अपनी दुनिया बसेगी।

उसे जाना ही पड़ेगा—

हारगुणा!—हाँ कि नहीं?—हाँ और नहीं के बीच झूठमूठ की आँखमिचौनी खेलते-खेलते आज हारगुणा सचमुच आ पहुँचा है। बचपन

के दिनों में दोनों ओर के बूढ़ों-बूढ़ों के बीच बात ठहरी थी। हारगुणा अपने दावे की बात उठाएगा। हारगुणा की बात सोचते-सोचते बेशू कंध याद आने लगा। हारगुणा छोटा पड़ गया। बेशू बड़ा हो गया। बढ़ता गया। बढ़ने आ रहे अँधियारे की तरह। अँधेरा बढ़ा। वहाँ तारे जगमग कर उठे। तो क्या सचमुच ये जगमग तारे ही उसके मनोदेश के भीतर की इस अति-विचलित चिन्ता के केन्द्र-बिन्दु हैं? अँधेरा घना होकर घिर आया। वहाँ हारगुणा के लिए कोई स्थान नहीं। बेशू कंध निश्चय ही आएगा। वह बाट जोहती रही है, जोह रही है, जोहती रहेगी। आएगा वह जरूर! हवा चली। पुबुली को कुछ आश्वस्ति-सी महसूस हुई।

आती बेर हारगुणा की आवाज सुनाई पड़ी। गाँव के गलियारे में धुँगिया के टोंटे टिमटिमा रहे थे, गप चल रही थी। पुबुली को लाज नहीं लगी। सारी लाज वह गाँव के बाहर उँड़ेल आई थी। हारगुणा की बात से उसका मन फिर चिहुँक उठा; लेकिन अब कोई मोह नहीं रहा था। उसकी चेतना जाग उठी थी।

क्या कह रहा है वह?—मवेशी मर गए हैं!—आह बड़े दुःख की बात है यह! वह चुपचाप घर लौट आई। भीतर पुयू चूल्हा सुलगाए बैठी थी। बाहर घुप्प अँधेरा था। उसने पुकारा "पुयू"! "क्यों री, बड़ी चुप-चुप आ रही है? भेंट हुई?" पुबुली घर के भीतर पैठ गई।

तैंतीस

पराए गाँव के लोग आए हैं। रात के समय आज फिर मौज-मजे होंगे। मिणियाका वंश के दिउड़ू साँवता ने दारू, मांस, धुँगिया आदि सभी चीजें जुटा रखी हैं; इसलिए कि कहीं ऐसा न हो कि लौटकर वे निन्दा-अपवाद फैलायें कि मिणियाका लोगों को अतिथि-सत्कार करने की रीति-नीति का पता नहीं है। अतिथि की आवभगत करने के गुण में कंध जाति इतर सभी जातियों से दस अंगुल बढ़-चढ़कर ही है। खाने-पीने की पूछना, बोलना-बतराना, लोग जुटाना, दिल खोलकर मौज-मजे कराना आदि तो कंध जाति की अति-साधारण भद्रता है। कंध केवल इतना ही चाहता है कि अतिथि सीधे-सादे लोग हों। कंध की किसी वस्तु पर, कंध की स्त्री पर आँख न गड़ाएँ, किसी का अपमान न करें, किसी को कष्ट न पहुँचाएँ। बस, केवल इतना ही।

नशेबाज चिड़ड़ू कंध की स्त्री चिल्ला-चिल्ला कर अपने सोए पति को जगा रही थी—"कैसा आदमी है तू? अतिथि की कोई खोज-खबर नहीं रखता, बस दुनिया में इसे अपना ही पेट सूझता है, अपनी ही नींद सूझती है। उठता है कि नहीं—?"

इस गाँव के सभी कच्चे-बच्चे, लौंडे-छौंडे और बड़े-बूढ़े बंदिकारिया लोगों को घेरे बैठे थे। भद्रता और शिष्टाचार की औपचारिक शब्दावली का आदान-प्रदान चल रहा था। धुँगिया की लेन-देन की "लीजिए-लीजिए, पीजिए-पीजिए" चल रही थी और 'राज्य भर' की [1] जाने क्या-क्या बातें चल रही थीं। अनर्गल प्रवाह चल रहा था बातों का।"

"किसी-किसी गाँव में बाघ भी लगे हैं? इस साल किधर 'पोड़ू' कर रहे (जंगल जला रहे) हैं आप लोग?—हाट में क्या-क्या निकाला —

---

१ दुनिया भर की।

"अमीन का सँदेशा आपके गाँव पहुँचा है कि नहीं? लगान के रुपये जुटा रखे हैं? अमीन के साथ चपरासी कौन आ रहा है, कुछ पता है?"

"चोरी-चकारी का भय तो नहीं बढ़ा है आपके गाँव में? डंबॅऽ लोगों ने हाथ मारना शुरू तो नहीं किया है न?"

भाँति-भाँति की बातें होती रहीं। बातों का भी कोई ओर-छोर होता है? बेजुणी बुढ़िया को बुलाहट गई। बेजुणी ने कहा—"कल सवेरे! रात के समय देवता के आराम में गड़बड़ मचाना ठीक नहीं!" वह हँसी। बोली—"इस गाँव में युवतियाँ नहीं हैं क्या? रात के समय बुढ़िया का नाच देखने की यह फरमाइश भला किसलिए?"—हार मानकर रात भर अपेक्षा करनी ही पड़ी। बेजुणी की बात का कोई जवाब तो होता नहीं।

रात को डम-बाजा बजाकर गाँव के गलियारे में नाच हुआ। सभी नाचे।

आधी रात हो आई। नशे में माते लोग लड़खड़ाने लगे। जंजइ और पुबुली थक कर दल से बाहर निकल आईं। गाँव के बीचोंबीच बल रहे उस उजियारे के चारों ओर काजल-काली अँधियारी रात थी। रह-रहकर हू-हू कर उठती हवा में पहाड़ के ऊपर के गाँवों के नाच-गान की गूँज तिर-तिर आती थी। चैत का तेवहार आ चला है, यह उसी की अगवानी में बाजे बज रहे हैं।

गाँव के अन्दर से होइ-होइ की आवाज सुनाई पड़ रही है। यह नाच का गर्जन है। घरों में जो रह गए हैं, वे भी सभी सो चुके हैं। जंजइ ने कहा—"बड़ी भली रात रही री, आज बहुत दिनों बाद नाच हुआ।—"

"हाँ"—पुबुली ने कहा—"लेकिन उस रात-जैसी रात फिर नहीं आने की। उस रात कैसी सुन्दर चाँदनी छिटकी थी? और आज तो बस अँधेरा ही अँधेरा है!"

"उस दिन के भेंडिए [1] भी बड़े मौजी थे, हँसाते-हँसाते पेट में बल डाल दिए थे। क्यों, फिर वे आए तो नहीं न अभी तक? भौंरे कहीं के!"

१ क्वाँरे जवान।

"क्यों, कितनी दूर है!"—पुबुली ने कहा—"पुयू के मायके का गाँव वण-मिङटिङ है। उस समय तो न्योता था, इसलिए आए थे। रोज-रोज वे थोड़े ही आते रहेंगे?"—पुबुली का मन कुछ भारी-भारी-सा हो गया। मानो यह प्रश्न उसके अपने ही मन के भीतर का प्रश्न हो, और जवाब भी अपने ही अन्दर से आया हो। वहाँ, उस अन्तर-देश में, शांति नहीं थी।

"अच्छा, एक बात बताएगी पुबुली?—यह हारगुणा जो है, सो तो निश्चय ही तेरे लिए ही आया है। अब यह बता कि तू जा कब रही है उसके घर?"

"धत्।"

"धत् क्या? बड़ा अच्छा होगा पुबुली। कैसा चंट लड़का मिला है, सो तेरा मन ही जानता होगा।"

"तू तो सिर्फ अल्लम-गल्लम ही बकती है। जान पड़ता है कि तेरा जी फिर नाचने को ललचा रहा है। अगर ऐसी बात है तो चल, लौट चल।"

जंजइ ने बारम्बार हारगुणा की बात उठाई; लेकिन पुबुली टालती गई। लौट चलीं वे। पांडरू डिसारी अपने घर के आगे अधलेटा-सा उठँगा हुआ ऊपर की ओर मुँह किए बैठा था। बैठे-बैठे सितारों को निहार रहा था और धुँगिया के कश लगा रहा था। जंजइ ने पुकारा—"डिसारी—"

डिसारी चौंक पड़ा। "अँधेरे में कौन-सा नटखटपना किए जा रही थीं री 'टोकियो'[1]। उधर गाँव में नाच हो रहा है और इधर तुम—"

"हम चोरी करने निकली हैं डिसारी।"

"किसे चुराने चलीं? सो क्यों?"

"तुझे ही चुराना है डिसारी।"

डिसारी हँसा। बोला—"मैं तो बूढ़ा हूँ भाई। न रक्त है, न मांस है। और जो कुछ है भी उसकी रखवाली करने के लिए घर की डायन लाठी लिए बैठी है। किधर जा रही थीं?"

"बड़ी बुरी रात है डिसारी,"—पुबुली ने कहा—"बहुत उमस है।"

---

१ क्वाँरी छोरियो, युवतियो।

"तुम कहती हो कि रात बुरी है? मैं कहता हूँ कि बड़ी भली है आज की रात तो। यह देखो न, अभी अद्रा योग लगा है। जो खोजोगी, वही मिलेगा—"

"सच रे डिसारी, सच?"—जंजइ ने ठिठोली की। "जो खोजूँ वह मिल जायगा? खोई हुई गाय खोजने पर मिल जायगी?"

तीक्ष्ण दृष्टि से उसके मुँह की ओर ताककर डिसारी ने हँसते हुए कहा—"खोई हुई गाय ही क्यों? खोया हुआ आदमी भी पुकारते ही पास आ खड़ा होगा। है कोई ऐसा? पुकारा जाय?"

जंजई सकपका गई। उसकी वयस की अनेक लड़कियों के अपने "खोये हुए आदमी" हुआ करते हैं, जिन्हें अँधेरी रातों में टटोल-टटोल कर ढूँढ़ने की इच्छा होती है। पुबुली ने कहा—"अच्छा, डिसारी दादा, रात-रात भर यों बाहर बैठे-बैठे जो तुम ऊपर की ओर निहारते रहते हो, सो इतना देखते हो भला क्या दादा?"

"इतनी बड़ी बात क्या कह कर तुझे समझाऊँ बेटी?—"

"सचमुच इसमें कोई बात है भी?"

"कुछ नहीं है? देखो, कैसी सुन्दर अँधेरी रात है? अँधेरी—" मधु चाटने जैसा मुँह बना कर डिसारी ने कहा— "अँधेरी,—कितनी सुंदर!" (फिर ऊपर की ओर हाथ उठाकर)—

"आज उनकी रात है। सभी बड़े-बड़े निकले हैं आज। सत्ताइसों आसनी-बारनी-कार्तिका, रोहिनी-मेड़िङशिरा-आद्रा-बेड़ताई-पुषुवेली-साळपा-मागा राँडा-आस्ता-उत्रा-सअदा-लदा-जेटी-मुडा-सुड़ा-साह्णी—कितने-कितने नाम गिनाऊँ? बूढ़ा ठहरा। आज सभी वहाँ निकल पड़े हैं। सभा कर रहे हैं। और मैं उनका पुजारी हूँ। ऐसी रातों को, अनजान लोग तो दारू पिएँगे, नाचेंगे, घर के भीतर सोए पड़े रहेंगे, लेकिन मैं?—मैं भी भला सो रहूँ क्या—?

"अँधेरा है, थोक का थोक, ढेर-का-ढेर अँधेरा है और ऊपर-ऊपर अलग-अलग अलाव जलाए वे सभी बैठे सभा कर रहे हैं। कितना सुन्दर—"

गपोड़े बूढ़ों के पास बैठे रहने से चिढ़ लगती है। उधर बाजा दमादम दमादम बज रहा है, हँसी और गीत की गूँजें छलकती-छलछलाती आ रही हैं। बाजे के ताल-ताल पर पैर आप-ही-आप कँपकँपा कर थिरक-थिरक उठते हैं। जंजइ ने कहा— "इतनी बातें जानते हो, डिसारी बूढ़े, यह तो बताओ कि हमारी पुबुली को वह हारगुणा इस बार लेगा कि नहीं? इतना दल-बल साज कर आया है— "

"हारगुणा? बंदिकारिया साँवता?" डिसारी होः—होः—होः करके ठठा पड़ा—"हारगुणा इस टोकी (युवती) को लेने आया है? ना! पूछ तो भला उससे। वह उससे-उससे, उसका नाम है बेड़ूताई —" बूढ़ा डिसारी और भी हँसा। बोला, "बेड़ूताई योग में जनम हो या ब्याह हो तो दुख-ही-दुख भोगने पड़ते हैं।" उसने गंभीर होकर कहा, "बड़ा दुखिया होता है वह री, बड़ा दुखिया होता है। पुबुली जैसी युवती को वह कदापि नहीं पा सकेगा। बेड़ताइ का ऐसा हुकुम ही नहीं है।"

उस मध्य रात में न जाने किस प्रेतलोक से यह दोटूक जवाब आ पहुँचा। निर्मम, निष्ठुर जवाब! करुणा का इसमें कोई स्थान नहीं। जो कुछ भी आदमी देखता-सुनता है, समझता-बूझता है, वह सारा-का-सारा मानो खोखली हवा है। उसकी मानो कोई रूप-रेखा नहीं है, कोई स्थूलता नहीं है। वह तो सिर्फ इस छोर से उस छोर तक बहे जाने के लिए है। सब कुछ मिथ्या है। सत्य अगर कुछ है तो बस यह अँधेरा ही है। सत्य अगर कुछ है तो सिर्फ ये तारे ही हैं। सत्य अगर कुछ है, तो बस इस बूढ़े डिसारी का प्रलाप ही है। रात की चिड़ियाँ चचहा उठीं। लड़कियाँ चौंक उठीं। अँधेरी रात में दैवी वाणी बड़ी ही अशुभ लगी। दोनों दौड़ी-दौड़ी नाच की ओर चलीं।

बूढ़ा डिसारी फिर ठठाकर हँस पड़ा। बोला—"मूर्ख!" और फिर शांत होकर सितारों को पढ़ने में लीन हो गया।

चौंतीस

नाच समाप्त होने पर हारगुणा पुबुली के पास आया। दोनों हथेलियाँ बढ़ाकर बोला—"हे नूनी [1]—"

"क्या ?"

"मेरे साथ खेलोगी नहीं ?"

"खेल तो लिया। इतना नाचा। अब और क्या चाहिए ?"

हारगुणा सकपका गया। चुप्पी साधे खड़ा रहा। पुबुली ने ही कहा—"जाती हूँ। बड़ी नींद लग रही है।"—अब हारगुणा ने मुँह खोला। कहा—"सुनता हूँ, कल मैं चला जाऊँगा, कल मैं चला जाऊँगा—" पुबुली चल पड़ी थी तब तक, चली ही जा रही थी। हारगुणा को यह बहुत बुरा लगा। उसे बहुत-कुछ कहना था। सोचा, तो क्या ब्याह की बात भी मैं कह डालता आज ? ब्याह करने का निश्चय तो अभी किया ही नहीं है, कहता क्या ? पुबुली इस तरह भागनेवाली तो नहीं थी। शायद मान कर रही हो। बाप मर गया इसका और मैं सौगात लेकर नहीं आया। इसीलिए शायद रूठी हो। अरे भाई, काम-काजी आदमी ठहरा। इसमें मान-अभिमान की कौन-सी बात है ? पुबुली सदा की नकचढ़ी रही है। थोड़े में ही खिसिया जाती है, और फिर थोड़े में ही मान जाती है। यही सब सोच-साचकर हारगुणा साँवता अपने मन को तोष-बोध देता रहा। उसकी भी आँखें झिपने लगीं। राह का थका-माँदा और तिस पर यह नाच ! सोचा—चलो, चैत का तेवहार आ चला है, उसी समय देखा जायगा।

पुबुली के घर पहुँचने के समय तक पुयू सोई नहीं थी। उसकी आँखों में नींद नहीं थी। अँधेरी रात, नाच का गूँजता शोर और घर में वह बच्चे को लिए बिल्कुल अकेली ! नींद आए भी तो क्योंकर ? बच्चा जाने कब-

---

१ किसी परिवार की सब से बड़ी लड़की को 'नूनी' कहकर संबोधित करते हैं।—अनु०

का सो चुका था। उसके अपने सारे धाङड़ी-पने की प्रतिनिधि बनकर पुबुली बाहर गई थी । बाहर गई थी, यानी वहाँ गई थी जहाँ जाकर मानुष-पना सार्थक होता है, जहाँ आदान-प्रदान का महोत्सव होता है, जहाँ अँधेरे की रेत तले चिर-यौवन की फल्गु-धारा—"

आज उसके लिए कुछ भी नहीं है ! वह तो सब अँधेरे की भागी है—

पुबुली आई । "क्यों री ? सोई नहीं क्या री ?"

"बड़ा गरम है।"

"हाँ—"

पुयू का मन और भी सुलग उठा।

पैंतीस

गाँव के परले छोर पर बीमा कंध के सबसे अलग अकेले खड़े घर के ओसारे के ओटे के ऊपर बंदिकारिया अतिथि सो रहे थे। घर के उस ओर महुए का एक पेड़ है। बड़ी मनोहर सुगंध आ रही थी। हारगुणा को नींद आ गई थी। रात ढल चुकने पर उसने एक सपना देखा। देखा कि वह अपने गाँव के पास बकाइन [1] के पेड़-तले एक बड़ी ऊँची बाँबी के ऊपर बैठा हुआ है। उसके सिर के ऊपर दो सींग उग आए हैं। दोनों बाँहों के पास दो डैने उग आए हैं। बाँबी के उस ऊँचे आसन के ऊपर वह बैठा हुआ है और जाने कितनी क्वाँरी युवतियाँ उसके आगे हाथ जोड़े खड़ी हैं। वे अत्यन्त करुण स्वर में उसकी बिनती कर रही हैं, चिरौरी कर रही हैं। उसी झुंड में पुबुली भी है। वह सब के आगे है। वह बारंबार गरजता हुआ हुंकार रहा है—"ना, ना, ना !"

किसलिए चिरौरी-बिनती कर रही हैं वे ? इतने सुकुमार कंठों से यह कैसा निष्फल अनुरोध एक ही लय में कँपकँपाता ही चला जा रहा है ? हारगुणा ने अपने डैने झाड़ लिए। डैनों की फड़फड़ाहट का शब्द उसके कानों के परदों पर बज उठा। अब उसने यह निश्चय कर लिया कि यहाँ से उड़ चलना है। ठीक उसी समय "ओह-ओह" चिल्लाती हुई और दोनों हाथ बढ़ाए हुई पुबुली उसकी ओर लपक पड़ी। हारगुणा उसे देख कर वहाँ से हट नहीं सका। पुबुली की गुनगुनी साँसें उसके मुँह और गालों को सहलाने लगीं। पुबुली की आँख से आँसुओं की धारें छूट चलीं। अपनी वीरों जैसी मुद्रा को थोड़ी देर के लिए ढीली कर के हारगुणा ताकता रहा। चारों ओर सिर्फ आह-आह! ओह-ओह! की गुहारें-ही-गुहारें थीं। चारों ओर सिर्फ गुनगुनी-गुनगुनी सी आहें-ही-आहें थीं। चारों ओर प्राणों के भीतर की तपती हुई हूक धधक रही थी।

---

1 लिबाड़ो या महानीम।

हारगुणा की नींद खुल गई। यह सब-कुछ सचमुच का-जैसा लग रहा था। उसने आँखें फाड़ फाड़ कर चारों ओर देखा। कहाँ गईं वे सारी की-सारी युवतियाँ, वे चीन्ही-अधचीन्ही क्वारियाँ ? यहाँ तो बस अँधेरा-ही-अँधेरा है। हाँ, अँधेरा कुछ पतला जरूर हो गया है; लेकिन आस-पास कहीं से वही मर्मभेदी गुहार, वही हाहाकार, वही 'ओह-ओह, ऊह-ऊह' ध्वनि आ रही है। सपने का नशा टूट गया। रात विषैली-विषैली सी लग रही थी। ओटे के नीचे जाने क्या तो अँधेरा वृत्त-जैसा बँधा था और संसार की जितनी भी करुणा-वेदना है, सारी मानो उसी ओटे तले सिमट आने को बनी हो, जिस पर कि उसे आज सोना था! हारगुणा ने अपना बरछा उठाया, टाँगिया कंधे पर डाला और फाँद कर खड़ा हो गया। कोई आकस्मिक घटना घटित होने पर वन-देश के लोग ठीक इसी तरह चौकन्ने हो उठते हैं। नीचे की ओर देखने पर उसके होश खुले। ऊँचे ओटे पर तो वह सचमुच सोया था, लेकिन नीचे पुबुली नहीं थी, बल्कि एक बहुत बड़ा रीछ था। दोनों हाथों से नोंच-नोंच कर उसने ओटे की उपरली किनारी तक खोद डाली थी और बहुत ही दुखी होकर कराह रहा था। हल्ला मचाकर हारगुणा ने सभी सोनेवालों को जगाया—"ओड़े सोइ, जांबा-जांबा (अरे भाई, रीछ है रीछ!) "हो-हो" करते हुए सभी हड़बड़ा कर उठ खड़े हुए। रीछ भाग गया। उसके बाद हँसी के दौर चले। आफत टल जाने पर वन-वासी लोगों को हँसी छूटती है। उस दिन की पौ इसी तरह फटी। चैत चढ़ जाने तक भी पहाड़ी देश में भोर के पहर कड़ाके की ठंड पड़ती है। अलाव सुलगाए गए और गप शुरू हो गई। जिस समय उजाला होने-होने को था, उस समय गाँव की क्वाँरी युवतियाँ उसी रास्ते से बाहर गईं। हारगुणा सांवता सोचने लगा कि आखिर किसलिए दौड़ा-दौड़ा आया है वह? भोर के समय की उस अप्रिय चेतना के बाद अन्तर्मन धधक रहा था। सुबह-सुबह आदमी रीछ का मुँह देख ले तो शायद वह सारा दिन ही निष्फल जाता है। कुछेक पाड़े ही तो मरे थे? मरे, मरे। हुआ क्या? प्रथा के अनुसार बेजुणी नाच ही चुकी थी। काम खतम

हो चुका था। उसके बाद और भी जाँच-पड़ताल करने की, हलचल मचाने की, इतनी लंबी राह तय करके पराए गाँव में भागे-भागे आने की क्या जरूरत थी भला? कोई नहीं, कोई नहीं! लेकिन काम करते समय तो जरूरत-बेजरूरत का होश कंध को कभी आता नहीं! पाँच जने बैठते हैं, पंगत जमती है। उसमें जो कुछ करने का निश्चय होता है, वही होता है। उसके बाद दौड़-धूप में बल चुक जाने पर, दम उखड़ जाने पर सभी थके-माँदे घर लौटते हैं। रोज-रोज के कामों की सूची में इस तरह के अनामी काम अनेकानेक बार आते हैं। कोई है कि इस गाँव से उस गाँव, उस गाँव से किसी और गाँव के चक्कर लगाता हुआ, चिल-चिलाती धूप में कबूतर मोल लेता फिर रहा है। कोई है कि चूहे पकड़ने निकला है और कोई है कि कंधे पर टाँगिया धरे गीत गाते हुए एक चक्कर घूम आना ही उसका एक काम है।

शळपू कंध ने कहा—"बूढ़े साँवता के दिनों में यह गाँव कितना सुन्दर लगता था? आज-कल क्या हो गया है इस गाँव को?"

सोभेना ने कहा—"बूढ़े, क्या सभी दिन बैठे ही रहेंगे। अगर कहीं ऐसा हुआ, तब तो उनके 'डुमे' (आत्माएँ) फिर नया जनम पाएँ ही नहीं। और जनम लेने को 'डुमे' ही न होंगे, तो नए बच्चे पैदा कहाँ से होंगे? लोग ब्याह कर-करा के बाट जोहते बैठे रहें। बाल-बच्चों का होना बन्द। यह लो! बस यही तो होगा बड़े-बूढ़ों के बने रहने से। कि नहीं?"

शळपू कंध ने कहा—"मान लिया कि यह बात सच ही है। लेकिन इन विचारों को लेकर माथा-पच्ची करने की तुम्हें क्या पड़ी है? तुम तो ब्याह करने की ओर मन देते ही नहीं अब—"

हारगुणा ने कहा—"मन देने से क्या ब्याह हो जाता है?"

शळपू ने कहा—"नहीं तो और कैसे होता है?"

हारगुणा ने कहा—"आह, अरे, जब जो होना होता है, वही होता है...."

टिड्डू ने कहा—"सच सांवता, सच। जब इतनी लंबी राह तय करके आ ही गए हैं, तब अच्छा तो यही होता कि तेरे ब्याह की बात भी पक्की किए ही चलते। सिर्फ बेजुणी नचाकर ही लौट चलने का इरादा तो नहीं है न?"

शळपू ने कहा— "अब कौन बैठा है बात पक्की करने को। सांवता तो मर चुका है।"

सोमेना ने कहा—"टोकी[1] को पूछा था? न हो तो चलो, उठा ही ले चलें। कुल में चलन तो है ही। 'टोकी' का मन हो, तो उठाकर नौ-दो ग्यारह हो जायँगे। कोई क्या कर लेगा हमारा?"

शळपू ने कहा—"उस तरह का उदुलिया ब्याह करेगा? अपने गाँवका सांवता होकर भी? उदुलिया[2] ब्याह या तो गरीब-गुरबे करते हैं, या वे लोग जो ब्याह के लिए कन्या के घरवालों को राजी नहीं कर पाते। इन दोनों में से किस कोटि में आता है हमारा सांवता, कि चुरा-चुरा कर, छिपा-छिपा कर ब्याह करेगा? किसलिए भला? भली तरह के पाँच लोगों को बैठाकर कह-सुनकर कन्या लेने से कोई मना कर देगा क्या?"

टिड्डू ने कहा—"सच, सच।"

शळपू ने कहा—"सच-सच नहीं तो और क्या? तुम क्या झूठ-झूठ ही सोच रहे थे। अरे बच्चे, धाङड़ियाँ नचाते-नचाते इतने दिन तो काट लिए, अब और कब तक काटेगा तू? अब तो चुन ले, अब तो ब्याह कर ले! अपने मन को ठिकाने कर ले, पक्का कर ले, दूल्हन चुन ले, ताकि पीछे किसी और को देख-देख कर मन हाय-हाय न कर उठे। उसके बाद, हम एकाध बूढ़े जो अभी तक बच रहे हैं, उनके रहते चाहे जो भी मौज-मजे कर ले। हमें सिर्फ कह भर देना, ताकि हम अपनी रीति-रस्म

१ क्वाँरी युवती अर्थात् पुबुली।

२ भगोड़ा ब्याह। लड़की का लड़के के साथ भाग जाना। इस प्रथा के विस्तृत विवरण के लिए अध्याय पचपन और चौंसठ देखिए।—अनु०

पूरी कर लें। ऐसा न हो कि हमारे लिए तुम्हें या तुम्हारे लिए हमें किसी की बातें सुननी पड़ें।

हारगुणा साँवता ने इस सदुक्ति का कोई जवाब नहीं दिया। वह कभी तो यह सोचता कि पुबुली से ब्याह कर ले और फिर यह सोचने लगता कि इतनी जल्द ब्याह करके किसी एक के पास बँध जाने के लिए अपने मस्त-बेपरवाह 'धाङ्ड़ापने' से एक ही छलाँग में 'डोक्रापने'[1] की ओर कूद पड़ने के लिए अभी मन ने पुकारा तो नहीं है, फिर जल्दी क्या है? इस खुले-छुट्टे जीवन को कुछ दिन और पकड़े रह कर भावी दूल्हे का खेल खेलते जाना जरूरी है! ना, इतनी जल्दी नहीं करनी!

खेल खेलना जरूरी है!

सच। लेकिन खेलते-खेलते अगर पुबुली भी हाथों से खिसक कर निकल गई तो? कहीं इसी तरह और भी सारी जानी-सुनी, चीन्ही-पहचानी धाङ्ड़ियाँ अपनी-अपनी मरजी मुताबिक जहीं-तहीं चली गईं तो? मन सब कुछ सह लेता है, सिर्फ यह नहीं सह पाता कि अपने अधिकार जताने को दस-पाँच भी झुंड में न रहें। मन सिर्फ इतनी बात नहीं चाहता कि भोग भी न हो और पीछे भोग की सामग्री भी बची न रहे। मन पकड़ना तो नहीं चाहता, लेकिन पकड़ छूट जाने पर भीतर-ही-भीतर हाहाकार भी मचाता है। आगा-पीछा में पड़ कर मन यही सोचता है कि जान पड़ता है, जो चीज हाथ से निकल गई वही सब से अच्छी थी, उससे अच्छी अब फिर और कोई चीज नहीं होगी।

सुबह मन को खूब पक्का करके वह निकल पड़ा और पुबुली के नदी से लौटने की राह पर एक पेड़ तले बाट जोहने लगा। पुबुली के साथ टूक-आध-टूक बात कर लेना नितान्त आवश्यक था। पुबुली ठीक उसी राह से लौटी थी। लेकिन अकेली नहीं थी, साथ में क्वाँरी युवतियों का एक पूरा झुंड लिए थी, चढ़ान से मुड़ने की राह पर देख-देख कर, पुबुली को धकिया-धकिया कर गोल बाँध-बाँध कर उसे उधर ठेलती हुई वे ठट्ठा

---

१ डोक्रा = विवाहित लोग, बड़े-बूढ़े।

करने लगीं—"ए री, देख खड़ा हुआ है !" टिटँऽ ने गीत छेड़ दिया। हार-गुणा सकपका गया। गीत का कोई जवाब उसे ढूँढ़े नहीं मिला। सोचा,—धत्तेरे की, पीछे देखा जायगा।

"पीछे देखा जायगा, पीछे देखा जायगा" के फेर में बेर अबेर हो गई, सुयोग हाथ नहीं आया।

छत्तीस

चहल-पहल मची। गाँव के गलियारे में बेजुणी नाची। इसी तरह कभी-कभी उसके भी गर्व-गौरव के दिन आ जाया करते हैं। इसी तरह कभी-कभी उसकी प्रमुखता स्वीकार करके पराए गाँवों के लोग भी उसकी सहायता माँगने आ पहुँचते हैं।

देवता!—देवता तो सब कहीं है। देवता के अवयव हैं, आकाश। देवता मनुष्य से कहीं ऊँचा है। देवता करता रहता है, मनुष्य उसका किया सहता रहता है। पर मनुष्य सोचता है कि वह अपने उपायों से देवता को बाँध कर गोष्ठी के सामने ला खड़ा कर सकता है, उसे वर देने के लिए, राह बताने के लिए, अपना कर्म समझा-बुझाकर निपटारा करने के लिए, कैफियत देने के लिए, मजबूर कर सकता है। इन्हीं उपायों के लिए मनुष्य तमाम तरह के उपादान जुटाता है। अपने मन के विश्वासों, पूजाओं, बलि, भाँति-भाँति के क्रिया-कर्मों आदि का संग्रह-संचय करता है।

साँवता ने पूछा—"देवता, मेरे पाड़े क्यों मरे?"

बेजुणी ने उत्तर दिया—"कोई क्यों मरता है? आयु पूरी होने से ही तो?"

"किसने मारे देवता, हाथी जैसे छै-छै पाड़े मेरे गाँव के, किसने मार डाले?"

बेजुणी ने हँस दिया। कहा—"बावला हुआ है तू बेटा? कोई किसी को मार भी सकता है भला? सब मैं ही करता हूँ। मैं ही जिलाता हूँ, मैं ही मारता हूँ। सब मैं ही करता हूँ।"

"कह दे देवता, कह दे, किसने ऐसा दंड दिया हमें? गाँव में पूछा, बेजुणी नचाई, तो वहाँ तूने कहा कि मैं नहीं कहता, मेरी मरजी! अब यहाँ पूछता हूँ। इस तरह मुझे भरमा रहा है तू!—जो चाहिए तुझे, सो

बोल दे, दे दूँगा, तुझे कोटि-कोटि नमस्कार है, कह दे। कह दे कि मेरे पाड़े किसके हाथों मरे, क्यों मरे, तेरी पूजा-अर्चा में कोई त्रुटि तो नहीं हो गई, कोई ऐसी बात तो नहीं हो गई, जो तुझे पसन्द न हो?—"

वन-वासी मानुष तर्क नहीं समझता, साफ-साफ दो टूक बातें ही समझता है; स्पष्ट बातें, निदान की बातें ही समझता है— किसने?—किसलिए?—

बेजुणी अपने मन की मौज में सात फेरे नाच गई। चैत के लँगड़े भूत की तरह। शायद देवता सचमुच ही अपनी छवि दिखला रहा हो। ऐसा कुछ लग रहा है, मानो देवता अपने मन की मौज में दोनों किनारे ढाता उफनाता-उतराता चल रहा हो। सभी आशावान हो उठे और देवता के 'वाक' की बाट जोहते रहे। बड़ा भयंकर है यह देवता भी। बूढ़ी बेजुणी के ऊपर नाट्यदेवता सवार हो गया है। मसान के खप्पर में सांय-सांय चलती पवन की तरह। धूप-गुग्गुल का उठता हुआ निष्कंप धुआं, मुरज की थाप, फूल, भिलांवे के फल, प्रलय-काल की ध्वंसलीला की याद करा देने वाले विकट बाजे—सभी एक अलौकिक वातावरण की सृष्टि कर रहे थे। इन सभी उपादानों के बीच में उत्ताल ताल से बेसँभाल हो-होकर नाचते नर-कंकाल-सी बेजुणी अत्यन्त ही बीभत्स लग रही थी। उस पूरे कंकाल में उसकी आग उगलती-सी दो आँखें और असंभव रूप से वक्र भौहें ही सब से अधिक उभरी-उभरी थीं। बेजुणी होश में नहीं थी। देवता के होश-हवास नहीं होते, जो कुछ भी असंभव होता है, जो कुछ भी अद्भुत होता है, जो कुछ भी मनुष्य की साधारण अभिज्ञता की सीमाओं से बाहर का होता है, उसी को मनुष्य साधारणता को मापने के पैमाने के रूप में अपने सामने खड़ा कर रखता है, उसी को मनुष्य अपना देवता मान लेता है।

सभी घेरे बैठे थे। अब शायद बेजुणी जवाब दे तो दे। टूक-भर बात में यह बात खुल जायगी कि बंदिकार के अनिष्ट का जिम्मेदार कौन है। पांडरू जानी धूप को निहारता हुआ 'योग' मिला रहा था। घात-सी लगाए बैठा-बैठा उपयुक्त समय की बाट जोह रहा था। उस समय के

आते ही पांडरू जानी ने पूछा—"कह बेजुणी, कह देवता, किसने मारे बंदि-कार के पाड़े ? बड़ी आस लगाकर उस गाँव के लोग तेरे चरणों तले दौड़े आए हैं। अब कह दे तू कि पाड़े क्यों मरे....."

उसी भाँति अनमनी होकर बेजुणी ने कहा—"तुम भी मानुष की जातिवाले कैसे होते हो ? हर बात पर अँधेरे वन की माया का हाल पूछ बैठते हो तुम। हर घड़ी तुम्हारी यही चाह रहती है कि किस उपाय से देवता के हाथों से दैव की चाभी झपट ली जाय। बच्चो, सारा-कुछ तो तुम्हारे प्याले में उँड़ेल ही चुका हूँ। पोंछ-पाँछ कर सब ढाल दिया है, रख ली है तो सिर्फ तले की थोड़ी-सी तलछट गाद भर ही। अब वह भी तुम ले लेना चाह रहे हो—'

"देखो न अब और क्या रहा है मेरे पास ? क्या रहा है ? भूखी-रीती झोली के फूली पोल के भीतर सूखी-सिमटी कुछेक जड़ी-बूटियाँ भर ही तो हैं ? और सो भी न जाने कितने-कितने युगों की पुरानी हैं। यही मेरा अंतिम धन है, यही मेरा कौड़ियों का हार है। इसे भी तुम्हारे ही लिए रख छोड़ा है। तुम उसके उपयोग का ढंग समझ नहीं पाओगे।

"अगर आज वह भी मेरी झोली से निकल जाय और निकल कर तुम्हारे हाथों में आ भी जाय, तो क्या तुम समझ पाओगे कि क्या क्या है और क्यों है ?—कैसे ? तब शायद उजाले के बाद अँधेरी रात आए ही नहीं। तब शायद यह वन-पृथ्वी चाँदनी में कभी दमके ही नहीं। तब शायद सब कुछ पा चुके होने की निराशा में, सुख की पूर्णता में तुम सभी डूब मरोगे, उसी तरह, जिस तरह कि दारू की हाँड़ी में चींटियाँ-पिपरियाँ डूब-डूब मरती हैं। तुम मेरी पूजा करते हो, तुम मुझ से भय खाते हो, पर वह भय केवल भय ही तो नहीं है न ? वह तो अनजानेपन का सुख है, स्वप्न है, अनजाने की माया है, आँख मूँदकर निर्भर करने का भरोसा है। इतना ही तुम्हारे सुखों का शेष भाग है। यह भी अगर चला जाय, छिन जाय, तो राह-बाट पर बीतने वाली जाड़े की अँधेरी रात कैसे कटेगी तुम्हारी ? जब तारों की झिलमिलाहट तक न होगी, जब दूर खड़े किसी

पेड़ की आड़ में लुकझुक करती आग की कोई छोटी सी लौ तक न होगी, सिर्फ साँय-साँय सनसनाती पवन भर ही होगी, तब तुम्हारी कैसे कटेगी ?

"तुम सब कुछ जान लेना चाह रहे हो, पर सब-कुछ जान लेने के बाद जानते हो क्या होगा ? जानने का मोह टूट जायगा। सब कुछ कर सकने की सामर्थ हो जाने पर गढ़ने-सिरजने की पूँजी चुक जायगी। फिर उसके बाद नीरस, कठिन दिन गिनते रहना अच्छा तो लगेगा न ?

"ना ना, मेरे प्यारे बच्चो, मैं दरमू हूँ, मैं दरतनी हूँ, मेरा अपना सिरजा हुआ यह संसार इसी भाँति चलता रहे, सुख और दुख के रंग चढ़ते-उतरते रहें, उजाला और अँधेरा पास-पास छिटकते रहें—

"ना बच्चो, ना, तुम्हारे सुख की जिम्मेदारी मेरे ऊपर है,— तुम अबोध-निर्बोध ठहरे, मैं नहीं कहूँगा, नहीं कहूँगा—

सभी मुँह बाए ताक रहे थे। सभी "आँ-आँ" किए सुन रहे थे। बंदिकारिए बड़े ही असंतुष्ट हुए। कहाँ उनका सवाल और कहाँ इसका यह जवाब ! जवाब क्या है, कुछ गोल-मटोल सी गड़बड़-गड़बड़ बातें हैं ! एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। यह तो भाई, बात टाल जाने का एक बहाना हुआ। सभी सुगबुगा रहे थे। अगर कोई शांत था तो शळपू कंध। बड़े मनोनिवेश के साथ वह बेजुणी को निहार रहा था। और उसकी बातों पर बारंबार सिर हिला रहा था। उसके चेहरे पर न जाने कितने ही रागों-अनुरागों, कितने ही रसों-तृप्तियों की छवि लहरियों की भाँति खेल-खेल जाती थी। बेजुणी को निहारता हुआ शळपू कंध बारंबार सिर हिला-हिला कर कह-कह-उठता—"आहा-हा ! आहा-हा !" थोड़ी ही दूर पर एक टीले जैसी ऊँची जगह पर बैठा पांडरू डिसारी पराए गाँव के लोगों के ऊपर अपने गाँव की बेजुणी के भाषण के प्रभाव को कूत रहा था। शळपू कंध की तल्लीन अवस्था देख-देख कर आत्मप्रसाद से उसका माथा और आँखें चमक-चमक उठती थीं।

हारगुणा का धीरज छूट गया। वह अपने-आपको सँभाल नहीं सका। सोमेना को जोर से झकझोरता हुआ कहने लगा, "हाजुः हाजुः (जा जा,

अर्थात् उठ, चल, चलें।) अच्छी बावली के पल्ले पड़ गया आदमी! जाने क्या-क्या बके जा रही है। न इसकी बातों की पूँछ का ठिकाना, न मूँड़ का। (अर्थात् बेसिर-पैर की बक रही है।) कौन बात कहाँ जाके लग रही है, उसका मानी-मतलब क्या है, कुछ पता नहीं। भरसक न? सुबह-सवेरे रीछ का मुँह देख कर उठा है आदमी, तो और क्या हो भला?—हाजुः हाजुः बया मयाश्ने। (चल चल, वह तो बावली हो गयी है।)"

सोभेना हँसा। बोला—"पक्की बावली है बुढ़िया, देवता लगा है उस पर या पागलपन का दौरा सवार हुआ है। इस गाँव के लोग ऐसे वज्रमूर्ख हैं कि ऐसी बावली की बकवास सुनने के लिए इस तरह से वे ध्यानमग्न हुए रहते हैं। बेकार ही आदमी इतना कष्ट उठाकर इस 'निस्ता'[1] गाँव को दौड़ा आया। कल रात मच्छड़ों ने इतना काट खाया है कि कुछ न पूछ!—छिः!"

हारगुणा ने कहा—"चल, चलें। अब देर क्यों की जाय? पिछली रात की हरकतें, सुबह-सवेरे का वह रीछ, दोपहर की यह बावली, इसके बाद और क्या-क्या होनेवाला है, कौन जाने? इस गाँव से भाग चलने में ही भला है।"

सोभेना ने कहा—"सच, सच। यहाँ पानी है, पर पिया नहीं जाता। यहाँ फूल हैं, पर उनमें सुगंध नहीं है। यहाँ मनुष्य हैं; पर उनमें बुद्धि नहीं है।—देख, देख, कैसे छलाँग रही है। बच्चे देखें तो डर के मारे गश खा जायँ!"

बातों से खीझ कर शळपू कंव ने कहा, "अनमने होकर देवता की खीज मोल मत लो बच्चो।—अरे सुन, सुन।—अहा-हा, कैसी सुंदर बात है!—अरे देख, देख!"

"बुढ़िया का नाच तू ही देखता रह दादू, हमें क्या पड़ी है?!"

"हाँ, हाँ। तुम्हें तो धाङड़ी के नाच की पड़ी है!—जा, जा।"

---

१ बुरे। गाली का विशेषण।

बेजुणी बहुत सारी बातें बक गई। बारंबार सवाला-सवाली करने पर कहा उसने कि बंदिकार के पाड़ों को आदमी ने नहीं मारा, देवता ने रोग भेजकर मारा है। इसमें किसी की बस नहीं चलती। बेजुणी का देवता उतर ही नहीं रहा था। और जब तक देवता उतर न ले, तब तक शळपू कंध वहाँ से टस-से-मस तक होने को तैयार न था। हार मान कर नौजवान उसे वहीं छोड़कर उठ खड़े हुए और चुपचाप वहाँ से निकल गए। दिउड़ू साँवता के घर खाना-पीना था। बाहर ओसारे में पुयू बैठी थी। पुबुली बैटी थी। पुयू का मन छटपटा रहा था, साँसें फूल-फूल सी रही थीं कि हाय, पुबुली के व्याह की तो कोई बात ही नहीं उठी। बंदकारियों के आ जाने पर पुबुली किसी काम के बहाने घर के भीतर चली गई। पुयू ने कहा—"देखा, तुम लोगों से लजा रही है। अरी, ये तो तेरे अपने ठहरे। पहले घर तो फिर पराये। घर में कितने दिनों तक घुसी बैठी रहेगी तू?" जामिरी कंध की बुढ़िया आ पहुँची। हारगुणा को लक्ष्य करके बोली—"हमारी क्वाँरियाँ तुम ले जाओगे और क्वाँरियों की मैं जो माँ हूँ, उसे पूछोगे तक नहीं? सोभेना ने टिटोली करते हुए कहा— "हम क्वाँरों के बाप होते तब न!" पुयू ने कहा— "यह गुपचुप-गुपचुप बातें क्या छेड़ रखी हैं? हमारी कन्या[1] चुराकर तो नहीं ले जाना चाहते?" हारगुणा ने कोई जवाब न दिया। सिर्फ हँसता रहा। जामिरी कंध की बुढ़िया ने कहा—"आह! आज सरबू साँवता जो होता कहीं! क्यों री? इस हारगुणा को कितना प्यार करता था वह? नहीं तो क्या यों ही बात ठहराई थी उसने? इकलौती बेटी उसकी और उसे यह ब्याहेगा, सो क्या यों ही?" इतने में सोभेना और टिङ्कू ने भीतर की ओर लक्ष्य करके पुकार छोड़ी—"केंकड़े की तरह बिल में छिप रहने से काम नहीं चलने का। निकल आ, निकल आ जरा।"—"क्यों साँवता, बात तो कर न, रे?" "हाँ, ! यह भी अच्छी कही। इतने लोगों

१ कुलपुत्री।

के सामने बात निकल पाएगी भी ? जहाँ बात होने की बात है, वहाँ तो —" इसी तरह न जाने कितने टहोके और अनर्गल ठिठोलियाँ होती रहीं। हारगुणा का मुँह और पुबुली का मुँह, ये दो मुँह ही ऐसे थे, जो मानो बन्द करके सी दिए गए हों। वे एक-दूसरे को कनखियों से ताक-झाँक रहे थे। इसी चुप्पी और मौन के परदे के पीछे दोनों एक दूसरे को जाने कितने-कितने ढंग से माप-तोल रहे थे, फिर भी बाहर केवल मौन-ही-मौन विराज रहा था। हारगुणा ने रूठे से दंभी स्वर में पुबुली की ओर मुँह करके पूछा— "हम तो आए। अब तुम लोग हमारे गाँव कब चल रही हो ? चैत में आओ।"

पुबुली किवाड़ से चिपकी दाँतों से नख खोंट रही थी। उसकी ओर से पुयू ने कहा— "उससे क्यों पूछते हो ? अपने मन से पूछो। देर सही नहीं जा रही शायद !—" दिउड़ आ रहा था। म्थ्यापायु के 'भेंडिया' जवान चले आ रहे थे। हारगुणा ने बात मोड़कर कहा, "नहीं,—मैं तो इसलिए कह रहा था कि हमारे वन में बहुत सारे साँभर उतरते हैं। लोगों का कहना है कि उन्हें बळिया कुत्ते [1] कळाहांडी के जंगल से खदेड़ लाते हैं। तुम लोग आ जातीं, तो खूब शिकार करते, नाचते, घूमते-फिरते। सैर ही करना तो ठहरा !"

इसी तरह और भी बहुत सारी बातें हुईं। हारगुणा की बातों में कोई एक इंगित रहता, कोई एक संकेत रहता; लेकिन बस, संकेत भर ही। इससे अधिक कुछ भी नहीं। पुबुली के ब्याह की बात साफ-साफ न तो उठी, न ठहरी। और सच तो यह है कि कंध-समाज में उस तरह से ब्याह की बात शायद ही कभी-कभार ठहराई जाती हो। जब वर-कन्या दोनों एक-

---

१ ये जंगली कुत्ते बड़े खूँखार होते हैं। कहते हैं कि जिस जंगल में ये होते हैं, उसमें बाघ नहीं रहता, डरकर भाग जाता है। हिरनों आदि को ये कुत्ते खदेड़ कर पीछे से काट लेते हैं और फिर मार कर खा जाते हैं। इनकी दो जातियाँ हैं। एक जाति के बळिए सिर्फ जोड़ों में चलते हैं। एक नर और एक मादा। दूसरी जाति के बळिए दल बाँधकर झुंड-के-झुंड विचरते हैं।—अनु०

दूसरे को देख-सुन लेते हैं, जब पहली उफान के बाद दोनों के मन पक्के हो लेते हैं और दोनों आपस में बात पक्की कर चुकते हैं, तभी दोनों पक्षों के बंधु-बांधवों की बैठक हो पाती है। दारू और धुंगिया के दौर चलते हैं और उसी खान-पान के दौरान में बात उठाई जाती है। वर-पक्षवाले कन्या माँगते हैं और कन्या-पक्षवाले कन्या का सोना ('झोला') माँगते हैं, फिर दोनों एक दूसरे की माँग को मान लेते हैं।

बेर ढलने लगी। बंदिकारिए उठे। जाते समय हारगुणा साँवता दिउड़ साँवता को न्योत गया —"जरूर आना—जरूर—"

वन-देश की उन्मुक्त तितली! उसका भी मन करता रहता है कि पकड़ जाय!

वह रहे वे। वह चले जा रहे हैं वे लोग — ! वह वहाँ, वह दूर पर वहाँ। —पुबुली अकेली खड़ी-खड़ी देखती रही। अब वे खात में उतर पड़े हैं...क्या तेज चाल है—आदमी जीवन-भर इस तरह जल्दी में क्या पड़ा रहता है ? जब देखो तब हड़बड़-हड़बड़! वह उतरे वे। अब उनके सिर ओट में आ रहे, छिप रहे। अब वे ढालवान की आड़ में पड़ गए।—पुबुली देखती रही। वे चले गए।

एकटक से ध्यान लगाए वह देख रही थी। पांडरू डिसारी क्या कह रहा था ? कि हारगुणा के साथ उसका ब्याह कभी नहीं होने का! लेकिन इस समय पांडरू डिसारी की बात पुबुली के मन से बिलकुल पुंछ गई थी। वह तो सिर्फ लम्बी-लम्बी उसाँसें भरती देखे जा रही थी। पराए गाँव के लोग जंगलों-पहाड़ों को लाँघ कर आए थे, फिर जंगलों-पहाड़ों को लाँघते वापस चले गए! शायद फिर कभी नहीं आएँगे वे!

इस घाटी के ढलवानों पर उसका बचपन के दिनों का एक सपना लुढ़क पड़ा। इतने दिनों से वह सपना यौवन के साथ-साथ देह और मन के ऊपर बढ़ता जा रहा था, चढ़ता जा रहा था। आज कुछ-कुछ ऐसा लग रहा है, मानो वह अपनी जगह सूनी करके कहीं उड़ गया हो, कहीं चला गया हो। अब लौटकर नहीं आयगा वह, कभी नहीं आयगा! हारगुणा

उसे कोई सौगात नहीं दे गया। हारगुणा उससे बात खोल तक नहीं गया। हारगुणा अब उसका नहीं रहा, नहीं रहा! यह बात उसके नारी-मन ने उसे असंदिग्ध रूप से समझा दी है। पुबुली के मन में चोट लग रही थी। और फिर रह-रह कर मन-ही-मन शिकारी की आन का तेज कौंध-कौंध उठता था। देख लेगी वह! हारगुणा को वह पैरों तले रौंद कर छोड़ेगी।

फिर पीछे की ओर लौट-लौट कर मन न जाने क्या-क्या देखता-सुनता और वहीं पीछे की ओर से आकुल हो-होकर पुकारता,—"आ आ, लौट आ। मैं खेलूँगी खेल, खेलूँगी।"—पर बाहर केवल नीरवता ही नीरवता थी। मुँह पर ताला-सा जड़ा था।

वे आँखों से ओझल हो गए। उनके ओझल हो जाने पर उसके कानों में नारी के चरम अपमान, व्यर्थता, ने झाँव-झाँव करना शुरू कर दिया। वह खड़ी धूप में मुँह सुखाए अनमनी-सी खड़ी रही।

बाहर का चित्र सिर्फ इतना-सा ही था कि पहाड़ के ऊपर बसे किसी गाँव की कोई साधारण कंध लड़की दूर दिगंत में दृष्टि गड़ाए खड़ी थी और अलसाई हुई-सी महुए के फूल की गंध से मँहमँहाती पवन में कुछ निहार रही थी। यह तो नित-दिन का एक अत्यन्त सामान्य चित्र है!

किन्तु—

किन्तु पुबुली जली जा रही थी, गली जा रही थी। हारगुणा के लिए नहीं, अपने लिए। अपने भीतर जिस एक आदमी की रूप-छवि का साँचा वह सँजोए हुए थी, वह भी वहाँ से निकल चला है, अन्तर के उस भाग को रीता कर चला है। बाहर जो लोग जुलूस बनाए हुए से चल रहे थे, वे भी अब एक-एक करके पाँत से छिटकते जा रहे हैं और पसीने में तर-बतर होते हुए भी बढ़ते ही जा रहे हैं, छिटपुट, अलग-अलग। कोई रुका नहीं रहता—

वह उन्नीस की हो चली, फिर भी वह अभी अपूर्ण ही है......
कोई रुका नहीं रहता।

सैंतीस

गाँव के उस छोर पर के उसी गिरे-पड़े-से घर के कूड़ा-करकट-भरे आँगन में गाल पर हाथ दिए बैठी सोनादेई जाने किस-किस की बातें, जाने कितनी-कितनी बातें सोच रही है। कौन है उसका?

उसके तन के कपड़े अब भी उसी तरह फटे-चिटे हैं। बाल अब भी उसी तरह रूखे-रूखे, बिखरे-बिखरे हैं। और चितवन?—चितवन नित्य के इस एकाकी, असहाय, निरुपाय जीवन की भावनाओं से बोझिल-बोझिल, भारी-भारी-सी है।

कभी वह भी अपने माँ-बाप के घर हँसती थी, खेलती थी, फूल गूँथ-गूँथ कर पहनती थी। कभी उसके भी तरुण मुखड़े को कितने ही युवक ललचाई, हसरत-भरी निगाहों से निहारते रहते थे। उसके बाद ज्वार उतरा, भाटा आया। पति मिला निठल्ला, नामर्द, बाळमुंडा।

पहले तो कुछ दिन भूल-भरम के भंग होने में ही लगे। उन दिनों, जब तक भ्रम पूरा-पूरा टूटा नहीं था, तब तक मन मतवाला हो-हो उठता था, देह गरम हो-हो उठती थी। पर आकुल होकर टटोलते-टटोलते हार जाने तक सिर्फ गूँगी रेत ही हाथ आती थी। अभाव मिटने का नाम ही नहीं लेता था।

उसके बाद पिटी लीक पर पैर बढ़ चले। छाँहों-छाँह बढ़ चली वह। तमाम उद्वेग, तमाम आवेश, तमाम इच्छाएँ, कहीं छिप रहीं। इस पिटी लीक के जीवन ने उसे अच्छा-खासा भुलावा देकर एक तरह से मोह रखा था। उसका अपना निकम्मा और वज्रमूर्ख पति, ससुर, देवर, सब अपने हो चले थे। भले ही चोर हों, भिखारी हों, उनकी लस्टम-पस्टम गिरस्ती का केन्द्र वही तो थी! हाँ, उस गिरस्ती का केन्द्र सोनादेई ही थी। गिरस्ती चलाने का आनन्द बलि पड़कर पाया जानेवाला आनन्द होता है। इस आनन्द में दिन माया की सी भूलभुलैयों में कटने लगते हैं।

इसी तरह न जाने कितने पुरुषों और कितनी स्त्रियों के दिन कटते हैं। परन्तु जाने कब के, किस अतीत मन का स्मारक चिट्ठी की तरह हवा में उड़ा-उड़ा आ जाता है, कौन जाने? आके कहता है, मैं पहचानता हूँ, पहचानता हूँ। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पानी के सेक (सिंचन) का सुयोग पाकर ठूँठी टहनियों में बिना पत्तों के ही बौर लग जाते हैं। और फिर सभी यादों में ताजगी आ जाती है। भूत का भूत (अतीत का प्रेत) सिर पर सवार हो जाता है।

यमुना उलट कर बहने लगती है।

दिउड़ सांवता गाँव का सांवता है। कोई बात हो कि न हो, वह कारण-अकारण आ धमकता है और बारिक-बूढ़े को पुकार-पुकार जाता है। उसके ठीक पीछे-पीछे न जाने क्या-क्या खोज-पूछ करता हुआ लेंजू कंध आ पहुँचता है; लेकिन वह आकर उलटे पाँव लौट नहीं जाता। अटका रह जाता है। सोनादेई के पास आकर अत्यन्त कोमल स्वरों में सुख-दुख की बातें करता है। अपनी सुनाता है, सोनादेई की पूछता है। उसके मुँह पर हर घड़ी हँसी खेलती रहती है। हँसी-हँसी में ही वह सोनादेई के दुख को उड़ा देना चाहता है। पुरुष कब और किसलिए खोज-पूछ करने आया करता है, इस बात को नारी भली भाँति समझती है। उसे बताने या समझाने-बुझाने की कोई जरूरत नहीं होती। सोनादेई भी समझती है। वह बैठी-बैठी सोचा करती है। सोचती ही रहती है हर घड़ी। मन के ऊपर पड़ी हुई पपड़ियाँ परत-पर-परत उतरती चली आती हैं और उनके तले से अतीत का मन उघरता चला आता है। उन दिनों का मन, जब वह किसी के पल्ले बँधी नहीं थी, बल्कि स्वयंवरा कुमारिका थी।

केलार गाँव का गर्जन डंबँऽ उर्फ राफायल कृस्तान उसका बाप था। वह एक बहुत ही प्रसिद्ध डंबँऽ-कुदा (दल) की बेटी है।

प्राचीन काल से ही डंबँऽ जाति का पेशा मवेशी चुराना, सेंध मारना, डाके डालना, बटमारी करना आदि रहा है। सुनते हैं कि शायद ऐसी भी कोई प्रथा है कि लड़के का जन्म होने पर दीवार में एक सेंध खोद देते

हैं और उसमें बच्चे का सिर डालकर जाने किस देवता की पूजा करते हैं। इसका उद्देश्य यह होता है कि बच्चा सेंध लगाने के काम में खूब धुरंधर निकले। उनकी यह प्राचीन वृत्ति रामायण-काल में भी मौजूद थी। उस युग के डंबॅ'ऽ वीर कवि रत्नाकर हुए थे। बाद में वही वाल्मीकि कहलाये और उन्हीं के नाम पर मत्स्यकुंड उड़गढ़ के डंबॅ'ऽ वाल्मीकि कहे जाते हैं। डंबॅ'ऽ की गिरस्ती अपने पुश्तैनी पेशे की सुविधा के अनुसार ही चलती है। इसीलिए डंबॅ'ऽ लड़के बिना काम-काज के ही जहाँ-तहाँ भटकते फिरते हैं। इसीलिए डंबॅ'ऽ स्त्रियाँ सौदों का छोटा-सा खोमचा सिर पर लिए इस हाट-उस-हाट के चक्कर लगाती फिरती हैं। इसीलिए डंबॅ'ऽ पुरुष खेती-बाड़ी के काम को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसी चोरी का एक उन्नत-तर रूप है गिरोह बाँध कर और हरबे-हथियारों से लैस होकर डकैतियाँ करना। कभी हाट लूट ली, तो कभी बाट लूट ली, कभी गाँव लूट लिया तो कभी खेत लूट लिए। पुलिस के दबाव के जोरदार हो उठने के पहले इस जंगलमय पहाड़ी देश के अन्दर डाकुओं के कितने ही गिरोह हुआ करते थे। हाट को जाते हुए छकड़ों को बीच राह में लूट लिया करते थे। गाँव के लोगों के खेतों या हाट में गए होने पर दिन-दोपहर को ही गाँव लूट-पाट कर आग लगा दिया करते थे। इसी तरह न जाने कितनी ही जगहों पर उनका ऐसा दबदबा कायम हो गया था, मानो राजपाट उन्हीं-का हो। इतना ही नहीं, उन्होंने कई स्थानों पर दखल जमाकर किले और गढ़ तक खड़े कर लिये थे। सेमिलीगुड़ा का टूटा-फूटा खँडहर आज भी डंबॅ'ऽ दुर्ग के नाम से प्रसिद्ध है और डंबॅ'ऽ लोगों के उन ऐश्वर्यमय दिनों का स्मारक है। कंध लोगों के साथ उनके संघर्ष हुए थे। फूलबेड़ा और पंचड़ा में घमासान लड़ाइयाँ हुई थीं। इन लड़ाइयों में कंध वीरों ने डंबॅ'ऽ लुटेरों का निपात किया था। केलार गाँव पंचड़ा के इलाके में ही है, काकिरीगुम्मा के पास।

इनकी शक्ति का मूल स्रोत इनकी कल्पना-शक्ति में है। साधु-परिश्रम के प्रति अत्यन्त विमुख मनोभाव उस कल्पना-शक्ति में और भी

चार चाँद लगा देता ह। इन दोनों शक्तियों के बीच से होकर डंबें'ऽ टेढ़ी-मेढ़ी राहों से बढ़ा चलता है। विकृत मन वंश-परम्परा के क्रम से बढ़ा चलता है। छल-छंद डंबें'ऽ का जातिगत गुण होता है। उसकी आँखें हर घड़ी औरों के माल पर लगी रहती हैं। खेती-बाड़ी की उसे कोई चाह नहीं होती। इसलिए मवेशी उसके लिए केवल भोज्य पदार्थ ही होते हैं। जहाँ कहीं सुविधा मिल जाती है, वह मवेशी चुरा लेता है और टाँगिया उसके सिर पर दे मारता है। दोनों सींगों के बीच टाँगिया की एक ही चोट उसका काम तमाम कर देती है। फिर खाल खलियाकर बेचने को बहुत सारी हाटें पड़ी हैं। जो धन अपने पसीने की कमाई का नहीं होता, उसको खर्च करने में भी कोई दरेग नहीं होता; इस लिए डंब'ऽ की गिरस्ती, चाहे घर की हो, चाहे बाजार की, बिलकुल दायित्वहीन गिरस्ती होती है।

जब देखो तब उसके पास मद और मांस की भरमार रहती है। खूब कचरमकूट खाता-पीता है वह। डंब'ऽ पुरुषों के चेहरे देखने में बड़े प्रचंड होते हैं। गढ़न नृशंस और अविश्वास-भरी होती है। स्त्रियों की देह बड़ी तगड़ी होती है। उसकी भाव-द्योतना ले-देके केवल अलस पाशविकता की ही होती है। गिरस्ती के नाम पर झगड़े-टं` का कोलाहल ही एकमात्र गृह-काज होता है। दाम्पत्य की डोर बड़ी सीधी होती है। जरा-जरा सी बात में टूट जाती है। सहन करने की शक्ति का उसमें नितान्त अभाव होता है। सभी पतियों के जीते-जी एक-के बाद एक पति बदलते हुए बारह-बारह सगाइयाँ तक कर लेनेवाली स्त्रियाँ इस जाति में घनेरी पाई जाती हैं। चरित्र-हीनता की तो यहाँ पर चरम सीमा छू ली गई है। क्या स्त्री और क्या पुरुष, दोनों की सतत चेष्टाएँ क्षणिक सुख के लिए ही हुआ करती हैं। वही उनका उद्देश्य होता है। पुरुष लुंगाड़े होते हैं, स्त्रियाँ छिनाल होती हैं। राह चलते समय स्त्रियाँ अपने अंगों को हिलाती-डुलाती और अश्लील हावभाव दिखाती हुई चलती हैं। वे हर घड़ी चंचल और अशांत ही बनी रहती हैं। झूठ इनके जीवन-धारण के कार्यों की प्रधान शक्ति हुआ

करता है। इसीलिए इनकी बातों में सदा वाक्चातुरी का गहरा पुट रहता है। डंबें'ऽ बहुत बकता है। उसकी बातों का उद्देश्य होता है, किसी भी तरह औरों का विश्वास पा लेना; इसलिए उसकी बातें बातें नहीं होतीं, एक तरह का अभिनय हुआ करती हैं। विनय की तो अति कर देता है वह। और उसकी बातों से यह भी प्रकट होता रहता है कि बेचारा डरता बहुत है। अपना उल्लू सीधा करने के लिए वह औरों के साथ बहुत अधिक गिरकर पेश आता है। इस मामले में वह चाहे जितना भी नीचे उतर सकता है। वह विचित्र है, वह मायावी है, वह मालदेश का कौआ है।

जब तक पुलिस का प्रताप मालदेश के इतने भीतर तक धँस नहीं आया था, तब तक डंबें'ऽ लोगों को किसी बात की कमी न थी, कोई अभाव न था। जाने कब कैसे अच्छे-अच्छे कपड़े-लत्ते आ पहुँचते थे, जाने कब कैसे सुख-भोग की और सारी वस्तुएँ आ पहुँचती थीं, किसी को कुछ पता नहीं चल पाता था। कोई भी दिन ऐसा नहीं होता था, जब इनकी थाली में मांस-भात न हो। पुरुष हथियारों से लैस होकर रातोंरात गाँव से निकल पड़ते। स्त्रियाँ बैठी राह देखती रहतीं। भोर होते-न-होते घर भर जाता। धान-चावल के दिनों में धान-चावल, मँड़ुए के दिनों में मँड़आ! गन्ना, गेहूँ, तेलहन! देश में जो भी उपज होती है, सब यों ही आ पहुँचती। उसके लिए धूप-घाम में पसीना बहाकर खेतों में खटना-मरना नहीं पड़ता। किसी दिन कोई अगर कहीं के लिए भी घर से बाहर निकलता, तो लौटती बेर खाली हाथ कभी नहीं लौटता। बुद्धि चाहिए बुद्धि, माथे में जरा-सी बुद्धि हो, तो अंटी आप ही भर जाती है! किसी गाँव में कोई सीधा-सादा आदमी अपनी ही पाली-पोसी बकरी मारकर भोज कर रहा है। कहीं से कोई डंबें'ऽ आ पहुँचा और धमकाने लगा, "पुलिस में रपट किए बिना ही बकरी क्यों मारी तुमने?" बस इस धमकी-भर से ही उसने अपने लिए कुछ जुगत लगा ली। अमीन बाबू गश्त में निकले हैं, पीछे-पीछे डंबें'ऽ भी लग गए और गाँव-भर से बट्टा वसूल लाए। अमीन बाबू को खबर

तक नहीं और डंबँ'ऽ गाँव भर से भाँति-भाँति की चीजें ढो ले गया! बहाना यह है कि अमीन बाबू ने भेजा है। डंबँ'ऽ छोकरे झुंड बाँध कर निकले और आपस में सलाह करके पैसे देकर किसी छकड़े पर सवार हो गए। कहा—हमें हाट जाना है। अँधेरा पड़ते ही पिछले छकड़ों के छोकरे चिल्ला पड़े—"चोर, चोर!" सभी छकड़िए पीछे दौड़ पड़े। तब तक अगले छकड़ों के डंबँ'ऽ छोकरे छुकड़ियों के कपड़े-लत्ते, गमछे, पोटलियाँ आदि बाँध-बूँधकर नौ-दो ग्यारह। घर में ताला पड़ा है और चोरी हो गई। बाहर दोमुँहे की किवाड़ लगी है, ताला जड़ा है, पाख की दीवार में छोटी-सी सेंध काटकर डंबँ'ऽ लड़का अन्दर पैठ गया और अन्दर से खिड़कियों की किवाड़ों को खोल डाला। अपना काम निकाल लेने पर खिड़की फिर बन्द कर दी और उसी नन्ही सेंध की राह बाहर चला आया। अब गाँव के बड़े डंबँ'ऽ चोरों को कोई धरे-पकड़े भी तो कैसे? जाने कैसे-कैसे छलछंद रचते हैं ये! बैठ-बैठ कर इनकी हरकतों पर हँसते रहने के लिए गाँव में बहुत-बहुत अवसर मिलते रहते हैं।

धीरे-धीरे पुलिस धँस आई। डंबँ'ऽ का स्वराज्य छिन गया। दल-के-दल पकड़े जाकर सभी कैद कर लिए गए। उसके बाद नया कानून आया। एक बार चोरी की नहीं कि नजरबन्द हुए। रपट किए बिना गाँव के बाहर पाँव भी दिए तो जेल! ये लोग जरायमपेशा करार दे दिए गए, क्रिमिनल ट्राइब। डंबँ'ऽ बारहबाँट हो गए। बड़े-बड़े डंबँ'ऽ घराने टूट गए। अनेक क्रस्तान हो गए। इस आशा में, कि पादरी साहब कानून के चंगुल से उबार लेंगे। धीरे-धीरे वह मोह भी टूट गया। क्रस्तान होना कम पड़ गया। दमन-नीति ही नये कानून का क्रूर विधान थी, बेचारा डंबँ'ऽ टूट गया, बिखर गया।

इसके बाद वे अन्यान्य जातियों की बस्तियों में बुद्धिदाता बारिक के रूप में बस रहे। बहुतेरे डंबँ'ऽ गाय-भैंसों के चरवाहे बनकर या कुली-मजूरे बनकर जहाँ-तहाँ बिखर गए। कुछेक ने खेती-बाड़ी भी शुरू की। ढोल बजाना, तुरही फूँकना, कपड़ा बुनना, बकरी बेचना, छोटे-छोटे खोमचे

लेकर हाटों-हाट फेरी लगाते फिरना आदि डंबँऽ जाति के पुश्तैनी "काम" अब धीरे-धीरे सचमुच उनकी रोजी के सहारे हो चले। धीरे-धीरे इन कामों की मात्रा बढ़ चली। चोर-उचक्के और डाकू-बटमार अब समाज के अन्दर आकर बैठ रहे; लेकिन अपने को लाख छिपाने पर भी औरों की निगाहों से, औरों की घृणा से उन्हें छुटकारा नहीं मिल सका। और न अपनी निज की प्रवृत्ति ही उनका पल्ला छोड़ सकी। डंबँऽ जितनी चोरी नहीं करता, उससे कहीं अधिक निन्दा पाता है। डंबँऽ, पाणऽ, गंडा, ये पहाड़ी जातियाँ हैं। इनके चेहरे एक-जैसे होते हैं। इनके जातिगत गुण भी एक-जैसे होते हैं। कुलदीपिया, महानंदिया, काट्री, डाक्री, कम्ला, गरड़ा, बाघ, मृग, खग, माछ, आदि इनके गोत्र होते हैं। अन्यान्य वन्य जातियों की तरह इनके नामों के अन्त में भी इनके गोत्र जुड़े होते हैं। सगोत्र ब्याह-शादी निषिद्ध है। ब्याह-शादी की प्रथा सबों की प्रायः एक-जैसी ही है। वर-वधू के सिरों पर पानी की गगरी रख दी जाती है, दोनों एक दूसरे के पैर के अँगूठों को अपने पैर के अँगूठों से दाबकर खड़े हो जाते हैं और दोनों एक-दूसरे पर थूकते हैं। घाट पर एक पूजा होती है, जिसका नाम है, राह-पूजा। इनके सभी संस्कार, सभी क्रियाकर्म पठारी पद्धति से ही होते हैं, उनमें ब्राह्मण नहीं लगते।

इसी डंबँऽ कुल का आभिजात्य सोनादेई से चिपका हुआ है। यही कारण है कि सुख-भोग से उसे प्यार है, मौज-मजे उसे पसन्द हैं, अभाव उसे बहुत खलता है, व्यग्र कर देता है, लमेरी[1] गाय की तरह वह जहाँ-तहाँ मुँह मारती फिरती है। गर्जन डंबँऽ पुलिस के चंगुल से छुटकारा पाने के लिए राफायल कृस्तान बन गया था, पर छुटकारा उसे मिल नहीं सका। केलार गाँव की डंबँऽ-श्री हवा के किसी झोंके के साथ कहीं उड़ गयी। जो लोग लाचारी के मारे रह गए, उन्हें 'गोती'-गिरी, कुलीगिरी आदि करनी पड़ी। अनाहूत आकस्मिक भाग्य-विपर्यय के कारण जिस समय सारी ठाट-बाट तहस-नहस हो गई, ठीक उसी समय सोनादेई बाळमुंडा

१ अनेरी या बिना मालिक की।

की गिरस्ती सँभालने के लिए म्ण्यापायु चली आई थी। बाळमुंडा कंध-गाँव के बारिक का बेटा है, उसकी खूब चलती-बनती होगी, रोजी के हजार फंदे होंगे—सोनादेई को बड़ी-बड़ी उच्चाशाएँ थीं। पर आसों-ही-आसों में दिन-पर-दिन बीतते चले गए, ब्याह से कोई सुख मिल नहीं पाया। बाप के कुल-खूँट में कोई रह नहीं गया था। कहीं और भी कोई भरोसा नहीं था। आस-पास के कंध अंचलों में कोई अधिक डंबें'ऽ भी नहीं थे कि सोनादेई मनमाने वर चुनती फिरती, नया घर बसाने और नई गिरस्ती सँभालने का कोई जतन करती। इसलिए वह जैसी हालत में थी, उसीमें म्ण्यापायु की मिट्टी बकोटती हुई पड़ी रही, किसी अनजाने सुख की बाट जोहती रही।

अपने मन को उसने खूब माप-तोल लिया था। बाळमुंडा के पास रहने की उसकी जरा भी इच्छा नहीं थी। कामों में काम रह गया था बस बैठी-बैठी दिन गिनते रहना।

ठीक ऐसे ही समय में उसने यह बात भाँपी कि उसके प्रति लेंजू कंध का आग्रह बढ़ता जा रहा है। लेंजू कंध कच्चा नौजवान नहीं था, सुकुमार क्वाँरा नहीं था, यह तो सच था, किन्तु डंबें'ऽ-बिटिया भी कोई नितान्त तरल युवती नहीं थी। दुनिया की और सारी बातें बाद की बातें थीं, सब से पहली बात थी उसके अपने हानि-लाभ का लेखा-जोखा। दिउड़ साँवता के पास उसकी अपनी ब्याहता घरवाली थी, दिउड़ साँवता नशाखोर था, उसका जो-कुछ भी था, चंदरोजा था। उसके ठीक पास-पास लेंजू कंध को खड़ा करके वह निरखती-परखती थी। बारिक के साथ दिन-रात उसकी जो फुसुर-फुसुर मंत्रणा लगी रहती थी, उसकी कुछ सुन-गुन उसके कानों तक भी गूँज-गूँज जाती थी। लेंजू कंध का अपना एक भविष्य है, और लेंजू कंध की चितवनों में एक टलमल-टलमल-सा मादक सुरूर दिनों-दिन और भी निखरता आ रहा है और उस सुरूर-भरी चितवन को निहारने के लिए सोनादेई भी दिनों-दिन अधिकाधिक अधीरता के साथ उसकी बाट जोहने लग पड़ी है।

लेंजू कंध आता-जाता रहता है। न जाने कैसी-कैसी जगहों में मिल जाया करता है। मानो किसी घात में बैठा रहा हो। जिस समय सुनसान होता है, कहीं कोई नहीं होता, उस समय कभी नदी के करारे की आड़ से, कभी कुंजों की ओट से, कभी बाड़ के उस पार से अचानक निकल पड़ता है और रुँधे-रुँधे से गले से टोक कर अटका-अटका लेता है। रुक-रुक कर, हिचका-हिचका-सा बातें करता है। न जाने कितने प्रश्न पूछने होते हैं उसे। बारिक कहाँ है?—बाळमुंडा किधर गया है? दिउड़ू इधर आया था क्या?—हर छोटे-बड़े सवाल के जवाब के लिए वह सोनादेई के पास दौड़ा चला आता है। उसके सभी बहाने सोनादेई भाँप लेती है। मुँह नीचे की ओर गाड़कर चुप-चुप हँसती रहती है।

बारिक बूढ़ा कब से लेंजू कंधका इतना गहरा यार हो गया?—सोनादेई सोचती है, सोचती जाती है, सोचती रहती है। ठीक साँझ पड़ते ही लेंजू कंध बारिक बूढ़े को खोजता हुआ आ पहुँचता है। बारिक बूढ़ा घर पर रहे या न रहे, इसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता।

अड़तीस

बूढ़े पहाड़ों का देश है यह। चारों ओर पठार-ही-पठार और डाँड़े-ही-डाँड़े हैं। अति प्राचीन काल के किसी भूकंप ने ज्वालामुखी के तरल खौलते लावे से इन पहाड़ों की रचना की थी। अब उन दिनों की वह खौलती हुई गरमी इनमें नहीं रही। तरल लावा जमकर वज्रकठोर पत्थर बन चुका है। जो कभी गली धातु की तरल धारा रही होगी, वह अब कठिन पथरीले डाँड़े का रूप ले चुकी है और काली-सुनहली रेखाओं की तरह उठती-गिरती तले-ऊपर होती चली गई है। दही के ऊपर जमी मलाई की तरह। और सब के ऊपर वह कटोरीनुमा झील है, कीचड़-भरा तालाब। कभी यही ज्वालामुखी का मुँह रहा होगा। पठारी हवा के तेज झकोरे वह टाल जाता है। पहाड़ी देश की मूसलाधार बरसातें, हाथी-सूँड़-धार बरसातें वह सह लेता है। कितनी ही फाटें हैं, कितने ही दर्रे हैं, जो जाने कहाँ से कहाँ तक चले गए हैं। पहाड़ों की संधियों के बीच की मिट्टी धुल-धुल कर बह गई है। रह गई हैं सिर्फ गहरी-गहरी फाँकें, रह गए हैं सिर्फ पाताल-स्पर्शी खात-खड्ड। पहाड़ों के भी न जाने कितने रूप हैं। जगह-जगह कोस-कोस भर लंबी दीवारों-सी उठती चली गई हैं, बाड़ों-जैसी 'माली' और 'दमक'[1] न जाने कितने ऊँचाइयों तक उठती चली गई हैं। ऊपर का पठार सीधा सपाट सा है। मैदानों की तरह समतल। तलदेश में जो मिट्टी है, वह भी मिट्टी नहीं बल्कि पत्थर ही है। उसमें भी कहीं ढलवान हैं तो कहीं डूँगर हैं, कहीं टीले हैं तो कहीं टेकरियाँ हैं। ले-दे के वह भूमि भी पहाड़ के ही अनु-रूप है। पहाड़ और पत्थर, यही उस पूरे देश का परिचय है। लेकिन उस देश की वर्णना क्या सचमुच इतने से ही पूरी हो जाती है? और इस देश के वासियों की रहन? —उन्हें तो मानो पर्वत-गुरु ने अपने ही आदर्श सिखला दिए हैं। उसी की

---

१ चोटियों के गुणवाची नाम।

सीखों का यह फल है कि वे आघातों की ओर भ्रूक्षेप किए बिना ही इतिहास के इक्कीसवें[1] से लेकर आज तक ज्यों-के-त्यों और जहाँ-के-तहाँ पड़े हैं।

अपरिवर्तनीय आदर्श है यह! इसी आदर्श के सहारे वनजीवन वनों-वनों भटकता बढ़ा चला जा रहा है। नंगा; पर निर्विकार वनजीवन! सभ्यता के नकली चेहरे की आड़ में, चमक-दमक भरे पहनावों की चकाचौंधी तड़क-भड़क के तले-तले रूप के जादू और मन के कपट को लुका-छिपाकर जीना उन्होंने नहीं सीखा। और ठीक इसीलिए वे असभ्य माने जाते हैं। वहाँ भी छहों रिपु हैं, वहाँ भी गंदगी है, बदबू है. जो कुछ वहाँ है, वह हर कहीं है, जो कुछ हर कहीं है, वह वहाँ भी है; पर वन की तरंगों में मानव-मन का निदान मौलिक स्वरूप स्पष्टता के साथ और खुले-खजाने खेला करता है। इसीलिए वहाँ घास हवा के थपेड़े खा-खाकर आप-ही-आप सूख जाता है, शरीर तपती हुई धूप और कड़ाके की सरदी खा-खाकर कड़ा पड़ जाता है, मन की वेदना प्रकाश पाकर मन से निकल जाती है। दुःख वहाँ भी होता है, पर वहाँ का दुःख गाँव की तलैया का पंक नहीं पलटता। प्रकृति का विशाल आनन्द मानव की हताश दुर्दशा को अपने स्पर्श से सहलाकर सहनीय बना देता है, चंगा कर देता है। मच्छरों और डाँसों की अदावत के झंझावात में भी मानव-मन की कोमल रागिनी बजती ही रहती है, थमने नहीं पाती।

मानवों का समाज भी इस बूढ़े पहाड़ की तरह ही बूढ़ा है।

मानव की मृत्यु नहीं होती। देह को प्राण छोड़ जाते हैं तो परजा यही कहते हैं, गदबा यही कहते हैं, कंध यही कहते हैं कि 'डूमा' (आत्मा) फिर नई देह धारण करेगा, फिर नया जन्म लेगा। बच्चे का जन्म होने पर इस बात की गरमागरम खोज शुरू हो जाती है कि वह किसका 'डुमा' है। डिसारी (पुरोहित, सिद्धान्ती) उसके पूर्वजन्म का इतिहास कहता

१ इक्कीसवाँ = बच्चे के जन्म के बाद का इक्कीसवाँ दिन। उस दिन सूतिका की छूत छूट जाती है और धूमधाम से जन्मोत्सव मनाया जाता है। हिन्दी-पर्याय छठी को माना जा सकता है।—अनु०

है। और बाकी सभी लोग डिसारी की उन बातों पर विश्वास करते हैं। यहाँ सभी लोग अपने-अपने बारे में यह अच्छी तरह जानते हैं कि वे किसके 'डुमा' हैं।

उन्होंने गीता नहीं पढ़ी है; पर उनके भी पुरखे उन्हें यही अनुभूति और यही अभिज्ञता सौंप गए हैं कि आत्मा अविनश्वर है। उन्होंने वेद नहीं पढ़े हैं ; पर वे इस बात पर पूरे मन-प्राणों से विश्वास करते हैं कि आनन्द ही जीवन का श्रेष्ठ श्रेय है।

पहाड़ के ऊपर ऋतुओं के रंग बदलते रहते हैं। और उन बदलते ऋतु-रंगों की भाँति मनुष्य भी ऋतुओं में, ऋतुगत क्रियाकर्मों में अपने नए-नए रंग प्रकट करता है, अपने-आपको भाँति-भाँति के रूपों में प्रकाशित करता है। जुताई-गुड़ाई कब होगी, फ़सल कब कटेगी, दंडा (गन्ना) कब कटेगा, जोगा (मकई) कब कटेगा, आदि हर सवाल का जवाब और पूरे साल-भर का कार्य-चक्र पत्रे के अनुसार चलता रहता है। हाँ, एक बात और होती है। इस कार्य-चक्र के चक्के की फाँक-फाँक में, बुवाई और कटाई के क्रम के अनुसार, खेती के हर पर्व का एक-एक अपना तेवहार भी होता है। खेती के कामों की पैड़ी-पैड़ी पर गुँथे तेवहारों की सुमिरनी जैसे दुनिया के सभी देशों में फिरती रहती है, ठीक वैसे ही यहाँ भी फिरती है। पर्व-पर्व पर तेवहारों के मनकों का विन्यास यहाँ भी वही है, जो अन्यान्य देशों में है।

फ़सल कट चुकी है। अब खेत फिर जुतेंगे। फिर नए वन काटकर साफ़ किए जाएँगे। फिर नये वनखंड जलाकर खेत निकाले जाएँगे। तब तक छुट्टी-ही-छुट्टी है। कामों की वैसी भीड़-भाड़ नहीं है आज-कल। नाचने-गाने के दिन हैं। महुए के फूल झर रहे हैं। दारू प्रचुर परिमाण में तैयार हो रही है। नशे-पानी की कोई कमी नहीं है। जंगल सूख गये हैं। सूखे जंगलों में शिकार करने में सुभीता रहता है। शिकार का बड़ा ही अच्छा सुयोग है आजकल। बसन्त की ऋतु अभी गई नहीं है। पठार की शोभा से मोहित होकर घड़ी-भर और अटक गई है। इसी अवसर

पर पूरबी घाट के पहाड़ों पर ओड़ीसा (उड़ीसा) की गढ़जातियों के चैत-पर्व का विख्यात तेवहार धूम-धाम से मनाया जाता है। वन-वासी मानव का यह तेवहार साल का सर्वश्रेष्ठ तेवहार हुआ करता है। पूरे पूरबी घाट में हर कहीं होता है यह तेवहार।

वन-वासी मानव दिन गिनता रहता है। फागुन की चाँदनी को कोसता रहता है। मनाता रहता है कि कब यह फागुनी चाँदनी मरे और चैत की चाँदनी उगने लगे कि चैत-पर्व शुरू हो। न जाने कितनी आस लगा कर वह नए आनन्द की जन्मघड़ी की बाट जोहता रहता है। उसकी टकटकी लगी रहती है कि आनन्द आएगा, आनन्द मतवाला बना-बना जाएगा, नचा-नचा जाएगा, आनन्द अपनी यादों की झलक छोड़ जाएगा। चैत-पर्व आखिर चैत-पर्व ठहरा। चैत-पर्व, चैत पर्व !!!

महीने-भर पहले से ही सज-धज शुरू हो जाती है। साज-सजावट शुरू हो जाती है। पर्व के शुरू होते ही सब अपने-अपने काम-धंधे छोड़-छाड़ देते हैं। मजूर मजूरी नहीं करते। मोटिए भार नहीं ढोते। सब कोई बस मौज-ही-मौज मनाते हैं। इसीलिए पूंजी-पाती पहले से ही सँजो-सँजोकर रखी जाने लगती है; ताकि आदमी बैठा-बैठा भी खा-पी सके, खूब अच्छी तरह खा-पी सके। कांधों के जुए उतार फेंके जाते हैं। वय का भार उतार फेंका जाता है। बस दिन-रात नाच-गान, भोज-भात और शिकार की धूम मची रहती है। पठार-देशों में वसन्त का अभियान शुरू हो जाता है।

फिर तो कोई भेदाभेद नहीं होता। कोई मान-अभिमान नहीं होता। कोई अपना-पराया नहीं होता। राह-बेराह क्वाँरों-क्वाँरियों के दल-के-दल फिरते रहते हैं। हर किसी का घर हर कहीं होता है। हर कहीं आनन्द से विह्वल भाव छलकते रहते हैं। हर कहीं हँसी-ही-हँसी है। हर कहीं फूल-ही-फूल हैं। हर कहीं दल-के-दल नर-नारी हाथों में हाथ गूंथे नाचते रहते हैं। इसमें कोई क्लांति नहीं, कोई अवसाद नहीं है। पहाड़ की घाटियों, दर्रों और ढलानों से देश के कूल-किनारे छापकर नाच-गानों के स्वर बह चलते हैं। जहाँ सुनो, वहीं कहीं से नाचों और बाजों के शब्द

गूंजते चले आ रहे हैं। भाँति-भाँति के नाचों और भाँति-भाँति के बाजों के भाँति-भाँति के शब्द। जंगल के अन्दर से जानवरों के हाँके-हुशकाए जाने का उल्लास-भरा शोर और ओड़िया-नली (देसी बंदूक) की ठाँय्-ठाँय गूंजती आती है। पेड़ों तले, चट्टानों के ऊपर, जंगली नालों के कछारों पर, जहाँ-तहाँ वन-भोज हो रहे हैं, नाच-गान हो रहे हैं, कुंजों, झुरमुटों और लता-वितानों की ओट में प्यार की बातें हो रही हैं, प्राणों से प्राणों का मिलन हो रहा है।

ऐसे ही अवसरों पर मनुष्य इस बात को प्रमाणित करता है कि पैसा उसका श्रेय नहीं है, उसके श्रेय हैं प्राण, प्राणों के स्पंदन। ठेकेदार सिर धुनते हैं कि हाय काम बन्द पड़ा है। अधिकारी कमान (गश्त) के लिए निकल नहीं पाते, कष्ट पाते हैं, कहीं कोई मोटिया ही नहीं मिलता। गाँव में जायें तो गाँववालों से भेंट तक नहीं हो पाती। काम कौन करे ? इस समय पैसे का लोभ किसी को लुभा नहीं पाता। लाख मनाओ, लाख फुसलाओ, लाख माँगो-जाँचो, कोई फल नहीं मिलने का। पठारी लोग चाहते हैं कि सभी का काम ठप हो रहे, सभी खुशियों में मात उठें, नाचें-गाएँ। इसीलिए धाङड़ियों के झुंड "राजा का हाथी बन्द" कर देते हैं, अधिकारियों के मोटर रोक लेते हैं, रास्ते में चलती गाड़ियाँ रोक-रोक कर अपने देश का नाच दिखाते हैं और देनेवाले की जैसी 'श्रद्धा' हो वैसा ही इनाम लेकर खुशी-खुशी वहाँ से कहीं और चले जाते हैं। बाट के बटोहियों को घेर-घेर कर धाङड़ियाँ उन्हें नचाती हैं। "सभा-इंसपिट्टी" (थानेदार) "इनाम" देते-देते आजिज आ जाता है।

इन्हीं दिनों में परदेसी न्योते जाते हैं। थालियों-थालियों भात खिलाएँगे, मुरगी के अंडे खिलाएँगे, जितने चाहो उतने ; केले देंगे, पान देंगे, घुंगिया देंगे, गले में फूलों की माला पहना देंगे, एक-एक डंडौत करेंगे। न्योता है, आओ न, हमारे गाँव आओ, आनन्द का छक-छक कर उपभोग कर जाओ !

इसी चैत में नाच के ज्वार उठते हैं। उत्ताल तरंगें उठती हैं। ये प्राचीन पहाड़ और यह वनराजि, यह दृश्य और यह छटा ! दिन के समय

नई-नई कूचियों में नए-नए रंग भर-भर कर इनके रूप का घड़ी-घड़ी नया विन्यास, नया शृंगार किया जाता है। समुद्र की तरंगों की तरह उठते-गिरते इन पहाड़ों और घाटियों में, इन चोटियों और खड्डों के ऊपर ! निवारी (नवमल्लिका) और वन-जुही की सुगंध, चंपा की सुगंध,— खुमार-सी चढ़ जाती है ! और ढोल-मंजीरों, तुरहियों और डुड़ुड्डा[1] की उत्ताल नाद-तरंगों में रक्तमांस-गढ़े स्वस्थ-सुडौल चमकीले अंगों की समष्टि का समग्र देशव्यापी नृत्य होता है।

नृत्य-देवता तर्जनी उठाता है। अँधेरे के परदे को हटाकर चैत की चाँदनी उगती है। चाँदनी निकलती है और चैत-पर्व की धूम मच जाती है।

इसी तरह नाच का देवता समय-समय पर इस वनमय संसार को हिला-डुला जाता है। वन-देश की शांत प्रकृति के भीतर छंदों की योजना कर-कर जाता है। पहाड़ ऊँघती आँखों से आनन्द का लहराना, उसके ज्वारों की बहार, देखता रहता है। वर्ष-पर-वर्ष बीतते चले जाते हैं।

खाने को साल के आधे दिन तो मँड़ुए की लप्सी मिल जाती है और बाकी आधा साल छटाफल (गोल साबू) की बुकनी, आम की गुठली की गिरी, इमली की खटमिट्ठी और कठिन पथरिए कंद-मूलों पर काट लिया जाता है। पहनने को कौपीन की बिट्ठी भर ही होती है। कंधे पर बोझ होता है; किसी और का लादा हुआ जुआ। मन में आदिम युवा के अंध-विश्वास और स्वप्न होते हैं। महुए की दारू मतवाला बना देती है। चैत नचा-नचा कर कंधिया भाई के जोबनों को गूँथ जाता है। जुही के फूलों के हार की तरह।

---

१ एक बाजा। तुंबी का एकतारा, रावणहत्था।

उनचालीस

'परजा'-गांवों में, 'गदबा'-गाँवों में, चैत-पर्व शुरू भी हो चुका है। भिन्न-भिन्न जातियों के भिन्न-भिन्न गाँवों में पर्व और तेवहार भिन्न-भिन्न दिनों में शुरू होते हैं, और वैसे ही अलग-अलग दिनों पर समाप्त भी होते हैं। अलग-अलग गाँवों में अपने-अपने अलग-अलग डिसारियों की गणना के अनुसार ही पर्व के दिन धरे जाते हैं। परजा लोगों के पास पोथी होती है। उसमें ओड़िया अक्षरों में कुछ लिखा होता है। ताड़ के पत्ते का एक पत्रा सौ-सौ वर्षों तक काम चलाता है। फिर क्या तो उसी पोथी को शुरू से बाँचा जाने लगता है और अंत तक पहुँचते-पहुँचते फिर सौ वर्षों का काम चल जाता है। दिनमानों के फलाफल या किसी योग की बात किसी एक जगह पर लिखी नहीं होती। हिसाब करना होता है। हिसाब करने के सिल-सिले में परजा डिसारी पूरे पत्रे को इस छोर से उस छोर तक ढूँढ़ डालता है। हिसाब करता जाता है और योग-लग्न की तमाम बातें बताता जाता है। बताता जाता है कि किस दिन किस समय कौन-सा काम किया जाता है, कि किस पखवाड़े में कौन-सा दिन भला है और कौन-सा बुरा है इत्यादि। सिर्फ़ परजा ही नहीं, ओड़िया कहलानेवाले भोतड़ा, मिरिगापा, रणा, पुटिया, पाइक, माळि इत्यादि सभी गड़जातियों के लोग इसी तरह ओड़िया में लिखे हुए विचित्र पत्रे रखते और उन्हीं के अनुसार चलते हैं। दवा-दारू आदि के मामले में भी उसी तरह के ओड़िया अक्षरों में लिखी हुई पुरानी पोथियाँ ही उनका आश्रय होती हैं।

कंध भी प्राचीन ओड़िया राज्य की ही एक सामंत जाति है। कंध जाति की भाषा में राजा को 'ओड़ेसि' कहा जाता है। 'ओड़ेसि' का मतलब होता है ओड़ा[1]। लेकिन कंध लिखी पोथियों का प्रयोग नहीं करते। गदबा लोगों के भी कोई पोथी नहीं होती। उनकी अपनी कोई लिपि नहीं है। न कंध की

१ ओड़ा उड़ीसा या उत्कल के मूल निवासियों को कहते हैं।

और न गदबा की ही। इन का सारा ज्ञान मुखस्थ ज्ञान है, श्रुति है। इनका सारा ज्योतिष चाक्षुष गणना पर आधारित है। ये लोग नीचे काठी गाड़ कर सूरज की गति मापते हैं। लाठी से माप कर ये लोग घड़ी-पहर गिनते हैं। अर्थात् सूरज कितनी लाठी ऊपर उठा या कितनी लाठी नीचे ढला। रातों की ज्योतिष गणनाएँ तारों को निहार-निहार कर की जाती हैं। आँखों के आगे उँगलियों की चौखटी बनाकर उसके भीतर से तारों को टकटकी लगाए देखा करते हैं। देखने के इस हिसाब-किताब और देख-देख कर मापने की इस समूची प्रक्रिया के ऊपर डिसारी और बेजुणी की दिव्य दृष्टि भी अपनी छाप डालती है। दिव्य दृष्टि के इस फल में कितना भाग उनकी दृष्टि की दिव्यता की है और कितना रांधी-पकाई दारू के भाप की, यह कौन कह सकता है? यह सब तो विश्वास की बातें हैं। वनवासियों का यह स्वभाव होता है कि एक बार जिस बात पर विश्वास कर लिया, उससे सदा के लिए चिपक गए। इस चिपकने का फल चाहे जो हो, छोड़ने को वे तैयार नहीं होते। जाने कब यह विश्वास जन्मा था कि काली चीजें, जैसे काली बकरी, काला सूअर, काली मुरगी, अमगल का कारण होती हैं। विश्वास हो गया सो हो गया। धीरे-धीरे यह विश्वास बढ़ता गया और एक दिन ऐसा आ पहुँचा कि जितनी भी काली चीजें थीं, जितने भी काले जीव-जंतु थे, सब का संहार कर दिया गया। पठारी अंधड़ों की भाँति यहाँ के तूफ़ानी विश्वास भी इसी तरह आते हैं। जिसकी बातों में इनका विश्वास होता है, वह चाहे जैसे भी पागलपन में इन्हें मतवाला बना दे, ये चुपचाप उसमें भी विश्वास कर लेते हैं।

विश्वास और गणना के मतभेदों के अनुसार, "पंकिल नदिया, बंकिम चाल" की नीति से, शुभ दिनों और पर्वों-तेवहारों के योग अलग-अलग गाँवों में अलग-अलग दिन पड़ते हैं।

डुडुडुङ्गा [1], अलगोजा, डंबँऽ ढोल, डंबँऽ, तुरही, बड़े मांदल, टमक-

---

[1] तुंबी का एकतारा।

मँजीरा आदि बाजों की गूँज जिस समय रात के सन्नाटे को चीरकर चारों ओर से पवन की लहरियों पर तिर-तिर आती और गाँव के लोग अन्य गाँवों के बाजों की उत्तेजना से अधीर हो-हो उठते, उस समय गाँव का डिसारी पांडरू जानी सभी को धमकाता हुआ गरज उठता—" धीरज धरो, धीरज धरो, अभी समय नहीं आया।"

लौंडे-छौंडे प्रतिवाद करने लगते। कहते—"बूढ़ों की बात ऐसी ही होती है! जब तक उनका समय आए-आए, तब तक आदमी में बल-बूता ही नहीं रह जाता।"

ांडरू जानी तारे गिन-गिन कर अपना हिसाब लगाता। कहता— " ना, ना! अभी समय नहीं आया है। बस।"

युवक-युवतियों के दल दिन-दिन भर, रात-रात भर तैयारियाँ करते रहते। इसीलिए जब देखो तब गीत-ही-गीत दुहराए जा रहे हैं, बाजे-ही-बाजे मिलाए जा रहे हैं। इसीलिए आजकल गीतों और बाजों के परिमाण सभी दिनों से बढ़े-चढ़े हैं। युवक दिन-दोपहर को ढोल-ढाक और टमक-मँजीरे लिए नाच की गतें बजाते रहते हैं। ढोरों के चरवाहे अलगोजे होठों से हटाने का नाम नहीं लेते। काम में लगी हुई युवतियाँ गीत गाती हुई काम करती हैं, नाचती हुई काम करती हैं।

पांडरू जानी सब कुछ देखता रहता है। धीरज नहीं खोता, अस्थिर नहीं होता।

उसका विश्वास है कि संसार एक शृंखला में चल रहा है। कि कुछ बँधे-बँधाए नियम हैं, जो कभी भंग नहीं हो सकते। जब किसी चीज को होना होता है, तभी होती है वह, अन्यथा नहीं। कि किसी बात को आगे या पीछे करने के लिए हाथ-पैर मारना और हड़बड़ी मचाना बेकार है। सारा संसार मानो उसके अपने बे-लिखे पत्रे की तरह है। क्या सितारे और क्या धरती, सभी-कुछ! इसीलिए वह अपने घर के आगे खुले में रस्सियों की बुनी खाट पर पड़ा-पड़ा चुँगिया फूँकते रहना पसंद करता है। घर के

भीतर भाँति-भाँति के जितने भी शब्द होते रहते हैं, जितने भी प्रकार के गोलमाल मचते रहते हैं, घरवाली की जितनी भी बकवासें लगी रहती हैं, सबकी गूँज उसके कानों को संगीत-जैसी सुनाई पड़ती है। उसके कोई बाल-बच्चा नहीं है। और बाल-बच्चे ही क्यों, दुनिया की अनेकानेक ऐसी चीजें हैं, जो उसके पास नहीं हैं ; लेकिन हर कहीं वह किसी अनदेखे हाथों की लगाई हुई शृंखला देखता है। उसके पास धीरज है, संतोष है, सब्र है, सबूर है। इस दिशा में उसे कोई भी अभाव नहीं।

इसी तरह दिन बीतते गये। फिर एक दिन वह भी आया जब पांडरू जानी ने अपनी गणना के अनुसार महूरत चुन-चुनकर आखिरकार उत्रा[1] योग की साइत धर दी। घर-देवता की पूजा इसी योग में होती है। घर-देवता घर के भीतर रहता है, घर की रखवाली करता है, मानुष की देह के शुभाशुभ की रखवाली करता है। कोई भी मंगल-काज, कोई भी परब-तेवहार करने के पहले उसकी पूजा होती है। पहले उसकी पूजा हो लेती है, फिर और कुछ होना है। इन पहाड़ी इलाकों में लोग परब-तेवहार मनाने को "व्रत करना" या "व्रत रखना" नहीं कहते, 'परब खाना' कहते हैं। कारण, यहाँ पर तेवहार प्रायः किसी-न-किसी नए फल या नए अनाज के निवान (नवान्न-भोजन) के पर्वों पर ही पड़ता है। सब से पहले खाता है घर-देवता। क्वार, कातिक, पूस, माघ और चैत, इन पाँच महीनों में बड़ी बड़ी पूजाएँ "खाने" के पहले, महीने के किसी गुरुवार के दिन घर-देवता की पूजा की जाती है। बल्कि यों कहिए कि उसको पूजा दी जाती या खिलाई जाती है। यह घर-देवता एक प्रकार के विनायक या गणेशजी हैं।

देवताओं को पूजा खिलाने के क्रम की एक नियत पद्धति है। इस पद्धति के क्रम से घर-देवता के बाद झाकड़-देवता की बारी आती है। झाकड़-देवता की पूजा के लिए भी कंध डिसारी के ब-लिखे पत्रे में योग रहता है।

---

१ उत्तराषाढ़।—अनु०

झाकड़-पूजा का योग 'अशनी' या 'बारनी' [1] नक्षत्र में पड़ता है। झाकड़ पेनू [2] लगभग वही हैं, जिन्हें और लोग धरती माता कहते हैं। झाकड़ खेती के देवता हैं। यूनानी पुराणों की माँ शिरीस [3] के कंध अवतार। झाकड़ देवता इस पठार-देश में अनेक नामों से प्रसिद्ध हैं। कहीं यही "निमाणिमुंडा" हैं, कहीं 'झाकड़' हैं तो कहीं मात्र 'दरतनी' है। जिस समय मानव-मन में धर्म-भावना पहले-पहल अँकुराने लगी थी, उस समय मानव ने सब से पहले यही देखा था कि ऊपर आकाश है और नीचे धरती है। ये ही दो देवता सब से बड़े हैं। आकाश का राजा सूरज है, माटी पर केवल प्रजा ही प्रजा है, यहाँ राजा का कोई स्थान नहीं है। माटी हर कहीं समान है। इसलिए ये ही दो देवता सब से पहले देवता हैं। ऊपर दरम् और नीचे दरतनी। दरतनी का ही एक और नाम है "झाकड़-देवता"। कंध कर्मकांड में इनकी पूजा साल में चार बार होती है। छोटी-मोटी पूजाएँ तो और-और भी होती ही रहती हैं; पर बड़ी पूजाएँ ये चार ही हैं। एक पूजा पंड-मास (अगहन) में होती है, बुवाई के ठीक पहले, एक माघ में, एक भदई के नए निवान के समय और एक इसी चैत में, आम खाने के पहले, सियाड़ी के फल खाने के पहले।

गाँव के पास कहीं विजन एकांत में किसी बड़गद की जड़ पर झाकड़ देवता की प्राण-प्रतिष्ठा होती है। किसी छोटे से निराले जंगल में एक छोटा-सा थान होता है उनका। वहाँ खिलौनों के पुंज की तरह मिट्टी के हाथी-घोड़े पुंज-के-पुंज पड़े रहते हैं। बच्चों के खिलौना-हथियारों की तरह लकड़ी के छोटे-छोटे बरछे रखे रहते हैं, जिन पर लाल-लाल और काले-काले चित्रमय धब्बे बने होते हैं। वहीं नीचे रींधी-पकाई दारू डाली जाती

---

१ अश्विनी या भरणी।

२ कुभी भाषा में पेनू शब्द देवता का पर्याय है।

३ संभवतः लेखक का तात्पर्य जुताई और अनाज की देवी सीरीज से है, जो यूनानी देवी दिमीतर का रोमी इतालवी नाम है।—अनु०

है। टहनियों के बने घुटने भर ऊँचे मँड़वे के ऊपर मुरगी के अंडे तोड़-तोड़कर धरे जाते हैं। वहीं पर जानी मंत्र पढ़-पढ़कर मुरगी के चूजे को अरवा चावल चुगाता है और फिर उसकी गरदन खींच-तानकर तोड़ लेता है और रक्त वहीं मिट्टी पर ढुलका देता है। वहीं पर बेजुणी प्राचीन कुभी भाषा के श्लोक उच्चारती हुई नाचती है। बूढ़ियाँ एक दूसरे के हाथ धरे हुई पहले सात भाँवरों और फिर सतरह भाँवरों के फेरे लगाती हैं। एक ओर ढोल, घंटा-घड़ियाल जैसे समान ताल के समय का अंतर रख कर ढाँव-ढाँव ढाँवढाँव बजता रहता है। झाकड़ देवता का स्थान अत्यंत पवित्र स्थान होता है।

गाँव के पास से बहते झरने के गहरे 'झोले' के किनारे झाकड़ देवता के 'थान' के पास नीले फूलों का जंगल है। कुड़ैया (कुटज, इंद्रयव) के रंग-बिरंगे फूलों का जंगल है। थान के पास भाँति-भाँति के पत्तों से लदे भाँति-भाँति की ककौड़ियों [1] के जंगल हैं, उनके ऊपर न जाने किस युग की पुरानी गुरुच-बेल जाल की तरह छाई हुई है। गाँव के झोले के किनारे-किनारे उजले, हलदिया, चंपई और सुनहरे फूलों के गुच्छे घौद-के-घौद लटके झूलते रहते हैं। चैत के नरम-नरम टूसों से भरी सियाड़ी की बेलें जगह-जगह हारों के बने चँदोवे की तरह शाल के पेड़ों के ऊपर तनी हुई हैं। आम के पेड़ों के तनों में पग-पग पर हाड़भंगा-डंक की लत्तरें लिपटी हुई हैं। ढोर-डंगरों की हड्डियाँ टूट जायँ, तो यह 'हाड़भंगा डंक' रामवाण दवा है। थोड़ी-थोड़ी दूर पर छिदरे-छिदरे से सूप के आकार के पत्ते हैं। तले-तले जगह-जगह जंगली केले के पेड़ खड़े हैं। उन पर बैठी रंग-बिरंगी नन्ही-नन्ही चिड़ियाँ मीठे गले से गाती रहती हैं, मोर नाचते हैं, डाहुक छिपते फिरते हैं, कुंभारी [2] चिड़ियाँ विलाप करती हुई कूकती हैं, कंदों की जड़ें उखाड़ते नीचे मुँह गाड़े बनैले सूअर घुट-घुट घुट-घुट शब्द करते हुए नीचे को उतर कर सीधे-सीधे लंबे-लंबे पनिया बाँस के जंगलों में घुस जाते हैं।

१ फर्न जातीय वृक्षों।

२ पूत-पूत की रट लगानेवाली चिड़िया।

ओझा-झींगुरों की झाड़-फूँक के मंत्रों की झंकार वहाँ गूँजती रहती है। न जाने कितने प्राचीन अतीत की उक्तियों के उच्छ्वासों के साथ ढाली-चढ़ाई जाती रही खाद्य-अखाद्य वस्तुओं के रंगों और गंधों से पूरा थान सीला-सीला और चुपड़ा-चुपड़ा-सा हो गया है। यहाँ कोई शिकार नहीं करता। यहाँ कोई भी अपवित्र कर्म कोई नहीं करता। झाकड़-देवता को जितना स्नेह और आदर मिलता है, उनका भय उससे कहीं अधिक किया जाता है। उनका मान न करनेवाला, उनसे भय न करनेवाला, उन्हें न माननेवाला देखते-देखते सत्यानाश को पहुँच जाता है।

झाकड़-पूजा हुई। महा-समारोह के साथ हुई। नया आम खाया गया। नया सियाड़ी-फल खाया गया। गाँव में बड़ी धूम-धाम रही। दारू के दौर-पर-दौर चले। गाँव-भर का सहभोज हुआ।

कारण, यह पूजा चैत-परब की अग्रिम लहर है। देवता का काम पूरा हुआ, अब इसके बाद मानुष का काम है।

फागुन के चाँद की कलाओं में से अब थोड़ी-सी ही बाकी रह गई हैं। इसके बाद वह मर जायगा।

सभी आसमान को निहारते रहते हैं। देखते रहते हैं कि फागुन का चाँद किस तरह दिनों-दिन क्षीण—क्षीणतर—क्षीणतम होता जा रहा है। अब उसमें कोई बल-बूता बच नहीं रहा है। अब वह गोली खाए हुए बाघ की तरह है। गोली खाया बाघ अगर गोली की चोट से नहीं मरता, तो झोले के किनारे कुंजों के झुरमुटों में लोट-लोटकर सूख-सूखकर मर जाता है। मरते समय उसकी देह में सिर्फ हाड़-चाम बचे रहते हैं।

उसी तरह यह भी है। अब यह चाँद आधीरात को जंगल के मुँडेरे के ऊपर, बहुत ऊपर, अपने सिंहासन पर रंग-बिरंगे मुरेठे बाँधे बैठा हुआ ऐंठा नहीं करता। अब उसका गर्व खर्व हो गया है। इसीलिए वह नीचे सरकने लगा है। नीचे, लगातार नीचे की ओर। छाया बढ़ने लगी है, अँधियारा बढ़ने लगा है। खातों-खड्डों में हर कहीं अँधेरा-ही-अँधेरा है। सब ओर कोई एक प्रतीक्षा दम साधे बैठी है। आगामी भविष्यत् की अशब्द प्रतीक्षा। उसी

प्रतीक्षा में झरते अँधेरे में चुपचाप बहे जा रहे हैं। उसी प्रतीक्षा में भालू चुपचाप अँधेरे में महुए के फूल चुग रहे हैं। उसी प्रतीक्षा में मनुष्य मन-ही-मन आगामी आनंद के सपने रच रहे हैं।

सब कुछ एक ही बात के ऊपर निर्भर है। फागुनी चाँद के मरने के ऊपर। पहले वह मर ले, फिर सब कुछ—

फिर भी और-और चाँदनियों की तरह फागुनी चाँदनी भी एक चाँदनी ही तो थी। आज भी रात ढलते-ढलते जिसकी गेरुआ धार काली घूँघटवाली नभोनीलिमा के तलप्रांतिक आसन पर छिटक रही थी, वह भी चाँदनी ही थी। आज की रात सितारे मँजे-मँजाए झकाझक चमके हैं। आज की रात वे धू-धू करके जल उठने को तैयार बैठे-से टिमटिमाते रहे हैं। आज उन्होंने सभा की है और उसके मत्थे तुच्छताच्छिल्य का प्रस्ताव थोप दिया है। किसी दिन उसने अपने तेज के प्रताप से उन्हें ग्रस्त कर लिया था। हाँ, चारों खंड में खंड-खंड बिखरे इन अनगिनत सितारों को लील लिया था उसने। और आगामी भविष्यत् में फिर चैत की चाँदनी उगनेवाली है।—सब के साथ मिलजुल कर अपनी सरदारी जमाती हुई वह भी दिनों-दिन बढ़ चलेगी। समान-समान की रट लगाकर अपने आप को गरिमा में धीरे-धीरे असमान बना लेगी। और फिर एक दिन वह भी उलट जायगी। सितारे सब दिन रहे हैं, सदा रहेंगे। चाँद और चाँदनी सदा रही है, सदा रहेगी। बढ़ना-घटना सब दिन लगा रहता है, सदा लगा रहेगा। बस एक आशा भर है, एक सपना भर है कि एक दिन सब समान होंगे। कि एक दिन ऐसा आयगा, जब प्रशांत आकाश के काले पृष्ठ-पट के ऊपर प्रत्येक सितारे के तपन की झलक फूट उठेगी। हाँ, प्रत्येक सितारे की, अनगिनत आत्माओं के अनगिनत स्वरूपों के प्रतिनिधि प्रत्येक सितारे की, ज्योति से सौर-जगत् का आकाश अनादि से अनंत तक उद्भासित हो उठेगा।

फागुन का चाँद ! कोई चाहता है कि वह जाय, विदा हो, मर जाय, उच्छिन्न हो जाय। और कहीं वह वासंती बहार की रचना कर रहा है, आनंद के ज्वार-पर-ज्वार ला रहा है, मरम को सहलाने-गुदगुदाने वाले

भावों की वन्या ला रहा है। कोई उसके लिए कविताएँ गा रहा है, कोई उसके नाम पर प्यार की श्रद्धा से, साध से, अपने स्नेही जन का नाम रख रहा है—"फगुनी"। फगुनी, फागुनी, फागु, फागुन ! फागुन—इस फागुन ने भी न जाने कितने बौर, कितने फूल, कितनी अबीर भार-के-भार ढो-ढो के इस पृथ्वी पर ला-ला दी है, उँड़ेल-ऊँड़ेल दी है, डाल-डाल दी है। न जाने कहाँ-कहाँ कितनी जगहों पर फाग-फगुआ, होली, दोलयात्रा[1] आदि महोत्सव हो रहे होंगे। और वही फागुन आज यहाँ दीन-हीन, क्षीण, अकिंचन बना हुआ है। आज वह एक बुझी-बुझी-सी लकीर भर है ; पर इतना भी यहाँ के लोगों की आँखें सह नहीं पातीं। बेचारा रेख-शेष फागुनी चाँद भी यहाँ-वालों की आँखों में काँटे की तरह खटक रहा है। सभी निगाहें उसी पर लगी हैं। सभी मना रहे हैं कि वह जल्द-से-जल्द मिट जाय, मर जाय।

उस रात साँस को साँस मिली थी। उस रात अमावस हुई थी। फागुनी चाँद उस रात मर गया था। गाँव-गाँव में अनगिनत छोटे-बड़े अलाव जल उठे थे। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों की चोटियों पर जिधर देखो उधर आग-ही-आग धधक रही थी। अमावस की रात को पूरबी घाट के पहाड़ों के देश में इस छोर से उस छोर तक नाच के ताल थिरक उठे थे। सभी ओर से एक ही साथ उत्ताल वन्य-वाद्यों की सांद्र घनघोर घुमड़न घहर उठी थी। डंबें'ऽ-बाजे परजों के डुड़ुडुड़े , कंध सारंगियाँ और अलगोजे, फेरेंगा लोगों के तुंड-बाजे, आदि सभी जैसे पहले से ही मिला लिए गए हों। अँधियारी रात में सारे सितारे चौंक उठे थे। नीचे, धरती पर, चेतनाप्लावी आनंद होश-हवास बुड़ाए-बहाए लिए जा रहा था। जिस किसी से भी बातें करो, उसी के मुँह में "कल चैत, कल चैत" की रट थी। गलियारे के नाच में दारू के हंडे फूट-फूट गए, जूड़ों-कबरियों के हारों के फूलों की पँखड़ी-पँखड़ी बिखर-बिखर गई।

फागुनी चाँद मर चुका था।

---

1 बंगालियों, गौड़ीय वैष्णवों, की होली ।—अनु०

चालीस

लाल सड़क धीरे-धीरे पैठ रही है। तपाकर लाल कर दी गई गरम छुरी की तरह। उसी छुरी की छूत से कितने युगों, कितने राम-रावणों की अमलदारियों का यह माल्यवंत गिरि अपने दंडकारण्य के शाल-वृक्षों को गँवा रहा है। सखुए के गगनचुंबी पेड़ जड़ से काट लिए जा रहे हैं। सप्त-ताल-भेदन [1] हो रहे हैं। पुराण-पुरुष, प्राचीन मानव, की संस्कृति का कोणारक[2] मेदोमय असुर की हड्डियों के पुंज की तरह ढेर हो रहा है, वूहों-वूहों अचल पड़ा हुआ है।

लाल सड़क के किनारे-किनारे अद्धे घुटन्ने जाँघिए (हाफ़पैंट) और सोला टोपी पहने लोग रहते हैं, लंबे सुथने-पायजामे पहने रहते हैं। वहाँ कल का मूसल [3] धुआँ उगलता हुआ तले की पुरानी भुँई को कूटता-छाँटता, छीलता-छालता, मनमाना चौरस रूप देता, बढ़ा चला जाता है। वहाँ बारह भाइयों (जातियों) की हाट लगती है और बारह झोले (सत्तर घाट) का पानी एक में मिलकर घोलमट्ठा होता है। वहाँ बाहर की सभ्यता है। उस सभ्यता के आदर्श हैं उजले धपाधप कोठे, महले-चौमहले, मनुष्य के भोग-विलास की जटिलता, और उसके लिए हाथों का काम कम और कलों का काम अधिक, क्षिप्रता, चंचलता, अति-गति, 'प्रगति'! लेकिन वहाँ मनुष्य का शिक्षित उन्नततर मन पेड़ों के जंगल के बदले ईंट-गारे के निर्जीव

१ कथा है कि रामचंद्र ने एक ही तीर से सात ताड़ काट गिराए थे।

२ कोणार्क। पुरी जिले में स्थित भारत का यह सर्वोच्च (१५० ') मंदिर, जिसे १२०० राजगीरों ने (१२२५ से १२४० ई० तक के १६ वर्षों में) अनुपम कारुकर्म का नमूना बनाया था, अब खँडहर है।—अनु०

३ दुरमुस।

कोठों के जंगल में, अप्राकृतिक परिस्थितियों में छटपटाता रहता है। फूल-पत्तों की मलिन-चंचल भंगिमा के बदले वहाँ शहरी राह-नदी में अस्त-व्यस्त और असमंजस बहुरंगी मनुष्यों के, बम-भोले के बरातियों जैसे रंग-बिरंगे मनुष्यों के, सोते बहते हुए दिखाई पड़ते हैं। वहाँ शोरगुल है, चहल-पहल है, पर साँस वहाँ रुकी-रुकी-सी, रुँधी-रुँधी-सी रहती है। धूल से और धुएँ से। सड़कों की धूल और अनगिनत कलों का धुआँ दम घोटता रहता है। सूरज वहाँ भी उगता है, लेकिन उसका उगना छटपटाते मानव के पेट की विकलता को और भी नंगे रूप में उजागर कर देता है। धूल और धुएँ के भीतर डूबता सूरज सिकुड़-सिमटकर पिंडाकार बने मानव की भग्न आशाओं की उसाँसों के बुझे जा रहे अंगारे की तरह दिखाई पड़ता है। उसी सभ्यता का भग्नांश लाल सड़क को गढ़ता हुआ भीतर को, और भीतर को, धँसता चला आ रहा है। लाल सड़क लंबी होती जा रही है।

उसकी कल-पुरजों वाली आधुनिकता की हँसी उड़ाता हुआ चैत-परब भी उसी राह निकल जाता है। कहीं उसी रास्ते, तो कहीं एक जंगल से निकलकर उसे पार करते हुए दूसरे जंगल की ओर! पर दोनों ही सूरतों में लाल सड़क की उपेक्षा करता हुआ। कौपीन पहने उन्नत पुरुष, हाथों में धनुष, बरछे, ओड़िया नलियाँ। झुंड-की-झुंड स्त्रियाँ, रींधी दारू के हलके गुलाबी सुरूर से आँखें टलमलाती हुई! होंठ जरा भर खोले हुई। उन अधखुले होंठों के पीछे से चकाचक चमकती दंत-पंक्तियाँ। सिरों से रेंड़ का तेल चुचुआता हुआ! हलदी की उबटन से सारी देह पुती हुई। कुहरे में तैरती सी मुग्ध थमथमायी देह में हलकी-हलकी गति! और केवल फूल-ही-फूल, केवल मद-ही-मद, केवल गीत-ही-गीत, महँकते हुए, छलकता हुआ, उमँगते हुए! उनके देश में चैत-परब इसी तरह मनता चला आया है! तब से, जब तक की याद बाकी है! कंध की याद में बसा 'इतिहास' जितना पुराना है, उसके लिए चैत-परब का यह रूप भी उतना ही पुराना है।

यह नंगी सभ्यता लाल सड़क के उस पार नहीं है। सिर्फ़ इसी पार है। यहाँ पूनों का बड़ा चाँद पहाड़ों के लहराते हारों की लहरियों के उस पार

से उगता है। उसकी विजय की पोशाक खुली पवन में अत्यन्त ही निर्मल दीखती है। बीच में धूल-धुएँ का कोई परदा नहीं होता। भीड़-भड़क्कों वाले कोठों का असुंदर अभ्यंतर नहीं होता। उनकी छाया तक भी नहीं होती।

टेसू की तरह टहाटह लाल चाँद छलाँग मारकर, फाँद कर उगा। पर्वत-समुद्र के भीतर से उसकी लहरियों के ऊपर फाँदकर। उसके उगने के सँग-सँग सहलाती गुदगुदाती-सी हलकी-हलकी पवन डोलने लगी। न जाने क्यों, चाँद के उगते ही पवन की हलकी-हलकी लहरी उठने लगती है। सदा से। चाँद उगनेवाला है, इस बात का आभास बहुत पहले से ही होने लगता है। तब तक सब गुमसुम-गुमसुम रहता है। यह चुप्पी विप्लव के ठीक पहले की मौन प्रतीक्षा-सी, विस्मय की शांति-सी होती है। संधिकाल की वही शांति कुछ देर तक रही। फिर हलकी बयार उठी। बयार का डोलना था कि हठात् मानो एक चौकन्नी चौकसी चारों ओर खेल गई। लाल चाँद उगा। चारों ओर महारोर कलरव उठा। चैत का तेवहार शुरू हुआ।

चैत के चाँद को निहारता हुआ दिउड़् साँवता कुछ सोच रहा था। उसके मद-पान का कोई ओर-छोर नहीं है। और न कोई ओर-छोर उसकी भावनाओं-चिंताओं का ही है। पहाड़ी आदमी ठहरा, अशिक्षित आदमी ठहरा, एक घटना के पास दूसरी घटना को रखकर, माप-तोलकर, मिला-जुलाकर सोचना उसने कभी सीखा ही नहीं। वह काम करता जाता है और जब जो जी में आता है, सोचता जाता है। उसकी भावनाएँ-चिंतनाएँ अलग-अलग मौसम में अलग-अलग तरह की होती हैं। दिन के समय, जब चारों ओर निर्मल उजला आलोक फैला था, उस समय, वह शिकार के लिए फंदे बनाता हुआ गाँव की सभा में उत्साह दिखला रहा था। कह रहा था, सर्गी घाटी और चंदनी घाटी में शिकार होगा, गोल बाँधकर छोटे जंगलों से शिकार हाँकते-हुलकाते हुए सभी उधर ही जायेंगे। असल में दिन के समय संग-मेल के नाना प्रकार के काम और नाना प्रकार की चिंताएँ होती हैं। मगर वे चिंताएँ सारे दल की होती हैं, किसी एक की नहीं।

मगर रात ?...पहले पहर में तो गाँव के धंधे रहते हैं। चहल-पहल रहती है, गुल-गपाड़ा रहता है। उसके बाद खाने-पीने का समय होता है। पेट भर चुकने पर दारू के दौर चलते हैं, गाँव के गलियारे में शोर मचा-मचाकर नाचा-गाया जाता है ; लेकिन जिस समय गाँव-बस्ती सुनसान पड़ जाती है, जगे हुए सभी लोग गलियारे के नाच में जा जुटते हैं, उस समय दूसरी ओर क्वाँरे युवक-युवतियाँ के आंतरिक लेन-देन का अभियान शुरू हो जाता है। कौन कहाँ जा छिपता है, इसका कोई ठिकाना नहीं रहता।

उस समय—

उस समय आँखें बचाकर, मुँह-हाथ लपेटे हुए गाँव के नाच से छलक-छिटककर, दिउड़ू साँवता कहीं निराले में जा बैठता है। वह और चाँदनी रात, बस अकेले-अकेले। नाना प्रकार की हँसी-मुसकानों और नाना प्रकार की पद-चापों के शब्द उसके कानों में पड़ते रहते हैं। पद-चाप पहचानना वनजातियों की अपनी विशेषता होती है। जानवरों की पदचाप से उनकी जाति, प्रकार और स्वरूप को समझने की चेष्टा करते-करते आदमी की पद-चाप से उसकी अवस्था और गुण आप-ही-आप समझ में आने लगते हैं। ढप्-ढप्-ढप् ढप्-ढप्...प्रतीक्षा ; बेताबी बढ़ जाती है।...क्यों, दूसरा साथी उसका अब तक बाहर क्यों नहीं आया ! नाना भांति के उद्देश्यों को लेकर नाना चरित्रों के लोग प्रतीक्षमान होते हैं। अहा, घुँघरू के शब्द सुनाई पड़े !—कोई क्वाँरी सज-सवँरकर नाचने जा रही है। कोई लौट रहा है, नाच-नाचकर थक चुका है, अब लेटने को ज़रा-सी टेक मिली नहीं कि सो रहेगा।

निर्जन निराले की चिंतना भी दिउड़ू के मन को शांति नहीं दे सकी। चाँदनी रात मन के भीतर केवल कामनाएँ-ही-कामनाएँ भरे जा रही थी। आँखें डबडबाई आ रही थीं। कामनाएँ चिर-अतृप्त ही रह जायेंगी।

वही पुराना रोग उसे याद आ रहा था। बहुत-बहुत चुन-चुनाव के बाद वह घर बसाने के लिए पुयू को ले आया था। पर पुयू अब वह पुयू रह नहीं गई है। इस घरनी और उस धाङड़ी में न जाने कितने-कितने, कैसे-

कैसे अंतर आ गए हैं। सारी धारणाएँ उलट चली हैं। नतीजा है सिर्फ मन की कुढ़न, हूक। न जाने क्या हो गया है उसे, न वह देह है, न वह मन है। बस रींध-पका के परोस देगी और अपनी घर-गिरस्ती के धंधों के जंजाल में लोटती रहेगी। बच्चे को चिपकाए इस घर से उस घर क्या-क्या तो करती फिरेगी। दिखाई पड़ भी गई कभी, तो मुँह पर वह प्यार नहीं दौंकता। मुँह मान से लटका-लटका-सा रहता है। मानो किसीने उसका कोई अनिष्ट कर डाला हो। कितने-कितने दिनों पर कभी-कभार एकाध बार दिउड़ू अपनी पत्नी के पास जाता है ; पर पत्नी है कि कुछ बूझती ही नहीं। जंगल में जाओ, तो और नहीं तो पेड़-पत्तों की थोड़ी-घनी छाँह तो मिल जाती है, स्त्री के पास जाने पर वह भी नदारद ! चैत की रातों में स्त्री को पकड़ कर नाचना होता है। पर अपनी एक स्त्री है, जो अब नाचने वाली कतई रही नहीं गई है।

सोचते-सोचते दिउड़ू खिसिया उठा। उठकर खड़ा हो गया और प्रतिज्ञा की कि आज चाहे जैसे भी हो, पुयू को अँधेरे घर से घसीटकर उजाले में ले जाऊँगा। झोले के किनारे ! चैत पुकार रहा है। आज किसी भी तरह वह नहीं बचने की। दुल-दुल धड़कती छाती में साँसें रोके दिउड़ू चोर की तरह घर आ पहुँचा। नए परिचय के बाद पहली देखासुनी के लिए जाते समय की तरह ! पुयू के साथ पहली बार वह इसी तरह मिला था।

ओलती तले अँधेरा था। घर के भीतर और भी अँधेरा था।

किवाड़ खुली थी। दरवाजे के मुँह पर नित-दिन का रखवाला बूढ़ा दसरू बैठा था। नींद टूटते ही भौं-भौं भौंकता हुआ दसरू दौड़ पड़ा। कुछ देर बाद दिउड़ू को पहचान लेने पर आश्वस्त हुआ। यही प्रथम बाधा थी। टल गई। दिउड़ू प्रकृतिस्थ हुआ। घर के भीतर पैठा। सिर गरमाया हुआ था। साँसें दमादम धौंक रही थीं। मुँह में धुँगिए का जो पिका[1] पड़ा था, उसके कश जोर-जोर से खींचकर उसे सुलगा डाला। धुँगिए के गुल की लुक-झुक लुक-झुक रोशनी में उसने देखा कि पुबुली और पुयू मुँहा-मुँही होकर

१ बड़े पत्ते का तंबाकू।

पास-पास सटी लेटी पड़ी हैं। पुबुली की गोद में हाकिना सो रहा है। दिउड़ पुयू के ऊपर झुक पड़ा। उसका शीर्ण मुखड़ा भली तरह दिख नहीं रहा था। अँधेरे ने सब कुछ लुका रखा था, सारी शीर्णता, सारी दुर्बलता, सारी तेजोहीनता छिपा रखी थी। उस अँधियारे में तरंग के ऊपरी सिरे की तरह केवल इतना ही भान हो रहा था कि यहाँ पर एक सुषुप्त नारी-देह है, जो उसी की है। दिउड़ पागल की तरह हाथों से टटोलता रहा; पर पुयू की नींद नहीं खुली, नहीं खुली। उसी तरह नीचे उतर कर दिउड़ ने दोनों हाथों पुयू के पैर पकड़ लिए और घसीटने लगा। अब नींद खुली पुयू की। उधर हाकिन भी घिसटन खा गया और जगकर चीख उठा। विस्मय मे अभिभूत होकर पुयू टुकुर-टुकुर-निहारती रही। सोचती रही , हो-न-हो, यह चैत की दारू का फल है। पुबुली ने उठने का उपक्रम किया। नाच की माँदगी उसे छोड़ने का नाम ही नहीं ले रही थी। सारी देह बटी हलदी की गंध से मँहमँह कर रही थी। अब दिउड़ का दंभ पानी हो गया— ! इधर हाकिना की चिल्लाहट, तो उधर नींद से मलमलाती बहन पुबुली की 'एँ-एँ-एँ-एँ ? ' पुयू होठों को दाँतों बकोटती रह-रहकर कँपकँपाते सुर में पूछती—'एन्हा-एन्हा—? ' (क्या, क्या ?) हार मानकर निरस्त-परास्त होकर, दिउड़ लौट गया। मानो जिस अँधियारे के भीतर से यह तूफ़ान आकर उसके अंदर पैठ गया था, उसी अँधियारे में अँधेरे-अँधेरे ही चला गया, लौट गया।

बाहर आया। भारी कुढ़न हो रही थी। लौ ले उठे मन का अंधड़ हठात् अटक जाने पर जिस तरह झाँय-झाँय-सी लगने लगती है, उसी तरह खोपड़ी के भीतर कोई तंतु झनझना उठा था। विकृत मन को मुँह चिढ़ाता-हुआ-सा चैत-परब के बाजों, नाचों और गीतों का कोलाहल सुनाई पड़ रहा था। वहाँ पर न जाने कितने लोग इस समय मात रहे होंगे। कंध-गोष्ठी का टलमल आनंद वहाँ छलकता पड़ रहा होगा। दिउड़ को यह सब कड़वा-कड़वा लग रहा था। वहाँ जाने का मन नहीं हो रहा था। पर वहाँ की बात कानों से निकाल बाहर करने को भी जी नहीं चाह रहा था। पुराने

घाव को खरोंच-खरोंच कर लहू बहाने की मनोवृत्ति लेकर दिउड़ महुए के पेड़ से उठँगा हुआ वह कोलाहल सुन रहा था। लहू गरमा आया, फिर रात रात लगी, पागल चाँदनी फिर उतर आई, पागल का नशा फिर चढ़ आया।

धाङड़ों ने करुण स्वर में गीत छेड़ रखा था। गीत की कड़ियों को बारंबार दुहरा-तिहराकर वे धाङड़ियों के ऊपर रूठे स्वर में मान की वर्षा कर रहे थे—

"क्यों चली गईं तुम ?

"कुंजों में चाँदनी आँखमिचौनी खेल रही थी। पैरों में 'जादू' और कानों में 'फगू' पहने तुम कितने सुंदर छंदों में नाचती फिर रही थीं! तुम्हारे हाथों की चूड़ियाँ और पहुँची ओले पड़ने के से शब्द करती हुई झमाझम-झमाझम बज रही थीं। मुरगे ने बाँग तो दी ही नहीं थी, फिर तुम भाग क्यों गईं ? न जाने तुम्हें कुहरे ने बिला लिया कि बयार ने! पेड़ों की ओट 'पिओटी' चिड़िया रो रही है, 'अगटी' चिड़िया रो रही है। सारा-कुछ सुनसान करके चली गयीं तुम! कहो न भाग क्यों गईं ?" [१]

देह की भूख का मान, मन का छल, हलके हृदय की कविता! उद्देश्य केवल इतना ही होता है कि आदमी को फिर जरा-सा उकसा कर, फिर उसमें जरा-सी उत्तेजना ला कर, उसे आगे की ओर दौड़ा दिया जाय। आदमी पशु की तरह हाँक दिया जाता है। उसे हाँकने में इस तरह की कविताएँ चाबुक का काम करती हैं। आसमान में पूनों का चाँद ढलता

---

१ मूल गीत:—

"तिनि दाणि तोटा ताँ आदय्याँ रितु लाँहुँ गाजियाँ रितु !
जेईं फगूजोड़ जेईं आंदूजोड़ लाँहुँ गाजियाँ रितु
कोयाक्णे कुपते ताँ आतियाँ रितु लाहुँऽ आजियाँ रितु
जन्हियाँ दुहोता, ताँ अजियाँ रितु लाँहुँऽ गाजियाँ रितु
एन्हि बाया होता,
पिओटिला ड़िते, अणटि लाड़िते, लाँहुँऽ गाजियाँ रितु
तिनि दाणि तोटा, ताँ आदय्याँ रितु, लाँहुँऽ गाजियाँ रितु !!"

हुआ क्षितिज को जा रहा था । दिउड़ू का माथा चकराने लगा। अपने ऊपर अपनी बस न रही। किसी अनजानी प्रेरणा के वशीभूत होकर वह वहाँ से बढ़ चला। मन-ही-मन उसने पुयू का परित्याग कर दिया। हलके नशे में उठते विचारों ने उसके अन्दर मान और अभिमान के भाव जगा दिए। मान किए हुए नायक की तरह वह सोचने लगा कि पुयू को अंतिम बार एक सुयोग दिया था मैंने, पर पुयू ने उसे नहीं लिया। इसमें अब मेरा कोई दोष नहीं! सारा दोष उस स्त्री का ही है, सारा दोष पुयू का ही है। इस तरह वह कब तक अपने मन को निरस्त-विरक्त करता रहे? कब तक अपने पौरुष का अपमान करता रहे? इस तरह कब तक पड़ा रहे भला? पुयू से बदला लेना होगा! जरूर लिया जायगा! बदला!— बदला इसी तरह से लिया जा सकता है!

यों ही गडमड-गडमड-सी बातें सोचता चला जा रहा था वह। सोचते-सोचते माथे के अन्दर जैसे कोई खरोंच-सी आ लगी। कोई नस जैसे हलके से झनझना गई। वह चौंक पड़ा, देखा, बहुत दूर चला आया है! डंबॅ'S बारिक का घर दिखा। वह भीतर पैठ गया। बाळमुंडा डंबॅ'S के सोने के कमरे के आगे जा खड़ा हुआ। झुके छप्पर की ओलती सिर से आ लगी।

सोचा, यही ठीक है, यही अच्छा है। अपनी ब्याहता पत्नी से बदला लेने के लिए डंबॅ'S के घर में घुस पड़ना एक तरह से अच्छा ही है। जाति, कुल और आभिजात्य, सबको बुड़ा कर सीधे डंबॅ'S के घर के भीतर जा पैठना खूब रहेगा! डंबॅ'S के घड़े से पानी या डंब की हाँड़ी से पेज 'ढुबे' लेकर [1] खा लेने से अ-डंबॅ'S भी डंबॅ'S हो जाता है। कितना सहज होता है यह भी।

लेकिन वह डंबॅ'S होना नहीं चाहता था! पुरखों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आई कंध-कुल की सांवतागिरी के बदले छोटे लोगों के किसी गाँव में डंबॅ'S बारिक बन कर गोरू चराना वह नहीं चाहता था।

---

१ निकाल कर।

विचार खो गए थे। चिन्ताएँ खो गई थीं। ऊपर चाँद था और नीचे अपने मन में उद्दाम पाशविकता थी। धीरे-धीरे उसे होश हुआ कि मैं तो सोनादेई के घर के दरवाजे पर खड़ा हूँ! हो सकता है, भीतर सोनादेई हो। सोनादेई, जो नामर्द पति के सहवास से कुढ़-कुढ़ कर न जाने कितनी पुरानी हूक पाले होगी,— जिसके मन में जाने किस युग से अतृप्त वासना धू-धू करके जल रही होगी!

वह जहाँ का तहीं थमक कर काठ बना खड़ा रहा। मन के भीतर से ठेस-सी लगी कि बहुत दूर चला आया हूँ। पहाड़ी हवा में हलकी खुनकी बढ़ी आ रही थी। दूर से किसी के खँखारने की आवाज आई। हो-न-हो, नाच से लौट रहा है कोई! उसके भयालु मन ने उसे चेता दिया कि तू पाप करने चला है! और की धरती या और की स्त्री पर आँख लगाना कंध-समाज में पाप माना जाता है। उसने सोचा कि हो-न-हो, कोई डुमा (प्रेतात्मा) ही इस निस्तब्ध रात में मुझे इतनी दूर हाँक लाया है। यह सब भूल है, गलत है, आदि से अन्त तक गलत है। खँखासने का शब्द पास-पास आता जा रहा था। धर्म की सारी धारणाएँ आ-आकर उसे चेता रही थीं। अच्छा, अगर कोई आ धमका, तो क्या जवाब दूँगा?

खाँसने-खँखारने का शब्द फिर सुनाई पड़ा। दिउड़ साँवता वहाँ से धीरे-धीरे खिसक गया। क्या कहूँगा? 'चेकू'[१] 'चेकू'— हाँ, यही ठीक रहेगा! रात के समय डंबेऽ लोग घर में हैं कि नहीं, हैं तो क्या कर रहे हैं, आदि जानने के लिए 'चेकू' करने आना गाँव के बड़े मुखिया के लिए कोई बड़ी बात नहीं होती।

बाड़ फाँद कर रास्ते पर आ गया और धीरे-धीरे चल पड़ा। कुछ दूर निकलने पर देखा कि गाँव की बेजुणी बुढ़िया खाँसती चली आ रही है। गले में मंदार की माला पड़ी है। बड़ी विकराल दीख रही है।

१ गश्त या जाँच के अँगरेजी पर्याय 'चेक' का कुभी अपभ्रंश।

मन-ही-मन जाने क्या-क्या बकती हुई बेजुणी निर्जन-निस्तब्ध राह में इतनी रात बीते कहीं चली जा रही है।

पूनों की रात और चैत की मौज के बीच नरकंकाल-सी बुढ़िया बेजुणी का यह राह चलना दिउड़ साँवता की आँखों को निहायत ही बेतुका लगा। डरता-डरता वह थोड़ा पिछड़ रहा। सोचा, कहाँ जा रही होगी बेजुणी ? कहाँ से आ रही होगी ?

बुढ़िया की बात सोचने पर जो शंका उसके मन में बचपन के दिनों से ही उठती रही है, वह फिर उठी। उस शंका की मूल भित्ति इतना-सा विश्वास-भर ही है कि बेजुणी देवताओं के साथ, प्रेतों के साथ, मिलती-जुलती रहती है। कि यह सच है कि वह भी मनुष्य ही है, पर वह असाध्य साधनाएँ किया करती है !

बेजुणी के सँग-सँग भूत-प्रेत चल रहे होंगे। उसे घर पहुँचा देने तक वे उसका साथ नहीं छोड़ेंगे। दूर, गाँव में बज रहे बाजों का शब्द सुनाई पड़ रहा है। राह के ऊपर कहीं कोई नहीं है। चाँदनी के आलोक में पेड़ों के ठूँठ झिलमिल-झिलमिल झलक रहे हैं। अँधेरे उजाले के घुलने-मिलने से कितनी ही जगहों पर कितने ही प्रकार की आकृतियाँ दिखाई पड़ रही हैं। अँधेरा जंगल के जानवरों की तरह गुड़ीमुड़ी हुआ सो रहा है। उधर, जिधर चाँदनी नहीं, बल्कि पहाड़ों की छाया है। पहाड़ और गाँव तले की झोंपड़ियाँ, मानो चाँदनी के पीछे घात लगाए पड़ी हैं। वहाँ चाँद की रोशनी मानो चारों ओर से सिमट कर पोखरी के पानी की तरह जमकी हुई है।

विकृत रीति से खाँसती-खँखारती बेजुणी बुढ़िया सीधे बढ़ी चली गई और दूर कहीं आँखों से ओझल हो गई। दिउड़ साँवता चकित और भीत होकर सहमा खड़ा रहा।

उसके वन्य मानस में भय जाग उठा। वन्य मानस की प्रधान प्रक्रिया भय की ही होती है। भय टल जाने पर भोजन की, और उसके बाद काम-वासना। भय की सृष्टि का उपकरण निस्तब्ध राह में बुढ़िया बेजुणी

से भेंट के रूप में मिल ही गया था। अब अकेले बढ़ने के लिए भरोसे का कोई सहारा न था। अंतर का सारा सत्त भय से सूख गया था। वंश-परम्परा से प्राप्त भय के बीजाणु मन के भीतर हलचल मचाए हुए थे। दिउड़ू वहीं से लौट आया। एक मन यह करता था कि बारिक को पुकार कर उसे साथ ले ले। निर्जन-निस्तब्ध राह में टोले के छोर पर वाले इमली के पेड़ तले अकेला वह हरगिज नहीं जाने का !

लेकिन लौटने पर उसने एक और ही दृश्य देखा। बारिक डंबॅऽ के घर के रास्ते के मोड़ पर कोई लंबतड़ंग-सा आदमी अपनी लंबी-लंबी पतली-पतली टाँगों से डगमग-डगमग डग भरता बढ़ा आ रहा है। छरहरा बदन, लंबा डौल और सिर नीचे किए। मुँह दीख नहींरहा था। ठीक नाक की सीध में बढ़ा आ रहा था।

इतनी अबेर को ऐसा दृश्य देख पाने की आशा उसे बिलकुल नहीं थी। बेजुणी अभी-अभी उसके आगे से निकल गई थी। डकारते हुए चले जा रहे रात्रि-चारी बाघ की तरह। अब यह "कौन" आधिभौतिक लंबतड़ंगा लपकता हुआ एकदम पास चला आ रहा है ! दिउड़ू ने देखा कि खड़े रहने में अब कोई लाभ नहीं है !

दिउड़ू सांवता दौड़ पड़ा। भाग खड़ा हुआ।

अब पीछे से आ रही मूर्ति ने भी ठीक उसके पीछे-पीछे दौड़ना शुरू किया। पीछा करने लगा। बस्ती के पास आने पर एक झोंपड़े के पास जाकर दौड़ते-दौड़ते ही उसने "चोर-चोर" चिल्लाना शुरू किया। कहीं से किसी कुतिया ने टेक धर ली। इस आयोजन से आश्वस्त होकर दिउड़ू सांवता खड़ा हो गया और पीछे मुड़ कर देखने लगा। कारण, वह समझ चुका था कि पीछा करनेवाला कोई भूत-प्रेत नहीं, बल्कि आदमी है और आदमी भी जो -सो नहीं, खुद अपना लेंज़ू चाचा ही है।

अँधेरे में एक ओर हटकर वह खड़ा था और उसके मुँह के पास से ही लेंज़ू चाचा गाँव के कुत्तों को सतर्क करता हुआ भागा-भागा निकल गया। दिउड़ू के जी में आया कि चाचा से सफाई पूछी जाय; मगर

फिर यह सोच कर चुप रह गया कि ज्यादा घोल-मट्ठा होने पर खुद उसका अपना ही भेद खुल जायगा।

कुछ कह तो नहीं सका, पर उसके मन में संदेह जरूर हुआ कि लेंजू-कंध इतनी रात बीते जा कहाँ रहा था!

एकतालीस

बंदिकार गाँव में भी उसी चैत-परब की धूम थी।

गाँव में और गाँव के बाहर टेकरियों और ढलवानों के ऊपर दिन-रात फूलों के गहने पहने और तेल-हलदी पोते क्वाँरी युवतियों के नाच चल रहे थे। बाजों के ढाँव-ढाँव, ढाँय-ढाँय शब्द हर घड़ी कानों को बहरा किए रहते थे। लुहसारों में हर घड़ी खचाखच भीड़ भरी रहती थी। ओड़िया नळियों, 'झामकी' नळियों,[1] 'केपू' नळियों आदि देसी बन्दूकों की मरम्मत चल रही थी। लुहार लोहा-पत्थर गला-गलाकर उससे लोहा निकाल रहे थे और उससे नई-नई बन्दूकें, बरछे, लोहे की गोलियाँ आदि गढ़ रहे थे।

हर कहीं शिकार के लिए तैयारियाँ हो रही थीं। कोई कटाहे कंध-कुत्तों के झुंड लिए भेड़-बकरियाँ हुलकाने के बहाने चैती शिकार का अभ्यास कर रहा है, तो कोई हाथ पर भिंगराज चिड़िया बैठाकर यह देख रहा है कि पतरेंगा चिड़िया जैसा यह इतना नन्हा-सा जंतु सचमुच किस तरह झपट्टे मार-मार कर और आँखों के पास डैने फड़फड़ा-फड़फड़ा कर वन के बड़े-बड़े जानवरों को, विशेष कर के बाघ को, बाहर निकालता है। जंगल में जाकर मांदल बजाने से बाघ मामू अवश्य ही निकल पड़ते हैं। टोने-टोटके जानने वाले ऐसे भी लोग हैं, जो पाती डालते हैं, तो शिकार अपने छौनों को पुकारता हुआ बाहर निकल आता है और जब तक मर नहीं जाता, तब तक गोली खाकर मरने की बाट जोहता रहता है। चाहे कितनी भी गोलियाँ चलाकर बरबाद क्यों न कर दी जायँ, वह भड़ककर भागने का

---

१. दस-दस फुट लंबी नाली वाली देसी तोप, जिसमें मुँह की ओर से बारूद भरते हैं। 'झामकी' पेड़ से बँधी होती है और चलते-फिरते शिकार की दिशा में उसका मुँह घुमाया जाता रहता है। तब तक पलीता भीतर-ही-भीतर धीरे-धीरे सुलगता रहता है। पूरा सुलग लेने पर तोप आराम से दग-दग पड़ती है। निशाना लगना-चूकना राम-भरोसे रहता है।—अनु०

नाम ही नहीं लेता। बरसात और जाड़ों में जितने सारे लोगों को बाघ खा गए हैं, उन सब का बदला जंगल सूखने के इस मौसम में लिया जाता है। इसीलिए इतने गोलों, बरछों और बन्दूकों को तैयार किया जा रहा है। जानकार लोग लोहे के तीरों के फलों को जहर में बुझा लेते हैं। तीर बुझाने के लिए जड़ी-बूटियों का जहर और सड़े माँस का जहर काम में लाया जाता है। आज-कल हर कहीं शिकार-ही-शिकार की चर्चा है। कोई-कोई जंगल में हिरन, साँभर इत्यादि मारने के लिए 'खारी' डाल आए हैं। 'खारी' नमक, मूत, सुखुआ मछली, लहसुन इत्यादि के घोल को कहते हैं। जंगल में किसी जगह थोड़ी दूर में यह 'खारी' फैला दी जाती है। जानवर खारी चाटने के लिए झुंड-के-झुंड आ जुटते हैं। गाँव के लड़के खरहे फाँसने के जाल लेकर ग्वैंड़े की झाड़ियों-झुरमुटों के पास शिकार खेलना शुरू भी कर चुके हैं। रात को रोशनी जलाकर घंटी बजाने से खरहे आप-ही-आप उधर आ जाते हैं।

ऐसे जवाँमर्द बहुत कम होते हैं, जो दारू पीने पर भी नशे में मात न जायँ। इस बार जंगल में चोरी-चोरी रींधी जानेवाली दारू बहुत कम आई है। फिर भी सारे लोग नशे में बुत्त हैं। या तो लंबे-लंबे भाषण दे रहे हैं, या गीत गा रहे हैं। किसी का भी मुँह बन्द नहीं है।

मांस आज-कल प्रतिदिन खाने को मिल जाता है। गाँव से कुछ दूर पत्थर की एक चट्टान के ऊपर बूढ़े बैल की लाश पड़ी है और लोग गिद्धों की तरह उसे घेरे बैठे, हथियारों से उसे भोंक-भोंक रहे हैं। घर में मांस आ रहा है।

चैत-परब के हो-हल्ले के भीतर ब्याह की चिन्ता, पुबुली की चिंता, बाजों के ताल-ताल पर थिरकती हुई आती है और फिर लुकती-छिपती कहीं दूर पीछे जाकर दब जाती है, पुँछ जाती है। हारगुणा साँवता फिर अपने काम में मन लगाकर जुट पड़ता है। कारण, चैत के दिन कोई घर बसाने के दिन नहीं होते, घर-उजाड़ गोष्ठीगत आनन्द के दिन होते हैं। हारगुणा गाँव का मुखिया है, सरदार है। बयस में कोई बड़ा हो कि छोटा

हो, मुखिया होने का मतलब ही यही होता है कि पकी दाढ़ी-मूँछोंवाले बड़े-बूढ़े भी छोटे बन कर उसके पास आते हैं और हर छोटी-बड़ी बात में उसकी सलाह ले जाते हैं। वह अनुभव करता है कि मैं हर कहीं हूँ। कभी-कभी जब वह रस्सियों की बुनी खाट पर घड़ी भर को आराम करने बैठा होता है, गांव के भाई-बंद दारू पीकर 'हो-हो-हो-हो' करते हुए आ पहुँचते हैं, उसे मय खाट के कंधे पर उठा ले भागते हैं, शोर मचा-मचाकर 'बाइले बाइले', रटते हुए नाचने लगते हैं और नाचते-नाचते उसे नाच के मंडप में ला पटकते हैं।

पुकार मचती है—"साँवता, साँवता, हमारा भेंडिया साँवता!" बहुत बार नाचती हुई क्वाँरियाँ बढ़ी आकर उस पर फूल बिखेरती हैं और गुदगुदा-गुदगुदा कर उसे बरजोरी नचाती हैं। उसी के गाँव के रास्ते बड़ शंकार, निसार, खालकणा, कनापाड़ि, दामनगंडा, कालि, आदि कितने ही गाँवों की बेटियाँ, कंधुणी, परजुणी, डंबुणी[1] बिटियाँ, दल बाँधे गीत गाती, चैत-परब की रंगीनियों-रँगरलियों के सोते बहाती हुई, चली जाती हैं। अलग-अलग जाति की लड़कियों के अलग-अलग दल होते हैं। अपनी जाति के लोगों से मिलने पर धूमधाम बेतरह बढ़ जाती है। उनके सारे मौज-मजे खुले-खजाने होते हैं। वे हाँ कहें तो हाँ और ना कहें तो ना कहना ही पड़ता है। सब कुछ धाङ्गड़ियों की मरजी के मुताबिक होता है। मन हुआ तो खेलेंगी और मन न हुआ, तो कह देंगी— "निचू निचू, कुई, कुई!" (नहीं नहीं, इच्छा नहीं है!)

देश के चप्पे-चप्पे में मिलने-जुलने का यह आनन्द व्याप्त होता है। सारा आनन्द भोग का आनन्द होता है, राग का आनन्द होता है। मन को आरे से चीर डालते हुए विरह के गुमान में मुँह फुलाकर बैठ रहने का न तो समय मिलता है, न सुयोग।

---

१ कंधुणी 'कंध' का, परजुणी 'परजा' का, डंबुणी 'डंबँऽ' का स्त्रीलिंग रूप है। कंध, परजा, डंबँऽ आदि पूरबी-घाट पहाड़ों की आदिम जातियाँ हैं।—अनु०

पर हिकोका हारगुणा साँवता अपने ननिहाल के रास्ते में पड़ने वाले नारणपाटणा की पठारी तलहटी की नई सभ्यता की बात चैत-परब के नशे में मातकर भी भुला नहीं पाता। मन-ही-मन वह इस उधेड़बुन में लगा रहता है कि चैत की धूमधाम के टलते ही एक छकड़ा जरूर खरीदूँगा और लोहे की कड़ाह में गुड़ तैयार करने की विधि के बारे में खोज-पूछ जरूर करूँगा। अपनी उच्चाशाओं में, अपने 'प्रगतिवाद' में, वह आप-ही-आप ऊपर उठ जाता है। लड़कपन के हमजोलियों के संग-सुख, खेल-कूद और मौज-मजे के भीतर अपनी मनपसन्द गिरस्ती जमाने की उसकी स्वभावगत इच्छा दब नहीं पाती। मवेशियों को परब का भरपेट चारा खिलाने के बाद बैठ कर उन्हें बारम्बार निरखता-परखता हुआ वह इस विचार में डूब-डूब जाता है कि अपने छकड़े में जोतने के लिए बैलों की कैसी जोड़ी चुनना ठीक रहेगा। वह सोचा करता है कि छकड़े के किसी बैल के बीमार-बीमार होने पर किस बैल को एवजी पाली के लिए रखना ठीक होगा। इस हिसाब-किताब में सामान्य कंध-विवेचना के काँटे पर तोल कर वह मन-ही-मन यह भी अटकल लगाता रहता है कि किस क्वाँरी को अपनी घरनी बना कर घर लाना उचित होगा। उसकी घरनी होने के लिए लड़की में बल-बूते की दरकार होगी, सहनशीलता की जरूरत होगी, उसे मेहनती होना होगा, बुद्धिमती होना होगा। साधारण कोटि की स्त्री ही चाहिए। ऐसी कि मरते दम तक साथ दे। ऐसी कि उसकी संतानों की माँ बनने में अपना गौरव माने। हारगुणा की ही भाँति उसकी घरवाली का उद्देश्य भी यही रहेगा कि नई सभ्यता के सुयोग से लाभ उठाकर व्यापक वर्द्धिष्णु परिसर के भीतर घर-गिरस्ती की प्रगति की ओर कदम बढ़ाए चला जाय।

इन्हीं विवेचनाओं का फल है कि वह चैत-परब की धूमधाम के अन्दर भी घरनी लाने की बात सोच पाता है। इसी सिलसिले में उसके मन में पुबुली की याद, पुबुली की चिन्ता, आती है। पुबुली की चिन्ता मात्र स्त्री-संपर्क की चिन्ता के विषय से संपृक्त नहीं होती। भोग के मामले में

वह कोई ऐसा अनभ्यस्त नहीं है। पुबुली की चिन्ता तो घरनी की चिन्ता के हिसाब में आती है।

म्ण्यापायु में लौट आने के बाद टिङ्कू, बिङ्कू, सोभेना आदि में से किसी ने उस राह की धूल तक को याद नहीं किया। अफसोस अगर किसी को हुआ तो शळपू कंध को। वह बूढ़ा आदमी ठहरा। वह बूढ़े सरबू सांवता के अभाव की चोट लेके लौटा था। उसे बड़ी आशा थी कि बहुत संभव है इसी बार की देखा-देखी में पुबुली और हारगुणा के बीच कोई कुछ हो जाय; पर उनके बीच कोई भी घटना नहीं घटी। यह सच है शळपू कंध तुनुक-मिजाज आदमी है, यह सच है कि बाहर से वह उतना कोमल नहीं है; पर बूढ़े औरों के हाथ पीले कराने से सुख पाते हैं। इतना ही नहीं, शळपू कंध के मन में गोष्ठी के प्रत्येक कंध के प्रति केवल स्नेह-ही-स्नेह और शुभेच्छा-ही-शुभेच्छा भरी है। लंबी उसाँसें भर कर शळपू कंध ने सोचा कि दोनों गाँवों के सांवता-घरानों को ब्याह की फूल-गाँठ में बाँधने की जो बात थी, उसकी आशा दूर-से-दूरतर खिसकती जा रही है।

शळपू कंध ही हारगुणा को म्ण्यापायु की पुबुली की बात बारम्बार याद करा-करा देता है।

"चैत-परब तो आ पहुँचा सांवता! चल ना, इस बार म्ण्यापायु ही चलें। कि नहीं? तू क्या कहता है?"

"अभी-अभी न बेजुणी नचाने गए थे?—" हारगुणा ने कहा।

"वह तो कोई और काम था। यह कोई और काम है। चल ना, एक बार हो ही आएँ, अरे, यह तो तुम भेडियों[1] का ही काम है ना कि आगेवान होकर निकल पड़ो? हम बूढ़ों का इसमें क्या है?—"

वह नाना भाँति के बहानों से इस बात को छेड़ता है किन्तु, हारगुणा पकड़ में आनेवाला बन्दा नहीं है। अपने अभिमान में वह अँठहल की तरह

---

१ क्वाँरे नौजवानों।

फूल-फूल उठता है। सोचता है, करने को इतने सारे काम पड़े हैं, किसी धाङ्ड़ी का मन रखने के लिए ठकुरसुहाती रसिकता करने को समय ही कहाँ है !

सारी बातें सोच-साच लेने पर मन में कभी-कभी कोई बिच्छू-सा डंक मारता है। फिर तो इतने सारे नाच-रंग और इतनी सारी धाङ्ड़ियों के साथ-संग के बावजूद हारगुणा उदास हो-हो जाता है। ये सब उसे कुछ भी नहीं सुहाते। सोचने लगता है, स्त्रियाँ तो सारी एक-जैसी ही होती हैं, सभी एक-जैसी ही अबोध-निर्बोध, एक-जैसी ही हिसाबी-किताबी, एक-जैसी ही स्वार्थपर और निष्ठुर होती हैं ! उनकी अपेक्षा अपने छकड़े की कल्पना ही उसे अधिक सुख देती है। छकड़े की, जो उसके आगामी वणिक्-जीवन की पहली पैंड़ी होगी।

छकड़ा—खेती—व्यवसाय—व्यापार—! वह प्रस्तुत रहेगा ! हो सकता है कि इन सबके बाद कोई राह निकलेगी। कोठे-अटारियाँ खड़ी करनी हो सकती हैं। व्यापार के लिए बाजार में ही ठीक रहेंगी। उन दिनों के लिए वह अपने आपको प्रस्तुत करता रहता है।—बड़ा-सा घर होगा, धान-मँड़ुए के लिए 'कोटू'[1] होंगे !—कानों में कुंडल होंगे, सिर पर पगड़ी होगी, देह में कोट-कमीज होगी। कमर में लंबे पिछौटे वाली रंगीन कौपीन होगी!—साहूकार वृत्ति होगी, गले में सोने का हार होगा। हो सकता है कि घर में वही रोशनी रखी जायगी, जिसे नीचे के देश के लोग दूकानों में टाँग रखते हैं, जो दूर से चमकते तारे जैसा दिखाई पड़ता है।

इन चीजों के अलावा बाकी सब कुछ वह हँसकर उड़ा देता है। उनकी बातें सोच-सोच कर अपना स्वास्थ्य नहीं नष्ट करता। उन्हीं इतर वस्तुओं की तालिका में स्त्री-जाति भी पड़ती है। जिसे आगे बढ़कर आना हो, आए; पीछे-पीछे लगे फिरना उसके चरित्र के विपरीत पड़ता है।

---

१ गोलाकार बखार।

बयालीस

चैती राहें चैती वनों को ढारस बँधाती वनों-वनों फैलती जाती हैं। कभी वनों के भी दिन थे, आज नहीं रहे। कभी राहों का कुछ भी नहीं था, आज उनके दिन फिरे हैं। दोनों मिल कर फिर उसी चेतना के कोलाहल-मय वन बन गए हैं। अर्थात् पेड़ों के जंगल तो पतले-छिदरे पड़ गए हैं; पर मनुष्यों के जंगल बढ़ गए हैं, सघन हो गए हैं।

फिर वही सीधी-सीधी पैरों रौंदी पगडंडियाँ उभर आई हैं। लाजों सहमी-सिमटी-सी, डर से कँपकँपाती-सी। आभिजात्य का पीतल का चपरास छाती के ऊपर झलकाते हुए जिसने कभी इतिहास रचने का दंभ दिखा कर दुनिया के आगे डींगें नहीं हाँकीं, उसकी नस-नस में आज मनुष्यों की रेल-पेल है, उसके मोड़-मोड़ पर आज सृष्टि का प्यार, सर्जन का राग-शृंगार उमड़ा पड़ रहा है। वहाँ आज कोलाहल है, वहाँ आनन्द है, वहाँ राग-रंग है, रँगरलियाँ हैं। उस आपा-भूली सीधी राह से झुंड-के-झुंड आते हैं, झुंड-के-झुंड जाते हैं। पहाड़ की संधि-संधि पर, घाटियों-टेकरियों की पैंड़ी-पैंड़ी पर, पत्तों-बेलों के चँदोवे के तले-तले अनगिनत नर-नारी कोलाहल मचाते घूमते फिर रहे हैं। राह के बड़गद-तले मेले लग-लग जाते हैं। खातों-खड्डों में शिकार किए जाते हैं। पथरीले झोलों-झरनों के किनारे की छोटी-छोटी गुफाओं में सिवार की सेजों के ऊपर, जल के कलकल-छलछल राग के बीच जहाँ चेतना का उन्मेष होता है, वहाँ वन के मायाजाल के तले-तले कच्चे क्वाँरे-क्वाँरियों के जोड़े कुटज-गंध की सहलाती-फुसलाती मादकता में थोड़ी देर बैठ-बैठ लेते हैं।

जिन भिन्न-भिन्न जातियों के लोगों ने मानव के विकास के क्रम के किसी फाँक से भाग आकर न जाने कब वन के आँचल-तले आश्रय लिया था, वे आज आनन्द के पुजारी हैं। चैत की बाट-बाट में आज आनन्द के सोते बह चले हैं। आनन्द के वहाँ न जाने कितने उपाय हैं, कितने विधान

हैं, कितनी सर्जन-विधियाँ हैं, कितनी आशाएँ हैं। दारू की टूटी हाँड़ियाँ, पँखुड़ी-पँखुड़ी बिखरे फूल, गिरी पड़ी फटी धज्जियाँ, अगणित चरणों की अजस्र धूल—ये ही उन राहों के भूषण हैं, ये ही उन राहों की कहानी हैं; लेकिन चित्रों की झाँकियाँ एक-जैसी होने पर भी फलक एक-जैसे नहीं हैं। इसीलिए छवियाँ वहाँ भिन्न-भिन्न हैं, केवल उनके आलोक ही हैं, जो एक हैं।

चैत-परब! भिन्न-भिन्न छवियाँ हैं। अलग-अलग व्यक्तियों की अलग-अलग प्रकार की। अलग-अलग दलों की अलग-अलग प्रकार की। दूर देशों से साहूकारों के झुंड-के-झुंड 'गोती' छुट्टियों पर लौटे हैं। डुङ् डुङ् बजाती, गरजती, किळकिळे छोड़ती[1] उत्कल-संतानें यत्र-तत्र से 'देस' फिर रही हैं। कुछ, बहुत थोड़े-से लोग, कल-कारखानों के देश की नौकरी से, साहबों के चाय-बागानों से और सुदूर आसाम तक से भी आए हैं। वे दल बाँधे शिकार खेलते लौट रहे हैं। सघन-गहन वनों के भीतर से मरे आखेट-जंतु की लाशों पर गुच्छों-के-गुच्छे फूल टाँगे, उन्हें टिकठियों पर लादे, नाचते-नाचते लौट रहे हैं। कुछ दल खाली हाथ लौट रहे हैं। शिकार न मिल पाने की लाज के मारे वे अपने सिर नीचे किए हुए हैं। कोई दल वीर-वेश में छाती फुलाए चल रहा है। शिकार क्या कर लिया है, मानो पहाड़ उखाड़ लिए हैं। भिन्न-भिन्न जातियों की धाङ्गड़ियों के दल गीत गाते चल रहे हैं। उनके पीछे-पीछे धाङ्गड़ों के झुंड चलते हैं। अनगिनत लोग पाहुने जा रहे हैं, समुराल जा रहे हैं। अनगिनत लोग अपनी दूल्हनें ला रहे हैं। नई बहुएँ ससुराल जा रही हैं। रह-रह कर लौट-लौट पड़ती हैं और माँओं के आँचल पकड़-पकड़ कर खींचती हुई कहती हैं कि "नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी।" कोई है कि एक दूल्हन को काँख तले दबाए भागा जा रहा

१ किळकिळा छोड़ना—शिवजी के गाल बजाने-जैसी हर्ष-ध्वनि करना। स्त्रियाँ मंगल-असवरों पर किळकिळे छोड़ती हैं। बँगला में इसे उलूध्वनि या उलूलु कहते हैं।

है। यही उसका " उदूलिया " ब्याह है। उदूलिया भागनेवाले दूल्हे को दूल्हन की सखी-सहेलियाँ बुरी तरह पीट-पाट रही हैं। रिवाज ही ऐसा है। बेचारा दूल्हा सब सह रहा है। दूल्हे की ऊँची गोद में टँगी दूल्हन हँस रही है।

इस बावले चैत की इन अलसाई राहों पर चलनेवाले लोग रह-रहकर मुड़-मुड़ पड़ते हैं, कुछ टोह लेते से, कुछ ढूँढते से जान पड़ते हैं। पर उन्हीं राहों से आज दो ऐसे बटोही आ रहे हैं, जो कहीं जाते हुए से लगते हैं। इन दो बटोहियों में एक है एक बुढ़िया और दूसरी एक क्वाँरी युवती। अभी बेर है। इस घाटी से उतरते ही बंदिकार गाँव पास आ जायगा। छाँहों के लौटने की बेर तक घाटी के उस सिरे की चढ़ान शुरू हो जायगी।

दही की मलाई की तरह उठती-गिरती सतह वाले पहाड़ों के ऊपर दिन के पिछले पहर की धूप खेल रही है। बूढ़ी पीछे मुड़-मुड़कर देखती जाती है। रह-रह कर घुटनों पर हाथों का भार डाल-डालकर किसी की बाट-सी जोह-जोह लेती है। युवती की आँखें आगे की ओर ही लगी हैं। बहुत हुआ, तो अपने दोनों ओर निहार लिया। उधर, जिधर लोग हँस-हँस कर देखते हैं, जिधर हँसी के फौव्वारे छूटते हैं, जिधर लोग ठिठोली की कोई बोली-ठोली मार कर भाग-भाग जाते हैं। युवती अपने सुंदर रूप पर आप-ही-आप खुश होती, मन-ही-मन फूलती हुई राह चल रही है। उसे अफ़सोस है, तो बस इसी बात का कि उसके लिए कोई अटका नहीं रहता, कि कोई उसके रूप को निरख-निहार कर अपनी राह नहीं भूलता।

उसकी देह के ऊपर यौवन अपना हाथ फेर गया है। सजावट की जो बची-खुची व्यवस्था थी, उसे आदमी के हाथ ने बड़ी सफ़ाई के साथ पूरा कर दिया है। उसने चौदह हाथ लंबी रंगीन साड़ी पहन रखी है। नीचे साड़ी के फेर चुन्नटदार हैं और ऊपर आँचल का इकहरा पल्ला खुली देह में जनेऊ की तरह कमर से गरदन तक सोया पड़ा है। सिर पर दक्खिनी जूड़ा बँधा है, जिसमें भाँति-भाँति के केवड़े के फूल खुँसे हैं। पैरों का लाल आलता धूल से अट गया है। युवती का रंग महुए के फूल-सा मीठा गोरा-गोरा है, पर हलदी की उबटन और रेंड़ के तेल के पुट ने उसे और भी झकाझक

चमका दिया है। देह की गठन स्वास्थ्य से भरी-पूरी है। पर यह सब तो एक ही पक्ष है। दूसरा पक्ष यह है कि उसके मुँह जैसे मुँह को एक बार देख लेने पर, उसका रूप आँखों के रस्ते मन की गहराइयों में उतर जाता है और रातों को सपनों में उगा करता है। उस समय, जिस समय सपनों में आदमी धुँधली चाँदनी की हलकी रोशनी में गहरे झोलों-झरनों में उतर कर हिरनें मारता फिरता है, जिस समय ऊँचे-ऊँचे, सीधे-सीधे पहाड़ों के ऊपर चढ़कर वह नीचे के खड्डों की ओर दौड़ता हुआ उतरता है, जिस समय सपनों में केवल जंगल के ही दृश्य आते हैं।

फूलों से गुँथे जूड़े के ऊपर पोटली रखे वह युवती बुढ़िया के आगे-आगे चल रही है, मानो बुढ़िया उसकी पीठ की पहरेदार हो। बुढ़िया की देह से काला पसीना बहा जा रहा है। वह मोटा मैला तैलंगी कपड़ा पहने हुई है। उसके होठों में सुलगता हुआ "सूठा"[1] दबा हुआ है। सूखे गालों की हड्डियाँ उभरी हुई हैं। उनकी पोपली खाल मानो सचमुच ही कर्कश कुटिलता की ढलाई के लिए कोई साँचा हो। उसकी कलाइयों में पिटे पीतल के मोटे चौखूँट कड़े पड़े हैं। वे भी उसकी सामान्य कठिनता के साथ मिल-मिला कर एकाकार हो गए हैं। उसके पैर बड़े-बड़े हैं। टाँगों की पेशियों के ऊपर ऐंठी-ऐंठी शिराएँ उभरी हुई हैं। उसकी गढ़न और उसकी धजा, सब कुछ-कुछ उसी तरह का है, जैसा कि सुखुआ[2] बेचनेवालों का होता है।

देखनेवाले सोचते हैं कि हो न हो, ये तैलंगी व्यापारी हैं। ये तैलंगी व्यापारी धुँगिया या सुखुआ बेचने के लिए इसी तरह दस-दस कोस, पंदरह-पंदरह कोस, की पहाड़ी राहें पार करके हाटों-हाट फेरे लगाते रहते हैं। कोई उनकी ओर झाँकता तक नहीं। पर ये दोनों—! इनके सिर पर न तो कोई खोमचा है और न इनका कोई दल ही है। और सब से विचित्र बात तो यह है कि इनके मुँह से तेलुगु भाषा के शब्द-बाहुल्य की वह अविरल धारा भी

१ तंबाकू के पत्ते की लंबी तैलंगी पात-बीड़ी या चूरुट।
२ ओड़िया सुखटी, विशेष ढंग से सुखाई हुई मछली।

नहीं झरती। राह ज्यों-ज्यों कटती जा रही है, त्यों-त्यों बुढ़िया की मुद्रा की कठोरता के ऊपर उदासी की एक छाया गहराती जाती है। जाने-पहचाने से चतुर्दिक् को वह निहार-निहार लेती है। और हर ठौर पर जा-जाकर रुक-रुक जाती है। युवती इससे विरक्त हो-हो उठती है। इस तरह घाटियाँ लाँघ-लाँघ कर, पहाड़ों पर चढ़-चढ़ कर घूमने के लिए उसकी देह की तैयारी नहीं है। उसका चेहरा और उसका वेश-विन्यास किसी और ही काम के लिए बने हैं। औरों से प्रशंसा सुनना और स्तुति सुनना ही उसका अभ्यास है। वह सिर्फ़ इस बात की आदी है कि सभी उसके आगे अपने सिर झुकाएँ। सिर सभी झुकते हैं; पर किसे सहारा देना है और किसे कुचलना है, इसका निर्णय उसकी भ्रूलता की भंगिमाओं और उसके होठों की बंकिमाओं पर निर्भर है। कितने तो गुजर रहे हैं आज, कितने ही मैले-कुचैले, बे-धुले-पुँछे, अधनंगे, जंगल के बेटे, पर क्या धरा है उनमें? थपाथप फूहड़ चाल है बस, और हँसी-मसखरी भी है, तो अपने ही भीतर। उसका मन दुखने लगा।

और वे भी, वन-देश के धङड़े-धाङड़ियों के वे दल भी, ऐसे हैं कि उसकी ईर्ष्या को और भी कुरेदते-कुढ़ाते हुए अपनी राह चले जाते हैं। मैदानी देश की अपनी चमकती चिकनाई के तले-तले कोई ऐसा मर्म है, जहाँ उनके उत्ताल मन की चपल बातें बेध-बेध जाती हैं। युवती कँप-कँपा कँप-कँपा उठती है। वह भी सोचती है कि चलो मैं भी जंगली बनकर इनके कदमों में कदम मिलाकर चली चलूँ; पर परिस्थिति बाधा देती है। ऊँचे पहाड़ हैं, छाँह बढ़ने पर इन चैती दिनों में भी डूँगरों-टेकरियों पर और घाटियों में ठंढी हवा हड्डी-मज्जा तक कँपा देती है। यहाँ न कोई शहर है, न कोई बड़ी बस्ती। जिधर देखो उधर केवल पहाड़-ही-पहाड़ हैं, भीषण पहाड़। ये पहाड़ आँखों के आगे बढ़ते ही चले जाते हैं और दृष्टि के साथ प्राणों तक को सोख लेना चाहते हैं मानो, निगल जाना चाहते हैं मानो।

"ओह! कितनी दूर और है माँ?"—बेटी ने कहा।

कठोर मुखड़े पर कोमल सहानुभूति विकसा कर, पत्थर पर पड़ती

साँझ की छाँह-सी मलिन होकर, बूढ़ी ने कहा—"बहुत कष्ट पाया तुमने भी बिटिया! है न? पाँच दिन और पाँच रातें, कम तो नहीं हैं ना ये? मगर हाँ, —अब यही आखिरी है। बस थोड़ी ही दूर और चलने पर हमारा घर है। अरे घर तो क्या, घर अब कहाँ पाऊँगी रानी मेरी, घर नहीं, अपना गाँव है, कहो—"

"पास आ गई?—तो फिर ज़रा देर बैठ के सुस्ता क्यों न लिया जाय?"

"बैठना ही चाहती हो, तो ज़रा बैठ लो। हाय! इतना चलना! चलते-चलते—! लेकिन देर हुई तो फिर तुम जानो। गाँव के पास होने से क्या होता है? वन के जानवरों का कोई विश्वास तो नहीं है ना—?"

"हुँ:! वन के जानवर!"—बेटी हँसी—"खाने को होता, तो प्राणों के लिए इतनी दूर कभी आते हम? क्या देश है यह भी, री मैया! और क्या राहें हैं! हमें मरना नहीं बदा है, तभी तो—"

"छिः छिः, ऐसा भी कहीं कहते हैं? भय को बुलाओ तो भय पास आता है, समझीं? और मरण को बुलाओ तो मरण पास आता है। जानती हो कि नहीं? ऐसा नहीं कहा करते।—"

बुढ़िया चिंतित हो उठी। कुतूहल के मारे युवती अपनी माँ को निहारती रह गई। कुछ देर दोनों चुप रहीं। बेटी, पता नहीं क्या सोच रही थी। कहने लगी—"सच क्या माँ, पुकारने पर मरण क्या सचमुच यों पास आ जाता है? तू तो जानती है माँ, लोग कहते हैं कि तू सब-कुछ जानती है। तूने अगर सच कहा है, अगर पुकारते ही आदमी के सभी दुःख, सभी कष्ट इस तरह मिट जाते हैं, तो फिर यह तो बता कि तू जानते हुए भी आप न मरकर, मुझे न मारकर जंगलों-जंगलों इतनी सारी राह चलके आई क्यों है? हमारा अब बाकी क्या रहा है कि प्राणों को बचाने के लिए इतने भयावने देश के भीतर राह निकालती यहाँ तक घसीट लाई माँ?"

अब बुढ़िया चिढ़ गई। फिर भी ऊपर-ऊपर विरक्ति के भाव दिखाती हुई बोली—"देख पिओटी, तुझ से बहस करने में मैं पार नहीं पा सकती।

जितना भी मना करूँ, तू हिर-फिर कर उसी बात, उसी बात की रट लगाए हुई है। मर जायगी, मर जायगी, किसलिए मर जायगी तू ? कैसी अलच्छन बात करती रहती है हर घड़ी ? रोना-पीटना हो, रो-पीट; भाग को कितना भी कोसना हो, कोस ले; गालियाँ बकनी हों, बक ले; पर हर घड़ी वह बात किसलिए भला ? चिढ़ाने-कुढ़ाने और ताने देने की तेरी सदा की लत कभी नहीं जायगी क्या ?

"जहाँ जितने दिन रहना बदा है, रहना ही है। इसमें दुख की कौन-सी बात है ? किसी ने बेर खाके गुठली छिपा तो नहीं दी[1] है कि विलाप करती बैठी रहें हम ? भले दिन आए थे, तो हम इस वनदेश को छोड़कर मैदानों चले गये थे। अब फिर असार (बुरे) दिन आए हैं, तो भागे-भागे इस वन-देश में आने के सिवा और चारा ही क्या है ? क्यों, इसमें ऐसा क्या हो गया ?

"समझी पिओटी ? जिस वन-डूँगर को देख कर तेरी नाभि फाँदने लगी है, वहीं तुझे पाया था मैंने और वहीं तुझे फिर ले चली हूँ। अब मेरी जवाबदेही का बोझ उतर गया है। वह भी यही कह के मरा था—" भरे-भरे गले से बुढ़िया कहती गई—'मरने से डरना क्या ? मर जाये तू तो आज न कल फिर अपनी मरजी मुताबिक किसी-न-किसी के पेट से जन्म तो लेगी ही। पर मरने से डरना नहीं है, इसीलिए अगर तू यह देखे कि यहाँ दुर्गत होगी, बारह द्वारों के कुत्ते सी दशा होगी, तो यहाँ कभी मत रहना।'

"ऐसी सूरत में मेरे बाप-दादों के गाँव भाग जाना। वहीं मेहनत-मजूरी कर लेना। यहाँ नहीं। यहाँ कोई नहीं पूछेगा। मैदानी देश में धन जरूर है, पर मन नहीं है। ऐसी-वैसी कुछ बात हो, तो तू मेरे गाँव लौट जाना। घर टूट गया हो, तो नया घर बन जायगा। वहाँ तुझे शळपू चीन्हेगा, लेंजू चीन्हेगा। जो हो, इतना तो लोग याद करेंगे ही कि बंदिकार गाँव में कोंडतांबेरू वंश का संड्झा नाम का कोई एक था !"

बूढ़ी फिर चुप साध के बैठ गई। युवती ने भी कोई बात नहीं कही। माँ की यह बात वह बारंबार सुनती है। इसमें कोई युक्ति नहीं है। इसमें

१ बेर खाके गुठली छिपाना = भोग-विलास के बाद प्रेमी का त्याग जाना।

जो चीज़ है, वह है मन की गहराइयों की किसी रागिणी की टेक। गीत के ऊपर कोई तर्क नहीं चलता। युवती मौन रही।

अचानक बुढ़िया फिर बोल उठी—"देख पिओटी, बात नहीं सुहाई? सच कह। घर पास आ गया। वहाँ हमारे अपने लोग हैं, अपना गाँव है। फिर लौट आना नहीं भाता तुझे? ओह, कितनी बड़ी नींद होगी—"

पिओटी कुछ न बोली। सिर्फ़ ही-ही-ही करके हँस पड़ी। सचमुच ठीक उसी समय अस्तायमान सूर्य ने पहाड़ के आँचल में आग लगा दी। आग की लौ छलाँगें भरती सदा ऊपर-ही-ऊपर को उठती चली गई। उस आग और पिओटी के मन की गतियों में एक सामंजस्य था। और दोनों के बीच पुंजीभूत संपत्तिवादी अंधकार की तरह वह बुढ़िया थी। बुढ़िया, जो उसकी माँ थी। वह माँ उसे पकड़े हुए, अपने साथ उसे भी धँसाते हुए, सदा नीचे-ही-नीचे को खिसकती चली जा रही थी।

पिओटी की हँसी ने कोई बाधा नहीं मानी। वह हँसती रही, हँसती रही। फिर दोनों चल पड़ीं। मंत्र-सी बुदबुदाती हुई बुढ़िया ने फिर कहा—"हँसती है रानी बिटिया? हँस ले, हँसने से आयु बढ़ती है। तू यों ही हँसती रह और तेरे आगे मैं लुढ़क पड़ूँ। तेरी क्या अपनी बुद्धि नहीं हुई है कि मैं तुझे कहूँ? चैत में आई है तू, और इतने बरसों बाद आई है। गाँववाले कोटि निधि की तरह हाथों हाथ ले लेंगे। हँसा-हँसा के, नचा-नचा के "अथा" (क्लांत कर) देंगे। तेरी खुशी में ही मेरी खुशी है। पर मेरी एक छोटी-सी बात मानेगी? अधिक मुँहफट न होना, अधिक बातें न करना, मेरी सोना-रानी बिटिया, और,—मनमानी खुशियाँ मनाया कर, मनमाने नाच नाचा कर; सब कर, पर अपनी पिछली बातें किसी के आगे बका मत कर। लोग बारह बहानों से भेद लेने आएँगे, पूछेंगे, सब कुछ सुन लेंगे, परखेंगे, भाँति-भाँति के अर्थ निकालेंगे। बातों की माप-तौल करेंगे और खामखा खिल्लियाँ उड़ाएँगे। समझी, अब उन बातों को पीछे डाल। अब नई घर-गिरस्ती सहेजनी है, नई बातें होंगी, वे पुरानी बातें अब नहीं रहीं, छि:—"

हँसी निगलकर पिओटी आगे चल पड़ी।

आह, छाँहें कितनी तेज़ी से भागी जा रही हैं! अब गाँव कितनी दूर और रह गया है? छाँहों और लोगों में होड़-सी लगी है। देखें कौन जीते, कौन हारे!

आगे कुछ दूर पर, पराए गाँवों के अचीन्हे कंध छोकरे (भेंडिये) चैत के गीत गाते चल रहे हैं। खूब मजे हैं, क्या कहने! उनकी सारी देहें फूलों से लदी हैं, कमरें डोरों से कसी हैं, डोरों की इन करधनियों में कौपीनें खुँसी हैं; पर देहों की भंगियों से स्वास्थ्य छिटका पड़ रहा है। देहें वन के बनैले जानवरों-जैसी बलिष्ठ हैं। छंद-छंद पर फूल-फूल जाती हैं। तीर-धनुष, बरछों और ओड़िया नलियों (देसी बन्दूकों) से लैस ये छोकरे वीर पुरुषों की भाँति छातियाँ आगे को ताने हुए चल रहे हैं।

उस दल के भीतर से किसी एक ने सचमुच उसी का नाम लेकर क्या तो कुछ कहा! कौन हो सकता है वह? पहचान कैसे लिया? सभी संशय मिटाते हुए कंध-गोष्ठी का गीत छूटता हुआ आया—"होशियार, बाड़े के बाहर मत जा री!"

"इसीलिए पिओटी (हलदी-बसंत चिड़िया) रो रही है, इसीलिए पतरेंगा कुहक उठी है—चैत का नशा है, बाड़े के बाहर मत जारी!

"अहे ननिहाल की बिटिया, अहे ससुरजी की बेटी, पैरों के कड़े सी, कानों के कुंडल-सी, तू हमसे मिलकर एकाकार हो चुकी है। पिओटी (चिड़िया) रो उठी है, बाड़े के बाहर तू मत जा!"

पिओटी चौंक पड़ी। दुहरा-तिहरा कर वही गीत चारों ओर गूँज उठा। उसके स्वर दौड़-दौड़ कर कहीं दूर जाके खड़े हो गए से, ठिठक गए से, और फिर भागे-भागे कुछ और दूर जाकर ठिठकते हुए से, जान पड़ते थे।

"पिओटी लो डिते
लो अण'टी लो डिते
लो सल सोल' माली
मालो आंडूजोडू

लो आलो फगूजोड़
लो सरू सोल'माली
आलो शालाबाड़ा,
लो आलो बिदाबाड़ा
लो सरू सोल'माली
जेइ निलस'बाइ
लो जेइ तालस'बाइ
लो सरू सोल'माली।"

पिओटी आगे निकलती चली गई। बुढ़िया पीछे फिर-फिर ताकती रही। जान-बूझकर मठराती हुई वह अटक-अटक रहती।

उसे भरोसा देने को बस यह बाड़ भर ही तो है ? और उसका दायित्व भी इतना-सा ही है ! दूसरे के हाथों में इसे बढ़ाकर सौंप देने के लिए ही तो वह इतनी दूर के इस घनघोर जंगल के भीतर धँस आई है ?

चैती राहों-बाटों में छिदरी-छिदरी भँवरियों की तरह झुंड-के-झुंड छोकरे फिर रहे हैं। उनके लोहू में आग है। कब क्या हो जायगा, कोई कह नहीं सकता।

बूढ़ी की सारी आशाओं पर पानी फेर कर गीत यकायक बंद हो गया। तब तक पिओटी उनके बीच पहुँच चुकी थी। दूर से उसके रूप के छायामय आभास ने बस इतना ही सूचित किया था कि वह नारी है। उसी सूचना से गीतों का उल्लास उमँड़ पड़ा था ; पर पास आते ही छोकरों ने देखा कि यह नारी तो उनके दल की नहीं है ! मानो किसी तैलंगी साहूकार के घर की लड़की हो। फेरी लगा-लगा के सुखुआ मछली बेच-बाच कर अब हाट को लौट रही हो। जाने किसने तो कहा—"साहूकारनी, साहूकारनी।"

हर बार बस इतना ही संबोधन-भर वह पाती। बस इतना भर ही।

तैंतालीस

साँझ की छाँह बड़ी तेजी से उतर रही है। बंदिकार गाँव अब कोई दूर नहीं रह गया है। वह उधर गाँव की बस्ती के छान-छप्पर दिखाई देने लग गए हैं। फिर भी कंध छोकरों-धाङड़ों को मानो पिओटी की हवा लग गई है, वे बड़ी संयत भद्रता के साथ उसके पीछे-पीछे चल रहे हैं। बीच-बीच में थोड़ी-बहुत बातें करते भी हैं तो आपस में ही, और धीरे-धीरे, धीमे सुरों, कानाफूसी की तरह। उनके उद्दाम उल्लास में से मानो बस इतना ही शेष रह गया है! और कानाफूसी की बातें भी बड़ी-बड़ी देर के बाद कहीं एकाध हो लीं तो हो लीं।

दोनों ओर के अँधियारों से फूलता-फैलता आ रहा वन बीच की सीधी पगडंडी को दबाए आ रहा है। मानो कोई सँकरा-सा गलियारा हो। पिओटी की इच्छा यह कभी न थी कि वह इस तरह भद्रों की भाँति राह चलेगी। कहाँ गए वे इतने सारे हास-दीपित मुखड़े, कहाँ गईं वे प्राणों को पगलाने-वाली इतने भाँति-भाँति के गीतों की धुनें, कहाँ गए वे पिओटी और पतरेंग की रुलाई जैसे गीत और उनका मोह, कहाँ गया वह बाड़े के बाहर के अन-जाने का खिचाव, कहाँ गए ये सबके सब?! अब तो बस यह सुनसान जंगली पगडंडी ही रह गई है और घर दिखने पर भी राह कटती ही नहीं किसी तरह!

पिओटी के मन में आया कि हो-न-हो राह चलने के दौर का अंत अब आ पहुँचा है। बचपन से ही उस मैदानी देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में उसका विचित्र जीवन भटकता आ रहा है। उसकी अपनी जाति के लोग, कंध भाई, उधर बिरले ही मिलते हैं। खुला-खुला सा उघरा-उघरा-सा देश है वह, नरम-नरम मिट्टी का देश है। गाँव-गाँव में बड़े-बड़े पोखरे हैं। जगह-जगह बड़े-बड़े पेड़ हैं। वहाँ पोखरों में धूप की चिलचिली रोशनी जगमग-जगमग झलक रही होगी। नारियल के पेड़ों के छज्जे धीरे-धीरे डोल रहे होंगे।

हाथी के कानों-जैसे। त्यागराय के कृति-संगीतों की तानें तोड़ते छकड़ों पर छकड़े आगे-पीछे पाँत लगाए बढ़े जा रहे होंगे। भालूकुणी[1] की तरह काठ-बाँस से लदे-फँदे लोग जंगलों से लौट रहे होंगे। और इस झुटपुटी साँझ की बेर में 'वेणुगोपालमु' या 'एंकटेश्वरलु' के मंदिर से आरती के बाजों की गूँज हवा में तिरती-बहती चली आ रही होगी। पिओटी मुँह सुखाए राह चलती रही। आह, कहाँ वह देश और कहाँ यह देश! वहाँ उसका कुछ मोल था, और यहाँ—

जन्मभूमि, जन्मभूमि, हुँ:! बूढ़ी माँ कहती है कि यहीं कहीं उसका जन्म हुआ था। आगे के वह-उसी बंदिकार गाँव में उसके बाप कोंडातामेरू संड्ड्ञा का घर था। धीरे-धीरे ऋण का बोझ बढ़ता गया। कमर टूटने लगी। सूँड़ी-साहूकार खेत-बाड़ी तक छीन ले गए। कुलियों के बहते सोते में बहता हुआ संड्ड्ञा बच्ची और पत्नी को लिए दक्षिण देश की ओर बह चला। ये सारी बातें पिओटी को कुछ भी याद नहीं। होश सँभालने के बाद से ही वह एक और ही तरह का देश देखती चली आई है। उसी देश के हवा-पानी में वह बढ़ी है, बढ़कर जवान हुई है। सच पूछिए तो उसकी जन्मभूमि वहीं है। वहीं उसके बचपन के संगी-साथी और सखी-सहेलियाँ हैं। वहीं उसकी जवानी के संगी-साथी हैं, सोमय्या, साड्न्ना, पैंड़ितालिआम्मा आदि हैं। न जाने कब किस देश की बारह अंगुल मिट्टी के ऊपर उसकी कच्ची पीठ आ लगी थी। उस स्पर्श को माँ ने देखा है। उस बारह अंगुल धरती की मिट्टी का कोई दाग उसके शरीर में लगा नहीं रहा।

घर में माँ-बाप ने एक भाषा सिखलाई। वह भाषा कहीं के पहाड़ी पठारी देश की प्राचीन 'कुभी' भाषा थी। बाहर सोमैय्या, साड्न्ना आदि के दल में एक और भाषा सीखी। दोनों भाषाओं पर अधिकार हो गया। दोनों भाषाओं में कभी कोई झगड़ा-टंटा नहीं लगा। और उसके कुछ दिनों बाद तो घर भी उसका अपना हो उठा था और बाहर भी उसका अपना ही था।

---

१ पृष्ठ २८ की पादटीका देखिए।

वहीं उस घर और बाहर की दुनिया में, आँखों के आँसुओं और मन की मौजों में उसकी गिरस्ती चलती रही। कभी सुख में तो कभी दुख में। साँझों की यादें तो अनेक हैं, निराली जंगली राहों की यादें भी बहुत सारी हैं। जब दिन-भर हाट-बाट में समय काटने के बाद प्राण सुख खोजते थे और देह अलसाकर लिपट पड़ने को अँगड़ाने लगती थी, तनने लगती थी। दुख के दिन आए। और बाप मर गया। अपना कहने को कुछ भी बचा न रहा। बेरोक-टोक होकर शरण लेने को राह-किनारे के पेड़ों तले भी अपना कोई ठौर न रहा। सब कुछ मिट-मिटा गया। लगा, जैसे जीवन की शेष घड़ी आ पहुँची है। फिर भी उन बीते सुखों की यादें बनी रहीं। ये यादें चिताती रहीं कि सुख के वे खोए दिन चाक की भँवरी की तरह फिर घूम-फिर कर लौट आएँगे। धीरज धरो।

आज यह जंगली पगडंडी-भर रह गई है। सो वह भी अपनी नहीं।

बूढ़ी बड़ी देर तक बाट जोहती रहने के बाद फिर अपनी राह चल पड़ी। देखा कि कहीं कुछ न हुआ। कोई घटना नहीं घटी। उसे अचंभा हुआ कि वन ने वन के छौने को पहचाना तक नहीं। यह साच-सोचकर उसका मन और भी अशांत हो उठा। नाः, ऐसा भी कहीं हुआ है। मगर हाँ,—सतरह बरस कोई हँसी-खेल तो नहीं। इतने अरसे में घनघोर हेर-फेर हो जाया करते हैं। दोनों ओर के घने मुरगा-बाड़ों के बीच से गाँव के ग्वैंड़े की गहराती राहें हैं। मतलब यह कि अब गँवई पेड़ों के कुंज मिलने लगे हैं और फिर खातों में और टेकरियों पर पाँत-पाँत बसी कंध-बस्ती शुरू हो जायगी।

इसी गाँव से एक दिन वह अपने स्वामी का हाथ धरे निकल पड़ी थी। और आज फिर इसी गाँव में लौटी जा रही है। बाँह टूट चुकी है, जाँगर थक चुकी है, फिर भी वह लौटी जा रही है। लौटी जा रही है सुख से झलमलाते फले-फूले अपने गाँव के आगे अपना विकलांग मुँह दिखाने! बुढ़िया ने चिड़चिड़ा कर जोर से पुकारा, "पिओटी! पिओटी!" और कंधभाषा में अनर्गल बकती गई, "अरी ओ पिओटी, हमारा गाँव ठहरा गाँव, तेरे बाप-

दादों के कुल का गाँव है यह,—देखती है पिओटी, अरी गुहरा-गुहरा अपने गाँव की मिट्टी को, प्रणाम कर इस मिट्टी को प्रणाम कर—।" और फिर बुढ़िया रोने लगी।

माँ की रुलाई पिओटी के कानों में बज नहीं पाई। वह बहुत पहले से ही गुमसुम हो रही थी। बुढ़िया की कंध-बोली सुनकर कंध धाङड़े चंचल हो उठे। उधर दूर कहीं पिओटी की परछाईं झुटपुटे में लय हुई जा रही थी। संशय टूट गया। सभी धाङड़े एकबारगी 'होइ-होइ' कर उठे। "माँप: किड़े, माँप:किड़े?" (अपनी ही है क्या रे?) के सवालों से आस-पास का जंगल गूँज उठा। फिर गीत छिड़ गए। फिर हँसी के फ़ौवारे छूटने लगे। फिर ठिठोलियाँ होने लगीं, ठहाके पड़ने लगे। फिर बतराने का आग्रह बढ़ चला। फिर सीटियाँ बजने लगीं, तालियाँ पिटने लगीं। "अरे भाई, ये अपनी ही हैं क्या? हमारी ही जाति की हैं? हे नुनी [1], किधर गईं तुम? सुनो, सुनो—"

पिओटी ने कुछ-का-कुछ समझा। अकेली थी। भाग खड़ी हुई। उसकी पदचापों की गूँज के पीछे-पीछे सभी धाङड़े एक-साथ होकर "बाइले-बाइले" गाते हुए दौड़ पड़े और उसके पीछे-पीछे गाँव में जा पैठे। गाँव के निकास पर गाँव-भर की धाङड़ियाँ खड़ी थीं। ढोल-मंजीरे सजे-सजाये तैयार थे। यकायक बाजे बज उठे। दोनों दलों के घुमड़ते-फड़कते गीतों से कान बहरा उठे। एक ही पाँती की बारंबार की रटवाले उसी रोर में पिओटी चूहे की तरह कहीं जा छिपी। चैत के मौज-मज़े मनते रहे।

पराए गाँव के धाङड़े हों या धाङड़ियाँ हों, उन्हें यह छूट है कि वे किसी भी गाँव में पहुँचकर वहाँ अपनी छावनी डाल दे सकते हैं। इसमें किसी भी प्रकार का बंधन नहीं होता, कहीं कोई रोक-टोक नहीं होती।

---

१ 'नुनी' क्वाँरियों के लिए प्यार और आदर का संबोधन है तथा 'बबुई', 'बबनी', 'बबी', 'बेबी', 'बीबी', 'मुन्नी' अथवा 'दाइ' (मैथिली), 'काकी' (पंजाबी), 'खोकी' (बँगला) 'खुकी' 'खुकीमणी' आदि का पर्यायवाची है।—अनु०

शोर थमने पर धाङड़े धाङड़ियों के पीछे नाचते-गाते दौड़ते-भागते रहे। उनके पीछे-पीछे गाँववाले तमाशबीन गाँव के गलियारे की ओर चल पड़े। पिओटी टुकुर-टुकुर ताकती रही। इस घर से उस घर, उस घर से किसी और घर की ओर उसकी आँखें कुछ खोजती रहीं। नाचने-गाने वालों का शोर-शरापा अंधड़ की तरह सब कुछ कँपकँपा-थरथराकर चला गया। पिओटी फिर अकेली की अकेली रह गई। माँ कहती थी कि यही अपना गाँव है। गाँव तो खैर हुआ, पर घर? घर कहाँ है? बसेरे के लिए आश्रय कहाँ है?

दो डग भी बढ़ी न होगी कि कंध-गाँव के पहरुए कुत्ते घाँव-घाँव भौंकते हुए टूट पड़े और भागने पर खदेड़ने लगे। एक पेड़ के तने से लिपट कर पिओटी ने शरण पाई। अब उसे लगा कि मैं थक कर चूर हो चुकी हूँ। आँखों में जुगनू जल-बुझ रहे हैं। सिर के भीतर जैसे कोई अछोर सूनापन भाँय-भाँय कर रहा है। पैर चूकर गिरे पड़ रहे हैं। अब तनिक भी बल बच नहीं रहा है। तभी "पिओटी-पिओटी" पुकारती बुढ़िया माँ आ पहुँची। पिओटी ने उदास स्वर में उसकी पुकार का जवाब दिया। माँ-बेटी एकट्ठी हुईं, तो बुढ़िया रो-रोकर कहने लगी—"कैसे अड़ी खड़ी है माँ री, यह अपना गाँव है गाँव। यों हाथ-पैर ढीलने से कहीं काम चलेगा मैया मेरी? हम ठहरे परदेसी, कौन है हमारा? आ, आ, इधर आ।"

रोने को तो जी न हुआ पिओटी का; पर उदासी जरूर लगी। इतना शोर-गुल, इतनी धूम-धाम, इतने मौज-मजे, इतना आनन्द और अपना कहीं ठौर-ठिकाना तक नहीं! चिड़ियों के भी अपने घोंसले हैं; पर अपना कोई नहीं, कोई नहीं!

माँ को उसने रोका-टोका नहीं। खिचती हुई उस अचीन्हे गाँव के भीतर की ओर पैठ चली; जहाँ पर, जाने कब, उसकी कोमल शिशु-देह में बारह अंगुल मिट्टी लगी थी।

चवालीस

"लेल्लू—लेल्लू—जीत्रू—"

कब के मरे-मिटे हुए कितने ही लोगों के नाम ले-लेकर बुढ़िया पुकारती फिरी। कितने ही द्वारों से निराश हो-होकर लौट गई, कहीं भी कोई जवाब नहीं मिला।

"लेल्लू—लेल्लू—जीत्रू—"

किसी ने भी नहीं सुना। चैत की रात ठहरी। दो गाँवों के लोग एकट्ठे हुए हैं। गाँव के बीचों-बीच आग जल रही है, नाच हो रहे हैं, दारू के दौर पर दौर चल रहे हैं। जिन्हें मरना था, वे कब के मर चुके हैं। मर के कौन कहाँ गया, इसकी खोज-खबर किसी ने भी नहीं रखी। बुढ़िया की पुकार बेकार की पुकार है।

फिर उसी तरह पुकारती हुई वह भीड़ के बीच तक में चली गई। कितने लोग दारू के नशे में बावले हो उठे हैं। कौन किसकी सुनता है? कौन किसकी बूझता है?

शळपू कंध ने थोड़ी-सी दारू पी ली और घर की ओर लौट चला। देखा, दरवाजे पर रस्सियों की खाट पर कोई बैठा है। न जाने कौन है यह। पूछा—"कौन?"—कोई जवाब नहीं—"कौन? कौन है वहाँ?"

"हम।"

"कौन तुम?"

इतना फट-फट पड़कर जवाब देने का ज़ोर पिओटी के फेफड़े में न था। वह बिना कुछ बोले ही रस्सियों की बुनी उस खाट पर लंबी तानकर सो पड़ी। शळपू कंध अचंभे में पड़ा जैसे-का-तैसा ही ताकता रह गया। कुछ समझ न सका। यह इस गाँव की लड़की तो हरगिज नहीं हो सकती। पहनावा-ओढ़ावा और रंग-ढंग इसका कंधुणी (कंधनी) जैसा तो कतई नहीं है। उतना भी होता, तो वह यह समझकर संतोष कर लेता कि छोकरी किसी छोकरे के

संग लगी चली आई है। चैत के समारोहों में ऐसा अकसर ही हुआ करता है। किसी गाँव की लड़की किसी और गाँव के लड़के के संग लगी बेरोक-टोक चली जाती है। कंध जिस चीज़ को समझ नहीं पाता, उस पर उसका संदेह जगने लगता है और वह आतंकित हो उठता है। शळपू कंध ने सोचा कि —तो क्या फाराष्टी[1] आया है ? फाराष्टी जब आता है, तब इसी तरह किसी एक को कहीं से साथ घसीटे लाता है। ऐसा ही होना संभव है। नहीं तो इतने इतमीनान के साथ, इतने साहस के साथ, उसी के मुँह पर उसी की मुँजेली खाट के ऊपर, और सो ही कौन सकता है ?

शळपू कंध ने समझ लिया कि फिर तो एक आफ़त आ गयी है। फ़ाराष्टी ! —चैत की धूमधाम के बीच में जंगल की हानि का डंड देने के लिए परदेसी फाराष्टी का आना अमंगल की निशानी मानी जाती है। वह एक ही जगह पालथी मार के बैठ रहेगा। उसे पालना-पोसना पड़ेगा। उसे और उसके सँग-सँग आनेवाले सभी को ! उसके बाद थैली के भीतर से लकड़ी का एक खिलौना निकाल कर, उसके सिर पर सिंदूर पोतकर, फाराष्टी उसे मिट्टी के ऊपर थाप देगा और कहेगा कि यही तिरुपति ठाकुर (रामचंद्र) हैं। सभी कंध एक-एक करके नहा-धोके आएँ और इसके सिर पर हाथ देकर कह जाएँ कि किसने कहाँ जंगल काटा है, किसने कहाँ पेड़ जलाए हैं ! और सब से इसी तरह बात ले-लेकर वह सब कुछ लिख रखेगा। नाहीं करना किसी से पार नहीं लगेगा। ओटे पर बैठकर फाराष्टी सारी खबर लिख लेगा और उसके बाद ?

न हुआ तो वह यह दाँव लगाएगा कि तुम लोगों ने हमारे जंगल से साँभर मारे हैं, हिरनें मारी हैं। ये हमारी गोरू हैं। हमने उन्हें अपने जंगल में छोड़ रखा है। अगर उन्होंने तुम्हारी फ़सल चर डाली है, तो तुमने उन्हें घेरघार कर काँजीहौस में क्यों नहीं डाला ? मार डालने का क्या अधिकार था तुम्हारा ?

१ जंगलात के महकमे का अधिकारी। अँगरेजी शब्द 'फारेस्टर' से कुभी तद्भव।—अनु०

तुम्हारे मवेशी हमारी फ़सलें चर जायें, तो हम क्या उन्हें मार डालेंगे ?

शळपू ने सोचा कि निश्चय ही यह फाराष्टी के साथ आई है। किसी तैलंगी 'कांप' या ओड़िया 'पाइक' के घर की लड़की होगी। "फाराष्टी" और "अनिष्टी"—दोनों पद मिलते हैं। और फाराष्टी आ पहुँचा है !

इतनी बड़ी-बड़ी आँखें फाड़े उस लड़की को वह निहारता रहा। और उसकी अवस्थिति से आगामी विपद की आहट लेता रहा। इतने में ही पीछे से कोई बुढ़िया पागलों-सी पुकारती हुई आ पहुँची।

"लेल्लू सांवता, हे लेल्लू सांवता, कहाँ गए रे, लो मैं आ गई हूँ।"

लेल्लू सांवता ?—वह तो मर चुका। उसको मरे कितने बरस बीत गए। फिर वही पुकार ! मरे आदमी से मिलने यह कौन आयी है ? साक्षात् प्रेतात्मा तो नहीं ?

शळपू कंध ने सोचा कि बुढ़ापे के कारण मैं पागल हो गया हूँ। वह बड़े ज़ोर से ठट्ठा मारकर हँस पड़ा। शळपू के उस विकृत ठहाके से सोई लड़की हड़बड़ाकर उठ पड़ी। बुढ़िया चुप होकर शळपू के पास आई और झुककर उसे देखने लगी।

शळपू ने सोचा कि मैं केवल बावला ही नहीं हुआ हूँ, भेंट चढ़ने के लिए चुन भी लिया गया हूँ, अब किसी भी प्रकार का मंत्रबल या जड़ी-बूटी मुझे बचा नहीं सकेगी। शळपू के मुँह से बोल न फूटते देखकर बूढ़ी ने ज़ोर से पुकारा— "शळपू, शळपू भाई।"

"कौन है तू—कौन—कौन—"

"मैं आई हूँ शळपू भाई।"

"क्यों आई है तू ? किसने भेजा है तुझे ? मैंने तो तुझे कभी नहीं बुलाया ? मेरा तो अभी समय नहीं आया ? फिर तू आई कहाँ से ? एँऽ ऽ, ...कह, ... कौन है तू ?"

उसकी विह्वलता देखकर पिओटी हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई। शळपू कंध चौंक पड़ा। कौन है यह ? कौन हैं ये ?

होश सँभालने के बाद से ही पिओटी इन सभी को जानती है। बाप की बातों में, माँ की बातों में प्रकट होकर ये दिनोंदिन स्पष्ट-से-स्पष्टतर रूप में उसकी कल्पना की आँखों के आगे मूर्त होते गए थे। जानी-पहचानी सूरतों की तरह निकट-से-निकटतर आ-आकर खड़े होते गये थे। पर मन के भीतर रहनेवाले लोग कभी बढ़ते-बुढ़ाते नहीं हैं। और यह शळपू कंध है कि उसके बालों में अब जटाएँ तक पड़-पड़ गई हैं।

हँसते-हँसते पिओटी का जी कुढ़ उठा। उसे अपनी अवस्था का ध्यान हो आया। सोचा कि इसकी खाट पर मैं जबरदस्ती ही तो चढ़ बैठी हूँ? आश्रय कहाँ है मेरा, ठौर कहाँ है?

माँ इतना कहा करती है कि ये लोग मेरे हैं, मेरे हैं! अब यह मेरे-मेरे की रट समझ में आएगी उसे! अच्छा हुआ, कोई चीन्हता तक नहीं!

"पहचाना नहीं शळपू भाई"—बूढ़ी ने कहा—"संड्रङा तुझे याद नहीं आता? इतनी जल्द उसे भुला बैठे? इसे भला कैसे पहचानते? यह तो उन दिनों दूध पीती बच्ची थी, जब हम गाँव छोड़कर चले गए थे।"

"संड्रङा? संड्रङा? कोंडाताँबेरू संड्रङा? क्यों वही बहना—"

"अब वह बहना कहाँ की रही मैं। कौन कहेगा बहना, कि पूछ रहे हो?" बूढ़ी अब रो पड़ी। रुलाई के ज्वार में दूर परदेस के सभी दुख-दर्द बह निकले। पालथी मार के बैठ गई और मरण का स्यापा गाने लगी :—

"आलो लो हातेयू (मर गया), हातेयू पापू।
निङ बाताणाकी निङ तियाताणाकि पापू।"

"ओह!"—शळपू को बड़ा दुख हुआ—"रो मत, रो मत। रहने दे, रहने दे।" हाड़-हाड़ निकली एक हथेली बुढ़िया के मुँह पर और दूसरी उसके कंधे पर डालकर शळपू ने भरे-भरे गले से ढारस दिया—"चुप रह, चुप रह। यों रोने से लोग क्या कहेंगे, कह तो भला? चैत की धूमधाम लगी है। इतने लोगों के हँसते चेहरों पर आँसू बहवाएगी तू? रहने दे, रहने दे। गाँव की मिट्टी पर लौट आई है, यह भला ही किया है! अच्छा, कुछ खाया-पिया भी है? जा मैया मेरी, हाथ-पैर धो डाल—री छोरी, बैठी क्या है तू?

चलते-चलते पैरों में आबले पड़ रहे होंगे। जा, नमक-पानी गरमा के उसमें पैर डुबाके कुछ देर बैठ रह। उठ, उठ।"

रिझा-रिझाके और हड़बड़ा-हड़बड़ा के उन्हें घर में भेज चुकने के बाद ही शळपू कंध उठा। कहने लगा—"संड्रुझा, संड्रुझा, नींद आ गयी तुझे, सो गया तू? हाय, नमक लादने चला गया (मर गया) तू? किसी परदेस में अचीन्हे-अनजाने 'डुमा'-ओं का मंगी बनने को तेरा जी हुआ संड्रुझा? सो रहने को गाँव की माटी में तेरे लिए जगह न थी?—आह, आह!"

शळपू कंध का उद्वेग बस इतना ही भर होता है। उसने अनेक जनम-मरण देखे हैं। अब उसकी छाती में वह नज़ाकत नहीं है कि इन आवेगों से फूल-फूल उठे।

गाँव की धूमधाम बंद होने का नाम ही नहीं ले रही थी। पड़ोसी गाँव म्ण्यापायु के कंध आए हैं। म्ण्यापायु का दिउड़ू साँवता और उसका दल-बल आया है। गाँव-भर में हँसी-ठट्ठों और भीड़-भड़क्कों की धूम है। चैत के कुछ पहले ही इस गाँव का साँवता उस गाँव गया था, वहाँ की बेजुणी से पूछ-ताछ करने के लिए। अब उस गाँव के अतिथि आए हैं। अतथि का सत्कार करना कंध का प्रथम कर्त्तव्य होता है। यही उसका प्रधान आभि-जात्य है। सभी उन अतिथियों के ही आस-पास जुटे हैं। नाच के दौर चल रहे हैं। कल दोनों गाँव के कंध मिलजुलकर उस पार के बाघडंगर बन में शिकार करने जाएँगे। कल ही एक ऐसा दिन होगा, जब दोनों गाँवों के कंध एकट्ठे मिले-जुलेंगे।

साथ-साथ रात के लिए भोज का आयोजन भी हो गया। गाँव के भेरामण[1] में दारू और नाच के दौर भी चलते रहे और एक ओर कुछ लोग भोज की रसोई पकाने में भी लग गए। कुछ लोग डालें काट-काट कर तकिये, दोने और पत्तों के मँड़वे बाँधने लगे। जिधर-तिधर अँधेरे में मशालें जल उठीं। लोग लग-भिड़ कर काम में जुट गए, ताकि म्ण्यापायु वाले पीछे यह अपवाद न फैला पाएँ कि बंदिकार आतिथ्य नहीं जानता।

---

१ पृष्ठ २१४ की पहली पादटीका देखिए।

खाना-पीना हो लिया, तो बुढ़िया शळपू कंध के ओसारे में सो रही। छोरी गाँव घूमने निकल गई। घूम-घाम उसे बहुत भाती है। धूल-धक्कड़ और शोर-शराबे में मज़े लेने का उसे पुराना अभ्यास है; पर सभ्य इलाके की आँखों से उसने इन दृश्यों को समालोचना की निगाह से देखा-परखा। इसके और उसके खुद के बीच कहीं कोई प्रच्छन्न संबंध अवश्य है। रक्त-संपर्क की डोर है शायद। बस इतना ही। इस डोर को तरह दे देने पर उसकी निगाहों में ये सब जघन्य लगते हैं, हास्यास्पद लगते हैं। लगता है कि इससे उसका अपना कोई वास्ता नहीं है।

बाग-बगीचे का शौक उसे है। पाँतों में लगे पेड़ों के कुंज वह समझ पाती है; पर जंगल के इन नए-पुराने, पतले-मोटे, लंबे-नाटे, सीधे-टेढ़े, ओदे-सूखे पेड़ों-पौधों और लता-गुल्मों का एक दूसरे में उलझना, एक दूसरे से लिपटना, एक दूसरे को बाँध-छाँदकर गुँथ-गुँथ जाना वह बिल्कुल ही समझ नहीं पाती। हाँ, इस गडमड सृष्टि के सामंजस्य-वैपरीत्यबोध ने पहले-पहल उसके मन को कुछ छुआ ज़रूर था। इन के बीच अपनेपन की कोई डोर, कोई भेद, ज़रूर है, जिससे ये सभी आपसमें गुँथे-गुँथे हैं; पर उसके पास न तो उस डोर को देख पाने की आँखें हैं और न उस भेद को समझ पाने की शक्ति। इसीलिए उसे यह सब-कुछ अँधेरा-ही-अँधेरा लगता है।

और इस वन-देश की घर-गिरस्ती भी कुछ-कुछ उसी तरह की है। उसकी आलोचक निगाहों में इस छंदोहीन, लयहीन, बेताल-बेसुरी गिरस्ती में कहीं कोई सुन्दरता नहीं है।

कोई उसे न्योतने नहीं आया। और अब ज़रा-सी उसाँस लगने के बदले में टूटे पड़ रहे हैं। आज की कथा इतनी ही रही। कल की कल देखी जायगी।

पैंतालीस

सुबह पिओटी की नींद काफ़ी देर में खुली। अपरिचित कोलाहल सुनकर वह विरक्त हो उठी और ललौंहो-सी आँखों को खोल कर चारों ओर देखने लगी। देखा कि लोग उसे घेरे बैठे हैं। इन में स्त्रियाँ भी हैं, पुरुष भी। धूप खूब धुली-धुली-सी साफ़ निकली है। अँधेरी रात की लुक-छुक अँधियारी के आश्वास के बदले अब रुखड़ी-खुरदुरी रोशनी का निर्दय चित्र अनावृत हो गया है।

वे घेरे बैठे हैं। इन्हें उसने कब देखा था, इसकी कोई सुध उसे नहीं आ रही। पुरुषों के इतने चिकने-चुपड़े जूड़े और स्त्रियों के ऐसे रूखे फड़फड़ाते बाल, चेहरों और देहों की यह विचित्र गढ़न, सब-कुछ अजीब-अजीब-सा लग रहा है। और इनका कपड़े पहनना और न पहनना, दोनों न्यारे हैं। जिस तेलुगु देश से वह आयी है, उस देश के लोगों से इनकी कोई भी तुलना कदापि नहीं हो सकती। ये तो एकदम विचित्र लोग हैं।

इन के मुखड़ों पर सहानुभूति की कहीं कोई रेख नहीं है। किसी की चितवनों में कुतूहल है, तो किसी में उपहास। झटपट कपड़े लपेटकर वह उठने को झटकी, पर पैर उठने का नाम ही नहीं ले रहे थे। सिर कैसा तो झाँय-झाँय कर रहा था। राह के कष्ट याद आए और फिर एक ही रेले में परिवर्तन की तमाम यादें उमँड़ आई।

पीछे से उसकी माँ ने पुकारा—"पिओटी, उठ उठ, देख कितनी धूप निकल आई है!" सभी हेरों-फेरों के बीच मानो यह-इतना ही दुहराया जानेवाला माँ का यह चिरंतन वाक्य कभी नहीं बदलता। इसी के सहारे वह धीरे-धीरे सपने से वास्तव की ओर बढ़ चली। कोलाहल और बढ़ा। जिस घटना की बाट जोहने वे बैठे थे, वह घटित हो गई। एक साथ कितने सारे मतामत अंकुरों के गुच्छे की तरह उसके कानों को बेधने लगे। खबर

पाकर वे पिओटी को देखने के लिए दौड़े-दौड़े आकर भिनसारे से ही आ जुटे हैं। उन्होंने देख लिया है कि इसके पहरावे के कपड़े-लत्ते, गहने-ज़ेवर, हाव-भाव आदि सब कुछ तेलुगु लड़कियों के-से हैं। कितनों ने कितने-कितने प्रकार से कहा-सुना, पिओटी की माँ को इसके लिए दोषी ठहराया ; पर बूढ़ी ने सभी आलोचनाओं को पीठ-पीछे डालकर बस इतना ही कहा—"अच्छा अच्छा, रहने दो। पीछे सब सुधर जायगा। नहीं क्या ?"

पिओटी समझ नहीं पाई कि क्या सुधर जायगा। वह चुपचाप अपने नित्यकर्म में लग गई ; पर वहाँ भी छुटकारा नहीं मिला। जहाँ कहीं गई, गाँव के छोटे बच्चे-बच्चियों के झुंड उसके पीछे-पीछे लगे ही रहे। उसका दाँत माँजना, उसका नहाना-धोना, हर चीज़ ध्यान से देखने की चीज़ थी। कुछ भी नया दिख जाय, तो कंध उसे बड़े गौर से निरख-परख कर निहारते हैं। जब तक उस संसार में मिल कर एक न हो जाओ, तब तक मनमाने सवाल पूछने में वे तनिक भी आगा-पीछा नहीं करते। पैरों में बाँके छल्ले क्यों हैं ? गले में हँसुली क्यों है ? पतली-पतली लड़ियाँ क्यों हैं ? ये भी क्या कोई गहने हैं ? इनकी उपयोगिता क्या है ? आदि-आदि।

नहा-धो के घर लौटने पर माँ ने बुला लिया। कहा—"बिटिया, सुन, एक बात है।" माँ-बेटी बैठ गईं। शळपू कंध के ओसारे में टट्टी घेर कर एक कोठरी-सी बना ली गई है। वहीं ठौर है अभी। बुढ़िया ने कहा—"सुन पिओटी, सात दिनों तक पहाड़ों-पहाड़ों चलती रह कर हम अपने गाँव आ पहुँची हैं अब। यहाँ लोग-बाग हैं। नाते-रिश्ते हैं। अपना कहने को इस गाँव में वैसे अपना कुछ भी नहीं है। मैं पहले से ही जानती थी कि यहाँ पर ऐसी अवस्था से वास्ता पड़ेगा। जो होना होगा, होगा; अपनी वहाँ की दयनीय दशा की बात इन्हें बताकर मन खराब करना मैं नहीं चाहती। छोड़ उन बातों को, तळे दरतनी उप्रे (ऊपर) दरमू हैं, उन्हीं महापुरु (महाप्रभु) का आसरा-भरोसा है। कह-सुन कर और

माँग-चाह कर मेरा तो जैसे-तैसे चल ही जायगा। धीरज धरने की दरकार है। औरों की बात का बुरा मानने और आन धरने से हमारा काम नहीं चलने का। काकुली (दुखियारे) लोगों की दशा ऐसी ही होती है।

"मुख्य बात है वर्तमान! —हमारी मैदानी वेश-भूषा का हमारे लोग मखौल उड़ाते हैं। यहाँ वह वेश-भूषा नहीं चलेगी। उस तरह रहने पर कोई हमारे साथ घुल-मिल नहीं पाएगा। लोग कटे-कटे रहेंगे। कतरा-कतरा कर निकल जाएँगे। तू भले ही न जाने बेटी, मैं तो यह सब जानती हूँ न! तुझे बदलते-बदलते एक युग बीत जायगा। चैत का परब चल रहा है। इस देश की बेटी की तरह जूड़ा बाँध, कपड़े पहन, नाचा कर, देख-देख कर सीखा कर, तुझे सब चलन आ जायगी।

"ऐसी वेश-भूषा लेकर बैठी रही, तो बैठी ही रह जायगी। सब दिन तो हम परदेश में ही रहती आईं, लेकिन क्या हुआ वहाँ ?

"इसीलिए कहती हूँ बेटी! आज ही से बदल जा। अभी सवेरा है, सवेरे-सवेरे ही नया भेस धर ले। ना, ना, मन खट्टा नहीं करते! ले, ये सब खोल तो दे।"

पिओटी ने अब समझा। उसका जी चाहा कि मिट्टी में मिल पड़ूँ। सच तो! मुझे बदल-जाना पड़ेगा। जैसे कोई बगला बदल कर कौआ हो जाय। यहाँ भी समाज है। यहाँ भी समाज के नियम-कानून हैं कि यों चलो और यों न चलो। कुछ पूछे-ताछे बिना ही उन्होंने मुझे चोटी से पकड़ लिया है। मैं भी वैसी ही हो रहूँगी। तिल का तेल न लगा के रेंड़ी का तेल ही लगाऊँगी। सिर में कंघा खोंसूँगी। कंध-देश के सभी रंग-ढंग, सभी चाल-ढाल सीख लेनी होगी, अपना लेनी होगी।

"और यह सब न किया तो ?"—उसे हँसी आ गई—"न किया तो और कुछ हो कि न हो, माँ कहेगी कि वर नहीं मिलने का। वर पाना जरूरी है। सिर्फ़ वर पाने के लिए भेस बदलना, कंधुणी बनना, नाचना,

गीत गाना, सब करना पड़ेगा। और यह चैती तेवहार! इसी समय यहाँ वरों और कन्याओं के मेले होते हैं।"

सोच-सोच कर वह मन के सभी 'अगर-मगर' एक-एक करके तोड़ती रही। बुढ़िया जाके कहीं से कुछ कंध-गहने ले आई। कोई बोझ-भर हार और अँगूठियाँ। अपने हाथों बेटी को गहने पहनाने बैठी, उसका जूड़ा बाँधने बैठी। चैत की निशानी के रूप में बटी-हलदी की उबटन उसके मुँह में और सारी देह में चुपड़ दी।

पिओटी ने आईने में मुँह देखा और लम्बी साँस भर कर रह गई। मन की आँखों के आगे न जाने कितने मुखड़े भीड़ लगा के खड़े हो गए और एक-एक करके बहते हुए किसी कुहरे में विलीन होते गए। कान्ना, नान्ना, माधवराव,......! एक-एक मुखड़े के साथ एक-एक याद जुड़ी थी। प्रत्येक छवि मन को डुला-डुला गई। भले ही इस समय उनके बीच का व्यवधान या दूरी कितनी भी बड़ी क्यों न हो! अब वे सब मुखड़े खो गए। अब वह वन की कंध्रुणी है। गाँव के खूँटे में उसके गले का पघा बँधा है। अब वे सारे किसलिए मन में भीड़ करते हैं?

बाहर गीत की गरज सुनाई दी। घर में रहा नहीं गया। पिओटी बाहर निकली। निकलते ही गीतों की गरज और भी तुमुल हो उठी।

लोगों को अचरज हो सकता है, हो। अब वह अचीन्ही होने पर भी गोष्ठी की ही एक सदस्या है। न जाने कौन-सी लड़कियाँ, न जाने कहाँ से आकर, उसके डैनों को अपने डैनों में गूँथकर उसे उड़ा ले चलीं। पिओटी चैत के उत्ताल सागर में, पवित्र होने के लिए, डूब गई। आगा-पीछा सब भूल गई।

छियालीस

सभी शिकार को चले गए। गाँव सुनसान पड़ गया। रह गई केवल तलछट : बूढ़ियाँ और बच्चे। पिओटी की माँ को गप करने का समय मिला। गप का उसका अटूट सिलसिला कभी चुकता ही नहीं। अभावों में पड़कर वह और उसका बूढ़ा, संड्रझ्य कुलीगिरी करने के लिए गाँव छोड़ कर चले गए थे। कितने दिन तो निचले पठारों पर काटे। फिर धीरे-धीरे मैदानी देश में उतर गए। यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ, कुली की गिरस्ती बराबर खिसकती ही रही। चावल के कल, चीनी के कल आदि की बातें कौन बताए ! फिर साहूकार के लिए खेती के काम किए। हाट की चौकीदारी की। जीवन में अनगिनत, अपरिमित हेर-फेर आते रहे। यकायक बूढ़ा बीमार पड़ा और मर गया। 'कलघर की बस्ती' की कुटिया से दाना-पानी उठ गया। पातघिरनी की तरह दर-दर मारी फिरने के बाद अब वे गाँव को लौट आई हैं। यही इस अत्यन्त साधारण मजूरा-परिवार का इतिहास है ! पर बूढ़ी ये सारी बातें नहीं बताती। वह बात छिपाती है। सोचती है कि सब खोल के कह डालूँ तो मेरे आत्म-सम्मान में बाधा खड़ी होगी। पहाड़ी जातियों के लोग आत्म-सम्मान को अत्यन्त ही मूल्यवान समझते हैं।

लोग उसे भूले नहीं हैं !

इसी गाँव में एक जगह उसका भी घर था। संड्रझा एक मुखिया रैयत था। आज वह घर टूटा पड़ा है। घर का एक गोंठ भर उसकी निशानी को बचा है। गाँव छोड़ने के कितने ही दिन पहले से ही गाँव में धीरे-धीरे यह बात फैल गई थी कि बूढ़ा संड्रझा मंत्र-तंत्र जानता है, कि वह पाझियाणी (ओझा) है, चाहे तो 'पाझि' दे सकता है (जादू कर दे सकता है) । जिन दो-चार जनों से संड्रझा की अदावत थी , वे सभी मर-मरा गए थे। एक को बाघ ने खा डाला था। बाघ की दुम किसीने नहीं

देखी थी, इसलिए सभी का यह विश्वास था कि वह बाघ बाघ नहीं था, 'पाड्रियाणी' था। बाघ की राह में आदमी के पैरों के निशान मिले थे, यह दूसरा प्रमाण था। ये निशान संड्रङ्गा के घर के पास से बाहर की ओर बढ़ते गये थे और संड्रङ्गा उस समय गाँव में नहीं था। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह काम उसकी घरवाली पाड्रियाणी का ही था। दूसरी बार कभी भी उस जगह, अर्थात् गाँव के ठीक पीछे की चट्टान तले, बाघ कभी नहीं लगा था। कारण, डिसारी ने वहाँ मंत्र पढ़कर कील ठोंक दी थी और सभी को पहले से ही आगाह कर दिया था कि इधर कहीं बाघ अगर दिख जाय, तो उस पर हलदी का पानी छिड़क देना, बाघ फिर आदमी का आदमी हो जायगा। बड़े दुर्योग में मरा था वह। उसका नाम था डमरू कंध। संड्रङ्गा के साथ उसका झगड़ा ज़मीन के सवाल पर था। लोगों का कहना है कि मरने के बाद उसकी प्रेतात्मा अर्थात् 'बाघडुमा' बहुत दिनों तक बुढ़िया के आँचल तले छिप-छिप कर घूमता-फिरता रहा था।

नन्हे बच्चे-सी उसकी आकृति थी। चाँद गंजी थी। सिर, होंठ और आँखें लाल थीं। ज़रा-सा दिख कर फिर अंतर्धान हो जाया करता था। भाँति-भाँति की आवाज़ों में बलबलाता था। बाघडुमा का स्थान असल में बाघ की दुम के ऊपर होता है; लेकिन चूँकि इस मामले में बाघ तो खुद पाड्रियाणी ही थी, इसलिए बाघडुमा उसके आँचल तले रह कर घूमा करता था। इस तरह वह पाड्रियाणी सिद्ध हो गई थी। चमरू डंत्रे से भी उसका बैर था। उसके गोंठ के मवेशी दो ही दिनों के अंदर पटापट मर गए थे। तब से वह पाड्रियाणी ही कहलाने लग गई थी। इसी तरह से कार्य-कारण की चक्र-गति से कारण को फल और फल को कारण दिखा-दिखा कर कितने लोगों ने गाँव में यह प्रचार कर दिया था कि वह पाड्रियाणी है। पाड्रि करने वाले को गाँववाले मार डालते हैं, उसके वंश का निपात कर डालते हैं। इस तरह के बहुतेरे खून हुआ करते हैं। पाड्रियाणी तो अपने कपाल के ज़ोर से बच गई थी। कारण, शळपू कंध और उसके पड़ोसियों को इस बात पर विश्वास ही नहीं हो सका कि इसने कब इतनी विद्या

सीख ली कि आदमी को पाड़ि दे सकती है ! पर किसी को विश्वास हो कि अविश्वास हो, उसी दिन से उसका नाम पाड़ियाणी पड़ गया और स्थायी हो के रह गया। साहूकार की अदावत से उन्हें गाँव छोड़ने पर मजबूर हो जाना पड़ा था। हाँ, इसमें कुछ लोगों ने साहूकार का हाथ जरूर बटाया था। यह सच है; पर उनकी इस मजबूरी का कारण केवल इतना ही नहीं था। उनके भागने में शत्रुओं के फैलाए हुए इस अपवाद का हाथ भी कोई कम नहीं था।

इतने बरसों के तरंग-ज्वारों ने सभी अपवादों, सभी कलहों को धो-पोंछ डाला है। अब वह निराश्रय है, बे-आसरा, बे-सहारा है; इसलिए आज उसके साथ किसी का भी कोई बैर-विरोध नहीं है। जिन्होंने बैर-विरोध किया था, वे सभी अब तक मर-खप कर भूत-प्रेत बन चुके हैं। उसके प्रति आज न किसी का दुर्भाव है न सद्भाव, न दोस्ती है, न बैर। वह अपने पुराने घर की धरती को दाँतों से पकड़े पड़ी रहती है, उसे कुरेदती रहती है। उसे देखिए तो जी विकल होने लगता है। जो लोग इस डिहवारे पर खड़े होकर, सिर हिला-हिलाकर और हाथ नचा-नचा कर बदला लेने के लिए वक्तृता झाड़ा करते थे, वे अब कहाँ गए ?

'पाड़ियाणी' सतरह बरस पहले खो गए अपने समय को खोजती फिर रही थी। उस समय की सीमा को जतानेवाली खूँट तक आज खो गई है; जहाँ वह बाड़ थी, वहाँ अब कोई घर है। जहाँ वह पेड़ था, वहाँ अब एक गोंठ है। नया रास्ता निकल आया है, पुराना बुझ गया है। पेड़ जो थे, ठूँठ हो चुके हैं, पौधे पेड़ हो चुके हैं। इस जगह का सारा रूप उलट-पलट चुका है। पर अगर सिर्फ़ इतना ही हुआ रहता ! सतरह बरसों में सतरह दल बच्चे जन्मे हैं, बढ़े हैं, घर बसाए हैं। जाने-पहचाने लोग बहुत पीछे छूट गए हैं। कितने मिट्टी में मिल गए हैं। पुराने समय के ऊपर सतरह ताड़ पानी चढ़ गया है, सब-कुछ कहीं लुक-छिप गया है।

लेकिन फिर भी ढूँढ़ती फिरी पाड़ियाणी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आखिर एक चीज

उसने ढूँढ़ ही निकाली। आकाश में ठीक वही रंग दिखा। गाँव की हवा में ठीक वही स्पर्श महसूस हुआ। और गाँव के चारों ओर महाबली पहाड़ की जो लहरियाँ थीं, वे भी ठीक वैसी-की-वैसी ही हैं अभी तक। पहाड़ नहीं बदले, मिट्टी नहीं बदली, धरती की ढलानें ठीक उसी तरह तले-ऊपर-होती गढ़न की हैं। बाहर की यह जानी-पहचानी छवि अंतर में कोई लौ जगा-जगा देती है। लवों पर लवें उठती हैं और फिर सभी लवें एकट्ठी होकर धू-धू जल उठती हैं। यही ज्वाला उसका पुराना परिचय है। इतनी ही उसकी सांत्वना है।

बूढ़ी के मुँह में बोल नहीं है। पूछने का उसमें साहस नहीं है। उसे सांत्वना कोई मिलती भी है, तो राहों-बाटों में मिलती है। किसी के घर में तो वह एक बिलल्ला मात्र होती है। मानो उसकी कोई अपनी परंपरा न हो, कोई अपना परिचय न हो। मानो वह किसी और देश की, किसी और नगरी की वासिनी हो। पर उसे कुतूहल होता है। चुपचाप खड़ी ताकती रहना उसे भाता है। उसका मन चाहता है कि वह अपनी आँखों यह देख लेती कि यह सब एक भूल है, भूल है, भ्रम है। इतना ही मुँह खोलकर कह डालकर मन-ही-मन अपनी वाहवाही करती हुई और मुड़-मुड़ कर मुसकुराती हुई वह चल देती। वह कोशिश भी करती है कि इसे भ्रम समझ ले; पर समझ नहीं पाती। गुमसुम मुँह सुखाए चली जाती है।

बीच गलियारे में उसकी निगाह एक लाल पत्थर पर पड़ी। यह पत्थर तब से अब तक इसी तरह पड़ा है। सदा की भाँति एक बुढ़िया बैठी साँवा कूटने की धुच्ची में काठ के मूसल से साँवा कूट रही है। यह गुमसा कंध का घर तो नहीं? घर के आगे एक पेड़ शरीफ़े का है, पीछे सहिजन का। ठीक-ठीक! गुमसा कंध का ही घर है यह! दरवाजे पर एक अचीन्हा बच्चा खेल रहा है। किवाड़ के पार कोई अचीन्ही बह बैठी कोई काम कर रही है। खुली छाती से एक बच्चा लटक रहा है। ये सभी अनजाने अचीन्हे हैं, अभी कल के अंकुर हैं। बहुत बरस पहले एक वह हुआ करते थे, जो टूटी

खाट पर करवट लेटे पड़े रहते थे, खटमल लगते रहते थे। उन्हीं का अभाव दिख रहा है। गुमसा की बुढ़िया ने हँस दिया। कहा—"गुमसुम क्यों खड़ी हो आपा? कहीं पाङ्कि देने को जी तो नहीं चाह रहा है?" बुढ़िया ने हँस-हँसकर जवाब दिया—"हाँ, यही बात है। पत्थर की तरह तू अचल की अचल बैठी है, तुझी को पाङ्कि दूँगी।" गुमसानी बोली—"अच्छा! मतलब यह कि विद्या अभी भूली नहीं हो? आओ, बैठो।" दोनों बुढ़ियाँ बैठकर हँसी-ठिठोली करती रहीं, घुँगिया पीती रहीं। सतरह बरसों की बात, एकदिन में तो चुकने से रही।

"लेल्लू कब मरा नुनी?"

"लेल्लू?"—गुमसानी ने दोनों हथेलियों की सभी उँगलियाँ खोल दिखाईं। जो चीज़ किसी को चौंका देती है, अचंभे की लगती है, किसी और को उसके मतलब तक का पता नहीं चल पाता, भाव तो दूर की बात है।

"वह घर कब टूटा नुनी?"

"घर था भी क्या वहाँ? कहाँ, नहीं तो!—हाँ, हाँ सच कहा, कितनी बातें याद रखती है री, तू भी? इतनी बुद्धि! इतनी बुद्धि न होती तो टोले-वाले तुझे पाङ्कियाणी क्यों कहते?" कुछ और बूढ़ियाँ आ जुटीं। अच्छा खासा गपाष्टक जम गया। बस एक ही तरह की बातें होती रहीं। पुरानी आँखों से नए की आलोचना होती रही। इस द्रुत-विलंबित ध्रुपद में बस एक ही टेक लगती थी, इस 'खयाल' में बस एक ही तान रह-रहकर दुह-राई जाती थी, और वह थी यह वाक्य कि, "अरे, अब भी क्या तब के दिन हैं?" इस एक ही वाक्य को सभी संभव भंगियों से अदा किया जाता था।

चूल्हा नहीं सुलगा, खाना-पीना क्या होगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। पर कंध गाँव में ये बातें किसी को अटका नहीं पातीं। साग-सब्जी की लेन-देन तो बहुत मामूली बात होती है। प्राचीन समाज की यादगार अब भी कुछ-कुछ बच रही है। एक पाँत में बसे गाँव की बस्ती में पहले एक ही हाँड़ी से खानेवालों की गोष्ठी बसती थी। आज हाँड़ी तो एक नहीं है, लेकिन आज भी ऐसा हरगिज नहीं हो सकता कि एक घर में भात पका हो और

किसी दूसरे घर का कोई भूखा सो जाय। बसने को जगह न हो, तो गाँव का साँवता बास की जमीन देता है। बास-भुइँ हो और उस पर घर न हो, तो गाँव के भाई-बंद घर खड़ा कर देते हैं। खेती-बाड़ी के लिए जमीन न हो, तो खेत भी दिए जाते हैं। जब तक अपनी खेती की उपज घर में नहीं आती, तब तक गाँव का समाज मँडुए का भात खिलाते जाने में किसी भी कारण आगा-पीछा नहीं करता। समाज सब-कुछ देता है, बदले में सिर्फ इतना ही चाहता है कि पानेवाला भी काम करे, समाज के भीतर एकट्ठा रहे। बस इतना ही, इससे अधिक कोई माँग उससे नहीं की जाती।

पाड्याणी इसी विश्वास से सभ्य समतल देश छोड़कर इस असभ्य वन में भागी-भागी आ पहुँची थी। इसी विश्वास से वह निर्भय है, इतमीनान से है। बेर जैसे ही मूँड़ी भर ढली, वैसे ही गुमसा की स्त्री ने पुकारा—"आ, खाने बैठें।" पाड्याणी का मन बहुत ही नरमा आया। जाने क्या सोचकर वह पूछ बैठी—"गुमसा कब मरा नुनी ?" गुमसा की स्त्री ने लंबी उसाँस ली। कहा कुछ भी नहीं। पाड्याणी ने फिर एक बार पूछा। भीतरवाले घर की छान तले एक छोटी-सी रस्सी पड़ी थी। रस्सी पाड्याणी की ओर फेंक कर गुमसानी मुँह सुखा कर खड़ी हो गई, कुछ कह नहीं सकी। पाड्याणी ने रस्सी को खोल कर देखा कि उसमें तेरह गाँठें पड़ी हुई हैं। यह तेरह बरसों का हिसाब है। बरस भर बीत जाने पर एक और गाँठ डाली जाती है। तो, गुमसा को मरे तेरह बरस हो गए! उसकी स्त्री रस्सी में गाँठें बाँध-बाँध कर बरसों की गिनती रखे जा रही है। पाड्याणी ने बड़ी ही कोमल चितवन से उसकी ओर निहारा। गुमसानी रोई नहीं। लेकिन उसका पुराना दर्द हमदर्द हाथों का स्पर्श पाते ही फिर से टनक उठा। स्वामी का अभाव फिर हरा हो उठा। उसके सूखे चेहरे और डबडबाई आँखों की राह कोई काली छाया बाहर से आकर उसके अंतर में बहुत गहरे उतरती ही चली गई। इतिहास के एक अध्याय की काली छाया! दोनों एक दूसरे का मुँह ताकती रह गईं। गुमसा मर गया, लेल्लू साँवता मर गया, जिन्नू मर गया, मरण की इस अपरिमित शृंखला के दोनों छोर पर मानो ये दोनों

बूढ़ियाँ बैठी हैं और गाँठें गिने जाने का इनका काम जैसे पूरा होने का नाम ही नहीं लेता। गुमसानी ने कहा—"अब इन बातों को लेके किसलिए बैठी है आपा, आ इधर, खाने बैठें।" पाड्याणी बोली,—"याद आती है री नुनी, याद आती है। जाने के दिन तेरे ही घर भात खाके गई थी। पीछे-पीछे गुमसा बड़ी दूर तक साथ लगा विदा करने गया था। लोग आँखों के आगे बने रहते हैं, —बने रहते हैं, और देखते-ही-देखते न जाने कहाँ जा छिपते हैं। देह की जितनी भी गंजनाएँ (दुर्दशाएँ) हैं, सब मानो हमारे लिए ही बनी हैं!—" गुमसा की स्त्री काम में लग गई।

चारों ओर से बाजों की आवाज़ कानों में आ रही है। बहुत धीमी-धीमी। जानवरों को हुशकाने-हुलकाने के लिए लोग किलकिलाहट की-सी आवाज़ें कर रहे हैं। उस किलकिलाहट की भी हलकी गूँज सुनाई पड़ रही है। पहाड़ों के ऊपर के ये शब्द गाँव के भीतर तक तिर-तिर आते हैं। अभी कुछ देर पहले तक सन्नाटा-सा था। शायद लोग खातों-खड्डों में या ढलानों पर थे। लो, फिर वही सन्नाटा छा गया। जान पड़ता है, शिकारी लोगों ने अब घात लगाने की जगह चुन ली है। हो न हो, वे घाटी पर पहरा लगाए बैठे हैं। रह-रह कर थोड़ी-थोड़ी देर पर "ई-हो, ई-हो—" की ललकार सुनाई पड़-पड़ जाती है। अब शायद शिकारी ढेले मार-मार कर और पेड़ों को लाठियों से पीट-पीट कर बीच जंगल से जानवरों को हुशका रहे हैं, बाहर की ओर हाँक रहे हैं।

आवाज़ें आ रही हैं। ऊँचे पहाड़ के ऊपर की नंगी चट्टानों पर जो लोग फिर रहे हैं, वे नजर भी आ रहे हैं। वे जो आवाज़ें कर रहे हैं, उन्हें साफ़-साफ़ सुना जा सकता है। जंगल के भीतर छिपे लोगों के स्वर कई तह मोटे कंबल के भीतर से निकली आवाज़ों की तरह अस्पष्ट सुनाई पड़ते हैं।

जो काम पर गया है, वह तो खैर काम में लगा है; पर जो नहीं लगा, वह बेचारा तो केवल बाट जोह सकता है, केवल कल्पनाएँ कर सकता है।

पहाड़ तले के गाँव में रह गए लोग केवल बाट जोहते बैठे थे। आवाजें आती रहती हैं, आती रहती हैं, और बीच-बीच में यकायक मौन सन्नाटा छा-छा जाता है। ऐसे समय उत्कंठा बढ़ जाती है, आदमी कान टेककर बंदूक की ठाँय्-ठाँय् आवाज की राह देखने लग पड़ता है।

"क्यों, कोई ठाँय्-ठाँय् सुनाई पड़ी क्या?"—लोग घरों के भीतर से निकल-निकल कर आते हैं और पहाड़ की चोटी की ओर निहारते हुए दरवाजों पर खड़े हो रहते हैं। शिकार मारे जाने पर पहाड़ के ऊपर चहल-पहल बढ़ जाती है। नहीं तो फिर प्रतीक्षा का वही सन्नाटा छा जाता है।

"लौंडिया कहाँ होगी री, नुनी?"

"हाँ, लौंडों-छौंड़ों की बात ठहरी। उनके दल में जो हो, वही उनकी बात समझेगा, हम किस गिनती में हैं, एँSSS?"—गुमसानी ने भरोसा दिया। गुमसा के ओसारे में बैठी उसकी स्त्री के साथ धुँगिया पीते हुए पाड्याणी को ऐसा लगा, मानो वह कभी इस गाँव से अलग हुई ही नहीं हो। पिओटी कहाँ गई, यह बात उसने आज की तरह कभी किसी से पूछी थी भला?

उसे लगा, मानो आज की बात केवल आज की ही न हो, मानो इस बात के साथ यह जगह और यह समय, सब कुछ पहले की तरह ही घुला-मिला हो, एकाकार हो। बीते दिन यों ही रह-रह कर फिर-फिर आते हैं। फिर नया और होता क्या है?

सुनसान बेर है। धूप थोड़ी-सी ढल आई है। गुमसानी अकेली ही पानी लाने निकल पड़ी। पिओटी की माँ ओसारे पर निश्चल बैठी रही। झिर-झिर बहती चैती हवा आके नाजुक बच्चे-सी धूल उड़ाती खेलती-कूदती लोट-लोट पड़ती है। उसके पीछे-पीछे मानो कोई टहलता आता है और मुँह के पास के पहाड़ पर पेड़ों की आड़ में झटपट घात लगाके बैठ जाता है। पिओटी की माँ मत-मारी-सी बैठी सपने देखती रहती है। वह उधर, संड्का उस पहाड़ के आगे चढ़ गया है। शिकार के दिन आने पर उसे घर में रोक रखना किसी के भी बस की बात नहीं। काँधों पर टाँगिया

डाले और हाथों में बरछे लिए हुए डेङा, लेल्लू साँवता, जित्रू, गुमसा, सब एक के पीछे एक हो लेते हैं और निकल पड़ते हैं। चैत का तेवहार, हर साल इसी तरह होता है। अब थोड़ी ही देर में हू-हू-हू-हू शब्द सुनाई पड़ने वाला है। उसके बाद यकायक सारे जंगल को कँपकँपाते हुए बाजे बज उठेंगे। शिकार-लौटानी की बेर होगी, गाँव पाँवों की धमक से काँप उठेगा।

"तू ने क्या किया डोका[1]—"

वह हँस-हँस कर छलका पड़ता होगा। पसीने से लथपथ देह झटकार उठेगा। "मैं?—मैं न गया होता, तो ये लोग शिकार मार भी पाते? जाने कहाँ छिपा-दुबका पड़ा था, कोंच-कोंच के उसे बाहर किया, घाटी की ओर हुलका लाया। और जब खदेड़ लाया, तब कहीं इन लोगों ने ठाँय् से उसे मारा। अरे किसीने हाथों से थोड़े ही मारा उसे? बंदूक का घोड़ा दबाने भर की तो बात है, और क्या रखा है उसमें? पर मैं—हुशकाते-हुशकाते मैं तो अधमरा हो रहा। साँवता ने क्या कहा, सुना नहीं तूने?—कहा, संड्डा न हो, तो शिकार मिल ही नहीं सकता—" वीर पुरुष की तरह छाती फुला कर वह घर के भीतर पैठ जाता।

पिओटी की माँ सपने देख रही थी। गाँव की मिट्टी से दूर, कळिगी[2] तलदेश में या तेळुगु देश में जो सतरह बरस उनके कट गए, उनकी तो उसे तनिक भी याद नहीं आती! अलग-अलग स्थानों का मन भी अलग-अलग होता है। जगह बदली नहीं कि मन भी बदला। उधर की बातें एक और ही सपना हैं। वह सपना सपना नहीं, केवल एक दुःस्वप्न होता है। वहाँ दुखों की अनुभूति सदा साथ लगी रहती है, कभी पीछा नहीं छूटता; पर मन की डोर में वह अनुभूति कोई गाँठें नहीं डाल पाई है।

पिओटी की माँ ने अपनी परंपरा की डोर की गाँठ को ढूँढ के पा लिया था। वह सो रही थी।

१ दूल्हे! (पति के लिए कंधुणियों का संबोधन)

२ दक्खिनी ओड़ीसा का पुराना नाम कलिंग था। कंध अभी भी उसे इसी नाम से याद करते हैं।—अनु०

सैंतालीस

मण्याका (मिणियाका) दिउड़ू सांवता अपना दलबल लिए चैती मजलिसों में मौज-मज़े खोजने निकला था। अपना कार्यक्रम वह ठीक कर चुका था। पहले बंदिकार जाना है। वहाँ दो दिन लगाने हैं। फिर वहाँ से खाल्कणा जाना है। ज़रूरत हुई, तो वह चिलिशंका तक जाने को तैयार है। जहाँ मौज-मज़े अधिक होंगे, धूमधाम अधिक होगी, नशा-पानी अधिक होगा, वहाँ वह अटक रहेगा। जहाँ अच्छा शिकार मिलेगा, वहाँ से शिकार मार कर लौट आएगा। इस साल अच्छा शिकार पाना बिलकुल ज़रूरी है। उसने भीष्म प्रतिज्ञा कर रखी है कि खाली हाथ हरगिज़ नहीं लौटूँगा, चाहे राहों में कितने ही दिन क्यों न कट जायँ। सांवता का फ़ैसला पूरे गाँव का फ़ैसला होना है। इसीलिए पूरा दल-बल भी उसके पीछे-पीछे चल रहा है।

राहों का नशा ही कुछ और होता है। यह नशा कंध के मन के भीतर होता है। खोजता-ढूँढ़ता यों ही फिरता हुआ वह कहीं का कहीं निकल जाता है। आज मन में आया कि यह गाँव अच्छा नहीं है, नौतोड़ खेती के लिए जंगल मारने को और कोई जंगल नहीं है, तो आज ही कंध अपना पूरा गाँव वहाँ से उठा लेगा और नई जगह की खोज में निकल पड़ेगा। नई राह का नशा कंध के लिए कोई नया नशा नहीं है ; लेकिन दिउड़ू सांवता अपने पुरखों की तरह केवल बिन-चली राह चलने नहीं निकला था।

कुछ दिनों से उसने मन-ही-मन यह समझ लिया था कि अब मुझे अपनी स्त्री पुयू से वह प्यार नहीं रहा। पुयू उसकी आँखों में काँटे की तरह चुभने लगी थी। वह पुरुष ठहरा, वह मज़े करना चाहता है। किसान ठहरा, धरती गोड़ता है, भरपेट पीता है और उसके बाद संगी खोजता है। जीवन के क्रम में कभी एक दिन ऐसा भी आया था, जब वह पुयू को देखकर पागल

हो उठा था। उसे घर लाने में पल-भर की भी देर लगना वह सह नहीं पा रहा था। पर आज वे बातें भूली-बिसरी यादें हैं। वह मन को तोष-भरोस देता है कि पुयू अब वह पुयू नहीं है। इसके मुँह में वह हँसी कहाँ है? इसकी देह में वह रूप कहाँ है? इसे भीतर-ही-भीतर न जाने किस व्याधि ने ग्रस लिया है। दिनों दिन बुढ़िया-सी हुई जा रही है। और, पुयू का मन?—उसका वह मन भी सोलहों आने बदल चुका है। स्वामी को लुभाने की, उसे मतवाला कर देने की वह प्रवृत्ति अब उसमें ज़रा भी नहीं रही। उलटे, अब तो उसकी यह आदत हो गई है कि स्वामी आगे बढ़ के आगे में आ भी जाय, तो वह पीछे हटती हुई खिसक जाती है।

छाती पर एक बच्चा चिपका रहता है, जो दिन रात काँय-काँय करता रहता है। और वह आप है कि चौबीस घड़ी बिना काम के भी घर का कोई-न-कोई काम लिए बैठी रहती है। घर को एक बार झाड़-बुहार डाला और हाथ झाड़ लिये, सो नहीं। इतने से उसका काम नहीं चलता। उसके लिए तो और भी सात बार बुहारना एकदम ज़रूरी होता है। एक बार लीपने से घर शुद्ध नहीं होता, तो दिन-भर गोबर-माटी लिए बारंबार लीपने में ही लगी रहती है। लेकिन दिउड़ू साँवता का मन भी तो आखिर आदमी का ही मन ठहरा? आखरी फ़ैसला उससे झटपट हो नहीं पाता। कभी वह इतना तक तय कर चुकता है कि ना, पुयू से अब कोई प्यार नहीं है; पर फिर अनजाने ही मन नरमा-नरमा आता है, सोचता है सब सुधर जायगा, सब ठीक हो जायगा, पुयू फिर मेरे सँग-सँग वन-वन डोलती फिरेगी, सँग-सँग नाचती फिरेगी, गाती फिरेगी। यह भली धारणा मन में कोई बहुत बार नहीं आती। अधिक बार तो मन की भीतरी गहराइयों से विद्रोह और विराग ही उभर-उभर आता है। नींद खुलते ही कैसी तो चिढ़-सी लगने लगती है, मन चिड़चिड़ा हो उठता है, खामखा दोष देखने लगता है, चुन-चुन कर उसकी बुराइयाँ निकालने लगता है, आलोचना करने लगता है। और कभी-कभी मन के ऊपर किसी अनजाने कारण से यकायक किसी

विषाद, किसी हाहाकार का भार लद जाता है। गिरस्ती ज़रा-सी भी नहीं रुचती, घर ज़रा भी नहीं सुहाता। फिर तो दिउड़ू सांवता दारू के भांड़े के होंठों से होंठ लगाकर ही शांति पाता है। और नशे की इस डगमगाहट में जब वह घर से बाहर निकलता है, तब उसकी निगाह औरों पर पड़ती है। अपने छोटे से परिसर में जो कुछ भी उसे आसानी से मिल पाता है, उसी से अपना मन भुला लेता है वह। बाळमुंडा की स्त्री सोनादेई के घर के आगे वह अनेक बार आवा-जाही करता है। उसके दिन इसी तरह बीतते जा रहे हैं। शांति उसे मिल नहीं पाती।

मौसम-मौसम की अपनी-अपनी अलग-अलग तरह की चिन्ताएँ होती हैं। उतरते फागुन की पहाड़ी हवा ज्यों-ज्यों बासंती मनोभाव सींचती जा रही थी, देह में ज्यों-ज्यों रस बढ़ता आ रहा था, त्यों-त्यों दिउड़ू सांवता की विकृति भी बढ़ती जा रही थी। जब तक खेतीबाड़ी की भीड़भाड़ थी, रक्तमांस के ऊपर श्रम का दबाव था, टपाटप पसीना चुआ करता था, तब तक तो मन के विकार भी श्रम-स्वेद की राह भाप बन-बन कर उड़ जाया करते थे। फिर चैती धूमधाम आई, खेतीबाड़ी के काम बंद पड़ गए, और चारों ओर दारू-ही-दारू और देह के भोग-ही-भोग नज़र आने लगे। अब मन के विकार भी फुंफकार उठे और दिउड़ू सांवता को राह बताने लगे कि चल चल, बिनचली राह रौंद चल। बेराह की राह के निराले में ही प्रवृत्ति चरितार्थ करने के नीरव आयोजन हुआ करते हैं। विकारों के इसी तगादे पर दिउड़ू सांवता ने गांव की पंचायत में चैत के कार्यक्रम का फ़ैसला किया था।

बंदिकार! चैत के तेवहार में आदमी पशु बन जाता है। दारू के नशे में विवेक छूमंतर हो जाता है। वहां भले-बुरे की परख नहीं होती, वहां अनुभूति अनुभूति नहीं होती। होता है खाली अपने-आपको भुला देने का नशा, होता है केवल मोह। चैती चक्कर में निकली पराए गांवों की कंध लड़कियां राह चलते नज़र आ जाती हैं। हलके नशे में उनकी आंखें टलमल होती हैं। नाना प्रकार की आलोचनाओं से भरे गीत गाती हैं

वे। पहल पहले नारी की सुगबुगाहट ही करती है। उसके बाद ही इस पक्ष से उसका उत्तर आप-ही-आप फूट निकलता है। जानवर समय खोजते हैं। चाँदनी रातों को जब टहाटह उजेला होता है, तब पतरेंगा चिड़ियों के जोड़े आपस में सवाल-जवाब की झड़ी लगाते हैं। डाहुक (कलकंठ) सुबह शाम के झुटपुटे देखते हैं। परेवों-परेइयों को उदास दुपहरियाँ रास आती हैं। बाघ-बाघिन को अधरतियाँ भाती हैं। एक आदमी ही है, जो समय-कुसमय नहीं देखता। उसे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार और अपनी अपनी कल्पना के अनुसार हर समय और हर परिस्थिति पट जाती है।

बंदिकार की राह में वे मन की उन्मतता में लगभग दौड़ते ही चल रहे थे। गीतों से गीतों के जोड़ मिलाते चल रहे थे। गीत गाते-गाते मन की गरमाई से देह भी गरमा जाती है। कूदते-फाँदते, नाचते-गाते, 'होइ-होइ' करते वे कंध लड़कियों के झुंडों की ओर बढ़-बढ़ जाते। कंध लड़कियों के झुंड तितर-बितर हो-हो जाते। लड़कियाँ जिधर-तिधर भाग खड़ी होतीं। और फिर चट्टानों की ओट से, जंगल के भीतर से उनके ठिठोलियों-भरे गीत सुनाई पड़ते।

गीतों के देश में पैंड़ियों-पैंड़ियों दौड़ते-चढ़ते वे बंदिकार पहुँचे। रात में वहाँ महा-समारोह के साथ भोज-भात और नाच-रंग हुआ। वहीं अगले दिन शिकार को निकलना तय हुआ। दिउड़ू साँवता खुश था कि हारगुणा साँवता गाँव की नाक रखना जानता है। कि हारगुणा का मन बड़ा ही उदार है। उसका अपना बहनोई होने के लिए हारगुणा कोई अनुपयुक्त नहीं है। हारगुणा की दारू छक-छककर पी लेने और मन-माने मौज-मजे मना लेने के बाद दिउड़ू साँवता अब हारगुणा की प्रशस्ति गाने बैठा था।

कंध देश की परंपरा के अनुसार शिकार को निकलने के पहले 'चिता-गुड़ी' देवता की पूजा हुई। पुरोहिताई शळपू डिसारी ने की। चितागुड़ी, 'चितामा' या 'सीतामा' देवी सभी प्रकार के कष्टों, क्षतों, अनिष्टों और हानियों से कंध जाति की रक्षा करती हैं। इसीलिए शिकार को निकलने के पहले 'चितामा' के आगे मुरगी के जोड़ा चूज़े मार कर और कोरवा

भर दारू ढाल कर वन की विपदाओं से रक्षा पाने की मनौती कर जानी होती है। तीन हाथ ऊँची नन्ही-सी मँड़ैया के भीतर सिंदूर-पुते खुले पत्थर की चितामा देवी है। उनके आगे डिसारी ने सभी के लिए प्रार्थना की। कहा—"हम तेरे बेटे हैं। विपत्तियों से हमें बचाना। जब हम वन में पैठें, तब हमारे सिरों में बेलें न उलझें, पावों में काँटे न चुभें, बदन में कीड़े डंक न मारें, साँप न डँसें, हमें बाघ न खाएँ!" पूजा समाप्त करके वहाँ दिया जलाकर सभी शिकार को निकल पड़े।

वहाँ इस बात का कोई बिलगाव नहीं कि कौन म्ण्यापायु (मिणिया-पायु) का है और कौन बंदिकार का। वहाँ किसी का भी अलग अस्तित्व नहीं है। आगे-आगे शिकारियों की भीड़ गरजती हुई, बाजे बजाती हुई, बढ़ रही है। पीछे-पीछे नाचती-गाती हुई छोकरियाँ चल रही हैं। सामने मंजिल है। उसके ऊपर और उसके भी ऊपर बाघडंगर पहाड़ है।—सब गडमड होकर एक में मिल गए हैं; शेष रह गई है एक मूर्च्छना मात्र।

उस सिर चकरानेवाले भँवर के भीतर उखड़ी-उखड़ी-सी बही जा रही है पिओटी। कळिंगी तलदेश[1] की आदत के भरोसे सिर्फ दारू पीने की होड़ में वह सभी को मात करती है। गीत गाना उसे नहीं आता। गाना अगर जानती भी है, तो तेलुगु देश के गोष्ठी-गीतों के एकाध पद भर ही जानती है। गीत न जानने पर भी औरों के गाने पर केवल टेक की सुर पकड़ कर गला जरूर देती है और खूब हँसती है। धीरे-धीरे उठती उठानों वाली इन कंकरीली-पथरीली राहों में इतनी-इतनी दूर चलो तो देह बोझ जैसी लगती है। दारू के नशे में भी देह बोझ-जैसी लगती है। कभी-कभी कोई संगिनी चकित होकर पिओटी को निहारने लगती है, उसकी बेहाल होती आ रही हालत को लक्ष्य करने लगती है। वन-देश की कंधुणियाँ इतनी दारू नहीं पिया करतीं। डंबँऽ जाति की स्त्रियों के सिवा यहाँ और कोई भी इतना नहीं पीती।

---

१ लेखक का तात्पर्य शायद मैदानी तैलंग-देश से है और प्रमादवश ही शायद उसके बदले कळिंगी तलदेश छप गया है।—अनु०

डूँगर ज्वारों की तरह एक के ऊपर एक उठते चले गए हैं। सभी के साथ पिओटी भी ऊपर चढ़ गई ।

छोकरियाँ तो उसे आदर से हाथों-हाथ लेती हैं; पर छोकरे उसके पास फटक नहीं पाते। उसकी भाव-भंगी ही कुछ ऐसी विचित्र है ! रूप-भेस में उसके कंधुणी होने के बावजूद उसकी भाव-भंगी के इस बेबुनियाद परदेसी ढाँचे को भेदकर कंध छोकरों को उसके मन में उतर पाने में अभी समय लगेगा। समय तो अभी यह जानने में ही लगेगा कि उसे क्या सुहाता है और क्या नहीं, कि गतागत उससे कितनी दूर है, कि उसकी आंतरिक रहन क्या है। कोई भी कंध उसे एक बार देख कर ही यह जान ले सकता है कि वह एक विचित्र जंतु है । यह विचित्रता एक नई चकाचौंध जरूर पैदा करती है ; पर चैती वन-अभियान सिर्फ उस चकाचौंध का आनन्द पाने के लिए नहीं होता ! यह तो घुल-मिल जाने का तेवहार है। फिर भी जाने क्यों, उससे घुल-मिल जाना कैसा तो बेतुका जान पड़ता है ! लोग उसे देख भर लेते हैं और चुपचाप शिकार की टोह में किसी और दिशा में निकल पड़ते हैं।

पहाड़ के पाखे में एक जगह एक खड्ड तले के पाताल को भेदता उतरता चला गया है। कुछ दूर और निकल जाने पर उस ओर एक और पहाड़ है। इस पार के पहाड़ की खड़ी दीवार और अतल-भेदी खड्ड के बीच में एक पतली-सी चट्टानी पड़छत्ती-सी किनारे-किनारे निकल गई है। उसके पीछे की ओर पहाड़ अचानक उठकर फिर उठता ही चला गया है। आगे की ओर आवे पर से मुड़ गया है। उसके सामने जंगलों से भरा वही पाताल है। आवे पर से आगे को झुकती चली गई चट्टानों के भी और बहुत ऊपर से यहाँ-वहाँ कितने ही झरने सहस्रधार होकर गिर रहे हैं। अनेक जल-प्रपात अनेकानेक इन्द्र-धनुषों से सजे-धजे सामने की ओर झूल रहे हैं और पैड़ियों-रैड़ियों चोटें खाते हुए तले के उस पाताल में कूदे पड़ रहे हैं। चारों ओर गहन वन है और सामने यही दृश्य है। उस पाताल में जगह-जगह तलहटी के पठार उभरे हुए नजर आ जाते हैं। और उन पठारों

के तले, और तले, कितने ही पहाड़ सो-सो गए हैं। दूर, बहुत दूर, नीचे के समतल मैदानों का नीला चक्रवाल है।

कितनी ही लड़कियाँ वहीं बैठ रहीं। साथ के पुरुष पाँत लगाए नीचे से चढ़ आते और ऊपर के पहाड़ों की ओर बढ़ जाते। जिसे जहाँ जाना था, चला गया। शोर-गुल कम पड़ गया। रह गईं वे ही कुछेक लड़कियाँ, जो वहाँ बैठ रही थीं। शिकार के नियम को मानकर सभी बिलकुल अशब्द चुप्पी साधे थीं। अकेली पिओटी ही बात करती रही। सभी ने मना किया, पर उसने किसी की एक न सुनी, बकती रही। पेड़ों में धुएँ के रंग के और धुएँ से भी कोमल नए पल्लव निकल आए थे। हवा में वन-फूलों की सुगंध तिरती आ रही थी। पास ही नाना रंग के वन-फूल खिले थे। झिलमिलाते पानी के आसपास की जगहों में भाँति भाँति की, जाति-जाति की, ककोड़ियों (फर्न-जातीय वृक्षों) का जंगल था। पीठ की ओर पहाड़ पर कोमल पत्तों की छाजन वाले पतले छरहरे बाँसों का जंगल जाफरी सा बुना हुआ था। बाँसों का यह भीषण गहन वन 'झोले' के साथ ही खड्ड में उतरता हुआ शायद पाताल तक चला गया है। पाताल के उस पार के पहाड़ पर जंगली केलों का अगम वन है। उसी वन के दृश्य में पिओटी की आँखें घुली जा रही थीं। सभी के साथ न जाने किस घटना की राह देखती बैठी-बैठी उसे माँदगी-सी लगने लगी थी। जी उचट रहा था। धीरे-धीरे कम पड़ती हुई उसकी मतवाली अधकचरी बकवास बन्द हो गई। पिओटी सो पड़ी।

अड़तालीस

शिकार की बाट जोहने में समय काटे नहीं कटता। प्रतीक्षा चाहे कैसी भी हो, अगर अवधि लम्बी हुई, तो उसका भार सहा नहीं जाता। उसका दबाव दम घोटने लगता है। समय की धार कान पातकर दबे पाँव बहती है। हाँ, इतना जरूर है कि शिकार में पुरुष अगर नाकाम रहें, तो गंदे बाल और कीचड़ की गोली बनाकर उन्हें चलाने का अधिकार स्त्रियों को होता है। उन्हें यह अधिकार भी होता है कि गाँव के निकास के दरवाजे पर, कपड़े से होते समय काम में लाए गए चीथड़ों की गठरी लटका कर पुरुषों को उसके तले से सिर नवाकर चलने को मजबूर करें। लेकिन वह सब तो बाद की बात है। अभी तो शिकार करने निकला हुआ आदमी यही समझता है, कि सफलता उसके आँचल के पल्ले में गाँठों बँधी है।

वे नित्य की जानी-पहचानी प्रकृति को निहारती रहीं। उन्हीं पुरानी जानी-पहचानी चिड़ियों का चहकना सुनती रहीं, जिन्हें वे हजारों बार देख-सुन चुकी थीं। बहुत सारा समय इसी तरह कट गया। इन दृश्यों का कोई नया अर्थ उनकी निगाहों में नहीं था।

पिओटी उसी तरह सोती रही। कितनी ही लड़कियाँ आस-पास से फूल-पत्ते बटोरती रहीं। धूप ढल पड़ी। जगमग आलोक ने वन का रंग बदल दिया। जंगल के भीतर धूप-छाँह की तिलचावली के अनगिनत कुंज खुल पड़े। कहीं सियाड़ी की बेलें छाँह बिछा रही थीं, तो कहीं जंगली जुही और चमेली के गुच्छे झूल रहे थे। छोकरियाँ ऊब से छटपटा रही थीं। ऐसे में ही ऊपर की ओर से दिउड़ साँवता जाने क्या-क्या बकता-चिल्लाता उतर आया। छोकरियाँ चौंक पड़ी। दिउड़ के मुँह से अटपटी बेतुकी बातों की झड़ी लगी थी। उसकी आँखें नशे में लाल-लाल हो उठी थीं। पीछे के पहाड़ की ढलान के ऊपर एक जगह तिरछी भंगिमा में खड़ा हुआ वह छोकरियों को ठीक सिर के ऊपर से निहारता रहा।

इतनी लड़कियों को एक साथ देख कर वह चकित हो उठा था और मुँह बाकर ताकना ही रह गया था। सहलाती-गुदगुदाती हवा उसकी देह से टकरा के बजती हुई वही जा रही थी। नीचे बहते डुड़ुमा[1] (प्रपात) के जल का झर-झर झम-झम झमा-झम, झर-झर झम-झम झमाझम शब्द उसके कानों में गूँज रहा था। चारों ओर अतलभेदी खड्ड-खात, खाल-पाताल, गहन वन और पाँतों के पाँत पहाड़ नजर आ रहे थे। नीचे विह्वल हो उठी छोकरियाँ थीं और ऊपर ढलान पर उग्र-उद्धत पशु की मूर्ति बना दिउड़् साँवता। उसके लम्बे-लम्बे बाल बिखरे छतरी-से बने फड़फड़ा रहे थे। काँधे पर बन्दूक और हाथ में बरछा तना हुआ था। सब कुछ ठीक वैसा ही लग रहा था, जैसे चलचित्रों के बीच स्वल्प समय में बँधा हुआ कोई छोटा-सा दृश्य लगा करता है। अलबत्ता उस दृश्य में एक आध्यात्मिक संकेत रहा करता है। वह यह कि धरती के लाल और मिट्टी के पुतले इस मनुष्य की मोटी-मोटी उँगलियों के बीच से उसके सूक्ष्म भाव फिसल-फिसल कर भाग-भाग जाया करते हैं। पहाड़ में अगर कुछ आ पाता है, तो उसके दूसरे पहलू का अर्थ मात्र ही, जो मोटा और कर्कश अर्थ होता है। इस मोटे और कर्कश अर्थ में और कुछ नहीं होता, होती है उग्र पाशविकता। और नंगी प्रकृति की छवि उसी की पीठिका बनती है, पृष्ठभूमि बनती है। यह छवि मदांध तामसिक पशु-मन की छवि है, जिसका आधार रूढ़ मौलिक रंग का है। यहाँ भाव है केवल भय, क्रोध, काम, हिंसा।

दिउड़् साँवता के मन ने अपना कर्म-पथ निर्धारित कर लिया। आया तो था वह तले के झोले में अकेले उतर कर हिरन मारने; लेकिन उसका उद्देश्य राह काटकर नीचे जुटी धाङड़ियों की ओर मुड़ चला। एक विराट्

---

१ पुराने विजाग और नए कोरापुट जिलों के बीच में पड़नेवाले जैपुर राज्य (देसी राज) के जैपुर शहर से तीन चार मील की दूरी पर डुड़ुमा का अत्यन्त ही कमनीय जल-प्रपात दर्शनीय है। उसी के नाम पर 'कुभी' भाषा में जल-प्रपात मात्र की संज्ञा 'डुड़ुमा' हो गयी है।—अनु०

हास हँसता वह नीचे की ओर अंधाधुंध दौड़ पड़ा। उसका उद्देश्य अत्यन्त सुस्पष्ट था।

उसे देखकर सभी धाङड़ियाँ आपस में बहस करने लग पड़ी थीं। यह नहीं कि उसके हाव-भाव समय के अनुपयुक्त थे। नहीं, ये हाव-भाव तो चैती अभियान के अंग ही हुआ करते हैं। वनवासी पुरुष की उद्दाम पाशविकता के साथ वनवासिनी नारी का उग्र सहयोग रहता ही है ; पर बात यह थी कि धाङड़ियाँ झुंड में थीं। झुंड में रहने पर परस्पर की ईर्ष्या एक दूसरे की काट करती है और मन में एक शृंखला लाती है। इसी शृंखला का एक और नाम है आँखों की लाज। समाज ने मन को रोकने के लिए, धकेल कर पीछे हटा देने के लिए, बहुत सारे अंकुश, बहुत सारे शासन, रच रखे हैं। लेकिन सब के ऊपर अगर कोई अंकुश, कोई शासन है, तो वह यही है।

दिउड़ साँवता झपट आया। सभी के मन में भय समा गया। दस जनों के आगे खुल्लम-खुल्ला अपने संभ्रम को बचाने की लोग-दिखाऊ कोशिश में वे चिल्लाती हुई जिधर-तिधर बिखर गईं। अकेली-अकेली हो लेने के बाद आड़ों-ओटों से उनकी हँसी सुनाई पड़ने लगी। फिर एकट्ठी होकर उन्होंने अपनी जगहें बदल लीं। दिउड़ साँवता पुकारता हुआ दो डग इधर तो चार डग उधर दौड़ता रहा और अन्त में थककर एक चौकोर पत्थर के ऊपर धसककर बैठ रहा। शिकारी जानवर के मुँह में आया शिकार उसे चकमा देकर निकल जाय तो उसे जैसा क्षोभ होता है, दिउड़ साँवता को भी कुछ वैसा ही क्षोभ महसूस हो रहा था। नीचे पाताल विराट् काले भाँड़े की तरह मुँह बाए था। पाताल के मुँह के कगार पर बैठे दिउड़ साँवता ने बनैले जानवर की तरह सोंयें-सोंयें उसाँस छोड़ी। न जाने कितनी दूर पीछे के किसी घने वन के भीतर से कोई गीत उसे मुँह चिढ़ाता-सा सुनाई पड़ रहा था। दिउड़ साँवता ने अपनी गरदन झटक ली, रूखे बालों को पीछे की ओर फेंक कर कुछ सँवार लिया और साँड़-मेंढ़े की तरह आँखें

तरेर कर उसी ओर देखने लगा। उसके नथने फन-फन फड़क रहे थे, मानो कोई बनैला जंतु हवा की गंध से कोई टोह ले रहा हो।

शायद इसी पत्थर पर बैठ कर महाबल बाघ सुबह की धूप सेंका करता होगा, सहस्रधार जल-प्रपात के इन्द्र-धनुषों को निहारता होगा। इसी पर बैठ कर क्या तो बाघ सुबह-सुबह अपने हाथ देखता है, अपने हाथ में अपने पूरे दिन के भाग्य की छवि देखता है और उसके लिए प्रस्तुत होता है। लोग ऐसा ही कहते हैं। उस पत्थर के पास ही नीचे बाघ की बड़ी-बड़ी गोल-गोल मेंगनियाँ पड़ी थीं। दिउड़ू ने अत्यन्त अवज्ञा का भाव दिखाते हुए उन्हें पैरों से तोड़-तोड़ दिया और नीचे लुढ़का-लुढ़का दिया। बाघ लगने के दिन अब जा चुके हैं। धूम-धाम के दिन खतम हो जाने पर फिर बघलगी के दिन लौटेंगे। कंधे की बंदूक छाती में दंभ ला रही थी।

कुछ देर यों ही बीत गई। अब ऊपर से शिकारियों की आवाजें नहीं आ रहीं। नीचे के खड्ड से मोरों की केका ऊपर को तिरती-उभरती आ रही है। नली-बंदूक सँभाल कर दिउड़ नीचे की ओर कूद पड़ा। उसकी आँखें पेड़ों-पौधों, झाड़ियों-झुरमुटों और कुंजों-लताओं के तले-तले कुछ ढूँढ़ती चल रही थीं। उसी झोले की ढलान के अँधियारे के भीतर से कई प्रकार के बड़े जानवरों के चलने-फिरने की आहट आई। इस आहट ने दिउड़ के उद्वेग को और भी बढ़ा दिया। नीचे पहाड़ की पाख की ओर से जानवरों के हुशकाए जाने की आवाज सुनाई पड़ी। दिउड़ फिर पशु हो गया। सिर की शिराएँ और पेशियों की गाँठें टनक उठीं। देह और देह के सारे अंग धनुही की तरह जरा-जरा से बाँके हो आए, मानो वह जंतु बन कर जंतुओं पर फांद कर झपट्टा मारने वाला हो। उसकी चाल में आश्चर्यजनक ढंग की छिपी-छिपी-सी सतर्कता थी और आँखों की चितवन तथा मुँह की भंगी उसकी आदमी की नहीं; बल्कि रक्त-मुँहा बाघ की थी।

अचानक किसी कंदरा से बड़े बाजे बज उठे। हो-हल्ला बढ़ा। दौड़े आ रहे जानवरों के पैरों की आहट सीधे ऊपर को उठते जाने के बजाय करवट की ओर मुड़ कर एक तरफ को चली गई। आवाजें धीरे-धीरे

कम पड़ती गई। सूखे पत्तों के ऊपर अंजुली उँड़ेलते हुए भागे जा रहे तिरते बादलों की टप्-टप् टप्-टप् बूँदियों की तरह।

इधर-उधर टोह लेते हुए दिउड़् सांवता ने देखा कि एक पेड़ की जड़ के पास के पत्थरों की फाँकों से एक छोकरी धीरे-धीरे उठकर खड़ी हुई। कहीं कोई और नहीं था।

जानवर भाग गये। बाजे के शब्दों का शोर किसी एक ओर को खिसकता हुआ जाने कहाँ जाके बिला गया; पर दिउड़् सांवता इन बातों से दुखी नहीं हुआ। धीरे-धीरे खिंचता-हुआ-सा वह उसी छोकरी के पास गया। उसके शिकारी-सुलभ सतर्क-गंभीर मुँह के ऊपर धीरे-धीरे स्वागतम् की मधुर मुसकान खेल गई। उसका सब-कुछ मधुर-ही-मधुर हो उठा। केवल आँखों की चितवन में वही भूख बनी रही। यह भूख भिखारी की कमजोर भूख नहीं, शिकारी की वह शहजोर भूख थी, जिसमें अपना सारा स्थूल व्यक्तित्व, हाड़-मांस रक्त-मेद सब-कुछ होम हो जाता है।

पिओटी चौंक पड़ी। उसके संग की सखियों में से कहीं कोई नहीं थी। किसी का नाम भी याद नहीं था कि पुकारती। न जाने कब से वह सोई पड़ी थी। सभी उसे अकेली छोड़कर जहीं-तहीं भाग गई थीं। बाजे बजे और गोलमाल मचा, तो पिओटी की नींद खुल गई। आँखें खुलीं तो देखा कि कोई जंगली या शिकारी एक-एक डग तोलता हुआ उसी की ओर बढ़ा आ रहा है। उसने अपने आपको यथासाध्य संयत कर लिया। बाहर से देखने पर उसमें भय का कोई भी लक्षण दिखाई नहीं पड़ता था। कळिंगी तलदेश[1] में पाली-पोसी जाने के कारण वह अपने आपको यथेष्ट सभ्य बना ले सकी थी। पुरुष-वर्ग से अपरिचित न होने के कारण उसके लिए ऐसे अवसरों पर अप्रस्तुत हो उठने या घबरा उठने की कोई बात ही नहीं थी।

लेकिन पिओटी और दिउड़् के मन की गहराइयों और दोनों की देहों

---

१ पृष्ठ ३२७ की पादटीका देखिए।

ने परस्पर-दर्शन के साथ-ही-साथ भेंट-मुलाकात के उस वन्य पृष्ठपट का अनुभव-दर्शन भी कर लिया था। स्थान, काल और पात्र, एक विशेष उद्देश्य के लिए तीनों ही अनुकूल थे। यह वही उद्देश्य था, जिसके लिए स्त्री अपने-आपको बलि चढ़ाती है, पुरुष अपने-आपको बलि चढ़ाता है। बलि का भोज्य बनते ही उसको मत्तता के आनन्द का अनुभव होता है और बलि का उद्देश्य समझ कर चिरंतनी प्रकृति उसे हासिल करने के लिए कविता-कला रचती है। स्त्री-पुरुष समझते हैं कि यहाँ उनका शाश्वत प्रेम है। पर प्रेम की ऐसी समझ के भीतर मन की बात दाब रखने के लायक संस्कार दिउड़ू साँवता के पास नहीं था। हाँ, पिओटी के पास जरूर था। बाहर के उस मैदानी देश के संस्कार में पसीने से लथपथ नंगी देह का कोई स्थान नहीं होता। दिउड़ू साँवता देख रहा था कि यह स्त्री तो अत्यन्त सुन्दर है। सचमुच उस स्त्री की ढीली शिथिल वेशभूषा के भीतर से जो वस्तु दीख रही थी, वह थी अत्यन्त काम्य और कमनीय नारी-देह। दिउड़ू साँवता गंध और स्वाद की अपनी धारणा में उस देह को मन-ही-मन ग्रहण कर ले सका था। अर्थात् वहाँ तक, जहाँ तक कि वह उसे समझ सकता था। झींगा मछली, लाल माटा या माइरिका, हनूमान बंदर के माँस, कच्ची मधुपापड़ी, महुए की उत्कट दारू आदि के रसों-गंधों की कोटि में उसे रख कर कल्पना में लगभग अपना भी चुका था उसे। हवा में उड़ती आती खाद्य की महँक से उसकी भूख बढ़ जाया करती है। उधर पिओटी यह देख रही थी कि अपनी तुलनात्मक स्मृतियों के उसके भंडार में यह केवल एक अधनंगा कंध ही तो है! रामैया,—सिङन्ना, पेंटैया,—सोमैया—ना, ना, यह वह चीज तो नहीं! ढीले पाजामे के ऊपर कमीज, पाँव नंगे, जरी की किनारी वाला उपरना, कंधे पर तौलिया, सिर पर पगड़ी,—छोटी लुंगी, बदन में कोट, हाथों में सोने के कड़े, कानों में कुंडल, सिर पर जरीदार पग्गड़, मुँह में लम्बा काकानाड़ा सूठा[1]—ना, ना, यह वह चीज नहीं,—वह नहीं,—वह नहीं!—मन का ऊपरी, बाहरी

[1] काकानाड़ा की बनी लंबी तैलंगी बीड़ी या चुरुट।

भाग मानो एक ही रट लगाए बके जा रहा हो कि यह वह नहीं, यह वह नहीं!—कूँई, कूँई (मेरा मन राजी नहीं है),—कौन है यह?

पर उसी मन के पिछले भाग, भीतरी भाग में कोई और ही बात गूँज रही थी। वहाँ, जहाँ अनजाने में परछाईं आईने में पड़ जाती है। वहाँ केवल एक ही भावना थी—बिल्कुल निराला है, निर्जन है, सब-कुछ सुन्दर-ही-सुन्दर है, पुरुष आया है, मैं स्त्री हूँ!

दिउड़् साँवता की अग्रसर बहादुरी को आधे रास्ते में ही रोक कर उसने आगे बढ़ कर, आप ही पहल करके पूछा— "मेरे संग के लोगों को देखा है?"

"नहीं, मैंने तो नहीं देखा।" फिर कुछ रुककर दिउड़् ने कहा—"अकेली पड़ गई?" पिओटी ने हँस दिया। कहा—"अब अकेली कहाँ रही? तुम तो हो ही।"

"मैं तो शिकार को निकला हूँ। यहाँ बैठा तेरी रखवाली थोड़ा ही करूँगा?"

बे-मन-की हँसी हँसकर पिओटी ने जवाब दिया— "शिकार तो करोगे, पर कहीं एक ठौर पर बैठोगे नहीं, तो क्या शिकार के सारे जानवर तुम्हारे पीछे-पीछे डोलते फिरेंगे?"

दिउड़् ने कहा— "जगह चुनने को तो भटकना ही पड़ेगा।"

पिओटी ठठाकर हँस पड़ी। बोली—"ओहोह, जान पड़ता है, तुम जरा पीछे से आए, सभी जगह लोग बैठ चुके हैं! यही जगह शायद खाली नजर आई। ठीक है, यहीं बैठ रहो ना, जानवर जो निकलेगा—"

"तुम शिकार करती हो क्या?"

"मैं? देखते तो हो कि मेरे पास नली-बंदूक नहीं है। अगर तुम्हारे जैसी इतनी बड़ी-सी नली होती—" पिओटी हँस पड़ी। अवस्था कुछ सहज-सी लगी।

दोनों ने अपने सुख-दुख की बातें कीं। दिउड़् साँवता छटपटा रहा था। पिओटी बातें बना-बना कर उसका भूत झाड़ देना चाह रही थी। उसका

नशा उड़ा देना चाह रही थी। अपने मन के कलरव को छिपा न सकने पर दिउड़ ने आँखें मटका कर कहा—"आओगी मेरे संग?—"

पिओटी होंठ काटती हुई हँसी। दिउड़ की आशा बढ़ गई। दो डग आगे और बढ़ कर कहा—"आओगी ?"

पिओटी वैसे ही हँसती रही। कहा—"तुम्हारे देश की रीति शायद यही है कि जंगली राहों में किसी औरत या लड़की को अकेली पाकर पूछते हैं—आओगी मेरे संग ? आओगी ?"—मुँह बिचका-बिचका कर सुर बिगाड़-बिगाड़ कर पिओटी 'आओगी, आओगी ?' दुहराती रही, और हँस-हँस कर लोटपोट होती रही।

दिउड़ अप्रस्तुत हो उठा। अब उसका दम चुकने लगा था। सोचा, कुछ कहे बिना अब रहा नहीं जायगा ; पर कहे तो क्या कहे, उसे कुछ कहना आता ही नहीं था। फिर पूछा—"धुँगिया पिओगी, धुँगिया ?"

पिओटी बोली—"मैं धुँगिया नहीं पीती।"

इस पर दिउड़ कट गया। पीछे हट गया। उसे भान हुआ। अपने भान का ध्यान हुआ।—चंत के "बेन्ट'ऽ" (शिकार) का आदर-संभाषण यह नहीं होता।—यह तो कंध-शिष्टाचार के बाहर की बात हुई। सोचा, यहाँ से उठ चलना ही ठीक है। दुनिया में और लोग नहीं हैं क्या ? बड़ी ऐंठ, बड़ी अकड़ दिखा रही है यह छोकरी। मन में दुनिया-भर का द्वेष भर-भर कर वह इस खड्ड से निकलना चाहने लगा ; लेकिन छलांग मार कर ऊपर फांद पड़ने की जितनी ही कोशिश करता, उतना ही और भी नीचे धँसता जाता। उसकी इच्छा हो रही थी कि वह भी मान-अभिमान दिखा कर, रूठ कर, बंदूक कँधियाए और यहाँ से कहीं और चला जाय ; पर वह देखो, पिओटी उधर, उस तरफ पेड़ को अँकवारे धरे खड़ी है और गीत गुनगुना रही है ! उसका एक पैर थरथरा रहा है, धरती को थप-थपा रहा है। दोनों हाथ ऊपर उठाए वह अपने बाल सँवार रही है। उसकी देह भी कँपकँपा रही है।—छलकती-छलछलाती नारी-देह, न जाने

देती है, न पास आने देती है। मानो केवल उसे बेकल-बेताब करने के लिए ही समान दूरी पर जबरदस्ती अटकाए रख रही हो।

पिओटी तो केवल उसे मोहने के फेर में थी। एक-पर-एक मोहिनी माया उसकी ओर फेंक रही थी। केवल आभासों-इंगितों के बल पर वह उसके मन में तहलका मचा रही थी। पिओटी कानी उँगली से कोई अंग खुजलाने लगती और उधर दिउड़ साँवता की छाती पर जैसे घन की चोट पड़ने लगती! पिओटी अपनी देह जरा बाँकी कर लेती और दिउड़ साँवता के मुँह पर जैसे तपती लू की झुलसाती लपट फिर जाती! मुँह सूख जाता। पिओटी एक ओर को जरा-सा सरक जाती और कोई बीसेक हाथ दूर से दिउड़ साँवता की गरदन उसकी ओर मुड़ जाती।

इसी तरह कुछ देर बीत गई। सिर के ऊपर किसी डाल पर चिड़ियों का एक जोड़ा कहीं से आकर बातें करने लगा। दोनों ही छोटी-छोटी चिड़ियाँ बड़ी सुन्दर थीं। लाल लाल, खूब पकी ईंटों की तरह लाल लाल। दोनों के पंख फड़फड़ाते ही मानो आग की दो लवें जल उठतीं। पिओटी उन्हीं की ओर ताकती उनका खेल देखने में मगन हो गई। मानो सचमुच ही अपने-आप को कहीं बहुत पीछे डाल आई, मानो सचमुच ही अपने आपको भुला डाला। उसके अनमने हाथों की उँगलियों ने न जाने कब उसकी पीठ पर दो मोटी-मोटी तैलंगी वेणियाँ झुला डाली थीं। उस पार सहस्रधार जल-प्रपात का झर्झर मर्मर गाए जा रहा था। सिर के ऊपर दो चिड़ियों का गिरस्ती का खेल चल रहा था। पिओटी सचमुच आधोआध डूब चुकी थी। दिउड़ साँवता पिओटी को ही निहार रहा था। इसकी हर अदा, हर चाल, हर चलन नई थी। और हाथों की पहुँच के कोई बहुत ऊपर वह थी भी नहीं। इसीलिए दिउड़ का जी हो रहा था कि लपक के उसे हथिया क्यों न ले! यह नरम-नरम-सी देह कितना अड़ेगी भला? प्रतिरोध करने की इसकी शक्ति होगी ही कितनी-सी? नरम देह, गरम देह; कोमल स्पर्श। रूखे-सूखे, रूखड़े-खुरदरे, पसीनों गँधाते आदमी के लिए यही देह

उपयुक्त आश्रय है ! बढ़ के जा धरने पर क्या कहेगी ? कहेगी क्या ? पर ना, साहस तो होता ही नहीं, बढ़ा क्या जाय ?

शिकार की बात दिउड़् के मन से साफ उतर गई थी। अपने जानते मन के उद्देश्य को भुलाकर वह अनजाने मन की कंगाल-पंचाक्षरी से पगला रहा था। उसका माथा चकरा रहा था। सोच रहा था क्या उपाय किया जाय, जिससे इस लड़की को खुश किया जा सकेगा !

अचानक कहीं से गोली चलने का ठाँय्-ठाँय्, ठाँय्-ठाँय् शब्द हुआ। यकायक बाजे बज उठे। मंजीरे खनक उठे। होइ-होइ-हो :! होइ-होइ हो :! लोग झुंड-के-झुंड इधर-उधर दौड़ पड़े। स्त्रियों के ऊपर पुरुषों के आनन्द के नारों की चीत्कारों की पिचकारी छूट रही थी। संग-संग नाच के बाजे, गीत, सीटियाँ,—महारोर मचा था। अकचका कर, अकबका कर, दिउड़् साँवता ने बंदूक कंधिया ली और उसी ओर को दौड़ पड़ा। पिओटी हँस पड़ी।

दिउड़् साँवता के चले जाने पर पिओटी ने देखा कि दिउड़् अपना बरछा वहीं छोड़ गया है। पिओटी ने बरछे को उठा कर हथेली पर तोल देखा, काफी भारी था। उसने बरछे को हाथों में लिया, ताना, कंधे पर डाला। बरछे के साथ अपनी चमड़ी का स्पर्श उसे बहुत सुखद लगा। जो इसे सँभालता है, जो इसे चलाता है, उसकी ताकत की माप है यह। जब तक यह बरछा उसके हाथों में है, तब तक उसे किसी का डर नहीं ! हाथों में एक लकुटिया भी हो, तो आदमी उससे साहस पाता है, और यह तो बरछा है ! हाथों में हथियार होने पर, जाने कहाँ से तो यह भावना आ जाती है कि मैं बली हूँ। लगता है, जैसे छाती और गरदन आप-ही-आप तनी जा रही हों और आदमी तमाम दूसरे लोगों को नीचे गिराता हुआ बढ़ा जा रहा हो। पिओटी यही सब सोच रही थी।

फिर वह लोगों की भीड़-भाड़ में जा मिली।

उनचास

उस दिन के शिकार में दो हिरनें और एक कुटरा हिरन मारी गई थीं। इससे सभी लोग महा-आनन्दित थे। अर्थी बाँधकर शिकारों को उस पर डाला गया, फूलों से ढँक दिया गया और लोग उस अर्थी को कंधों पर उठाए महा-समारोह के साथ गाँव को लौटे। पिओटी को यह सब बड़ा ही अच्छा लग रहा था। गोष्ठी-जीवन ने उसे अपना बना डाला था। वह सोच रही थी कि शिकार की सफलता में उसका भी एक भाग है। भाग सभी का है वैसे तो। सोच रही थी, खेती और शिकार, वन और वन के मौज-मज़े के इस जीवन का एक अपना अलग आनंद होता है। एक ऐसा आनंद, जो उस जीवन में बिलकुल नहीं था, जिसे वह पीछे छोड़ आई थी। रास्ते में सभी ने फिर दारू पी थी। छोकरे-छोकरियों ने फिर जी-भर नाचा था, फिर आपस की धर-पकड़ और अँकवारा-अँकवारी हुई थी। गाँव के पास 'झोले' में उतरने की सँकरी ढलवाँ राह पर जहाँ दोनों ओर पत्थर की दीवारें-सी खड़ी हैं और जहाँ जंगल-झाड़ बहुत घने हैं, वह पैर साधे उतरी आ रही थी कि किसी ने पीछे से आकर उसके कंधे को अपने भारी हाथों के बोझ से दाब दिया। पिओटी ने मुड़कर देखा, यह तो वही है, वही दिउड़ू साँवता।

"अच्छा किया नुनी, जो मेरा बरछा खोज के लिए आई। न जाने, कहाँ फेंक आया था। बरछा मेरा गोद्री-गाँव के असली लोहे का बना है। और जानती हो, एक बार बाघ ने चोट किया, तो यही बरछा उसके मुँह में घुसेड़ दिया था। बाघ जितना ही दौड़े, बरछा उसके मुँह का पीछा न छोड़े। हार मान कर बाघ भाग खड़ा हुआ। उसने बरछे को दाँतों से काट खाया था। यह देख उसके दाँतों की निशानी है।"—पिओटी को यह सोचने का समय नहीं था कि यह अनुभव दिउड़ू का अपना ही है या किसी और का। उसने बरछा उसकी ओर बढ़ा दिया। बड़ी रेल-पेल थी लोगों की।

छाँहों तले अँधेरा था। उस रेलपेल में यह आदमी उसकी देह-में-देह घिसता चल रहा है और न जाने क्या-क्या अनर्गल बके जा रहा है। न जाने कब दो बाँहें उसके कंधे पर टिक कर लटक गईं। पिओटी जान-बूझ कर भी अनजान सी बनी भीड़ के अन्दर चलती रही। देह उसकी कँपकँपा रही थी। फिर भी वह उसी तरह अनमनी-सी बनी बढ़ी जा रही थी। बड़ी देर बाद उसे ध्यान आया कि और लोग तो काफ़ी दूर आगे निकल गए हैं। भीड़-भाड़ अब नहीं है। साँझ पड़ने के पहले के झुटपुटे में बन के कुंजों में शान्ति उतर आई है। भीड़ अब नहीं है; पर फिर भी वह आदमी उसे उसी तरह पकड़े चल रहा है। पिओटी को देह का जो मोह था, वह टूट गया। छटपटा कर उसने अपने आपको छुड़ा लिया और भाग खड़ी हुई। पीछे से दिउड़् की पुकार सुनाई पड़ी—"भाग क्यों गईं? हे नुनी, भाग क्यों गईं?"

दिउड़् साँवता की देह ताप से जल रही थी। दल के भीतर एक बार और देखा-देखी हुई। पिओटी ने अपने-आप को सँभाल लिया था। उसके चेहरे पर और उसकी आँखों में अब फिर वही पुरानी दूर की, बहुत दूर की-सी, अचीन्ही चितवन थी। दिउड़् उसके आगे में सरक आया, मानो कोई गुप्त बात बतानी हो। कुछ भी न जानती हुई-सी, बिलकुल ही अनजानी-अचीन्ही-सी कळिंगी तलदेश[१] की छवि-छटा और चाल-ढाल से पिओटी ने उसे अभिभूत कर डाला था। उसकी चितवन से धक्का खाकर दिउड़् ने सिर गाड़ लिया और नीचे उतर आया, मानो हार मान ली। सोचा, इन छोकरियों की बात ही अजीब है। जब जो जी में आता है, करती हैं। जब तक इनका मन ठीक रहता है, तब तक खेलती रहती हैं, खेलाती रहती हैं। फिर न जाने क्या होता है कि साफ़ इनकार कर देती हैं। पैरों से ठेल कर परे कर देती हैं।

पिओटी के व्यक्तित्व की पुकार केवल मांसल वासना की पुकार नहीं थी। दिउड़् पूरा अभिभूत हो चुका था।

---

[१] पृष्ठ ३२७ की पादटीका देखिये।

"कोई त्रुटि तो नहीं हुई न, दिउड़् भाई ? हमारा गाँव कैसा लगा ?"—हारगुणा साँवता ने पूछा । दिउड़् ने हँस-हँस कर सिर हिला दिया ।

"तुम अकेले आए । छोकरियों को साथ क्यों नहीं लाए ? लाते तो बुरा क्या होता ? हमारे यहाँ की चलन में ऐसा क्या है, जिससे उन्हें असुविधा होती ? यह देखो, दिउड़् भाई, वह जो छोकरी है न, कपड़े-लत्ते तो कुछ-कुछ हम लोगों जैसे ही पहन रखे हैं ; पर भीतर से वह बिलकुल कळिंगी[1] है । सतरह बरसों तक परदेस में ही पली-पुसी है । कल साँझ को अपनी माँ के साथ यहाँ लौटी है । भली तरह बात करना भी नहीं सीखा है । हमारी हर बात पर क्या तो नाक-भौं चढ़ाती है । लोग ऐसा ही कह रहे हैं । और है भी यह ठीक ही, दिउड़् भाई । उस देस के लोग हम से कहीं बढ़-चढ़ के सुख में हैं, हम से बहुत बढ़-चढ़ के जानते-बूझते हैं । नाराणपाटणा की राह में मेरी ननिहाल पड़ती है । वहाँ जाकर मैंने बारंबार यही बात देखी है । क्या करें, हमारी तरह वहाँ इतने जंगल तो नहीं हैं, न ही इतना जाड़ा है । उस देस की लड़की की मँगनी करो तो नाहीं कर देती है । कहती है, इतने जाड़े वाले देस में मैं नहीं जाती । उनकी जगह खुली-खुली है । उनकी धरती कहीं अधिक उपज देती है । वहाँ रोट्[2] है, गाड़ियाँ चलती हैं, अधिकारी लोग रहते हैं । इसीलिए वे हम से ऊँचे हैं । उन्हें देख कर हम जले-भुनें, यह क्या अच्छी बात है ? न क्या ? तुम्हारी क्या राय है ?"

दिउड़् साँवता कहीं और देख रहा था । वह रही पिओटी ! वह उधर जा रही है । इतनी सारी तो लड़कियाँ हैं इस गाँव में, पर कैसे सब से अलग निथर पड़ी है । चाल कैसी बहती-बहती हुई-सी है । उसकी हर बात कितनी सुन्दर है । पिओटी सब से अलग निथरी हुई है । लाख में भी पह-

१ तात्पर्य संभवतः 'तैलंगी' से है । पृष्ठ ३२७ की पादटीका देखिये —अनु०

२ सड़क । (अँगरेजी 'रोड' का तद्भव रूप)

चान ली जा सकती है !—दिउड़ सांवता सोच रहा था कि जाने किस बला में फँसकर पुयू को ब्याह लाया था ! क्या देखा था उसमें ? पुयू और पिओटी—ज़मीन-आसमान का अन्तर है ! उसने लम्बी उसाँस ली । कुछ ऐसी होती हैं, जिन की सहचरता में गृहस्थ भी ब्रह्मचारी हो उठता है। तबियत होने लगती है कि पूरी गृहस्थी उजाड़ बैठें । और कोई ऐसी होती हैं कि शळ्प (शुक्र) तारे की तरह दिगंत में चमकती रहती है, उत्साह देती है, बल देती है, जीवन को जीवन की भाँति भोगने के लिए असाध्य साधनों की प्रेरणा देती है !

पचास

म्प्यापायु (मिणियापायु) गाँव में—

चार दिनों तक शिकार, दारू, नाच, गान और मौज-मजे का दौर रहा। चार दिनों के बाद गाँव सूना पड़ गया। सूना ही नहीं पड़ा; बल्कि माँदगी से चूर हो रहा। चार दिनों के नाच की थकान मिटाने के लिए धाऊड़ियाँ अपनी ललौंही आँखों पर टभकते पपोटे चिपकाए खर्राटे भरती रहीं। पुबुली घर के भीतर सोई पड़ी थी। पुयू हाकिना को गोद में लिए बैठी दूध पिला रही थी। साँझ पड़ने के पहले ही चारों ओर मुर्दनी-सी छा गई थी। मवेशी गाँव को लौट रहे थे। पीलौंही धूल उड़ रही थी। किसी कंदरा में कुटरा हिरन विलाप कर रही थी। बड़ा ही उदास और करुण था उसका विलाप-स्वर। घड़ी-भर रात बीतने पर धुली-धुली सी चाँदनी उगेगी। मखौल करके पूछेगी—क्या कर रहे हो ? कैसे हो ? मानुष-जनम पाकर मानव-जीवन के आनंदों का कितना भाग भोग चुके और कितना अभी और रह गया है ?

जामिरी कंध की बुढ़िया अपने आदमी के कपड़े धो रही थी। बोली—"साँवता कब आएगा तू कुछ बता सकती है बहू ?"—"कैसे ? मुझे तो कुछ पता नहीं।" बूढ़ी को मानो अचंभा हुआ। कहने लगी—"जानती नहीं ? तो क्या वह तुझे बता नहीं गया ?" पुयू ने कुछ उत्तर न दिया। बूढ़ी कहती गई—"अधिकतर मर्द होते ही ऐसे हैं। निकल जायेंगे और यह बता नहीं जायेंगे कि कहाँ जा रहे हैं, कब आएँगे। इधर आदमी उनकी बाट जोहते-जोहते आँखों को फोड़ता रहे। बड़ी बुरी बात है ! बड़ी ही बुरी बात है ! मेरा बूढ़ा वैसा नहीं है। यही देख ना, इतने लोग गए, वह नहीं गया। कहा भी कि जा, जी बहला आ, मौज-मजे कर आ। अरे, बरस-भर में एक ही बार तो आना ठहरा इस परब को। जानती है बहू, क्या कहा ? कहा—'जो बरस में एक ही बार आता है, लौट जाने के

लिए ही आता है, उसके पीछे-पीछे भागते फिरने से क्या होगा ? अगर कुछ होगा भी, तो यही कि दर्द ज़रा घुलेगा, जरा बिंधेगा। और तू न गई, तो वह भी नहीं सुहायगा मुझे। इससे भला तो यही है कि हम दोनों बूढ़े-बूढ़ी अपने इस गाँव में ही चैत मना लें। तू मेरे पास रहना, मैं तेरे पास रहूँगा !" —कहते-कहते बुढ़िया के मुँह पर हँसी की नन्ही-नन्ही लहरियाँ खेल गईं। वैसी ही जैसी डाबर गढ़ैया में मेंढ़क के कूदने से लहरा जाती हैं। उसकी आँखें गर्व से दमक उठीं।

बुढ़िया की बातें सुनकर पुयू अपने छौने को बारंबार छाती से चिपका-चिपका लेती। यही लौंदा आगे चल के आदमी होगा। इसके बालिग हो लेने पर ही पुयू का दुख कटेगा। किसी की कहानियों में उसका क्या रक्खा है ?!

आस-पास के गाँवों मे परब के बाजों की गूँज गमक-गमक आती है। यह गूँज अन्तर्मन की सुलझी डोरों को भी उलझा-उलझा देती है। दूर किसी के उल्लास गीतों में फूटे पड़ रहे हैं। कोई बटोही चैती मधु की मिठास से मन-प्राणों को भर-भर कर उड़ा चला जा रहा है। पुयू सोचती है और सोच-सोच कर खीज उठती है, कलप उठती है। नीचे मुँह गड़ाए और पीठ पत्थर किए पिटी लीक पर चलने का गूँगा सूधापन जाने कहाँ छूमंतर हो जाता है, बिला जाता है। मन को सँभालने की लाख कोशिश करने पर भी मन है कि सँभाले नहीं सँभलता। आदमी आखिर आदमी है ! न जाने क्यों अकारण ही यह बात याद आने लगती है।—कि आदमी आखिर आदमी है ! कि आदमी हँसी और रुलाई का, धूप और छाँह का, उजेले और अँधेरे का आदमी है। कि वह केवल परिस्थितियों का दास नहीं है। कि वह गोष्ठी के छोटे से घिसे-पिटे मतवाद का दास नहीं है। कि उसकी भी अपनी अनुभूतियाँ हैं, उसकी भी अपनी भावनाएँ हैं। पुयू हथेली की पीठ से आँखों का लोर पोंछ-पोंछ लेती है। हाकिना उसके दूध में मुँह लगाए, संसार की ओर पीठ किए झूलता-झूमता है। माँ की आँखों के आँसू उसे दिखाई नहीं पड़ते।

पुयू सोच रही थी। वही-सब सोच रही थी जो संसार के साधारण लोग सोचा करते हैं। इस सोचने का, इन भावनाओं का न तो कोई ओर होता है, न छोर। इनका न कोई आदि होता है, न अन्त। इन्हें तर्क की डोर गूँथे नहीं होती। इनमें अगर कुछ होता है तो थोड़ी-सी धूलों धुरेंटी मैली हवा का हू-हूकार होता है, जो मन के भीतर धाँव-धाँव करता रहता है। गुंगुआता रहता है, घुमड़ता रहता है। उसकी प्रतिक्रिया की प्रतिफलित छवि देह के सूक्ष्म अंशाणुओं के ऊपर खेलती रहती है। उसमें मन की न जाने कितनी अनबनी, अनफुरी बातें होती हैं, न जाने कितनी स्मृतियाँ होती हैं। सब घुल-मिल कर एकाकार हो जाती हैं और सब के ऊपर उभर कर मन की एक ही बात छा-छा जाती है, एक ही भावना उतरा-उतरा आती है, आँखों की चितवनों में एक ही रूप बसा होता है, मुखड़े पर एक ही छवि झलकती होती है, मुद्रा में एक ही बँधी-बँधाई भंगिमा होती है, चाल में एक ही बँधी-बँधाई ठवनी होती है।

कभी किसी समय मौसम ठीक ऐसा ही हुआ था। पास-पड़ोस की सहेलियों-बहनाओं ने बड़े प्रेम से, बड़ी साध से बैठकर जूड़ा बाँध दिया था। गालों पर रेंड़ी के तेल और हलदी की उबटन खूब चिकनाई से मल दी थी और रह-रह कर, रगड़-रगड़ कर देखती थीं कि गाल काँच के से नजर आने लगे कि नहीं। उसकी कमर तक खुली कंधनी-देह मीठी धूप की चमचम रोशनी में दमक-दमक उठती थी। नीचे फूलों के गजरे पड़े थे। जूड़ा बाँध चुकने पर और देह को घिस-घास कर चमका चुकने पर सहेलियाँ उसके गले में गजरे डाल देतीं, जूड़ों में गजरे लपेट देतीं। कितनी ही उसके मुँह की कोई बात सुनने के लिए दरवाजे पर टकटकी लगाए बैठी रहतीं। कितनी इधर से उधर आती-जाती रहतीं, लाड़-प्यार की बातें करतीं। सौ-सौ बहानों से, सौ-सौ भंगिमाओं से, सौ-सौ छटाओं से उनकी छवियाँ आईने में छिटक-छिटक पड़तीं। पुयू लाख मुँह लटकाए होने पर भी मुसकुरा-मुसकुरा उठती, हँसी उसके होठों से चू-चू पड़ती। पीछे

माँ खड़ी होती। वह एक ही रट लगाए होती कि "ना, ना, तेरा पेट नहीं भरा बिटिया। ज़रा और खा ले तो जा, खा ले तो जा।" दरवाज़े पर वह—न जाने कौन—जान-बूझ कर भरे गले के स्वर को कोमल बनाते हुए पुकार उठती," पुयू पुयू, यह ले, भुट्टे का जोड़ा लायी हूँ।" चारों ओर हँसी-ही-हँसी, खुशी-ही-खुशी, आनन्द-ही-आनन्द छाया होता। आदमी की आस कभी चुकती नहीं है। न जाने कब वह अपने बाप के घर में बिटिया रानी थी। कहाँ गए वे दिन? कहाँ गई जवानी? कहाँ गईं वे उमंगें? कहाँ गया वह स्वास्थ्य? इस देह को दिनोंदिन क्या होता जा रहा है? हाय, किस भाड़ में झुँकी जा रही है यह देह भी?—

पुयू निराश हो गई। उसने समझ लिया कि सरबस गँवा चुकी है वह, सब-कुछ खो चुकी है। अब लाख जतन करने पर भी उसे लौटाकर लाया नहीं जा सकता। यहाँ तक कि अपना पुरुष भी अब अपनी पहुँच में नहीं है! पर यह बात सच होने पर भी इतनी कठिन थी कि मन के भीतर लाख धँसाने पर भी बीच में ही अटक जाती थी, आधे पर से ही टूट पड़ती थी। पुरुष ही जब पहुँच में नहीं है, तब यह छौना किसलिए है? यह हाकिना कौन है? यह बच्चा ही सारी निठुर बातों, सारी कठोर सचाइयों के प्रति मूर्तिमान अविश्वास का पिंड है। लौंडा हँसता है, मुसकाता है, दोनों नन्हे-नन्हे हाथ हिला-हिला कर नोंचता है, बकोटता है, झँझोड़ता है। इतने में ही उसका सारा संसार समाया हुआ है। इस अलक-सलोरे लौंडे के सुख-शीतल साँवले बदन पर हाथ फेरते ही संसार का वह दूसरा पहलू बिसर जाता है। पुयू उसके अंग-अंग को खींच-तान कर उसे गुद-गुदाती है, लाड़ लड़ाती है। माँ हँसती है, बच्चा हँसता है। माँ का अधटूटा मन फिर जुड़ जाता है।

"इतनी हँसा-हँसी क्या लगा रखी है पुयू? कुछ हुआ है क्या री?"

पुयू ने हँसी रोक ली। नींद से आँखें मलमलाती पुबुली आगे आ खड़ी हुई। खड़ी होकर उसने हाथ-पैर झटकारे, अँगड़ाइयाँ लीं, जमुहाइयाँ भरीं। इधर

पुयू की भावनाओं की दिशा बदल गई। पुबुली वैसी-की-वैसी ही खड़ी थी। नींद से भारी भर्राए चेहरे पर हँसी में योग देने की उत्कंठा खेल रही थी। बातों में मिसरी सी घोलती वह बोली—"हाय, मुँद क्यों गई री, हँसी बन्द क्यों कर दी? क्या हुआ, कह ना, कह ना।" कल की छोरी पुबुली कित्ती बड़ी हो गई है! जैसे किसी फूल के पौधे की सुस्थ-सबल मोटी-झोटी पुलकार बेल हो, जिसकी पोर-पोर पर पत्ते बिछे हों, चारों ओर टहनियाँ फूट पड़ी हों और उनमें गुच्छे-के-गुच्छे फल लगे हों, डंठल की गाँठ-गाँठ पर फूल खिले हों। बहुत कुछ वैसी ही लगती है यह पुबुली! आलस झाड़ने को हाथ-पैर फड़काती हुई, जिस समय वह खड़ी होती है, उस समय देखने में ठीक उसी तरह, बेल की तनी टहनी-सी, लगती है। सियाड़ी के हार-सी। वन के उस "पायरङ माळ" फूल के गुच्छे सी, जिसे देखकर बाट के बटोही खिल पड़ते हैं, खुशियों फूल उठते हैं। पुयू आँखों-ही-आँखों में पुबुली का बल कूत रही थी और उसका अपना मन तले-ही-तले को धँसता चला जा रहा था। दिल जैसे बैठा जा रहा था। यह स्वास्थ्य! यह यौवन! यह सब-कुछ! और वह आप है कि एक खोखला छिलका भर रह गई है। अन्तर्मन का जो एक और जीवन था, वह बाहर छिटक पड़ा है और केंचुल-सा भोला-भोला उपेक्षित पड़ा मिट्टी में मिलने की बाट जोह रहा है। फिर भी मन यह मानने को तैयार ही नहीं होता कि पुबुली उसके स्नेह की पुबुली है, लाड़ली ननँद है।—पुबुली के सिवा और कौन है, जो उसे इतना प्यार करता है? दिल अकारण ही बैठने-सा लगता है, अतल गर्त में धँसने-सा लगता है! मन की गहराइयों की सूचना बस इतनी ही मिल पाती है, उसके हाहाकार का प्रकट प्रकाशन बस इतना ही-सा हो पाता है।

"इस तरह मुँह क्या लटकाए है पुयू? क्या ही सुन्दर तो हँस रही थी अभी-अभी। आज-कल तो तेरे मुँह पर हँसी की रेख देख पाना सात जनम का सपना हो गया है। कि नहीं री पुयू?"

पुयू फिर अनमनी हो रही। ठीक यही बात!—ठीक यही बात किसी और ने कही थी। जाने कब किसने कही थी, किसने नहीं! लगता है जैसे इस एक ही बात में जाने कितनी ही बातें समाई हों।—यह बात किसी ने रूठ कर मुँह फुलाकर कही थी—कोई स्नेही जन ही रहा होगा।—वह स्नेही जन पुयू के जीवन-इतिहास के किस युग में था, किस युग में? याद नहीं आ पाता कुछ भी।—लेकिन यह बात कही जरूर थी! पुयू के चेहरे पर झट से कोई झाईं तिर गई। उसके बाद फिर पुयू आश्वस्त हुई। अपने आप को खींच-तान कर प्रकृतिस्थ किया।

बोली—"इतनी जल्दी क्या थी कि उठ पड़ी तू? थोड़ा और सो नहीं लिया री पुबुली?"

अब पुबुली को बल मिला। अन्दर से ज़ोर लगा कर बोली—"भूख लगी है, कुछ दे थोड़ा-सा।" पुयू बोली, "ठहर ज़रा भर, बच्चा दूध पी ले कि—" बावली हुई-सी पुबुली झटपटाती भावज की पीठ पर चू पड़ी और उसका कपड़ा पकड़ के खींचने लगी। "और ठहर जा, ठहर जा, क्या! दे ज़रा सा—" पुयू बोली, "इतनी हड़बड़ी काहे की पड़ी है री, ज़रा ठहर ना। खा-पी के कहीं जाना है, किसी को बात दे आई है क्या?" पुबुली ने कहा—"तू ने दी होगी बात, तू जा।"

"मैं जाऊँ?...मैं जाऊँ तो तुझे कौन सँभालेगा? हाँ री पुबुली, सच कहती हूँ, भाई के साथ तू गई क्यों नहीं री पगली। सुना वे शायद बंदिकार जानेवाले हैं। कोई कह रहा था—"

"तू क्यों नहीं गई?"

"मैं जाती? मेरे क्या वे दिन अब धरे ही हैं, कह तो? मेरी जो रूपश्री है,—बाहर निकलूँ तो लोग खामखाह सेंतमेंत में डर जायें! हम ठहरीं 'डोकी'[१]! हमारे लिए तो बस यह चूल्हे का मुँह ही काफ़ी है। ना, ना, ठिठोली नहीं करती, सच री, गई क्यों नहीं? मैं वही सोच

---

१ व्यूढ़ा, जिसका 'धाङड़ीपन' पीछे छूट गया होता है।

रही थी ! कहाँ तो तू चिन्ता में डूबी गाल पर हाथ दिए सोच में पड़ी होती और कहाँ तू है कि दिन रात निश्चिन्त घोर नींद में निचेत पड़ी रहती है। तू अब खाएगी क्या, जा कहीं बैठ के चिंता कर, चिंता कर।"

पुबुली हँस रही थी। बोली—"तुझे मेरे भाई के लिए बड़ी चिंता रहा करती थी, ना री ?"

पुयू ने कहा—"तू ने देखा नहीं। तभी कहती हूँ। तेरे भाई के लिए चिंता न करती, तेरी ही तरह सोई रहती तो कौन पूछता। अच्छा, अच्छा, ले ले ज़रा अपने बेटे को, मैं खाने को दूँ तुझे।"

पुबुली हाकिना को लिए अन्यमनस्क हो के बैठी रही।

यह बित्ता भर का छौना, यह भला कहाँ से होगा बापा का 'डुमा'। बापा का, कहाँ, कुछ भी तो नहीं दिखता इसमें। बच्चा अब उसके पास रहता है, रोता नहीं। उसने भी समझ लिया है कि ये ही लोग हमारी दुनिया हैं। घर के भीतर कुछ खुट-खाट खुट-खाट सुनाई पड़ी। दसरू न जाने कहाँ से आकर बदन झाड़-झूड़ कर उसका मुँह निहारता दुम हिलाता हुआ खड़ा हो गया। इतनी गरमी है कि उसकी देह से बदबू आ रही है।

दिन-भर सोई रहने से कि क्या, पुबुली को ज़रा भी अच्छा नहीं लग रहा था। और तिस पर भीतर से वह खुट-खाट, खुट-खाट और उसके ताल-ताल पर दसरू का यह दुम हिलाना ! सब रुआँसी बातें मन की सारी कंगाली याद हो आई पुबुली को। बैठी-बैठी वह हिसाब करती रही कि उस पर्व से इस पर्व तक कितने दिन हो गए। साँझ डूबी जा रही थी। कहीं कोई टोह तक सुनाई नहीं पड़ रही थी। कहीं कोई पत्ता तक खड़क नहीं रहा था। दिन यों ही कटे जा रहे हैं, कटे जा रहे हैं। कल-पुरज़े में मानो कहीं पर कोई जंग लग गया है। तेवहार के आनन्द-उमंग के भीतर मानो कहीं कोई जुदाई-बिदाई का दुख छिपा हुआ है। ज्यों-ज्यों दिन का उजेला ऊब-डूब करता मिटता गया, त्यों-त्यों पुबुली का सिर और-और भारी लगने लगा। रात आ रही है फिर ! अब मानो इसी

रात में सारा किस्सा खतम हो जायगा। पुबुली का राग बुझा जा रहा था।

रसोड़े में पुयू ने चूल्हा सुलगाया। जब तक कुछ ताजा बना न ले, तब तक वह खाने को नहीं देती। सदा से ऐसी ही रह आई है यह। खट मरना ही पसंद है इसे तो! पुबुली सोच रही थी। "अरी ओ, ऐसा क्या भोज पका रही है री, तुझे इतनी लग पड़ने की क्या पड़ी थी?"

रसोड़े से चें-चें सांय-सांय की सी आवाज़ आई। यही उसका जवाब है। उसका उड़ता-फिरता मन कहीं पल-भर को घोंसला बांधना चाह रहा था। पुबुली सोच रही थी कि पुयू के दिन भले नहीं बीत रहे।

इक्यावन

उसी साँझ को। गाँव के 'भरामण'[1] में बरगद की फाँकों से छनी चाँदनी फिर बिछ गई थी। नित-दिन के अभ्यास के अनुसार लोग फिर उस झंखाड़ तले जुटे। कि चाँदनी की कणिकाएँ चुन-चुन कर अपने-आप मन के भीतर सहेज-सँजों लें। चाँदनी रात की धूल उड़ा-उड़ा कर नाचने के लिए पैर आप-ही-आप उठ-उठ पड़ते हैं। मन किसी मौन ताल की थाप पर थरथरा रहे हैं। पर नचाने को लौंडे ही नहीं हैं, किया क्या जाय? उनकी बाट जोहते-जोहते समय मिट्टी पर ढुले पानी की तरह बहा जा रहा है। नाच-रंग बंद हैं, शिकार बंद है, लौंडियों के मन छटपट-छटपट कर रहे हैं। आज बीच गलियारे में यही चर्चा छिड़ी थी—"लौंडियाँ अब और कितने दिन बैठी रहेंगी? न हो तो कल दो-तीन बूढ़ों को ही ले के निकल पड़ना होगा। तेवहारी सैर ठहरी, लड़कियों के झुंड पीछे एक भी मर्द रहा तो काम चल जायगा। जिसी गाँव जायँगे, वहीं आदर मिलेगा। लौंडे लौट के देखेंगे कि नाच के लिए लोग ही नहीं हैं।" बूढ़े कहते रहे—"ठीक बात, ठीक बात।" लौंडों और लौंडियों के दोनों पक्ष न रहें, तो नाच का होना असंभव है। बूढ़ों की नशीली वक्तृता चालू रही। किसी के शळप की दारू का हलका नशा चढ़ा है और सिर्फ़ गाए ही जाने की तबियत हो रही है तो किसी के महुए की दारू का तेज़ नशा चढ़ा है और उसे नाचने की ही धुन सता रही है। रह-रह कर कितने ही बूढ़े एक-एक करके पंगत के आगे नाच-नाच कर ढुल-ढुल पड़ते हैं और वहीं नशे में ढेर हो रहते हैं। केवल बहक-ही-बहक, हँसी-ही-हँसी, लटपटाती बेहोशी-ही-बेहोशी का दौर चल रहा है।

दो बूढ़े, लेता और आरजू, एक दूसरे को 'टोका' और 'टोकी' कह कर पकड़ लेते हैं और दो तरह के नाच नाच दिखाते हैं। एक धाड़ड़े

१ पृष्ठ २१४ की पहली पादटीका देखिये।

का गीत गाता है तो दूसरा धाङड़ी का। "आह वाह-वाह, कैसे बड़े बाल मेरी धाङड़ी के वाह, कैसी लम्बी लटें मेरी धाङड़ी के—" "और भी बड़े-बड़े बाल थे रे, और भी बड़ी बड़ी थीं लटें; उस दिन पकड़ी कटार, काट डाला बेदर्दी से उन्हें।" इस ताल-छंद-हीन नाच को ताल देते हुए नन्हे-नन्हे बालकों का दल बेताल बाजे बजा रहा था। दो बच्चे अँधाधुंध ढोल और डफ पीट रहे थे। कोई अलगोजा टेर रहा था, छः कणाओं (छेदों) वाला गज़ भर लम्बा कंध-अलगोजा।

ठीक उसी समय दूर से किसी के बातें करने की आहट सुनाई पड़ी। निश्चित था कि लोग एक दो नहीं, पूरे झुंड में थे। पर चाँदनी रात में उन्हें पहचानना कठिन था। वे कहीं एक ही में मिल गए से जान पड़ते थे। किसी एक ने कहा—"जुरिया (डाकू) !" नशे में बुत्त दो और बूढ़े एक-साथ चिल्ला उठे—"जुरिया !—जुरिया !—" किसी ने पूछा, "अच्छा, अगर सचमुच ये जुरिया ही निकले, तो क्या करोगे पाँडरू डिसारी ? मर्द तो हैं नहीं गाँव में, हैं सिर्फ़ बूढ़े लोग। तेरे नक्षत्र क्या कुछ सहायता कर पाएँगे ?"

"नक्षत्र कहते हैं कि इस समय इस तरह बातें करते हुए, शोर मचाते हुए, चढ़ा-उतरी करते हुए जुरिया नहीं आया करते। नक्षत्रों ने योग दे दिया है कि जुरिया नहीं आएँगे।"

किसी एक ने पुकारा—"जुरिया, हे जुरिया!—" आनेवाले लोगों की भीड़ से उसकी प्रतिध्वनि हुई—"जुरिया, जुरिया।" होः—होः—होः—होः—हँसी सुनाई पड़ी। किसी एक ने आवाज़ लगाई—"हम तेरा गाँव लूटने आ गए हैं। सब कुछ लूट ले जाएँगे। कहाँ गए सारे ?—धाङड़ियो, तुम सब-की-सब हो कि नहीं ?"—फिर गीत सुनाई पड़ा। धाङड़ियाँ चंचल हो उठीं। जामिरी कंध ने कुत्तों को संबोधन करके कहा—"डुः डुः—च्वोः च्वोः" अर्थात्, (कंध देश के कुत्तों की भाषा में) हे कुत्तो, जाओ, देख आओ। डुः डुः का आदेश सुनते ही पाँचेक गंडे[1] कंध कुत्ते भौं-भौं भौंकते

[1] पाँचेक गंडे अर्थात् बीसेक।

हुए दौड़ पड़े। लड़कियां उठ चलने को हो रही थीं कि जामिरी कंध ने रोका—"रह जा, रह जा, अभी बैठी रह।" पांडरू ने पुकारा—"कौन हो तुम, कहाँ जा रहे हो?"

"हम जुरिया हैं।"

"इस गाँव में टेसिणी कमाण[1] कर रहे हैं। जुरिया हो तो उधर ही उधर निकल जाओ।"—उत्तर में केवल हँसी ही सुनाई पड़ी। किसी एक ने कहा—"भेंडिया सारे शिकार को निकल गए हैं क्या? सिर्फ बूढ़ों की आवाज सुनाई दे रही है"—ठाँय ठाँय गोली दगी। पेड़ों की चिड़ियाँ फड़फड़ाकर उड़ गईं। कुत्तों का भौंकना अति भीम गर्जना से उतर कर अति करुण विलाप पर आ पहुँचा। जामिरी कंध विरक्त हो उठा था। लेता कंध धाऊड़ियों के कानों में कहता फिर रहा था—"तुम जाके सो जाओ, सो जाओ।"—जामिरी कंध ने चिल्ला कर कहा—"तुम्हारा घर किस गाँव है होऽ?"

"हमारा घर आज रात तुम्हारे ही गाँव में है।"

"देखो, अचीन्हे लोगो, हँसी ठिठोली पीछे होगी। इतनी रात गए तुम हमारे गाँव आए हो। वहीं रुक जाओ और अपना परिचय बता दो। परिचय बताए बिना डग-भर भी आगे बढ़े कि पीछे पछताना पड़ेगा। मैं कहे दे रहा हूँ, भला नहीं होगा। हाँ, खबरदार—"

इस पर उस चौकी के भीतर से प्रतिध्वनि-स्वरूप बातें सुनायी पड़ीं—"अए बता दे रे, ज्यादा हँसी-खेल करते रहे, तो फिर मुश्किल में न पड़ जाओ कहीं।"—उसके बाद मधुर गले से संबोधन बह आया, "ओड़े सोइ, ओड़े सोइ[2] हम मिऊ-टिऊ गाँव के हैं होऽ! आते-आते इतनी रात हो गई, क्या करते?" अचीन्हे स्वर और भी अनेक विवरण देने लगे थे; पर उनकी बातों को डुबाकर इधर से एक विराट् 'हो-हो'-कार उठा। कच्चों-बच्चों और धाऊड़ियों के दल सब-के-सब दौड़ पड़े। गीतों-गीतों में

१ थाने वाले गश्त लगा रहे हैं।

२ हे भाई, हे संगी!

सारा गोलमाल बह गया। सारी ऊब, सारी घटना-हीनता कट गई। म्ण्यापायु की मिट्टी फिर दुलदुल-दुलदुल कँपकँपा उठी। तेवहार फिर चमक उठा।

हाथों में हाथ डाले पुल्में, काठकें'ऽ, टिॅ'ऽ, जंजइ आदि पुबुली को ढूँढने लगीं। इस गड़बड़घुटाले में पुबुली कहीं दिखाई ही नहीं दे रही थी।

म्ण्यापायु (मिणियापायु) अतिथियों के स्वागत-सत्कार में व्यस्त हो उठा। गाँव के कुत्ते पीछे की ओर दुबक गए, लोग आगे बढ़ आए। पुयू ढूँढ़ती-ढूँढ़ती आ पहुँची। उसके मायके के लोग आए हैं! ठीक समय पर आए हैं, उसके हताश मन को पीछे से सहारा देके बैठने को! आज कौआ नहीं रोया था, आज हाथों से कोई चीज छूट के गिरी नहीं थी!

कोई बुलाने नहीं गया था, फिर भी वे आए हैं। भूली-बिसरी मिट्टी का कुसल-छेम कँधिया लाए हैं। पुयू के मन में उथल-पुथल-सी मच गई।—"अरे-रे हाकिना, आ-आ, मामू को देख ना। यह देख, यह देख, कौन आए हैं, इधर देख रे!" हाकिना ने माँ की गोद में सिर टेककर देखा। नींद में माँ की देह से कितना सुंदर, कितने सुख से, चिपक गया था। टुकुर-टुकुर निहारता वह देखने लगा, कि चारों ओर दिशाएँ झिलमिल-झिलमिल कर रही हैं और चारों ओर से चमाचम चमकते दाँतों वाले मुँह उसके मुँह के पास लगे आ रहे हैं। दोनों हाथों से माँ का आँचल मुट्ठियों में भींचकर हाकिना ने फिर अपना मुँह छिपा लिया। पुयू ने कहा—"सोने की बेर है न, इसीलिए! तुम्हें इतनी देर कैसे हो गई? जंगली राह-बाट है, साँझ पड़ते ही पाँव धरना होता है, रातों को रह जाते हैं न—"

पुयू की सहानुभूति एक ओर रही। उसकी बुढ़ों हो सहानुभूति पाने का छोकरों में कोई आग्रह नहीं था। उसकी तो आदत है कि मायके के एक-एक कंध, एक-एक डंबेंऽ और एक-एक परजा की एक-एक बात जब तक वह पूछ न ले, तब तक उसका काम ही नहीं चलता। और सिर्फ़ आदमी की ही नहीं, उसे तो मायके के गाँव के एक-एक पेड़-पौधे, एक-एक घर-द्वार, एक-एक डूह-डूँगर की कुसल-छेम जानना जरूरी रहता है। कौन उसके साथ

इतना फठफटाता रहेगा ? इतनी भीड़ जुड़ी थी, फिर भी बेशू कंध पूछ रहा था—"और लोग कहाँ गए, और लोग कहाँ गए ?"—बूढ़ों के कुशल-प्रश्न की शिलादृष्टि से कन्नी काट कर वह भीड़ की फाँकों के बीच से उन अनुपस्थित 'और लोगों' को ढूँढने निकल गया। उसके पीछे-पीछे सुद्री, जामिली, मुर्जु, लेता आदि भी निकल गए। उत्तर देने को सिर्फ वे ही बैठे रहे, जो थके थे या कि जो इस गाँव से परिचित नहीं थे।

पुबुली चुपचाप घर के उस ओर के बड़े पत्थर के पार अकेली, चाँद की ओर मुँह किए बैठी थी। मानो उसे कुछ पता ही न हो ! उसी पत्थर पर, जहाँ उसका और बेशू कंध का परिचय निबिड़ से निबिड़तर हो गया था। ऐसा नहीं कि उसने जान-बूझकर वह निराली जगह बैठने के लिए चुनी हो। नहीं, यह तो उसके मन की पसंद-नापसंद की बात ही नहीं थी। पैर आप-ही-आप उठते चले आए थे इसी ओर। मानो यही जगह उसके इतिहास की घाटी हो। उत्ताल मन से असार देह को सारता का आधार देने के लिए यही जगह भावनाओं से पूत हो चुकी थी। वह चाँद की ओर मुँह किए बैठी थी। उसके अपने मन के गगन का चाँद और भी प्रबल था। उसके तेज में दृष्टि मन के भीतर-ही-भीतर बँध जाती है, बाहर नहीं जा पाती।

न जाने कितने फूल गूँथ डाले थे उसने, न जाने कब से दिन गनती आ रही थी ! मन-ही-मन वह बेशू कंध को ब्याह भी चुकी थी, मन-ही-मन गिरस्ती भी चला चुकी थी। बारंबार मन-ही-मन कितना ही आगा-पीछा करके भी अनुभूतियों की प्रखर धारा में बह-बह चली थी। धाङड़ी बाट जोहती बैठी रहती हैं। 'योग' होने पर यदि मन का मानुष आ जाता है, तो धाङड़ी कभी तो उसे चुन लेती हैं और कभी अपने मन की लगाम थाम लेती हैं। यह सोच रही थी कि उसने अपने हाथ की वरमाला फेंक तो नहीं डाली है ! यह बेशू कंध आकर बावली बना गया, रंग चढ़ा गया अपना; पर गया सो गया! फिर उसकी सुन-गुन भी न मिली ! लेकिन इतनी देखा-देखी और इतनी सुन-गुन से होता ही क्या—एक-न-एक दिन जो होना है सो तो हो के ही रहेगा ! इस मौन का उसे कोई दुख नहीं था। मन-ही-मन वह यह

निर्भरता पा चुकी थी कि बेशू उसी का है। उसके पैरों में बेड़ी नहीं थी।

तभी से बेशू उसके रोम-रोम में समा गया था, उसके मन में रम रहा था। उसके मन में विरह की वेदना न थी, कारण वहाँ कोई शंका-संदेह न था। ईर्ष्या न थी, अभाव न था।

लेकिन जैसे ही उसने इस गाँव में पाँव धरे हैं, देह-मन जाने कैसा तो होने लग गया है! क्यों—? क्यों—? क्यों—?

पुबुली अकेली बैठी थी। न कोई बुलाने आया, न ढूँढने आया। बेर टलती गई। गाँव की सारी हलचल यहाँ से सुनाई पड़ रही थी। सभी वहीं होंगे। तो जाऊँ मैं भी? बेशू क्या कहेगा? चैती सैर के लिए मिङ-टिङ से एकदम इतनी दूर भ्यापायु आता है कोई? क्या यह सच है कि यह चैती सैर ही है? माना कि वह पुयू का मायका है; पर ऐसा भी क्या कि पुयू की चिंता के मारे किसी के दिन काटे नहीं कटते हों। पुबुली ने सोचा—ना, ना, यह सब झूठे बहाने हैं। औरों के पतियाने के लिए छलना की बातें हैं। बेशू आया है मेरे लिए! मेरे लिए, मेरे लिए! बेशू टोह लेता आया है। जैसे कुत्ता बे-बुलाए ही किसी काले कोसों दूर जगह से सूँ-सूँ करता सूँघता चला आता है।

इसी तरह सोच-सोच कर उसके भीतर का मानव-पशु अपने को धीरे-धीरे गरमा रहा था। एक-टक से चाँद को निहारती बैठी रहने की उसकी ऊब इसी तरह कट रही थी। वह अस्थिर हो उठी। बैठी-बैठी पाँव हिलाने लगी। छोटी-छोटी टहनियों और पत्तों को नखों-दाँतों से खोंटती रही। पुबुली का मन हुआ कि अब उठ पड़ूँ और वहीं चली चलूँ।

उधर बेशू कंध पुबुली को ढूँढता फिर रहा था। अचीन्हे गाँव के छोकरों के दल अचीन्हे परदेसी के मोह के वशीकरण की टीका लगाए दौड़े आए हैं। उसी तंत्र के टोने से इस गाँव की लड़कियाँ छछना-छछना कर नाना बहानों से उनके पास लग-लग आई हैं। चाँदनी छिटकी है। रात का सन्नाटा बढ़ता जा रहा है। दिन-भर पहाड़ों को लाँघते, घाटियों को छलाँगते चढ़ानों-ढलानों पर चढ़ते-उतरते रहने की माँदगी से चूर-चूर देह इस समय शांति खोजती

है। देह-दृष्टि से तो इस रात में एक देह और दूसरी देह में कोई विशेष अंतर नहीं दीखता; किंतु बेशू कंध के मामले में माँदगी का फल इसके ठीक विपरीत ही हुआ। पुबुली उसे और भी अधिकाधिक याद आने लगी। वह ढूँढ़ता फिरा, ढूँढ़ता फिरा। चारों ओर खोज-भाल लेने पर बेशू भी अन्यमनस्क होकर उसी बेराह की राह लग गया। इस गाँव की एक यही बेराह की राह ऐसी है, जिसे वह जानता है। दूर से उसके पैरों की आहट और गले की खँखास सुनकर पुबुली चौंक पड़ी और उसकी ओर देखने लगी। कितना लंबतड़ंग दीख रहा है यह आदमी भी! थमक-थमककर, झाँक-झाँककर डग भर रहा है। उसके मन को किसी ने यह खबर दी कि यह वही होगा। भीतर के मन ने यह बात मान ली; पर ऊपर के मन ने नहीं मानी।

अपने अस्तित्व की सूचना देने के लिए पुबुली ने गीत छेड़ दिया। पहले गुनगुनाई। फिर उधर से मानो गला साफ़ करके खूब तने-तने से ऊँचे स्वर से गीत आया। उसकी देह की उस समय जो प्रवृत्ति थी, उसने उस सरल गीत में भी महुए का नशा भर दिया। अपने उद्देश्य को सफल करने के लिए। पुबुली ने गीत के बोल गाए। धरती उसके आँचल को खींचे थी। चाँदनी छवि की पीठिका थी। बेशू कंध की छटपटी बिला गई। गीत की जवाबी कड़ी गाने की सुध उसे न रही। कूक से खिंचा-सा वह उधर ही बढ़ता गया। वह ज्यों-ज्यों पास आता गया, पुबुली के गीत का स्वर और भी ऊपर-ही-ऊपर को उठता गया। पुबुली खड़ी हो गई।

धीरे-धीरे बेशू कंध के मुँह से भी मौन की जाबी खुल गई। उसके भी बोल फूटे। उसके मन के भीतर से न जाने कितनी ही कोमल उपमाएँ झड़ पड़ीं और रुँधे-रुँधे से शब्दों में पवन की हुहास मिला-मिलाकर एक के बाद एक धाराधार बरसने लगीं। चमकते-दमकते से शब्दों की झड़ी लग गई। इन शब्दों का अर्थ समझने का खुद उसे भी अवकाश न था। धीरे-धीरे उसका स्वर भी बढ़ता गया। चढ़ता गया। भाँति-भाँति की उपमाएँ भाँति-भाँति के रूपक, भाँति-भाँति के संबोधन। प्यार की साध-श्रद्धा से बालड़ी को जो नाम दिए जाते हैं, उनका अर्थ अभिधानों में नहीं मिलता

—लेंबरॅऽ, डुंबरॅऽ, जांबरॅऽ नीलम, तालम आदि केवल सुनने में ही फलों-फूलों के नामों जैसे लगते हैं। जोड़ीदाना, संगदाना, आंदूजोड़, पंगूजोड़, बंदरपाणी आदि के अर्थ केवल कंधों से कंधों के, गलों से गलों के मिलने जैसे हैं, अर्थात् संगी-साथी सब अपने हैं, मिले-जुले हैं। बीरी-बाड़ा, सालामबाड़ा, बीदा-बाड़ा आदि से तात्पर्य ऐसी मातुलपुत्रियों से है, जिनसे आदमी व्याह कर सकता है। ये सरल शब्द केवल अपने अलग-अलग आंशिक अर्थों से बल पाकर अगुरु-धूप के धुएँ की तरह धाङड़ी के आगे सदा ऊपर-ही-ऊपर उठते चले जाते हैं। इसके बाद पुबुली थोड़ी दूर आगे सरक आई, बेशू भी और पास खिसक आया। बीच में बड़े-बड़े पत्थरों का ही व्यवधान रख कर दोनों ने स्वर-में-स्वर मिलाकर पुराना कंधगीत गाया—"दादी पुँइबाड़ारे।" (पुरखों की इस धरती पर हम सुध-बुध हो चुकनेवाली बयस में एकट्ठे हो रहे हैं।)

बेशू ने साफ गले से पुकारा,—"पुबुली।"

पुबुली ने पुकारा—"बेशू।"

देह-दृष्टि से उनका प्यार कोई वैसा दुर्बल प्यार नहीं कि पास-पास होने पर भी मूक, बधिर, निर्जीव होकर परस्पर को चिपकाए रहे और हृत्पिंड बंद होने-होने की दशा में हो। कंध-किसान का प्रेम बलिष्ठ होता है। उनकी देह भी तो बलिष्ठ होती है! देह के मूल से ही जीवन की तोल होती है। स्त्री संतानों की जननी होगी। पुरुष संतानों का जनक होगा। दोनों मिल कर संतान रख जायेंगे, ताकि वह बाघ, रोग, शीत और पत्थर के इस देश में धरती जोत कर मनुष्य की जय-ध्वजा फहराती रहे।

बावन

पौ फट रही है। लेंजू कंध 'गुड़िया' से उठकर गाँव की ओर आ रहा है। उपत्यका में कुंजों और खेतों के बीच-बीच में अलग-अलग कंध की अपनी अलग-अलग 'गुड़ियाँ' अर्थात् खेती-कुटियाँ रहती हैं। ऊपर से धूप की पहली किरणें धीरे-धीरे तले की घाटियों में उतर रही हैं। हलका कुहरा पड़ रहा है। जाड़ा हो कि गरमी, इस पठारी देश में भोर के समय बारहों मास ऐसा ही कुहरा पड़ा करता है। गाँव में छोकरे नहीं हैं। लेंजू कंध के लिए यह अच्छा ही है। बूढ़ों के बीच जो वयस में छोटे हैं, अर्थात् अधेड़ों से ज़रा कम उम्र के हैं, उन्हीं में लेंजू की भी गिनती है। छोकरे शिकार को गए, तो वह साथ नहीं गया। लेंजू गाँव का भार लेकर बैठ रहा। उसका मंत्री है भुरसा मुंडा बारिक। दिन-रात उसी के पास बैठा फुसफुस बातें करता रहता है और उसी के पके उपदेशों से छोकरों से सूना गाँव चलाता है। इन दोनों की चर्चा का प्रधान विषय होता है गाँव के छोकरों के चरित्र का हलकापन। छोकरे अनियारे हो उठे हैं। उन पर लगाम लगानेवाला कोई नहीं है। इसका फल बुरा होगा। कभी-न-कभी कोई अनिष्ट ज़रूर होगा। अशांति बढ़ेगी। अभाव बढ़ेगा। सुश्रृंखल जीवन के अभाव से धीरे-धीरे वंश बूड़ेगा, वंश लोप होगा। मुँहज़ोरी के चलते कभी न कभी अधिकारी का कोप होगा और गाँव उजड़ जायगा। आज भोर-ही-भोर 'गुड़िया' के काम सहेजकर लेंजू फिर यही सब बातें बारिक से करने के लिए निकला है। कुछ चर्चा हो लेती है, तो अच्छा रहता है। रोज़ की तरह भरपेट रींधी दारू पिए बारिक सिर हिलाएगा। दारू मिलेगी पीने को, रींधी दारू! बारिक बारंबार कहेगा—"गाँव उजड़ जायगा! तेरे साँवता हुए बिना गाँव नहीं चलने का!"—और, वहीं होगी सोनादेई। दारू लाने को, पराई चर्चा करने से बारिक भुरसा मुंडा का हाथ बारने को।

लेंजू कंध आधी ढलान चढ़ चुका था कि हठात् उसकी नज़र नीचे की

खात में दौड़ते दो कुटरों पर पड़ी। लेंजू कंध आप तो शिकारी नहीं, पर शिकार के पीछे दौड़ना और हुलकाना उसे अच्छा लगता है।" धत्तेरे की!" उसने सोचा—"लोग शिकार खोजने पहाड़ों के मुहरों पर जाते हैं और शिकार यहाँ गाँव तले के कुंजों और खेतों में घूमता फिरता है।"

छोकरों के मन में विद्रोह जगने के कारणों को दिखलाने के लिए उसने जो तरकश सजा रखी थी, उसमें एक कारण होगा, उनकी निर्बुद्धिता। आज भुरसा मुंडा के पास बैठकर दारू के दौरों के साथ जो वक्तृता होगी, उसका विषय उसने चुन लिया। पर यह क्या? कुटरों को देखते-देखते लेंजू ने कुछ और ही दृश्य देखा। दो 'टोका-टोकी' एक दूसरे को खदेड़ रहे हैं। दोनों अपने गाँव के ही हैं। एक है बूढ़े गयाँ कंध की बेटी पुल्में और दूसरा है आत्री का बेटा बात्री। लेंजू और भी निकट से देखने की जगह पर खिसक गया। पुल्में बात्री के ऊपर फूलों के गुच्छे बिखेर कर भाग खड़ी हुई। यह लो, बात्री एक घुँगिया दिखा रहा है। जरूर, यह चाल पुल्में को भुलावा देने के लिए ही है।

लेंजू कंध को ध्यान आया, घुँगिया कल से ही चुक गया है। दिउड़ साँवता भले-बुरे की खबर भी नहीं पूछता। वह वहाँ पुल्में छिप गई है! बात्री ढूँढ रहा है। दिखाई पड़ गई! ठहाका पड़ा! आम के बड़े पेड़ के तने के चारों ओर, भालू लगने पर की भाग-दौड़ की तरह, वे एक दूसरे का पीछा कर रहे हैं। देख-देख कर लेंजू कंध को चिढ़-सी लगी। वह ठहरा समाजपति! ये उसकी आँखों से ओझल होने का नाम भी नहीं लेते!

पर उसके मतामत को पूछता ही कौन है? लेंजू कंध ने बिलबिला-बिलबिलाकर उन्हें गालियाँ दीं। इसी 'गुड़िया' में उनकी इस मौज पर न जाने कितनी बार उसकी निगाह पड़ चुकी है। दोनों ब्याह क्यों नहीं कर लेते? लेंजू ने सोचा—अरे ब्याह करने की उन्हें दरकार ही क्या है! ये तितली हैं, तितली! केवल प्रजापति! दायित्व लेना नहीं चाहते! इनकी खदेड़ा-खदेड़ी इसी तरह लगी रहेगी!

गयाँ कंध को आँखों से सूझता ही नहीं, और आन्री बेचारा कब का 'डुमा' हो के निस्तार पा गया। 'टोका-टोकी' एक-एक करके ढलानी राह से खड्ड की ओर उतरे जा रहे हैं। लेंजू कंध उन्हें निहारता है। मन को उधर से फेर लेने की लाख कोशिश करने पर भी बान्री-पुल्में का वही जोड़ा हर कहीं नजर आता है। खें-खें-खें-खें हँसी, जरा छिप रहे हैं, तो जरा बाहर आ रहे हैं! छिः! लेंजू कंध को अब और सहा नहीं गया। सवेरे-सवेरे उसका मिजाज बिगड़ गया। ऊपर को उठ जाने पर पेड़ की आड़ से उसने उधर की ओर दो ढेले फेंक मारे।

उसके बाद,—विरक्ति तो हुई ही, साथ ही भय भी लगा। बाघ-बाघिन के जोड़े खेल खेलते हों और कोई बाधा दे दे तो, वे खेल छोड़ कर उसे मारने को टूट पड़ते हैं। उसी तरह ये 'टोके-टोकी' भी बेकहन हैं, बेलगाम हैं। अपनी इज्जत-हुरमत आप ही बचाने का निश्चय करते हुए लेंजू कंध चुपचाप बढ़ चला और बारिक के घर के आगे जा पहुँचा।

"सोनादेई!" लेंजू कंध की देह में बिजली दौड़ गई। तमतमाए चेहरे-को चारों ओर फेर कर उसने देखा। कहीं कोई नहीं था। इस तरह उगाही-उधारी के भरोसे उसके दिन कब तक कटेंगे? बारिक जाति का डंबॅऽ है। कंध जाति की धारणा है कि ये लोग छलना में धुरंधर होते हैं; पर लेंजू कंध सोनादेई को देखता है और सोचता है कि मनुष्य जाति एक है, मनुष्य जाति सुंदर है। वह छोकरों की धारणा उधार लेकर अपने मन को संतुष्ट करता है। सोनादेई कहाँ तो जा रही है। लेंजू कंध ने पुकारा—"ठहर, सुन तो ले।" दोनों बाड़ की आड़ में खड़े थे। सदा की भाँति नीचे मुँह किए सोनादेई खड़ी थी। रोज ऐसे ही टोके जाने की राह ताकना उसका स्वभाव है।

"सोनादेई!"—

उसी तरह मुँह उठाये बिना शब्दों को चबाती-सी उसने सदा की भाँति जवाब दिया—"ऊँ ऽऽऽऽऽ!"

दोनों कुछ देर चुपचाप खड़े रहे। सोनादेई को इस तरह अकेली असहाय अवस्था में देखकर लेंजू कंध की बुद्धि खो जाती है। दूसरा कोई प्रश्न ध्यान में आता ही नहीं।

"हाँ, सोनादेई।—"

"ऊँऽऽऽऽ?"

"बाळ मुंडा घर में है न?"

सदा की भाँति सोनादेई ने अपने शोक-संतप्त नकार में सिर हिला दिया। बाळ मुंडा नहीं है। बाळ मुंडा यहाँ रहता ही नहीं है। वह किसी दूर गाँव में चोरी करने या दारू पीकर अचेत पड़े रहने के लिए निकल जाया करता है। उसके जीवन का सुख बस इतना ही है। यह तो सभी जानते हैं।

"तुरुंजा?"

"नः।"

मौसम सुहाना है। उधर वहाँ सूरज कैसा सुंदर लाल-लाल उगा आ रहा है। लेंजू कंध को हठात् सारा वातावरण सुहावना लगने लगा। उसका जी यकायक खुशी से भर गया।—"बारिक है?"

"ह-य्।"

"अच्छा तू आ, चल के बारिक से कह दे कि मैं आया हूँ।"

सोनादेई जरा-सी हँसी। आगे-आगे जाकर घर के भीतर पैठ गई। लेंजू पीछे-पीछे आ रहा था। दरवाजे पर बारिक निकलता मिला। उसके सिर के रूखे बाल फड़-फड़ उड़ रहे थे। निचला होंठ नीचे को झूल रहा था। सिरमें और सारी देह में धूल भरी थी। बारिक दोनों हाथ बढ़ाकर स्वागत-संभाषण में चिल्ला उठा—"जुहार,[1] जुहार सांवता। मेरा साँवता आया, साँवता आया। तू मेरा राजा है साँवता।"

---

१ देवताओं को गुहारने या प्रणाम करने का संबोधन। 'प्रणाम, प्रणाम' या 'दुहाई-दुहाई', दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होता है।—अनु०।

बारिक भोर-ही-भोर उठ कर पी के मात चुका था। अनर्गल बकता रहा। सोनादेई उसके पीछे खड़ी हँसती रही। बारिक चुपचाप बैठकर शांत-सुखद गपशप करने की अवस्था में न था। बोला—"देख साँवता, तू ही नियाव कर। बाप बूढ़ा हो जाय ,तो क्या बेटों का काम यही है कि वे इस तरह अपमान करें उसका? मानें ही नहीं उसे? मुझ पर घर की रखवाली सौंप कर वे अपनी मनमानी राह धरे जहाँ-तहाँ भाग गए। दारू भी नहीं रख गए थोड़ी-सी। दारू के बदले सिर्फ़ पानी रख गए हैं पानी। पानी पी-पी के तो मैं उनके आने के पहले ही मर-मरा चुकूँगा। धन-दौलत लाद कर घर लौटने पर मुझे कोई पूछेगा भी भला? निरा पानी है, पानी। अच्छा मेरे राजा, तू ज़रा ठहर, मैं थोड़ा-सा पानी और पी आऊँ। अरी, तू आ के बैठ मेरे राजा के संग, बातें कर, मैं अभी आया।"

लेंजू कंध बुद्धू की भाँति बैठा रहा। बारिक चला गया। दूसरे घर में जाकर दारू पी और बोलता-बकता बाहर की ओर निकल गया। उसके लौट आने की अब कोई खास उम्मीद नहीं। फिर भी लेंजू कंध बैठा रहा।

सोनादेई गई। राह किनारे धूप में कपड़े पसार आई। फिर एक चुक्कड़ में रींधी दारू भर लाई और चुक्कड़ लेंजू कंध के हाथों में थमा दिया। लेंजू गटागट पी गया। बोला, "और!" सोनादेई कुछ देर टाल कर एक चुक्कड़ और दारू ले आई और लेंजू के हाथ में बढ़ा दिया। दारू पीता-पीता वह सोनादेई की पीठ पर हाथ भी फेरता रहा। सोनादेई जस-की-तस वहीं बैठी रही। सुबह की खदेड़ा-खदेड़ी के दृश्य को याद करके लेंजू कंध और कुछ बढ़ा। सोनादेई चिरौरी करती-सी बोली—"छिः छिः! —ऐसा मत हो। इस तरह मात जाओगे, तो लोग क्या कहेंगे?—वह देख, बारिक आ रहा है।" बेटों को गालियाँ देता हुआ बारिक बूढ़ा आ पहुँचा। बोला—"छिः छिः, छूँछा पानी है पानी!—निरा पानी!—ये सारे—"

लेंजू कंध धीरे-धीरे उठा और चल दिया। उसके अंग-अंग कँपकँपा रहे थे।

यों ही कहती है सोनादेई। नरम-नरम सुर बनाकर आपत्ति करती है। अलस-अलस-सी मठिया-मठिया कर पास से निकलती हुई दूर जा रहती है और इसी तरह अपना बचाव करती है। लेंजू कंध समझता है कि सोनादेई को कोई विशेष आपत्ति नहीं है। वह मन-ही-मन सब कुछ समझता है। पर इतने पर ही हाथ बार लेता है। वह अपने प्यार के लिए किसी भी तरह का स्वार्थ-त्याग करने को तैयार नहीं है। वह चाहता है कि इसी तरह सम्मानित समाजपति बना अपनी वयस के आसन पर विराजमान रहे, कोई बदनामी न हो, कष्ट न हो, तथा मन की इस प्रवृत्ति को चरितार्थ भी कर ले। भोग तो वह चाहता है; पर उसके लिए त्याग के पास फटकना भी नहीं चाहता। दिन-रात विकृत चिंताओं में मगन रहते-रहते उसका मन पतित हो चुका है। अब वह खुला-खुला मन नहीं रहा उसका। अब वहाँ भय का वास है, संदेह का संचार है। हर घड़ी आशंका बनी रहती है उसे। अपनी किसी भी चाल पर वह निश्चिन्त नहीं रहता। पर जिस समय वह अपने हाथों की पहुँच के भीतर सोनादेई को पा लेता है, जिस समय इष्ट सफलता के लिए उसका प्रत्येक रक्तकण अपेक्षा करता रहता है, ठीक उसी समय कोई-न-कोई ऐसी घटना घट जाती है कि समय के प्रतिकूल गंभीरता आ पहुँचती है और लेंजू कंध निरस्त हो जाता है। इस निरस्त होने में ही 'टोका' छोकरों से उसका अंतर निहित है। बात्री, दिउड़ू इत्यादि में और उसमें यही भेद है। अपनी वयस के दबाव से, अवस्था के दबाव से नीचे दब जाकर वह उन छोकरों के स्तर तक उठ नहीं पाता। इसीलिए वह उन से डाह करता है, डाह से जलता है और इस डाह के ही फलस्वरूप उन पर क्रुद्ध होता है। उस क्रोध के बल पर ही उसका समाजपति का आसन टिका हुआ है। पर इतने से ही उसकी शांति नहीं होती।

कभी-कभी उसका भी जी होता है कि मैं आस-भरोस छोड़ दूँ। वह फुफकारता है और अपनी देह के ऊपर नाराज़ हो उठता है। सोचता है, इस जन्म के बाद...। इतना छटपटाने-तड़फड़ाने से लाभ ही क्या है भला? जीवन का अधिकांश तो बीत चुका है। जो शेष है वह भी सपने

की तरह कट जायगा। उसके बाद फिर कभी छला नहीं जा सकूँगा! हो सकता है कि उसके बाद सुख का मुख देख सकूँ। पर देह अपनी बस में नहीं है। थोड़ी-सी दारू पी लेने पर, या लगातार माँस या अंडे का भोजन मिलने पर या निराली राहों में पराया सुख देखने पर अथवा इस सोनादेई के निकट होने पर लेंजू कंध को ऐसा जान पड़ता है, मानो उसकी देह फूली आ रही हो। देह की जितनी भी सारी अनजानी प्रक्रियाएँ हैं, वे सभी उसके मन को उद्दीप्त करने लगती हैं। ऐसी अवस्था में कंध देश का प्राचीन दर्शन या त्याग का पथ उसे बोध नहीं दे पाते।

अपने मन के विकारों में लोट-पोट लगा-लगाकर वह चाहता है कि किसी तरह पुरानी स्मृतियों से पल्ला झाड़ कर आगे बढ़ चले। वह दिउड़ से अलग हो रहने का पक्का निश्चय कर लेता है। वह अपना अलग घर-बार बसाना चाहता है, नया, नए सिरे से। रहा यह गाँव, तो गाँव का भी कोई वैसा मोह नहीं है। अगर इस गाँव में राज पाने का, साँवतागिरी मिलने का, योग नहीं है, तो यहाँ उसके लिए कोई स्थान नहीं है! वह यह नहीं चाहता कि इस गाँव में रह कर लौंडों-छौंड़ों का मातहती बनकर पड़ा रहे।

अपना है ही कौन यहाँ? हाँ, कौन है? अपनी ढलती वयस की विफलता आप-ही-आप किसी रुआँसी चिंता को जन्म दे देती है। अपने ऊपर आप ही तरस आने लगती है। अपने को आप नहीं बल्कि कोई और समझकर वह तोष-भरोस देने लगता है। ठीक उसी तरह जिस तरह कि जंगल का कोई जंतु कहीं से घाव खाकर आने पर किसी एकांत ठौर पर बैठकर अपनी जीभ से अपने घाव को चाटा करता है।

लेंजू कंध एक जगह आकर रुक गया और चुपचाप स्थिर होकर बैठा रहा।

तिरपन

रात कैसे कटी उसकी, इसका कोई पता उसे नहीं चला। पुबुली ज़रा-सा करवट बदलती कि नींद उसकी खुल जाती। फिर आँखों को मूँद कर पड़ रहती वह। पर थोड़ी ही देर में फिर उठ पड़ती। उसका यह प्यार भी जैसे कोई बहुत बड़ी टीस हो। और यह टीस इस समय ठीक उसी तरह टभक रही है, जिस तरह फोड़े का मुँह खुलने के ठीक पहले की टीस टभका करती है। हाय, यही जीवन है आदमी का ? कैसा जीवन, जहाँ प्यार करना भी एक रोग हो, एक पीड़ा हो ! प्यार करना ही क्यों, संतान पैदा करना भी एक ऐसा ही पीड़ा-भरा रोग होता है। संतान पैदा करना भी, जो कि इसी प्यार की एक और पैड़ी है। पुबुली बीसियों बार उठ-उठ कर बाहर गई और बीसियों बार ओसारे में चक्कर लगा-लगा कर लौट-लौट आई और पड़-पड़ रही। भोर के कुछ पहले उसे नींद आ गई। प्रकृति ने उसकी पीड़ा पर हाथ फेर दिया, उसका टभकता दर्द सहला दिया। ऊपरी मन के सभी द्वंद्वों, सभी संशयों के ऊपर भीतरी गहरे मन का स्थिर उद्देश्य प्रतिज्ञा बनकर जम गया। उसकी सोई देह के ऊपर अस्थिरता का कहीं कोई निशान नहीं था। उसकी सोई देह के ऊपर विच्छंदता की कहीं कोई रेत-रेख नहीं थी। पुबुली बही जा रही थी।

भोर होते ही पुयू उठी। पहली पौ फटते ही हाकिना का कोलाहल शुरू हो जाता है। उठ कर वह कुछ देर पुबुली को निहारती रही। उसकी नींद में कोई व्याघात नहीं पड़ा था; पर अशांति के मारे उसकी देह में जो पीड़ा जग पड़ी थी, वह साफ़ झलक रही थी। उसकी आँखें ललौंही हो आई थीं, टूट-सी रही थीं। बच्चे को गोद में लिये वह थोड़ी देर तक अकारण ही पुबुली के पास ठिठकी खड़ी रही। ये गुल्ले-थुल्ले हाथ-पैर, ये गोल-गोल जाँघें, गोल-गोल बाहें, यह भरी-पूरी बलिष्ठ छाती और यह मुँह, जिस पर पुबुली की चढ़ती जवानी की उम्र मानो साफ़-साफ़ लिखी हुई हो !

बलिष्ठ व्यक्तित्व का अनदेखा तेज दुर्बल व्यक्तित्व को चुम्बक की तरह अपने पास अटका-अटका लेता है। पुयू कुछ देर तक रुकी और फिर धीरे-धीरे पाँव बढ़ाती वहाँ से खिसक गई। और भी कितने ही लोग आए और गए। मिळटिङ गाँव के लोग गाँव के परले सिरे पर टिके हैं। गाँव का कोलाहल बढ़ा तो पुबुली की भी नींद खुली। रात बीत गई थी, रात की नींद भी जा चुकी थी, अब इस भोर की जगी वेला में फिर हाँ—नहीं के तर्कों ने मन में बहस छेड़ दी। यह पुरानी मिट्टी, यह पुरानी जन्मस्थली, पल-पल की सहचरी रही है। ऐसा लगता है, मानो सचमुच इसी धूल से, इसी हवा से उठ-उठ कर न जाने कितने ही छोटे-बड़े सपनों ने मन में बसेरे कर लिए हैं। जैसे-जैसे वयस बढ़ती गई है, वैसे-वैसे नए-नए सपने आ-आकर मन के कोटरों में, अन्तर्देश में, घोंसले बनाते गए हैं। ज़रा-सा कुछ हुआ नहीं कि सभी स्मृतियों की जीवन-समष्टि फड़फड़ा उठती है और पूरे अस्तित्व को झकझोर डालती है। ठीक वैसे ही, जैसे खिड़की के पीछे के झमाटदार पेड़ों पर दुनिया-भर की छोटी-छोटी चिड़ियाँ रात के समय डालों-पत्तों की आड़ में सोई पड़ी रहती हैं और ज़रा-सा छू देने पर पूरा पेड़ झड़झड़ा उठता है, सभी चिड़ियाँ एक-साथ कँपकँपा उठती हैं और चें-चें-चें-चें के शब्दों से वातावरण कोलाहलमय हो उठता है। पुबुली भी ठीक उसी पेड़ की तरह कँपकँपा रही थी, उसकी चेतना में बसी एक-एक स्मृति गहरे मन के सूक्ष्म निर्णय की द्योतना में कँपकँपा उठी थी, चह-चहा उठी थी।

उधर वह रहा वह मखुए का पेड़। उसी की जड़ पर बैठा-बैठा सरबू साँवता अपनी विशाल देह को फेंक-फाँक कर उड़ गया। इस घर के साथ पड़ी अपनी सारी गाँठें तोड़ गया, फेंक गया। 'बापा-बापा' की पुकार को सदा के लिए किसी अछोर मौन में डुबो गया। वहाँ माँ मरी थी ! माँ की बात सोच-सोचकर जी तो खूब चाहता है कि जी भर रो ले; पर उसका मुखड़ा याद ही नहीं आता। माँ थी वह,—जन्म उसी ने दिया था ! इस मिट्टी पर उसकी भी समाप्ति हो गई ! और यह रही वह राह,

जिससे पुयू आई थी ! सोचने बैठो, तो स्मृतियों की शृंखला बढ़ती ही चली जाती है। प्रत्येक स्मृति मानो कहने लगती है कि "मैं भी हूँ, मैं भी हूँ !—ज़रा मुझे भी, ज़रा मुझे भी।" सुबह से ही बराबरी के संगी-साथी की तरह दसरू पास लग कर आ बैठा। पुबुली के मुँह के पास अपना मुँह लाकर टुकुर-टुकुर ताकता रहा— "मैं भी तो एक याद हूँ ! —तुम्हारे भीतर मेरा क्या कोई भी स्थान नहीं ?—दो टुम मीठी बात, दुलार-पुचकार,—ज़रा-सा हाथों की सहलावन,—मैं दसरू हूँ, दसरू !—"

पुबुली लंबी उसाँसें भरती उठ खड़ी हुई।

आज !....आज जीवन का एक नया अध्याय शुरू होता है !

नहान-घाट पर पुयू से भेंट हुई— "कैसे चुपके से नहाने चली आई री ! मैंने देखा तक नहीं !"

पुयू हँसी। अन्तिम कौर गिलती-सी पुबुली उसी की ओर निहारती रही। यही उसके स्नेह की एकमात्र सहेली पुयू है ! वह संगिनी भी है, माँ भी, भाभी भी ! सभी कुछ पुयू ही है। मरद-मानुष से अभी पहचान ही कितनी है ? "तो क्या मैं भी तेरी ही तरह अलसा रहूँ ? तेरी नींद खुलने से रही, और फिर मेरी अब वह वयस भी तो नहीं ?" सुबह-सुबह ननँद से ठिठोली करने के विचार मात्र से उसका गीला मुँह हज़ारों भंगिमाओं से दमक उठा। बोली,—"इतना बड़ा चैत परब भी बीत चला, और तू बंदिकार ज़रा एक बार और गई तक नहीं ना ? और क्या होता फिर ? नींदों-ही-नींदों में खाली सपने देखते रहने से कहीं पेट भरने का है ?"

पुबुली ने चाहा तो बहुत कि उसी तरह मसखरी के सुर में उसका जवाब दे, लेकिन हँसी को बनाए नहीं रख पाई। गंभीर हो गई। कहा— "आज हम जा रहे हैं ? तू भी चलेगी ?"

"एँ ? बंदिकार ? "

"अरी, हम आज जंगल की सैर को जा रहे हैं, सैर को री ! शिकार को जा रहे हैं। वे तो गए सो गए। अब उनके लिए बाट जोहती बैठी रहने से चैत परब फिर लौटके आयेगा क्या ? तू ही देख ना भाई, कैसी

बात है यह ! बड़ा स्वार्थी है वह भी। जल्द आने का वादा कर गया और अब जान-बूझकर देर कर रहा है ! बड़ा डाही है, हाँ !—"

"क्या पड़ी है बहना ?—सब अपनी-अपनी धुन में लगे हैं। तू भी अपने मन की कर ! जहाँ मन हो, जा घूम-फिर आ, मौज-मज़े कर ले। किसी की बाट जोहती बैठी रहने में क्या धरा है ?"—पुयू चुप हो रही। पुबुली ने सोचा कि उसने बातें जाने कैसे कुछ छिपा-छिपा के की हैं, कुछ छल के साथ की हैं। क्यों आखिर ? पुबुली को लगा, कि पुयू का मन कुछ ठीक नहीं है शायद। उसे कुछ हो गया है। जैसे ही पुयू किनारे आई, पुबुली उसके गले से लिपट कर झूल पड़ी और छलकती आँखों से उसे निहारती हुई बोली—"मैं जा रही हूँ। बुरा तो नहीं मानेगी न पुयू ?—" पुयू फिर हँसी। पुबुली अपने को संयत नहीं रख सकी, उठ कर भाग गई। उसका जी रोने-रोने को हो रहा था।

कुछ समय बाद गाँव के रास्ते पर लेंजू कंध से भेंट हुई। उससे भी पुबुली ने घूमने जाने की अनुमति माँगी। यहाँ भी वह कुछ उद्वेलित-सी रही। चचा अपनी ही भावनाओं में व्यस्त था। बिटिया से बातें करने को उसके पास समय नहीं था।

उसके बाद जामिरी कंध मिला। बूढ़े ने असीस दी—"जा, अच्छा शिकार मिले तुझे, कोई आफ़त-विपद न आए, दिन खुशी-खुशी कटें, मन की मौजों में कटें।"

सभी सज-धज कर निकले। शिकारियों की सज्जा में मिङटिङ के धाङड़े थे और उनके साथ म्ण्यापायु (मिणियापायु) के चंद बूढ़े थे। बाकी सबकी सब धाङड़ियाँ-ही-धाङड़ियाँ थीं। बाजों की गूँज से गाँव का गलियारा कँपकँपा उठा। पुबुली झटपट घर आई, हाकिना को गोद में उठाकर लाड़ा-दुलारा और पुयू से बोली—"जाती हूँ !"

स्वर काँप रहे थे। ननँद-भावज ने एक दूसरे का मुँह निहारा। पुबुली का मुँह बंद था; पर आँखों की चितवन से बहुत सारी बातें झाँक रही थीं। पुयू सोच रही थी कि ऐसी आँखें जाने कब उसने देखी थीं, जाने

कहाँ देखी थीं ! पुबुली की आँखें मानो कुछ कहना चाह रही थीं ; पर पुबुली बारंबार बस इतना ही कहे जा रही थी कि "मैं जा रही हूँ, जा रही हूँ !"—और उसके पैर थे कि उठते ही नहीं थे । गाँव के गलियारे से बड़े बाजे और तुरही ने पुकारा । कोई-कोई अपने अलगोजे में स्वर तोड़-तोड़ कर गा उठा—"वामुड़े, वामुड़े !" (आ जा, आ जा !) अपनी विषण्ण आँखों में उज्ज्वल प्रतिज्ञा का तेज कौंधाकर पुबुली ने उन्हें अन्तिम बार चमकाया और बोली—"मैं जा रही हूँ पुयू !" और निकलकर बाहर चली गई ।

रास्ते में डिसारी का घर पड़ता है । डिसारी पाँडरू कंध राह-किनारे अपने ओटे पर बैठा मिला । सदा की तरह निश्चल बैठा था वह । इतनी धूम-धाम, इतनी धमाचौकड़ी, इतने जलसे-जुलूस आते रहते हैं और जाते रहते हैं, पर वह है कि मानो इन सबसे उसका अपना कोई वास्ता ही न हो ! देखते-ही-देखते उसकी आँखों की काली पुतली पिछले कितने वर्षों के बीच काली से ललौंही और ललौंही से नीली पड़ गई है ; पर फिर भी, सब के लिए उसकी असीसों का भंडार समान रूप से खुला रहता है । आप भागी न होने पर भी सभी को वह एक ही असीस देता रहता है । वहाँ भी पुबुली अटक रही । बोली—"मैं जा रही हूँ !"

"सचमुच जा रही हो ? हाँ, जा जा बिटिया, जा, योग तो बड़ा ही भला है ।"

पुबुली चौंक पड़ी । संदिहान दृष्टि से बूढ़े के मुँह को निहार कर देखने लगी । ना , संदेह बेकार है । इसका मुँह ही ऐसा है । वह शांत, प्रसन्न हँसी जो सदा उसके मुँह पर रहती है, अब भी विराज रही है । उसकी गणना क्या है, उसकी विवेचना क्या है, इसका पता इस हँसी की ओट में छिपा रहता है । जरा भी पता नहीं चलता कि उसके मन में क्या है । पुबुली को अटकती देखकर पाँडरू जानी आप ही हड़बड़ाकर बोला,—"जा-जा, जल्द जा । नहीं तो योग टल जायगा । बड़ा भला योग है, अभी

इसी घड़ी चली जा। यों ठमक क्यों रही माँ ?[1] अभी तू बच्ची ठहरी। इस नई वयस में इतनी चिन्ता नहीं किया करते, हाँ! जा, मन में उमंगें भर ले, मौज-मज़े कर, खुशी-खुशी घूम फिर आ।"

जुलूस गाँव से बाहर निकल गया।

पुयू बच्चे को गोद में लिए खड़ी थी। मुड़-मुड़कर पीछे देखती हुई पुबुली मोड़ पार कर गई, ओट में पड़ गई। लेंजू निबोंध की तरह बैठा धुंगिया पिका फूंकता रहा। पाँडरू कंध निश्चिन्त होकर बैठा रहा। मन-ही-मन कहता रहा—"ठीक,-ठीक, 'रैदासी' योग— मिलना-जुलना! 'रेती' योग—ब्याह का मौसम! यह 'रेती' योग ही तो पड़ा है! कभी भूल हो सकती है इसमें भला! धन्य हो, धन्य हो, धन्य हो तुम आकाश के तारो! माटी के मानुष को क्या-क्या नाच नचाया करते हो तुम भी! आज 'रेती' योग में तुमने आदमी को दसहरे के माह का कुत्ता बना डाला है!" बूढ़ा मन-ही-मन बकता रहता है। घर से उसकी बुढ़िया निकली। पांडरू कंध बोला—"लाई है?" बुढ़िया ने हाँड़ी से घूंट भर ढाल कर उसकी ओर बढ़ा दिया। पाँडरू ने कहा, "देखा?—सरबू साँवता की बेटी गई!" बुढ़िया ने पूछा—"कहाँ गई?" "गई!!"— पाँडरू कंध हँसा। बोला—"इस राह से कितने ही तो जाते हैं, कितने ही आते हैं! 'रेती' योग जो पड़ा था। इस में नई बात क्या है? अन-होनी क्या है? पर हाँ, एक बात है, इस बार हमारे साँवता की बेटी गई है, ज़रा तू भी देख लेती।"

---

१ स्लाव देशों की तरह अपने भारत के पूरबी अंचलों में, बंगाल और बँगला संस्कृति से प्रभावित अंचलों में, पुत्री और पुत्री-स्थानीयाओं को प्यार से माँ कहते हैं।—अनु०

चौवन

गाँव ! पहाड़ के ढलवानों-ढलवानों पर गाँव ! नीचे, और नीचे, गाँव.....

खुले में मँडुए के खेत, अलसी के खेत, थाल की तरह दिखाई पड़ते हैं। गाँव के लिए ये खेत ही भात की थालियाँ हैं। उस खुले नंगे मैदान में पेड़ों की जड़ों के अनगिनत ठूँठ मनुष्यों के प्रतिनिधियों के रूप में खड़े हैं। कुल्हाड़ियों की चोट पड़ने के पहले कभी ये भी पेड़ थे। अब जहाँ-तहाँ काले काले ठूँठ और ढोके-ढोके पत्थर भर रह गए हैं।

उसी उतराई की राह पर सभी झटपट चल पड़े। पूरा दिन अभी आगे पड़ा है, शिकार की बातें करने को। इसीलिए शायद अभी किसी को शिकार की चिन्ता नहीं है। चप्पों-चप्पों पर जहाँ-तहाँ बड़गद के जंगल हैं। छोटे-पेड़ के पौधे वहाँ मिट गए हैं। बेलें सूख गई हैं, पतली पड़ गई हैं। और सब के तले, पतली-पतली पट्टियों पर धनखेत हैं, जिन में धान नहीं है। वहाँ खड़े होने पर शिकार की जगह पास पड़ती है। वहीं झोलों की फाँकों-फाँकों में बकर-हिरनों (जियाद हिरनों) और साँभरों के चरा-वर हैं। वहीं पहाड़ों की गुफाओं में बाघ के अड्डे हैं। आज-कल आदमी की बारी है। फिर जब गरमियों के दिन किसी तरह कट-कटा जायँगे, तब चीता-बाघों की बारी आएगी। फिर इन पट्टियों में आदमी पैठ नहीं सकेगा।

उस तलहटी वाले खात में बैठी ऊपर की ओर टकटकी बाँधे वह देखती रही। वहाँ उधर, ऊपर की ओर, किसी बाँक पर उसका गाँव है। यहाँ से देखने पर किसी को पता तक नहीं चलेगा कि वहाँ कोई गाँव भी है। पहाड़ के गुलाई-दार चक्करों और ढलानों के ऊपर पहाड़ के कितने ही भाग जाने कहाँ छिप जाते हैं। तले बैठा आदमी, जिसे देखकर पहाड़ की चोटी मान लेता है, वह असल में चोटी न होकर एक पैड़ी भर ही होती है। ना, चाहे लाख फाड़ लो आँखें, गाँव नहीं दीखता, नहीं दीखता। पर

वहीं, पता नहीं यहाँ से और कितनी ऊँचाई के ऊपर, उसके बाप-दादों की माटी है। वहीं उसके बचपन और बालापन के दिन बीते हैं। वहीं पर उसके आज तक के अस्तित्व के चिन्ह-वर्ण हैं। यह सब पीछे हैं। आगे है शिकार, मौज-मजे, मानुष-जीवन का नया परिच्छेद। नया परिच्छेद! आगे जो कुछ है, सब नया ही नया है।

सभी आनन्द में मगन चले जा रहे थे। पुबुली अपने साथ की छोकरियों के सँग-सँग ही चल रही थी। मिङटिङ गाँव के धाङड़े नलियाँ ताने जंगल-झाड़ों को झाड़ते-टटोलते जाने कितने आगे-आगे निकले जा रहे थे।

जंगल घना हो उठा। चारों ओर कुंज-ही-कुंज और खोल-ही-खोल भरे पड़े थे। चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा छा रहा था। चारों ओर विस्मय-ही-विस्मय भरा पड़ा था। गहरे 'झोले' धरती की फाटों-दरारों की तरह ऊपर से उतरते, तले की ओर सनसनाते चले जा रहे थे। उन्हीं के किनारे-किनारे चढ़ान की राह थी। जंगल में पैठते ही धाङड़ों ने गीत छेड़ दिया। धाङड़ियों ने गीत की टेक उठा ली। आगे बढ़े हुए किसी एक ने सब को चुप कर दिया, उसने हाथ उठा कर सभी को जहाँ-का-तहीं रुक जाने का संकेत किया। सभी चुप्पी साध कर अपेक्षा करने लगे। एक उठान के तले रुक रहे थे वे। सामने से बेशू कंध बंदूक कँधियाए हुए ऊपर उठान की ओर चढ़ता बढ़ चला। राह की चढ़ान दीवार-सी खड़ी थी। पैर टेकना मुहाल था। पत्थर पिच्छल, खुरदुरे और नुकीले थे। जहीं तहीं पेड़ों की ठूँठ जड़कुनें थीं। बढ़ने में किसी प्रकार का शब्द न होने देना और फिर भी साँसें रोके निशाने का ठिकाना रखते हुए उस कठिन उठान पर चढ़ते जाना, बड़ा ही दुष्कर काम था। मांस की सारी पेशियाँ टनक-टनक उठती होंगी। कितनी चौड़ी छाती है उसकी। देह की गढ़न मानो रंदे से रंदी हुई हो। गाढ़ा जामुनी साँवलापन लिए उसका रंग चमक-चमक रहा था। लगता था मानो लोहे का कोई भीम हो। बंदूक ताने हुए बेशू कंध उठान की चोटी पर पहुँच कर कहीं ओट हो गया। नीचे उसका यार सुभ्री कंध तले-

तले ही बाँक की परिक्रमा करता हुआ उठान की उस ओर को चला गया।

इतने लोग किस बात की प्रतीक्षा यों साँसें रोके कर रहे हैं ? ओफ़्, कैसी अशब्द चुप्पी है ! शिकारी जातियों की तालीम ही ऐसी होती है कि ऐसे मौकों पर कोई भी हिलता-डोलता तक नहीं, कोई खाँसता-खँखासता तक नहीं !

चुप ! चुप !!

इस अप्राकृतिक चुप्पी के बीच पुबुली एक पेड़ से उठँगी खड़ी थी। प्रतीक्षा का विस्मय उसके कलेजे में पैठ गया था। अपनी छाती के भीतर अपने कलेजे की धड़कनें दुरमुस पिटने की तरह सुनाई पड़ रही थीं। समय बीता। धूप ठीक सिर के ऊपर आ गई । अगम गहन वन के भीतर कहीं कोई पत्ता तक खड़क नहीं रहा था। पुबुली के मन के भीतर आशंका उतर आई । ठीक है कि बेशू कंध इतना बड़ा, इतना बली 'भेंडिया' है। ठीक है कि उसके हाथों में हथियार भी हैं; पर राम न करे, वह लौट न सका तो ? कुछ देर बाद अगर उसकी केवल आर्त्त चीत्कार भर ही सुनाई पड़ी तो ? जंगल आखिर जंगल है। जंगल कितना भी अपना क्यों न हो, जंगल का कोई विश्वास तो नहीं होता ना ? उठान की उस ओर बाघों का अड्डा है। आदमी की तरह बाघ भी शिकार की टोह में दबे पाँवों फिरता रहता है। आदमी उसके आगे क्या खाक शिकारी होगा। एक नन्ही-सी कुदान, एक सीधी सी गरज, एक हलका-सा झपट्टा और देखते-ही-देखते आदमी बाघ के मुँह में होता है ! जैसे पतंगा हो ! यह तो नित-दिन के देखे-दिखाए दृश्य हैं !

बाट जोहते-जोहते कानों के भीतर भाँय-भाँय होने लगी। पुबुली अब इस बात की अपेक्षा करने लग पड़ी थी कि बेशू कंध की चीख अब सुनाई पड़ी, अब सुनाई पड़ी। इसी बीच पवन हू-हू करके चल पड़ी। जंगल के भीतर साँय-साँय की आवाज़ गूँज उठी। जाने किधर से चंपा की गंध आई। जाने कहाँ से जंगली केवड़े की सुरभि आई। कुत्सित प्रतीक्षा का मोह कट गया। अपने भीतर झाँकना बंद करके पुबुली ने बाहर की

ओर निहार देखा। चैत की धूप फैली है। जंगल का भीतरी भाग भी झिल-मिल-झिलमिल झलक रहा है। उसके संगी-सँघाती एकदम नीरव चुप्पी साधे बैठे हैं। ऊपर चढ़ान की आधी राह तक ठौर-ठौर पर गाँव के बूढ़े बैठे हुए हैं। कहीं कुछ भी दिखाई-सुनाई नहीं पड़ता।

हठात् ओड़िया नली की गोली छूटने का ठाँय-ठाँय शब्द हुआ। कानों को ऐसा लगा मानो पास ही कहीं कोई वज्र चिग्घाड़ उठा हो। पुबुली चौंक कर नीचे लुढ़क गई। सभी कलरोर मचाते हुए आगे की ओर दौड़ पड़े। दूर कहीं से किसी के उल्लास का स्वर तिर आया— "जानवर उतरे हैं,[1] जानवर उतरे हैं! दौड़े आओ, दौड़े आओ!"

काफ़ी दूर निकल गए वे। एक जगह पर 'झोलों' के कटाव से झुर्रियां-दार से बने ढूहों-ढलानों से घिरे डूँगर के ऊपर, पहाड़ की छाँह में, गिलीं के कुंजों के पास, बड़े-बड़े सींगोंवाली एक साँभर हिरन पड़ी थी। उसकी पीठ की ओर अपनी लंबी नली लिए खड़ा वेशू कंध धीरे-धीरे मुसकुरा रहा था।

सभी उसी की ओर बढ़ गए। धाङड़ियाँ खुशी के मारे उसे घेर-घेर कर नाचने लग पड़ीं। धाङड़े बेशू कंध को काँधे पर उठा कर भँवराने लगे। सभी के मुँह से प्रशंसा के उद्‌गार झड़ रहे थे। जंगल में अकेले पैठ कर शिकार ढूँढ़ लेना और अकेले ही उसका काम तमाम कर देना, किसी के लिए भी कोई कम प्रशंसा की बात नहीं है। अनगिनत सवालों के जवाब देते-देते बेशू कंध पसीने-पसीने हो गया। "देखा कैसे?" "मारा कैसे?" "और क्या-क्या मारा है?" "भेंड़िया बड़ा ही निशानेबाज है!" बेशू केवल पुबुली का ही मुँह टुकुर-टुकुर ताकता रहा और बच्चों की-सी निर्मल हँसी हँसता रहा। उसकी निगाहों के कहने का उद्देश्य मानो यह था कि "बातों में क्या रखा है, करनी में तो देख लिया ना?"..... पुबुली भी उसे निहारती हुई हँस रही थी। वह भी कुछ कह नहीं रही थी; पर उसके मन में बस एक बात थी,—'ऐसी क्या बात है जो लोग जान लेंगे? और

१ अर्थात् शिकार मारा है।

जान ही लेंगे, तो उसमें क्या है ? मैं सब जानती हूँ। अकेली मैं ही ऐसी हूँ जो पूरी-की-पूरी तुम्हारी ...."

वहीं लोग आगे का कार्यक्रम विचारने लगे। शिकार और किया जाय कि इतने ही पर बस कर दिया जाय ? दो दलों के दो मत थे। बूढ़े उपदेश दे रहे थे—"जैसे भी हो, एक जानवर तो मिल ही गया। अब चलो लौट चलें; बेकार और जहमत उठाने की जरूरत ही क्या है ? छोकरे परदेसी ठहरे, उनका तो कोई मतामत ही नहीं था। और कातरता, कायरता या क्लांति दिखला कर छोकरियों के आगे हेठी सकारने वे आए भी नहीं थे। पर वे मँजे हुए शिकारी भी नहीं थे कि जानवर मारने की खुशी में मतवाले होकर एक के बाद एक को सुलाते चल सकें। रहीं छोकरियाँ, तो उनकी तो दुनिया ही उलटी है। शिकार बंद होने की आशंका की गंध पाते ही वे नाच-नाच कर चिल्लाने और हठ करने लगीं कि "इतने से क्या होगा ? यह तो अभी श्रीगणेश भर है। न जंगल के घेराव हुए, न जानवरों की खदेड़ा-खदेड़ी हुई, घर से अभी ठीक तरह निकल भी नहीं पाए कि शिकार बंद। यह भी कोई बात हुई ?" हिरनियों के नरों, साँभरियों के नरों के निर्दोष प्राणों के ऊपर यमदंड पटकती हुई-सी वे रट लगाए थीं—"और", ..."और...!" अछता-पछता कर सभी राजी हो गए। बात यह तय पाई कि एक अच्छी-सी जगह चुन कर थोड़ी देर सुस्ता लिया जाय और फिर खा-पी लेने के बाद शिकार करके घर लौटा जाय।

थोड़ी ही दूर पर एक झरना था। झरने की ओट में थोड़ी-सी छाँहदार समतल धरती थी। तीन ओर घोर जंगल थे। लोगों ने काँधों की बँहगियाँ उतार डालीं। तुंबियों से मँडुए, काँदुल (बड़ी रहर) तथा जंगली कंदों के पाथेय निकाले गए। कंध के रसोई-पानी में कोई वैसी देर नहीं लगा करती। जंगल से लकड़ी लाई गई, पत्ते लाए गए। पाँत-पाँत चूल्हे बिठा दिए गए। रसोई पकने के पहले, तब तक लोगों ने घर से लाए बासी खाद्य से सामान्य-सा जलपान कर लिया। पत्थरों से उठँग उठँग कर लोगों ने पैर फैला दिए और धीमी-धीमी हँसी-ठिठोली और गपशप के साथ

आराम से धीरे-धीरे धुँगिया के कश लगाते रहे। वनवासी मानुष का विश्राम इसी तरह हुआ करता है। साँभर की लाश वहीं एक ओर पड़ी रही। शिकार जब तक मार नहीं लिया जाता, तब तक सभी की आँखें उसी पर लगी रहती हैं; पर शिकार मरा नहीं कि शिकार का सारा खेल खतम हुआ। फिर तो वह जन्तु केवल खाद्य-मात्र रह जाता है, कोई मुड़ कर उसके बारे में पल-भर सोचता तक नहीं।

रसोई के काम बढ़ा लिए गए। धूप चिलचिला उठी। अब शिकार तो तभी होगा, जब धूप थोड़ी-सी ढल ले। पास में घने कुंजों वाले जंगल से भरी एक टेकरी है। उसके तीन ओर झरने हैं। घेर कर घात लगा बैठने से हिरन मिलने की संभावना है। बूढ़े ऊँघ पड़े। छोकरे-छोकरियों के दल सट-सट के बैठे गप करने लगे। यहाँ किसी को किसी का डर-भय नहीं। अपनी रुचि के विरुद्ध, अपनी इच्छा के विरुद्ध, कुछ भी करने की बाध्यता नहीं है। गपशप के ही भीतर वे एक दूसरे को तोल रहे हैं। तोल रहे हैं भावी के बड़े जीवन को अपनी आँखों के आगे रखते हुए। सामयिक मोह में पड़ कर कितने ही कितनों की जाने कैसी-कैसी संवर्द्धनाएँ करते हैं, फलों-फूलों के उपहार देते हैं। कोमल-कोमल बातों और मीठी-मीठी चितवनों के सुख में समय काटने को जाने कितने ही जोड़े बे-समझे-बूझे ही तैयार हो जाते हैं।

इसी फुसफुस के दौरान में बेशू कंध ने प्रस्ताव किया—"चलो, 'झोले' में मछली पकड़ें!" कितने ही आग्रह के साथ उठ पड़े। मछली पकड़ने में केवल शिकार के मजे ही नहीं, और भी बहुत-सारे सुख मिलते हैं। सभी मिल-जुल कर 'झोले' का कोई एक टुकड़ा पत्थरों से बाँध देंगे और पानी बहा देंगे। थोड़े पानी में हाथ से टटोल-टटोल कर मछली पकड़ी जायगी। इसमें कीचड़-पानी उछाल-उछाल कर एक दूसरे पर फेंकने की बड़ी सुविधा रहती है। मछली पकड़ने वाले दोनों दलों का मिलना-जुलना एक तरह का दिलचस्प खेल है। कितनों ने तो प्रस्ताव सुनते ही हँसते-मुसकुराते हुए पानी में छलाँग मार दी। पास के जंगलों से लक्कड़-पत्थर लाकर बाँध-

बाँध दिया गया, पानी बहा दिया गया। काम ढेर सारे थे। लोग पिले पड़े थे। ऊपर पेड़ों की जड़ों के ऊपर बूढ़े सोए पड़े थे। बेशू पुबुली के पास आया। वह झुकी कुछ कर रही थी। पुबुली के कान के पास आग की दौंक-सी लगाते हुए और सारी देह में बिजली-सी दौड़ाते हुए बेशू कंध ने कहा—"चल, हम उधर चले चलें। उधर उन झाड़ियों की ओट में। वहाँ झरना सीधा है। मेरा खयाल है, उधर मछली बहुत जल्द मिलेगी। इस चतुराई की सलाह पर दोनों एक दूसरे को देखकर खूब मुसकुराए। आवाज़ ऊँची करके बेशू ने कहा—" ठहरना ज़रा। उधर अँधेरा है। नली लिए चलना ठीक रहेगा।" बेशू ने अपनी नली और अपनी सामान्य बोझवाली बँहगी उठा ली। उधर और सभी पानी बहाने में लगे थे। म्ण्यापायु (मिणिया-पायु) की पुबुली और मिङटिङ गाँव का बेशू कंध आगे-पीछे होकर अँधेरे 'झोले' के भीतर पैठ चले।

दोनों ओर पहाड़ दो दीवारों-सा खड़ा था। दोनों के बीच की फाँक बहुत ही थोड़ी थी। उसी फाँक में 'झोला' बह रहा था। पहाड़ी नदी ठहरी, धारा बीच में पतली-सी थी। धारा के दोनों ओर सरकती हुई गीली रेत थी। पानी पाकर जंगल इधर खूब बढ़े हैं। ऊपर इस पार और उस पार के जंगलों ने एक दूसरे से मिल कर घना जाल-सा बुन रखा है। उस जाल के नीचे सुरंग की तरह यह रास्ता है। यही 'झोला' है। राह में दाँएँ-बाँएँ से और भी ऐसे ही कितने 'झोले' आ-आ कर मिलते गए हैं। मानो पाताल के भीतर सुरंगों की मायापुरी हो!

कुछ दूर आगे निकलने पर बेशू ने पुबुली की बाँह पकड़ ली और कहा, "होशियार नुनी [1], होशियार! डर तो नहीं लग रहा?" कहीं वह अनामिक सामने निकल आए तो कलेजा मुँह को आ जायगा। झोले के साथ-साथ अँधेरे का भी एक सोता बहा आ रहा है। ऊपर पेड़ों-लताओं के घने जाल से कभी-कभी किसी आकस्मिक फाँक की राह धूप के गोल-गोल

१ दे० पादटीका पृष्ठ २३०

चकत्ते सिर पर झड़ पड़ते हैं। खड़ी दुपहरी है ना, इसीलिए। वरना ज़रा-सी बेर ढली नहीं कि ये चकत्ते भी लोप हो जायँगे। अभी भी जितने सारे चकत्ते ऊपर से उतर रहे हैं, वे सभी 'झोले' की पेटी तक पहुँच नहीं पाते। दोनों और दीवारों-सी खड़ी जो चट्टानें हैं, उन से ककौड़ियों[1] के अभेद्य जंगल झूल रहे हैं। ये जंगल ऊपर से उतरते धूप के उन चकत्तों को ऊपर-ही-ऊपर झेलकर गटक से लील जाने को मुँह बाए रहते हैं। हर घड़ी इन ककौड़ियों की हलर-हलर लपका-झपकी लगी रहती है। मच्छड़ों का मेघ घाँव-घाँव भनभनाता हुआ मुँह के ऊपर उड़ता रहता है। भीमा मकड़ियों ने इस दीवार से उस दीवार तक जाले बुन रखे हैं। बड़ी-बड़ी भीमा मकड़ियाँ पूँजीपति की तरह उन जालों में बैठी हुई हैं। उन की आँखों में एक तीव्र और कठोर चितवन है। पहाड़ की ये दीवारें मानो दोनों ओर से दाबे आ रही-सी लगती हैं। आकाश यहाँ नहीं है। जोर से वेशू कंध के हाथ को पकड़ कर अपनी ओर खींचती हुई पुवुली ने कहा—"ना, कोई डर-भय नहीं!"

दोनों उसी तरह आगे को बढ़े चले। लोगों के बतराने की जो गूँज पीछे से सुनाई पड़-पड़ जाती थी, वह भी धीरे-धीरे मंद-मंदतर पड़ती हुई अब बिलकुल बंद हो गई। दो फाँकों को पार कर लेने के बाद बाहर के लोगों के सभी स्वर-गंध-स्पर्श निःशेष हो गए। पुवुली ने पूछा—"अब किधर, वेशू—?"

वेशू हँसा। बोला, "थोड़ा और चल लें। अब 'झोला' टेकरियाँ लाँघता ऊपर को चढ़ रहा है। हम पहाड़ पर ऊपर-ही-ऊपर को चढ़े चले जा रहे हैं। वे न जाने कितने नीचे रह गए हैं; पर हाँ नुनी, अब ज़रा सावधान रहना है। बाघ मामूं यहीं उस ऊपर के झोले में रहता है। ऐसा अगर कुछ निकल पड़े, तो मुझ से चिपक मत जाना। मेरे पीछे-पीछे मुझ से सटी-सटी रहना, बस! मैं सब ठीक कर दूँगा। अब थोड़ी ही दूर तो और रही गया है।"

---

१ फ़र्न-जातीय पौधों।

अँधेरा और गहनाया। झोला और सँकराया। पहाड़ की दोतरफ़ी दीवारों में खोल और गुफाएँ थीं। उन में तो इस दिन-दुपहर को भी हाथ-को-हाथ नहीं सूझता था। अँधेरा जैसे थोक का थोक इसी गोदाम में रखा गया हो। सिर के ऊपर जानवरों के दौड़ने-भागने की आहट सुनाई पड़ जाती थी। हिरन-साँभर आदि जंतु इस दीवार से छलाँगें मार कर उस दीवार पर फाँद-फाँद जाते थे। पुबुली हाथों का संकेत करती। बेशू इंगितों में ही कहता, -"ठहरो, अभी ठहरो।"

झोले की दीवारें धीरे-धीरे छोटी होती गईं। झोले का गतिपथ धीरे-धीरे अतट हो उठा। उठान अब पैड़ियों-पैड़ियों उठने लगी। झरने की गरज बढ़ने लगी। अब तो ठीक 'झोले' के भीतर से भी बेशुमार बड़गद उगे मिलने लगे। बेशू ने कहा—"कोई भली-सी जगह देख कर हम ऊपर चढ़ जाएँगे। हमारी 'झोले' की राह अब लगभग खतम हो चली।"

कुछ दूर और ऊपर जाने पर 'झोले' के दोनों कगारों को छापे झुंड-के-झुंड मोर बैठे मिले। पुबुली ने फिर हाथ दिखाया। बेशू ने फिर मना कर दिया। उसके थोड़ी ही देर बाद म्याँव-म्याँव सुनाई पड़ा। इस पार के बाघ और उस पार की बाघिन ने एक दूसरे से बातें शुरू कर दी थीं। स्वर उनका अत्यन्त ही कोमल, अत्यन्त ही रसीला था। बाघ का स्वर मानो चिरौरी कर रहा हो कि 'हो ले, हो ले' और बाघिन मानो भद्र, कोमल स्वर में 'नाहीं, नाहीं' कर रही हो! बेशू ने ऊपर की ओर हाथ टेक कर कहा—"बड़े बाघ हैं ये, बाघ और बाघिन।" पुबुली भय के मारे काठ हो रही। बेशू बिलकुल पास आया। बंदूक सधी रखे हुए उसने पुबुली को पकड़ लिया और दो डग नीचे उतर आया। फिर भी बघौती बोली की मधुर लहरियाँ कानों के परदों पर बहुत ही स्पष्ट बज रही थीं। यही वह घर्र-घर्र बोल है, जिससे पेड़ों के पत्ते तक झड़ पड़ते हैं? जिससे लहू पानी हो जाता है, देह निश्चल हो पड़ती है? इसमें तो उस गरज का आभास तक नहीं है। कहाँ, कुछ भी तो नहीं! यह तो अति धीर, अति भद्र स्वर है, चीन्हे-पहचाने स्वर की तरह। बेशू हँस रहा था। बोला—"ये लोग

आपस में ऐसे ही लाड़ लड़ाते रहते हैं। ये तो दुलराहटें हैं। गरज तो इन की तब सुनाई पड़ती है, जब इन्हें कोई शिकार दिख जाय। बाघ का घर उधर वहाँ, ऊपर की ओर है। कहीं कोई बड़ी सी गुफा होगी, उसके नीचे धरती दो-फाँक होकर फट गई होगी। उस फाँक से झरना निकला होगा। पानी पास-ही-पास हो, रसोई-पानी का सुभीता हो, तभी तो बासा भला बासा कहलायेगा ना ? एक झरने के इस ओर से निकल रहा है तो दूसरा उसे उस ओर से घेर रहा है। बाघिन कहती है कि छू तो ले मुझे तो जानूँ, देखूँ कैसे छू पाता है ! बाघ भले शिकार का लोभ दिखला रहा है। कह रहा है, कहो जितने मोर ला दूँ। जो माँगो सो दूँ। बस ज़रा पास आ जा, ज़रा-सा। बाघिन 'नाहीं नाहीं' किए जा रही है। अच्छा भाई, चलो हम थोड़ा-सा और नीचे खिसक लें। जान-बूझकर बाघ-बाघिन के बीच में पड़ने की कोई ज़रूरत नहीं। नली रहने से भी क्या होता है?— ।" पुबुली का हाथ धरे बेशू कंध बड़ी सावधानी के साथ नीचे की ओर उतर चला। चढ़ान के लिए तो यह राह बड़ी अच्छी भली थी, पर उतरान में बड़ी विकट और बेहद फिसलन-भरी है। पैर तनिक भी बेतोल पड़े कि घुटने की कील छिटक जायगी। पुबुली ने तले की ओर देखा। चढ़ते समय पता नहीं चला था। बाप रे, यह तो पूरा पाताल है। अँधेरे-अँधेरे जैसे तलातल भेद गया है। 'झोले' के छल-छल कल-कल शब्द कानों को बहराए डाल रहे हैं। मानो सारा संसार ही सरसराता हुआ नीचे को गिरा पड़ रहा हो और गिर कर झोले की राह तिरता पाताल को चला जा रहा हो !

बेशू पुबुली के मन की बात समझ गया था। इस विकट राह से तले उतरने का साहस साहस की पुतली इन कंधुनियों को भी नहीं हो सकता। पुबुली को वहीं बैठी रहने को कह कर बेशू कगारों-कगारों ऊपर उठ गया। नथने फड़का-फड़का कर उसने हवा की दिशा-गंध ली। पेड़ों के पत्तों पर और धरती पर कान पात-पात कर धमक की आहट ली। झुक कर खड़ा हुआ और फिर घुटनों के बल सरक-सरक कर, झाड़ी-झुरमुटों में ढेले

फेंके-फेंक कर, आस-पास की वनस्थली को एक बार भली भाँति परख देखा। देख-दाख कर बेशू निश्चिन्त हो गया कि नहीं, बिपद नहीं है अब ! फिर उसने आश्वासन की हँसी का लौंदे-का-लौंदा नीचे को लुढ़काया। ऊपर से हँसता बेशू झाँक रहा था और नीचे से पुबुली मोरनी की तरह ऊपर को मुँह किए टकटकी बाँधे थी। बेशू उतर आया। पुबुली को उठा कर उसने सियाड़ी-बेल की एक मोटी-सी सूँढ़ पर चढ़ा दिया और आप भी कछार की ओर से फांद कर उसके पीछे-पीछे चढ़ चला।

पुबुली का विश्वास लौटने लगा। कुछ देर के परिश्रम के बाद दोनों ऊपर तने लता-जाल के पास पहुँच गए। फिर कगार की दीवार के उपरले सिरे पर और फिर बिलकुल ऊपर।

तले से ठीक ऊपर देखने पर जितने घने जंगल भरे दिखाई देते हैं, उतने घने वास्तव में नहीं हैं। जंगल जो कुछ भी है, वह 'झोले' के सिरे-सिरे पर ही है। यहाँ अनगिनत चिड़ियों के बासे हैं। नाना जाति की चिड़ियाँ यहाँ आ बसी हैं। तले के 'झोले' की सीमा को जताने के लिए 'झोले' के ऊपर सर्पिल रेखाओं में फैली हुई घने वन की लहरियाँ हैं। दोनों ओर थोड़ा-सा ढलवाँ है। ढलवान पर बिखरे-बिखरे कुंजों में छिदरे-छिदरे जंगल हैं। पेड़ कम हैं। पत्थर अधिक हैं। उधर, ऊपर की ओर, पहाड़ की चोटी दिखाई दे रही है। अब वे उपत्यका के ऊपर आ गए हैं। आसमान यहाँ खुला-खुला और धुला-धुला-सा है। चारों ओर'झोले' हैं। ठीक बीच में छोटी-सी टेकरी जैसी चटियल उभार है, जो जंगलों से तुपी-छिपी है। यही पहाड़ की चोटी है। बेशू ने कहा—"यहाँ 'झोले' के बहाव के पास-पास से कोई घाटी-राह जरूर होगी। चल, चले चलें।"

वे कहाँ पर मछली मार रहे होंगे अभी ? हमारे बंधु-बांधव कहाँ पर हमारी राह तक रहे होंगे ? पता नहीं कहाँ ? वह पहाड़ तो जाने कितना नीचे छूट चुका है।

झोले के तलदेश पहाड़ की तलहटी में है। इतनी ऊँचाई से देखने पर

वह पाताल से भी नीचे जान पड़ता है। पहाड़ मेघ की परतों की तरह तह पर तह जमे उठते चले गए हैं। इन्हीं पहाड़ों में कहीं एक छोटा सा पहाड़ दुबका छिपा पड़ा है। उसी लुके-छिपे छोटे-से पहाड़ के ऊपर अपना मण्या-पायु गाँव है। मँडलाती विपदा से छुटकारा मिल जाने पर पुबुली की उदास उदास आँखें उसी ओर ताकती उस नन्हें पहाड़ को ढूँढती रहीं। कहाँ है वह? उसका तो कहीं पता तक नहीं चलता। जिधर देखो उधर ही पहाड़-तले-पहाड़ बिछे पड़े हैं। उनकी संधियों पर गहरे खोलों-खातों में घनघोर जंगल उपजे हुए हैं। धूप ढल आई है। पहाड़ का ऊपरी आधा भाग गाढ़े बैंगनी रंग में रँगा हुआ-सा जान पड़ता है। काली छाँहें नीचे के खालों में पसरती चली जा रही हैं। जहाँ तक निगाहें जा पाती हैं, वहाँ तक लहराते चढ़ाव-उतारवाले पहाड़-ही-पहाड़ दिख रहे हैं। यहाँ मनुष्य के लिए कोई स्थान नहीं। उसके आकुल मन की बात बेशू ने पल-भर में भाँप ली। कहा—"गाँव खोज रही है पुबुली? वह रहा गाँव, उस पहाड़ की ओट में। वहाँ, उस पाताली तलहटी से चढ़ते-चढ़ते हम यहाँ आ पहुँचे हैं। अब चाहो भी तो वह राह मिल सकती है भला? मन को इस तरह व्यस्त किसलिए कर रही है नुनी[1]? बीति ताहि बिसारि दे। जो गया सो तो गया, अब लौटकर थोड़े ही आएगा? अब तो किसी तरह दौड़-भाग कर यहाँ से निकल चलना है। वरना बेर ढल जायगी, अबेर हो जायगी। आज चाहे जैसे भी हो काकिरी घाटी के पास के लचाउणी गाँव तक पहुँच लेना है। रात वहीं काट लेंगे। फिर कल-भोर-ही-भोर उठ कर चल देंगे और कलेवे की बेर तक चंपा झरने तक पहुंच गए, तो कल बेर डूबने तक अपने गाँव मिङ टिङ में होंगे। यहाँ क्या देख रही है नुनी? चल, वहाँ चल। चल, वहाँ देखना कि हमारे गाँव में थल कैसा है, वन कैसा है। चल, वहाँ देखना कि हमारे गाँव में शिकार कैसे होता है। वहाँ तो जानवरों की खान है खान। जंगल की राह है तो क्या हुआ? जब तक यह नली हाथ में है, तब तक कोई डर-भय

---

१ दे० पादटीका पृ० २३०

नहीं। और फिर हो सकता है कि हमारे गाँव के लोग राह में मिल भी जायँ, वे बाहर से लौटनेवाले हैं।"

पुबुली के डाँवाडोल मन को बेशू कंध ने मानो थूनी का भर देकर सीधा खड़ा कर दिया। उसे अपनी ओर खींचने के लिए हर तरह की लुभावनी बातें सुनाईं। भाँति-भाँति के दम-दिलासे दिए, जी सहलाया, दंभ भरा। अब आगा-पीछा सोचने को बेर रह नहीं गई थी। पीछे की बात पीछे पड़ गई। आगे की राह तय करनी थी। पुबुली ने बेशू कंध का हाथ धर लिया और अनजानी जंगली राह पर पाँखें खोल कर उड़ चली।

यह प्रथा आदिम काल से ही इसी तरह चलती चली आ रही है। कुछ लोग वन की बेटी को वन की हिरनी की तरह पकड़कर ले भागते हैं और ब्याह लेते हैं। इसी को 'उदूलिया ब्याह' कहते हैं। कंध-समाज में विवाह लौंडे और लौंडिया का मन मिले बिना कभी नहीं होता। वर पहले से ही कन्या को कह रखता है, फुसलाए रखता है, उसका मन लिए रहता है। फिर किसी दिन आ पहुंचता है और चुपके से उसे उड़ा ले जाता है। पकड़े जाने पर युद्ध में सामना करने को वह पहले से ही प्रस्तुत रहता है। मार-पीट खाकर और मार-पीट करके ही वह ब्याह कर पाता है। हाँ, ब्याह की यह रीत कई रीतों में एक रीत भर है। जिसे कन्या-सोना[1] देने की सकत नहीं होती, जिसे बड़े-बूढ़ों की असहमति की आशंका होती है, या कि वर घरजमाई बन कर, ससुराल खट कर, अपना देय कन्या-सोना सधाने को, मजूरी के रूप में चुकाने को, तैयार नहीं होता, उसके लिए यह 'उदूलिया ब्याह' करना ही एकमात्र उपाय रह जाता है। 'उंदूलिया ब्याह' रिवाज के बाहर की चीज़ नहीं, बिलकुल प्रचलन-सम्मत ब्याह है। प्राचीन काल के मानव-समाजों में पकड़ लाई गई कन्या से ब्याह करने की जो प्रथा थी, उसी का स्मारक यह 'उदूलिया ब्याह' भी है।

---

१ वरपक्ष की ओर से कन्यापक्ष को अनिवार्य रूप से दिया जानेवाला यौतुक या जहेज़।

सो, पुबुली भी एक दिन इसी तरह पराए गाँव के एक जान-पहचानी आदमी का हाथ धर कर उदूलिया चली गई । दुनिया की खुली हाट में अपने मन की गढ़न के अनुरूप अपना आदर्श संगी चुन लेने का समय जब आ पहुँचता है, तब रुचि बावली होकर पचासों पात्रों पर भटकती फिरती है। पर पुबुली ने एक बार की पहचान में ही अपने-आप को भली भाँति तोल लिया था, पक्के अंदाज से कूत लिया था। उस भेंट के बाद चुन-चुनाव के चक्कर में पड़ने की उसे कोई दरकार ही नहीं रह गई थी । वह कब कहाँ बढ़ी, किस घर का मँड़ुआ-भात और कंद-मूल खाकर पली, किसके लालन-पालन से उसकी देह यौवन के इस दुस्साहस के लिए तैयार हुई, किसकी है वह, किस गाँव की है वह,—— आदि प्रश्न उसके मन को आंदोलित नहीं करते। इतनी तोलातोली उसके मन में उठ ही नहीं सकती। वह ठहरी युवती, उसके मन ने पुकारा, उसकी रुचि ने चुनाव किया और वह चल पड़ी।

पचपन

उधर तलहटी की पेटी में पानी बहाया जाता रहा। फिर पानी चुक गया। पथरीले झोले में केवल छोटी-छोटी मछलियाँ ही गजबजा रही थीं। पत्थरों की फांकों में गड़ई मछलियां सिर गाड़े दुबकी मिलतीं। रेत-गैंची मछलियाँ बालू और कीचड़ में मुँह छिपा कर शायद यह सोचती थीं कि शिकारियों के टटोलते हाथों की पकड़ से निस्तार पा गईं। और नन्ही-नन्ही और-और मछलियां फुकर-फुकर करती इधर से उधर उछला-उछली, फांदा-फांदी करती फिर रही थीं। धाड़ड़ों-धाड़ड़ियों का वह झुंड दौड़-दौड़ कर मछलियां पकड़ रहा था। कोई किसी के ऊपर, तो कोई किसी के ऊपर, गिर-गिर पड़ता था। मछली के शिकार की उस धमाचौकड़ी में कोई किसी से सटा रगड़ा-रगड़ी कर रहा है, तो कोई किसी के साथ ठेला-ठेली ढकेला-ढकेली कर रहा है। कोई धीरे से किसी के चिकोटी काटे ले रहा है, तो कोई किसी को गुदगुदाए डाल रहा है। चारों ओर से सिर्फ़ हँसी-ही-हँसी और झूठ-मूठ की रूठ-रुठौवल मान-मनौवल, नकली खीझ-खिसियान आदि की आवाजें सुनाई पड़ रही थीं। गोलमाल सुनकर कगार के ऊपर कछारी पेड़ों तले सोए बूढ़ों की नींद खुल गई। ऊपर से उन्होंने देखा कि मोरों के दल-के-दल वहाँ से थोड़ी ही दूर पर उतर कर खात की ओर जाने वाली पूरी ढलान छाप कर बैठ गए हैं। बूढ़ों के मुँह में पानी भर आया। मोर के नरम-नरम मांस के स्वाद की कल्पना उनके लिए मछली पकड़ने के आग्रह और उत्साह से कहीं बलवती पड़ती है।

बूढ़े ऊपर से ही चिल्लाए—"मेलका-मेलका (मोर-दल, मोर-दल)! अरे ओ, तुम लोग मछली मारने आए हो कि शिकार करने आए हो? आओ आओ, ऊपर तो आओ।"—जिन्हें 'झोले' के इस रंग-राग से भी शिकार का आग्रह अधिक आकर्षक लगा, वे उठ पड़े और कगार के ऊपर चढ़ गए। बंदूकें भर-भर कर तैयार की गईं, दूरी कूती गई और साथ-ही-

साथ यह सलाह भी होती रही कि कौन किधर से जायगा। कारण, मोर बड़ा ही चतुर होता है। झट ताड़ जाता है और चौकन्ना हो कर शिकारी को देख लेता है। एक-एक दल में एक-एक बड़ा पंखिया मोर बीच में बैठा था और मोरनियों का पूरा-पूरा झुंड उसे घेरे हुए था। सभी दल बड़े इतमीनान से बैठे थे। इधर आदमी की आवा-जाही कभी नहीं होती। इसीलिए वे इतने निश्चिन्त थे।

मोर के शिकार का अभियान शुरू करते समय उस आदमी की चर्चा का छिड़ जाना स्वाभाविक ही था, जो आज सुबह आते-ही-आते इत्ता बड़ा सिंघैला साँभर अकेले ही अकेले मार लाया था। सब के मुँह में आप-ही-आप लगभग एक ही साथ, उसी की बात आ गई। म्ण्यापायु के बूढ़े वागी कंध ने कहा कि वही 'भेंडिया' आगे आए, वहीं बताए कि किसे किधर से जाना है। लड़कियाँ जुटीं। मछली मारने का नशा उतर जाने पर काठकॅ.ऽ, टिटॅऽ जंजेइ आदि पूछने लगीं—"पुबुली? पुबुली कहाँ है?"

मिङ टिङ गाँव के धाङड़ों के बीच खलबली की एक मौन लहर खेल गई। लेता और आरजू ओट में आ कर मंत्रणा करने लगे। आरजू बोला—"रहने दे। चुप साधे रह। सभी मुँह सिए रहें। गाँव चल के कहेंगे।"

लेता ने कहा—"बावला हुआ है तू? वे तो गए। ये आज न जानेंगे कल तो जान लेंगे ही। और अभी न कहो, तो सभी खोज-ढूँढ़ और गुनावन से ही मरने लगेंगे। सोचने लगेंगे कि पता नहीं, उन्हें बाघ उठा ले गया, कि कहीं साँप ने डँस खाया कि क्या हुआ। फिर रोना-पीटना शुरू हो जायगा।"

आरजू ने कहा—"होने दे रोना-पीटना। वैसे सिर्फ़ अपनी बेटी के लिए रोएँ-पीटेंगे, ऐसे थोड़ा हमारे बेटे के लिए भी अफ़सोस कर लेंगे।"

"ना, ना। वह और बात है। ना, बेकार और बे-कारण किसी को रुला देना....."

"कहना है कह देख, पर मार खाने को पीठ पसारे रखनी होगी भाई, हाँ—"

"सो तो होगा ही।"—दोनों हँसे।

मिङटिङ गाँव के लोगों ने बात खोल दी। बेगू और पुबुली उदूलिया भाग गए हैं। पल-भर को सभी कुछ ऐसे स्तब्ध हो गए, मानो वज्रपात हो गया हो। उसके बाद बँधा अंधड़ फट पड़ा। बूढ़ों और छोकरियों ने अलग झुंड बाँध लिए। सभी एकट्ठे खड़े होकर गालियाँ बकने लगे। उनके मुँह में गालियाँ धान की खीलों की तरह भड़भड़ा रही थीं। काठकँड, टिँड, जंजेइ आदि पुबुली की सहेलियाँ तो सचमुच फूट-फूट कर रोने लगीं। और लड़कियाँ हँसती रहीं। बूढ़े गरज उठे। कोई किसी का हाथ पकड़ लेता और जोर से झटकारता हुआ पूछता—"बता, बता, किस राह गए वे, बता।" कोई थोड़ी दूर जाता और फिर दौड़ा-दौड़ा लौट आता। लौट कर हाथ नचाता, सिर हिलाता, छटपटाता रहता! खलबली का पहला झोंका सिर से उतर चुका तो दोनों गाँवों के लोग दो दलों में बँट कर मुँहा-मुँही खड़े हो गए। अपने ललौंहे भरे जटाजूट को झाड़ने-फटकारते हुए रण्यापायु के बूढ़े यूथपति की तरह अपने दल के आगे खड़े हो-हो कर महा-दर्प के साथ गालियों की बौछार करने लगे।

खडार (लुटेरे), पटकार (ठग), गंडा (नीच), डाँत्रिया (कुटिल) मिङटिङिए कहीं के! माँगने पर हमें कोई इनकार था बेटी देने से, कि ये ग्याळपें (बदजात) चोर हमारी बेटी चुरा ले गए? ना पिरा बुड़तातीमि गुतिना काञाइं[1] गंडा पटकार निस्ता पिस्ता (कोढ़ी) साले! दे, हमारा दारू-पानी दे। दे, हमारा भोजभात दे। दे, हमारा 'झोला'[2] दे, भला चाहता है तो। दे हमारा हक[3] दे, वरना पुराने जमाने जैसी मार-धाड़ होगी, समझ रखना!——"

१ गंदी कंध गालियाँ। —अनु०

२ कन्या-सोना, यौतुक, जहेज।

३ न्याय्य पावना, हक।

मिङटिङ के छोकरे तालियाँ पीट-पीट कर हँस रहे थे। उन्होंने जवाब दिया—"हमारा इसमें कोई दोष नहीं, कोई दोष नहीं। तुम्हारी बेटी ने अपनी राज़ी-खुशी से हमारा पानी डुंबे[1] कर पी लिया है, अपनी मरज़ी से अपना घर करके चली गई है। हमने तो न तो चोरी की है, न डाका डाला है। जिससे जिसका मन मान जाता है, उसके साथ वह 'उदूलिया' हो लेता है। 'उदूलिया' अपने देश में कोई नई बात नहीं है। फिर हमें इतनी गालियाँ क्यों सुना रहे हो? अब से तुम हमारे साले-ससुर हुए। अब मन खट्टा क्यों करना ऐ सुसरो ? तुम अपना एक बैल का माँस ही तो लोगे? कनस्तर भर दारू ही तो लोगे? एक भोज ही तो लोगे? तुम तो बैल के माँस के असली सौदागर ठहरे, हलदी के सौदागर ठहरे, अपना पावना वसूल न कर लोगे जब तक, तब तक किसी को तुम छोड़ने वाले हो, हे ससुरो!"

उनका यह सब कहना था कि छोकरियाँ मिङटिङ वालों पर टूट पड़ीं। ठोंकना-पीटना, नोंचना-बकोटना, अबलाएँ जितना कुछ भी कर सकती हैं, किया उन्होंने। यह मार-पीट भी एक देशाचार ही है। इसमें अब कोई तिक्तता नहीं रही है। अब तो यह पुरा-काल के धृतकन्या-विवाह का स्मारक मात्र है। छोकरे इस मारपीट पर कोई आपत्ति नहीं कर रहे थे, चुपचाप सहे जा रहे थे। बल्कि ऊपर से जी भर हँसते भी जा रहे थे। छोकरियों ने उन्हें जी-भर पीट-पाट लिया। उसके बाद दोनों पक्ष अलग-अलग हो गए। मिङटिङ वाले विदा हो कर मिङटिङ को चले गए और म्ण्यापायु का कुदा (दल) म्ण्यापायु लौट गया।

---

१ डुंबे कर = (शब्दार्थ) ढालकर। पानी डुंबे कर पीना = कुल-गोत्र को अपना लेना अर्थात् वर चुन लेना, ब्याह कर लेना।

छप्पन

दारू और दारू। दिन-रात दारू। लेंजू कंध आजकल मटका ही लिए बैठा रहता है। यही इतना उसके जीवन का आराम है। दारू पी-पी कर वह न जाने कितने प्रकार के अभिनयों को मन-ही-मन दुहराता है; पर सोनादेई के पास पहुँचते ही सब न जाने कहाँ खो जाते हैं। यह भी अजीब इनसान है। हाथों में आते-आते छिटक जाती है सोनादेई! लेंजू कंध सिर्फ हक्का-बक्का हो कर पीछे की ओर ताकता रह जाता है। जब-जब हारता है, तब-तब अपने को तोलने बैठ जाता है। तब-तब छोकरों को गालियाँ देने लग जाता है। इनके पास ऐसा क्या है जो उसके पास न हो? इस सवाल का जवाब वह लाख माथापच्ची करने पर भी सोच नहीं पाता।

अभी उस दिन की बात है, बारिक नहीं था। लेंजू कंध भी दारू पी के 'भेंडिया' की तरह गरज रहा था, "घर खुला छोड़कर कहाँ भागेगी तू! हे, यह ले, यहाँ आ, इधर बैठ, हे-ए, ले"—कोई जवाब नहीं! सिर्फ आधी खुली पीठ दिखी। वह 'हे-ए हे-ए' करता ही रहा और वह पीठ सीधी हो कर जाने कहाँ बिला गई। दो-चार घूँट और पीकर उसने मन को सरस किया और हँस-हँस कर पुकारा—"अरी ओ, छिप किधर रहीं? आ, आ, बातें करें, नाचें-गाएँ।—" तभी उसने गगरी काँख तले दाबी और निकलकर रास्ते पर जा रही। जाते-जाते कहती गई—"ज़रा देखते रहना साँवता। बारिक आएगा। अरे तुम तो हो ही। घर खुला है तो रहे!" —"और थोड़ा सा पी लूँ, और थोड़ा-सा पी लूँ"—करते-करते मटका खाली हो गया। इसके बाद बारिक घर टटोल मरे, फिर भी "निरा छूँछा पानी" हाथ नहीं आने का। नाच बंद हो गया, गीत बंद हो गया, गाँव में सन्नाटा छा गया; पर फिर भी वह लौटी नहीं। हाँ, यह हो सकता था कि वह जाके उसकी खोज-ढूँढ करे! पर खोजने निकले भी तो कैसे? घर की रखवाली करने का वचन जो दे चुका था! बारिक के घर में वैसे है ही क्या।

कि कोई चोरी कर लेगा ? चोरी कोई करेगा भी तो उसके अपने घर के कुदा (दल) का ही कोई करेगा ! पर फिर भी जाने को जी नहीं चाह रहा। दारू चाहे जितनी भी पी लो, बाहर निकलते ही नशा तो हवा हो जाता है और उसकी जगह पर भय ही आ जमता है। भय मानो चारों ओर से देह में धक्के मारता है। बात यह है कि यही घर, यही झोपड़ी एक ऐसी जगह है ; जहाँ ओट में बैठा-बैठा वह अपना मनमाना रूप दिखला सकता है। बाहर तो हरगिज नहीं ! बाहर पता नहीं बकते-बकते मुँह से किसी दिन अगर कोई बात निकल गई, तो फिर वही नित-दिन की चिंता का विषय बन रहेगी। भय,—भय बस इसी बात का रहता है।

कुछ भी कर न पाकर और सब-कुछ हार-गँवाकर वह केवल माथे पर हाथ दिए बैठा रहा। मानो संसार में जितने भी दुःख हैं, सब उसी के सिर पर आ कर लद-फँद गए हों। कुछ है जो उसके मन के भीतर रटे जा रहा है कि तुझे करने ही नहीं आता, तुझे कुछ आता ही नहीं, कुछ आता ही नहीं। फिर वह सोचने लगता है कि मेरा कोई नहीं, कोई नहीं, मुझे कोई नहीं खोजता, कोई नहीं पूछता। इसी तरह माँदगी, उदासी, दुख और पीड़ा का अवतार बना जब वह निस्तेज हो कर किसी पत्थर के ऊपर बैठा होता है, तो यकायक उसे अपनी मरी हुई पत्नी रुफना की याद भी आने लगती है। फिर जितने भी मर-खप चुके हैं, जितने भी खो चुके हैं, बिला चुके हैं, सभी उतरा-उतरा कर ऊपर उभर आते हैं और दारू का रस भारी पड़ कर नीचे गाद की तरह बैठ-बैठ जाता है।

उसने जान-बूझ कर अपने-आपको बहुत दुखी बना छोड़ा था, कि पांडरू कंध पास आ कर बोला,—"तेरी देह बड़ी विरस दिख रही है, बेरंग दिख रही है, लेंजू भाई ! होशियार रहना, तुझे ज्वर-ताप आ जा सकता है !" लेंजू कंध का रुआँसा ध्यान भंग नहीं हो रहा था। पांडरू कंध और भी पास आकर उपदेश देने लगा— "तू बेर रहते चेत जा और खाता-पीता रह। आजकल बड़ा ही बुरा पठारी ज्वर चारों ओर फैला करता है। पड़ जाओगे, पड़ जाओगे वरना, हाँ—"

बात लेंजू कंध को बड़ी भली लगी थी। दारू का नशा उतरने-उतरने पर था। अपने ऊपर बड़ी दया आई। जी में आया कि पांडरू कंध के गले से लिपट कर जी-भर रोने लग पड़े। यही अच्छा हुआ, अब मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, कोई मेरी बात तक नहीं सोचेगा, कोई मेरे लिए सोग नहीं मनाएगा, कोई नहीं, कोई नहीं। संसार में मैं ही एक अधम हूँ! मैं ही एक निर्विष निर्दोषी धामन साँप हूँ। इसीलिए कहीं का नहीं, किसी काम का नहीं!

पांडरू जानी तक भी घड़ी भर पास नहीं बैठ सका!

संसार ही ऐसा है।

गाँव में सन्नाटा छाया था। गाँव कुछ ऐसा मौन पड़ा हुआ था, मानो किसी संदेश के सुनने के आसरे में साँसें तक रोके बैठा हो। "कितना सुनसान है"—लेंजू कंध सोच रहा था,—"इतने निराले में भी सोनादेई बस मुझे इतना चेता भर देगी कि 'तू चाहे साँवता होवे चाहे कुछ भी होवे, तू मेरी पसंद की बानगी कभी नहीं हो सकता।'

यों ही ठीक है। "जाय यह जीवन भी, शेष हो जाय!" झटपट टल जाय यह बला। इस जीवन की बे-पूजी आस किसी और जीवन में कभी पुजेगी! मेरा कोई नहीं, कोई नहीं! मेरा ही क्यों, किसी का भी कोई नहीं, कोई नहीं! संसार ही यह तुच्छ है, झूठमूट की माया है!

बेर झुटपुटा रही थी। गाँव के छोर पर बाजा बजा। गीत सुनाई पड़ा। चहल-पहल मच गई। सभी चारों ओर से दौड़ पड़े। एक मरे साँभर को फूलों के हारों से सजा-सजूकर अर्थी पर डाले गाँव के बूढ़े ढोए ला रहे थे। सफलता की हँसी मुँह पर अँटाए अँट नहीं पा रही थी। गाँव की बेटियाँ उन्हें घेरे, हाथों-में-हाथ फँसाए आगे-पीछे को झुक-झुक कर झूम-झूम कर नाचती आ रही थीं। गीतों और बतियानों की गूँज से गलियारा कँपकँपा उठा था। लेंजू कंध की निगाह पहले तो उस साँभर पर पड़ी। उसे महसूस हुआ कि मुझे तो भूख लगी हुई है! साँभर का मांस वैसे बासी ही अच्छा लगता है; पर टटका भी कोई बुरा नहीं होता। आग में जरा-सा सेंक देने से चबा-चबा कर खाने में बड़ा मजा आता है। भूख के साथ-साथ फिर

वही अनाथ-भावना जग पड़ी। कौन है मेरा, कौन है ? इतनी भूख लगी है; पर इस बात को बूझता कौन है, समझता कौन है ? ये लोग इस तरह क्यों हो रहे हैं ? जान पड़ता है कि ये ऊपर अर्थी पर चढ़कर इस साँभर को कच्चा ही चबा डालना चाह रहे हों ! लेंजू कंध अब अपने-आप को और सँभाल नहीं पा रहा था। सोच रहा था कि अब उठ पड़ूँ। वह उठने-उठने को ही था कि जंजेइ दौड़ी-दौड़ी आई और बोली—"लेंजू काका, लेंजू काका, पुबुली तो मिड्डिङ गाँव के उस बेशू कंध के संग 'उदूलिया' भाग गई।"

पुबुली ? मिङटिङ ? बेशू कंध ? इन नामों को एकट्ठा जोड़-जाड़-कर भी कोई अर्थ निकल नहीं पा रहा था। लेंजू कंध मिमियाया, "ऐंSSS ?–"

"हम सभी झोले में मछली मार रहे थे। बेशू—"

"बेशू ?—"

"हाँ ! वही जिसने यह साँभर मारा है ! बड़ा शिकारी है वह ! ऐसा ही शिकारी है वह, लेंजू काका—"

धीरे-धीरे सभी धारणाएँ एकट्ठी हो गईं। माथे पर बाँकी-बाँकी सिलवटें पड़ गईं। होंठ कँपकँपा उठे। नथने फड़क उठे। अहेतुक कोप में भयंकर मुँह बना कर सरबू सांवता का भाई लेंजू कंध गलियारे को कँपकँपाता हुआ गरज उठा और गरजते हुए उछलने लगा—"क्या हुआ ? —'उदूलिया' ले भागा ? मेरी पुबुली को बेशू कंध ले भागा ?" चारों ओर से लोग "क्या हुआ ? क्या हुआ ?" कहते हुए दौड़ आए। बाजे चुप हो गए। नाच बंद हो गया। शिकार से लौटे लोग हक्के-बक्के हो कर ताकते रह गए। कितनी ही बूढ़ियाँ रो पड़ीं। लेंजू कंध गरजता रहा।

पुयू हाकिना को समझाती हुई घर से निकली आ रही थी—"यह ले रे हाकिना, चल साँभर देख आएँ, चल। देखा, कैसा है साँभर—" हठात् बाजे चुप हो गए। किसी का गरजना सुनाई पड़ने लगा। ऐसा जान पड़ा मानो गाँव के गलियारे में कोई मार-पीट, कोई फौजदारी हो रही हो। हाँफती-हाँफती भागी-भागी छोकरियों का एक झुंड दौड़ा आया—"पुयू, पुयू, बेशू पुबुली को उदूलिया ले गया—"

हठात् पुयू की आँखों में आँसू की बूँदें डबडबा आईं। पुयू लौट आई। गाँव के गलियारे में लेंजू कंध गरजे जा रहा था—"एहनातकी, एहनातकी?" (क्यों, क्यों?)!!—वह किसी के हाथ से बरछा छीन कर फेंक रहा था, तो किसी के काँधे से बंदूक झपट-झपट कर पटक रहा था—"वह है कौन? कहाँ का है? क्या खाकर वह दूसरे के लिए सहेज रखे गए धन को चुरा ले भागा? हम से कहा तक नहीं, पूछा तक नहीं! हारगुणा साँवता क्या सोचेगा? तुम इतने सारे लोग गए थे, गाँव का नाम बुड़ा आए! गए तो थे शिकार करने ना? हाथों में हथियार ले-ले कर गए थे! और कोई पराया तुम्हारी बेटी को झपट ले गया, तुझे लाज तक नहीं लगी? चल, निकल पड़ यहाँ से! चल जहाँ भी होगा वह, उसका क्रिया-कर्म कर डालें। न मिला तो उसके गाँव पहुँच कर सारा गाँव उजाड़ आएँ! उसने समझा क्या है? उठ, उठ, गाँव में भेंडिए नहीं हैं, तो क्या हुआ? हम क्या कभी भेंड़िए हुए ही नहीं?"—अपनी ओजस्विनी वक्तृता से वह आप ही गरमाता जा रहा था। और कोई इससे गरमा नहीं रहा था। कारण, जब मियाँ-बीबी राजी हों, तो काजी की कोई बात ही नहीं चलती। बेटी जवान है, उसका मन जिस पर रीझा, उसे उसने ब्याह लिया, इसमें और कोई कर ही क्या सकता है? और इस कंध-देश में जहाँ दो बलिष्ठ हाथ ही मनुष्य की सबसे श्रेष्ठ संपत्ति होते हैं, वहाँ किसी हारगुणा साँवता और किसी बेशू कंध के बीच कोई खास अंतर भी तो नहीं होता! लेंजू कंध का जी चाह रहा था कि वह क्रुद्ध हो, खिसियाए। सो वह खिसिया रहा था, गरज रहा था, उसके मन के पिछवाड़े में कोप से भी बड़ी एक शक्ति काम कर रही थी। वह था उसका भय। भय था दिउड़ू का। दिडड़ू लौटेगा, दिडड़ू सुनेगा। दिडड़ू जैसा अड़ियल-अखड़ियल साँढ़ है, सो किसी से छिपा नहीं है। कौन जाने वह किसे इस घटना के लिए दोषी ठहराएगा?

लेंजू कंध पागल की तरह दौड़ा अपने घर गया। चिल्ला कर बोला—"बहू, बहू, सुना बहू! सुना तुमने?"—पुयू ने कुछ न कहा। काठ की बनी-सी चुपचाप खड़ी रही—"हमने उसका कौन-सा हतादर किया, बहू?

हमने उसका क्या बिगाड़ा था कि बिना कहे, बिना पूछे, यों उदूलिया भाग खड़ी होने को उसका मन हो गया? इतने लोग तो ब्याहे जा रहे हैं, उसकी तरह कौन उदूलिया आई है, कह तो भला? साँवता की बेटी! साँवता की बहन! और कैसा सुन्दर वर हारगुणा साँवता बाठ जोहता बैठा है बेचारा! ऐसा हुआ—"

लेंजू कंध बकता रहा। किसी ओर से कोई जवाब न पा कर कोप और भी तीखा-तीता हुआ जा रहा था। इसी गड़बड़झाले में कई बूढ़ियाँ आ जुटी थीं। बच्चे सारे-के-सारे गलियारे में साँभर के पास पहुँच गए थे। वहाँ नाच फिर चलने लगा था। शिकार की सफलता के अवसर के उपयुक्त दारू के दौर भी चल रहे थे। धमाचौकड़ी के रंग में भंग डालने के लिए पांडरू कंध कहीं से गंभीर-सा मुँह किए आ धमका। लेंजू के कंधे पर हाथ डाल कर उसने उसे पीछे की ओर खींच लिया और बोला—"तू बावला हो गया है क्या रे? इस तरह क्यों कर रहा है? क्या हुआ, इसमें बुरा क्या हुआ? जो जिसका था, वह उसका हो रहा। आपस में चुन-चुनाव हुआ, मान-मनाव हुआ, प्यार हुआ, मन की लेन-देन हुई, उसमें हमारा क्या आता-जाता है, बता तो भला? उनकी वयस हमारी-तुम्हारी-सी तो हुई नहीं है कि ओटे पर टाँग पसारे बैठ कर सात-पाँच करते रहें और रत्ती-रत्ती तोल कर, पाई-पाई का हिसाब करके ही कोई काम करें? 'भेंडिया' ठहरे, जब जो जी में आया, कर बैठे। यह तो वे करेंगे ही। हमारी बातें सुनने को वे हाथ-पैर तोड़ कर बाट जोहते बैठे थोड़े ही रहेंगे? क्यों, ठीक है ना जामिरी भाई! कि नहीं!"

जामिरी बोला—"सच सच!!"

लेंजू कंध अपना सारा रोष खर्च कर चुका था। बोला—"अच्छा भाई, अच्छा! तुम गाँव वाले अगर इतना बड़ा अपवाद पाकर भी टस-से-मस नहीं होगे, तो अकेला मैं ही क्यों चिल्ला-चिल्ला कर मरता रहूँ?"

पांडरू कंध ने कहा—"हाँ, यही ठीक,. यही ठीक! इतना साँवता-साँवता रट रहा है तू, साँवता घराने की बेटी होने पर भी है तो वह इनसान

ही ? या कि कुछ और हो गई ? अरे बाबा, हम-तुम होते ही कौन हैं ? सारा योगायोग सितारों के हाथों का खेल है। मैंने तो पहले ही कह दिया था ! हारगुणा छोकरा जो है, सो 'माकड़ी' योग का बच्चा है। हारगुणा न तो उसे पा सका है और न पा सकेगा। नक्षत्रों का जो काम है, वह नक्षत्रों ने कर दिया ! इसमें तुम इतने बेचैन किसलिए हो रहे हो ? "

पांडरू कंध अपनी उदास-प्रसन्न हँसी हँसकर चला गया। लेंजू कंध भी वहाँ से हट गया; पर उसका भय नहीं हटा। क्षणकांपी दिउड़ू को यह खबर पहुँचानी ही होगी !

सभी चले गए। पुयू फिर अकेली पड़ गई। और सब तो अपनी-अपनी ठौर को गए; पर वह कहाँ जाए ? उसे तो कहीं जाना ही नहीं ! सरल-संभावित घटनाएँ भी जब घट जाती हैं, तो आदमी के मन के ऊपर कितने ज़ोर से बजने लगती हैं ? पुयू सोच रही थी—'तो पुबुली सचमुच ही दूल्हा ब्याह कर चली गई ? तो पुबुली भी घर बसा सकती है ? अब फिर, मेरा कौन रह गया ? "

पुयू वहीं बैठी रही। कितनी देर यों ही बीत गई। बेर ढली और साँझ भी न जाने कब आई और चली गई। चाँदनी रात है। गाँव के गलियारे में आनन्द का कोलाहल है। कंध गाँव के इस गलियारे में चौके की आग न जाने कब तक धुआँती-सुलगती, बलती रही। पकाने-खाने का काम चलता रहा। खुशियाँ मनती रहीं। गप-शप लगी रही। यह भी उत्सव का एक काम ही होता है। मृत साँभर को घेर-घेर कर नाच होता रहा। बूढ़े छक-छक कर दारू पीते रहे। छोकरियाँ गाती रहीं। क्रमिक जीवन का सहज छंद थिरकता-फुदकता बढ़ता रहा। पुयू का मन कहीं खोया हुआ था। उस ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं था उसका। वह वैसे ही एक जगह ठिठकी खड़ी रही। एक-पर-एक काली छायाएँ खिसक-खिसक कर गिरती रहीं। सब गिर-गिर कर बुझती रहीं। यह चैत की रात नहीं, सावनी अमा-वस की मेघों-भरी रात है। ताराग्रासी मेघों की रात। और इस रात में बस अँधेरा-ही-अँधेरा है। हाहाकार-ही-हाहाकार है। बस इतनी ही अनुभूति

है उसकी। खाली खुली परती के ऊपर बरसात का कोलाहल है। वहाँ कोई ऊष्मा नहीं है, तनिक भी नहीं।

जामिरी की बुढ़िया ने रसोई चढ़ा दी और पास की दीवार के ओटे पर बैठ कर पुयू का नाम लेकर पुकारा। पुयू ने कोई जवाब नहीं दिया। बुढ़िया बोली—"अरी ओ बहूटी, सो पड़ी क्या ?अँगीठी नहीं सुलगाई ? यों उदास-उदास और भूखी-भूखी रहा करेगी तू, तो दूध कहाँ से उतरेगा ? और दूध न होगा, तो वह बच्चा क्या खाएगा ? "—बुढ़िया ने आकर पुयू को झकझोर डाला। सपने से उठी-सी उठ कर पुयू ने कहा—"एँSSSS ? —पुबुली—पुबुली—" उसका स्वर टूट पड़ा। पुयू रोने लगी।

उसकी पीठ सहलाती ढारस बँधाती, बुढ़िया ने कहा—"क्या ?क्या हुआ ? क्या हो गया है भला, हुआ क्या है ? इस तरह बच्चों-सी क्यों रो रही है री ? उठ, उठ।"

पुयू की हिचकियों-भरी रुलाई ने कोई बाधा नहीं मानी। वह रोती रही।

सत्तावन

उस दिन गप चल रही थी। बातों-बातों में धारिया चीते की चर्चा चल पड़ी थी। दिउड़ सुन रहा था। क्या तो धारिया महाबल भी सुन्दरता के आगे नत हो जाता है। क्या तो वह सुन्दरता की विनती करता है, उसके जादू से कतरा कर निकल नहीं पाता। इसी बंदिकार गाँव में कभी एक सुन्दरी कंध-धाङड़ी को कोई आदमखोर धारिया बाघ उठा ले गया था। ले जाकर उसने उसे पत्थर की अपनी चटाई के ऊपर डाल दिया। धाङड़ी होश में नहीं थी। धारिया चीता पास आता और हटता रहा, सूँघता चाटता रहा, बड़े जतन से अपने नखों को अन्दर छिपा कर अपने मखमली पंजे से धाङड़ी को सहलाता-थपथपाता रहा, उसके कान के पास म्याँव्-म्याँव् करता रहा। फिर वह उठा और चला गया। दूर से टकटकी बाँधे निहारता रहा। उसे देख-देख कर उसकी देह, फूल-फूल उठती थी, रोंगटे खड़े हो-हो जाते थे। दुम धरती पर पीट-पीट कर वह गरज उठा और गर्जन से सारे पहाड़ को कँपकँपा दिया। मानो ढिंढोरा पीट दिया कि मैं धारिया चीता हूँ, कि मैं महाबल हूँ। पर धाङड़ी को उसने नहीं खाया, नहीं खाया! उस सुन्दर देह को निरखते-परखते ही उस धारिया बाघ की बेर चली गई। तब तक किसी ने कहीं ठाँय्-ठाँय् बंदूक दागी। महाबल वहाँ से टल पड़ा।

दिउड़ सांवता अब फिर वही कहानी सोच रहा था। पिओटी कितनी सुन्दर है! शिकार खेलने चाहे जिस ओर भी निकलो, राह हिर-फिर कर उस बंदिकार के रास्ते ही पड़ती थी। बंदिकार गाँव दिउड़ सांवता को भा गया था। शिकारों, भोजों और नाचों के सिलसिले भी चलते रहे। साथ ही बेंऽऽ में[1] निकले हुए और भी कितने ही गाँवों के लोगों से भेंट-घूँट हो जाती, बातचीत हो जाती। एक पंथ दो काज चलते रहे। जानवर

१ शिकार की खोज में।

मरते रहते और शिकारी का नाम चारों ओर फैलता जाता।

इसी सुयोग में पिओटी के साथ भी भेंट होती रहती। बारम्बार। पिओटी भी क्या चीज है! नित-नई धज, नित नया साज! तलदेशी शिक्षा पाकर बढ़ी हुई पिओटी ऊपर पठारों पर आकर क्रम-क्रम से कंधुणी बनती जा रही है। कंधुणी बनने की इस प्रक्रिया में उसका रूप नित-दिन कुछ-न-कुछ बदलता ही जाता है। दिनों-दिन नई-नई भाषा सीख रहे तोतले गदेल बालक की बोली की तरह। वह सुन्दर है और सुन्दर लगती है, सुन्दर दिखती है। दिउड़ू बे-बात की बात चला कर उससे बोलने-बतराने के बहाने निकालता रहता है। आप ही पहल करके उससे अपनापन बढ़ाता रहता है। दोनों में समान बात ले-देके यही है कि दोनों दारू पीना, नशा करना, जानते हैं। पिओटी बहुत सारी बातों में और-और कंधुणियों की तरह नहीं है। वह बे-बुलाए पास सटी चली आती है और दिउड़ू के पशु-मन को चंचल कर डालती है। जाने लगती है तो मुड़-मुड़ कर देखती जाती है। भेंट में दिउड़ू उसे कंद-मूल फल-बेर-फूल आदि जो कुछ भी देता है, उसे उठा लेती है और हँसती-मुसकुराती चली जाती है। बल्कि पूछती भी है—"मुरमुरे की लाई देगा? दारू देगा? घुँगिया देगा?" दिउड़ू का जी चाहता है कि काश, मैं भी झरने के किनारे चट्टानी ढूह के ऊपर बैठा उसे निहारता रहता और गरज-गरज कर दुम पीटता रहता! इस तरह उसे भली भाँति समझा देता कि मैं म्याका वंश के सरबू सांवता का बेटा दिउड़ू सांवता हूँ, इस बंदिकार की भला मुझे क्या परवा है! दुम पीटता! मेरे दुम नहीं है तो क्या हुआ? बाकी सब कुछ तो है ही।

पुयू को उसने भुला दिया है। आज-कल उसे भुलाए रहा जा सकता है। चैत-परब होता ही भुलाने के लिए है। उसने भी भुला दिया है! पर एक खटक है। वह यह कि उसके दल के और सभी लोग जी-भर भोग-राग किए जा रहे हैं, मनमाने ऐश किए जा रहे हैं। पाने और पचाने का हिसाब जोड़ कर ही उनके समय की गणना हो रही है। एक दिउड़ू ही

है, जो रीता-रीता है। दिउड़ के बाँटे बस दो ही सुख पड़े हैं—एक तो दारू का मटका और दूजा पिओटी का संग! पर पिओटी तो पवन की तरह है, आकाश के सूनेपन की तरह है, अनुभूति की तरह है। उसी तरह छूती हुई, सहलाती हुई, बहती चली जाती है। उसी तरह बही चली जा रही है—!

उस दिन बड़ी सुहानी साँझ ठीक उसके आगे में उतर आई थी। पीछे खात के समतल में सखुए का घोर जंगल है। जंगल में 'झोला' है, जिसमें पत्थर के ढोके और रेत के लौंदे धीरे-धीरे सरसराते हुए बहे जाते हैं। वहीं उस दिन की शिकारी कुटियाँ बनी थीं। पाँत-पाँत पात-'बालसा' (पर्णकुटीर) नन्हे घरौंदों की कंध बस्ती जैसे लग रहे थे। कुटियों के आगे लकड़ी के कुंदे पड़े थे। रात को धूनी रमेगी। जगह-जगह बरछे गड़े थे। खूँटड़ोंसे धनुष झूल रहे थे। ओड़िया नलियाँ एक दूसरे के सहारे खड़ी कर रखी गई थीं। लोग मौज मनाने और शोर मचाने में मशगूल थे। कहीं गीत गूँज रहे थे, तो कहीं कंधी अलगोजों में होड़ लगी थी। कहीं बूढ़े चट्टानों के ऊपर बैठे धुँगिया धूकते हुए कंध-संसार के समाचार दुहरा रहे थे और दुनिया-भर की समस्याओं के समाधान निकाल रहे थे। ऊपर से कोलाब-तट की सोने की रेत बीनती, सपनों के पंख फड़फड़ाती, पहाड़ी साँझ उतर आई। दिउड़ साँवता प्रसन्न था। पिओटी आज उसके लिए धुँगिया लेकर छावनी आई थी। सभी उसे घेर कर बैठ गए थे। अपनी सखी-सहेलियों को वहीं फँसाकर वह अकेली उसे ढूँढ़ती निकल आई थी और सौगात दे गई थी। ठीक खड़ी दोपहरी के समय।

"सभी दिन तू ही देता रहेगा साँवता? मैं कभी कुछ नहीं दूँगी? ना, ना, आज कुछ नहीं खाऊँगी साँवता। अगर तुम्हारा ऐसा ही हठ है, तो कल हम सभी झुंड बाँध कर आएँगी और शिकार के समय इधर-उधर कहीं निकल जायेंगी। वहाँ से लौट कर आने पर तुम्हारे साथ खाऊँगी मैं।—" उसके चमचमाते जूड़े से पता नहीं क्या, कोई सुगंध-सी आ रही थी। जूड़े में कोई फूल नहीं था। दिउड़ अपनी घट्ठों भरी हथेलियों से

बारम्बार जूड़े को सहला-सहला कर सूँघता रहा, जूड़े में नाक सटा-सटा कर सूँघता रहा। पिओटी सिकुड़ी नहीं, दुबकी नहीं, हटी नहीं, बुरा नहीं माना, विरक्त नहीं हुई, मंद-मंद हँसती रही! कल फिर आएगी पिओटी! उसी याद को सँजो-सहेज रखने के लिए यह इतनी सुन्दर साँझ उतर आई है। दिउड़ प्रसन्न था।

सुपारी के उस कुंज पर अनगिनत हारिल चिड़ियाँ आके बैठ गईं। एक ही गोली में दो-दो झुंड नीचे आ रहेंगे! पर दिउड़ का मन न हुआ। उधर से कांबेला कंध और इधर से चाचिरी कंध बंदूकें ताने उसके पास से ही निकल गए। दिउड़ बैठा रहा। नाः, हारिल नहीं मारना आज। वन की चिड़ियाँ हैं, किस का क्या बिगाड़ा है बेचारियों ने, किसका क्या धारती हैं? अरे, जंगल के पेड़ों से दो बेरियाँ भर ही तो लेती हैं! मरते समय कितनी करुण होती हैं आँखें उनकी! मानो उन आँखों के कोयों के पीछे-पीछे कोई बादल उठ-उठ कर दूर से पास तक आ-आ जाता हो, पर पहुँच न पाता हो। परसों जो चिड़िया जीती ही गिर पड़ी थी, आज सवेरे वह बेरियाँ उगल कर मर गई। चितवनों की भाषा में मानो यह कहती गई कि 'तुम्हारी दुनिया का मैं इतना ही धारती थी। वह चुकाए जा रही हूँ। यह रहा, ले लो।'

वह चिड़िया जी जाती, तो पिओटी उसे रख लेती। धत्तेरे की! क्या सोचते-सोचते आदमी क्या से क्या सोचने लगता है! जा, भाग! चाचिरी साँवता कितने जतन से निशाने साध रहा है! साधे, मैं मना नहीं करूँगा। हारिल का माँस सचमुच बड़ा स्वादिष्ट होता है! हाँ, असल कौवेला हारिल हो तब! लेकिन मन-ही-मन मना मैं जरूर करूँगा। देखा जाय, क्या होता है! झाकर देवता को गुहराता हूँ। देखें, उसमें कितनी सकत, कितना महातम है! हे झाकर पेनू[1]! अगर तू सत का झाकर पेनू है, तो इन दोनों बनैले मरखहे शिकारियों के निशाने चूक जायँ, चूक जायँ, चूक जायँ। फेर

---

[1] पेनू = देवता।

खाली चला जाय। ढू-ढू, ढाँय्-ढाँय ढहाक् !—धन्य झाकर देवता, धन्य ! हे प्रभु, जुहार, जुहार १। चाचिरी चिल्ला रहा है—"धत्तेरे की, दिन का उजाला बिलकुल ही मुँद गया, पता ही नहीं चलता कि पत्ता किधर है और चिड़िया किधर है !"

दिउड़ ने कहा—"हाँ, हाँ, ऐसा ही हो जाया करता है !"

कांबेला जानी अपनी नली को गालियाँ दे रहा है। उस गीदड़ को मार कर बेटे ने मेरी नली बिगाड़ दी। कितना समझाया था कि गीदड़ मत मार, मत मार। गीदड़ मारने के बाद नली अच्छा निशाना नहीं देती। दुनिया कहती है। आम बात है यह तो ! पर मानता कौन है ? नली सिर्फ छींक-छींक कर रह जाती है। निशाना दूर तक जा ही नहीं पाता। कुछ नहीं होने का इस नली से, कुछ नहीं !"

दिउड़ ने उपदेश दिया—"धुँगिया घिसकर जरा मंत्रा दो उसे।" पर मन-ही-मन वह बड़ा ही खुश हुआ।—तो झाकर ने मेरे मन की गुहार सुन ली ! जो हो, दिन का उजेला मुँद चुका, चाँदनी का उजेला उतर आया। अब बड़ा ही सूना-सूना लगेगा। हाकिना क्या कर रहा होगा इस समय ? नन्हा-सा छौना है, बढ़ कर वह भी बनैला हो जायगा। धाङड़ी खोजता फिरेगा। आह, पिओटी ! रात को बंदिकार चला जाता, तो क्या खूब रहता ! पिओटी का घर घर है। और पुयू ?—छिः। हाकिना-पुयू ! पिओटी-पुयू ! धत्-धत् ! कौन-सा दुख पड़ा था कि मैंने पुयू को ब्याह लिया ? अब उदासी छाने लगी मन पर। क्या अभाव है ? क्या खो गया है ? कौन-सा कोना सूना पड़ गया है ? हाँ, ठीक याद आया ! रात को बंदिकार चला गया होता, तो ठीक रहता।"

"अरे ! तो चला क्यों न चलूँ ? यहीं, पास ही तो है।"—

"पर काहे को ? पराए गाँव का इतना खिचाव काहे को ? सोचेंगे, इसका खाना-पीना घट गया है, इसीलिए भात माँगने दौड़ा चला आया

---

१ देवताओं और गुरुजनों को प्रणाम करने, गुहराने और दुहाइयाँ देने में प्रयुक्त शब्द।

हूँ। ना, ना। यहाँ मुझे असुविधा ही कौन सी हो रही हूँ ?"

"अरे, साँवता को अकेलापन खल रहा था रे ! अकेले रहने का बेचारे का अभ्यास जो नहीं है !"—और फिर होः-होः-होः-होः की हँसी के ठहाके लग पड़ेंगे। धत्।

जंगलों के मिलान पर, पहाड़ के ऊपर, आग की दो लपटों-सी कोई चीज लप-लप करती हिल-डुल रही है। नीचे उतरी आ रही है। सँग-सँग ही दाएँ-बाँएँ मुड़ती बढ़ रही है। "ओड़े सोई! ओड़े सोई! [1]अरे, वह तो देख, वह! क्या है वह? बाघ की आँखें? है ना?"

"हेंह्! अरे, बाघ की आँखें कहाँ की रे?—बाघ की आँखें भी कहीं लाल-लाल दीखती हैं?"

"देख तो भला?—गीदड़ तो नहीं है यह?—उन्हीं की आँखें लाल दिखती हैं। बाघ की आँखें तो कुछ-कुछ हरी-हरी सी दिखती हैं, तारे की जोत-सी।"

"बड़े आए जानने वाले। और नीलगाय या अरना भैंसा क्यों नहीं हो सकता?"

"अरे, वे तो गाय-गोरू की जाति के होते हैं। उनकी आँखें काच सी जगमग-जगमग दिखती हैं, बड़े जुगनू-सी।"

"गीदड़—"

"बावला हुआ- है? इतना बड़ा गीदड़ कहाँ से आएगा? इतनी ऊँचाई से रोशनी दिख रही है कि वह बाघ न हुआ, तो चीता-बाघ जरूर होगा। उसी की आँखें जरा-जरा ललौंही-सी होती हैं।"

"अच्छा, देखा तो जाय, कि क्या है!"

कुछ देर बाद दोनों रोशनियाँ पास आ गईं। देखा तो और कुछ नहीं, दो लुकाठियों की मशालें भर थीं।

"कौन है हो-ो-ो-ो?"

---

१ अहे साथी! अहे साथी!

"हमारे म्‍यापाय् के लोग हैं क्या हो-ो-ो-ो, हमारा साँवता है क्या इधर ?"

बड़ा ठहाका पड़ा। यह तो बूढ़ा बारिक है। अकेले आया है। साथ के और सभी लोग बंदिकार के हैं। बारिक अपनी बारिकी पर आया है। बड़ा ही गंभीर बना हुआ है।

"कैसे-कैसे घिसट आए, बूढ़े बारिक ? रातों रात और अकेले-अकेले. . ?"

"सो तो कहूँगा ही।—रातों के काम के लिए ही तो बूढ़ा बारिक है। हम तो रातों को फिरनेवाले लोग ठहरे ही। दिन के कामों के लिए हमारा भेंडिया साँवता जो है !"

"क्या हुआ बारिक ?"

"कहता हूँ, कहता हूँ ! पहले घूँट भर दे कुछ पीने को। बूढ़ा हो गया मैं तो रे साँवता ! गोड़-गागड़ (अंग-प्रत्यंग) अकड़-अकड़ कर जवाब देने लग पड़े हैं । तिस पर पूरी खुराक भी नहीं जुड़ती। दे, दे घूँट भर दे पहले।"

"अरे दे रे इसे, किसके पास है, दे बूढ़े को।"—गला गरमा लेने पर बारिक ने अपनी कहानी कह सुनाई। दिउड़् ने सब सुना। रोष के मारे उसके बोल पर जाबी-सी लग गई। देह टनक उठी। टाँगिया कुल्हाड़ी तान कर उसने पास के ठूँठ पर दो-चार चोटें मारीं, दाँत किटकिटाए, धरती पर धमाधम-धमाधम पैर पटके और वहीं-के-वहीं दो फेर चक्कर काट लिए। रोष के मारे उसके मुँह से बोल नहीं फूट रहे थे। बस इतना ही बोला वह कि "ला, पी लूँ ।"

मटके से दारू की बूँद-बूँद तलछट तक गटागट सुड़क डालने के बाद उसने खँखास कर गला साफ किया और यकायक गरज उठा। उसकी आँखें नाचने लगीं, मुँह झाग-झाग हो गया और बावले-सा हुंकारते हुए वह उठ खड़ा हुआ। सभी उसके चारों ओर भीड़ लगा कर घिर आए।

"क्या हुआ ! न बात न चीत, न पूछ न ताछ ! एकदम उदूलिया उड़ाया और उड़नछू ! वही पुयू , पुयू ! सब उसी की करतूत है ! पुयू और

पुयू के गाँववाले मिङटिङियों की ! ऐसी बातें एक दिन में तो होतीं नहीं ! हो भी सकती हैं कभी ? उदूलिया उड़ाने के पहले मामला पटाना होता है और उसके लिए कुटनी चाहिए होती है । उसी कुटनी का काम किया है इस पुयू की बच्ची ने ! पक्के कँडे की बदमाश है यह मुँहमुँदी । जैसे ही हम इधर निकल आए, वैसे ही उसने उधर खबर भेज दी होगी कि 'अब आ जाओ, यहाँ कोई नहीं है ।' अच्छा, ठहर तू जरा, चखाता हूँ मजे । पर लेंजू काका तो था ही ? क्या हो गया है उसे भी, दिन-पर-दिन बच्चे की तरह हुआ जा रहा है ! देख तो भला उसकी बात ! अच्छा ठहर-ठहर "मन्नमुँ गाड़ा का (ठहर ज़रा-सा) ! वाह क्या रखवाली हो रही है घर की ! बूढ़ा पानी की सतह पर रेखाओं के टीके लगा-लगा कर, कन्नी कटा-कटा कर, भाग-भाग जाता है । मान-मरजाद, इज्जत-हुरमत सब माटी में मिला दी इसने तो । वह हारगुणा लौंडा क्या कहेगा ? ले ले वह सगर्त्ता (हर जाना), वमूल ले ! गिनें मिङटिङिये सगर्त्ता । महा ठग हैं वे । किसी जंगल में जा छिपेंगे, न 'झोला' (कन्या-मोना) देंगे, न सगर्त्ता देंगे । कौन पार पाएगा उनसे ? चलो बच्चो[1] उठो, पहले मिङटिङ से ही होते चलें । डिन्मासिल उम्रीपद के रास्ते । टुणुहायुमुँ टुणुहायुमुँ ![2]

साँवता की गरज सुन कर और सभी चुप साध रहे । बारिक बूढ़ा पीपल-पात सरीखा काँप रहा था । कंध का रोष, कौन जाने क्या कर बैठे ! कंध का रोष पहाड़ की दवाग (दावानल) जैसा होता है । बात चुकी नहीं कि भभक उठी । यह भी पता नहीं कब किस पर टूट पड़े । सभी गुम-सुम दाँत-पर-दाँत लगाए बैठे थे । बारिक बूढ़ा ध्यान से उनके मन की बात पढ़ने में लगा था । इनके मन में क्या है ?—क्या होगा ?—क्या हो सकता है ?—ये लोग सदा इसी तरह गुमसुम बैठ कर एक ही सुर-ताल से सारी गोष्ठी-गत बातों पर विचार करते हैं । एक आदमी जो

---

१ साँवता को यह अधिकार है कि वह गाँव-भर के लोगों को अपना बच्चा माने ।—अनु०

२ कंध रणघोष । पृष्ठ २१९ की पादटीका देखिए ।

सोचता होता है, सभी वही सोचते होते हैं। हो-न-हो इस समय सभी साँवता के सुर-में-सुर मिला कर 'टुणुहायुमु-टुणुहायुमु" ललकार उठेंगे और उठ कर रातों ही रात चल देंगे। कंध का रोपा पन और हाथी का निकला दाँत ये दोनों कभी पीछे नहीं हट सकते। पर ना, बारिक की आशंका निराधार निकली। चाँदनी रात ऐसी संभावना की विरोधिनी साबित हुई। पास की किसी छावनी से अलगोजे, डुड्डुड्डे और संगीत की एकलय तानें तिरी आ रही थीं। उसके जवाब में कहीं से छोकरियों के गीत उठ रहे थे। साँवता का रोष छटपटा-छटपटाकर उतर पड़ा। पीछे से उसे बढ़ावा देने को, उसकी पीठ ठोंक कर सहारा देने को, कोई तैयार नहीं हुआ। दिउड़ को जो भी कहना था, वह कह चुका। दल के बीच से कोई उठा और अपना स्वतंत्र मतामत बयान करने लगा। पूछा—" एहनातिकि ?" (काहे को ?)

बूढ़े बारिक की आशंका दूर हो गई। एहनातिकि (किसलिए) तू हमें गरमा रहा है साँवता ? कौन-सा अनर्थ हो गया है कि हमें किसी को मारने जाना पड़ेगा ? तेरा मन करता है, तो तू रिसिया-खिसिया ले, हमें तो रीस-खीस आ ही नहीं रही है। जिसका मन जिसके साथ मान गया, वह उसके साथ लग पड़ी। आदमी ब्याह करता और कैसे है ? हम से कहे बिना चले गए, तो क्या हुआ ? उनकी ऐसी ही इच्छा हुई, उनकी ऐसी ही मरज़ी हुई, ऐसी ही दया हुई। हारगुणा साँवता को दूल्हन कोई दुर्लभ नहीं होगी। हमारे देश में कन्याएँ इतनी हैं कि जो जितनी चाहे ले ले। फिर भी अगर साँवता रोष में आता है तो आए, किसी का रोष हम रोक तो सकते नहीं ? कोई सगर्त्ता देगा भी क्यों ? कोई ब्याही बहू थोड़े ही भगा ले गया है कि सगर्त्ता देगा ? यों तो चैत-परब में रोज ही लगा रहता है। छोरों-छोरियों का मन देने-लेने का परब चल रहा है। ऐसे सुन्दर दिनों में हम दारू पी-पीकर संतमेंत में मारकाट करने क्यों जायँ ? लोग क्या कहेंगे ?—अधिकारी क्या कहेंगे ?—ना, ना, ना, मूँड़ ठंडा कर साँवता रे, ठंडा कर। 'दंड और बिन-दोष, किसलिए ? रोष, अकारण रोष किसलिए ?' भला ? कई कंध एक-साथ बोल उठे— "हाड़िगो, हाड़िगो

(शाबास, शाबास), ठीक, ठीक !! अब मौज कर ! अरे सांवता गांव जाने की कह रहा था तू, चल बंदिकार चल । अहे होऽ भाई, खारी [1] किसी ने नहीं डाली है ? रात को हिरन-साँभर उतरते हैं ! अच्छा, कोई बात नहीं, चल, बंदिकार चल ।

दिउड़ू इस आनन्द में योग नहीं दे सका । उसके मन से सुख-सुहाग की बातें, लाड़-प्यार की बातें नौ-दो ग्यारह हो चुकी थीं । उसके नशे में कोई दम नहीं था । दारू हलकी थी । इस हलकेपन का हरजाना पूरना था । नशे की चिरौरी यही थी । इसलिए उसने अपने मन को रोष और मान से भर लिया था; जान-बूझकर । ताकि इससे नशा और चढ़े । तभी नशा रंग ला सकता था । रोष और मान इस बात पर कि पुबुली अपने हाथों से खिसक गई ! बहन होते हुए भी पराई हो गई ! हाथों से खिसक कर चली गई ! वह भी नारी है, अपनी मरजी से चली गई ! भाई की अधीनता नहीं मानी ! बचपन से अब तक के इतने गाढ़े स्नेह, इतने मधुर संबंध को माटी कर गई ! मानो ये सब कहीं बिला गए ! और सो भी दो दिन की पहचान वाले पराए का मुँह देख कर ! एक बार पूछा तक नहीं और चली गई ! एक शब्द कहा तक नहीं और चली गई ! तो उसने संदेह किया कि भाई उसके सुख की राह का काँटा है ? तभी तो सारी बात मन-ही-मन रखे रही और चुपचाप "उदूलिया" भाग गई ? दिउड़ू के अभिमान को ठेस लगी थी । मैं केवल भाई ही नहीं, कंध सांवता भी तो हूँ ! पर करूँ तो क्या करूँ, मेरा अपना मत कुछ और है और दल का मत कुछ और । ये लोग बात हँसी में उड़ाए डाल रहे हैं । समझने की कोशिश तक नहीं करते । अब तो निरुपाय हूँ ! दिउड़ू गुमसुम बैठा रहा । रात कट ले, फिर भोर होते ही अपने मन के गर्जन को प्रगट करूँगा !

नींद नहीं आई । मन सोच में डूबा रहा । लगातार सोचता रहा, सोचता रहा । एक ही सुर से, एक ही धुन से सोचता रहा । किसी गए-बीते, मरे-मिटे के अस्तित्व की तरह यों कभी उसने अपनी बहन के अस्तित्व के

१ बयालीसवें अध्याय का तीसरा अनुच्छेद देखिए ।

विषय में चिन्ता नहीं की थी। उसके बारे में यों बैठ कर कभी मन-ही-मन कुछ भी सोचा न था। घर और घरू जीवन के साथ वह भी एक सहज उपकरण जैसी थी। उसके मन ने मानो यह मान रखा था कि वह भी एक चिरंतनी वस्तु है। पर आज वह विश्वास टूट गया है। वह आसन किसी ने झपट्टा मार कर छीन लिया है। अवश्यंभावी शोक को अंगीकार करना चाहकर भी दिउड़् रिसिया उटा था। रीस-खीस में ही उसने अपने मन को दुखी कर लिया, भून डाला। इस ब्याह के प्रति उसकी कोई सहानुभूति न थी। इतने बड़े दुख को भूल-बिसर जाने के लिए, इसे मनबहलावों में उड़ा डालने का उसके पास कोई साधन ही नहीं था। कोई साधन था भी, तो एक दारू। बस दारू-ही-दारू के दौर-पर-दौर चलाता रहा। 'और'-'और' 'और' 'और' की रट लगाए रहा। दारू छक-छक कर पी लेने के बाद, पीने की अति कर डालने के बाद, दिउड़् सो रहा। नींद आ जाने के बाद सारा कुछ भूल-बिसर गया।

रात। नींद में अचेत देहें पड़ी थीं। केवल देह मात्र। किसी की साँसें लंबी-लंबी चल रही थीं, तो कोई खर्राटे भर रहा था। किसी के गाल फूल-फूल उठते थे और फिर दब-दब जाते थे, तो किसी के मुँह से भुस-भुस भुस-भुस हवा निकल रही थी। किसी के मुँह के एक छोर से पानी की एक धार नीचे बही जा रही थी, तो किसी की नाक बेतरह बज रही थी। इन शब्दों के अलावा चारों ओर सन्नाटा-ही-सन्नाटा था। देहें यहाँ पड़ी थीं और मन सपनों में विचर रहे थे। देह को ही माटी का आसरा रहता है। देह को ही माटी का सहारा चाहिए। उसी माटी का जिस में खाद-गोबर भी होता है, पेड़-पत्थर भी और इतने प्रकार के छप्पन कोटि जीव-जन्तु भी। देहें अधनंगी पड़ी थीं, बाल बिखरे हुए थे और सारी देह में हनुमान बन्दर की तरह बड़े-बड़े रोएँ थे। इन्हीं देहों के भीतर अनजानी शक्तियाँ खुल्लमखुल्ला सो रही हैं, चौकस बैठी पहरे दे रही हैं। इन्हीं देहों के भीतर न जाने कितनी चिन्ताएँ, कितने भाव, कितनी भावनाएँ, कितनी धारणाएँ विहार कर रही हैं। उन्हें छोड़ दिया जाय, तो इतनी बड़ी-

बड़ी और इतनी मोटी-मोटी इन देहों में ऐसा कुछ भी नहीं रह जाता जिसका अपना कोई निजी प्रकाश हो, कोई निजी आलोक हो। उनके बिना ये देहें निस्तेज हैं, जड़ माटी हैं। अब यही देखो ना, यह देह जो इधर पड़ी है, दिउड़ साँवता की है। लंबे-लंबे पैर हैं, खूँटड़ों से, पुट्ठल-पुट्ठल पिंडलियाँ हैं। उन्हीं में वनों-जंगलों की दौड़-धूप छिपी है। उन्हीं में गति का जीवन है। नींद में इस समय सब गुमसुम हैं। उनका परिसर मात्र इतना ही है, इससे अतिरिक्त उनमें कुछ भी नहीं है; पर दिउड़ की इस देह में जो धारणाएँ हैं, जो सपने हैं, उसका कोई परिसर दिखाई नहीं देता। उसकी आँखों में दिखता ईर्ष्या-योग्य तेज किसी दूर दिगंत के पार किसी और दूरतर दिगंत के कोर पर चमक रहा है। इसीलिए इधर सारा-कुछ अँधेरा-अँधेरा है।

नशीली नींद ने मुखड़ों की कमनीयता हर ली है। भीतर का आलोक इस समय बाहर नहीं पड़ रहा। बाहर केवल खल्हाड़ की कठोरता है—मानव कछुआ तो भीतर है, बाहर उसकी कठिन पीठ है। यह पीठ एक मानव शरीर है, अवयव है, जिसके ऊपर मौत की दौंक पड़ रही है। इसी खल्हाड़ के खोल के भीतर पौरुष की ईर्ष्या है, क्रोध है, अनुराग है। इसी के भीतर पुयु है;—पुयु, खा-पी लेने के बाद घूर पर फेंक दिया गया जूठा पत्तल और दारू का रीता मटका! वहीं जहाँ केले के छिलके, भुट्टे के लेंढ़े, जानवरों की हड्डियाँ आदि पड़ी हैं। मन की यह साध, यह लालसा, यह भ्रांत आशा, अब खो चुकी है कि किसी दिन इस ठठरी को छूकर स्पर्श के जादू से उसमें फिर यौवन भर दूँगा। अब तो उसे देखते ही मन खट्टा हो जाता है, कैसा तो विराग-सा जग पड़ता है। वहीं हाकिना है। हाकिना केवल वंशधर-मात्र है। वह माँ का एकलौता है। माँ का एकाधिकार है उस पर। हाकिना बेटा है। बेटा पुरुष के वार्द्धक्य का स्मारक होता है। हाकिना जवानी का प्रतिद्वंदी है। केवल स्वत्व और अधिकार के नाते ही उसकी बात सोचने को जी चाहता है। नहीं तो उसे भुलाए रहने में ही सुख है। हाकिना और पुयु, दोनों सामाजिक दायित्व हैं। पुबुली, बहन

पुबुली, की बात और है। वह अपनी ही देह का एक खंड है। वह अपनी ही देह है ; पर अब वह भी अपनी नहीं रही। बाड़ी में केले के घौंद पक आए थे, अधिकारी उन्हें काट ले गया। पिओटी,—पिओटी मूर्तिमान जवानी है। बातें करो तो मधु-सी घोलती है। जब-जब उसके जवाब सुनो, कानों को भले लगते हैं, मन को भाते हैं, जी को रुचते हैं। विशेष करके देह और मन की आज की जैसी अवस्था में। सोनादेई,—सोना-देई पिटी लीक छोड़कर अँधेरे 'झोले' की याद दिला देती है। अँधेरे 'झोले' की, जहाँ समाज के बंधन नहीं हैं, जहाँ मन के प्रेत अपनी मरजी से निकल कर मनमाना विचरते रहते हैं। वहाँ, जहाँ मन करता है कि इधर-उधर देख कर कुछ अकरनी कर डाली जाय, पैर आसमानों की ओर फेंक कर सिर से चला जाय, नाक से पानी पिया जाय। भीतर-भीतर ऐसे ही चल-चित्र उघरते-पसरते रहते हैं। ये चित्र खंड-खंड होकर खुलते हैं ; पर उनका भी एक आदि है, एक मध्य है, एक अवसान है। वहाँ भी कोई समाधान होता है। धारणा आगे-आगे बढ़ती जाती है। उसका आलोक छेंका-छेंकी की बाड़ें छलाँग-फलाँग कर नित-दिन के जीवन में छलक पड़ता है। भीतर ही भीतर, मन की गहराइयों के तले-तले एक ज्वार-सा चलता रहता है। बाहर उस ज्वार का कोई परिचय नहीं मिलता। बाहर और भीतर के बीच एक किवाड़ है, जो बन्द पड़ी है। बाहर से भी और भीतर से भी। भीतर बराबर कुछ गिन-गिनाव लगा है, कोई हिसाब-किताब चल रहा है कि बाहर से कब क्या आया था! बाहर दिउड़ु साँवता की नींद-माती बेसुध देह है। उस देह में और किसी पेड़-पौधे, लक्कड़-पत्थर आदि में कोई अन्तर नहीं है। वहाँ न पूयू है, न पुबुली है, न पिओटी है। हैं तो केवल मच्छड़-ही-मच्छड़ हैं, जो घाँव-घाँव भनभनाते हुए रक्त चूसते फिर रहे हैं। चाँदनी ढली आ रही थी। चाँदनी में सब दिन की तरह सखुए की छाँहें पड़ रही थीं। वहाँ कोई सहानुभूति नहीं।

अट्ठावन

सुबह उठते ही दिउड़ साँवता ने दल को पुकार लिया। आज गाँव लौट चलना है। यहीं अटक रहने से काम नहीं चलने का। बहुत रुक लिए, अब नहीं रुकते। धाङड़े राजी हो गए। सचमुच गाँव की धाङड़ियाँ उन्हें बहुत गालियाँ दे रही होंगी। शिकार कराने को गाँव में लोग न रहे हों जैसे, पराए गाँव के लोगों के भरोसे निकल पड़े और इधर एक छोकरी उद्लिया भाग गई ! चैत का कोई विश्वास नहीं !

गाँव जाने की बात पक्की होते ही कंधिया भाई को कोई और चिन्ता नहीं रहती। जो देर लगती है, सो बात पक्की करने में ही लगती है। बात पक्की होते ही कंध एकमुँहा हो जाता है, फिर किसी की कुछ नहीं सुनता।

छावनी उठ गई। घाटियों-टेकरियों को लांघती राह जंगलों-जंगलों चली गई है। बंदिकार के कुछ ही दूर रह जाने पर एक तिराहा है, रास्ते के दो सींग फूट निकले हैं। एक राह घाटी लांघती पहाड़ के ऊपर चली गई है और दूसरी पहाड़ की तलहटी में समतल मैदान को पार करती हुई टेढ़-मेढ़े घुमानों से घूमती, ऐंठती, चक्कर काटती बंदिकार चली गई है। दिउड़ ने कहा—"चल, इस तलहटी की राह से ही चले चलें।" कोई बोला—"इस तरह गाँव-गाँव बैठते चलेंगे, तो अपने गाँव कब पहुँचेंगे साँवता ?" किसी और ने कहा—"ना, ना, सीधा ही चले चलो। ऊपर वाली राह से। बहस छिड़ गई। एक भाई बोले—"सिर्फ बंदिकार-बंदिकार किए रहने से क्या होने-जाने को है होऽ ? भर मन मौज-मजे कर लिए, लाड़-प्यार छक-छक कर हो लिया, अब और कितना चाहिए ?" "उस गाँव किसके लिए जायें, वहाँ इस भोर की बेर में बैठा ही कौन होगा ? सब तो झोले के किनारे गए होंगे। ऐं ऽऽऽ ?" "यहीं से सीधे पहाड़ों-पहाड़ों ही क्यों न चले चलें, चक्कर काट कर फिर चढ़ान चढ़ने में क्या रखा है ? सुबह का तो समय है, कोई पसीना थोड़े ही बहेगा ?" सो, बंदिकार जाना नहीं

हुआ। पाँच पंचों की राय ही हर किसी की राय होती है। दिउड़ खिसिया रहा था। फिर याद आ रहा था उसे कि मेरी राय पूछे बिना ही मेरी बहन का उदूलिया ब्याह हो गया है। खिसिया-खिसिया कर वह तेज़-तेज़ चलने लगता था। सारा क्रोध सिमट-सिमट कर पुयू के ऊपर बरस रहा था।

"हुं :! चले आओ। पिछड़ क्यों रहे हो ?"

"तेरे साथ दौड़ नहीं पाऊँगा साँवला। तू तो बच्चे का बाप होकर भी अभी भेंडिए का भेंडिया ही बना हुआ है।"—राह चलने का कंधिया ढंग है हँसी-ठट्ठे की छौंक-बघार दे-देकर सफ़र को मजेदार बनाए चलना। पर दिउड़ का मन उधर ज़रा भी नहीं था। आज सुबह-ही-सुबह जाने कहीं कुछ बिगड़ गया है। ऐसा लग रहा था, मानो माथे के भीतर कोई केंदरा [1] लिए घोड़े के बाल पर कोई रुआँसी रागिनी, कोई निराशा-गीत घिसे जा रहा है। सब-कुछ जैसे उलट-पलट गया हो। हर कहीं विफलता-ही-विफलता हाथ आ रही है।

गाँव पहुँचते ही सब से पहले लेंजू कंध से भेंट हुई। दूर से ही धाङ्ड़ों के झुंड को देख कर लेंजू कंध ठिठक गया था। काँधे पर टाँगिया डाले जहीं-का-तहीं खड़ा रह गया था। किसी ने ठिठोली की, पहरा दे रहे हो ? चिल-चिलाती धूप है, चोरी-डकैती तो नहीं होनेवाली कहीं ?"—एक ओर कुछ हट कर 'झोले' के कनारे झुकी हुई बाळमुंडा की घरनी सोनादेई पानी की गगरी डुबा रही थी। दल के भीतर से बूढ़े बारिक ने पुकारा,—"हेऽ सोनादेई, सब ठीक-ठाक तो है ना ?" "तेरे एक दिन घर से चले जाने पर कौन-सा पहाड़ ढह गया होगा, बारिक ?"—"बहू तेरी, है बारिक, है, भाग नहीं गई। देखते नहीं, कौन रखवाली कर रहा है ?" दिउड़ और भी खिसिया गया। लेंजू कंध चेता। बेकार इन की बाट

---

१ केंदरा एक तरह का एकतारा होता है, जिसे कमानी से बजा-बजाकर ओड़िया जोगी भीख माँगा करते हैं। तार की जगह पर इसमें घोड़े के बाल तने होते हैं। केंदरा अछूत जातियों का बाजा है।—अनु०

जोहते खड़े रहने से अपने ही गौरव की हानि होगी। पीठ घुमा कर लेंजू कंध चल पड़ा। दिउड़ ने चिल्लाकर पुकारा, "लेंजू काका !"

"हो-ो-ो-ो ह—"

"मेरी पुवुली को क्या कर दिया लेंजू काका ? 'पटकार निस्ता-पिस्ता' बूढ़ा कहीं का "

"क्या कहा- ?" आँखें तरेरे और टाँगिए की मूठ को तानकर पकड़े हुए लेंजू काका दो डग बढ़ आया—"क्या कहा, जरा फिर एक बार कह तो जरा, कह, फिर तो कह ! क्या कहा ? क्या कहा ?—"

दिउड़ ने मुँह बिचका-बिचका कर मुँह चिढ़ाया—"कहूँगा नहीं इसके डर से। निस्ता-पिस्ता बावला बूढ़ा कहीं का ! तेरे मरदानगी रहती तो गाँव के मुँह पर जूते मारकर पराए गाँव का आदमी तेरी बेटी छीन ले जाता ? कहूँगा नहीं तो छोड़ दूँगा ? तू मेरा कर क्या लेगा ?"

लेंजू कंध रोप के मारे पागल-सा होकर टाँगिया उठाए हुए झोले की ओर दौड़ आया। इधर से दिउड़ भी झपटा। 'झोले' को पार करने भर की देर थी, पार होते ही लोहा बज जाने वाला था। दिउड़ के संगी-साथियों ने दिउड़ और लेंजू के मुँह की भंगी पर ध्यान नहीं दिया था। उनकी धारणा यह थी कि मन दुखी होने पर ऐसे झगड़े-टंटे बहुत होते रहते हैं और फिर समझावन-बुझावन और सुलह-सलाह हो-हो जाती है ! पर इन दोनों की मुख-भंगी पर एक व्यक्ति का ध्यान जरूर था। वह थी 'झोले' के उस पार खड़ी सोनादेई। आदमी की आँखों में जब बाघ की जैसी चितवन होती है, तो उसका संकेतार्थ सदा एक ही हुआ करता है। लेंजू कंध ने इतना रोष कभी नहीं किया था। दिउड़ साँवता के हँसमुख और नम चेहरे पर भी सहन की सीमा पार कर जाने के बाद की ऐसी विकट भंगी कभी खेली नहीं थी। दोनों,दोनों ओर से बढ़े आ रहे थे। दोनों रोष के मारे पशु से भी बढ़कर भयानक हो उठे थे। दोनों की आँखों में हिंस्र पशुओं की आँखों-जैसी बिजली कौंध रही थी। दोनों एक दूसरे को तरेर रहे थे। दोनों की आँखों की बिजली एक दूसरी को काट रही थी। सोनादेई आतं-

ंकित हो उठी । जाने क्या उसे दबोच बैठा । चीख मार कर वह गगरी समेत गुड़कियाँ खाती हुई झोले के भीतर लुढ़क पड़ी । मुँह फेर के लेंजू कंध ने यह दृश्य देख लिया और देखते ही दौड़ पड़ा । अपनी नाक के नीचे सोना-देई मर चली ! निश्चय ही मर रही है वह ! नहीं तो, मौत के सिवा और क्या है, जो इस तरह अचानक आ जाता है ? कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं ! कांधे की टाँगिया कुल्हाड़ी फिर कांधे पर लौटा लेकर लेंजू कंध दौड़ पड़ा और उसे पकड़ कर उठा लिया । सोनादेई टुकुर-टुकुर ताक रही थी । "क्या हुआ, क्या हुआ" कहते हुए सभी झोले के उस पार से दौड़ पड़े । बूढ़ा बारिक पागलों की तरह चीख-चिल्ला रहा था । उसे बीच में रख कर चारों ओर से घेरे हुए सारे लोग कोलाहल कर रहे थे । कोई हाथ-पैर झटकार रहा था, तो कोई हवा कर रहा था । कोई जड़ी-बूटी लाने को कह रहा था, तो कोई तबियत का हाल पूछ रहा था । सोनादेई आश्वस्त हुई । हड़बड़ा कर उठ पड़ी और झाड़-झूड़ कर अपने आप को सँभाल लिया । आँखों में अब भी वही अनजानी भयभीति थी, पर भय का वहाँ कोई कारण दिखाई नहीं दे रहा था । बड़ी कोमलता के साथ, अत्यन्त ही स्निग्ध भाव से, बड़े ही जतन के साथ, सभी लोग उसकी परिचर्या में, उसकी सुविधा की व्यवस्था करने में, लगे पड़े थे । वह चुपचाप उठी और उसी तरह मौन साधे घर की ओर चल पड़ी । बाकी सारे लोग भी चुपचाप उसके पीछे-पीछे चल पड़े । अगवान भेंड़ के पीछे मुँह लटकाए चले जा रहे रेवड़ की तरह । लेंजू कंध आगे-आगे चल रहा था । उसके पीछे-पीछे बूढ़ा बारिक था । उसके माथे में अनगिनत प्रश्न चक्कर काट रहे थे । पर इस समय उनका उत्तर देने की प्रवृत्ति सोनादेई में ज़रा भी नहीं थी ।

हो-हल्ला बीत चुका और दिउड़ू घर को चला । घर पहुँच कर देखा कि लेंजू काका नहीं है । सोचा, यह आदमी सदा से ऐसा ही निर्लिप्त रहा है और सदा ऐसा ही बना रहेगा । पुबुली चली गई है, पर क्या हुआ, कैसे हुआ, आदि के बारे में अपने मुँह से दो शब्द भी निकालना वह नहीं चाहता । सोचा, यह आदमी जवाबदेही लेना तो नहीं चाहता; पर अपना

भाग लेना चाहता है। कष्ट उठाना तो नहीं चाहता; पर आलोचना करने का अधिकार चाहता है। इससे तो कहीं भला वह दसरू कुत्ता है। गाँव के गलियारे में सचमुच दसरू से भेंट हो गई। इतने दिनों के अदर्शन के बाद आज उसका मालिक लौटा है। दोनों अगले पैर ऊपर उठा कर दुम हिलाता हुआ और मुँह चाट-चाट कर हँसता हुआ दसरू उसकी जाँघों पर चढ़ आया। दिउड़ ने पुरस्कार में उसके कान उमेठ कर एक ब्रह्म-थप्पड़ जड़ दिया। दिउड़ का मन बिगड़ आया था। सभी के घर के आगे तो परिछन करने के लिए बावली हुई-सी किसी की बहन दौड़ी आ रही है, तो किसी की घरनी दौड़ी आ रही है, और एक मैं हूँ कि स्वागत में ले-देके यह बूढ़ा कुत्ता ही आया है। इतनी स्पर्द्धा बढ़ गई है कुत्ते से लेकर आदमी तक सभी के मन में!

यही घर है अपना! मन का कोप फिर भड़क उठा। मानो किसी ने सरकंडे मार कर उकसा दिया हो। आज पुयू को जरूर पीटूँगा, नंगी करके पीटूँगा उसे। सारे गोलमाल की जड़ यह पुयू ही है। नहीं तो क्या मजाल था कि उसके मायके के अनजाने लोग अनचीन्ही धाङड़ी को यों फुसला ले जाते? नहीं तो क्या कारण है कि वे इस तरह घात लगा कर ठीक सुभीते के मौके पर आए और झपट्टा मार कर उठा ले गए? ठीक उस समय जब गाँव के भेंडिए गाँव में नहीं थे?

पुयू दोमुँहे के द्वार पर खड़ी बाट जोह रही थी। कितनी दुबली लग रही है? दिउड़ की निगाहें उसके लंबे छरहरे हाथ-पैर पर एक बार घूम-फिर कर उसके गले तले जाके अटक रहीं। वहाँ कुछेक हाड़-ही-हाड़ उभरे थे। सचमुच पुयू कितनी दुबली हो गई है! दिउड़ का कोप धीरे-धीरे उतर कर सोच में परिणत हो गया। सोचा, आज के जैसे दिन पुयू के ऊपर हाथ उठाना ठीक नहीं होगा। पुयू मार सह नहीं पाएगी। पुयू उलटे पाँव लौट कर भीतर चली गई और हाकिना को उठा लाई। बेटे को झुला-झुला कर लाड़ लड़ाती रही और बेटे के बाप को निहारती रही। दिउड़ ने सोचा, हाकिना को लेकर खड़ी होने पर इसके मुँह की दरिद्रता बहुत दूर

तक घट गई-सी दिखती है। पुबुली चली गई है; पर पुयू तो है ? पुबुली परगोत्री ठहरी, पुयू आखिर कुछ भी है अपनी तो है, निजी तो है ! क्या सोचते-सोचते मन किधर से किधर चला गया। दिउड़ू खिसिया नहीं सका। स्त्री के ऊपर उसे दया आ गई। कोई कहीं भी जाय, गाली-गलौज और हेला-अवहेला सह-सह कर पुयू जैसी-की-तैसी चिपकी पड़ी रहती है। लंबी उसांसें भर कर अपने को सँभालते हुए दिउड़ पुयू के और पास गया। बोला—"धुँगिया हो तो थोड़ा-सा दे—।" अचीन्हे कंध-कंधुणियों का यह साधारण परिचय का बोल है। उसकी बात सुन कर पुयू चौंक पड़ी और उसका मुँह ताकने लगी। सोचा—जान पड़ता है दिउड़ू ने इधर कई दिनों तक काम-धंधे के पचे से छुटे रह कर उस बीच की सारी गडमडिया बातें अपने मन के भीतर से धो-पोंछ डाली हैं। दिउड़ू ने फिर पूछा,— "धुँगिया है? है ? तू देगी कि मैं ही दूँ ?"—पुयू हँस पड़ी।

उनसठ

सुनसान रात। कहीं पत्ता तक खड़क नहीं रहा। अपने घर के ओसारे में भुकभुकाता धुँगिया सुलगाए दिउड़ू सांवता बैठा हुआ है। पुयू रसोई-पानी के कामों में भूली हुई है। बारंबार इधर-से-उधर आ-जा रही है। उसके पैरों की आहट धमाधम सुनाई पड़ती है। हाथों के कड़े झुनझुने की तरह बज-बज उठते हैं। भीतर रसोई का खदबद-खदबद शब्द हो रहा है। धुआँ उठ रहा है। सामने के ओसारों में एक पाँत से अलावों की लवें धीमी धीमी बल रही हैं। देखने में कबूतर के खोपों में बलती-सी लगती हैं। बीच-बीच में किसी पड़ोसी के घर से बतराने की हलकी गूँज सुनाई पड़ जाती है। ओटे के तले दरवाजे को छापे हुए बैठकर दसरू ने अपना पहरा शुरू कर दिया। वह रह-रहकर भौंक उठता है। घड़ी-पहर बीत जाने पर उठकर नीचे लपक पड़ता है, किसी अदृश्य छाया के पीछे-पीछे भागता हुआ कुछ दूर तक उसे खदेड़ आता है और फिर लौट आकर दुम पटकने लगता है। अँधेरे की शान्ति फिर ज्यों-की-त्यों पुर आती है। घर का आराम इसी को कहते हैं।

यही घर की शान्ति की पुरानी छवि है। जैसी तब थी, ठीक वैसी ही अब भी है।

झुकी-झुकी धरती छूती-सी छान तले, सँकरे ओटे के ऊपर बैठे रहते समय की यही पुरानी अनुभूति सदा से चली आई है। पुरखों के दिनों से ही चले आते चीन्हे-जाने मानव चोले की तरह। घूम-फिर कर हलकान-हलकान हो लेने के बाद यही सिमट-सिकुड़ कर बैठना सदा से भाता आया है—और सदा रुचता रहेगा।

दिउड़ू सांवता खोया हुआ, थिराया हुआ बैठा था। उसका मन कहाँ है, इसका कोई अता-पता उसे नहीं था। जहाँ मन विचर रहा था उसका, वहाँ रोष-कोप नहीं होता, अछतावा-पछतावा नहीं होता, मसोस-अफ़सोस

नहीं होता, उल्लास-हुलास नहीं होता। वहाँ सिर्फ माँदगी होती है, सिर्फ श्रांति-क्लांति होती है। वह अलसा-अलसा कर, मठरा-मठराकर धुँगिया धूकता-फूँकता रहा। धुँगिया पीते-पीते बरौनियों के ऊपर बोझल-बोझल-सी ठंडी नींद उतर आई। कितना अचल है यह अँधेरा भी। पेड़-पौधे जस-के-तस ठिठके खड़े हैं। कहीं कोई हलचल, कोई गति, कोई खड़कन नहीं! आकाश में आज तारे बहुत घने उगे हैं। कल धूप बड़ी तीखी होगी।

पुबुली चली गई। इस समय तक लेंजू काका से फिर भेंट नहीं हुई। लेंजू काका!....आज कहाँ का रोष कहाँ उतर पड़ा था! इतनी दूर तक तनाव कभी खिंचा न था। अरे जा-जा, जो होना होगा! इसके लिए भी दिउड़ का मन तड़प नहीं रहा था। सब कुछ सहज-भाव सेहोता रहता है। मन में रहते-रहते सब बातें पुरानी पड़ जाती हैं। अब लेंजू काका से पट नहीं सकेगी। चोरी-चुपके छिपे-छिपे बिगड़ते जा रहे संबंध में न जाने कब से घुन लग चुका था। धीरे-धीरे खोखला होते-होते यह संबंध न जाने कब से बिलकुल पोला पड़ गया था। आज आमना-सामनी होते ही भुसभुसाकर टूट गया। जाः, क्या रक्खा है इसमें!

मन की बातें मन से एक-एक कर निकलती अँधेरे में कहीं चली जा रही थीं। इसीलिए इस समय पिओटी की याद नहीं आ रही थी। मन के तलदेश में कितने नीचे है वह भी! करुण भावों और अवसाद का घोल-मट्ठा हुआ जा रहा था। चेतना के भीतर से अनुभूति खो गई थी। शिकार को कब गया था मैं? जंगलों-जंगलों की यह खाक किसलिए छानता रहा? जोड़-जोड़ की यह इतनी टीस किसलिए? दिउड़ सोच रहा था कि यह सब-कुछ निष्फल है, बेकार है! कोई दरकार नहीं!

जम्हाई-पर-जम्हाई आने लगी। मन हुआ कि पुबुली को पुकार उठूँ। फिर बड़े ही हलके ढंग से, बड़े ही क्षीण ढंग से, कुछ-कुछ याद आया कि पुबुली तो है नहीं। ना, पुबुली को पुकारूँगा नहीं। रहे, रहे वह जहाँ-की-तहाँ।

कितनी देर तक दिउड़ू को महसूस हुआ कि मुँह के पास किसी रोशनी की दौंक लग रही है। कि कोई मुझे ठेल-ठेल कर उठा रहा है। मानो सवेरा हो गया हो। यह नींद भी बेकार है, निष्फल है; यह नींद भी निष्प्रयोजन है! उसी तरह ऊँघता निद्रालु मन पीछे की ओर झुक-झुक कर सोचता रहा— कौन जाय!—कौन जा सकता है!—नींद का आराम!

रोशनी लिए मुँह के ऊपर झुकी हुई पुबुली जगा रही है।—ना ना, पुयू जगा रही है!—"क्या ?—खाना-पीना नहीं है क्या ?— माई री, कैसी नींद है!"

"एँऽ, एँऽ, लेंजू काका ?"—ओटे के तले पत्थर के ऊपर निश्चल होकर लौंदे-का-लौंदा अँधेरा सिमटा बैठा है।—दिउड़ू ने ऊँचे सुरों पूछा —"लेंजू काका ने खा लिया ?"- पत्थर के ऊपर से कोई उठा और दमरू कुछ दूर तक उसके पीछे-पीछे जाकर लौट आया। दिउड़ू हताश हो उठा। पुयू ने कहा—"उठो, तुम तो खा लो। लेंजू काका है कहाँ जो खायँ। वह तो अभी तक आए ही नहीं।" फिर माँदगी सवार हो गई। दिउड़ू ने फिर आँखें मूँद लीं और दीवार की ओर ढुल पड़ा। पुयू हिला-हिलाकर उठाने लगी—"अरे, फिर सो रहे ? यह तो सचमुच फिर सो रहा! उठो, उठो, बेटा अकेला ही सोया हुआ है। उठो ना!"—उस पर से जामिरी कंध ने एक बड़ी-सी सघोष जम्हाई ली और खँखास कर पूछा—"क्यों रे दिउड़, खा लिया ?"—दिउड़ू चौंककर उठ पड़ा। खड़ा हो गया। रुचि तो रही नहीं, पर फिर भी खाना तो पड़ेगा ही। पुयू अत्यन्त खुश होकर परोसने चल पड़ी। दिउड़ू भी गंभीर होकर उसके पीछे-पीछे भीतर चला गया। हाँ, याद आ रहा है। बहुत सारी बातें याद आ रही हैं। एक बात यह भी थी कि पुयू के ऊपर खिसियाना था; पर रीस-खीस की सारी पूँजी झाड़-झूड़ कर लेंजू काका ले गया और अब अँधेरे में कहीं जा छिपा है। बेशू कंध सुख से घर बसा चुका है और गिरस्ती चला रहा है। कोई भी काम करने की, यहाँ तक कि खिसियाने का ज़रूरी काम तक निबटा पाने की प्रवृत्ति इस समय दिउड़ू में नहीं थी।

फिर भी संदेह-ही-संदेह में वह पूछ बैठा—"मिङटिङ के लोग कब आए थे ? आने की बात पहले से सूचित की थी ? कुछ कह भेजा था ? कुछ बताया था ? पुबुली ने कुछ कहा था ? यों अचानक चली गई पुबुली—पहले से कुछ कहा था उसने ?" ज्यों-ज्यों दिउड़ की चेतना जागती जा रही थी, त्यों-त्यों उसके मन की पुरानी अवस्था लौटती आ रही थी। वही क्रोध, वही मान-अभिमान, उसी तरह की पित्त उबालनेवाली चिन्ता। पर सामने, वह देखो—हाकिना निर्दोष निघोर नींद में सो रहा है ! और पुयू भात खिलाने को, सेवा-जतन करने को इतना आदर-आग्रह कर रही है। उसके पैर धरती पर नहीं पड़ रहे। उसके मुँह से भाँति-भाँति की शुभ कामनाएँ, भाँति-भाँति के कुशल-प्रश्न बौछारों में बरस पड़े हैं। दिउड़ उसके ऊपर खिसिया नहीं सका। 'बहन को भगा क्यों दिया, क्यों, क्यों, क्यों'—पूछता हुआ खामखाह उस दुबले-पतले निबल मुँह को घूँसों से चूर कर डालने को हाथ नहीं उठा। शान्ति और अशान्ति के बीच पैंगें भरते हुए दिउड़ू मुँह बिगाड़ता रहा और किसी तरह उसकी सेवाएँ सहता रहा। भीतर-ही-भीतर। बाहर से काठ की तरह भावशून्य दिखता रहा।

"यह लो—और थोड़ा-सा मँड़आ-भात दूँ ? एँऽऽ ? और नहीं खाओगे ? इतने ही में पेट भर गया ? केला ले लो ना एक और...सियाड़ी की भुनी बौर थोड़ी-सी और...इतने ही में उठ जाओगे ?"

आज पुयू बढ़-बढ़ कर, गले पड़-पड़ कर, आग्रह दिखला रही है। वह जितना ही छटपटा रही है, उतना ही दिउड़ू को कैसा-कैसा तो लग रहा है। आज पुयू की बातों के कमान से गुलेल नहीं छूट रहे। आज उसके पैरों में पंख लगे हैं। क्या ? हुआ क्या है ?

"सलोने गुनगुने पानी में पैर तो डुबोए ही नहीं ?—दर्द नहीं हो रहा होगा क्या ? थक के चूर नहीं हो रहे होगे क्या ? पानी गरमा रहा है, दूँ ? बुरा- बुरा लग रहा है ? पैर दाब दूँ ? ना, मैं पीछे खा लूँगी, पहले तुम सोओ, दाब दूँ पैर ?"

रात निश्चल है। रात विकृत है। दिउड़ू बाहर आया। खा-पी लेने से पेट में शांति विराज रही है। नींद उचट गई है। मुँह पर ठंडी हवा थपकियाँ दे रही है। देह की दुर्बलता का मोह मन में नहीं है। देह का बल भी धीरे-धीरे बढ़ रहा है। मन में भी पुरुष-पना बढ़ रहा है। मन के रूखेपन में अब पुयू जड़ नहीं है। उसने चारों ओर देखा। गांव सुनसान है। सभी सो पड़े हैं। कहीं से भी रोशनी की तनिक भी दौंक नहीं आ रही। आज हुआ क्या है? कहाँ गई मेरी प्रतिज्ञा? पुयू को फिर पहले की तरह ग्रहण कर लिया है!

फिर सब बातें एक-एक करके याद आईं। पुयू सूखी, सिकुड़ी, हाड़-हाड़ रोगिणी पुयू! उसकी आँखों में तेज नहीं है, मुँह पर महुए का पानी नहीं है। मानो पुयू की यह मूर्ति सदा से उसकी आँखों में अंकित रही है।—आँखों में खरोंचा मारती रहने के लिए! और उसी पुयू से फिर मेल-जोल, फिर संधि! अत्यंत खीज-खीज कर उसका मुँह कैसा तो विकृत हो उठता है, बीभत्स दिखने लगता है। देह में हड्डियाँ बजती हैं, ठंडी हड्डियाँ। अपनी मरज़ी से अपने-आप को उबालती रहती है। इतने दिनों से तो पुयू कुछ और ही जैसी थी, आज क्या हो गया कि बढ़-बढ़ कर, आप पहल करके, भरमाने आई है? दिउड़ू ने सोचा—स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है। हार जाने पर इसी तरह वे छलना का सहारा लेती हैं, बहाने करती हैं, काछती हैं, नाटक-भग्गल करती हैं। सभी विरोधी चिंताओं-विचारों को अपने मन में समेट-बटोर कर, उनमें जान-बूझ कर सामंजस्य स्थापित करके दिउड़ू ने पुयू के विरुद्ध एक प्रबल अभियोग खड़ा करने की चेष्टा की। जितना ही सोचा किया उसने, जितना ही उस निराले सुनसान में अपने-आप को तोला किया, उतना ही आत्मविश्वास भी उसका बढ़ता गया। उसने यही फ़ैसला किया कि वह तो मेरी नहीं हुई! जली भाजी जल कर राख हो चुकी है, अब उसे उबारने की कोशिश करना ही बेकार है।

नींद पूरी खुल गई। अप्राकृत अनुभूति के बादल एकदम छँट गए। खा-पीकर धुँगिया पी चुकने के बाद निश्चिंत होके ओसारे में बैठा-बैठा

वह ज्यों-ज्यों गरमाता गया, त्यों-त्यों उसकी भावधारा पुयू को छोड़ कर बाहर की ओर सरकती गई, त्यों-त्यों उसका मन मथता गया। कैसी निराली सुनसान रात है। सोनादेई सोई पड़ी होगी! अचानक क्या हो गया था उसे? ठीक ऐन मुहूर्त पर इतनी बड़ी चीख मार कर वह पानी के भीतर लुढ़क क्यों पड़ी थी? सोनादेई मेरी रैयत है, प्रजा है। रैयत ही नहीं, मेरे सेवैत, मेरे सेवक, मेरे अपने आदमी, बूढ़े बारिक की बहू है। दिउड़ु अपने-आपको कोसने लगा कि अब तक सोनादेई का हालचाल पूछने गया क्यों नहीं मैं! आज तो रात बहुत चढ़ गई है। और पुयू रखवाले की तरह पहरा दे रही होगी। इस समय गाँव में कौन क्या कर रहा है? उसने निश्चय किया कि कल जरूर जाऊँगा। फिर पिओटी का ध्यान आया। पिओटी—! पिओटी की बात सोचने बैठो तो सुख मिलता है; पर केवल सुख ही नहीं मिलता, कलेजे के भीतर जैसे क्या-कुछ रीता-रीता सा, सूना-सूना-सा लगने लगता है, मन भारी-भारी सा, उखड़ा-उखड़ा-सा हो उठता है। पिओटी की याद के पीछे-पीछे ही क्रोध की भावना जाग पड़ती है, क्रोध बढ़ता है, पुबुली के ऊपर और दायित्व के सूत्र से लेंजू काका के ऊपर। लेंजू काका चाहे जहां आए-जाए, उसमें किसी को कुछ कहना नहीं है, पर—! दिउड़ु ने सोचा—लेंजू काका इतना निकम्मा क्यों हो गया है? वह बूढ़ा हो गया है तो क्या, अभी भी उस पर शासन रखना, अनुशासन रखना जरूरी है। अपने बरताव के लिए उसे तिल-भर भी दुख नहीं हुआ। पिओटी की याद का कारण है उसके संपर्क से मिला आनन्द। और उस आनन्द के छिन जाने का कारण बना पुबुली का उढ़लिया ब्याह। इसकी जवाबदेही किसी और की है। इसीलिए सारा दोष किसी और का है। सोचते-सोचते वैराग्य-सा आने लगा। संसार में जन्म लेना ही बेकार हुआ। कोई अपना नहीं है। कोई आसरा-भरोसा देने वाला नहीं है। कोई सहारा देनेवाला नहीं है। सब विरोधी हैं, सब, सब! सभी मुसीबतें खड़ी करने के, जीवन को दुर्वह भार बना डालने के इच्छुक हैं। कहीं शांति नहीं, कहीं नहीं! इस अँधेरी रात में—! माँ याद आई, बाप याद आया। वे बचे रहते तो

अच्छा था। लेंजू काका के ऊपर, पुयू के ऊपर, निर्भर करना नहीं पड़ता। उनके रहने पर शायद सब-कुछ भला-ही-भला होता!

ऊपर खाली झुंड-के-झुंड टिमटिमाते तारे हैं। नीचे खाली धुँधला-धुँधला-सा अँधेरा है। तरह-तरह का अँधेरा है, जाति-जाति का अँधेरा है। तरह-तरह के बादलों की तरह, तरह-तरह के धुएँ की तरह। सब सो रहे होंगे। जग रहे हैं केवल भूत-प्रेत, अजन्मे टुमा, और अँधेरा, बाहर-भीतर अँधेरा। दिउड़ू साँवता का अशांत मन कुहुक उठा था, धुँआँ-धुँआँ हो उठा था, सुलग उठा था। रंग-पर-रंग लौट-लौट आने लगे।

काम-धाम सहेज-समेट कर पुयू ने पुकारा.—"बैठे ही हो, नींद नहीं आ रही?—" हलके अँधियारे में टटोलते हुए से उसके दो पाँती दाँत पीछे हट गए से लगे। पुयू बोली—"[illegible] सह नहीं पाएगी, सो जा!—"

"हुँऊँ"—दिउड़ू ने हुँकारी भरी। कल से चालित की तरह एक-एक डग भरता वह अनमना-सा सोने चला गया।

उस समय सारी धरती सो पड़ी थी। जग रहे थे केवल सपनों की अनुभूति के जीवन, संकेतों ही संकेतों में।

साठ

सुबह बच्चे की अप्रिय रुलाई ने नींद तोड़ी। यह रुलाई ही नहीं थी, ऐसा लग रहा था, मानो कोई कान के पास आ कर कोई गूढ़ बात कह रहा हो। अधजगी-अधलगी नींद के पूरा खुल पाने के ठीक पहले ऐसा लग रहा था, मानो कोई अभी-अभी यह सँदेशा दे गया है कि रात सोनादेई मर गई। मर गई ? चौंककर मन-ही-मन अहा-ओहो करने के बाद वह सोच ही रहा था कि अब ऐसी घड़ी में क्या कहा जाय, कि इस अप्रिय बाधा से नींद उड़ गई। बाल बढ़े हैं, आँखें लाल-लाल हो आई हैं। तिस पर भौंहें टेढ़ी करके आँखें तरेरते हुए दिउड़ू बोला—"ए̃ऽऽऽ—? क्या कह रही हो ?"

"टोले के लोग बातें कर रहे हैं कि लेंजू काका कहाँ तो किसी पेड़ तले बैठे रो रहे हैं। क्या तो तुमने उन्हें कोई गाली दे डाली है। सभी कह रहे हैं कि लेंजू काका कहाँ तो शाप दे रहे हैं। क्या तो कह रहे हैं कि भाई के मर जाने के बाद से तुम बराबर ही उनका हतादर करते आ रहे हो—" पुयू कहे जा रही थी। फिर दिउड़ू की भंगी देख कर डर गई और डरती डरती फुसफुसा कर कहने लगी—"लेंजू काका क्या तो कह रहे हैं कि बाँटकर अलग हो रहेंगे। छिः छिः छिः ! क्या बात हो गई ? क्या कह आए उन्हें ? सो क्या रहे हो ? घर जल-भुन कर राख हुआ जा रहा है। अड़ोसी-पड़ोसी हँस-हँस के निहाल हो रहे हैं, ताने मार रहे हैं। उठो-उठो, जाओ, जरा बूझो-सूझो तो कि क्या बात है—"

"एँ क्या कहा ?"

"तुम जाओ जरा। उन्हें समझा-बुझा कर ले आओ। बाद की बात पीछे होगी। और बीती बिसार दो। जो भी हो, तुम्हारे चाचा ही तो ठहरे आखिर। रीस-खीस में तुम कुछ बक गए होगे, सो वह रूठ गए हैं। जाओ,

बाक़ी[1] माँग कर मना लाओ उन्हें। जा रहे हो ?—"

यह क्या कह रही है ? दिउड़ की आँखें फट आईं, मुँह कठिन-कठोर हो उठा। कहीं खो गई-सी पिछली रात की सारी कोमलताएँ, सारी स्निग्धताएँ मन से पुँछ गईं। दिन उभरा, कल सवेरे का जो दिउड़ था, आज सवेरे भी वह डिउड़ फिर उभर आया ! और यह पुयू भी जो तब थी, वही अब भी है, कहीं कोई हेर-फेर नहीं, कोई रद्द-बदल नहीं। यह क्या कह रही है ? क्या कह रही है यह हतश्री अप्रियवादिनी नरकंकाल पुयू ? 'बाक़ी' माँगने मैं जाऊँ, मैं, दिउड़ सावता ? फिर उसकी सारी बातें मन के अँधेरे में टटोलती हुई पलट आईं। मानो अब भी लेंजू कंध के साथ वही झगड़ा चल रहा हो। मानो लेंजू कंध सामने खड़ा गालियाँ बक रहा हो और वह आप उन गालियों का बदला चुकाने को प्रस्तुत हो रहा हो। वह गरजता हुआ उठ खड़ा हुआ और लपकता हुआ पुयू के ऊपर टूटा पड़ता सा ललकार उठा—"क्या कहा ? मैं, मैं जाऊँ बाक़ी माँगने ? गंडा पटकार दुष्टा कहीं की। तू और तेरा लेंजू काका। मेरे यहाँ न होने पर तुम दोनों ने मिल कर मेरी बहन को घर से भगा दिया, उड़ा दिया, और फिर बातें बनाती है ? लाजों डूब नहीं मरती ? "

पुयू काठ हो रही। डरती-डरती बोली—"तो मतलब, तुम नहीं जाओगे ? तो मतलब, लेंजू काका सचमुच ही हमसे अलग हो रहेगा ? तो मतलब, जानते हो क्या होगा ? उसकी आहें मेरे इस हाकिना के ऊपर पड़ेंगी। मुझे मारना हो तो मार लो, पर तुम जाओ ज़रूर—जाओ—जाओ—"

'फिर—?—फिर—?' हाथ उठाए दिउड़ उसकी ओर दौड़ पड़ा—"जान रख, फिर इस तरह की बातें कीं, तो ठिकाने लगा दूँगा तुझे ! जान रख—" मन-ही-मन भुनभुनाता बकता-झकता दिउड़ गालियाँ देते हुए गाँव के भीतर की ओर चला गया। पुयू जहाँ की तहाँ काठ हुई खड़ी ताकती रही। आँखों से आँसू की धारें झरती रहीं। दिउड़ की आज यह कैसी भीम-

[1] माफ़ी।

मूर्ति है ! उसका मन साठी साँप[1] की तरह हो गया है। आज इस भयंकर साँप ने पानी के भीतर से अपनी दुम बाहर की है। उसकी लपेट में जो भी आ जायगा, उसे निचोड़ लेगा। और उसे चूर्ण-विचूर्ण करके, अणु-अणु छिटका करके, कण-कण अलग करके, खा जायगा ! ठीक साठी साँप जैसी गति इसके मन की हो गई है !

पुयू संदेहों से भरी जा रही थी। पिछली रात के इसके बरताव और इस समय के इस रूप में नाम-मात्र को भी कोई सामंजस्य नहीं है ! तो क्या मेरा वह विश्वास गलत है ? तो क्या दिउड़ अब कभी मेरा न होगा ? आँखों की धारें अजस्र होती गईं।

आज सुबह-सुबह, पहले पहर ही यह क्या—

दिउड़ साँवता गरजता हुआ गांव के भीतर चला गया। नींद आधी में ही दरक कर टूट गई है। और फिर सुबह का यह तनाव। सारा दिन अभी आगे पड़ा है। पता नहीं क्या होने को है। लेंजू काका सचमुच ही सल्प सुपारी के पेड़ के तले जमा बैठा है। गांव के बड़े-बूढ़े उसे घेरे बैठे हैं। बातचीत चल रही है। सभी गंभीर हैं। बकता-बकता वह उधर ही चला। पास आ जाने पर सभी गंभीर होकर उसी को ताकने लगे। दोनों पक्षों की बातें बंद हो गईं। एकदम मौन छा गया। बूढ़ों की स्थिर चितवनों और आतंकित चेहरों के आगे दिउड़ अपने औद्धत्य की टेक सँभाल नहीं पाया। दब कर इत्ता-सा हो रहा।

बूढ़े जाबा कंध ने धीरे-धीरे मौन भंग किया। बोला—"आ गए साँवता ? अच्छा ही किया कि आ गए। पंचायत होगी। नहीं आते, तो हम बुला भेजते—"

दिउड़ ने कहा—"भला किया, भला किया। बहुत अच्छा, पंचायत

---

१ विश्वास है कि पूरबी घाट के पहाड़ों की वंशधारा आदि नदियों में साठ-साठ हाथ लंबा और धागे-सा पतला साठी साँप होता है, जो अपने शिकार के अंग-अंग को लपेटकर चूस लेता है और जिसके रोम-रोम में मुँह होते हैं।—अनु०

में ही डाल दो मामले को। बहुत सारी बातें कहनी हैं। अब तो गाँव-घर छोड़ कर बाहर ज़रा पैर बढ़ाना भी मुहाल है। कहीं जाना हुआ तो आदमी जिस पर भरोसा करके घर-बार छोड़ जायगा, वह रखवाली करने के बदले कहीं जाकर दारू पीता, नशे में धुत्त लुढ़कता रहेगा। सब उजड़ गया, सब उजड़ गया। खेत के काम को भेजो, तो चाहे कोई-सा भी काम हो, आप न रहो तो सारा ढीलमढील चलता रहता है। भला-बुरा होने पर मुँह से कोई बात निकल ही गई तो क्या हो गया? आखिर आदमी जाय कहाँ? किसे सुनाए मन में घुमड़ती बात? कहा ही है कि सँग-सँग रहो तो गरम भी सहो ठंढ भी सहो, मारो भी, पूजो भी। रूठना-फूलना बेकार है। मान-अभिमान बेकार है। कोई कितना सहे? कोई कितना ठेल-ठेल कर चलाता रहे इन्हें? तुम होते तो क्या करते? तुम्हीं कहो, तुम्हीं बताओ। नहीं तो छोड़ो भी। पंचायत करके बाँट दो। नाता छुड़ा दो। सदा की अशांति काहे को लगी रहे?"

लेंजू बोला—"सुना, सुना?"

किसी ने मुँह नहीं खोला। उसी तरह चुप्पी साधे सभी दिउड़ू का मुँह निहारते रहे। वह दब गया। अब उसके मन में आशंका हुई कि हो-न-हो मैंने ऐसा कुछ कह डाला हो कहीं, जो कहना नहीं चाहिए था। हो न हो, मुँह से कुछ ऐसी बात निकल गई है शायद। अब नतीजा तो भुगतना ही होगा। वह मुँह सुखा कर खड़ा रहा। सभी की यह अप्राकृत चुप्पी देख कर लेंजू कंध भी कुछ कह पाने का साहस नहीं बटोर सका। उसे अपने पर जो भरोसा था, वह जाता रहा। उसके कोप का पारा भी उतर पड़ा था।

फिर जांबा कंध ने ही बात छेड़ी—"तो फिर यहाँ बैठे रहने से क्या होगा? चलो गाँव के भेरामण [1] में चलें। वहीं बात होगी।"—सभी हाँ-हीं करते उठ खड़े हुए। लेंजू और दिउड़ भीड़ के बीच सिर झुकाए मुँह लटकाए चलते रहे। किसी के मुँह में कोई बोल नहीं था। दोनों एक ही साथ यह अनुभव करने लगे कि सच पूछो तो अपराधी मैं ही हूँ। गाँव के लोगों के इस

---

[1] पृष्ठ २१४ की पहली पादटीका देखिए।

दल के आगे बात क्या से क्या हो रही। तिल का ताड़ हो गया, पल-भर में खेलका महाभारत हो गया। दोनों-के-दोनों इसी सोच में पड़ गए कि क्या पंचायत सचमुच होगी ? किसलिए होगी पंचायत ? किसने पंचायत बुलाई है ? किसका दोष है ? राह में जांबा कंध ने फिर बात उठाई--"सच तो यह है कि दोनों चचा-भतीजा जले-भुने हैं। खिचे-खिचे रहते हैं। मार-पीट का अंदेशा भी लगा रहता है। अशांति है। असंतोष है। इनका-उनका मन आपस में मिलता नहीं है। बेर-केर को संग है। दिनोंदिन टंटा बढ़ता ही जाता है, बढ़ता ही रहता है। सरबू सांवता होता, तो कोई बात भी थी। वह अब रहा नहीं। ये दोनों यों ही एक दूसरे को छाया पड़ते ही फलांगते रहेंगे, और हम गाँव वाले चुपचाप देखते रहेंगे ? ना, यह नहीं हो सकता। आज बात आ ही पड़ी है, तो इसे बुझा ही देना ठीक रहेगा। बाँट दो कि सदा को निपट जाय। कि नहीं भाई ? क्या कहते हो ? "

दिउड़ू धीरे-धीरे खिसियाता आ रहा था। चाचा मेरा है, घर मेरा है, मेरे ऊपर इतनी तरह के अभियोग लगानेवाले, इस तरह नियाव-निपटारा करनेवाले ये लोग कौन होते हैं ? अचानक उसके मुंह से गाली निकल पड़ी, "गंडा-पटकार——— "

"खबरदार, होशियार, बहुत-कुछ बक डाला है तुमने ! बड़े आए हो भले लोग बननेवाले ! किसने तुझे बुलाया है रे जांबा कंध ? मन हो, तो चुपचाप मेरा शासन मानकर इस गाँव में बसा रह, और अगर नहीं चाहता बसना, तो ले अभी निकाले देता हूँ---जा, चला जा, जहाँ भी तेरी मरजी हो चला जा! —" हाँ-हाँ-हाँ-हाँ करते हुए सभी ने घेर लिया। रोष के साथ-साथ बूढ़ों के मन में आशंका भी उठ खड़ी हुई। दो हाथ जमा तो नहीं दिए ? बेकहा, बेलगाम, गुस्सैल आदमी ठहरा, क्या ठिकाना उसका ?---"निकल जांबा कंध ! सांवता मैं हूँ, ना तू है ? तेरे भेजे में पित्त चढ़ गया है क्या रे, कि तू मेरे घर की बात पर पंचायत करने बैठेगा ? तुझे पंच माना किसने ? तुझे बुलाने कौन गया ?"—"चिढ़ क्यों गए सांवता ? मैं तो यह पहले से ही कह रहा था। कि नहीं हो भाइयो ? कहता न था

में ? वह हमारे गाँव का साँवता है। बच्चा हो चाहे बूढ़ा हो, साँवता तो वही है। हम उसके अधीन रैयत हैं, प्रजा हैं। अगर उसके ऊपर पंचायत बुलानी है, तो बुलाओ; पर वह पंचायत हम रैयतों से तो होगी नहीं, सात गाँव के अड़ोसी-पड़ोसी साँवता बुलाए जायँ, जेठरैयत बुलाए जायँ, तभी होगी पंचायत। हमारे सिर के ऊपर यह बोझ किसने लादा ? हमें गालियाँ सुनने को किसने कहा ? कि नहीं होऽऽ?"

"पंचायत करते हैं!—" दिउड़ू छटपटा उठा। गरजा—"खून हो गया है, चोरी हो गई है, कि पंचायत होगी ? सब इस लेंजू काका का पेंच है ! बूढ़ा सठिया गया है, बुढ़ापे से बुद्धि पककर सड़ने लग गई है—।" दिउड़ू के गर्जन में लेंजू के गर्जन ने सुर मिलाया। गालियाँ खा-खाकर बूढ़े एक ओर को हट गए। तभी बच्चा कँखियाए, फर-फर बाल उड़ाती कोई स्त्री दौड़ी-दौड़ी आई और लेंजू कंध का हाथ पकड़कर झटकती हुई बोली—"वह तो है ही ऐसा। उसके साथ मुँह लगाकर तुम भी वैसा ही क्यों होगे ? चलो चलो लेंजू काका, घर चलो।" सभी चौंक पड़े,—पुयू, यह तो पुयू है ! हाकिना भें-भें करके रो उठा । लेंजू काका को जवाब देने का मौका न देकर पुयू उन्हें घसीट ले चली। बोली—"आओ आओ, आओ, बेटा रोने लगा है। पहले तुम्हें खिला लूँ, तब फिर बात समझती रहूँगी। रूठे किससे हो तुम ? वह भी कोई आदमी है ?" मुड़-मुड़ दिउड़ू को ढूँढ़ती निगाहें डालता हुआ लेंजू कंध घर की ओर डग बढ़ाता गया। अब वह पंचायत के लिए खुशामदें करता फिरनेवाला कोई ऐरा-गैरा नहीं है, अब तो वह लेंजू काका है लेंजू काका ! दिउड़ू का जवाब उसके मुँह के भीतर ही पानी हो गया। लेंजू काका के कोप के आगे सिर नवाकर दिउड़ू बौखलाया हुआ पीछे-पीछे लग गया।

मन का समाधान तो हो गया। मान-मर्यादा की हानि होने का डर-भय अब नहीं रहा ; पर दिउड़ू का मन सुखी न हो सका। लेंजू और पुयू के चले जाने पर वह उनकी राह को उसी तरह अप्रसन्न दृष्टि से देखता रहा। संसार ! संसार इसी को कहते हैं। और मैं भी सदा ऐसा ही रहा,

ऐसा ही रहूँगा ! हारता आया हूँ, हारता ही रहूँगा ! हार-ही-हार बाँटे पड़ी है मेरे। हार-हार कर इसी तरह मैं पीछे-पीछे चलता रहूँगा और सारे लोग साँवता के खिलाफ उठते रहेंगे, सुख से घर-गिरस्ती चलाते रहेंगे, घर बसाते रहेंगे, सुख लूटते रहेंगे। हर कहीं होने पर भी किसी के ऊपर मेरी चलने की नहीं, बस नहीं। लेंजू काका अपना मान छोड़कर अपना रूठना फुर्र से उड़ाकर अपने भाई के घर गया। लोग उसी पर दया करते रहेंगे, उसी की सहायता करते रहेंगे। मैं, दिउड़ू साँवता, साँवता होकर भी केवल बाहर-ही-बाहर का मान पा सकता हूँ, किसी के अंतर का नहीं। लेंजू काका हरा गया ! आखिर में मेरी अपनी ही स्त्री आके उसे बल दे गई ! पुयू !

एक ही जगह पर इधर-से-उधर टहलता हुआ दिउड़ू उन दोनों के ऊपर लहू के पागुर करता रहा। पांडरू जानी आया। दिउड़ू के कंधे दबाकर, पीठ थपथपाकर बोला—"वाह ! वाह ! —" उसी तरह बौखलाया हुआ, बाल फरफराए दिउड़ू ने पांडरू कंध की ओर मुँह फेर लिया। उसके चेहरे पर क्रोध, विकराल-विकटाल क्रोध, संसार को भस्म कर देने के संकल्प वाले क्रोध की आग भड़क रही थी। पांडरू कंध अन्यमनस्क था, दिउड़ू का क्रोध उसे छू नहीं पाया। वह मनमानी बकता रहा—"वाह ! वाह ! मैं वही देखता हूँ । रिसियाए-खिसियाए, झगड़े-टंटे करे, चाहे जो भी करे, पर तू ठीक सरबू साँवता का बेटा है, और वह भी ठीक उसका भाई है ! ऐसे समय साँवता ने जो किया होता, जैसे किया होता, तुम दोनों ने भी ठीक वही किया, ठीक वैसे ही किया। सच कहा है, अपना घर आप सँभालना होता है। लट्ठम-लाठी हो कि जूतमपैजार हो कि गाली-गलौज हो, अपने घर की बात आप ही मिटा-निपटा लेनी चाहिए। उसमें औरों को पड़ने ही क्यों दो ? उन्हें सिर हिलाने का भी मौका दो तो उनका मुँह बढ़ जाता है। ऐसों को अपने बीच पड़ने ही क्यों दो ?"

उसके हितोपदेश दिउड़ू के कानो में पैठ नहीं सके। वह बोला—"देखते हो ना, इनकी बात !" पांडरू डिसारी कहता गया—"वह भी ठीक ऐसे ही

बिगड़ पड़ता था। सरबू सांवता! ऐसे में उसका मुँह भी ठीक ऐसा ही दिखाई देता था। वाह, वाह! उस मुँह की वह झाँकियाँ-झलकियाँ भी कभी-कभी ऐसे ही मिल जाया करती थीं।"—

शून्य को निहारता हुआ पांडरू डिसारी ने टेर लगाई—"सरबू सांवता, सरबू सांवता!!"

बाप का नाम सुनकर दिउड़ू का अक्खड़पन धीरे-धीरे दब गया। धीरे-धीरे बैठता-बैठता उसका साँवतापन कुबड़ा हो गया। बापू आज नहीं है; पर उसका नाम है। उसी नाम से उसकी याद आती है, दिउड़ू के अंदर का दिउड़ू अपने आसन पर खिसक आया, उतर आया।

घर जाने का जी न हुआ। वहाँ फिर वही आँधी उठ खड़ी होगी। वहां लेंजू होगा, पुयू होगी। बल दिखाने पर अनर्थ हो जायगा। गाँव से बाहर निकलकर दिउड़ू एक-एक डग तोल-तोल कर भरता जंगल की ओर चल पड़ा।

जंगल सूख चुका है। जंगल सूना पड़ा है। धूप ठीक माथे पर आ गई। नई कटान का जंगल टेकरियों पर लेटा-लेटा मुरझाता हुआ आग लगाए जाने की बाट जोह रहा है। परब बीत चला है। अब नए काम की धुन सवार होगी। पहले से इस साल इसी जंगल को काटकर आग लगाने की बात तय पाई थी। टेकरियों पर चढ़-चढ़ कर दिउड़ू ने चारों ओर देखा। सारा जंगल चुप्पी साधे था। दूर कहीं कुररी चिड़िया रोई—"कुर्रु-कुर्रु-कुर्रु!" बारंबार रोई, बारंबार, बारंबार!

कुछ हो तो नहीं गया है? कुछ खो तो नहीं गया है? कोई चला तो नहीं गया है? चिड़िया आत्महारा होकर जाने क्या खोज रही है! और बस एक ही सुर-तान में रोए जा रही है, रोए जा रही है! सखुए के पेड़ के काँधे पर बड़ा-सा मधुछत्ता झूल रहा है। छाँह अब भी थोड़ी-थोड़ी बच रही है। तले उघरे-खुले 'झोले' में पानी कलकल-कलकल करता बहा जा रहा है। और कहीं किसी भी जंतु का कोई भी स्वर सुनाई नहीं पड़ता। केवल दूर कहीं वह एक चिड़िया ही विलाप कर रही है। थोड़ी देर के बाद झींगुरों

ने भी झीं-झीं की एक एकतान तान धर ली। यकायक दिउड़ू साँवता ने सोचा—इतनी खेती-बाड़ी, इतनी जंगल-मारी करके क्या होगा? किसके लिए? कौन किसका है? कहने को सभी हैं, सहने को कोई नहीं! बड़ी माँदगी लगी। संसार से रूठकर और अपने ऊपर दया दिखाकर उसने वहीं छाँह-तले अपनी लँगोटी-धारी देह ढुला दी और इस तरह अपने मन को बोध लिया। कोई किसी का नहीं! फिर यह सारा जंजाल किसके लिए? कहनेको तो सभी अगुआन रहते हैं; पर सहने को कोई आगे नहीं आता।

सब व्यर्थ है!

धीरे-धीरे उसे नींद आ गई। बड़ी माँदगी थी। देह चू-चू पड़ रही थी।

एकसठ

परब बीत चला था। क्षणिक मोह का आवेश शांत हो जाने पर सृष्टि की कल्पना जग पड़ती है।—सृष्टि और स्थिति के आमों में बौर लग गए। वन-वन में फूलों-मंजरियों की टहनियों पर, पँखुड़ियों के झड़ जाने से सूने पड़ गए डंठलों पर, कड़े-कड़े पथरौहें टिकोले उभर आए। ये टिकोले अंधड़-झक्कड़ के थपेड़े झेलेंगे, धूप-घाम की झुलसाती लू सहेंगे और सब सह-सहकर बढ़ेंगे, बड़े होंगे। रंग-बिरंगे कोमल-सुकुमार किसलयों की चकाचौंध लगानेवाली चंदरोज़ा शोभा के बदले अब वही नित-चीन्ही सदाबहार, सख़्तजान हरियाली राज करेगी।

चैती बहार छोकरी से डोकरी[1] हो गई है। इसीलिए अब उसके रूप में चैतीपन नहीं रहा।

दिन के समय की, हाटों-बाटों और गुंजान कुंजों की संगिनी धाऊड़ियाँ पीछे छूट जाती हैं और राह चुक जाने पर बटोही को घर की संस्थितिवती संगिनी, गृहिणी, याद आने लगती है। उसी तरह अब पर्वशेष के मौज-मज़े लूट चुकने के बाद धरती की चिंता सवार होने लगी है। बाड़ों घिरी धरती घोर अचेत नींद में पड़ी सो रही है। घिकुड़ी मारे हुई है। उसके पोर-पोर दरक गए हैं। पवन सन-सन-सनन चल रही है। दुनिया-भर के जंगल-झाड़, घास-पात, लता-गुल्म छाए हुए हैं। खस की झूरें हैं, दोनिया (द्रोणपुष्प) के झमाट हैं, करजनी में गुच्छे-के-गुच्छे फल लगे हैं! अब धरती पर हल चलाकर खेती करनी होगी।

फिर भी उस दिन रात के समय बंदिकार गाँव में पर्व की धूम-धाम मची थी। चाँदनी अब नहीं रही थी। नाच अलावों को घेर-घेरकर हो रहे थे। नाच के साथ-साथ बाजे भी बज रहे थे, गीत भी गाए जा रहे थे। बीच-बीच में नाच, बाजे, गीत, सब थम-थम जाते थे और दारू के दौर

---

१ (कुर्मी शब्द) डोकी या डोकरी = कुलवधू, ब्याहता स्त्री, व्यूढ़ा।

चलने लगते थे। भीड़ छँट जाती है। लोग कम पड़ जाते हैं। फिर कहीं से कोई झुंड आ पहुँचता है। और धीरे-धीरे नाच में फिर थोड़ी-थोड़ी तेजी आने लगती है।

पिओटी बैठी-बैठी नाच देख रही थी। पिओटी की माँ बूढ़ियों के साथ गप लड़ाने में मगन थी। बड़ा ढोल बज रहा था। शळपू कंध बुढ़ौती भूल कर दारू पी-पीकर योद्धा-नाच नाच रहा था। हाथों में न बंदूक थी, न तलवार, न खांड़ थी न कटार। हथियार के बदले उसके हाथों में एक कच्ची टहनी भर थी। उसी को सँभाले-धरे वह प्राचीन कंध युद्ध-पद्धति का ध्यान किए लेता था और उसे सुमिर-सुमिर कर आँखों के कोए नचाते हुए, हाथ-पैर झटकारते-फटकारते हुए, अभिनय किए जा रहा था। युद्ध की द्योतना के लिए वहाँ दो ही वस्तुएँ थीं। एक तो थी चारों ओर जुड़ी गोष्ठी का कोलाहल और दूसरी आग की लाल-लाल लपटें! इनके सिवा वहाँ और कुछ भी नहीं था।

उस तीन हजार फीट ऊँचे पठार के ऊपर, उस वनदेश के अन्दर, कंध अपना युद्ध-नाच नाच रहा था। पहाड़ों को परिक्रमा में लपेटे और आँखें तरेरे कंध अपने-आपको पूरा योद्धा मानता है। उसका हथियार टाँगिया उसका युद्धास्त्र है। वह टाँगिए का योद्धा है। वह मानुष-समाज का समाज-पति है। बाहर युद्धों के जो इतने सारे शोर-शरापे होते हैं, मरने-मारने के जो इतने सारे भाँति-भाँति के यत्न होते हैं, इतनी सारी भाँति-भाँति की साज-सज्जाएँ होती हैं, उनकी पैठ अभी उस गोष्ठी में हो नहीं सकी है। इसीलिए इनका अविर्भाव अभी तक उनके विश्वासों और सपनों को छीन नहीं सका है। सिरको चकरा देने वाले शळपू कंध के उस नाच ने तमाशबीनों के लहू गरमा दिए। बाजों की धुनें तेज-तेजतर होती गईं। गुल-गपाड़े बढ़ते गए।

परिस्थिति के संपर्क से आदमी की भावधारा कैसे-कैसे मोड़ लेकर उग्र हो-हो जाती है! बूढ़ों की जमात में पर्व-शेष पर आनेवाले छोटे-छोटे अधिकारियों के विषय में चर्चा छिड़ी हुई थी। अमीनों के दल लौट

गए, अब 'रिभिणियों'[1] के दल-बल आए हैं। ये चले जाएँगे तो फिर 'फाराष्टियों' के दल आएँगे। इनके सिवा और-और भी कितने ही अधिकारियों का आना-जाना लगा रहेगा। सालटू[2] गिलटू[3] पियादे-चपरासी आदि दल-के-दल आते रहेंगे। किसी को भी असंतुष्ट करने का साहस नहीं कर सकता आदमी। खेती-बाड़ी तो होगी; पर उपज कहाँ चली जायगी, कौन खायगा उन्हें, कौन जाने? केले तो फलेंगे, पर उन्हें काटेगा कौन, कौन जाने? इतना खट-खपकर वन के भीतर के इस उजाड़ राज में, इतनी तरह की फसलें उगाई तो जायँगी; पर उनमें से जाने कितना ही भाग परायों को खिला-खिला कर यों ही चुक जायगा। जूठन में बचेगा ही कितना? मुरगी ने अंडे तो दिए हैं, पर किसके लिए? बकरी ने पठरू तो जने हैं, पर किसके लिए? कोई आएगा, उन्हें झपट्टा मार कर उठा ले जायगा, और पीछे बूढ़े बस "गया-गया" चिल्ला-चिल्ला कर ही संतोष कर लेंगे।

उस नाच के बाजों के ताल-ताल पर मन की खीज बल-बल उठती थी। नाना भाँति के कोप, रोष, विद्रोह-भावनाएँ, मान-अभिमान करने और रूठने की इच्छाएँ जग-जग उठती थीं। पुरुषों की पंगत में खेतों के झगड़ों-टंटों की भाँति-भाँति की चर्चाएँ चल रही थीं। किस उपाय से किसी ने बेईमानी करके अपने गाँव का 'गुड़ा' (पट्टी) किसी और गाँव में शामिल कर दिया है, किस तरह लाखराज 'झोला'-धरती के ऊपर किसी अधिकारी ने लगान मालगुजारी ठोंक दी है, आदि-आदि।

गपशप और गुल-गपाड़े का दौर चल ही रहा था कि पास के गाँव के डंबें'ऽ लोगों का एक झुंड पीठों पर बोकचियाँ बाँधे गलियारे में आ पैठा।

---

१ राजस्व-अधिकारी यानी सरकारी लगान का तहसीलदार। (अंगरेजी 'रेवेन्यू' का कुमी अपभ्रंश।) पृष्ठ १६६ की पादटीका देखिए।

२ कठघर सिपाही, बराहिल आदि।

सोभेना कंध ने पूछा—"इतनी रात गए किसके मवेशी के 'सिर पीट'[1] कर लौट रहे हो, रे लोगो ?"

"काहे का 'सिर पीटना' सांवता ? आज तो हमारे ऊपर यों ही महा-सनीचर का फेर है, ऊपर से हम 'सिर पीटते' फिरेंगे भला ?"

"क्या हुआ रे चुंचेई ? इतनी बेर गए तुम लोग थे कहाँ ?"

"हाट से लौटे घर आ रहे थे। तितिझोला गाँव के पास अमीन के लोगों ने पकड़ लिया। कहा—'अमीन आया है, इस झोले के किनारे एक बालसा (पर्णकुटी) बना दे, डाल-पात काट ला, जगह दरेसी करके बराबर कर दे।' हमने कहा—'बाबू, पास में खाना-खोरिश नहीं, खेवा-खरचा नहीं, हम दूर बाट के बटोही ठहरे, कोई और नहीं मिलेगा क्या ? हमें क्यों धरे ले रहे हो ?'

"पर वह तो ऐसा नशेबाज पाइक दलैत[2] था कि क्या बताऊँ ? लाठी ताने हमें खदेड़ ले गया। बोला—'चल, चल। माथे की गठरियाँ उतार पहले। रख दे उधर। काम किए बिना जायगा किधर तू ?'

"सो हम काम में लग पड़े। बेर खड़ी मूँड़ पर आ रही, तब तक न कुछ खाया, न पिया। कलेवे की बेर यों ही टल गई।

"वहाँ से छुटकारा मिला और थोड़ी दूर और आगे बढ़े। कुछ ही दूर गए होंगे कि एक जमान[3] ने पकड़ लिया। क्या कहते हो भाई, क्या कहूँ ? बोला, 'चल, यह बोझ ढो ले चल। आधी राह और रह गई है, चल जंगल पार करा दे।' फिर हम सभी उसके संग गए। बेर बैठ गई।[4]

---

१ डंबँऽ जाति के लोग टाँगिए की चोट कंधों के मवेशी के सिर दे मारते हैं, जिससे मवेशी दो ही तीन दिनों के अन्दर मर जाते हैं। मरी का मांस चमड़ा आदि डंबों का ही होता है।

२ सिपाहियों की लठधर पाइक जाति का सरदार।

३ अधिकारी

४ साँझ हो गई।

उसके बाद हम थोड़ी देर म्ण्यापायु के बारिक के घर रुक रहे। सोचा, जाने किसका मुँह देखकर हाट चले थे कि जिधर जाओ उधर ही अधिकारी मिल जाता है, जिधर जाओ उधर ही बोझ ढोने पड़ जाते हैं, बालमा (पर्णकुटी) बाँधने पड़ जाते हैं; लेकिन बेर थी, तभी तो इस तरह के काम हो पाए। सो चलो छिप कर बैठ रहें। बेर डूब ले, अँधेरा हो ले जरा, तो धीरे-धीरे घर को लौट चलेंगे, ताकि अँधेरे में कोई देख न पाए. . . . "

"एँऽऽ? तो तुम लोग म्ण्यापायु भी गए थे? राह में अधिकारी भी मिले थे? तब तो बहुत ही खबरें होंगी तुम्हारे पास। सुनाओ, सुनाओ, बताओ जरा कि क्या खबरें हैं उधर की।—" पाँच-सात जने पास सिमट आए। इस घोर वन के भीतर भी खबरें सुनने का लोगों का आग्रह बड़ा ही जबरदस्त है। बाहर की खबरें, परायों की खबरें, और-और लोगों की खबरें, बड़ी मजेदार होती हैं। मानुष के समाचार की भूख मानुष में होती ही है। मानुष मानुष है।—सभी मनुष्य, सारे मानव, एक ही सूत्र में बँधे हैं, एक दूसरे से लिपटे गुड़ीमुड़ी हुए बँधे हैं।

कौए उचारने से मिलने वाले समाचारों की तरह भाँति-भाँति के समाचार बोते हुए छोटे-छोटे व्यापारी गाँव-गाँव फिरते रहते हैं। वनवासी लोग एक-एक समाचार को धुनक-धुनक कर आपस में उसकी चर्चा करते हैं। फिर ये समाचार चाहे कितने ही पुराने या कितने ही नए क्यों न हों।. . . . .

सो, बातों-ही-बातों में म्ण्यापायु के समाचारों की चर्चा छिड़ गई। खबर मिली कि साँवता की बहन मिङटिङ के बेशू के साथ 'उदूलिया' भाग गई है। इस बात को लेकर साँवता के घर में कलह मचा हुआ है। दिउड़ साँवता सभी को खाए डाल रहा है।

साधारण कुतूहली स्वभाव के कारण स्त्रियाँ गपशप के बीच से अपनी रुचि के समाचार बीन लेने के लिए कान लगाए बैठी थीं। उधर शल्पू

कंध नाचे जा रहा था। म्प्यापायु की एक बेटी 'उदूलिया' ब्याह कर चली गई है ! यह कोई नई खबर नहीं वैसे।—इस गाँव में जो इतनी सारी कंध-बहूटियाँ हैं, उनमें कितनी ही 'उदूलिया' नहीं आई हैं क्या ?

इस 'उदूलिया' नाम में ही मधु लिपटी है। 'उदूलिया' आई बूढ़ियाँ उन मधुमयी यादों की माला फेरने लग पड़ीं। जिन धाङडियों के वर नहीं जुट पाए, उनके मानस में यह नाम एक नुकीली कील की तरह ठुंका हुआ है। सोच-सोच कर झींकना-भर रह गया है। अहा, क्या ही अनोखी रीत है ! न कोई बाधा है, न विघ्न है। जिसे मन ने चाहा, उसे ले उड़ी और जहीं-तहीं चली गई। अँकवार में अपना मनभाया-मन-चीता मानुष है और सामने विस्तारमयी धरती है। बड़ा-सा जीवन है। 'उदूलिया' इसी चित्र का परिचय-शीर्षक है।

कितनी ही स्त्रियाँ कितनी ही तरह की बातें सोच रही थीं। अपने-अपने सपनों की अनुभूतियों-अभिज्ञताओं के साँचे में ढले अपने मनमाने भाव-चित्रों को सजा रही थीं। पिओटी मुँह में उँगली डाले बुत की तरह खड़ी थी। उसकी आँखों के आगे से पठारी रात जाने कहाँ बिला गई थी और तलदेशी मैदानों की छवियाँ नाच उठी थीं। कितने लोग आए थे इन आँखों में ! सभी पीछे रह गए। जाने कितनी-ही-कितनी धाङडियाँ 'उदूलिया' चली गईं, एक मैं ही हूँ, जो आज भी माँ के आँचल से बँधी-की-बँधी रह गई हूँ, उस आँचल को छोड़ नहीं पा सकी हूँ !

जिसे इस समाचार से कुछ भी लेना-देना न था, वह तो अपने ही मन के भीतर डूबा हुआ था ; पर जिसका कहीं कोई सम्बन्ध था, वह इस समाचार को फैलाने में लग पड़ा। धीरे-धीरे गोल के भीतर यह खबर पहुँच गई कि पुबुली हारगुणा की बाट जोहती बैठी नहीं रही, कि पुबुली घर कर गई !

कानों-कान बात फैलती गई, शोर बढ़ता गया, चर्चा गरमा उठी, तीव्रतर हो उठी। लोग चिल्लाने लग पड़े। शळपू कंध योद्धा-नाच छोड़कर गरज उठा—"एँ ? छोकरी निकल गई ?"

नाच वाले गलियारे में ही पंचायत बैठ गई। सभी गंभीर हो उठे।

"पहले के दिन होते बेटो, तो हम मिङ्‌टिङ्‌ पर धावा बोल देते और लोहा बज उठता। मार-काटकर उन्हें मिटाए बिना, जला-बुझाकर उन्हें राख बनाए बिना लोग घर लौटने का नाम नहीं लेते। अभी तक याद है, हमारे बचपने के दिनों में ऐसी-ऐसी बातों को लेकर न जाने मार-काट के कितने ही कांड हुए थे और न जाने कितने ही लोग मौत के घाट उतारे गए थे।

सोभेना बोला—" हाँ, हाँ, जरूर उतारे गए होंगे! पर क्या इसीलिए हम भी मौत के घाट उतरें? तुझे अकेले ही छोड़ दिया जाय, तो तू जाके उन्हें मार-काट आएगा? क्यों? तो फिर शळपू दादा, फिर तू अकेला ही क्यों नहीं जाता? इतने जनों की इतनी सारी खुशामद किसलिए? क्यों, ठीक है न दादा?"

"ठिठोली हो रही है, हाँ ना? तू दुल्हन लाए और कोई और उसे छीन ले जाय, तब समझेगा तू....."

"पर हारगुणा साँवता दूल्हन लाया ही कब? ब्याह लाई दूल्हन बंदिकार से फुसला ले जाय, ऐसी मजाल किसकी हो सकती है भला?"

"सच, सच"—शळपू कंध ने लौंडों को गाली दी—" आप ही तो गए थे तुम लोग म्प्यापायु। हाथ डुलाते लौट आए! अब पा लो! चिड़िया उड़ गई फुर्र से! अब हाथ मलते रहो और हाँफ-हाँफकर सूनी झाड़ियों में ढेले फेंकते रहो! और चारा ही क्या है?"

बड़ी देर तक पंचायत बैठी रही। लोग हिर-फिरकर म्प्यापायु वालों को गालियाँ देते रहे। कोई बात पक्की की नहीं जा सकी थी, कोई पक्का वादा किया नहीं गया था, इसलिए सगर्त्ता (हरजाना) वसूल करना असंभव ठहराया गया। सच भी है कि चालू रीत-नेम के अनुसार किसी को दोषी ठहराया भी तो नहीं जा सकता था।

फिर भी बंदिकार बौखला उठा था। यह घटना तो मानो बंदिकार का घोर अपमान करने जैसी बात हुई।

पिओटी की बूढ़ी माँ सभी को पिओटी की तरह ही समझा-समझा कर एक ही सुर-तान में बकती गई—"देखती हो न बहनो, लोग इस तरह छला करते हैं कहीं! साँवता बेटा, कितना सुन्दर, कितना सूधा-सीधा लड़का है! दोनों गाँवों में चर्चा थी कि उस छोरी को बहू बना लाएगा! और वह छोरी ऐसी निकली कि दुम उठाकर नौ-दो ग्यारह! इसको दूल्हन ही नहीं मिलेगी जैसे! अरे इसे तो एक की सौ मिलेंगी; पर उसे तो देखो! क्या ही भला-सा वर-घर छोड़ भागी। इससे बीस कौन-सा वर-घर मिलेगा उसे? क्या मिलेगा उसे, कि यों चूना लगाकर भाग गई? पर हाँ, गई तो गई, अब इतनी पंचैता-पंचैती लगाने में क्या रखा है? क्यों, किसलिए?"

गुमसा की घरवाली ने सिर हिलाया—"बड़ी भली छोरी थी आपा, तू ने देखा है उसे?"

पिओटी की माँ बोली—"क्या भली री? भली होती, तो यों चली जाती? पराए गाँव के भरोसे रहने से यही होता है! इससे भला तो यही होता है कि आदमी अपने ही गाँव की, अपने ही अधिकार की किसी छोरी को देख-सुन कर, समझ-बूझ कर चुन ले। उसमें ऐसी किसी भी विपदा में पड़ने का डर-भय नहीं रहता।"

उधर माँ बके जा रही थी और इधर पिओटी मन-ही-मन माँ की बातों के बिखरे पदों को जोड़-जाड़कर उनके छिपे अर्थ को विचार रही थी। इस तरह विचारना कोई बुरा नहीं लगता। माँ के बकने का गूढ़ भेद वह कुछ-कुछ बूझ सकती है। अनजाने ही स्नेह ढालती माँ ने पिओटी की पीठ पर हाथ फेर दिया। बोली—"नाच तो बंद हो रहा बिटिया, अब रतजगा क्यों करना? जा, घर जा। देख ना बहना, कैसी गँवार और लापरवाह है यह बावली भी, अपनी देह पर ध्यान तो रत्ती भर भी नहीं देती। गालों में न तेल-हल्दी मलती है और न सिर का जूड़ा सँवारती है। जूड़े में सींथ क्या, माँग कहाँ और फूल क्योंकर, कुछ भी तो नहीं डालती बावरी!—ऐसे भी कहीं निकलते हैं गलियारे में?"

गुमसा की घरवाली ने कहा—"क्या होगा आपा, जो आप ही सुन्दर हो, उसे बाहरी साज-सिंगार की कोई भी दरकार नहीं होती।"

पिओटी को "जा, जा," कहती हुई माँ ने हारगुणा की ओर हाथों का संकेत कर दिया। पंचायत की जगह पर एक ऊँचे पत्थर के ऊपर बैठा था वह। बूढ़ी बोली—"देख ना, बच्चा मेरा कैसा नुँचा-नुँचा सा बैठा है। बचकाना मन ही तो ठहरा! सच री, सच तो बता, उस गाँव के सांवता की बहन को वह क्या सचमुच ही इतना प्यार करता था? नहीं, सो बात नहीं! बात सच में यह है कि लोगों की बातों से उसके मन में छल पैठ गया है। वही बज रहा होगा उसके मन में। भीतर से उसी की आहट सुनाई पड़ रही होगी। अरे, जो हुआ सो हुआ! लोग बात को फूँक-फूँक कर ऐसा बतंगड़ क्यों बना डालते हैं? आह बेचारा! माँ नहीं है बेचारे की, इसीलिए न लोग उसके मन को यों दुखाते हैं?"

हारगुणा सांवता चुप साधे बैठा था। हारगुणा[1] है, जटायु पंछी है। डैने मूँदे, मुँह नीचा किए, टेकरी पर बैठा वह सोच रहा है। इतना बड़ा चैत परब उसकी पीठ के ऊपर से लहरें मारता निकल गया और उसके पर तक नहीं भींगे। उसके सामने से पिओटी अंग-अंग झमकाती, भाँति-भाँति के नाज-अंदाज दिखाती निकल गई। हारगुणा ने सिर नहीं उठाया, नहीं उठाया। पुबुली चली गई थी, इसलिए आज वह पुबुली का ही ध्यान किये जा रहा था।

रात काफी ढल जाने के बाद कोलाहल बन्द हुआ। सभा भंग हो गई। कुछ भी ठीक-ठिकाना ठहराया न जा सका। बात इतनी ही हुई थी कि बंदिकार खिसिया उठा था, बौखला उठा था।

---

१ कभी में 'हारगुणा' शब्द का अर्थ जटायु (ईगल) होता है।

बासठ

धूप की चिलचिलाहट बड़ी तेजी से बढ़ती गई। पठारी देश में गरमियाँ बड़ी जल्द आ पहुँचती हैं। बीत भी जाती हैं उसी तरह जल्दी से, देखते-ही-देखते। गरमियों के जोबन पर चढ़ते-न-चढ़ते बरसात के दौंगरे सीधे-सीधे उतर आते हैं। और फिर जाड़ों के आ धमकने तक झड़ियाँ लगी ही रहती हैं।

हारगुणा माँवता अब भी पहले की ही तरह कल से चल रहे यंत्र की तरह काम किए जा रहा था। वह ठहरा भी काम-काजी आदमी। काम बहुतेरे रहते हैं उसके करने को। बहुतेरे लोग ऐसे होते हैं, जिनके मानस की वयस देह की वयस से बहुत आगे बढ़ी होती है। वह भी उन्हीं में है। वह, हिकोका हारगुणा भी। काम सामने हो, तो उसे बड़ा ही अच्छा लगता है। वह कामों में ही रमा रहता है।

चैत उतरते-उतरते गाँव में पंचायत बैठ चुकी थी और जंगल जलाकर नौतोड़ खेती करने की, 'पोड़ू' मारने की, बात पक्की ठहरा ली जा चुकी थी। भला सा दिन गुन कर गाँव का डिसारी शळपू कंध 'पोड़ू' का 'शुभ देने'[1] के लिए गाँव के सभी लोगों को साथ जंगल ले गया। बंदिकार से रण्या-पायु जाने की राह में जो पहाड़ पड़ता है, उसी की ढलान पर इस साल पेड़ काट कर, उसमें आग लगाकर, 'पोड़ू' खेती करने की व्यवस्था दी गई है। कानून और कानूनी अदालतें एक ओर रहती हैं और गाँव की पंचायत का निर्णय दूसरी ओर। ऐसे में पंचायत की बात ही लोकमान्य होती है। अपनी नन्ही-सी दुनिया की सुविधाओं का हिसाब करके गोष्ठी की निष्पत्ति उन्हीं के अनुसार कर्त्तव्यों का विधान कर देती है और वह जो भी विधान करे, सभी लोग उसी पर चल पड़ते हैं। कोई यह नहीं सोचता कि 'पोड़ू' खेती करने से जंगल नष्ट होते हैं। कंध लोग बिना हिचक,

---

१ शुभ देना = मुहूरत करना।

बिना संकोच, इतनी भाँति-भाँति के इतने बड़े-बड़े पेड़ों को जड़-मूल से उखाड़ कर उन में आग लगा देते हैं। 'पोड़ू' की नौतोड़ी के पहले साल मँड़ुआ उपजाया जाता है, दूसरे साल अलसी और तेलहन की दूसरी फ़सलें, तथा तीसरे साल साँवा। उसके बाद उस धरती के भाग्य में जो भी बदा हो। धरती अच्छी हुई तो खेती होगी, वरना वह जमीन छोड़ दी जाती है।

सो, नौतोड़ी के लिए धरती चुन ली गई। 'पोड़ू' के मृत्यु-दंड से दंडित वन की परिधि निर्धारित कर दी गई। डिसारी का मतामत लेकर एक दिन वहाँ की पूजा भी हो ली। सभी पूजाओं की तरह इसमें भी बेजुणी नाची, तथा अरवा चावल, रींधी दारू और मुरगी के चूज़े पुजापे बने। यह पूजा 'बांदुणु पेनू' की होती है। 'बांदुणू पेनू' वन के भीतर होनेवाली 'पोड़ू' खेती का अधिदेवता होता है। पूजा के समाप्त होते ही गाँव वालों ने महा-समारोह के साथ उस निर्धारित वनांचल की परिधि में जाकर एक पेड़ काट गिराया और उसमें आग लगा दी। इस शुभ काम का आरंभ इसी तरह होता है। कंध डिसारी की गणना के अनुसार विख्यात 'उत्रा'[1] योग में 'पोड़ू' का श्रीगणेश हो गया। वन 'पोड़ू' के बाद से ही 'पोड़ू' खेती का उपक्रम चलने लगता है।

इसके बाद 'फाराष्टी' के 'गारड' अपनी महसूलें वसूल-वसूल कर अपनी अंटियाँ भर लेते हैं। उनसे पिंड छूटा, तो 'फाराष्टी' आप आ पहुँचता है। उन दिनों खेतों की उपज घर में आई होती है, बाड़ी में केले फले होते हैं, साहूकार दादनी के पैसे बाँट गए होते हैं और उन पैसों में से भी कुछ बचा-खुचा होता ही है। जंगल काटने-जलाने का मुकद्दमा अगर निदान ठुक ही गया, तो पचीस जनों की 'पोड़ू' खेती का दोष दो-एक के सिर चिपका कर जुरमाने के पैसे गाँव भर चंदा करके भर दिए जाते हैं। दोष जिसका जितना हो, दायी पूरी गोष्ठी होती है।

उस दिन साँझ को बंदिकार के लोगों ने एक जगह जमा होकर 'पोड़ू' खेती का शुभ दे दिया। पूजा समाप्त करते-करते साँझ डूब गई। कटा

---

१ उत्तराषाढ़।

बकायन (महानीम) टेकरी पर पड़ा था । शहतीर का कटा भाग टहाटह लाल-लाल दिख रहा था । काले आबनूस के लाल घाव की तरह। आग लगा दी गई । सारे दिन और सारी रात जलता रह कर आखिर यह पेड़ कोयला हो जायगा। काम हो चुका। पल-भर सुस्ता कर पसीना सुखा लिया गया और लोग घर लौट चले। सभी खुश थे।

चरचराती आग की लपटें रह-रह कर भभक-भभक उठतीं । लपटों के रंग भी कितने प्रकार के होते हैं !

पठार पर रात की ठंड उतर आई । शांति छा गई। टेकरी के टीले के ऊपर एक आग-भर जलती रही और आलोक फैलाती रही। दूर पहाड़ों पर ऐसे ही जाने कितने अलाव रह-रह कर लपटें ले उठते हैं। दूर की आग सदा ही बड़ी सुन्दर लगती है। अँधियारे के मुँह में वह विस्मय और बाजीगरी के पुट भर देती है।

हारगुणा उसी आग को निहारता हुआ जाने क्या-क्या सोचता जा रहा था। यह आग आगे के कामों की सूचना की तरह है। यह इस बात का संकेत है कि अब जंगल के पेड़ों पर कुल्हाड़ियों की चोटें पड़नेवाली हैं। कंध का जन्म ही जंगल काटने के लिए होता है। आज जहाँ जंगल है, वहाँ महीने भर बाद खुला मैदान होगा । जंगल न जाने कहाँ चले गये होंगे। नए खेतों में नए खुले मैदानों में खेती होगी । फसलें उगेंगी, उनमें नित-दिन के काम लगे रहेंगे । हारगुणा सोच रहा था कि अब छकड़े के लिए कोशिश कर देखनी चाहिए । सोच रहा था कि नई-नई धारणाएँ ले आने के लिए एक बार फिर नारण-पाटणा की ओर, ननिहाल के गाँव, जाना चाहिए। संपत्ति और समृद्धि की माप-तोल के अनुसार ही उसके जीवन की कविता के छंद बढ़ते हैं। वह बढ़ उठना चाहता है।

गाँव में कोई अलगोजा बजा रहा है। अलगोजा अकेला ही बज रहा है। सामने 'पोड़ू' की आग जल रही है। आस-पास गाँव के भाई-बंद बैठे हैं। गपशप चल रही है। अलगोजे के स्वर हारगुणा को बहुत ही सुहाते हैं।

उस अकेले अलगोजे की जानी-पहचानी रागिणी को सुनते-सुनते उसकी प्रगति की धारणा वर्तमान की वास्तविकता को छोड़कर किसी शून्य की ओर उड़ चली। साथ ही उसका मन भी उसी शून्य की ओर भाग गया। वहाँ केवल रात-ही-रात है, सुनसान रात । आसमान में बो दिए गए से सितारों का आलोक तले के घोर अँधियारे के ऊपर हलके-हलके उतर कर घना हो उठा है। अलगोजे के स्वर का पीछा करता हुआ उसका मन भी उधर ही भागा जा रहा है। सभी जान-पहचानें उसके पास से भागती हुई पीछे की ओर दौड़ी चली जा रही हैं। आगे की ओर केवल निरालेपन की अकेली उदासी ही रह गई है ।

असंग मन ने जाने कब से पुबुली की याद को राह का संगी बनाकर साथ ले लिया था, इसकी कोई सुध न रही थी। जिस समय पास बैठे लोगों ने हारगुणा के ही ब्याह की बात छेड़ दी, उस समय उसने उझक कर देखा कि हाय मैं तो डूबा जा रहा हूँ, बल्कि डूब चुका हूँ! इतने दिनों तक पुबुली हाथ की पहुँच में ही रही थी, लेकिन तब तो समझ आ न पाई थी। अब जब वह चली जा चुकी है, तब कहीं बुद्धि जगी है । अब हाय-हाय लग गई है मन के भीतर। कारण, पुबुली अब अपनी होने को नहीं।

आह, कैसी सुंदर थी वह! उसकी गढ़न, उसका मुँह, उसकी आँखें, कितनी सुंदर थीं!

आज अलभ्यता की दौक से उस सुंदरता की विचित्रता और भी लाखों-गुनी बढ़ गई है । पुबुली सब से उपयुक्त थी, सबसे सुंदर थी, संसार की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी थी, गुण में भी कोई उससे बीस नहीं पड़ सकने की! वह सभी सूरतों में सबसे ऊपर थी! पाने के आत्मप्रसाद में अब वह बाँधी नहीं जा सकती, इसीलिए वह आज सब-कुछ है, सब-कुछ है!

पहली पहचान के दिन से अंतिम भेंट के दिन तक की सारी बातें एक-एक करके याद आने लगीं। हारगुणा हताश हो उठा। आज वह अपने आपको ही कोसने बैठा है। वह मन-ही-मन यह मान बैठा था कि यह संबंध तो होगा ही। इसीलिए उसने पुबुली को फुसलाने-बहलाने, हिलाने-परचाने

और पोस मनवाने के लिए कभी कोई पहल नहीं की, कभी कोई कोशिश नहीं की। अब वह नित-दिन उसके विरुद्ध अपने मन के मतामत जुटा-जुटा-कर उसकी याद की मूर्ति के ऊपर धीरे-धीरे कालिख पोता करेगा, उसकी विपत्ति सुनकर सुखी हुआ करेगा। कठिन-कठोर होकर निर्दयता से अपने रोष को मिटाने की कोशिश की तरह वह अपनी एक एक शौक-भरी याद को मिटाता रहेगा। पर जिस दिन सभी यादें मिट चुकी होंगी, उस दिन का सूरज उगने में अभी बहुत देर है। आज तो चारों ओर घुप्प अँधेरा छा रहा है।

दिउड़ साँवता अपना सम्मान बचाने के लिए गाँव के सभी लोगों से मुँह फुला बैठा है। उसके अपने घर के भीतर भी कलह का कोलाहल मच रहा है। हारगुणा के कानों में यह सब खबरें पहुँच चुकी हैं। इसलिए दिउड़ को वह कोई दोष नहीं दे सकता। उसे यह विश्वास नहीं हो सकता कि दिउड़ ने जान-बूझकर शठता की होगी।

पर दोष देने-न-देने में आज धरा ही क्या है ? पुबुली तो चली जा चुकी है। पुबुली तो पराई बन चुकी है !

जलते महानीम (बकायन) को पीछे छोड़कर सभी लौट पड़े। लोगों के इस कोलाहल के बीच भी उस अकेले अलगोजे का स्वर सबसे अलग बहुत ही साफ़-साफ़ सुनाई पड़ रहा है। पहाड़ के ऊपर से तले की बंदिकार बस्ती की रोशनियाँ टिमटिमाती-सी दिख रही हैं। पैरों तले अपना गाँव बैठा हुआ है। इसी गाँव में अपने भविष्य के काम पड़े हैं। पर गरमियों की साँझ में खट-खपकर लौटते समय गाँव को देखने पर उसे और भी अकेलापन महसूस होने लगा। दिन-रात की यह इतनी सारी खटनी, यह इतना सारा काम, आखिर किसके लिए ?

उदास दुःख का खोमचा सिर पर लादे हारगुणा साँवता सामान्य लोगों-सा दिखने की सहज भंगी बनाए अपने गाँव में उतर पड़ा। नित-दिन की घिसी-पिटी राह की तरह यह नित-दिन का जीवन भी है। इसमें कहीं कोई नई बात नहीं, कोई नई अनुभूति नहीं, सपनों के लिए कहीं कोई

गुंजाइश नहीं। मन की भीतरी भावना की ठीक उलटी छवि बाहर प्रकट होती है। अपने मन की तृप्ति छोड़ दी गई, तो कहीं और कोई तृप्ति नहीं हो सकती।

पा न सकने की हारी बाज़ी की-सी पस्ती में जब प्राण टनक-टनक उठने लगे तब हारगुणा ने सोचा कि जीवन को लेकर मैं खेल ही खेलता रहा हूँ, कभी घर बसाने की बात सोची तक नहीं। इसीलिए आज तक अपना कोई घर-बार नहीं हुआ, इसीलिए आज तक मैं अघोरी-का-अघोरी[1] ही रहा। कच्ची वयस में, उठती जवानी में, अपने लाल-लाल मन के ऊपर कत्थई गेरुआ ओढ़ाकर वह वैराग्य की बातें ही सोचता रहा था, यह कभी उसे पता ही नहीं चल पाया था कि पुबुली उसके मनोलोक का इतना अभिन्न भाग है। हाँ, वही पुबुली, जिसके साथ दो-चार शब्दों में ऊपरी-ऊपरी बातें भर ही हो पाई थीं । इन बातों को कुछ और ऊँचा उठाकर घनिष्ठता में परिणत करने के प्रयत्न बीच राह में ही अटक गए थे। आज उसी पुबुली की चिंता हारगुणा के मन का एक अनिवार गुण बन गई है, विशेषता बन गई है। घुनाए बाँस से आप-ही-आप निकलते संगीत की तरह उसके पोले-खोखले मन की रागिनी में उसके प्राणों की कविता गूँजती रहती है। —चारों ओर दुख-ही-दुख है, प्राणों की यह कविता भी पीड़ा के छंदों-भावों में ही गुँथी हुई है !

पहाड़ के ऊपर जलते महानीम के कटे पेड़ को अँधेरे में यहाँ गाँव से भी देखा जा सकता है। चारों ओर के अँधेरे के पहाड़ों में वही एक 'बड़ी आग' है। वन की भुईं में वह मानुष की निशानी है। गाँव की हवा में काम की गंध है। घाटी के भीतर झुंड-के-झुंड मानुषों का वास है। अपने-अपने पेट और मन की दरकारों के अनुपात में इतने सारे लोग अपने-अपने हाथ-पैर छटपटा रहे हैं। जंगलों-पहाड़ों को छाप-छापकर पठार की सभी हिंस्र

---

१ बेघरबार बंडे, लुहेंड़े, छड़े, दुमकटे आदि से मिलते-जुलते विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त। देर तक क्वाँरे बने रहनेवाले के प्रति ताच्छिल्य या हिकारत दिखाने के लिए। —अनु०

और प्रतिकूल अवस्थाओं को पराहत करके मानव की कोई प्रबल उत्कंठा उस महानीम की धूनी की लपटों की तरह सुलग रही है। वह उत्कंठा है, मानव होकर जीते रहने की उत्कंठा। कुछ भी आए, कुछ भी जाए, वह अपने कँधों की टाँगिया कुल्हाड़ी उतारने का नहीं, हाथों से हल की मूठ छोड़ने का नहीं। घोर जंगलों के बीच बसी इन बस्तियों की हवाएँ इसी वीरता की, इसी संकल्प की सूचना देते हैं।

हारगुणा के मन में भी काम-काज की कल्पनाएँ धीरे-धीरे अंकुरों के रूप में सिर उठाने लगीं। उनके सँग-ही-सँग अपने मन की रची पुबुली-दुर्बलता के प्रति एक प्रबल प्रतिरोध भी सिर उठाने लगा। पुबुली!—तितली! पुबुली तो तितली का नाम है! तितली की ही तरह वह ऊपरी रंगों में भूल कर, मिङटिङ वाले की फुसलाहटों में भूलकर, आँखें मूँदकर उसके साथ चली गई है। वह मिङटिङ वाला उसके लिए चाहे जितना भी उपयुक्त क्यों न हो, उसी पर उपयुक्तता की इति नहीं हो जाती। यह बात झूठ है कि पने की शरबत घोटने के लिए दुनिया में किसी एक ही बासू-पंडा[1] ने जन्म लिया है! पुबुली के अतीत पर हारगुणा जीत हासिल कर सकता है, ज़रूर कर सकता है!

पर एक चीज़ है, जो चिकोटी काटती रहती। है वह चीज़ है अपमान। पुबुली अपनी नहीं हो सकी, यह एक अपमान ही तो है?! पुबुली ने मुझे उपयुक्त नहीं माना! म्ण्यापायु ने नहीं माना कि मैं उपयुक्त हूँ!—मैं!—लेल्लू सांवता का बेटा हिकोका हारगुणा! मानो मेरी मरदानगी, मेरे मानुषपने, मेरी सांवतागिरी का उपहास करने के लिए ही मेरे लिए ठीक कर रखी गई बहू किसी और को दे दी गई है! अपमान की बात सोचते

---

१ "बासू पंडा न होंगे तो क्या शरबत घुलेगा (या घुटेगा) ही नहीं!"—यह एक ओड़िया कहावत है। इससे यह व्यंजित करते हैं कि किसी के बिना कोई काम रुका नहीं रहता। लेखक ने इसी कहावत को अपने अलग ढंग से प्रयुक्त किया है।—अनु०

ही हारगुणा रोष के मारे काँपने लगता है। उसके रोष को रोक सके, ऐसी कोई बाड़ नहीं, ऐसी कोई आड़-मेंड़ नहीं।

"तुझे हो क्या गया है साँवता? मन इतना विरस क्यों कर रखा है तू ने? एक छोकरी गई, दस मिलेंगी। देर है तो मन में ठानने की देर है। फिर उस छोकरी के लिए मन को इतना दुखी काहे को करता है तू?" —सोभेना कंध ने पूछा।

"दुखी कौन हो रहा है कि तू इतना प्रबोध दे रहा है रे? और भलमनसी करने को तुझे बुलाया ही किसने?"

"मुझ पर रोष ही करना है, तो कर ले, पर यों गुमसुम होकर बैठा मत रहा कर। और तू लाख छिपाए, मुझसे छिपा क्या रह सकता है भला? मैं जानता नहीं क्या?"

हारगुणा ने कुछ नहीं कहा।

फिर सोभेना ही बोला। कहा—"वे भले लोग नहीं, साँवता, भले लोग नहीं। वे तो ठग हैं ठग, 'ताँतर'[1] हैं। उनकी बातों का कोई भी ठिकाना नहीं रहता। उस गाँव की दूल्हन लाने से क्या होता, कुछ जानता भी है तू? किसी दिन छल से मायके जाने का बहाना करके निकल जाती और किसी और के साथ भाग जाती। ऐसे समय तुझे कैसा लगता? बीज तो वही है ना? ना:, यह अच्छा ही हुआ कि वह पहले ही चली गई। मैं तो पहली ही देखादेखी के दिन से उसे पहचान गया था।"

इससे भी बुरी कोई बात कहकर गाली देना कंध के बस की बात नहीं होती। सोभेना का नाक-भौं चढ़ाना हारगुणा को टस-से-मस भी कर नहीं सका। भोले बच्चे की तरह उसने कहा—"यह सब किसलिए कह रहा है सोभेना? मैं वे बातें नहीं सोचता। सच कहता हूँ, इसमें मेरा कोई छल नहीं

---

१ धोखेबाज, कुटिल, तिकड़मी। (संभवत: यह शब्द 'तंत्र' से निकला है और तंत्राचार के घोर पतन के काल में तांत्रिकों के प्रति जनता के मनोभाव का परिचय देता है।—अनु०

है। राज्य भर के[१] काम बे-किए पड़े हैं मेरे। ऐसे में यह पूछता ही कौन है कि कौन किसके साथ 'उढ़लिया' भागा ? मैं तो सोच यह रहा था कि अब कोई छकड़ा बनवा ही लेना चाहिए। तेरा क्या कहना है? एक अच्छा बढ़ई खोज दे तू।"

सोभेना चुप साधे चला गया।

---

१ दुनिया भर के काम।

तिरसठ

म्थ्यापायु और बंदिकार, इन दोनों ही गाँवों के अभिसंपात वरण करके जो युवक-युवती-युगल घर छोड़ चला था, उसे कोई पछतावा न था। पछताने का कोई कारण भी न था। औरों के लिए लोग बुरा-भला मनाते ही रहते हैं। अधिकतर बुरा ही मनाते हैं, कुछ थोड़े से ही भला मनाते हैं; पर यह मनाना कोई फलता-वलता नहीं है। समाज को घता बता-बताकर, मुँह चिढ़ा-चिढ़ाकर बंधन के बाहर के संबंधों से जन्मे बालक भी भूसे की टोकरियों में पड़े-पड़े भी आखिर बढ़ते ही हैं। उस विघटन में भी एक प्रकार का सुख तो होता ही है । व्यर्थ की पराई बकवासों से किसी का घर गरम पानी से जल नहीं जाता।

बेशू का बापा, मिङटिङ का बूढ़ा रघू साँवता बहू को पाकर बहुत ही खुश हुआ था। कुछ दिन हुए, उसकी स्त्री मर चुकी थी। उठती जवानी के स्त्री-परिचय की सभी स्मृतियों को जगाकर बूढ़े मन को गरमाने के लिए पुबुली आ गई थी। रघू साँवता ने बेटे और बहू के लिए अलग घर बना दिया। कंध-कुल का यही नियम है। ब्याह होते ही वर-वधू माँ-बाप से अलग होकर नए घर में बसने लगते हैं। बहू घर में परच गई ।

नए ब्याह का जोश था। बेशू और पुबुली का जोड़ा छाँहों की तरह घुल कर साथ ही लगा घूमता रहता है। बेशू 'बेढ़ों'[1] घिरी धरती में हल चलाता तो पुबुली उस में पत्थर चुनती रहती। बेशू लकड़ी काटने पहाड़ जाता, तो पुबुली कंदे खोदने या पत्ते तोड़ने के लिए साथ लगी चली जाती। सैर-सपाटे की मस्ती और आपस के प्यार में धूप नहीं अखरती, काम किए जाने पर भी थकान नहीं होती। चिलचिलाती दुपहरी में भी एक दूसरे का मुँह निहारते ही शीतलता व्याप जाती, आँखें टलमला आतीं।

---

१ बाँस के फट्ठों की चटाइयों की गोल चहारदीवारियों। (वर्णन के लिए पृष्ठ १४२ का अंतिम अनुच्छेद देखिये।)—अनु०

बेशू को शिकार के पीछे भटकते रहने का शौक है। साँभर हिरनों को फुसलाकर एक जगह बटोर लाने के लिए वह घाटी के पास कहीं अच्छा-सा ठौर देख-परखकर 'खारी' डालता है। खारी डालने का मतलब होता है एक छोटे-से चप्पे को गोड़-गाड़कर पानी डाला और कीचड़ बनाया, तथा उस कीचड़ में नमक, मुखुआ,[1] मूत आदि को घोल दिया। 'खारी' की गंध से जानवर खिंचे चले आते हैं और रोज थोड़ा-थोड़ा चख-चख जाते हैं। फिर वहाँ झुंड-के-झुंड आने लगते हैं। जानवरों के परक जाने पर शिकार का दिन ठीक कर लिया जाता है और उस दिन पास ही कहीं छिपकर घात लगाना होता है। झुंड के पहुँचते ही गोली दग पड़ती है। घने वनों से ढँके और दीवारों-से खड़े पहाड़ों के ऊपर ऐसे कितने ही 'खारी'-चप्पे दूर से ही गंजे-गंजे दिखाई पड़ते हैं। 'खारी' वाले चप्पे के पास पेड़ों की डालों पर पत्तों के बासे बाँधकर शिकारी वहाँ अगोरे या घात लगाए बैठे रहते हैं। जानवरों की टोह लगाने के वैसे 'खारी' के सिवा और भी कितने ही उपाय हैं। जिन पेड़ों के पत्ते किसी जानवर के विशेष प्रिय खाद्य होते हैं, उनकी टहनियों पर नई चरावट देख-देखकर और नीचे मिट्टी में जानवरों के पैरों के निशान देख-देखकर शिकारी यह पता लगाते हैं कि ठीक किस ठौर पर जानवर खड़ी दुपहरी में पानी पीने उतरेंगे, कहाँ चरने उतरेंगे, कहाँ आराम करेंगे। इस काम में भी पुबुली बेशू की छाया की तरह सँग-सँग डोलती रहती है। पास-पास रहकर वह अपने पति के निशाने के सधेपन और पति के बल के जौहर का प्रत्यक्ष अनुभव करने का सुख उठाना चाहती है। पति के पीछे लगी-लगी वह जहाँ कहीं भी जाती है, वहीं खुली प्रकृति, वन की दीवार, चढ़ाई, सुरंग आदि उसके मनों-प्राणों को मोह-मोह लेती हैं। धूप चाहे कितनी भी कड़ी क्यों न हो, पेड़ चाहे सारे ही सूख क्यों न गए हों, पठार की सुषमा में तिल भर भी कमी महसूस नहीं होती। प्रकृति यौवन की चिरंतन श्याम पीठिका की तरह सदा ही ज्यों-की-त्यों मोहक बनी रहती है।

---

१. सुखाकर रखी गई मछली। इसकी गंध बड़ी तेज होती है।—अनु०

बेशू कंध चंपा झरने के पास 'खारी' डाल कर, मचान बाँधकर, घात लगाए बैठा है। डाल के ऊपर बँधी उस मचान पर पुबुली भी अपने स्वामी की खुली देह से चिपकी हुई कनखियों से बाहर की ओर देख रही है। चाँदनी दिगंत के मंच से मंद-चरण छंदों में धीरे-धीरे ऊपर उठती है। छाया-लोक की तिलचावली आँखमिचौनी चट्टानों और पेड़-पौधों के ऊपर भाँति-भाँति के रूपाकार आँक देती है। दोनों मुग्ध-मन किसी आहट की बाट जोहते बैठे रहते हैं। बाहर और भीतर के संगीत एक ही सुर का आधार लिए, एक ही लय में बँधे होते हैं। कंध-कंधुणी की प्रणयलीला निराली वनराजि के भीतर खातों-खड्डों में, चट्टानी संधियों में, पेड़ों की डालों पर अबाध गति से चलती रहती है। 'झाम्की' नली[1] सजी-सजाई प्रस्तुत रहती है, हाथों में बरछे, खाँड़े, छुरे, टाँगिए, तीर-कमान आदि सभी हथियारों से लैस जुगल जोड़ी वन-वन भटकती शिकार करती फिरती है। कहीं इधर-उधर हो भी गए तो हज़ारों बाँकों पर फिर-फिर भेंटाभेंटी होती ही रहती है। निगाहें जहाँ तक पहुँच पाती हैं, केवल अगम-गहन वन-ही-वन दिखाई देते हैं। इधर या उधर ढाल-ढलानों के उतारों के बाद फिर पहाड़ न जाने कितने ऊपर उठते ही चले गए हैं। दो ढलानों की विकट मिलन-संधि पर पाताली गहराई वाली उपत्यका में पत्थरों के ढोके सनासन बहाए लिए जाने वाले अँधेरे झरने झरते रहते हैं। यही झरने हमारे कंध-कंधुणी के मिलन के संकेत-स्थल हैं। झरनों की धारों के पास-पास पहाड़ी करारों के कोरों-कोरों सँकरी पट्टियों पर सीधी-सीधी राहें हैं। उन्हीं पर चलने में सधे पैरों की सिद्धि परखी जाती है। पैर तनिक भी चुके नहीं कि हड्डियों तक का सत्तू बन जाता है। इन राहों पर कोई गाड़ी, कोई घोड़ा, कोई वाहन कभी नहीं

---

१ 'झाम्की नली'—पुराने ढंग की देसी तोप। इसमें बारूद खुले मुँह की ओर से भरी जाती थी। दस-दस फुट तक की इसकी नाली होती थी। इसे पेड़ या खंभे से बाँधकर रखते थे और भागते निशाने की बदलती दिशा के साथ-साथ इसका रुख भी घुमाते रहते थे। पलीता आराम से जलता रहता था और बड़ी देर बाद तोप धीरे-धीरे दगती थी।—अनु०

जा सकता। वहाँ तो अपने भाग्य को अपने काँधे कँधियाए कंध-कंधुणियों की ही गतागति है। ठौर-ठौर पर पठारी टेकरियों में गाँठें पड़ी हुई सी डूहों-डूहों पहाड़ियाँ हैं। बाँकों-बाँकों भटकते कहीं-कहीं हठात् बहुत नीचे तले में कोई गाँव दिखाई पड़ जाता है। ये गाँव जंगलों के अन्दर ऐसे दाँव से छिपे रहते हैं कि बाहर से हरगिज़ नज़र नहीं आ सकते। इसीलिए ये गाँव इतने हठात् दिख जाते हैं। सदा इसी तरह। पहले से उनके अस्तित्व की कोई सूचना नहीं मिलती। और दिखने के तुरंत ही बाद फिर वैसे ही अचानक अदृश्य हो जाते हैं। पहाड़ी फाटों-दर्रों और डाँड़ों में नीचे से ऊपर की ओर जाते समय झरनों की राहों के ऊपर कहीं-कहीं जंगल-झाड़ियों की सुरंगें दिखाई दे जाती हैं। इन सुरंगों के रास्ते एक-एक डग तोल-तोल कर बढ़ाते हुए थोड़ी दूर ऊपर की ओर चढ़ जाने पर हठात् जंगल ज़रा-सा खुला पड़ जाता है और बड़ी-बड़ी ऊबड़-खाबड़ तघड़ चट्टानों के ऊपर पाँत-की-पाँत कंध बस्तियाँ गुड़ी-मुड़ी हुई-सी बैठी मिलती हैं। कहीं ऐसे ही घोर-गहन वनों के भीतर खड़े होने पर हठात् चारों ओर की चहार-दीवारी-नुमा पहाड़ों पर लकड़ी काटने का ठो-ठो-ठक् ठो-ठो-ठक् शब्द सुनाई पड़ने लगता है। इन्हीं चहारदीवारियों के ऊपर, और भी आसमानी ऊँचाइयों में कहीं कोई गाँव होगा, जहाँ कच्चे-बच्चे नाच रहे होंगे, धाङड़े-धाङड़ियों के दल गीतों की भाषा में मन के आकुल भाव उँड़ेल रहे होंगे! बाहर से उनका कोई भी सुराग नहीं मिलता। बाहर तो केवल धूप में मुरझाए जंगल, डूह-के-डूह पहाड़, आसमानों को बेधते से उनके नुकीले या चिपटे शिखर आदि ही दिखाई देते हैं। कोई पहाड़ पूरा दिखता है, तो कोई कहीं-कहीं से थाक-की-थाक लगा रखी थालियों के अंबार-सा; और कोई नीचे से सीधा पतला-सा उठता हुआ ऊपर इतना बोझल-बोझल हो गया जान पड़ता है, मानो अब-तब में गिर पड़ने और लुढ़कते-लुढ़कते तले के 'झोलों' और नदियों में गुड़कियाँ खाते हुए और-का-और होकर बह चलने को उतावला हो रहा हो।

शिकारों की टोह या कंद-मूल के संग्रह में भटकते कंध-कंधुणियों के

दल इन वनों में घूमते रहते हैं, दृश्यों का नैन सुख भोगते रहते हैं। भटकते भटकते कहीं किसी चोटी के ऊपर से पहाड़ों के फाटों-दरों की राह पूरब का दिग्वलय खुल गया-सा दिख जाता है और बस्तियाँ सदा नीचे-ही-नीचे को ढुलती दिखाई पड़ने लग जाती हैं। यह सब-कुछ यह बात समझा-बुझा जाता है कि उधर ही दूर क्षितिज के पास कहीं झंझावती नदी का गति-पथ है।

बेशू बातें करता रहता है, पुबुली सुनती रहती है।

घर से भाग आने पर भी उनका भागने का नशा उतरने का नाम नहीं लेता। अब भी लोगों की आँखों को भरमाकर आड़ों-ओटों में ही भटकते फिरने को जी चाहता है। अब भी जी चाहता है कि इन वनों की गहराइयों में अपने-आपको खो डाला जाय। उन्हें अब भी ऐसा लगता है, मानो इस दुनिया में हम दो के सिवा कोई तीसरा नहीं है। हैं तो बस दो हैं, एक आलोक है और दूसरी उसकी परछाई है, बेशू और पुबुली। और कोई भी नहीं है, कोई भी नहीं। यहाँ न समाज का शासन है, न नियमों का विधान है, न आईन-कानून है! यहाँ न तो औरों के मन की रखवाली करते चलने की बाध्यता है, और न ही अपने मन और अपनी रुचि के समस्त निजस्व को तोड़-ताड़ कर दुनिया की दिखावटी नीति के अतल गर्त में फेंक डालने की और भद्र गिने जाकर दिन काटने की साध है! इन प्रेमियों का जीवन सोलहों आने स्वार्थ-पर, स्व-भाव-पर, है। दोनों एक दूसरे से आबद्ध हैं। इस आबद्धता की रेखा के बाहर पूछने-ताछने की न तो उन्हें कोई इच्छा है और न कोई आवश्यकता ही है।

उस आड़ों-ओटों-भरे वन में एकान्त-स्थलों की कमी नहीं। पेड़-पौधों और पत्थरों-चट्टानों से घिरे एक-एक निराले संसार हैं। वहाँ भी छाया-लोक की, धूप-छाँह की, चल-चंचल छवियाँ पल-पल रूप-रंग बदलती रहती हैं। संकरी सुरंगों के छोटे लाल निकासों पर प्रतीक्षा के अवसर भी मिलते रहते हैं। यह बचकाना कुतूहल लगा रहता है कि इसके भीतर क्या होगा।

अपने मन की भीतरी छवि के हेरों-फेरों में इसी प्रतीक्षा और इसी कुतूहल का उत्तर मिलता रहता है।

चिलचिलाती धूप में 'झोले' के तट की अचल छाँहों में मोरों के झुंड-के-झुंड बैठे ऊँघते रहते हैं। कुंजों के सघन पत्तों की ओट से मैना-मैनी की संगीत-प्रतियोगिता की गूँज सुनाई पड़ती है। कुटरा[1] हिरनें ठिठकती हैं, टकराती हैं, साँभर हिरनें झलकें दिखा-दिखाकर छिप-छिप जाती हैं, कस्तूरी[2] चूहे छलाँगें भरते कुदकते-फुदकते भाग-भाग जाते हैं। थोड़ी ही दूर चक्कर लगा आओ, तो इतने जीव-जंतु मिल जाते हैं कि जिनका कोई लेखा-जोखा नहीं। किसी की झांकी आदमी के पेट की भूख को चौंका देती है, तो किसी की झलक आँखों की प्यास को। कितने ही जंतु प्रकट हो-होकर मन की गहराइयों तक को गुदगुदा-गुदगुदा जाते हैं। शिकारी देखता तो बहुत-कुछ है, पर मारता है उतने ही, जितने की उसे जरूरत होती है। अनुभव यही बताता है कि एकाध ही यथेष्ट और पर्याप्त हो सकता है। पसीना चूता रहता है, तपते नुकीले पत्थर और काँटे पैरों में चुभते रहते हैं, पर वन के वासी इन मानवों के पाँव वन की राहों से हार नहीं मानते, टाँगें मुड़-मुड़ कर सुस्ताना नहीं चाहतीं, देह माँदगी में चूर नहीं होती। पीने को 'झोले' का पानी होता है, खाने को लौकी कद्दू की तुंबियों में रखा मँडुए का भात और मँड़ुए की ही लप्सी तथा विश्राम करने को पेड़ों की शीतल छाँह।

बेशू कंध और पुबुली की जोड़ी मिझटिङ के पास के जंगलों में भटकती रही। कभी-कभी शिकार भी हो लेता है। शिकार मिल जाने पर उस दिन की दिन-भर टँगी आई उसाँसों का शेष वहीं हो लेता है। और शिकार

---

१. खरहे के आकार की छोटी हिरनों की एक दुर्मिल जाति।—अनु०

२ चूहों की जाति की एक बहुत ही सुन्दर बहुरंगी गिलहरी, जो पूरबी घाट के पहाड़ों में पाई जाती है और जिसके रंगों की बहार देखते ही बनती है।—अनु०

अगर न भी मिला, तो गरमियों की तपती धूप को थोड़ा-थोड़ा करके पचा लेने के बाद घर लौटना कोई बुरा नहीं लगता।

जिस सहज सरसता के गुण से नारी दो दिनों में ही पराए को अपना और अपने को पराया कर डालती है, वह पुबुली के भी काम आया। उसी के बल पर पुबुली म्ण्यापायु को भूल-सी चली थी। कितने ही दिन बीत चुकने के बाद म्ण्यापायु के लोग पुछारी करने[1] आए। दिउड़ू आया। गांव में पैठकर उन्होंने प्रथा के अनुसार बेशू कंध को पीटा। धरती चूमती छान तले कमर झुकाए खड़ी, राह की ओर बड़ी-बड़ी आँखें फाड़े, पुबुली प्रीतम का पिटना देखती रही। कहीं ये लोग जरूरत से ज्यादा पिटाई तो नहीं कर बैठेंगे? ज्यादा पीटने से क्या मिलेगा इन्हें? कितनी ही बार ऐसा भी होता है कि प्रथा की पिटाई पीटते-पीटते पीटनेवाले का रोष सचमुच बढ़ जाता है और पिटनेवाला लहूलुहान हो जाया करता है।

पर बेशू देह बाँकी किए सीधा खड़ा उसी की ओर देख-देखकर हँसे जा रहा था। कह रहा था—"अच्छा, अच्छा! पीटना हो लिया, या अभी और रह गया है? पीट ले, पीट ले, जितना पीटना है, पीट ले!" खैर, पिटाई जल्द ही समाप्त हो गई। बेशू के हँसते खिले मुँह को देखते हुए किसी को इच्छा अप्रियता बढ़ाने की न हो सकी। पिटाई केवल नाम के लिए ही हुई,—प्रथा की क्रमागत परम्परा की रक्षा करने के लिए। दोनों पक्ष के लोग साथ बैठकर धुँगिया पीने और गपशप करने लगे। 'झोला'—सोना की बात उठते ही बेशू के बाप रघू सांवता ने दस रुपये निकाल कर रख दिए, एक बैल लाकर उनके आगे बांध दिया और कनस्तर भर रींधी दारू भी भेंट की। बोला—"बच्चों का मन ही तो ठहरा। जी में आया कि भाग चलें और फुर्र से उड़ गए। पर इससे होता ही क्या है? उड़ गए तो उड़ गए। ब्याह होने पर हमारे कुल में जो-कुछ भी होता, वह सब हम करेंगे, सब! न करेंगे तभी तो कोई दोष देगा? करने

---

१ बेटी के पहली बार सासुरे आने के बाद मायकेवालों का कुशल-क्षेम पूछने के लिए प्रथम आगमन।

पर कौन उँगली उठा सकता है भला, कहो तो ? "

दिउड़ अपने दल के लोगों का मुँह निहारता रहा। उसका उद्देश्य शिव जानी ताड़ गया। बोला,—"यह सब तो तुमने दे दिए सांवता, ठीक ही किया, पर एक बात और जो रही जाती है ! बंदिकार के हारगुणा सांवता को सगर्त्ता (हरजाना) भी तो देना ही होगा। कन्या उसी के नाम पर न्योछावर थी, तुम्हारे घर तो 'उदूलिया'[1] भगा लाई गई है !"

रघू सांवता का शांतिप्रिय मुँह गंभीर हो गया।

"क्या कह रहे हो सांवता ? अच्छा लो, सगर्त्ता की बात भी अभी ही निपटा ली जाय, पीछे एक अड़ंगा काहे को लगा रहेगा ?

आँखें लाल-लाल किए और जटाएँ झाड़ते-फटकारते हुए रघू सांवता ने कहा—"मेरी बहू कहीं की 'छाड़िरी-फाद्री' (बदचलन) कन्या थोड़े ही है कि मैं उसके लिए सगर्त्ता दूँ ? मेरा बेटा कहीं से किसी के घर में बैठी किसी ब्याहता को थोड़े ही उड़ा लाया है कि मैं सगर्त्ता दूँ ? तुम लोग ऐसी अपमानी बातें क्यों उठा रहे हो ? भले-भले यह नाता जोड़ना है, या बेकार की मारा-मारी करके दोनों ओर से हमें अपनी-अपनी जानें देनी हैं ? "

पुबुली ठिठकी-सी अचल खड़ी छान को एक हाथ से कसकर पकड़े हुए सब-कुछ सुन रही थी। सोच रही थी—थोड़ी ही दूर पर गाँव के गलियारे में आज मेरे ही ऊपर पंचायत बैठी है !

मायके के गाँव के प्रति उसके मन में कभी कोई अश्रद्धा न थी ; पर इस पंचायत की बात पर मन-ही-मन बहुत-कुछ सोचते-सोचते वह मायके के विरुद्ध सुसराल का पक्ष लेकर उठ खड़ी हुई। गुहराती रही कि जैसे भी हो, यह खटपट झटपट निपट जाय, कि उनकी कोई बात न रहे।

कैसी पत्थर की छाती है इनकी ! इन्हें केवल बनियागिरी ही बनियागिरी सूझती है !

इन्होंने कभी प्यार नहीं किया था ? इन्होंने कभी ब्याह नहीं किया

---

१ पृष्ठ २३५ की पादटीका देखिए।

था ? इतने कठोर क्यों हो गए हैं ये लोग ? ना, ना, बात निपटी आ रही है ! रघू सांवता ने सभी को दबाकर चुप करते हुए कहा—"तुम सभी के सभी लौंडे-छौंडे हो अभी ! कोई बूढ़ा-पुरनियाँ तुम्हारे बीच नहीं है ! क्या सुध-बुध है तुम्हें ? क्या पता है तुम्हें कि अक्ल क्या होती है ?" 'झोला' सोने के बाद सगर्त्ता !..लोगे सगर्त्ता, दूँ ?...तो फिर ले ही लो, उठो यहाँ से पंचायत समाप्त हुई !"

इस गाँव के प्रति पुबुली की श्रद्धा बढ़ती जा रही थी।

सभा भंग होते-होते छाँह-पलटान की बेर हो गई। पुबुली समझ रही थी कि अब दिउड़ मिलने आएगा। सभी लोग बक-झक रहे थे; पर दिउड़ चुप ही रहा था, कुछ भी बोला न था।

दिउड़ यों चुप साधे बैठने वाला बंदा नहीं है। उसके मन के भीतर जाने क्या-कुछ घुमड़ रहा है। लेंजू काका आया ही नहीं है ।

यों ही बाट जोहते-जोहते बेर बहुत ढल गई । दिउड़ अपने संगियों से जाने क्या क्या बतिया रहा था। राह देखना बेकार हुआ। दिउड़ नहीं आया। हाथ छुड़ाए भाग तो नहीं रहा अपना यह एकलौता भाई ? दिउड़ खाली इधर-उधर कर रहा है, पास आने का नाम ही नहीं ले रहा। पुबुली ने अपने मन को भली भाँति तोल देखा। अपराध की कोई भी निशानी अपने मन में नहीं मिली उसे। पर मन को लाख सहारा दे-देकर ऊपर टेकने पर भी दिउड़ के इस बरताव के मारे मन बैठता ही चला गया। पुबुली जान-बूझ कर बारम्बार बाहर गई । कई बार जी में हुआ कि पुकार ले। पुकारने के लिए कई बार दो-चार डग आगे बढ़-बढ़ भी गई । पर फिर लौट-लौट आई । कारण बिना ही 'हेपर मूठा' (झाड़ू) लेकर वह बारम्बार ओसारे को बुहारती रही। दूर से दिउड़ एक बार किसी बहाने इस ओर पलट कर देख लेता और फिर मुँह फेर लेता। पुबुली और भी छटपटा उठती। दिउड़ क्या सोच रहा है ?

रघू सांवता ने पुकारा। "क्यों बहू, भाई से भेंट हुई ?"

मुँह बिचकाती और होंठों को नुकीला करती हुई पुबुली बोली, "देर हो गई, मैं चली पानी लाने को।"—वह तीन बार झोले गई और पानी भर-भर लाई। ओसारे में टाँगें पसारे बैठी गहने झनझनाती जूड़ा बाँधती रही। दिउड़ू बिगड़ा होता, गालियाँ दी होतीं, तो हँस-हँस कर सह लिए होती; पर यह मौन, यह चुप्पी, काँटे-सी चुभ रही थी, हूक-सी खल रही थी।

साँझ होने में अब थोड़ी ही देर थी। पूरबी घाट के पठारों पर फीकी रोशनी थोड़ा मठिया-मठिया कर दौंक उठी। दूर और पास के पहाड़ों की चोटियों पर उन डूबती किरणों ने एक-एक करके भाँति-भाँति की आकृतियों की अग्निधाराएँ प्रवाहित कर दीं। पहाड़ जगमगा उठे। यही अग्निधाराएँ हैं, जो दिन-भर तो एक-रूप जलती रहती हैं और रातों को कभी-कभी बिजली की कौंधों की तरह कौंध-कौंध उठती हैं। सारा गाँव धूल और बातचीत की गूँजों से भरा है। सभी अपने-अपने घरों के आगे भीड़ लगाए खड़े हैं। धीरे-धीरे आवा-जाही की आहटें और बातों की गूँजें मन्द पड़ गईं। उसके बाद फिर वही निराला सन्नाटा छा गया, जो साँझ पड़ने के पहले छाया करता है। दिउड़ू जाने किसकी तो तरह हुआ ओसारे के आगे खड़ा था। घर के भीतर पुबुली घर के कामों में डूबी हुई थी।

दिउड़ू ने पुकारा—"पुबुली!"

आनन्द से किलकिलाती हुई पुबुली छूटती ही भागी चली आई। बाहर आकर कुछ ठिठकी, झिझकी। छाती दमादम धड़क रही थी। यह मुहूर्त जान-बूझ कर ऐसे अजीब समय में आया।

दिउड़ू ने पुकारा—"पुबुली!—"

पुबुली कुछ बोल न सकी। मुँह नीचा किए चुप खड़ी रही।

थोड़ी देर राह देख कर दिउड़ू बोला—"मुझे देख पुबुली!" उसके स्वर में कहीं से कोई जाना-चीन्हा-सा स्वर घुल गया था। सरबू साँवता भी इसी तरह बातें किया करता था।

पुबुली ने सिर उठाया और फिर नीचे झुका लिया। दोनों काठ से थमके खड़े थे। दिउड़ की लंबी उसांसों के शब्द ही केवल सक्रिय थे। वे पुबुली को विचलित किए डाल रहे थे।

दिउड़ अपने मन को मन-ही-मन समझाने लगा—"नाः, नाः,—रहे, आज इतना ही रहे!"—पुबुली का मुँह झँवाकर साँवला पड़ गया था। भीतर की रुलाई बाहर फूट पड़ने को प्राणपण से छटपटा रही थी। उसे देख-देख कर दिउड़ का मन नरमा आया। बात फेर कर दिउड़ बोला, "कुछ कहती भी नहीं। इतनी जल्द भूल-भाल गई हमें?"—पुबुली की आँखों से अकारण ही झर-झर आँसू बह चले। दिउड़ बोला—"रो क्यों रही है?"—और हँस कर कहने लगा—"तुम्हारे बनैले शिकारी दूल्हे या वीर ससुर ने देख लिया कहीं तो कहेंगे कि लो, यह कौन आ गया है, जो हमारे घर की लुगाई को बेकार रुलाए डाल रहा है! ठहर—इसकी मरम्मत कर दी जाय—नहीं तो पुबुली..."

इस बात में न जाने क्या था कि पुबुली के मुँह पर जैसे इमली की छड़ी की कस के मारी गई-सी चोट लगी। पुबुली फुक्का फाड़ कर रो पड़ी।

दिउड़ बोला—"रो मत, रो मत—छिः, रो क्यों रही है? एक जरा सी बात पर तूने मुझ में इतना छल पढ़ लिया पुबुली? क्यों, घर पर तो कभी यों मेरे दोष नहीं धरती थी तू?!"—पुबुली के आँसू बहते रहे। उन्हीं आँसुओं की धारा में बचपन की सभी यादें तिरती-बहती रहीं, मायके में बढ़ कर जवान होने तक की सभी यादें डूबती-उतराती रहीं। विच्छेद के सभी दुखों के आगे यवनिका की भाँति भाई के आगे बहन की यह रुलाई परदा डाल दिया करती है। दिउड़ बोला, "मत रो भई, मत रो। बता तो भला, तेरी आँखों में कभी आँसू देखे हैं मैंने?—रोने की कौन-सी बात है बहना मेरी? तू सुख से रहे, इसी में हमारी सब साधें पूरी हो जाती हैं। ब्याह तो तू जब चाहती कर ही लेती, तेरी मरजी के खिलाफ कोई तुझे किसी और घर में चिपका तो नहीं देता न?

जिस घर आने का तेरा मन हुआ, उस घर आ गई तू, इसमें मुझे कोई भी अफसोस नहीं है। तू मत रो, मत रो!"

नशे में डूबा रहने वाला दिउड़ू इतना उदार कब से हो गया? उसका मन इतना शीतल, इतना स्नेहल कब से हो गया? यह किसके मुँह की बातें हैं? ये किसकी उसाँसें हैं? पुबुली यह सब कुछ भी सोच न सकी। पर उसके मन में एक दंभ का दिलासा जरूर आ गया।

दूर गाँव की उस रूखी-रूखी साँझ में मानो भाई-बहन ने एक दूसरे को नए सिरे से पहचाना। अब पुबुली की अपनी अलग दुनिया हो गई है। अब वह भाई की हथेलियों तले की अधीना नहीं रही। आज दोनों समान हैं, कोई किसी से उन्नीस-बीस नहीं है। कोई किसी पर निर्भर नहीं है। इसीलिए आज एक दूसरे के प्रति उनका दृष्टिकोण भी कुछ और ही हो गया है।

"पुयू अच्छी है न भैया?"

अनमना-सा होकर दिउड़ू ने कहा—"हाँ!"

"मेरे लिए कुछ कहला भेजा है?"—दिउड़ू से जवाब पाने की राह न देख कर पुबुली कहती गई, "अब उसके कामों की भीड़ बढ़ गई होगी। खटनी सवाई पड़ती होगी। बड़ी बीमार-बीमार-सी है। तू उसे गालियाँ मत दिया करना भाई। न देगा ना?" दिउड़ू का मुँह बड़ा डरावना हो गया। मानो उसके मन की कोई बात बाहर निकल पड़ने को खलबला रही हो। अभिनय बहुत हो चुका, अब वह सँभाल नहीं पाएगा! पुयू की बात की इतिश्री हो ली। पुबुली भाँप गई। नारी का चतुर मन यह सहज ही ताड़ लेता है कि बात पलटनी कहाँ से होती है। वह हाकिना से लेकर बेजुणी तक एक-एक की बात खोद-खोद कर पूछने लगी। दिया-बत्ती की बेर हो गई। दिउड़ू के मन को बल मिला। साहस करके उसने पूछा—"तो फिर? यह जगह भा गई है न? लगती तो अच्छी है। तुझे कैसी लगी है?"—पुबुली के बोल खुल गए। भरोसा पाकर वह यह बताने लगी कि यह जगह कितनी अच्छी है। दिउड़ू को चुप देख पुबुली जी भर

बक गई। सोचा, सुन-सुन कर भाई खूब खुश हो रहा है। बेर टली। रघू साँवता आया। बेशू कंध आया। रघू साँवता बोला—"छूँछा-छूँछा बिठाए गप क्या कर रही है बहू, भाई को खिलाए-पिलाएगी नहीं, बातों से ही पेट भर देगी उसका?" दिउड़ू ने देखा, पुबुली की आँखें हास से टलमल हो उठी हैं। मुँह पर, चितवनों में एक नया आलोक फूट पड़ा है। कुछेक दिनों में ही पुबुली बदल चुकी है। जो पहले थी, वह अब न रही।

उसने उसे अपने टूटे-फूटे खँड़हर जैसे जंगल-झाड़मय मन से तोल देखा। कहीं कोई तुलना नहीं हो सकती!

एक माँ के पेट से दोनों निकले हैं, यह अपनी सहोदरा बहन है। फिर भी मेरी अशांति में, मेरे दुख में, रत्ती भर भी भागी न होगी यह। और न ही अपने निजी आनन्द में से तिल भर बाँट ही देगी। कितनी स्वार्थ-पर है। पास आए किसी के मुँह को निहार कर उसका अनुरोध-उपरोध पूरा करना यह नहीं जानती।

सोचा, नारी की जाति होती ही ऐसी है। नारी अपने ही सुख में बूड़ी रहती है। औरों के लिए नितान्त अंध रहती है।

दिउड़ू उठा और सनसनाता हुआ चल पड़ा। सुलगाया हुआ घुँगिया उसे थमाते हुए बेशू कंध ने कहा—"शिकार करने का मन हो, तो हमारे गाँव चला आया करना। चारों ओर की टेकरियाँ ढलानों से उतरती हमारे इलाके की ओर ही चली आई हैं। दसकोसी जानवरों की खान मानो हमारे गाँव के जंगलों में ही है। चाहे कभी भी इस वन में आओ, खाली हाथ कभी नहीं लौट सकते। इस वन में अरने भैंसे भी हैं। तुम्हारे वन में भी हैं क्या?"

दिउड़ू ने कहा—"ना...."

बेशू कंध बोला—"इस वन में बारहसिंगा हिरनें हैं, काले बाघ हैं, मृगराज चिड़ियाँ भी हैं। कभी आओ एक बार, खदेड़ा लगाएँगे, घेराव करेंगे।"

रघु साँवता हँसा। विनय से नम्र होकर कहा- "जब सुनो यह शिकार की ही बातें करता रहता है। तभी तो मैं कहता हूँ, मानुष-बच्चे, फिर तूने ब्याह ही क्यों किया? कोई बनैली सुअरी ब्याह लेते, वह वन-वन भागती फिरती तू पीछे-पीछे उसे खदेड़ता रहता। बावला है बावला, उसकी बातों पर कान क्या देता है साँवता? ब्याह कर लेने पर भी यह घर में रहने का कभी नाम भी लेता है भला? बस, अपनी धाङड़ी लिए वन-वन मारा-मारा फिरता है। आज यहाँ खदेड़ा है, तो कल वहाँ घेराव है, आज यहाँ घात लगानी है, तो कल वहाँ पेड़ों पर मचान बाँध कर रतजगा करना है।" फिर उसने अपने बेटे के प्रति बाँकी चितवन फेरकर कुछ गौरव के सुर में कहा—"खैर, बावला हो या सिड़ी, आवारा हो या लाखैरा, मार बड़े निशाने की करता है, हाथ इसके बड़े सधे हैं।"—और दिउड़ से बोला—"देखता ही तो होगा तू साँवता, हमारा देश कैसा वनदेश है। तुम्हारा वनदेश तो इसकी तुलना में खुला मैदान है। हम बन्दरों की तरह रहते हैं। रहते-रहते आदी हो गए हैं। अब यही अच्छा लगता है; पर तुम्हें यहाँ कष्ट होगा। जो भी हो, अब तो तुमने अपने कुल की बेटी दे दी है। यहाँ बहन ब्याही है। जैसे भी हो, दो दिन यहाँ की असुविधाएँ सह जा। और किया ही क्या जा सकता है?"

चौंसठ

दिउड़ सांवता सोच रहा था—"तो यही ससुराल है ! यही मिङटिङ गांव है !"

किसी ने जबरन ढकेला नहीं था यहां । अपनी मरजी से इस गांव की धरती और आसमान की ओर पीठ फेरकर पुयू मेरे घर जबरन नहीं जा पैठी थी। पुयू को मैंने आप ही ढूंढ लिया था, बुला लिया था। उस दिन के आलोकमय रंगों में पुयू परी-सी दिखी थी और दिउड़ विजेता की तरह उसका मन जीत कर उसे पकड़ ले गया था। उसे सरबू सांवता की पतोहू बनाकर उसके चरणों में बिठा देने के लिए, उसकी गिरस्ती में जुट जाने के लिए।

कब ? कब किया था ब्याह ? जाने कब किया था !

तब का यह स्थान आज भी ज्यों-का-त्यों पड़ा है ; पर उस घटना का कोई चिह्न शेष नहीं है। तब का आदमी अब तक कितना बदल चुका है। पुयू कितनी बदल चुकी है। उन दिनों की याद—आज वह याद काट खाने दौड़ती है ! जिसे उन दिनों गौरव का टीका समझकर लगाया था, दिखाते फिरने को जी चाहता था, बड़प्पन महसूस होता था, आज वही एक धब्बा बन गया है ! आज वह चूने का टीका है, कलंक की कालिख है ! आज छिप रहने में ही मन शांति पाता है।

घर वही है, बार वही है, आदमी ही अब वह नहीं रहा। आज पुयू का यहां अपना कहलाने वाला कोई नहीं रह गया है। इस गांव का दामाद होने के नाते लोग ठट्ठा करते हैं। बूढ़े-बूढ़ियां तक कमर बांकी करके, उस पर हाथ टेक करके झिझकते-हिचकते रुक-रुक कर पूछती हैं—"हमारी पुयू कैसी है ? हमें याद नहीं करती ? बेटा कैसा है ? बेटा किसके जैसा हुआ है ?"

उसी का राज्य है, उसी की जन्मस्थली है ! कितना भीषण अरण्य है ! पाताल के ऊपर टंगे हुए से भांति-भांति की गढ़न और भांति-भांति

के आकारों वाले पहाड़ झोलों-तराइयों के ऊपर लटक रहे हैं । न जाने किस अँधियारे के तले इनके मूल हैं। न जाने कितने ऊपर जाने पर इनकी चोटियाँ मिल पाएँगी। असुरों की नसेनियों की तरह ये पांत-पांत आकाश-रोधी पर्वत-श्रेणियाँ लम्बे-लम्बे डांड़ों से जाने कहाँ-की-कहाँ निकलती चली गई हैं। डांड़ों के ऊपर चट्टानी बस्तियाँ हैं, 'दमक'[1] हैं। उन्हें घेरे अगम, गहनतम, वन हैं। इन्हीं से होकर किन्हीं सीधी गिरि-संधियों पर राहें हैं। फिर भी पुयू यहाँ पली-पुसी थी। पहाड़ी फूल की तरह लोगों की आँखों की ओट में ही उसने इसी गलियारे में किलक-किलक कर धूल के खेल खेले थे। ये लोग ही उसे ठीक से पहचानते होंगे। यह प्रकृति, इस देश के मोर, इस देश की जियादी हिरनें ही उसे पहचानती होंगी।

न चाहने पर भी उन दिनों की याद आ ही जाती है। अपने विवेक के विपरीत भी दिउड़् को यहाँ पर एक प्रकार का अधिकार, एक प्रकार की सत्ता, एक प्रकार का स्वत्व मिल जाता है। मिङटिङ सुहाने लगता है। धरती करोड़ों करोड़ अनजाने कोसों में फैली हुई है; पर इतनी विपदाएँ झेलकर, इतने खतरे मोल लेकर कहीं से कोई भी यहाँ आता-जाता नहीं। पराई आँखें कंध की बैरी होती हैं।

सभी कुछ प्यारा-प्यारा लगता है; पर जल्द ही फिर सब-कुछ उलझ जाता है, गडमडा जाता है, अखरने लगता है। लगता है, जैसे यह तो चोर की तरह पराए घर में पैठना हुआ! पुयू की याद मानो 'चोर-चोर' पुकार उठती है। जिधर से भी सोचो, पहले अपने ही ऊपर दया होती है, फिर पुयू के ऊपर और अन्त में एक उदासी भर छाई रह जाती है।

यहाँ, पुयू के मायके में, आकर यह बात स्पष्ट हो गई है कि अब पुयू से अपना कोई प्यार न रहा। यह स्पष्ट हो गया है कि कभी किसी ने भी किसी को प्यार नहीं किया था। प्यार की धारणा ही सिरे से एक भूल है। पर अब तो जो होना था, हो गया। कोई प्रतिकार नहीं है इसका।

यह मिङटिङ गाँव ही मेरे प्यार का समाधिस्थल है। कभी किसी

---

१ सानुदेश। चोटियों पर दूर-दूर छिदरे बसे बिखरे टोले।

भूले-बिसरे अतीत की भूल में, लोहू के नशे में तरल यौवन के पागलपन में, इसी गाँव में पकड़ गया था मैं। भविष्य की कोई आस बाँधे अपनी गिरस्ती की नन्ही-सी नैया 'झोलों झोलों' बही जाने को छोड़ दी थी। आदमी दौड़ता तो है; पर सोचने बैठते ही यह समझ लेता है कि बेकार दौड़ा।

इसीलिए दिउड़् ने विरक्त होकर पतवार छोड़ दी है।

पकड़ गया!—पुयू उसकी घरनी हो गई। उसके बाद के विशाल जीवन में दिन-पर-दिन बीतते गए। इस बीच न जाने कितनी लड़कियाँ देखीं। उन्हें देख-देख कर सदा यही सोचा किया है कि पुयू से तो ये सभी सुंदर हैं। पुयू की तुलना में सभी उसे कहीं अधिक उपयुक्त जँची। आँखों से परख-परख कर और अनुभूतियों से तोल-तोलकर उसका मन जाने कितनी ही वरणीया सुंदरियों को चुनता रहा है और चुनते-चुनते बढ़ता हुआ बहुत आगे निकल चुका है। पुयू,—यह पुरानी गुदड़ी-सी जर्जर, पटसन की संठी-सी दुबली, सूखी-सिकुड़ी पुयू कितना पीछे रह गई है! मन की गहराइयों के किस तल्ले में उसका स्थान दब गया है, कितना नीचे! आज सोचने बैठो, तो अनगिनत पुल्में, पिओटी, सोनादेई आदि एक के पीछे एक खड़ी दिखती हैं। और पुयू की छाया तक भी इनकी ओट में न जाने कहाँ छिप गई है। कर्त्तव्य की कठोर राह पर चौकस रह कर और सहल को असल मुशकिल समझ कर अग्रसर होने को चेताते रहने के लिए सरबू साँवता की सूखी खाँसी अब नहीं रही। मजबूरी में पड़कर, डर कर या लजाकर दूसरों के हाथों अपनी बागडोर सँभलवाने वाले और दूसरों द्वारा निर्धारित राह पर चलनेवाले मन की गति ही न्यारी होती है। वन के भीतर बगटुट छूट चलनेवाले मन की गति उससे बिलकुल भिन्न हुआ करती है। एक दूसरे की पटरी कभी नहीं बैठ सकती, मेल-मिलाप कभी नहीं हो सकता।

पुयू बहुत तले पड़ गई है। फिर भी लोक-दिखावा तो करना ही पड़ता है और उसके साथ अपने आपको अभिन्न-प्राण दिखलाना ही पड़ता है। यह दिखावा तो करना ही पड़ता है कि पुयू सदा अपनी मनचीती

पुयू ही रहती आई है, और अब भी हर घड़ी अपनी मनचीती पुयू ही रहती है। इसलिए लाचार मुँह फाड़-फाड़ कर हँसना पड़ता है, लाचार सिर हिलाना पड़ता है। कंध वन का बसनेवाला चाहे जितना भी सीधा सादा मनुष्य क्यों न हो, आखिर है तो मानुष ही। और मानुष का यह निजी गुण है कि वह आत्मगोपन के लिए प्रतारणा की शरण लेता है।

पुयू के साथ अपना संबंध कुछ ऐसा होने के कारण, पुयू के गाँव में ब्याह करनेवाली पुबुली के ऊपर क्रोध बेतरह होता है। पर मन के इस क्रोध को मन के भीतर ही दबाए रखना पड़ता है। मजबूरी है। गलियारे की लाज के मारे चेहरे पर एक और नकली चेहरा लगाए रहना पड़ता है। किया भी क्या जाय? पुबुली बहन है तो क्या, अब वह किसी की घरनी भी तो है? दो स्वाधीन व्यक्तियों के बीच रूठारूठी होने से संबंध तो टूट जाता है, पर किसी के हारने-जीतने का सवाल नहीं उठता। दिउड़ू यही सब सोच रहा था। बस, यह एक बार का आना ही अंतिम आना है। समाज के बंधनों में बँध कर एक बार इस मिङटिङ गाँव में आ ही जाना पड़ा। अब काम निकलते ही इस गाँव की ओर पीठ फेर देनी है। उसके बाद यहाँ पर रह जायगी पुबुली और रह जायगा उसका भाग्य। अपना और क्या काम है यहाँ?

पर जगह अच्छी है। हजारों तर्कों के जाल से घिरे मन के गेरुए रंग को भेद कर आज भी उन दिनों की यादें चिहुँक-चिहुँक उठती हैं। भले ही ये यादें उन्हीं लोगों को क्यों न हों! वन-मिङटिङ पहुँचकर समुझा गाँव की राह झंझावती नदी पार करने के बाद नाराणपाटणा जाने की राह पड़ती है। इस पार एक के पीछे एक कई पहाड़ खड़े हैं। विख्यात लाउमाळमुठा[१] है, जिसके डाँड़े रायगढ़ की राह कंध-मुठा की ओर चले गए हैं। यह मिङटिङ समतल को उलटी पड़ रही घाटिया ढलान के छोर पर बसा है। पर कितना दुर्भेद्य है! केवल कंध ही ऐसे हैं, जो बेधड़क यहाँ रहते हैं। पहाड़ी भँवरियों के बीच से यहाँ तक पैठ आने की राह किधर

१ एक पहाड़ का नाम। नाम का शब्दार्थ, "लौकी-हार पहाड़"—अनु०

में है, यह कोई भी जान नहीं पाने का। कंध की रींधी दारू की हाँड़ियों की तलाशी करने यहाँ वन की विपदाओं को झेलकर कोई भी पहुँच नहीं पाएगा। इस खोई-भूली धरती पर कंध ही अपना निरंकुश छत्रपति है।

पर दिउड़ू को केवल निराशा की लंबी उसाँसें ही हाथ आई हैं। यहाँ पर उसका स्वत्व होते हुए भी नहीं है। यहाँ तो उसका कुछ भी नहीं है। यहाँ वह मात्र एक बिलल्ला भर है।

पुबुली और बेशू का ब्याह होनेवाला है।

ब्याह के काफ़ी पहले से ही उन्होंने पति-पत्नी की तरह एकत्र रहते हुए अपनी अलग घर-गिरस्ती सँभाल ली है। इसमें हर्ज ही क्या है? कंध के आनन्द-पूजन वाले संस्कार में स्त्री-पुरुष की जान-पहचान के लिए यथेष्ट परिसर मिलता है, यथेष्ट अवसर-अवकाश मिलते हैं। जाने कितनी खोज-ढूँढ, कितने चुन-चुनाव, कितनी निरख-परख और कितनी जाँच-पड़ताल के बाद तो इस संसार-वन में उपयुक्त पुरुष को उपयुक्त स्त्री मिल पाती है! पर यह सब कुछ उस पूर्वराग में होता है, जो ब्याह के पिंजरे से बाहर ही उड़ता फिरता है। ब्याह न भी होता, तो कोई हर्ज नहीं था। ब्याह के पर्व में अधिक और होता ही क्या है? पर हाँ, मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ दुर्बलता है आत्माभिमान और आत्मसम्मान की भूख। इस भूख के मामले में कोई भी जाति किसी और जाति से भिन्न नहीं होती। उसी भूख को, भूख रूपी गुण को परिपुष्ट करके आत्मप्रसाद पाने के लिए कंध ब्याह करता है, इसीलिए 'गदबा'[१] ब्याह करते हैं, इसीलिए 'परजा'[२] ब्याह करते हैं। इनके ब्याह मन के पहले ही से सध चुके योग का, पहले ही से बँध चुके जोड़े का, एक सस्ता विज्ञापन मात्र है।

(ब्याह न करने का अगर कोई प्रस्ताव होता कहीं, तो) रघू सांवता सिर हिलाकर (यही) कहता—"ले-दे के एक ही तो बेटा है। उसका ब्याह नहीं करूँगा भला?" और दिउड़ू सांवता आँखें लाल-लाल किए

१- 'गदबा', 'परजा' आदि पूरबी घाट की अन्य आदिम जातियाँ हैं।—अनु०

गरज उठता—" क्या-ा-ा ? मेरी बहन कोई पादरी[1] थोड़े ही हो गई है कि अपनी जाति की टेक डुबोकर वह मैदानियों की तरह किसी की रखेल बनकर रहेगी ?

पर एक बात है। किसी दिन ब्याह के सभी गूढ़ तत्वों को मुह की एक ही फूँक से उड़ाती हुई पुबुली यह भी कह सकती है कि " मेरा घरवाला मुझे प्यार नहीं करता। मैं अपने घरवाले को प्यार नहीं करती। मैं उसे नहीं सुहाती, वह मुझे नहीं सुहाता। आज से ब्याह का नाता टूट गया। मैं चली।"—संतान हो भी तो पालने में कोई असुविधा नहीं होने की। संतान बाप की होती है। हाँ, चुराके ले जा सकी, तो माँ की भी हो सकती है। जहाँ जीते रहने के लिए जुटाए जाने वाले सरंजाम इतने सीधे-सादे हों, वहाँ चिन्ता हो भी क्या सकती है भला ? छः बरस का बच्चा काँधे कुदाल-कुल्हाड़ी सँभाल लेता है। इस तरह छः बरस की वय में ही आदमी पूरा कमासुत मर्द बन जाता है, पूरे विकासवाला उपार्जन-क्षम व्यक्तित्व। और जीवन-धारण के उपकरण केवल मर्द ही नहीं जुटाते यहाँ ; स्त्रियाँ भी उसमें बराबर का भाग बँटाती हैं। यहाँ कीचड़-मिट्टी, रोग-दुःख और मरण-हरण की विकट वास्तवता के आगे सभी समान हैं। इसीलिए यहाँ का समाज भी न्यारा है। इस समाज की नींव अर्थनीति के किसी और ही परिवर्तित संस्करण के ऊपर टिकी है। यहाँ हाथ-पैरों में पहन कर छमा-छम झमाझम बजाते फिरने के लिए कोई शौकिया तौक या साँकलें नहीं हैं, शौकीनी की बेड़ियाँ-हथकड़ियाँ नहीं हैं।

जो भी हो, पुबुली और बेशू का ब्याह तो होगा ही। जिस समय गाँव के गलियारे में दोनों गाँव के लोगों की पंचायत में बात उठी और 'झोला'[2]

---

१ कुभी भाषा में पादरी शब्द ईसाई मात्र के लिए चल पड़ा है। ईसाइयों को कंध बड़ी ही घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें चरित्रहीन अनाचारी मानते हैं। इसी कारण किसी कंध को, और विशेष कर किसी कंधुणी को, 'पादरी' कह देना एक अत्यंत ही अपमानजनक और कटु गाली है।—अनु०

२ " कन्या-सोना ", दैन-मुहर का कंध रूप, जिसके अनुसार वादे के बदले नगदी वसूली होती है।—अनु०

की लेन-देन का सवाल हल हो गया, उसी समय से ब्याह का शुभ भी दिया जा चुका समझा गया। कंध दरतनी[1] माता का पहलौंठा पूत है। उसका वैवाहिक आचरण महामानव की उषा-मय पद्धति के अनुसार ही होता है। इसमें सब से पहले भंजकवि[2] का अनुराग होता है। फिर युद्ध में कन्या-हरण होता है, जो एक प्रकार की कांची-विजय[3] जैसी चीज है। और तब इन दोनों कांडों के बाद ही कहीं शुभ विवाह हो पाता है। इन सभी रीतों-रिवाजों के बीच में रीढ़ की तरह जड़ा होता है, सजी-सजाई गिरस्ती के लिए मानव का उद्योग और उद्यम। सो, उसी रात छोटा भोज भी हो लिया। कंध को भोज-भात बहुत ही पसंद है। ऊड़ा (मांस) और कूचा (साग), ओड़ा (भात) और तंफा (मँड़ुए का भात), सब एक साथ ही मिला दिए गए और खान-पान का खान-पक्ष समाप्त हो गया। रहा पान, तो खाना खिलाना खतम होने के बाद पीने का दौर चला। पीने के लिए मिड़टिङ के गुप्त 'झोले' से कनस्तर-की-कनस्तर दारू लाई गई। दोनों कुल सुखी हुए, प्रसन्न हुए। आधी रात को चारों ओर ताक-झाँक कर और सब कहीं सब-कुछ निश्चल निश्शब्द पाकर बेशू कंध धीरे-धीरे घर के भीतर पैठ गया। पड़ोस से केवल साँसों के स्वर आ रहे थे। हाँ, रखवाले कुत्ते रह-रह कर अपने जागते होने का प्रमाण जरूर दे-दे जाते थे। बाकी सभी खा-पी कर घोर नींद में डूबे थे। अंधेरे घर में दरवाजे के पास ही

१ धरती देवी।

२ सतरहवीं सदी के अंत के ओड़िया कवि उपेंद्रभंज। श्रृंगार रस और शब्दालंकार में अद्वितीय। लावण्यवती, कोटि-ब्रह्माण्ड-सुंदरी, वैदेही विलास आदि चालीस काव्य ग्रंथों के प्रणेता।—अनु०

३ ओड़ीसा के राजा पुरुषोत्तमदेव (१४७९-१५०४ ई०) ने कांची की राजकुमारी पद्मावती को रण में जीता था और कांची-राजा के अपमान-जनक ताने के जवाब में उसे चाण्डाल से ब्याहने का आदेश दिया था; पर अंत में जगन्नाथ की रथयात्रा के अवसर पर परंपरानुसार झाड़ू लगाते समय स्वयं ही चंडाल माने जाकर उस पद्मावती से ब्याह करके प्रेम और प्रतिज्ञा दोनों की रक्षा की थी।—अनु०

जाने क्या उजला-उजला-सा टिमटिमा रहा था। बेशू कंध ठिठका खड़ा रहा। ज़रा भी आवाज न होने दी। सोचा, लौट चलूँ। देह में बल की कोई कमी नहीं होने से उसमें संयम अधिक है। पुबुली सो रही हो तो उसे गिद-गिदाना ठीक नहीं। बेशू ने सोचा, "ना, यह मुझसे न होगा।"—वह मुड़ने को हुआ। पूरा मुड़ भी न पाया था कि पुबुली हड़बड़ा कर उठ खड़ी हुई। बेशू लौट आया। गला बैठा-बैठा कर फुसलाहट-भरी फुसफुसाहट में पुबुली ने कहा—"बड़ी नींद लग रही है।" बेशू हँसा। इतनी रात हो गई, पर आँखें इसकी झपकीं तक नहीं ; जैसी-की-तैसी किवाड़ से लगी मेरी बाट जोहती बैठी ही है तब से। यही पुबुली है! पूरी मेरी! सिर्फ मेरी!

"ऊँध लग रही है तो सो क्यों नहीं रही नुनी।"

"किवाड़ खुली है। घर में कोई और है नहीं।"

"घर की रखवाली कर रही है तू?"—बेशू बोला—"ओह, कितना पसीना आ रहा है। घर अपनी रखवाली आप कर लेगा, चल हम बाहर चलें।"

दोनों बाहर निकल पड़े। दोनों: एक नर और एक नारी। पसीने, धूल और मैल से चिक्कट लँगोटी पहने एक पुरुष, जिसकी दाढ़ी शतमूल बेल के काँटों की तरह बढ़ी हुई है, जिसके मुँह में महुए की दारू की उत्कट गंध है, जिसकी देह पत्थर की तरह है ; और हलदी, रेंड़ी के तेल और पसीने के पुट से भिन्नगंधा एक स्त्री जिसकी खुली छाती के ऊपर काच के हार बोझ-के-बोझ लदे हैं, जिसकी कमर में मोटी खरुआ खादी का एक टुकड़ा लिपटा हुआ है।

बाहर निकल पड़े, डैनों से डैने मिलाए आसमान में उड़ती दो चिड़ियों की तरह। ये चोर-बटमार नहीं, ये रातों-रात घूमनेवाले एक और ही तरह के प्राणी हैं। ये वे मानव हैं, जो केवल दो ही तत्त्वों से बने हैं। ये दो तत्त्व हैं मिट्टी और बिजली के, जो एक दूसरे में सने गुलियाए हुए हैं। रुँधे-रुँधे घर के कोने में बेर काटना इन के लिए कष्टकर होता है। मन की बात खोल-खोल कर, छाती की धड़कनें सुन-सुनकर, आँखों-में-आँखें गाड़-गाड़कर

मिलन में एकताल ठेके बजाने के लिए खुले आसमान की जरूरत होती है। फिर उस खुले आकाश में तारे हों कि नक्षत्र हों, इससे कुछ भी आता-जाता नहीं। उन्हें तो बस खुला आकाश-भर चाहिए, और चाहिए खुली धरती की खुली दिशाएँ, खुली प्रकृति, एक या दो झिल्लियों की झनकारें और रात की चिड़ियाँ!

राह में बेशू ने कहा—"अब देर नहीं नुनी। डिसारी बहुत जल्द ही योग दे रहा है। कल ही ब्याह हो जायगा हमारा। सामान-सरंजाम जुटाना, बाजे ठीक करना, भोज-भात के गुंताड़े लगाना, ले-देके ये ही तो बस काम हैं। और इतने ही के लिए इतनी देर कर दी! जो हो नुनी, हुआ सब अपने मन की पसंद के लायक ही है। तेरे गाँव के लोग अब मुझे कोई दोष न देंगे।"—पुबुली ने कुछ कहा नहीं, बेशू की हथेलियों को और भी ज़ोर से दबाकर पकड़ लिया और राह चलती रही।

अँधेरी रात है; पर दूर दिगंतों पर वन में चहुँ ओर आग लगी है। दिगंत हलचल और कोलाहल से भरे हैं। कालिमा के इस विस्तार के भीतर धारी-धारी आलोक तले-ऊपर चारखाने हो-हो कर झूल रहे हैं। बेलों की तरह बल खाते हुए, टहनियाँ बढ़ाते हुए, गुच्छे-के-गुच्छे फूलों-फलों की तरह झूलते हुए। ये वन-देश की गरमियों की हवेलियाँ हैं। मंडप हैं। अँधेरे में आग कितनी सुहानी लगती है। अनजाने में ज्ञान की दमक-सी। पहाड़ के अवयव दिखाई नहीं दे रहे। दिखाई देती है केवल आग, शून्य-ही-शून्य में यत्र-तत्र डोलती-उतरती सी। केवल विस्मय-ही-विस्मय की द्योतना-सी।

आस-पास के कुंजों के पेड़ अँधेरे के कंबलों से लदे हैं। बीच-बीच में कहीं-कहीं फाँकें हैं। फाँकों के भीतर अँधेरा कुछ-कुछ झीना पड़ गया-सा है। यह झीना अँधियारा तले-ऊपर दूर तक द[illegible]ता चला गया है। खंभों की तरह दूर गाढ़े अँधेरे के वर्णों का हलकाप[illegible]पन एक ही कालिमा को कई भिन्न-भिन्न रूपों में उरेह रहा है।

अधरतिया बीती जा रही थी। झिल्लियाँ [illegible] झीं-झींझीं झनकार रही थीं। इक्के-दुक्के गुबरैले जगमगाते जुगनुओं को पकड़के उन से अपनी

मशालें जलाए दूर की राहों की तीर्थयात्रा पर निकले हुए थे। ऊपर से टूटते तारों के टुकड़े सरसराते हुए उतर-उतर पड़ते थे। झरते चूरे-सी उल्काएँ गिरते-गिरते कहीं बीच राह में ही बुझ-बुझ जाती थीं।

ऐसी ही रात थी वह, जिसमें बेशू पुबुली के साथ एक चट्टान के ऊपर बैठा हुआ था। एक ओर गाँव के चाँद की निर्भरमय छवि थी और धरती ढलानों-ढलानों उतरती उस पार की पहाड़तली के पाताल के पेट में धँसी जा रही थी।

ढलवान के ऊपर थोड़ी ही दूर पर करेलापाती बाघ की आँखें आग की लौ-सी दमकती दिखीं। बेशू बोला—"यह कुत्ताचोर डुरका[1] सब दिन इसी समय आया करता है। आज की रात कोई उजला कुत्ता या उजली बकरी चारे को बाँधकर मचान पर घात लगाए होते, तो इस समय मज़ा आ जाता।" पुबुली की आँखें ऊँघों ढुर रही थीं। चौंककर देखती हुई उसने अवमानना के स्वर में कहा—"ओ-रे, यह!"—आवाज़ सुनकर डुरका भाग गया। लौटकर फिर नहीं आया।

कितनी ही बेर यों ही बीत गई। बड़ी देर बाद वन से खड़खड़ाहट भरी साँय-साँय आती सुनाई पड़ी। बेशू बोला—"अंधड़ आ रहा है। चल, अब चले चलें।"—अंधड़ एकदम पास आ धमका। अंधड़ के आगे आगे देह को सहलाती गुदगुदाती हुई-सी, पुलकाती हुई-सी हलकी पवन निकल गई। लौटती अँधियारी वाली ऐसी घोर तमतोम-मयी रातों में अंधड़ की गड़गड़ाहट पर मन में दुर्बलता उड़-उड़ आती है। नानी की कितनी ही अधसुनी कहानियों की किंभूत-किमाकार कल्पनाएँ भी साकार हो-हो उठती हैं। पुबुली का मनोदेश इन्हीं से भरा था। शांति की अलसाहट को धीरे से टकराकर वह जम्हाई लेती उठ खड़ी हुई।

अंधड़ की गड़गड़ाहट और पास आ गई। पुबुली बोली—"ऐसी अँधेरी रात में इस अंधड़ के साथ मिल कर भूत-प्रेत आदि भी तो निकले होंगे ना—"

---

१ पृष्ठ १३ की पहली पादटीका देखिये।

बेशू ने कहा—"निकले हों तो निकले रहें, हमारा क्या कर लेंगे ?"

घर के पास आने पर पुबुली बोली—"एक बात सोच रही थी। सोच रही थी, मैं जब मरूँगी, तो ऐसे ही अँधेरी रातों में आँधी-अंधड़ों के साथ आया करूँगी और तेरी गिरस्ती देख जाया करूँगी। तब क्या तू मुझे पहचान पाएगा, तेरी घरनी मुझे पहचान पाएगी ?"—बेशू ने उसका हाथ मरोड़ दिया। ऐंठकर पुबुली बोली—"ऊइ!—अच्छा, अच्छा, अब ऐसी बात कभी नहीं कहूँगी। जानती हूँ, तू चिढ़ता है।"

घर के भीतर बेशू ने कहा—"थिराकर सो रह, कल अपना ब्याह है ब्याह!"

पैंसठ

उसी रात की बात है। बैसाख के अंधकारी धुंधमय अंधड़ से सभी जीव-जंतु पनाह माँग रहे थे। सभी पुकार रहे थे। सभी छिप रहने को हड़-बड़ाए से निरापद ठौर ढूँढते फिर रहे थे। खात-खड्ड ढूँढते फिर रहे थे, ओट-गुफा ढूँढते फिर रहे थे। प्रकृति की भृकुटी पर अनजाने भय खेल रहे थे। पर उसी समय एक आदमी ऐसा भी था कि उस अंध अंधड़-झक्कड़ में घर से निकल पड़ा था और चला जा रहा था। वह आदमी था एक सूखा काठ, एक जर्जर अस्थि-पंजर बूढ़ा। उसके कंधे पर टाँगिया कुल्हाड़ी पड़ी थी। एक हाथ में टिमटिमाती लुकाठिया मशाल जल रही थी। दूसरे हाथ में माटी की एक मटकी थी। वह बूढ़ा भी उस तूफ़ानी अँधियारी का ही एक अंश था। वह अँधेरे के देवता का उपासक था। पेड़ों तले वह पत्तों की खड़-खड़ाहट भर था। खुले में वह सितारों की रोशनी में फिरती एक छाया भर था। उसकी पीठ पर बंधनी कोष्ठक के चिन्ह की तरह एक सूखे पनियाए बाँस की काली धनुही थी। दोनों हाथों में दो लाठियाँ थीं। हँसुली की तरह चिपटे-चिपटे-से दोनों नंगे चूतड़ हवा के थपेड़े खा रहे थे। उसकी लाठियाँ जल्द-जल्द उसके आगे-पीछे हो रही थीं। ठुकुर-ठुकुर-ठुकुर-ठुकुर, समान व्यवधान के साथ, समान गति से।

वह आदमी इस गाँव का डिसारी बूढ़ा है। पुयू के ही वंश का, न जाने किस पीढ़ी का है वह! जिन दिनों हारगुणा म्ण्यापायु गया था, उन दिनों यह बूढ़ा भी पुयू के बच्चे को असीसने वहाँ पहुँचा हुआ था।

सामने के आसमान पर अँधियारे की पालें उड़ाती वर्ष की पहली आँधी आ रही है। पवन के वेग से पेड़ पौधे और लता-गुल्म डोलने लग गए हैं। बूढ़ा अपना मटका लटकाए चला ही जा रहा है। उसने आज की रात के बीत जाने के बाद कल दिन के समय एक लौंडे और लौंडिया के ब्याह की साइत दे रखी है। बूढ़े के ऊपर भार बहुत है।—उसका दायित्व,

बहुत बड़ा है। पूजा अच्छी होगी, तो देवता प्रसन्न होगा। जिन दो प्राणियों को वह एक साथ बाँधे-छाँदेगा, उनका प्रेम पूजामंत्र की दृढ़ गोंद से चिपक कर ही अटल होगा। उसीसे उनके जीवन में सौभाग्य उतरेगा। और, एक व्यक्ति का कल्याण होने से एक का ही नहीं, पूरी गोष्ठी का मंगल होगा। यह सब दायित्व डिसारी के ही मत्थे हैं। इसीसे उसे नींद तक नहीं आती। यह सब ठीक हो या गलत, पर तर्क के गोरखधंधे में उसके पाँव कभी नहीं फँसे। वह तो बस केवल विश्वास के भरोसे ही चलता है। उस विश्वास पर उसके मन की निष्ठा अनन्य है।

कल पूजा है। कंध के शास्त्र का विधान यह है कि ब्याह के लिए पुनीत मंगल-जल रात से ही गगरी में सँजो रखा जाना चाहिए। रात के अँधेरे में पानी भर लाना होता है, ताकि कोई देख न पाए, कोई जान न पाए। डिसारी चुपचाप पानी की गगरी भर लाकर सँजो रखता है। किसी की दृष्टि उस पर पड़ गई तो वह पानी अपवित्र हो गया। पशु तो पशु, कनगुरिया की पोर भर की चिड़िया भी उस समय उस घाट पर चोंच बुड़ा दे, तो घाट का पानी लेना बेकार होता है। क्योंकि वह पानी तो अपवित्र माना जाता है। इसीलिए डिसारी का यह अभियान निराले निस्तब्ध और निर्जन रात में हो रहा है। पानी भरने का भी 'योग' होता है। 'आस्ता', 'उत्रा', अथवा 'लदा' योग में ही अछिजल भरा जा सकता है। कंध पत्रे के सत्ताइस योगों में ये ही तीन योग इस काम के लिए शुद्ध हैं। इन योगों में से किसी एक योग में, जिस समय वन की कोई चिड़िया पानी न पी रही होगी, डिसारी नई गगरी लेके पानी भरने उतर पड़ेगा। उसी पानी से ब्याह के काम संपन्न होंगे।

अंधड़ के भीतर जाने क्या कुछ महाबल बाघ के गर्जन जैसा सुनाई पड़ रहा है। अंधड़ उसे आँखें मार रहा है। यही महाबल के लिए दाँव की बेर है, गँव की बेर है। बड़गद-पीपल के उस जुड़वाँ पेड़ तले उस साल बाघ लगा था। किसी एक को खा डाला था। और वहाँ भी, उस मकई वाली भीठ के ऊपर। फिर उस मँड़ुए के खेत के टीले पर, लंबी चट्टान के पाया

तले। यहाँ तो डग-डग भर पर विपदाओं के इतिहास हैं। झोले की उस बाँक पर, अभी उसी दिन की तो बात है, साटी-साँप[1] ने पानी के भीतर से पूँछ फटकारी और कगार के करारे से एक बूढ़े को घसीट कर नीचे उतार लिया। अकाल मृत्यु, अपमृत्यु हुई बेचारे की!

गाँव से दूर निकल आने पर इस अंधे अँधियारे में पैरों तले से न जाने कितने प्रकार के शब्द उठते रहते हैं। क्या-क्या तो इस अंधड़-झक्कड़ में चल रहे हैं। कोई दाँव ताक रहा है, कोई छलाँग-छलाँग पड़ता है, तो कोई छिप-छिप रहता है। हो सकता है कि कल नहीं, तो परसों ही अपने दिन लद चलें। यह बेर देवता की बेर है और किसी की अगर है, तो पशुओं की है। आदमी तो सभी घोर अचेत नींद में पड़े हैं। बूढ़ा चला जा रहा है। कल तक तो खैर जीना ही है। पर कब किस दिन काल पूरा हो जाय कौन जाने? पका आम जाने कब टपक पड़े! फिर तो "डुमा"[2] बनकर इसी आँधी और अँधियारी के साथ मारा-मारा फिरता रहेगा। तब तक जब तक कि फिर नया जन्म पा न ले; पर उस संभावना की ओर अभी बूढ़े का कोई भ्रूक्षेप भी नहीं है। वह तो कंध ठहरा कंध। कंध संसार को जिस रूप में पाता है, ठीक उसी रूप में ग्रहण करता है। भय लगता है लगे, पर कर्त्तव्य के पथ से उसे कोई भी भय विचलित नहीं कर सकता। इस बूढ़े के देखते-ही-देखते न जाने कितनों की परछाइयाँ इसी करारे पर अस्त हो-हो गई हैं। आज के इस सन्नाटे में उनकी एक-एक बात याद आ रही है। बूढ़े डिसारी की कसौटी वे ही हेराने लोग हैं। छूँछी पवन के भी आँखें होती हैं। दरमू कभी सोने का नाम नहीं लेता। दरतनी कभी सोने का नाम नहीं लेती। पुरखों के जितने सारे "डुमे"[3] काया छोड़े-छोड़ कर छाया बन-बन गए हैं, वे सभी हर घड़ी यह देखते रहते हैं कि कंध अपने आदर्शों पर अडिग है या उसके

---

१ विश्वास है कि यह साँप धागे सा पतला, साठ-साठ हाथ लंबा और रोम-रोम में मुँह वाला होता है और शिकार को लपेटकर चूस मारता है।—अनु०

२-३ कंध प्रेतात्मा।

पैर फिसलरहे हैं। कि उसके आदर्श उसके पास हैं या वह उन्हें गँवा बैठा है।

बेचारा सूखा काँटा डिसारी! लोगों की गिनती में वह बस एक ही इकाई तो है! दल की गिनती हो रही होती है, तो वह भीड़-भाड़ में किसी के पीछे अपनी इस मुट्ठी भर देह को सटा कर छिप-छिप रहता है। 'अधिकारियों' की आँखों में उसकी बिसात ही क्या है भला? जैसे और हजारों कौपीनधारी घुँगियाखोर कंध हैं, वैसे एक वह भी है। वैसे ही इसके भी रूखे बाल फुर-फुर उड़ते रहते हैं। वैसे ही इसकी भी आँखें नीचे को गड़ी रहती हैं। कोई विशेषता नहीं है इसमें। हो भी कैसे? दुबला-पतला बूढ़ा पुरनियाँ जो ठहरा! न काँवर ढो सकता है, न टहल-टिकोरे कर सकता है। डाल काटने को लगाओ तो थक कर हाँफने लग जाय।

पर वही इस अधरतिया में किस दिलेरी से चला जा रहा है! दिन के समय जो मौन मन-मारे रहता है, वही इस अँधियारे में त्याग की दीप्ति से दीपित हँसता मुँह खिलाए चला जा रहा है। उसी के इन सूखे हाथों की बदौलत न जाने कितने घरों के अनिष्ट कट-कट गए हैं, न जाने कितने ब्याह सुखमय हो गए हैं, न जाने कितने आँगन धूल-धुरेटे मैले-कुचैले पर गुल्ले-थुल्ले नन्हे-मुन्ने कंध-बच्चों से भर उठे हैं। सब उसी की करामात हैं, उसी की निष्ठा के प्रमाण हैं, उसी की लगन के पुण्य-प्रताप के प्रसाद हैं। यह सब बातें वह सोचता है और सोच-सोच कर इस बात से सुख पाता है कि उसका देह धरना अकारथ नहीं गया, समाज के उपकार में ही लगा है।

चारों ओर ताक-झाँक कर वह 'झोले' के काजल-काले करारे की राह अँधेरे के भीतर उतर पड़ा। कटे पेड़ों के जड़कुनी ठूँठ मिले, चट्टानें मिलीं, पथरीले चटियल ढोके मिले, कँकरीले ढेले मिले। डिसारी इन्हीं के स्पर्श से अपनी राह पहचानता है। इसी तरह वह दुनिया को चीन्हता है। पानी का मटका लेकर वह उठ पड़ा और ऊपर को चढ़ चला। अंधड़

बढ़ चला। लुकाठिया मशाल के पूले से चिनगियों के फुहारे उड़ने लगे। आधा आसमान अंधा हो गया। बिजली उधर दूर कौंधी, इधर सिर पर कड़की। गड़गड़ाहट से सारा दिशाकाश भर गया। बूढ़ा अपनी लुकाठी के पूले को दृढ़ हाथों से पकड़े था, पानी के मटके को सावधानी से सँभाले था। धरती के उस विकट विकराल रूप को देख-देख कर छाती तले कोई खसखसाहट-सी होती लग रही थी। कर्तव्य निबट चुका था। झटपट डग भरता बूढ़ा डिसारी चला जा रहा था। पैर राह काट रहे थे और मुँह मंत्र जपता चल रहा था :—

"साँप न डँसें
बाघ न लगें
काँटे न चुभें पाँव!
डाल के झटके
मूँड़ न लगें,
पानी के मटके
डीठ न लगे,
सुख से रहे गाँव!...."

हवा के झकोरे मंत्रों के बोल उड़ा ले जाते और डिसारी के कान भी उन्हें धर न पाते। पर उसका मन एक-एक बोल सुन रहा था।

डिसारी कंध-गोष्ठी का एक अदना-सा नगण्य-सा कर्मी है। उसका काम अपने लिए नहीं, अपने दल के लिए, अपनी गोष्ठी के लिए होता है।

छियासठ

रात का अंधड़ रात को ही बिला गया। न जाने कहाँ चला गया। भोर होते ही उजेली पौ फटी। पूरब में सिंदूरी फूटी। पालतू मुरगे बाँग दे उठे। जंगली मुरगे और भी ऊँचे पुकार उठे। मोर-मोरनी शोर करने लगे। केका से जंगल-पाँतर भर उठे। दुबकी पड़ी चिड़ियाँ चहक उठीं। कोलाहल-सा मच गया। राजा को जगाने वाले नौबत-बधावे से भी कहीं बढ़ा-चढ़ा। दुनिया के कमासुत मानुषों को जगा-जगा कर सृष्टि का आनन्द विश्वास का स्वागतम् जता रहा है। पुबुली उठी। दोनों एक दूसरे को निहारते रहे। एक ही चिन्ता में मगन दोनों एक दूसरे के बोलने की राह तकते रहे। आज इन दोनों का ब्याह होने वाला है।

इस बात से उनकी उमंग कोई उन्नीस नहीं पड़ी है कि वे पहले ही से अपनी एकट्ठी गिरस्ती चला रहे हैं। ब्याह की उमंग दल की उमंग होती है। व्यक्ति की उमंग तो उस दलगत उमंग में उमँड़ने को बाध्य होती है। आज दल के साथ उनका एकरार होगा। औरों की तरह वे भी अब एक दूसरे को समेट कर, एक दूसरे को अपना कर, एक दूसरे को गले लगा कर अपना संसार बसाएँगे। आज वे अपने भावी के सपनों को अपने दल की आँखों से देखेंगे। आज जो कुछ भी होगा, आनन्द-ही-आनन्द होगा, विस्मय-ही-विस्मय होगा। आज शुभ दिन है।

बेशू चला गया। तैयारियाँ करनी होंगी उसे। बेजुणी और डिसारी की पूछ-पुछारत करनी होगी, उनसे सलाह लेनी होगी, दरवाजे पर छामुड़िया[1] खड़ी करनी होगी। बाप बूढ़ा ठहरा, औरों की तरह टाल-मटूल से उसका काम नहीं चलेगा। पुबुली भी चली गई। घर-बार लीप-पोतकर सब ठीक-ठाक किए रखने का भार उसी पर है। सब कर-धर लेने के बाद ही वह अपने-आपको तैयार करने में लग सकेगी। रघू सौंवता भोर-

---

१ छाया-मंडप—अर्थात ब्याह का मँड़वा।—अनु०

ही-भोर उठकर जाने कहाँ चला गया है। आज झाँकी तक नहीं मिली उसकी तो। म्ण्यापायु के लोग अभी बाहर-ही-बाहर होंगे।

सिर से काम का सारा भार उतार लेने के बाद पसीने से लथपथ बेशू जागिली कंध के पास पहुँचा। जागिली उसका यार है और जागिली ही हजामत किया करता है। जागिली हँसा और हँसता हुआ धुँगिया बढ़ा कर बोला—"बैठ।" जागिली भाँप चुका था कि बेशू किसलिए आया है। फिर भी पूछा—"शिकार के लिए बुलाने आया है रे? किधर चलना है? अच्छा किया जो आ गया, सँग-सँग चलेंगे। मोर उतरे होंगे।"

"ना रे ना, आज शिकार कोई नहीं है।"

"शिकार तो है पर तू अकेला जाना चाहता होगा। मुझे सँग लेने पर भाग जो देना पड़ेगा। है ना? चल, आज बाँट-बखरा मत देना, बस? यही बात है ना—?——"

"सच कहता हूँ भाई रे! आज शिकार को नहीं जाना। यह देख ना, हजामत कैसी बढ़ गई है। रीछ-सा लग रहा हूँ। और सिर के बाल!—आ-हा-हा! गरमी कैसी बढ़ गई है! बाल बुरी तरह अखरने लगे हैं। जरा हिणिपि[1] देते तो कैसा होता? क्यों?"

"हाँ, हाँ, हिणिपि क्यों न दूँगा? यह भी कोई बात हुई भला? गरमी तो बढ़ ही रही होगी, अब और बढ़ेगी। ना क्या?"—दोनों हँस पड़े। बेशू घुटने जोड़ के बैठ रहा। जागिली ने अपना काम शुरू किया। छान से उसने अपना हिणिप्पा[2] निकाला। खासा बड़ा-सा हथियार होता है यह भी। इस एक ही छुरे से दोनों ही काम चलते हैं, सिर के बाल भी कटा लो और दाढ़ी भी घुटा लो। बेशू का मुँह साफ-सुथरा निकल आया। एकाध ठौर धार लग गई थी, लहू बह रहा था। माथे के सीधे ऊपर आधा मूँड़ खौर डालने के बाद दाढ़ी के बाल भी उसी 'हिणिप्पे'

---

१ हजामत कर देते।

२ छुरा, उस्तरा।

से मेंड़ुए की फसल की तरह काटे जाने लगे। चोटी को कस कर पकड़े हुए जांगिली बालों को काटता-काटता छोटा करता आगे बढ़ता गया। बेशू बीच-बीच में बस इतना ही पूछता रहता, " बराबर तो हो रहा है ना ? "

सिर के पिछले भाग में गुच्छा भर लम्बी लटें रिहाई पा गईं। ये जनम-लटें हैं। इनको कभी लोहा नहीं लगा। सिर के बालों तक का एक लम्बा इतिहास है, इसका प्रमाण बस यही लटें हैं। हजामत हो चुकी। सिर सारा बेल-सा निकल आया। बीच में नारियल की जटा-सी एक चुटिया रह गई। बस यही सिर की शोभा है, यही उसकी सुन्दरता है। सिर से टटके निराए भाग उजले-उजले लग रहे हैं। जैसे बीच में जंगल छुट गया हो और चारों ओर हाल के 'पोड़ू'[1] की राख फैली हो। इतने बड़े हथियार से कहीं घास छिलवाने जैसी तो कहीं जंगल कटवाने जैसी हजामत करवाना किसी पूरे समारोह का बीड़ा उठाने से कम साहस का काम नहीं होता ; पर बेशू सब कुछ सह कर गंभीर बना, अपना कर्तव्य पालन करता रहा। बस एक बात पर बस नहीं चल सकी उसकी। बेचारा पसीने-पसीने होता रहा।

हजामत कराके वहाँ से निकल पड़ा। झोले के हिवाल ठंडे पानी में खूब डूब-डूब कर नहाया। पतली रेत और चिली[2] के पत्ते मिला कर अंग-अंग को अच्छी तरह रगड़-रगड़ कर, मल-मल कर, धो लिया। सारी देह ताँबे जैसी चमक उठी। धुली कौपीन पहन ली। सिर पर रेंडी का तेल थोप लिया, और झमाटदार चुटिया को लपेट कर देवल-सी गाँठों से गँठिया डाला। उस देवल में काठ का एक छोटा-सा कंघा खोंस लिया।

बाहर की शुचिता और निष्ठा ने भीतर के मन को पवित्र कर दिया। झोला-तट से सज-सँवर कर गाँव लौटती बेर बेशू कंध देवी-देवताओं को राह भर गुहराता आया। दरमू, दरतनी, झाकर, वन-देवता, घर-देवता, सब को बारी-बारी से सुमिरता रहा। आज उसका इतना बड़ा दिन है।

---

१ खेती के लिए जलाया गया जंगल।

२ भँवारी नाम का पौधा।

आज सभी देव-देवियों का सहाय होना जरूरी है। न जाने कितनी अनदेखी बिपदाएँ, कितने अनजाने अमंगल छिपे घात लगाए बैठे रहते हैं। आदमी का जीवन पानी के बुलबुले के समान होता है। मन में चाहे कितना भी दंभ हो, चाहे कितना भी साहस हो, कितना भी दम-दिलासा हो, आदमी जैसे ही गंभीर होकर जीवन की निष्पत्ति के आगे मुँहा-मुँही खड़ा होता है, सिर चकरा उठता है। फिर आदमी सूरज का मुँह तक-तक कर तेज की भीख माँगता है, पवन के निहोरे कर-करके बल का वर माँगता है, माटी की मनौतियाँ करके सहने का बूता माँगता है।

जंगल के उस पार मोर बातें कर रहे हैं।

मोर के मांस के मजे की याद से मन पनिया उठा। जंगल छान मारने के नशे ने जोर मारा। बेशू ने दोनों ही वासनाओं को रोक लिया। मन पक्का किया, आज शिकारी तीर-कमान परे रख कर माँस की वृत्ति का निरोध करूँगा, तप करूँगा। आज मुझे हर तरह का मंगल-ही-मंगल चाहिए, हर ओर मंगल-ही-मंगल चाहिए।

सारे जीवन के भीतर बस आज का दिन ही तो चोटी का दिन है। जनम-दिन की बात किसी को याद नहीं होती। मरण का दिन कभी चेताकर नहीं आता। उन दोनों चोटियों के बीच यह आज का दिन ही अपनी मनचीती घाटी है। यहीं से अनुभूति की लहरियाँ आगे भी जाती हैं और पीछे भी। उठती सब यहीं हैं।

सड़सठ

मिञटिञ गाँव की लड़कियाँ पुबुली को हलदी की उबटन और रेंड़ी के तेल से सराबोर करके नहान-घाट ले गईं। पचासेक क्वाँरियाँ पाँत बाँधे संग गईं। ये किसी और गाँव की हैं और वह किसी और ही गाँव की। पर फिर भी इनकी उमंग देखते ही बनती है। पचासों मुखड़े आनन्द और उछाह के मारे दौंक-दौंक उठते हैं। पचासों कंठों से एक ही लय में बँधे गीत उमँड़े-उमँड़े पड़ रहे हैं। पुबुली उनकी अपनी सगी न हुई, तो क्या हुआ, गोष्ठी की तो है! उधर गाँव के गलियारे में बाजे वाले आ बैठे हैं। सारा गाँव उत्सव के लिए सज-सँवर कर तैयार है। गाँव की बेटियाँ ही नहीं, बहुएँ भी नई दुल्हन के सँग-सँग लगी फिर रही हैं। कंध के एक-बम्गे-एकमुहे गाँव की रीति ही यही होती है। जो एक का होता है, सब का होता है। जो एक करता है, सब करते हैं।

पहाड़ी पठारों के इस लहरिया उतार-चढ़ाव वाले देश में ब्याह का आनन्द जब उतरता है तब कानों को बहरा करता उतरता है। बाट के बटोही काँधे की बँहगी उतार कर रख देते हैं, और कान पात कर उस महारोर को सुनने में लीन हो जाते हैं। इधर की राहों गुजरती पराए गाँवों की स्त्रियाँ भी इस गाँव के ब्याह-गीतों में गला दिए बिना आगे नहीं बढ़तीं और गीत की पाँतियाँ दूर से न फुरें, तो टेक भर ही दुहरा देती हैं।

शांत स्निग्ध वन की गोद में पथरीली चपला नदी बही जा रही है। रोर मचाती ललनाएँ पानी में उतर पड़ीं। दूल्हन पर अँजुली-अँजुली पानी के छींटे मारती 'पानी छींटने के गीत' गाने लगीं।

आनन्द ने सभी को मतवाला कर दिया था। पुबुली उनके खिलौने की गुड़िया बनी थी। कोई 'चिली' [1] के बटे पत्ते की उबटन उसके अंग-

---

१ दे० पादटीका, पृ० ६८३

अंग में मल रही थी, तो कोई रगड़-रगड़ कर मैल छुड़ा रही थी। नहा-धो लेने पर कोई उसे पोंछ रही थी, तो कोई धुली देह सहला रही थी। अब फिर वे पुबुली को वहाँ से हाथों-हाथ उठा के गाँव ले चलीं। एकसुरा गीत बीच में एक बार भी नहीं थमा। इन बातों में पुबुली को भी कोई आपत्ति न थी। वह तो एक प्रतीक-मात्र है। उसी प्रतीक को उपलक्ष बनाकर ये इतने सारे लोग प्यार करके गिरस्ती बसाने की शक्ति के आगे नाच-गा रहे हैं। सिर में रेंड़ी का तेल चुपड़ के बाल ऊँछ-सँवार दिए गए। अंग-अंग में फिर रेंड़ी के तेल के पुट वाली हलदी की उबटन लेप दी गई। सारी देह गुच्छों-के-गुच्छे वनफूलों के हारों से लाद दी गई। कंध देश के विचित्र गहनों से हाथ-पैर झणन्-झणन् झंकार उठे। रघू साँवता ने बहू को खरुए की एक नई लँहगी और चाँदी के एक रुपए की भेंट चढ़ाई। पुबुली भी तैयार हो ली।

बेर दो लाठी चढ़ते-न-चढ़ते रघू साँवता की अँगनाई गाजों-बाजों की गहगहाट से कँपकँपा उठी। गाँव वालों की भीड़ वहाँ रिल-पिल आई। "छामुड़िया"[१] खड़ी हो चुकी थी। तीन ओर से ताड़ के पत्तों से घिर कर अंधामूँद अँधेरे घर-सी लग रही थी। उसके भीतर डिसारी बूढ़े ने मंगल-कलश पधरा दिया। पिछली रात पानी का यही मटका वह इतने कष्ट से लाया था। भिलावे के फल, रंग-बिरंगे चौरेठे[२] और हलदी रंगे अरवा चावल के अच्छतों से चौक पूर दिया गया, दिये बाल दिए गए, धूप जला दी गई। उस अँधेरे घर में अकेला बैठ कर गाँव के 'जानी' पुरोहित ने अनबूझ मंत्रों के मेघ के भाप उड़ाकर देवता 'थाप' दिया। बाहर गाँव की बूढ़ियों ने 'बेजुणी' के साथ गुहराव के देवास[३] टेरना शुरू किया। मंत्र मच्छड़ों की भनभनाहट की तरह से मन्द-मन्द शुरू होकर

१ 'छायामंडप,' ब्याह का मँड़वा।

२ खरिया, अरवा चावल के आटे और हल्दी कुसुंभ आदि के शुभ रंगों से बना बूरा, जिससे रंगोली उरेहते हैं, अल्पना भरते हैं, चौक पूरते हैं।—अनु०

३ देवता बुलाने के गीत।—अनु०

धीरे-धीरे उठता हुआ नगाड़े की गड़गड़ाहट की तरह मंद्र-मंद्र गूँजने लगा। बेजुणी को 'कालिसी'[1] लगी, पूजा शुरू हुई।

बेजुणी छलाँगने लगी। उसकी पड़ोसिनें उसके पीछे-पीछे मँड़लाने लगीं। रींधी दारू ढलने लगी। मुरगी के अंडे चढ़ाए गए। कारज बढ़ चला।

डिसारी ने साइत धर दी। साइत धरते ही बहू-बेटियाँ दूल्हन को 'झोला'-तट ले गईं। वहाँ कई तरह की पूजाएँ हुईं। पहले घाट पुजा। फिर जंगल में पैठ कर झाकर को पूजा गया। एक-एक करके सभी देवी-देवताओं को ब्याह की बात बता दी गई। गाँव के चारों ओर जहाँ-जहाँ देवता के 'थान' थे, वहाँ-वहाँ काठ के छोटे-छोटे चित्र-कढ़े भाले-बरछे, मुरगी के अंडे, फूल-पत्ते, आदि चढ़ाए गए। यह सब करते-कराते बेर खड़ी मूँड़ पर चढ़ आई। दूल्हन के पीछे-पीछे अगल-बगल दो पाँतों में स्त्री-पुरुष फिर जंगल में पैठे। सब के मुँह में "बाइले-बाइले" की टेक वाला मंगल-गीत था। जंगल में "कंदा-खोद" पर्व मनाया गया। दूल्हन एक कंदा खोद कर उसे ढोती लौट पड़ी। उसके पीछे-पीछे केले, कंदे और तरकारी के काम की भाँति-भाँति की फल-फलहरियाँ और साग-सब्जियाँ लिए जुलूस बनाए धाङड़े चल पड़े। बाकी स्त्री-पुरुष पीछे लगे। गाँव का चक्कर लगाया गया। धाङड़े "कंदा खोदने का गीत" गा रहे थे। गीत की गहनाती टेक में केवल "डुँबरा मालिंगा, डुँबरा मालिंगा" ही गूँज रहा था। धाङड़ियों को प्यार से "डुंबर लेंबर" के नाम दे-देकर सारी बहादुरी का सेहरा आप ही पा लेने के कौशल के सिवाय इस गीत में और धरा ही क्या है?—

"हें हें डुँबरा मालिंगा
डाङिगा ताब्बा माझा मेल्
कुआआं ताब्बा माझा मेल्
बिरिखाड़ाति लेहें तक

1 देवता की सवारी।

मेएणा हाड़ा लेंहें तऊ
डूंबरा मालिगा
हें हें डूंबरा मालिगा।"
["अरी डुंबरो, अरी मामू जी (ससुरजी) की बेटियो,
हम केले लाए हैं
हम कंदे लाए हैं,
आ आ, बढ़ बढ़ के ले ले,
ला ला, खचिया ला, ले ले,
ओ ओ डूंबरो
ओ मामू-घर की बेटियो ! "]

बस "हें हें डूंबरा मालिगा, डूंबरा मालिगा," बस। कंध की परम्परा हर-कभी हर-कहीं अभिनय की ही परम्परा है । दूल्हन मंगलवती हुई, घर-गिरस्ती सँभालने बैठी, तो कंध की सहज जीवन-यात्रा का आदिम व्यवसाय भी शुरू हुआ। वह आदिम व्यवसाय ठहरा जंगल से कंदमूल खोद लाना। इसमें पूरे कंध-समाज ने योग दिया। इसके बाद अब दूल्हा और दूल्हन मिल-जुलकर अपने लाड़-प्यार की लेन-देन की घर-गिरस्ती करते रहें। अब से पुरुष इसी तरह लहू-पसीना करके काम किया करेगा, जो भी हो, जैसे भी बने, जुटा लाया करेगा, और स्त्री 'पेज' रींध-पकाकर परोस दिया करेगी, तंबाकू के पत्ते लपेट-लुपूट कर धुंगिया 'पिंका' बना दिया करेगी, आदर-मान दिया करेगी, 'सुहाग' किया करेगी !

ब्याह तो किसी एक ही का होता है ; पर दूसरे सभी को भी अपना अपना अतीत याद आने लग जाता है। दिउड़ु सांवता एक ऊँचे पत्थर पर बैठा ब्याह देख रहा था। गाँव-भर के नर-नारी हलदी-पानी में सराबोर, सजे-धजे लहराते फिर रहे हैं। सब के मुंह में एक ही गीत है। सब के मुखड़ों पर एक ही आवेश-भाव है। गाँव उठ रहा है, बैठ रहा है। ज्वारों में उफना रहा है, भाटों में उतर रहा है। आज दो प्राणियों का मंगल-बंधन है।

दिउड़् सोच रहा था—"एक दिन मेरा भी ब्याह हुआ था!"

उस दिन भी ऐसी ही "छामुड़िया"[1] रची गई थी। उस दिन भी ऐसे ही बाजे बजे थे। उस दिन भी अँगनाई ऐसे ही गीतों-बाजों से कँप-कँपाई थी। उस दिन भी अपने ब्याह में किसी भी मंत्र, किसी भी पूजा की कमी नहीं रह पाई थी। पर आज उस दिन की बातों का ध्यान करके चिढ़-सी लगती है, जी कुढ़ने-सा लगता है। कोई उदासी-सी मन-प्राणों पर छा जाती है। ब्याह!—छि:, ब्याह में आज दिउड़् का कोई विश्वास नहीं रहा। झूठी बात है। बेकार का बखेड़ा है यह। रस्सियों से बाँध दिए जाने पर दो मन, दो प्राण, कभी एक नहीं हो सकते। यह सब लोग-दिखाऊ है। छलना है। भुलावा है।

दो प्राणी हैं, बालू की भीत खड़ी करके झूठमूठ की गिरस्ती जुटाने में मगन हैं। उन्हें गुड़िया बनाकर समाज ब्याह का खेल खेलता है। लोग तुरही फूँकते हैं, ढोल पीटते हैं और वे दोनों बेचारे इन खिलाड़ियों के नाचने गाने, बोलने-बतराने, शोर मचाने और दारू पीने का एक बहाना बनते हैं। इतने में ही संसार तृप्त हो जाता है, गोष्ठी का खेल शेष हो जाता है। दो जंतु दो दिशाओं से आकर एक ही अँधेरे में पैठ रहते हैं और एक दूसरे का बुद्धूपना भुलाकर, एक दूसरे का अनमेल-पना छिपाकर दो दिनों के लिए कच्चे मांस के मोल-तोल में माते रहते हैं। दो दिन बाद गोंद सूख जाती है, गाँठ खुल जाती है और दोनों बुद्धू अपने सारे नंगे अहमकपने के साथ एक दूसरे के आगे मुँहामुँही खड़े हो जाते हैं। दाँतों-से-दाँत भिड़ते हैं, चोंचों से चोंच, कील-काँटे से कील-काँटे और कंकर-पत्थर से कंकर-पत्थर! फिर भी दस जनों को दिखाने के लिए संघर्ष के माते ये बेचारे दाँत-पर-दाँत चढ़ाए गिरस्ती चलाए चलते हैं। इस शुभ विवाह का 'गँठबंधन' कभी खुल नहीं पाता, सुलझ नहीं पाता।

उस ऊँचे पत्थर पर बैठा दिउड़् साँवता चारों ओर मुड़-मुड़ कर ताकता रहा, पैर पर पैर चढ़ाए धुँगिया फूँकता रहा और नागिन-डँसे-से मन से समाज

१ दे० पादटीका, पृष्ठ ४८१

की रीति-नीति की मीन-मेख निकालता रहा। उसे इन बातों पर रह-रह कर हँसी आती थी। रह-रह कर अपनी आलोचना को वह बाजों में दो बोल बजा देता, कुछ और खुले गले से गीत की एकाध कड़ी गा देता; पर कमर उसकी हिली तक नहीं, नाचना उससे एकदम नहीं हो सका। अकारण ही उसका मुँह विकृत हो-हो उठता। असल में उसके मन को इसी तरह शांति मिलती है। इसी तरह उसके मन का माहुर बाहर निकलता है।

कौन पूछता है उसे? आज लोग दारू पीते हैं, पी रहे हैं, यह तो आम बात है।

धूप की चिलचिलाहट बढ़ रही थी। जंगल की भापदार उसाँसों-सी "झोले" से आई जलब्यारी रह-रह कर फूँकों-सी बह-बह जाती। दूल्हा बेशू कंध बाट जोहते-जोहते अधीर हो-होकर छटपट-छटपट कर रहा था। छामुड़िया[1] के आगे बाजे के संग-संग कुछ असंयत कोलाहल भी हो रहा था। सूखा बूढ़ा डिसारी धरती पर काठी गाड़े बैठा तकता रहा। डिसारी ने छाँह देखी और सब को चौकाता हुआ बोला—"अब ब्याह लग रहा है।" उसके सीधे छरहरे हाथों के ऊपर उठते ही सारे गोलमाल बंद हो गए। बेजुणी अपने पेट में कीलें कोंचती रही, किरचें भोंकती रही, धूपदानी के ऊपर झुक-झुककर होम का पीती रही। सिंदूर-पुती किरच लिए नींद में चलती हुई-सी वह पग-पग डग भरती डिसारी के पास चली आई। डिसारी केवल एक ही शब्द बोला—"हुँ:।"

इससे अधिक उसे कुछ भी कहना नहीं पड़ा। दूल्हे को लिए दो जने वर-पक्ष वाले प्रतिनिधि, रघु साँवता और मुरजू कंध, आ पहुँचे। दूल्हन को लिए कन्या-पक्ष वालों के दो प्रतिनिधियों के साथ दिउडू साँवता आ पहुँचा। डिसारी ने दूसरे हाथ से फिर इस ओर संकेत किया। बाजों के महारोर से अँगनाई गहगहा उठी। मानो जंगल के सभी जानवर एक साथ चिग्घाड़ उठे हों। डिसारी गया और पानी का मटका उठा ले आया। मटके के मुँह पर केले के पत्ते बाँध दिए गए और मटका दूल्हन के सिर

१ दे० पादटीका, पृष्ठ ४८१

पर 'थाप' दिया गया। मटके के रूप में सिर पर दायित्व का गुरु-भार उठाए हुई पुबुली गंभीर होकर बेशू कंध के चारों ओर घूमने लगी। भाँवरी हो ली। डिसारी पुबुली को पकड़ कर बेशू कंध के पास ले आया। बोला—"इसके पैर दाबकर खड़ा हो जा।" सारी गोष्ठी की दमकती आँखों के आगे बेशू अपने दाएँ पाँव से पुबुली के बाएँ पाँव को दाबकर खड़ा हो गया। बाजे कान बहराते बजते रहे। वर-वधू इसी तरह खड़े रहे। उनके चारों ओर दोनों पक्ष के दो-दो जने और उनके पीछे-पीछे बेजुणियों का जोड़ा वर-वधू की परिक्रमा करने लगे। जानी 'छामुड़िया' के पास बैठा मंत्र पढ़ता रहा। अँगनाई के ओटे पर, ओसारे में, ओलती तले और बीच राह तक में झुंड-की-झुंड खड़ी, झुकी, बैठी घरनियाँ और उनके कच्चे-बच्चे देखते रहे। डिसारी बोला—"ब्याह हो लिया।" डिसारी ने पानी का मटका टेक लिया। बेजुणी ने वर-वधू को पास-पास खड़ा करके उनके सिर जोड़ दिए। दोनों के जुड़े सिरों के बीच में पानी का मटका फिर 'थापा' गया। दोनों इसी तरह डिसारी का मंत्राया पानी एकट्ठे उठाए खड़े रहे। इसके बाद बेजुणी उनके कंधों से चढ़ती हुई ऊपर मटके पर जा खड़ी हुई। ब्याह हो लिया।

पानी-ढुलकान की रस्म पूरी हुई। पानी ढुलकाते समय गाँव भर के लोग हो-हुल्लड़ मचाते हुए दौड़ आए। स्त्रियों ने पुबुली को अपने सिर पर उठा लिया। पुरुषों ने बेशू को उठा लिया। दोनों दल इसी तरह वर-वधू को कँधियाए हुए मुँहा-मुँहीं खड़े होकर नाचते रहे।

नाच के समय सभी के मुँह से एक ही गीत फूट रहा था—'बहू उतारने' का गीत। यह गीत भी प्राचीन पद्धति का प्यार-गीत ही है। इसमें भी वही "लेंबर, डुँबर, तालस, निलस" आदि चार्खड़ियाँ प्यार के नाम पाती हैं। इसमें भी मामूँजी की बेटी के प्रतिशब्द के रूप में वही 'बिड़िबारा' 'मेहेणा-ताडि' आदि प्यार के विशेषण जोड़े जाते हैं। इसमें भी संगी-साथियों को 'बंदर-पानी' ही कहा जाता है। और इसकी भी समाप्ति उसी 'हो-हो रे ता' आदि संबोधन-शब्द से होती है। धूप-घाम धूल-धुक्कड़ आदि की

ओर से बे-परवाह होकर सारा गाँव गोल-गोल चक्करदार घुमावों में नाचता रहा। बीच-बीच में न जाने कितनी ही बार सीटियाँ बज-बज उठतीं, न जाने कितने कंठ ज़ोर-ज़ोर से कुछ पुकार-पुकार उठते , न जाने कितने गिरते-पड़ते और फिर उठते रहते, कितने एक दूसरे को धरते-पकड़ते और अँकवारते रहते हैं। उनके मन के भीतर जो उच्छल उमंग थी, वही बाहर भी थी।

"जेइ के डुंबर डुंबर हे
जेइ के लेंबर लेंबर हे
जेमुनि बिरिंगा बाड़ारे हे
जेमुनि मेहेणा हारारे हे
संगर गोड़िति लोकानि हे
बंदर पाणिति लोकानि हे———"

धीरे-धीरे हो-हुल्लड़ समाप्त हुआ । आनंद के कलरवों से सभी क्लांत हो उठे। अब इस आनंद पर यवनिका-पात के रूप में बूढ़ों का गीत शुरू होगा। ध्वस्त हो रही कंध-संस्कृति में अभिनय की चातुरी अब भी ज्यों-की-त्यों है । लोग जानते हैं, बढ़ते हैं, ब्याहते हैं, सब करते हैं, पर उसके बाद ? उसके बाद बुढ़ापा आता है ! इस ब्याह के बहाने बूढ़ों को भी कुछ कहने का अवसर मिलता है। बूढ़ों के गीत दुःख के गीत ही सही, उनका भी एक संदेश है।

सभी बूढ़े जमा हुए। झूम-झूम कर गाने लगे 'बूढ़ों के कौतुक' का गीत—

"जीवन मन्ने मालऽ
पाराणा मन्ने मालऽ
इँबिरे सोड़ागा मालऽ
इँबिरे बेड़ेका मालऽ———"

("जीवन है तभी तो,
प्राण हैं तभी तो,
इतना आनंद हुआ

इतना रसरंग हुआ।")

पर इससे होता क्या है ? दिन यों ही लद जाएँगे। कुटरे में माँस कितना, बूढ़े का नाच कितना ? नाच जल्द ही समाप्त हो गया। संसार में सुख कम है, दुख अधिक है। जब तक यह देह है और इस देह में डुमा है, तब तक आनंद में दिन काट देना ही अच्छा है :—

"बुँड़रे नाटॅ डॅ ड़ें का
कोटरे मांसॅ कोंड़े का
इँबिरे मोबि पुरू ता
काकुलि गाटा कोने ता
कोक्कोरि बेड़ा काकू ली
कुमांड़ा कुबा काकू ली
बाउँशि बुली मोरे मा
परजा बुली म'रे मा
बितिरे महऽ कना ता
काकुली गोटा जाड़ा ता
टोटोता बरेंऽ असां हां
त्रायुँता कॉलि असां हां!" [1]

१ "बूढ़े का नाच थोड़ी देर
कुटरे का माँस पाव सेर
मरण-पुरी जगत है
दुख की न इति, न अथ है
बालपने से नर दुखी
बथुआ साग कब सुखी ?
हिल-हिल कर बाँस मरे
टूटा लोहा धूर भरे
दुखिया वन-वन फिरे
सिर पै टोकरी धरे, काँधे कुदाली धरे,
कंध की गिरस्ती क्या, दुखिया की मस्ती क्या ?"

अतीत के किसी ध्वंस, किसी निपात के इतिहास से रूठ कर यह करुण गीत इस मंगल-घड़ी में क्यों गाया गया ? चारण की तरह सुख में दुख की और दुख में सुख की याद दिलाते रहना क्या कोई ज़रूरी है ? आज के कंध के पास इसका कोई जवाब नहीं है। वह तो बस इसीलिए गाता है कि उसके बाप-दादे भी इसी तरह गाते रहे हैं। प्राचीनता के आगे सिर नवाकर वह गौरव का बोध करता है। संस्कृति उसे अपने जीवन से भी बड़ी लगती है। जीवन तो एक आदमी का होता है, व्यक्ति का होता है, पर संस्कृति लाखों जीवनों का इतिहास होती है। कंध अपनी गोष्ठी का इकाई भर होता है। उसकी गठन के पीछे एक पूरी जाति का गोष्ठीगत चरित्र होता है। पहले वह चरित्र आता है, फिर और कुछ।

इस तरह नाचते-गाते पूरी धूप पीठ से उतर गई। उधर कर्त्ता-कर्मी भोज के आयोजन में लग पड़े। बैल मारकर उसका माँस पकने को चढ़ा दिया गया। छाँह-लौटान की बेर होते-न-होते लोग कौओं-गीधों की तरह पाँत बाँध-बाँध कर भोज खाने बैठ गए। उसके बाद दारू के दौर चले। जिसने जितनी चाही, पी। साँझ की पवन में दारू की उत्कट गंध गाँव से निकल कर चारों ओर फिरने लगी। गाँव के बाहर यह गंध ही ब्याह की सूचना देती है। दिउड़ घोर नींद में अचेत पड़ा रहा। उसके संगी-साथी गाँव के चक्कर लगाने निकल पड़े। रात को अभी और भोज होगा, बासी भोज। रात को अभी और नाच होगा, बासी नाच।

बेशू कंध घूम-फिर कर सब-कहीं देख सुन आया। आज पुबुली के साथ भेंट होना असंभव है। आज तो वह गाँव की नई बहू है। जहाँ देखो वहीं वह न जाने कितनी परत स्त्रियों के बीच में घिरी-लिपटी-सी है। आज उसे न जाने कितने प्रकार से सजाया जा रहा है, न जाने कितने प्रकार के सुस्वादु व्यंजन खिलाए जा रहे हैं। उसे लाख सजा लेने, लाख खिला लेने पर भी आज गाँववालियों का मन भरने का नाम नहीं लेता। आज उसे घर-घर घुमाया जायगा। आज घर-घर से उसे उपहार मिलेंगे। कहीं

रंग-बिरंगे कपड़े मिलेंगे, तो कहीं काच के रंग-बिरंगे हार। आज उसे पाने से ही छुट्टी नहीं मिलेगी।

बेशू कंध ने मन-ही-मन निश्चय किया कि आज कोई नई बात जरूर करनी चाहिए । ऐसी कि कोई जान भी न पाए और अपना काम भी सिद्ध हो।

उस समय साँझ डूबी आ रही थी। पहाड़ की चोटी पर आसमान में धारी-धारी सिंदूरी रेखें खिंची थीं। बेशू ने आग का पूला लिया, टाँगिया और नली कँधिया ली और जंगल में पैठ गया। पेड़ों के झुरमुटों में अँधेरा झुटपुटा रहा था । खातों-खड्डों के भीतर काजल-काली स्याही बह रही थी। जंगल के ऊपर रात मंद-चरण उतरी आ रही थी।

यही वह बेर है, जब बाघ निकलते हैं, जब पुरखे-पितर गश्त लगाते हैं।

बेशू ने पैरों में मुंदी-फांस डाल ली और सीधी चढ़ान वाले पहाड़ पर जा रहा। कुछ देर वहाँ रह कर फिर उसी तरह झटपट उतर आया।

रात हुई। साँझ का सिंदूर आज बुझने का नाम ही नहीं ले रहा था। सभी ने देखा, चकित हो-होकर देखा, गाँव के उस पार की ऊँचाइयों पर, खड़ी चढ़ान वाला पहाड़ धू-धू करके जल रहा था।

बूढ़े डिसारी ने बेशू का कंधा थपथपाते हुए कहा—"देख, देख, तेरा ब्याह सुखी होगा, कितने बड़े भाग्यवाला है तू भी। वह देख, देवता संकेत कर रहे हैं।"

बेशू उधर ही टकटकी बाँधे निहारता रहा।

अड़सठ

पांच मास। म्याका हाकिना बढ़ रहा था, बड़ा हो रहा था।

पाँचवें महीने ने उसे एक नई कला सिखलाई थी। वह कला थी कंध-छौने की सरल-सुंदर निश्छल हँसी हँसने की कला। उस हँसी में पत्थर फांदने वाले झरने की छवि होती है, पठारी देश की चहुँओर से खुली ऊँघती-ऊँघती लहरियादार धरती की परस होती है। हाकिना आँखें मटकाता है, मुँह सिकोड़ता है। यह कंध हँसी है, खाँटी कंध हँसी। बावली हवा के लाए दुखों-दुर्दिनों की हँसी उड़ाता-सा जन्मांतरवादी आशामय कंध सदा मुँह बिचका-बिचका कर ही हँसा करता है।

हाकिना हँसता है। उसकी माँ सोचती है—"कितनी सुंदर हँसी है यह।"

पाँचवें महीने में ही म्याका हाकिना ने मुठियाना भी सीख लिया था। हाथ के पास जो भी मिल गया, उसे मुट्ठियों में पकड़-जकड़ लिया। इसमें वह कोई चुन-चुनाव नहीं करता। अच्छे बुरे का भेद नहीं करता, लाभालाभ का संतोष या अफ़सोस नहीं करता। बस मुट्ठी बाँध लेता है और तृप्ति से आँखें दौंक उठती हैं। कभी माँ के फर-फर उड़ते, रूखे, डोमनी के-से बालों की चोटी के लच्छे पकड़ लेता है, तो कभी उसके बोझ-के-बोझ मैले हारों की लड़ियाँ। जितनी भी एक साथ मुट्ठी में आ जायँ। और कुछ न हुआ, तो माँ के थनों को ही बकोटने लगता है। हाथ चिपट जाते हैं। देखते-देखते हाकिना के मुँह से लार टपकने लगती है और हँसी फूट पड़ती है।

पाँच महीने में उसने अपना भावी लीलाक्षेत्र पहचान लिया था। बैसाख की इस चिलचिलाती धूप में जब लू की लपटें चुपके-चुपके छिपे-छिपे अपनी हलकी सूखी जीभ बढ़ाकर इस पहाड़ी देश की वनश्री चाट ले जाती हैं, हरियावल की सुषमा सोख ले जाती हैं, उस समय हाकिना अपनी माँ की छाती से बँधा इस नदीसोख धूप में गाँव से खेत और खेत से जंगल तक के फेरे लगाता रहता है। जिधर भी जाता है, वही जाना-पहचाना

दृश्य मिलता है। जिधर भी जाता है, वही जानी-पहचानी सूरत साथ होती है। सब की छाती से माँ के दूध के उस जोड़े की तरह हाकिना का भोजन लटकता रहता है। जाने ये सब सूरतें उस भोजन को कहाँ-कहाँ ढोती फिरती हैं। उन जोड़ों की ओर मुँह बाए ताकते रहना हाकिना को बहुत ही अच्छा लगता है। इन लोगों के हाथों में भी पीतल के कड़े होते हैं, गलों में काच के हार होते हैं। ये सभी माँ की जाति के ही जीव जान पड़ते हैं। पर ना, वे माँ से कहीं उन्नीस पड़ते हैं। लाख हो, फिर भी माँ की बराबरी कोई कर सकता है भला? जब-जब वे हाथ बढ़ाते हैं, हाकिना माँ की छाती से चिपट जाता है, हँसता-हँसता माँ की छाती में मुँह छिपाकर दूध पीता है, और एक आँख की कनखियों से उन्हें भी देखता रहता है। माँ उसका घर ठहरी। इसी के भीतर से खड़ा होकर वह दुनिया को अँगूठा दिखाता है। उसके हावभाव का अभिप्राय कुछ-कुछ ऐसा ही लगता है।

कुछ और हैं, जिनकी जाति न्यारी है। इन्हें विधाता ने सखुए से लिपटी पुरानी गुडूचीबेल[1] की-सी ऐंठी-ऐंठी गढ़न दी है। ये बड़े कर्कश होते हैं। इन के मुँह में वही काला-काला-सा लंबा-लंबा "पिका" ठुँसा होता है। धुआँ निकलता रहता है। पास आकर वे बड़ी-बड़ी दुस्साहसी आँखों से निहारने लगते हैं। इनकी बरौनियाँ कठिन, झुरमुटी और झमाटदार होती हैं। इनकी सारी देह रोएँ से भरी होती है। पत्थर की फाटों से चमाचम बहते पानी की तरह इनका पसीना अविराम चूता रहता है। रीछनुमा छातियों पर पसीने की बूँदें कुछ ऐसी लगती हैं, मानो भोर के पहर मँडुए के खेतों पर ओस की बूँदें छाई हों। वे अपने मुँह पास लाते हैं, तो उनमें सदा एक विशेष प्रकार की गंध रहती है। हाकिना की साँस रुँधने लगती है, नाक बंद होने लगती है। धुँगिया के धुएँ से खाँसी के दौरे आने लगते हैं। हाकिना माँ को चिपट कर पकड़ लेता है। तो क्या ये सचमुच माँ को लेने आए हैं? माँ ही तो दुनिया में उसकी एकमात्र संपत्ति है। उसी को ये ले गए तब तो हुआ!

---

१ गुरुच।

हाकिना उन लोगों को संदेह और भय की दृष्टि से देखता है। उन्हें कभी प्यार नहीं कर सकता वह!

बैसाख की उस कड़ी धूप में लोग छोटे-छोटे बैल जोते खेतों में हल चला रहे थे। पहाड़ के ऊपर तक के खेतों में भी जुताई लगी हुई थी। पर वहाँ हल नहीं चलते। वहाँ जुताई के नाम पर गुड़ाई-ही-गुड़ाई होती है। लोग चुन-चुन कर पौधे उखाड़ते फिर रहे हैं। जंगल में जहाँ-तहाँ कुल्हाड़ियों की ठाँय-ठाँय सुनाई पड़ती है। गहरे 'बेढ़ों'[1] के भीतर से 'ढीपों'[2] तक पहाड़ की पूरी ढलान पर लोग भरे हैं। चोटी तक जहाँ भी दृष्टि जाती है, हर कहीं लोग-ही-लोग हैं। नीचे से देखने पर लोग जितने ही ऊपर होते हैं, उतने ही छोटे लगते हैं। ऊँचाई के बढ़ने के साथ-साथ ऊँचाई पर काम कर रहे लोगों का आकार घटता जाता-सा लगता है। यहाँ तक कि चोटी के पास के लोग मात्र काँटों-जैसे जान पड़ते हैं। हाकिना का जी चाहता है कि वह उन लोगों के साथ खेलता। उनमें से एक-एक को बीचोबीच से पकड़-पकड़ लेता और एक-एक करके मुँह में डालता जाता। उसे बहुत सारी बातों का ध्यान होता है, बहुत कुछ करने को जी चाहता है। उसे बात-बात पर अचंभा लगता है; पर उसकी बातों पर उसकी माँ के सिवा और किसी को कोई अचंभा नहीं होता। औरों की दृष्टि में तो वह पाँच महीने का एक छौना मात्र है।

दुनिया में या तो वह है, या उसकी माँ। बस दो ही! बाप का प्यार क्या होता है, सो तो वह जानता ही नहीं। और उसी बाप के नाम की नींव पर उसे अपनी इमारत खड़ी करनी होगी। क्या मखौल है! बाप से उसे कोई प्यार नहीं, कोई लगाव नहीं। बाप को देखते ही उसका जी चाहता है कि माँ को और दृढ़ता के साथ पकड़ कर अटका रखे, जिससे कि माँ कहीं और जाने न पाए, जिससे कि कोई उसे अपनी माँ से छुड़ाने न पाए।

१ खातों-खड्डों की जमीन, जिसे फट्ठों की चटाइयों से गोलाकार घेरे रखते हैं।—अनु०

२ ऊँचे भीठ खेतों।

पर उस बाप की छाया जब-तब इधर-से-उधर और उधर-से-इधर होती ही रहती है। उसके मुँह की ओर देखते ही खामखाह एक अनजाना-सा भय लगने लगता है। जिस दिन वह आता है, वह दिन कभी शांति से कट नहीं पाता। वह आता है तो डर लगता है। वह जानबूझकर डराता भी है। बक-झक कर चला जाता है। हाकिना टुकुर-टुकुर माँ का मुँह निहारने लगता है। देखता है, माँ के मुँह की रंगत कुछ बदली-बदली-सी है, कुछ और-की-और ही-सी हो गई है। ऐसी कि जिसे देखना तनिक भी अच्छा नहीं लगता। फिर वह विपदा टल जाती है।—लोग जिसे बाप कहते हैं, वह बला भी कुछ देर बाद कहीं चली जाती है। किसकी मजाल है जो हाकिना से उसकी माँ को छुड़ा ले जाय। हाकिना खुशी के मारे मूत-मूत भरता है। प्रशंसा पाने के लिए वह अपना मुँह माँ के मुँह के पास सटा ले जाता है। माँ ही उसकी सरबस है!

जिस समय मन शांत होता है, जिस समय कोई उद्योग नहीं होता, कोई अभाव नहीं होता, उस समय बाहर की दुनिया निहारा करना हाकिना को बहुत सुहाता है। उस समय उसके मन के सभी द्वार खुल जाते हैं। उन सभी द्वारों की राह बाहर के प्रकाश की सारी रंगा-रंगी, सारे हेर-फेर, प्रकृति की सारी सुघराई, धूप,धूल, पवन आदि सब कुछ उसके भीतर पैठने लगता है। माँ के दूध की तरह ये सारी चीजें भी उसके प्रिय खाद्य हैं; पर यह सब अनजाने ही होता रहता है। हाकिना अनजाने ही इन खाद्यों को आप-ही-आप ग्रहण करता रहता है, और बढ़ता रहता है। अनजाने ही न जाने कितनी धारणाएँ आ-आकर उसके बढ़ते मन में डेरे जमा-जमा लेती हैं। ये ही धारणाएँ आगे के जीवन के लिए उसका संबल होंगी। हाकिना बढ़ रहा है।

उनहत्तर

दिउड़ सांवता घर लौट आया था।

उसी भिनसारे मुरगों की बाँग की बेर उठकर वह भाग आया था। वैसे तो यह बेर वैसे भी कंध की यात्रा-घड़ी होती है; पर दिउड़ को ऐसा लगा था, मानो पीछे से कोई बारंबार ठेल रहा हो। आदमी सारा जीवन चलता ही तो रहता है; पर कुछ घड़ियाँ ऐसी होती हैं इस चलने में, जिनकी यादें मन के भीतर सँजोयी-सी रह जाती हैं। दिउड़ सांवता को कुछ ऐसी ही यादें सता रही थीं। पुबुली का ब्याह हो लिया। अब वह अपनी कोई न रही। आगे सैयाँ तो पीछे भैया! पुबुली अपने ही सुख की सोचती रही। इन कुछेक दिनों में ही उसने इतने दिनों के रक्त-संबंधों के खिचाव को भुला दिया। फिर ऐसे गाँव में मुझ दिउड़ का अब क्या काम है? कोई नहीं, कोई नहीं! दारू का नशा उतर गया। नींद का नशा भी उतर गया। नींद भिनसारे ही खुल गई। नींद खुलते ही दिउड़ सोचने लगा कि हाँ, अरे सच ही तो! अब क्या काम है? अपना दलबल लेकर वह लौट पड़ा। बड़ी दूर निकल जाने पर, कई घाटियाँ पार कर लेने पर, पहाड़ के ऊपर पसीना सुखाने बैठा। अब कहीं उसे ध्यान आया कि धूप फैल चुकी है। पहाड़ उजले, नीले और बैंगनी रंगों में चमक उठे हैं। पीछे के पहाड़ों ने मिङ्कटिङ गाँव को अपनी ओट में कर लिया है।

मिङ्कटिङ!—पुबुली की ससुराल!—दिउड़ को उस गाँव से घिन आती है।

उसी मिङ्कटिङ से वह पुयू को लाया था। उसकी सारी विपदाओं, सारी मानहानियों का कारण यह मिङ्कटिङ ही है। —"पर क्यों भला? किसी जन्मांतर में बाघ बन कर मैंने इस गाँव का सत्यानाश तो नहीं किया था कहीं? क्या बिगाड़ा था इस गाँव का, कि यह गाँव मेरा काल बन गया? दिउड़ सांवता नथने फुला-फुलाकर और आँखें लाल-लाल किए उधर ही

टकटकी बाँधे रहा। कुछ देर यों ही ताकते रहने के बाद मुट्ठी तानकर बड़े ऊँचे स्वर में गरजा—"मिङटिङ—हेइ मिङटिङ !" जा ! मिङटिङ है तो रहे। अपना क्या ? अपना तो अब वहाँ कोई है ही नहीं। जिसे वहाँ जाना है वह जाय, उससे अपना क्या आता-जाता है ? अत्यन्त घृणा और अपमान के भाव से उसने उस ओर पीठ फेर दी। इससे मन को कुछ ऐसा लगा, मानो कोई भारी बोझ उतार फेंका हो।

दिउड़् सांवता लौट आया था।

अब फिर वही अपना गाँव है और वही अपना घरबार। पर घरबार घरबार-सा नहीं लगता। लगता है, मानो घर की छान की बातियाँ टूटे घर मे काँटों की तरह निकली आ रही हों। मानो ये काँटे उसी को खरोंच-खरोंच कर भोंकने को आतुर हो रही हों। मानो घर लौटने पर यही उसकी पूछ-परिछन हो, यही उसकी अभ्यर्थना हो ! सिर के भीतर बिल्कुल सूना-सूना-सा एक फाँका रीतापन महसूस हो रहा था। यहाँ अपना कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं। मानो सब ने यहाँ मुझी को जला मारने की साँठगाँठ कर रखी हो। ना :, यहाँ शांति नहीं मिलने की !

सच तो यह था कि खुद उसके अपने ही मन में अशांति का कीड़ा पैठ चुका था। इसीलिए जी उचाट-उचाट-सा लग रहा था।

पुयू ओसारे के मुँह पर खड़ी थी। बगल में बेटे को काँखियाए हुई। देख, देख रे बेटा, कौन आया है ? देख देख ! यह देख, यह देख, रो मत, रो मत।"

ओसारे के आगे पत्थर के ऊपर बैठा लंजू काका घुँगिया पी रहा था। उसके पैरों के पास दसरू कुत्ता पड़ा था।

पुयू ने हँस-हँस कर पूछा—"कैसे-कैसे हुआ ? ब्याह हो लिया ? पुबुली क्या कह रही थी ?"

लंजू काका मुँह बाकर हँस उठा। बड़े-बड़े कत्थई दाँतों में उलझी उसकी हँसी बड़ी ही विकट और विद्रूप लग रही थी—"कहते क्यों नहीं ?

कुछ बताते क्यों नहीं ? भोज-भात सारा का सारा अकेले-अकेले खा-पी आए, अब हम से दो शब्द बता तक नहीं सकते ? "

फिर तो जाने कहाँ का ढेला कहाँ जा लगा। मन के कीड़े दिउड़ू के सिर के भीतर पहुँच कर खदबदाने लगे। पुयू का चेहरा जाने कैसा तो लंबा-लंबा और बचकाना-सा दिखाई पड़ने लगा। उसकी गरदन मानो पुकार-पुकार कर कहने लगी—'आ मुझे दबा डाल, आ मुझे तोड़ डाल, तेरे हाथों को बड़ी नरम लगूँगी।' दिउड़ू आपा भूल गया। रोष में बावला हुआ न जाने क्या-से-क्या हो गया होता ; पर बीच में लेंजू काका आ गया और दिउड़ू को धीरे से ठेलता हुआ बोला—"नशेबाज मतवाला कहीं का, नशा झाड़ने को और कहीं ठौर नहीं मिला, जो अपनी घरनी पर उतारने चला है ! "

पुयू गड़ी कील-सी जस-की-तस खड़ी रही। उसका चेहरा फ़क पड़ गया था। कोई प्यारी चीज़ ऐसी थी, जिसे उसने बड़े जतन से सँजो रखा था ; पर कोई आया और लात मार कर उसे मिट्टी में मिला गया। सूखे देश के ऊसर खेत में न जाने, कितने कष्टों से उसने एक अंकुर उगाया था। सो वही फिर मुरझाकर ऐंठ गया और उजाड़ फिर ज्यों-का-त्यों उजाड़ हो गया। दिउड़ू दनदनाता किसी ओर को चला गया। लेंजू काका भी गालियाँ बकता और आलोचना बुदबुदाता एक ओर टल गया। पुयू उसी तरह जहाँ-की-तहाँ खड़ी-खड़ी शून्य को घूरती रही। उसी शून्य में उसका अधजला वीरान है, जिसका एक-एक तिनका सूख चुका है, एक-एक ! इस तरह अब और कितने दिन निभ सकेंगे ? क्या बात है कि अपने स्वामी को मैं फूटी आँखों भी नहीं सुहाती ? उसके वे लाड़-दुलार, वे आदर-मान कहाँ गए ? किसी ने उसे जादू-टोना तो नहीं कर दिया है ? गाँव के लोग जंगल गए हैं, काठ-पात लाने। सवेरे-सवेरे की सारी भीड़-भाड़ कहीं बिला चुकी है। गाँव सुनसान पड़ा है। पुयू लौटकर ओटे पर आ बैठी। आँखों से झर-झर आँसू बह चले। उसे अपनी उलझनों का कोई छोर नहीं मिल सका।

दिउड़ू दारू पी-पीकर किसी का पीछा करने गया होगा। फिर कोई-

न-कोई गोलमाल जरूर कर बैठेगा। लेंजू काका भी घर से बाहर निकल गए। जहाँ एक होता, वहाँ अब ये दो होंगे। हाकिना मुँह लगाकर अपना खाद्य-भंडार चूस रहा है। कौन किसकी सुनता है, कौन किसकी बूझता है? पुयू रोए जा रही थी। उसके मन में लहरों के ताल-ताल पर बस एक ही टेक घुमड़ रही है—क्यों? क्यों? किसलिए? किसलिए? तले दरतनी है, ऊपर दरमू है। दोनों के बीच इस संसार में इतने जीव-जंतुओं का वास है, सब तो हैं, सब घर-गिरस्ती चला रहे हैं; पर मैं ही अकेली क्यों बारंबार यह विडंबना भुगत रही हूँ? क्यों? क्यों? किसलिए? किसलिए?

उल्झन का सुलझाव रह-रह कर भीतर से उमँड़ता हुआ सिर तक उठ-उठ आता है। यह सुलझाव वह नहीं है, जो मैदानियों का होता है। आत्महत्या की बात तो कंध की समझ में उतर ही नहीं सकती। उसकी राह कोई और होती है। पुयू की आँखों में कोई आग बारंबार बल-बल उठती है और फिर बुझ-बुझ जाती है। मुँह पर कोई कठोरता धारदार हो-हो कर उभरती है और फिर पिघलकर आँसू बन-बन जाती है। मन बार-बार पिछड़ जाता है। कहता है—"ना :, ना :, तू अबला है, असहाय अबला है।"

नहीं, यह उसकी रीत नहीं हो सकती। जीवन से डरकर सीधी-सपाट तिरछी कटान वाली राह में मुक्ति खोजना उसकी रीत नहीं है। वह दिउड़ु से अलग हो लेगी, बस! अलग होने की बात सोचते समय उसके हाथ हाकिना की पीठ सहलाते रहते हैं। और फिर सारी प्रतिज्ञा भाप बन कर सिर्फ़ लंबी-लंबी उसाँसों में उड़ जाती है।

माँस का यह नन्हा-सा लोथड़ा ही आधार है। धीरे-धीरे यह बढ़ रहा है। बढ़ते-बढ़ते एक दिन यह भी पूरा आदमी बन रहेगा। फिर इसका भी अपना घर-बार होगा, अपनी गिरस्ती होगी। कोई किसी के साथ बँधा-छँदा तो है नहीं, हर किसी का अपना-अपना जीवन उसकी अपनी-अपनी निजी संपत्ति होता है; पर इस मांसपिंड का क्या होगा? इसे कलेजे से चिपका लेने पर मन में सपने चुपड़ रहे हैं, अतीत के सुख-दुख की गिरस्ती

की न जाने कैसी-कैसी परस इसे सहला रही है। हवा में उड़ते जलकणों की तरह वहाँ घर-बार की भीनी यादें मँडला रही हैं ; पर वह घर? वह घर तो आज टूटा जा रहा है, धँसा जा रहा है ! घर टूट रहा है; पर हाकिना चेताए दे रहा है कि घर था ही नहीं, है भी ! निराले में बैठी पुयू जब-जब यह सोचने लगती है कि मेरा दोष क्या है, तब-तब उसे यही लगता है कि मेरा कोई दोष नहीं, दिउड़ ही बदल गया है ; पर जब-जब वह जाने की सोचती है, तब-तब मन काँप-काँप उठता है। वह देखती है कि स्नेह का भांडार अभी भी पूरा चुक नहीं पाया है। वह सुनती है कि हवा में अब भी स्वस्ति की झंकार है। छाती-तले का सुख, अँगीठी के पास का आराम, पिटी लीक पर बँधी गति से चलने में तलवों की गुदगुदी—ये ऐसी चीजें हैं जिनका मोह छुड़ाए नहीं छूटता। जानी-पहचानी राह है यहाँ, यहाँ के हर खड्ड-खात, हर डुँगरी-टेकरी जानी-पहचानी है। अनजानी राह कौन जाने कैसा हो !

ना, पुयू सोचती तो है; पर रहती जहाँ-की-तहाँ है।

जस-की-तस उन बड़ी-बड़ी डबडबाई आँखों से सूने आसमान को निहारती रहती है और बेटे को सहलाती रहती है।

दुर्बल मनुष्य अपनी बेड़ियों में पाँव डाले बैठा आस लगाए रहता है कि कुछ-न-कुछ हो जायगा, घबरायँ क्या ! सोचता रहता है कि कोई न-कोई ऐसी घटना जरूर घट जायगी, जिससे आस पुज लेगी, सपने साकार हो लेंगे। कोई घटना घटेगी जरूर। कोई ऐसी, जिसे सोच पाना अभी अपने बूते के बाहर है। कोई ऐसी, जो तर्कों की दुनिया से बाहर होगी, जो नित-दिन के कार्य-कारण के मोल-तोल वाली जानी-पहचानी कसौटी को नहीं मानेगी। जिससे मूक वाचाल होंगे, रंक राव होंगे, पंगु गहन गिरिवर चढ़ेंगे, रोगी भीम होंगे, दिन की छाँहें उलट कर बढ़ेंगी !

पर ऐसी कोई घटना कभी घटती नहीं दिखती। चलते-चलते गाड़ी टूट कर बैठ जाती है और जब तक बदल न दो, जस-की-तस पड़ी रहती है। दिन-पर-दिन उसमें और-और जंग लगता रहता है। गाद का मैल

किसी काम नहीं आता। दिन-पर-दिन जीवन का रस रिस-रिसकर सूखता जाता है और मटका रीता पड़ता जाता है। भरने की आस लगाए बैठे रहो; पर फिर भरने का नाम वह हरगिज नहीं लेता।

अद्भुत संभावनाओं की बाट जोहती कानी बुढ़िया[1] आप ही हँसती आप ही रोती हुई मन के लड्डू खाती रहती है; पर जिस दिन की आस लगाए वह बैठी रहती है, वह कभी नहीं आता, कभी नहीं आता।

दिउड़ सोचता है—चलो छुट्टी कर लें। पुयू सोचती है—एक दिन सब ठीक हो रहेगा। सोनादेई अपने नामर्द स्वामी बाळमुंडा को तक-तक कर लंबी उसाँसें भरती है और सोचती है कि एक-न-एक दिन मेरे सपनों का पुरुष आएगा ही! फिर तो यह फटा कपाल जुड़ जायगा। अपनी भिंडी भी सोने की[2] फलेगी! लेंजू कंध गिरस्ती बसाने के सपने देखता है। दिन पानी की तरह बहे जाते हैं! अघटन घटना घटने का नाम नहीं लेती। मिट्टी गोड़-गोड़ कर किसान बूढ़ा हो जाता है और उसी मिट्टी में मिल जाता है। हल का बैल घावों से मरियल होकर भी दो सूखी हड्डियों पर जुआ खींचे जाता है। खींचते-खींचते एक दिन सिरावर पर ही सो रहता है और फिर उठने का नाम नहीं लेता। संसार!... यही संसार है! सभी कल्पनाओं-जल्पनाओं की खिल्लियाँ उड़ाता डिसारी पांडम कंध रोज की तरह आज भी अपने घर के आगे चट्टान के ऊपर बैठा तारे गिन-गिन कर "योग" के हिसाब लगा रहा है। बेचारा सोचता है कि मैंने तो जान लिया, जान लिया, सब जान लिया, कार्य-कारण का भेद जान लिया, 'योग' और घटना का सम्बन्ध जान लिया। बेचारा सोचता है कि मैं सब कुछ जानता हूँ, मैं; और बाकी जितने हैं, सब मूर्ख हैं।

---

१ लोक-कथाओं की उस कानी बुढ़िया ठगनी की ओर संकेत है, जिसने आशाओं के हवाई महल बनाते-बनाते सुख की सारी संभावनाओं को बुनियाद को ही लात मारकर चूर कर डाला था।—अनु०

२ लेखक ने यहाँ दुर्भाग्य व्यक्त करनेवाली कहावत, "मेरा सोना भी भिंडी हो जायगा" को उलट कर प्रयुक्त किया है।—अनु०

सत्तर

ऊदी-ऊदी धूप उगी थी। हवा में संतरे के फूलों की गंध तिरी आ रही थी। चारों ओर ऊँघी-ऊँघी-सी अलसाहट छाई थी। उसी शांत अलस तंद्रा में कटहल के पेड़ों पर ढेंकिया फल झूल रहे थे। आम अधपके हो चले थे। पेड़ों से महँमहँ आने लगी है। खेतों में मजूरिया खेतिहर पिले पड़े हैं। पपड़ियाँ तोड़ने को हल चलाए जा रहे हैं। दूर-दूर से 'पोड़ू' खेतों का धुआँ आ रहा है।

लेंजू कंध का जी काम में नहीं लग रहा था। किसके लिए कमाए? कौन है अपना?

कुंजों की छाँह में वह दिउड़ू के खेतों को निहारता रहा। दिउड़ू काम में लोट रहा है। पसीना गड़गड़ बहा जा रहा है। मुँह सूख कर काँटा हो गया है। अभी भी बोझ भर काम बाकी है। धुपेली दुपहरी की छाँह तले की शांति में वन-चिड़ियों की चहक जब लेंजू काका को जवानी की परस दे जाती है, तो वह भी धुंगिया के धुएँ पर एक प्रसन्न हँसी बिछा देते हैं और बेचैन दिउड़ू की ओर एक बार झाँक कर फिर निर्विकार बैठ रहते हैं। कौपीन उनने भी तो पहन रखी है, वह भी मस्तराम बाबाजी ही हैं!

अपने पुराने काम और पुराने खेत को देखता हुआ वह यह सोच-सोच कर और भी मन-ही-मन हँसता है कि अच्छा हुआ, दिउड़ू अपनी करनी की भरनी पा रहा है। भाई के इस बेटे को अपना जानकर इतने कष्टों से, युग-युग इतना खट-खट कर अकातर सहायता करता आया; पर इस दिउड़ू ने उसका रत्ती भर एहसान तक नहीं जताया। इसीलिए अब मैंने भी हाथ खींच लिए हैं! अब दिउड़ू खटे, मैं बैठा खाऊँगा। अब मैं भी दिउड़ू का दाँव जानकर चेत गया हूँ! दिउड़ू ने मुँह खोला नहीं कि मैं आँखें लाल-पीली करके गुर्रा उठूँगा, काट खाने को झपट पड़ूँगा।

दिउड़ू रूठता है तो रूठे। बोल-चाल बन्द करता है, तो करे। अच्छा ही है यह भी। उसका मान-गुमान उसी को फले। मेरा, यानी लेंजू काका का, काम तो अब केवल हँसना ही है।

दिउड़ू की असुविधाओं की बात सोच-सोच कर जी ठंडा हो रहा था। अच्छा लग रहा था। अपने हाथों गढ़ी चीज को तोड़ देने-जैसा मजा आ रहा था। कौन आ रहा है ? पांडरू डिसारी तो नहीं ? हाँ, वही है !

"निठल्ले बैठे हो लेंजू भाई ?"

"बैठूँ नहीं, तो क्या नाचूँ ?"

"ठीक-ठीक ! हाँ भाई, जिसे सुविधा मिली है, वह बैठे क्यों नहीं ? तेरे तो ऐसा धुरंधर पूत मिला है कि अकेला ही सब सँभाल ले, तभी तो ! 'टोके[1] खटें, बूढ़े बैठें', यही गुर है ना ?"

पांडरू डिसारी रातों को तारे गिनता है और दिन को खेती करता है।

लेंजू ने मुँह मोड़ लिया। लोग खेतों पर झुके पड़े हैं। काम के साथ-साथ गपशप भी चल रही है, गीत भी गाए जा रहे हैं। दिउड़ू मुँह पथराए खेत में बिधा जा रहा है। गोड़े जा रहा है। कहीं और ध्यान नहीं उसका। अकेला ! जब-जब उसकी ओर देखो, तब तब उचाट-ही-उचाट लगती है। लेंजू कंध ने सोचा, जब तक चलता है, चलता चले, फिर तो अलग होना ही है ! अलगौझे की सोचने पर जी को शांति मिलती है, आँखें सपने देखने को अधमुँदी हो-हो आती हैं। अलग हो लूँगा ! अपना घर होगा, अपने खेत होंगे ! शायद अपनी कोई घरनी तक हो। अपनी भी संतान होगी, नन्हे-मुन्नों से घर-आँगन भरा-पूरा होगा। 'बापा' कह-कह कर बुलाने वाले होंगे ! मन भीतर से उमँग उठा, हाँ, 'बापा' कहलाऊँगा ! कोई बूढ़ा थोड़े हूँ। अभी तो जवान हूँ, अभी बहुत सारी आयु यों ही पड़ी है।—

---

१ युवक।

आँखें खुल गईं। धूप ढल गई। धूप के तेज में जैसे हलदी घुल गई। पहाड़ों की चोटियों पर गाढ़ी नीलिमा छा गई। फिर भी बेर अभी बाकी थी। लेंजू कंध ने आँखें खोल कर देखा कि वह पेड़ तले ज्यों-का-त्यों बैठा है और खेतों में अब भी काम जस-का-तस लगा है। कहीं कुछ भी नहीं बदला। हलकी खुनकी उतरी आ रही है। इससे रात की चिन्ता हो आई। उदासी लगने लगी।

ना, सब झूठ है, सब खोखला है। कहीं कोई सार नहीं। दिन गिनते-गिनते जीवन कतरा कर भागा जा रहा है। रेखें भर छोड़ता जा रहा है। नया कुछ भी नहीं होता। अजूबा कोई भी नहीं होता। लेंजू जहाँ-का-तहाँ है। उसके रूठने-फूलने से, खीजने-खिसियाने से किसी का कुछ नहीं बिगड़ता। वह न भी हो तो उसका अभाव किसी को खलेगा कभी नहीं। वह केवल तमाशबीन भर है। "नहीं, सो भी नहीं... कोई नहीं, कोई नहीं, मैं कोई भी नहीं...."

जांबा कंध का खेत पास ही है। बूढ़ा जांबा तक हल चला रहा है। 'किधर चले लेंजू भाई? ठहरो, ठहरो, जरा धुँगिया तो पीते जाओ।' जांबा कंध ने दिउड़ू की चर्चा छेड़ी। दिउड़ू से वह डरता है। इसीलिए पीठ पीछे उसकी आलोचना करता है। "सुनते हैं तोयापुट के पास सड़क बनेगी। समझे लेंजू भाई? सड़क बनते ही ढेर-के-ढेर अधिकारी आने लगेंगे। ना ना, कोई झूठ नहीं है यह! हाट में बात पड़ी थी। हर ओर यही चर्चा थी।" इस चर्चा में भी दिउड़ू के आगामी दुर्भाग्य की ओर संकेत था! इतने अधिकारी आएँगे, तो दिउड़ू उन्हें सँभाल कैसे पाएगा? फल यह होगा कि.....

"भला किया जो अड़ गए लेंजू भाई। बाप कौन और चाचा कौन? जो बाप, सो चाचा। उस चाचे की वह खातिर नहीं करेगा? क्या कहेगा वह? भला किया, अच्छा किया तूने। तू अपनी ओर से तिनका मत तोड़। एक को दो मत कर। खेत अकेले उसके तो हैं नहीं, तुझे पालेगा नहीं क्योंकर वह?"

लेंजू का घोंघा खुल गया। ढेर सारा बतराया वह। दिउड़ और तो और, अपनी घरनी तक से दुर्व्यवहार करता है। बेचारी आज खड़ी दुपहरी में उसका कलेवा लाद कर खेत पर लाई थी।—"आह लेंजू भाई, उसे देखकर कलेजा फट जाता है। क्या-से-क्या हो गई है! काँटा-काँटा हड्डी पर झूल रही है। सिर के बाल रूखे फहराते रहते हैं। मुँह जैसे काठ हो। मैं तो चकित हूँ कि इतनी मार-गाली सहकर चुपचाप रहती कैसे है! अच्छा भाई अच्छा, तू तो कहीं जा रहा था लेंजू भाई, जा भाई जा, थोड़ा और जोत लूँ। धूप और तपी तो हाल सूख जायगी। हाल न हो, तो माटी अकड़ जाती है, बहुत तंग करती है। बूढ़ा-पुरनियाँ हुआ. वे दिन तो अब रहे नहीं!"

लेंजू का मन हुलस रहा था। मेरे हाथ खींच लेने से दिउड़ का बल ही उभोस नहीं पड़ा, समाज में निन्दा-अपवाद भी फैल रहा है। भुगते वह, भली भाँति भुगते! लेंजू खुश था। गुड़िया के पास की ढलान पर बारिक का बेटा तुरुंजा ढोर हाँके ला रहा था। दूसरी ओर बारिक बूढ़ा और बाळमुंडा दोनों बाप-बेटे फावड़े लिए भीठ गोड़ रहे थे। सारा-का-सारा गाँव ही खेतों में उमड़ आया है। गाँव में इस समय कोई-कोई कुत्ते भर ही होंगे। कुत्ते भर ही? ना :! इतनी ओर घूम आया, सोनादेई तो कहीं दिखी ही नहीं! वह भी गाँव में ही होगी। जी हुआ कि गाँव को चला चले। ढलती धूप चोटियों पर बैंगनी हो चली थी। गाँव जाने की राह में ढलान-तले के झरने के पास झुंड-की-झुंड छोकरियाँ दिखीं। काम के बीच की सुस्तान लगी है। कई बैठी जूड़े बाँध रही हैं, कई जूड़ों में फूल गूँथ रही हैं, कई कपड़े सजा रही हैं। पहाड़ी लड़कियाँ काम के बीच-बीच में इसी तरह छुट्टी ले-ले कर सुस्ता लिया करती हैं। इन्हें देख-देख कर लेंजू कंध ने अनेक बार जाने कितनी-कितनी बातें सोच-सोच डाली हैं। इनके लिए केवल हास-ही-हास है! झरने के गुदगुदाते सोते से होड़ बदती-सी इनकी चमड़ी पर कहीं रत्ती-भर भी सिलवट

नहीं है। इनके चारों ओर केवल आयु-ही-आयु है, केवल आशा-ही-आशा है!

पर किसके लिए? लेंजू कंध लंबी उसाँसें भरता है।

"खड़ा टुकुर-टुकुर ताकता क्या है? आम खाना है, तो आ जा।..

"कैसा घूर रहा है री। भोंक दोगे क्या लेंजू बाबा?"

धत्तेरे की! जिधर जाओ उपहास-ही-उपहास हाथ आता है। वयस भी क्या बला है? 'बाबा' का टीका लगा दिया है! यह टीका क्या है मानो सींग उग आए हैं। अब माथा चाहे जितना भी झटको-पटको ये सींग उतरने के नहीं! धीरे-धीरे डग भरता लेंजू कंध आगे बढ़ गया। लड़कियाँ हँसती किलकती भाग गईं। न जाने कितने आवेग से, कितनी चिरौरी-बिनती से वह उन्हें तकता है। कितनी बार तो किसी का हाथ तक पकड़ कर निहोरे करता है,—"मेरे साथ घर बसाओ ना, बसाओगी?"
"सच कहती हूँ लेंजू बाबा, मैं गाऊँगी, तू नाचना, मैं पकाऊँगी, तू खाना।"
बाबा-बाबा-बाबा! जिसे सुनो वही 'बाबा' कह बैठती है। कितनी जल्द बाबा बन बैठा मैं भी। पर हाथ-पैर तो वही हैं, मन तो अभी वही है, आदमी तो अभी वही हूँ। कल सवेरे तो रुपनी मरी थी और आज ही मैं बाबा हो गया? ना:, मेरे मन की बात कोई भी समझ नहीं पाएगा।

लेंजू कंध ऊपर की ओर चढ़ गया। फिर मन हुआ कि किसी चट्टान पर बैठ कर ऊपर से इन्हें निहारता रहे! धुँगिया सुलगा ली। आह, कैसी सुन्दर रोशनी है, कैसा सुन्दर दृश्य है! छिदरे कुंज हैं, बीच-बीच में खेत हैं, खेत के चारों ओर पहाड़ उठते चले गए हैं। इतना काम है कि ये पहाड़ दिन के समय ही सूने पड़ गए हैं। लेंजू उन छोकरियों को एकटक निहारता बैठा रहा। उनमें से कई फिर काम पर लौट गईं। थोड़ी-सी फिर भी रह गईं। लेंजू की आँखों में धक से आग बल उठी। अब सरबू सांवता तो है नहीं कि उसकी यादों में बँधा पड़ा रहूँ। पुबुली भी अब यहाँ नहीं रही कि इन्हें पुबुली की सहेलियाँ समझकर सहमता रहूँ। आखिर मर्द हूँ! बेघरा हूँ, घर चाहिए!

तले किसी ने पुकारा—"बेकार क्या बैठी है री...?" बाकी जो भी बच रही थीं, काम पर लौट गईं। लेंजू ने सोचा, शायद धुँगिया फीकी पड़ गई है, अब किसी और चीज की जरूरत होगी। वह ऊपर की ओर चला। चढ़ते समय हिर-फिर कर वही बात मन में उठती। दिउड़ का घर अब रत्ती-भर भी नहीं सुहाता। अलगौझा करना ही पड़ेगा। मैं आप सांवता बनूँगा। गाँव से हट कर इसी कंधगुड़िया[1] के सिरे पर कहीं एक छोटा-सा घर बनाऊँगा। चारों ओर पत्थर की बाड़ लगाऊँगा। गोंठ में ढोर रँभाया करेंगे। आँगन में मुरगे फिरते रहा करेंगे। काम-धाम को दो हलिए रख लूँगा। एक व्यक्ति और पास मँड़लाता रहेगा। वह व्यक्ति जिसके लिए यह घर-बार होगा। वह होगी अपनी घरनी। अपनी नई नवेली घरनी। पर कहाँ? कैसे? हवा में मिल जाने जैसी पोली कल्पना ही तो है यह सब। कौन है, जो गाँठ बँधाने को राजी होगी। बाघ के खाए पति की बेवा कहाँ मिलेगी? मिले भी तो पता नहीं मन भाएगी कि नहीं। और यदि भा भी गई, तो इसका क्या ठिकाना कि वह भी पसन्द कर ही लेगी? जाड़ों में बाघ मातते हैं। अबकी जाड़ों में ढूँढूँगा। न जाने कितने लोग हैं। सैकड़ों से पहचान है। उनकी पत्नियों का ध्यान करता हुआ लेंजू यह सोचने लगा कि किसे बाघ खाए, तो उसकी बेवा के साथ अपना सुभीता रहेगा। बरसात के पहले आत्री का बेटा बात्री ब्याह कर ले और बरसात में उसे बाघ खा डाले, तो जाड़ों में पुल्में हथियाई जा सकेगी। इस तरह बात्री का शुभ मनाता हुआ लेंजू कंध और ऊपर चढ़ गया। पुल्में—हाँ पुल्में ठीक रहेगी! "ओरी रो मत, रो मत पुल्में। मैं तो हूँ, डर क्या है, काहे का? वह तो बाघडुमा हो के चला गया, उसे याद करेगी, तो तुझे फिर तंग करेगा। इससे अच्छा तो यह है कि तू मेरे पास चली आ। मैं तुझे बड़े जतन से रखूँगा।"

बेकार के हवाई महल हैं। पागल हूँ मैं, पागल! राह बारिक के घर की ओर मुड़ गई है। सोनादेई? होगी वो अकेली ही होगी। गाँव-

[1] खेती के बाघ-पाँतर।

वालों के यहाँ फिरते-फिरते अभी घड़ी-दो-घड़ी और लग हो जायगी। भीतर पैठने की सोचते-सोचते लेंजू कंध ने सोचा, आदमी सभी एक-जैसे हैं। सोनादेई डंबुणी है, तो क्या, मानुषी तो है? किसी से उन्नीस कैसे हो सकती है? आह, कितने दिन हो गए सोनादेई से गप लड़ाए?! लगा जैसे पूरा युग बीत गया हो। दोनों एक दूसरे की ओर बढ़ते हुए न जाने कितनी-कितनी दूरियाँ पार कर लेते और फिर भी जहाँ-के-तहाँ बने रह जाते। कोई अघटन घटना घट नहीं पाई। आज अवसर है, सुख-दुख बतराने का। दिन का कोलाहल नाम लेने भर को ही है। प्रकृति एकदम निस्तब्ध है। इसी निराले में—

आशा में पैर बढ़ाता हुआ बारिक के आँगन में जा पैठा। पैरों की आहट तक न होने दी। घर के भीतर से काम-काज करने का खटर-पटर शब्द सुनाई पड़ रहा था।

"बारिक—।"

सोनादेई बाहर आई—"बारिक नहीं है।"

"बारिक नहीं है। मुझे पता है।"—लेंजू कंध हँसा।

सोनादेई अचंभे में पड़ी ताकती रही।

लेंजू बोला—"भीतर चल तो कहूँ।" चतुराई से हँसता हुआ लेंजू घर के भीतर पैठ गया। पीछे-पीछे सोनादेई पैठी। लेंजू कंध ने दारू नहीं पी थी।

एकहत्तर

सोनादेई धूप नहीं देखती, पवन देखती है। कामधंधा उसे कोई खास नहीं रहता। जिसके मन की चिन्ता प्रबल होती है, उसका काम आप-ही-आप होता रहता है। काम कब शुरू हुआ और कब खतम हुआ, इसका ध्यान उसे नहीं रहता। बाहर के काम कल की तरह आप-ही-आप होते रहते हैं। सोनादेई भी आप-ही-आप चलना-फिरना, करना-धरना आदि निबटाती रहती है। जैसे सोती हो और काम हो रहा हो ! जो चीज उसमें चौबीसों घड़ी जागती और चौकस रहती है, वह है उसकी चिन्ता।

पवन देख कर उसके मन का ताल सम पर आता है। बगोले के भूत चक्कर काटते जाते हैं। कुछ सूखी धूल और कुछ सूखे पात बटोरते जाते हैं। लू सांय-सांय करती चलती है। ईशान से आँधी आती है। लहराती पवन से मेघ फट जाते हैं, उबेर हो जाती है। जिस समय पहाड़-देश त्राहि त्राहि पुकार रहा होता है, आम के पेड़ धरती पर लोट-लोट कर फलों के बोझ पटक रहे होते हैं, उस समय सोनादेई निर्द्वन्द्व होकर उधर ही देखती रहती है। नाक-कान रूँधते धूल-धुक्कड़ के बवंडर बार-म्बार फुंकारते चलते हैं। आसमान धूसर हो उठता है। पहाड़ी पठारों पर निराशा की छाया छा जाती है। ऐसे समय में सोनादेई का मन प्रकृति से सहानुभूति पाता है। वह उस उथल-पुथल को चाहती है, निहारती है। मन हँसी से भर उठता है। उसके हाथों की मुट्ठियाँ घर के खूँटड़े से जकड़ जाती हैं।

आँधी-पानी के डर से पहाड़ी घर गीदड़ों की मांद जैसे बने होते हैं। खिड़कियां नहीं होतीं, झरोखे नहीं होते, रोशनदान नहीं होते। दरवाजा जरा-सा होता है। छान बाहर के ओटे पर झुकी पड़ी होती है। भीतर बाहर आना-जाना झुक-झुक कर, निहुर-निहुर कर होता है। कंध बच्चे अंधड़ देखकर दरवाजे पर छलांगने लगते हैं। उन्हें बड़ी खुशी होती है।

अंधड़-झक्कड़ में गाँव-भर के छोरे-छोरियों के दल चीखते-चिल्लाते आम चुनने जाते हैं। वह भी एक खेल ही है। आँख-कान, नाक-मुँह सब धूल से भर जाते हैं। हवा के झकोरों में चकरा-चकरा कर उलटना-पलटना, लोटना-पोटना होता रहता है। पेड़ों तले आम पटे पड़े होते हैं, जितना चाहो लूट लो।

पर ऐसे अंधड़ों में सोनादेई का जीवन कितना कट पाता है ?

मुँह के स्वाद, गिरस्ती के नशे और देह-रूप के भले-बुरे को तो वह जाने कब से बिसार चुकी है। न जाने कब मायके का बालापन बीत चुका था। उन दिनों की यादें केवल भय और आतंक की यादें हैं, पुलिस की, धर-पकड़ की, घर-तलाशी की, शासन की, बँधने-छँदने की। नाः, मायके की बेटी होना तो वह कभी नहीं चाह सकती।

ससुराल की बहू हुई। पठारी देश की लड़कियाँ मनचीता वर चुन कर मनचीता ब्याह रचाने का जो सुयोग पाती हैं, उससे भी विधाता ने इस बिचारी को वंचित कर दिया है। ब्याह के दिन की बात आज भी याद है। खड़ी दुपहरी थी। नहाकर लौटी थी। आँगन की ओर बढ़ी जा रही थी कि अनजाने लोगों की अचीन्ही बोली सुनाई पड़ी। कुरते, जाँघिए, टोपियाँ, पगड़ियाँ! निश्चय ही प्रभु-अधिकारी आए होंगे। फटी लुगड़ी पहने थी। सारी देह थराथरा रही थी। किसी एक प्रभु-अधिकारी ने कहा— "पकड़ इसे! 'सउदा' (तलाशी) कर! इसी से बात निकलेगी।" दो-चार जने घेर आए। सब नशे में माते-माते से। उधर से गर्जन डंबँऽ की चिरौरी सुनाई पड़ रही थी—"महाप्रभु, मेरी बेटी है महाप्रभु। वह कुछ नहीं जानती महाप्रभु। उसे कुछ मत कर महाप्रभु।"...महाप्रभु! सोनादेई कील-सी गड़ी खड़ी-की-खड़ी रह गई। आँगन के परले छोर पर कितने सारे लोग बैठे थे। वे न तो अधिकारी थे, न महाप्रभु। न वैसी वेश-भूषा थी, न वैसी देह-धजा। डील-डौल से, चेहरे-मुँहरे से और कपड़े-लत्ते से वे पूरे डंबँऽ लग रहे थे। थे भी डंबँऽ ही। परगाँव के डंबँऽ। एक बूढ़ा बैठा था। किसी काम से आया होगा।

बाप के करुण अनुनय की गूँज कानों में बज रही थी। गाँव के नाइकजी, चालानजी, जेठरैयतजी आदि बड़े मुखिए उसे ढारस बँधा रहे थे। रह-रह कर कोई विकट अधिकारी गरज-गरज उठता था—"चुप चुप्प, चुप्प!"—इस बोल-चाल से ही सोनादेई को दिलासा मिल रहा था कि वह अकेली नहीं है, गाँव के लोग भी यहीं हैं। "इस तरह कातर क्यों हो रहा है गर्जन भाई ? अधिकारी तो माँ-बाप हैं ! उन्हें अपना काम करने दे। तेरी बेटी को क्या डर है ?"

"कुछ नहीं जानती नाइक, वह कुछ भी नहीं जानती. . .।"—सोनादेई उधर ही जा रही थी। यह सब हो क्या रहा है ? पाखे के पिछवाड़े में ही एक अधिकारी ने उसे पकड़ लिया—"ठहर, जा कहाँ रही है ?"

अधिकारी मूँछ-उठान "भेंडिया" था। गोल-मटोल मुँह हाँड़ी-सा चिकना था। दाढ़ी पर एक भी बाल नहीं। और मूँछ ? अजीब-सी मूँछ थी ! नाक के ठीक पूड़े तले चुटकी-भर बाल थे। बाकी सारी मूँछ दीमक की चाटी हुई-सी सफाचट थी, तरल-तरल-सी। माथा घेघे की तरह उठा हुआ था। आँखों में दया-माया का लेश भी नहीं था। बाहों पर उसी अचीन्हे मानुष की मुट्ठियाँ कसी थीं। अंग-अंग को उसकी वे जलती आँखें झुलसाए डाल रही थीं। पल-भर के लिए वह मुट्ठी कँपकँपा उठी, वह मुखड़ा बदल कर नरमा गया, चितवन में जाने और ही कोई नवीनता आ गई। अधिकारी ने बच्चे की तरह कुछ हकलाते हुए तुतलाते स्वर में कहा—"सउदा (तलाशी) करूँगा, हाथ उठा।" उन जलती आँखों के आगे दोनों हाथ आप-ही-आप ऊपर को उठ गए। 'सउदा' के बहाने पर-पुरुष के हाथ इतने सारे लोगों के सामने ही अंग-अंग टटोल गए। ओ:! ओ:! ओ:!—भय में भी सुख देते से वे हाथ 'सउदा' करते-करते रह-रह कर अटक-अटक जाते और कँपकँपाते हुए सहलाने से लग पड़ते। अधिकारी ने कहा—"चल उस घर के भीतर चल, बातें पूछनी हैं।" मुँह नीचे गड़ाए सोनादेई अपने ही घर में चोर की तरह पैठी। छाती डर के मारे सूख कर रुई बन गई थी। उसके पीछे-पीछे वही महा-

प्रभु अधिकारी भी पैठे। कौन है यह? क्या ढूँढ़ता फिर रहा है? क्या पूछेगा? कि धीरे से महाप्रभु ने कान में मुँह सटाकर कहा—"चल उधर, उस कोने में चल।" महाप्रभु भागने की सभी राहें रूँध रहे थे। पीछे से दो धक्के दिए। कंधों पर उनके हाथों की वही सँड़सी-सी पकड़ फिर आ जमी। अधिकारी का संकेत रसोई घर के उस अँधेरे कोने की ओर बढ़ने का था, जहाँ चोरी के बैलों का माँस सुखा कर रखा जाता है, जहाँ चोरी का माल धरती में गाड़ कर रखा जाता है।

"ओह, उस —"

"चुप!"—मुँह के ऊपर फिर वही सँड़सी-दाब आ पड़ी। आगे, और आगे। आखिर उसी अँधेरे कोने के भीतर—

*　　　*　　　*

थोड़ी देर बाद सोनादेई बाहर निकल आई। पैठी थी तो कुछ और थी, निकली तो कुछ और ही होकर निकली। मुँह गंभीर था। आँखों से आँसुओं की धारें बह रही थीं। और अब उसे घर-गिरस्ती सँभालनी है! आगे-आगे अधिकारी झटपट डग भरते निकल गए—"कुछ नहीं मिला। मगर 'जागरता' (खबरदार) गर्जन डंबॅऽ, इस बार तो छोड़ दिया पर. ."

—प्रभु अधिकारी चले गए। तभी सोनादेई का बाप गर्जन डंबॅऽ दौड़ा-दौड़ा दरवाजे पर आया। उसके मुँह में अब एक नई ही बात थी। कह रहा था—"बिटिया, बिटिया, इधर आ। म्ण्यापायु के लोग तेरी मँगनी को आए हैं। आ, देख! बीस रुपये 'झोला' के दिए हैं। तुझे मैंने उन्हें दे डाला है। जा, बारिक की बहू बनेगी। जा, नुनी।"

बाहर लोग गुल-गपाड़ा मचाए थे। नई बात!—ना, आँसू बहाना बन्द करना है। भय की देहरी लाँघ कर आनन्द के आँगन में पैर देना है। गर्जन डंबॅऽ नाम बदल कर रफायल क्रिस्तान बन गया था तो क्या हुआ, अवसर चूकना वह नहीं जानता था। जिसके जीवन में धूप-घाम या जाड़ा-बरसात का कोई बँधा-बँधाया नियम नहीं होता, जो कुछ होता है अचानक ही होता है, उसके लिए बेर-अबेर समय-असमय का कोई सवाल ही नहीं

उठता। रफायल क्रिस्तान बेटी बेचकर 'झोला' लेते समय गर्जन डंबेंऽ बन गया था। कैफियत तलब करने को इस समय कौन पादरी साहब दौड़े आ रहे हैं इस जंगल के भीतर से....

एक ही दिन में कली से बढ़ कर आधा मुरझाया, रौंदा, पँखुड़ी-टूटा फूल बनी सोनादेई केलार से उड़कर म्प्यापायु चली आई। उस दिन साँझ के समय फिर आँधी आई थी!

सस्ते में बहू पाकर और सस्ते में ही जात-बिरादरी के दो-चार जनों का भोज-भात निबटाकर भुरसामुंडा बारिक निश्चिन्त हो गया। उँगली से बाळमुंडा की ओर इशारा करते हुए बोला—"यही तेरा दूल्हा है।.."

अँधियारी रात थी। आँधी हू-हू-हू-हू पुकारती चल रही थी। राह चलते-चलते पैरों में आबले उठ आए थे। जाँघें दर्द के मारे पकी-सी टभक रही थीं। नींद रह-रह कर खुल-खुल जाती थी। थोड़ी दूर पर पालथी मारे दूल्हा बैठा था। उसकी घुँगिया बीड़ी का गुल रह-रह कर घटता-बढ़ता जलता-बुझता रहता है। बैठा-बैठा ही दूल्हा ऊँघ पड़ा। सोनादेई दूल्हे का सपना देखने लगी। अँधेरे में घुँगिया बीड़ी का गुल झुक-झुका रहा है। एक ऊँचा-सा हुक्का है, जिस पर चिलम सुलग रही है। एक नहीं दो चिलमें। ये ही उसकी दो आँखें हैं। हुक्का दूल्हा है? नहीं, वह प्रभु-अधिकारी है। उसका माथा घेंघे-जैसा उभरा हुआ फूला हुआ है। नाक-तले चुटकी भर मूँछें हैं। बाकी दीमक चाट गए हैं!.. भिनसारे के पहर नींद उचट गई। वहीं कोई अलच्छन-सी चिंग्घाड़ उठ रही थी। आँधी थम चुकी थी। दूल्हा पास नहीं था।

वही सुहागरात थी!

महीना लगने पर वह डरती-डरती ससुर से बोली—"घर आऊँगी।" ससुर ने बात हँसी में उड़ा दी! फिर वह दिन-पर-दिन हठ करने लगी। उसकी रट की कोई सुनवाई नहीं हुई। तब उसने मुँह खोल कर—"निचू-निचू" कहा। मतलब था इस घर में बसने की मेरी कोई इच्छा नहीं, मैं राजी नहीं हूँ। बारिक ने बेटे को गाली दी, बहू को गाली दी। बोला—

"तू भाग जायगी ? पर मेरे झोले की भुगतान का क्या होगा ? मेरा घर कौन सँभालेगा ? मेरी रसोई कौन पकाएगा ? "—फिर एक दिन खबर आई कि गर्जन डंबॅऽ पकड़ लिया गया है । रो-पीट कर सोनादेई टिक गई। उधर की राह बन्द थी। तभी से बेचारी यहाँ बंदिनी है।

'भगवान् ने मुझे गूँगा क्यों बना दिया ? चुप क्यों रहती हूँ ? भगवान् ने मुझे बल क्यों नहीं दिया ? बँधी क्यों हूँ ?'

वह भगवान् को कोसती रहती है। मन कुछ करने को होता तो है; पर कर नहीं पाती। बाळमुंडा उससे कतराता चलता है । बाहर के कामों में तो वह वीर है, अपने घर में ही उसे डर लगता है। सो वह जाने कहाँ दिग्विजय करने जाया करता है। घर में नशेबाज बूढ़ा बारिक पड़ा रहता है । काम पड़ने पर वह भी नहीं होता। गाँव के छोर पर निराले में खड़ा यह घर सोनादेई के असहाय जीवन का ही प्रतीक है।

उसी असहाय जीवन में यह अधेड़ लेंजू कंध उतरा था। कंध जब तक पतित नहीं होता, तब तक वह डंबॅऽ समाज में आ नहीं सकता। उसी टूटे घर के चहुँओर अपने मन के रोग का मारा दिउड़ू साँवता भी फेरे लगाता रहता था ; पर फेरे ही लगाता रहा वह, पैठने का साहस नहीं बटोर सका। लेंजू कंध पैठ गया था। सोनादेई उसके मुँह के पास दारू के कटोरे लगाए रहती है, उसके जटिल खिचड़ी बालों में उँगली डाल कर धीरे-धीरे उसकी उलझी लटें सुलझाती रहती है। सुलझाती रहती है और जाने क्या-क्या सोचती रहती है। जो बेचारे अबोल चुप्पे होते हैं, उनका जनम सोचने को ही हुआ करता है।

बूढ़े बारिक से वह प्यार पाती है। बूढा लेंजू कंध उसे प्यार करता है ; पर बूढ़ा बारिक हाथ में लाठी लिए दरवाजा अगोरता रहता है। खायँ-खायँ खाँसता रहता है और दिलासे देता रहता है—"डर काहे का बहू, डर काहे का ? मैं रखवाली जो कर रहा हूँ...।...हे बहू, हे सोनादेई, किधर चली ? अरी बावली इतनी रात गए कहाँ भागेगी, जा जा, घर में जा।—" रोज साँझ को ठीक बँधे वक्त पर बाळमुंडा न जाने

कहाँ जाता है? तुरंजा भी न जाने कहाँ चला जाता है! सोनादेई पूछ-पूछ कर हार जाती है। उसकी बातें कुछ समझ में नहीं आतीं। और ठीक उसी समय उसका नशा जोर मारता है। सारा भय, सारा संकोच भाड़ में झोंक कर। दरवाजे पर खुद उसका ससुर, अपनी हस्ती जताता हुआ-सा खाँय-खाँय खाँसता—

अंधड़ में छटपटाते पेड़ की तरह प्रबल वेग से झपटता लेंजू कंध बन्ने[1] की लड़की-सा लिपट जाता है। दिन के समय इस लेंजू कंध को देखने पर सोनादेई को घिन आती है। खुली धूप, खुली हवा, खुली प्रकृति बार-म्बार इस घिन की लौ को तेज कर-कर देती हैं। वह जीभ काट-काट लेती है। कीचड़ में भी कोई स्वाद तो होता ही है! इस मुए में वह भी नहीं है! पर जब-जब वह बालमुंडा को देखती है, उसका विद्रोह बल-बल उठता है। लेंजू कंध उसके उसी छोटे से विद्रोह की प्रतिमूर्ति है।

पति को देख कर उसका मन दाब में नहीं रहता। बाळमुंडा काम की फरमाइश करता है, तो सोनादेई कोई तर्क नहीं करती, चुपचाप मुँह फेर कर चल देती है। बाळमुंडा रिसाता है, तो सोनादेई उस पर घूर-घूर कर ताकती है। उसकी चितवनों के तिरस्कार के आगे बाळमुंडा सिर झुका देता है। उसमें उनका सामना करने का साहस नहीं होता, वह दब जाता है।

क्वार के दिन होंगे। एक दिन बाळमुंडा माथे पर टीका लगाए, हाथों में और कमर में जड़ी-बूटियों के अनेकानेक हार बाँधे हँसता-हँसता घर आया। किसी डिसारी से दवा ले आया था। उसका हँसना देख कर सोना-देई डर गई थी। सोचा—आज कुछ होके रहेगा। बाळमुंडा झपट्टा मारता-सा आया, थोड़ी देर राह देखी और फिर दोनों हाथों से मुँह ढाँके हुए कुत्ते

---

१ संस्कृत 'वंदा' से तद्भव। ललौंहीं हरी पत्तियों और नुकीले पतले फूलों वाला एक परगाछा पौधा जो पुराने पेड़ों की डालों पर उगता है।—अनु०

के पिल्ले-सा कूँ-कूँ-कूँ-कूँ करके रो उठा और घर छोड़ कर भाग गया। सोनादेई सोचने लगी—यह पगला तो नहीं हो गया है?

उसके बाद बाळमुंडा फिर कभी दवा लेके नहीं आया।

बालमुंडा न जाने कितनी बार कितनी चीजें, कितने माल-असबाब ले-लेकर दोस्ती गाँठने आया होगा। हर बार उसके हतश्री मुखड़े पर अनगिनत दंडवतों के संबोधन दाँत निपोरे रहते। पर उसके इस रूप को देखते ही सोनादेई के तन-बदन में आग-सी लग जाती। इसकी बातचीत सह ली जा सकती है, इसकी रीस-खीस सह ली जा सकती है; पर इसका स्नेह!—सोनादेई फुँफकार उठती है। उसका अबोल गूँगापन, उसकी मौन स्थिरता न जाने कहाँ हवा हो जाती है। बाळमुंडा पिटकर भाग खड़ा होता है।

यही उसके मन का रूप है। बाहर से वह अति शीतल, अति धीर, अति स्थिर है, बारिक के घर की शीलवंती बहू है। सिर उठाए बिना ही राह चलती है। मुँह पर लाखों चिन्ताओं के धब्बे होते हैं। ऐसी चिन्ताओं के, जिनका ताप चमड़ी झुलसा-झुलसा देता है। उसकी भंगिमा देख कर ही लोग उसके दुख की गहराई का अनुमान कर ले सकते हैं। जहाँ भी जाती है, सब की सहानुभूति पाती है। लोग उसे देखते ही आह-आह कर उठते हैं। बेचारी उड़ जाना भी चाहे तो राह नहीं! कहाँ जाय? जले-भुने जीवन की लाश ढोती विकल सोनादेई केवल आशा के दम पर ही जीती है। यही उसका जीवन है। रेत, रेत, रेत! उजाड़, वीरान, सुनसान मरु! जीवन किसे कहते हैं, वह नहीं जानती। अनुभूतियों में केवल एक अनुभूति पहचानी जा सकती है। मायके में उस दिन मिले वह महाप्रभु-अधिकारी, और अँधेरे कोने के वे दो मुहूर्त! और कुछ नहीं। जीवन पोला है, खोखला है। संसार में इतने सारे महाप्रभु-अधिकारी हैं, कोई इधर भी कभी भूल क्यों नहीं पड़ता?

बहत्तर

धूप से तप-तप कर जंगल सूख रहे हैं। आदमी के पाप-ताप से पास के जंगल जल-जल कर पोड़ू खेत बन गए हैं। ग्रीष्म की उष्मा से वन की श्री भाप बन कर उड़ गई है। कोस-भर भी चले नहीं कि पैर थक जाते हैं। बाहर निकले नहीं कि देह उबल कर सीझ जाती है। हाथ की कुदाली और कांधे की कुल्हाड़ी तवे-सी तप-तप जाती है। जिस धरती पर काम करो, उसके जाने पहचाने ढेले-ढोके शत्रु बन जाते हैं। गरमा-गरमा कर पैरों में बिंधने लगते हैं। मोर-मुरगे आदि भी आजकल भिनसारे ही उतरते हैं और पहर भर धूप चढ़ते-न-चढ़ते फिर जंगल में पैठ जाते हैं। दो घड़ी दिन उठते-न-उठते चारों ओर की नंगी धरती पक कर लाल टेसू दिखने लगती है। ऊबड़खाबड़ पठारी देश के पहाड़ों की लहरियां ऊपर की हवा के गरमाने पर झिलमिल-झिलमिल नाचने लगती हैं।

आलस-आलस में ही दिन बीत जाते हैं। मानो सारी सृष्टि अपनी गति बन्द करके किसी तरह ऊंघती हुई दिन काट रही हो। जो आज होता है, वही कल भी होगा। एकतानता से जी ऊबने लगता है।

गूलर-डूमर, आम-जामुन, कटहल-बड़हल आदि पक-पक कर झरने लगे हैं। सूखे हलदिए पत्तों से जंगल का आंगन पट गया है। यह मौसम आने पर बेजुणी नित-दिन की अपनी अकेली कुटिया छोड़ कर पास के पहाड़ के सींग पर प्रायः जा बैठती है और वहीं बैठी-बैठी कुछ सोचती रहती है। आम लोग अपने हाथों से काम करते हैं; पर बेजुणी का काम हाथों का काम नहीं है। उसका काम तो उसकी कल्पना के सहारे ही चलता है। उसका काम उसके सिर के भीतर ही होता रहता है। गरमियों की दुपहरियों में यहीं उसका गुप्त आश्रम बनता है। पत्थरों के कोटर के भीतर, सियाड़ी के कठिन पत्तों से लदे-फंदे सखुए के पेड़ तले। यह आश्रम गांवों की बस्तियों से काफी दूर पड़ता है। यहां से चारों ओर का देश केवल

पाताल-ही-पाताल दिखाई देता है। ऊँचे पेड़ों पर झुंड-के-झुंड गीध बैठे होते हैं। दुपहरी के समय पूरबी घाट के पहाड़ों का गरुड़, मोरभोजी चिड़िया, देवदार के आगे बैठी माथे का जूड़ा हिलाती रहती है और विज्ञों की तरह चारों ओर चौकस निगाह भी रखे रहती है।

तले की ढलानों की जंगली बँसवाड़ियों से धूप की तपी जाने कैसी एक भापनुमा हवा आती है, जो साँसों को कष्ट देती है। इसके सिवा यहाँ केवल साँय-साँय फाँय-फाँय की आवाज ही सुनाई पड़ती है। घड़ी-घड़ी पहर-पहर भर पर खोखली गूँज-सी किसी की दूर से आती बतरान, टाँगिए की चोटें या जरा-जरा-सी पहचानी जा सकने वाली किसी जानवर की आवाज सुनाई दे-दे जाती है।

तपती दुपहरी को चीरती-सी भाँति-भाँति की गंध महँक-महँक आती है। कभी चंपा की अत्यन्त उत्कट सुरभि तो कभी सखुए का तीखा पसीना, कभी मिट्टी की सोंधी महँक तो कभी जंगल की झाँस।

दिन और रात के बीच छवियों की अदलाबदली चलती रहती है।

और इन सब के बीच ग्रीष्म का बुढ़ाया रूप झलक-झलक उठता है। एक बेजुणी ही नहीं, सब एक जैसे ही हैं। दरमू देवता को किसानों के अर्घ्य की तरह 'पोड़' खेतों का मोटा धुआँ नीचे से उठता आता है। पहाड़ी ढलानों पर कोरापुटिया पौधे 'अगाछा'-घास के मोटे और कठोर बाल सूख कर भूरे हो उठे हैं। जगह-जगह पहाड़ गंजे हो गए हैं। 'झोलों' और खातों -खड्डों के काँस, सरकंडे और खाँड़ी नरकट के जंगल मिट चुके हैं। उनके मिटने से वसुधा की सारी शान, सारा अभिमान मिट गया है और वह बेकल हुई-सी दिखाई देती है। आकाश से पाताल तक और पाताल से आकाश तक कोसों-कोस लंबी बाँकी दरकनें, फाटें, और दर्रे मुँह बाए हैं। सूखे, प्यासे, हाँफते-से।

रूप, गंध या शब्द की विशिष्टता वाली मुट्ठी-मुट्ठी धूल, राख, पँखुड़ियाँ या मृत वल्कल बटोर-बटोर कर बेजुणी निराले में बैठी अपनी भावनाओं के लिए, अपनी धारणाओं के लिए भाँति-भाँति के हार गूँथती

है, भाँति-भाँति के गहने गढ़ती है। हर कहीं वह देवताओं के परिचय पाती है। देवताओं के रूप ऐसे ही अशरीरी हुआ करते हैं। उन्हें बेजुणी ही चीन्हती है, और कोई चीन्ह नहीं पाता। इसलिए इस चिलचिलाती सूखी-सिमटी दुपहरी में मंदारमाला पहने, बोझों हार पहने, टाँगें पसारे बैठी सोचते रहने में उसे एक विशेष सुख मिलता है, एक विशेष सुविधा होती है। बेजुणी सोचती है कि मैं देवताओं को देख पाती हूँ, उनके साथ अपने सुख-दुख की बातें कर पाती हूँ! इसीलिए रोज दोपहर के समय वह जंगल की फुनगी पर अकेली बैठी भनभनाती रहती है। यहाँ उसे कोई व्याघात नहीं होता। कितने ही कोड़ियों साल यों ही उसकी आँखों के आगे से कोड़ी-कोड़ी करके बीतते चले गए हैं। लोग पकते गए हैं, पकके झरते गए हैं। किसी-किसी की कोमल कलियों को भी असमय दौंक का दाह मुरझाता गया है, सुखाता गया है। आज वे नहीं हैं। कितने तो आए थे, कोई गिनती थी? सब नमक लादने चले गए।[1] सब की पुछारत करने को, सब के हिसाब रखने को बेजुणी अकेली ही बैठी रह गई है। अब भी बैठी है; पर इसका कोई दुख उसे नहीं है।

मरने के बाद जिन्होंने जन्म ले लिया; पर जिनके घर का कोई ठौर-ठिकाना अभी नहीं हो पाया था, वे फिर उड़-उड़ गए। अब उनके शरीर केवल हवा के हैं। गुण-मात्र के शरीर। रंग छाया भर है, रूप का वर्ण कोई नहीं। कभी-कभी आसक्ति के मारे जरा लाल हो-हो उठते हैं और हलकी लाल चिड़ियों से झुंड-के-झुंड इधर-से-उधर उड़े चले जाते हैं। उनकी धुआँ-धुआँ आँखों में बेचैन आशाएँ दहकती रहती हैं; पर भोगने को उनके पास न तो देह होती है और न अनुभूति। बेजुणी का खयाल है कि वह उन सभी को देखती है। वे हवा में तिरे-तिरे-से जाते हैं, हिलते-डुलते हुए। युगों-युगों की आत्माएँ यों ही तिरती रहती हैं। जो उन्होंने कर डाले थे, वे कर्म अब उनके पास नहीं रहे। जो नहीं कर पाए थे बेचारे, करने की सोचकर भी, वही अब ढेर-की-ढेर अतृप्त आशाओं के रूप में उन्हें भटकाए

---

१ मर गए। (कुमी मुहावरा)।

फिर रहे हैं। उन्हीं कामनाओं की लाल-लाल जालीदार ओढ़नियाँ फहराते वे उड़ते फिरते हैं। बेजुणी मन-ही-मन भनभनाती है---"कैसे हो ? सब ठीकठाक है ना ? किधर चले जा रहे हो ? इस तरह कब तक भाँय-भाँय करते भटकते फिरोगे ?"---आँखों-ही-आँखों में बातें बता-बता देकर खोए लोगों के 'डुमा' तिरे चले जाते हैं। हवा में उड़ती सेमल की रुई की तरह, अगाछा-घास की रुई की तरह।

"जा रे डुमा, जा। तुम ठहरे सैनिक ! बहुत लड़े थे, बहुत बहादुरी की थी, शत्रुओं पर भेद खुल जाने के डर से जीभ तक काट फेंकी थी, हाथ-पैर बँधे होने पर सिर पीट-पीट कर डुमा हो लिया था। और तुम ? तुमने छावनी जला डाली थी न ? आदमी मारे थे न ?"

"झुंड-के-झुंड मारे थे और ढेर-के-ढेर मरे थे। सोचा होगा, यह देह सहेज रखूँगा ; पर तेरी राख पर उगा धान-मँड़आ भी साहूकार उठा ले जा चुका है। जिस धन के जोड़ने में तू ने जान दी, वह अब धूल में मिल चुका है। और इधर तू है कि मरकर भूत बना फिर रहा है। यहाँ तुझे कोई चीन्हता-जानता नहीं है ; तेरी संतति जंगल के जीव-जंतु हैं, पेड़ों के बन्दर हैं ! जा। आँखों का तेज लपक रहा है ? खाँड़ा खनक रहा है ? हा : हा :—ढेले मारेगा तू ? अरे जा जा, अपने आपको और भी काहे को जलाता है ! जा, जा—

"यह आया प्रसिद्ध डिसारी, जादू-टोने की पिटारी। तारों को बीबी के आँचल के छोर में बाँध लिया था न ? काँधे की तुंबी में आसमान को भर लिया था न ? आदमी को भेंड़ बनाता फिरता था न तू ? च्च्च: च्च्च:, कितने 'योग' दिए तूने, कितने मौसम दिए। पर तू भी आज अतृप्त का अतृप्त ही है। जा, तिरा जा—"

उस लोक में जाने की उसकी तनिक भी इच्छा न थी। वह लोक तो न जीवन है, न मरण, दोनों की संधि-संधि भर है। वहाँ टुकुर-टुकुर ताकते रहना होता है, बेचैनी में धू-धू दहकते रहना होता है, दूसरे को देख-देख आप डाह में भुनते रहना होता है, अपनी ही अपनी सोच-सोच

कर विफल हताशा में झड़-झड़ पड़ना होता है, अनेकानेक कामनाएँ वहाँ काँटों-सी चुभती रहती हैं, और उनमें जंगल के काँटों से कहीं अधिक विष होता है।

आसमान में उसी विष की सूचना होती है। धूप की चिलचिहलाट में उसी की झाँई होती है। देखते-देखते बेजुणी सुध-बुध खो-खो कर लुढ़क-लुढ़क पड़ती है। ऐसे में माथे की सिलवटें और भी गहरी पड़ जातीं, मुँह खुला-का-खुला रह जाता, अकेला विकराल दाँत आसमान का निशाना साधे निकला होता, चमड़ी उतरी-उतरी-सी झूल रही होती, देह ढीली पड़ी होती, शिथिल और हलदिया रंग की। निराले आकाश तले निराले पहाड़ और अकेली बुढ़िया! बड़ी-बड़ी देर तक इसी मुद्रा में पड़ी रहती। सपने, सपने, सपने! चारों ओर सपने तैर रहे होते। हवा सपनों से बोझल होती। पोले बाँस के भीतर से सपने पुकार रहे होते। आदमी, हाय आदमी कितना सहे?—

वह जीती नहीं थी, वह मरी नहीं थी। वह मरने-जीने के बीच झूलती एक इकाई थी। उसका मन यही सोच-सोच कर अपने को तोष-भरोस देता था कि वह तीन लोक से न्यारी है। कारण, प्रेत तो प्रेत, देवताओं तक से बेजुणी का परिचय था। दुपहरी को जब वहाँ कोई नहीं था, उस समय क्या उस विजन वन में वन की आत्मा "होङ-पेनू" आकर उसमें सुख-दुख कह-सुन नहीं गया था? ये जितने भी जंगली अंचल हैं, सारे कंध-देश में जितने भी वन हैं, सबका ठाकुर वही तो है,? कह रहा था, देख बेजुणी देख, कैसी धूप है, कैसी तपन है, कैसी जलन है, कितनी आग लगी है तन-बदन में! फिर भी, सब सहकर आदमी के लिए छाँह कर रखी है, झरनों में पानी भर रखा है, देश को शीतल रखा है। बोल, ठीक है ना? पर क्या हो? इतना करने पर भी आदमी एहसान नहीं मानता। 'पोड़ु' पर 'पोड़ु' बढ़े जाते हैं। जंगल तहस-नहस हुए जा रहे हैं। पर सब दिन ऐसे ही तो नहीं रहेंगे न, बेजुणी? धूप कट जायगी, मेघ झुकेंगे, बाघ लगने पर लोग मुझे सुमिरेंगे।"—धूप की चिलक में

भी आसमान की ड्योढ़ी के भीतर से मेघ-देवता 'बीमा राजा' का मुकुट दिख रहा है। इतने ऊपर से इस फटेहाली में उनका आशामय हास पुकार-पुकार कर कहता है—"आ रहा हूँ बेजुणी, आ रहा हूँ। ठहर, अभी थोड़ी देर और धीरज धर।"

बावली-सी बुढ़िया मुँह बाए पेड़ तले पड़ी है, मरी-सी पड़ी है। चरवाहा छोरा देख कर ऐसा डरता है कि पलट कर ताकता तक नहीं। डरता-डरता ढोर-डंगर हाँक कर नीचे ढलानों पर उतर जाता है। चील और गीध भँवराते हुए मँड़लाते रहते हैं। गीदड़ घूर-घूर कर ताक-झाँक कर, बड़गद के पकुए खा-खा कर ही लौट जाते हैं। यह सब बेजुणी को बहुत ही अच्छा लगता है। वह सोचती है कि इन सब को चीन्हती-जानती हूँ। ये सब भेस बदले घूम रहे देवता-पितर हैं। ये सभी मिल-जुलकर मेरी रखवाली कर रहे हैं।

पर कभी-कभी इतने रखवालों, इतने अंगरक्षियों के रहते हुए भी बेजुणी को आशंका होती है। उस समय सूरज दो लाठी ढल चुका था। छाँहें लंबी पड़ चली थीं। पवन पीछे-ही-पीछे को रेंगती नाच रही थी। बेजुणी को बेसँभाल खाँसी उठी थी। खाँसते-खाँसते देह शिथिल पड़ गई थी। ऐसे में उसने देखा कि हवा के झकोरों में उस धकिया-धकिया कर कितने ही 'हुमा' भाग-भाग आ रहे हैं और "आ-आ-आ" कह-कह कर बुला रहे हैं। कोई-कोई सहानुभूति से अपने स्वर को स्नेह-बोझिल बना-बना कर कान के पास पूछता है—"अब और कितने दिन बुढ़िया? एक ही माटी, एक ही गाँव, जी नहीं ऊबता? यहाँ कब तक पड़ी रहेगी तू? चल-चल, चल-चल।"—बेजुणी डर जाती है। बेजुणी बेचैन हो जाती है। आँखें खोलकर देखती है कि वही माटी है, वही वन है, वह है अभी, जी रही है।

ले-दे के अंजुली भर बरस ही तो? अभी तो मूठ भर भी हुए न होंगे। अभी से जाने की कौन-सी ग़रज़ पड़ी है? गाँव कौन सँभालेगा? रोग-सोग कौन छुड़ाएगा? देवता-पितर कौन मनाएगा? भला-बुरा कौन

समझेगा ? भावी भी तो कोई भला नहीं है। अभी इन लोगों को और भी भोग भुगतने हैं, और भी दुख-कष्ट झेलने हैं। अपना कोई नहीं है तो क्या, ये सारे अपने ही तो हैं ? इतनी जल्दी से अपने सिर से जवाबदेही उतार फेंकने की क्या पड़ी है ? जाने कितने काम हैं, जाने कितने दायित्व हैं। ना :, अभी नहीं जाना। जाने की बात सोचते ही वह देवता-पितर, भूत-डुमा सब भूल जाती है। ठंडी सिहरनों से देह फिर भली-चंगी हो जाती है। कँपकँपाती हुई वह गाँव को लौट आती है। उसे संगी-साथियों की कमी महसूस होने लगती है। लौटती बेर ऊपर से वह जब-जब गाँव को देखती है, तब तब उसकी पोली-खोखली देह में कुछ-न-कुछ वजन पैठ जाता है, पैर और दृढ़ता के साथ धरती पर पड़ने लगते हैं। हाथ की लाठी को वह और भी तान कर पकड़ लेती है। यही उसका जीवन है। जीते रहने का सुख, जीते रहने के मजे, सब इसी में निहित हैं।

एक दिन बेजुणी इसी तरह पड़ी थी। आँखें आसमान पर टँगी थीं। इंद्रियों को बाहर की कोई चेतना न थी। सपनों में केवल रोग, सोग, अकाल, महामारी आदि के ही दर्शन हो रहे थे। दूर कहीं धुआँ उठ रहा था। पवन सनसनाती भागी जा रही थी। उसकी पुकार में केवल "वा, वा" (आ, आ) का बुलावा ही बुलावा था। उस बुलावे की तीखी निठुराई से अपने आपको बचाने की कोशिश में बेजुणी गुड़ीमुड़ी हो गई थी। फिर भी वह बुलावा ठिठोली करता हुआ-सा ऊँचा अट्टहास करके "वा वा, वा वा" (आ आ, आ आ) पुकारे ही जा रहा था—

जंगल में आदमी की आहट सुनाई पड़ी। आहट पास आती गई। कोई कह रहा था--"कहीं भी तो दिखाई नहीं देती ? गई कहाँ आखिर ?" कोई और बोला—"झाकर के पास देख आया, वहाँ भी नहीं है। न घर में है, न गाँव में। इस वन में भी नहीं है। तो फिर है कहाँ ?"

"यों ही किसी दिन वह बाघ के पेट में चली जायगी। देख लेना।"

"कहीं भी नहीं है। कहाँ भाग गई ?—"

"लैंजू, चल आगे चल। चल, उधर भी ढूँढ़ देखें।"

"अरे आगे और क्या है लेंजू भाई? पहाड़ का छोर तो आ गया। जब यहाँ तक नहीं दिखी, तो अब आगे कहाँ होगी? तले बाघ-गुफा है और उसके आगे पाताल है--"

बातें करते-करते लेंजू और लेल्लू दोनों आ पहुँचे। लेल्लू बूढ़ा दिउड़ का पड़ोसी है।

बेजुणी वैसे ही मुँह बिगाड़े किसी को चिढ़ाती-सी ऐंठ-पड़ी थी। किसी भी अंग में कोई हिल-डुल या गति नहीं थी।

दोनों दोस्त हठात् प्रेत की चपेट में आ गए-से एक दूसरे का मुँह ताकते थमके खड़े रह गए। वे तो जीती बेजुणी ढूँढ़ने आए थे। इस तरह की भेंट के लिए बिल्कुल तैयार न थे। चारों ओर विजन वन था। निस्तब्धता छाई थी। कहीं कोई न था। लेल्लू बूढ़ा दो डग बढ़ा ही था कि पीछे से लेंजू ने उसे घसीट लिया। कानों में फुसफुसा कर बोला--"चल, गाँव चलें?—क्या हुआ?" लेल्लू ने गंभीर भाव से सिर हिलाया। उसने बाधा न मानी, आगे बढ़ा। लेंजू का मुँह कैसा तो हो गया। घटना तो बड़ी अप्रिय थी; पर करना क्या था? उसने पीठ फेर कर सिर झुका लिया। जता दिया कि राजी हूँ। दो पलों के इस मौन में लेंजू यही सोच रहा था कि हाय, मैं आया ही क्यों! लेल्लू गंभीर होकर गला कँपकँपाते हुए और अपने को खींच-तान कर बड़ा करते हुए पुकार उठा--"बेजुणी,—हे बेजुणी!"

आगंतुकों को अचानक आतंकित करती हुई बेजुणी की देह हड़बड़ा कर उठ खड़ी हुई। लेंजू कंध ने लेल्लू बूढ़े का हाथ कस कर पकड़ लिया। बेहद चिढ़ गई-सी बेजुणी अनर्गल बकती चली गई—"क्यों आए तुम? किसलिए? बताओ, किसलिए आए यहाँ? जहाँ भी जाऊँ, ये मुए कुत्तों-से पीछे-पीछे लगे रहते हैं। ओः !—छिः!"

बेजुणी के दोनों हाथ अपने आपको सँभालने में ही व्यस्त थे। गाली सुनकर लेंजू की हँसी खुली। बोला—"चल, चल बेजुणी,

गालियाँ फिर दे लेना। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आदमी बेदम हो गया। जहाँ-तहाँ भागी फिरती है, कहीं बाघ खा डाले, तो क्या करेगी बेजुणी ?"

"बेजुणी को बाघ खायगा ? कौन क्या कर पाया है बेजुणी का, एँऽऽ ? बेजुणी को ही यदि बाघ खा जायगा, तो फिर इस दुनिया में छोड़ेगा किसे ? अरे तू है अनाचारी ! बूढ़ा होके भी पाप में बूड़ा रहता है तू। न आगा देखता है न पीछा। बाघ पहले तुझे खायगा रे, तुझे। बेजुणी ने कौन-सा पाप किया है, जो उसे बाघ खाएगा ? तू सोचता है कि बेजुणी बूढ़ी हो गई है, बेजुणी की आँखों की जोत मंद पड़ गई, इसलिए बेजुणी कुछ देखती ही नहीं ! क्यों रे, यही सोचता है न ? तू कैसा भाई है सरबू सांवता का ? तू मन-ही-मन आप सांवता बनने को जाल बिछा रहा है। बता, देवता के थान पर क्यों आया, बेजुणी के पास क्यों आया ? कह बे लेंजू बंदर, तुझे डर नहीं लगता ?"

लेंजू कंध का मुँह सूख गया। पाप किया है ! सांवता होने को मन दौड़ाया है ! सोनादेई !—बेजुणी घट-घट की जानन-हारी है !

लेल्लू ने बाधा दी—"बेकार बके जा रही है तू बेजुणी !—अगर तुझ पर सचमुच इस समय देवता सवार है तो ले, मेरा सिर तेरे पैरों पर है, तेरी पादुका शीतल रहे।"

"देवता सवार है ? अरे, बेजुणी पर देवता कब सवार नहीं रहता, रे बावला ? पगला कहीं का—"

दोनों बूढ़ों ने झुक कर उसे दंडवत् प्रणाम किया। तेरी दया !—"तेरी 'गो पो'—तू रक्षा कर।—तू कोप करेगी, तो हम भसम हो जाएँगे।"

बेजुणी हँसी।

यही इतना तो उसे चाहिए। वह जिधर जाए, दुनिया वाले सभी सिर झुका कर उसके चरणों में लोट-लोट पड़ें। पहाड़ों-पठारों के ऊपर दरम्-दरतनी की अकेली पुजारिन ठहरी वह ! सब उसके प्रताप से झुकें, लहराएँ, टूटें। वह जिधर निकले, उधर ही उसका प्रताप फहरे। इतनी ही बड़ाई के लिए तो वह जिए जा रही है। पति नहीं है, संतति नहीं है, संसार

के और किसी भी बंधन का सुख नहीं है, बेवा है, निपूती है, सरबस गँवा चुकी है, बस इतना ही तो बच रहा है?

"अच्छा, उठो, उठो बच्चो। इस असमय में बेजूणी की क्या जरूरत आ पड़ी भला?"

"साँवतानी,—कल रात से ही उसे ताप है। उसे ज्वर ने धर लिया है। बस गरम-गरम उलटी, कँपकँपी, ताप! देह जल रही है। जाने क्या हो गया है। पता नहीं कोई देवता उतरा है कि क्या? ! अंटशंट बक रही है। बाप रे, आँखें कित्ती बड़ी-बड़ी हो गई हैं! सिर पीट रही है। गोद का बच्चा रो-रो कर बेदम हो रहा है : पर उसकी कौन बूझे-पूछे. . . ."

बेजूणी ने लंबी उसाँस भरी। उसकी आँखों में अछोर दुख निचुड़ आए।

तिहत्तर

पुयू बुखार में पड़ी थी। दरवाजे पर डिसारी, बेजुणी और तमाम अड़ोसी-पड़ोसी जुटे थे। धरती पुरानी होती जा रही है, इसलिए इतिहास नया होता जा रहा है, पर पहाड़ के ऊपर बसे इस कंध-समाज में आज भी इस छोर से उस छोर वे ही दो जने पुज रहे हैं। एक डिसारी और दूसरी बेजुणी। ये ही दोनों धर्म के पंडे-पुरोहित हैं। ये ही दोनों संस्कृति के भंडारी हैं। पूजा 'खा-खा' कर[1] देवता मुटाए जाते हैं और उनसे डर-डर कर उन्हें मान-मान कर मानुष सुबोध और सुशील बनता जाता है। फिर भी रोग और संताप पीछा नहीं छोड़ते। इतने पर भी देवता का भय और भरोसा बना हुआ है। मानुष जीने की नीति धरती पर न खोज कर आकाश की टक लगाए रहता है।

पठारी देश में जैसे सभी कुछ अनाहूत होते हैं, वैसे रोग भी औचक ही होता है; जैसे सब कुछ अनिश्चित होता है, वैसे आयु भी अनिश्चित होती है। पठारी ज्वर कोई डौंड़ी पीट कर नहीं आता। आते-न-आते ताप इतना ऊपर चढ़ जाता है कि दाना डालो, तो भुन कर खील फुटने लगती है। और फिर?—कोई पड़ा-पड़ा झेल कर उठ बैठता है और कोई एक बार का गिरा फिर उठने का नाम नहीं लेता। कोई घड़ी-पहर में दम तोड़ देता है, तो किसी को महीनों लग जाते हैं। इसीलिए कंध ज्वर से डरता है, ज्वर होने पर कहता है—"ज्वर ने धर लिया है!" ज्वर छुड़ाने के लिए बेजुणी बावली तो बाल बिखेर कर नाचती है, धूप-गुग्गुल-लोहबान का धूआं खाती है, आग पर चलती है, पेट में खांड़ा भोंकती है, सीखे पदों को रटती सुबह से शाम तक बैठी रहती है। गांव-समाज के किसी भी व्यक्ति के लिए बेजुणी इतने कष्ट उठाती है, भौंहों पर बारह

---

1 पूजा वहां की नहीं जाती, खाई-खिलाई जाती है। यही कुभी मुहावरा है।—अनु०

खल डाल के दर-दर की खाक छानती है ; डिसारी तदबीरें करता है, दवा-दारू करता है, टोने-टोटके करता है। डिसारी फरमाता है कि 'डंगर-वात्री' की जड़ी खाओ और चंगे हो जाओ! इतना कुछ करने-धरने पर भी लोग बाँस की कोठी की तरह पटापट लोट जाते हैं, निजाग नींद सो जाते हैं, नमक लादने चले जाते हैं। फिर वही बेजुणी भूत भगाने को नाचती है, फिर वही डिसारी 'क्रिया बढ़ा कर' भूत भगाता है। फिर वही दोनों समझा देते हैं कि "यह बुरे आदमी का 'डुमा' था, जो पर-जन्म पा कर आदमी बना था। इसीलिए इतनी जल्द मर गया। संसार के योग्य जो नहीं था यह! चला गया तो समाज के लिए अच्छा ही हुआ।" इस पर भी लोग विश्वास कर लेते हैं। यहाँ आदमी विष को भी अमृत मान कर दोनों हाथों से उठा कर पी जाता है। यही उसका जीवन है।

पुयू को ज्वर ने 'धर लिया' था। रात बीत चली थी कि जूड़ी आई और नींद खुल गई। पटारी देश में कभी-कभी वन के भीतर से अचानक ही बरफीली हिवाल हवा उठ पड़ती है। सर्दी की कठोरता से घबराई पुयू ने सोचा—कहीं हाकिना को ठंड न लग जाए। बाहर जाके देखा—दिउड़ सोया पड़ा है, लेंजू सोया पड़ा है, रात अँधेरी है, तारे झिलमिल कर रहे हैं। ठंड के झकोरे बारम्बार झकझोरे डाल रहे थे। देह तन रही थी, ऐंठ रही थी, कसमसा रही थी। अंग-अंग छिटके-से पड़ रहे थे। जम्हाई-पर-जम्हाई आ रही थी। पुयू अटकी। रात की उदासी में मन की उदासी ढाल दी। गोठ में ढोर सुगबुगाए। दसरू उठा और 'मैं हूँ—मैं हूँ' जताता हुआ-सा पास आकर दुम झाड़ने लगा। पुयू को लगा जैसे छिप-छिप कर आनन्द सहेजते समय किसी ने पहचान लिया हो। वह घर में फिर आई और किवाड़ लगा दी। ठंड बढ़ती गई। गरमियों की रात थी ; पर पुयू को इसका ध्यान न था। इतनी ठंड है और घर में आग तक नहीं! हाकिना को ठंड लग जाएगी! घोर आशंका में आप कँपकँपाती हुई भी वह आ कर खेस उतार लाई और हाकिना को लपेट कर उढ़ा दिया। थोड़ी देर में ही घोर कँपकँपी से वह बेहाल हो उठी।

सिर के भीतर मानो एक साथ कई-कई बिच्छू डंक मारने लगे। बरौ-नियों के पास मानो किसी ने अँगीठी जला दी। दांत ठकाठक बजने लगे। देह छटपटाने लगी। कँपकँपी कई-गुनी बढ़ गई। कै-पर-कै होने लगी। अब पुयू ने समझा कि ज्वर ने धर लिया है। पठारी ज्वर, तूफ़ान की तरह आता है। देखते-ही-देखते ताप कहाँ-से-कहाँ चढ़ लेता है। होश डूब जाता है। पुयू के भी होश डूब गए। सारी चिन्ताएँ, सारी भावनाएँ, न जाने कहाँ बिला गईं। पुयू को कुछ पता नहीं था कि वह क्या बक रही है। घड़ी-भर के बाद वह कोई और ही हो रही थी।

दिउड़ उठा। देखा, ताप से देह पर खीलें फूट रही हैं, आंखें कुंभार्गी चिड़िया की आँखों जैसी हो गई हैं। पुयू को ज्वर ने 'धर' लिया है, यह भी एक नई आफ़त है। दिउड़ को यह सब बहुत बुरा लग रहा था।

माई है। खाली थरथरा रही है। पूछने पर कोई जवाब नहीं देती। थोड़ी-थोड़ी देर पर कांप-कांप उठती है। कै करती है। देखते-देखते ताप कहीं-से-कहीं बढ़ जाता है। दिउड़ हालत सुधरने की राह देखता बैठा रहा। मां की ज्वर-ग्रस्त देह से सटते ही हाकिना की नींद खुल गई। अब दिउड़ और भी बेचैन हो उठा। ऐसी विकट स्थिति से उसका कभी पाला न पड़ा था। न कुछ करते बनता है, न धरते बनता है। कोई ऊह नहीं खुलती, कोई तदबीर नहीं फुरती। दिउड़ के जानते-भर में पुयू कभी ऐसी बेहाल नहीं पड़ी थी।

हाकिना लोट-लोट कर चीखने-चिल्लाने लगा। दिउड़ ने उसे फुसलाने-बहलाने के लाख जतन किए; पर हाकिना उससे हिला नहीं था कभी, पकड़ने पर और भी जोर-जोर से रो पड़ता।

धूप चढ़ी। गाँव के लोग कंधों पर जुआ-कुदाल डाले, आगे-आगे अपने बैल हांकते खेतों को चले। घरनियाँ घर-आँगन के काम सहेज-समेट कर झुंड बांध-बांध के झोले की ओर आवाजाही करने लगीं। एक दिउड़ के घर के काम-काज ही अचल रहे। सब जहाँ का तहीं पड़ा रहा। वह आप भी जस-का-तस बैठा रहा। पुयू बेहोश पड़ी रही। लेंगू काका ने अटकल से

ताड़ लिया था कि पुयू शायद बीमार है ; पर दिउड़् से उसकी बोलचाल बंद थी, उसकी सहानुभूति की खोज-पूछ कोई नहीं करता; इसलिए वह मठिया कर किसी बहाने बाहर चला गया।

सारी दुनिया अपने कामों में माती थी। एक यही घर ऐसा था, जो गुमसुम पड़ा था। पुयू कभी कुछ कहती तो न थी; पर इस घर को चलाने वाली कल की तरह आठों पहर नाचती रहती थी। आज वह कल ही बंद है। उसके बिना औरों का होना-न-होना बराबर है। इसीलिए जब सब कहीं सब काम चल रहे हैं, यहाँ कुछ भी नहीं हो रहा। दिउड़् ने घटना के इस मर्म का अनुभव किया। उसे बहुत बुरा लगा। बहुत दुख हुआ। घर की झाड़-पोंछ कौन करेगा ? अँगीठी कौन सुलगाएगा ? पानी कौन लाएगा ! दिउड़् हर बात में हर-दम उसकी सेवा लेता रहा है और लेते हुए सदा यही सोचता रहा है कि यह तो उसका न्याय्य पावना है।

आज वह पावना चुकाने वाला कोई नहीं है !

लाठी भर बेर चढ़ आई। दिउड़् भी उसी स्थिर दृष्टि से पुयू को निहारता बैठा रहा। जीवन की यह एक नई दिशा है। अब तक इस दिशा से वह अनजान था। घर-गिरस्ती सँभालने का उसे कोई शऊर नहीं है। उसने कभी सीखा ही नहीं। सेवा-सुश्रूषा को वह सदा स्त्रियों का ही काम समझता आया है। सेवा के ढंग उसे नहीं आते। पुयू कै करके फिर स्थिर होकर सो रही। आँखें उसकी बता रही हैं कि मुँह खोलने को जी नहीं चाह रहा। हाकिना फिर रोया। बड़े दुख से दिउड़् अपनी घरनी के पास गया, उसके माथे पर हथेली रखी। बड़ा ही गरम था। पुयू फाँय-फाँय रो पड़ी। रोते-रोते मुँह खुल गया। उसने लंबी वक्तृता झाड़ दी। दिउड़् एक शब्द भी न समझा। वह नाना भाँति के कटु बोलों से खोर-खोर कर दिउड़् को कोसती रही—"तू कौन है ? यहाँ क्यों बैठा है ? यहाँ तेरा कौन है ? तू किसका क्या है ? निकल यहाँ से, भाग ! आज बीबी पर बड़ी माया उमँड़ी है ! है ना ? मैं चली जाऊँगी, चली जाऊँगी, घड़ी भर भी तेरी ओलती-तले नहीं टिकूँगी !"—उसकी देह काँप रही थी।

कोप और रोष के मारे साँसें फूल रही थीं। बार-बार दीवार का सहारा लेकर उठना चाहती थी वह, और हर बार गिर-गिर पड़ती थी। उठते-गिरते हरदम बड़ी बीभत्स गालियाँ बकती चली जा रही थी।

इसके लिए इतनी समवेदना महसूस करने का यही प्रतिदान है ? दिउड़् रिसिया गया। बासी मुँह में पानी तक न दिया, एक आसन से बैठा अगोरता रहा, और पुयू अब यह नई बात सुना रही है, डोर तुड़ा कर चली जाने को धमका रही है, स्वाधीन होना चाह रही है, मैं उसका कोई भी नहीं, कोई नहीं !

इसके मन में इतनी घृणा थी ? दिउड़् की इच्छा तो हुई कि इस मुखटी-मुँही को उसके किए का फल हाथ-के-हाथ दे डाले ; पर उसने हाथ रोक लिए। ज्वर में उबल रही है, मार-पीट से पट दम तोड़ देगी। फिर दुनिया दोष देगी, दूसेगी।

पुयू रह-रह कर चिहुँक-चिहुँक पड़ती थी। बात करते-करते दुबले हाथों और सूखे मुँह से न जाने क्या-क्या संकेत करती, भाव-भंगी दिखाती। कुढ़ कर दिउड़् उठा और टल गया। हो, जो होना हो इसका, हो ! मैं अलग ही अलग रहूँगा। निश्चित तो रहूँगा कम-से-कम !

दिउड़् के चले जाने पर पुयू खीझ कर रो पड़ी। माँ और बेटे की मिली-जुली रुलाई से घर गूँज उठा। पड़ोसिनें आ जुड़ीं। रुलाई और हिचकियों के बीच-बीच में पुयू न जाने क्या-क्या अल्लम-गल्लम बके जा रही थी। उसकी आँखें अँगीठियों-सी सुलग रही थीं। जामिरी की बुढ़िया छौने को उठा ले गई। लेल्लू की बुढ़िया ने लेंजू को बुलाने लेल्लू को भेजा। घर में धूप-दीप किया गया। आग सुलगा कर पुयू की देह सेंकी गई। गाँव-भर में खबर फैल गई कि साँवतानी को ज्वर ने 'धर' लिया है। बुढ़ियों ने दवा का नुसखा बनाया। 'डंगर बात्री' की जड़ के साथ गोलमिर्च मिला कर दी जाय ! साथ के अनुपान भी तय पाए। गोष्ठी ने पुयू की चिकित्सा का भार अपने ऊपर ले लिया।

अभी धूप थोड़ी-थोड़ी ही थी कि बेजुणी भी आ गई। आपद-विपद पड़ने पर लोग 'चितागुड़ी' देवता की गुहरावनी करते हैं। 'चितागुड़ी' की मनौतियाँ की जाने लगीं। डिसारी ने साइत वरी। बेजुणी नाची। उसके संग गाँव की बूढ़ियाँ नाचीं। दरवाजे पर बैठी बेजुणी गुग्गुल-धूप के धुएँ के बीच पागलों-सी मंत्र गाती रही :—

"तले दरतनी उपूरे 'दरमू'
कालोगाई तोलागाई
बिकिराइ पाइकराइ।
हिलिहाला जालाजाला।
थोड़ सिधा थोड़ सजा
लिड़िबिक पाटूनेरू
साकी माइसुत् राइ
अड्डु तिराऽ, मुंड़तिराऽ
हिर्म्मातिहि।
जोड़ासाकी जोड़गादी
देउपुरू लेरिकगोड़ा
सरूसूता पाटूडोरू।
लेकागाड़ती एजा गाड़ती।
थिले लेका मले हेजा।
माड़ड़ गुरु आड़ड़ गुरु
कार्टिहिमांञि लूलिहिमांञि
रेपू पिजली पाटू पिजणी
कुलावारा माणामेजऽ—"

सारा गाँव बैठा टुकर-टुकर ताक रहा था। नाचती-नाचती बेजुणी ऐन दरवाजे पर जा बैठती और आगे-पीछे डोलती, झूमती-झूमती हुई अत्यन्त गंभीर भाव से कंध-देश का यह 'ज्वर झाड़ने का मंत्र' दुहराती रहती। सरल विश्वास के साथ गाती रहती, "माऊडुगुरु आऊड़ुगुरु,—

—दिकिराइ पाइकराइ-..." ! इसका अर्थ वह आप भी नहीं जानती। इस में न जाने कितने अचीन्हे लोगों और अनजानी जगहों के नाम हैं। बीच-बीच में "हिञ्आँतिहि" (कहता हूँ), "तन्ले दरतनी उपरे दरमू" आदि कुछ शब्द ही लोगों की समझ में आ पाते हैं। फिर भी सब का यह पक्का विश्वास है कि इस मंत्र से ज्वर-देवता टल जायँगे। सबका यह पक्का विश्वास है कि बेजुणी के मुँह से देवता की निजी भाषा में निकला यह जीता-जागता मंत्र अपनी करामात जरूर दिखाएगा। मारे-के-मारे लोग आस लगाए गंभीर सम्मान के साथ बैठे, इस क्रिया को निहारते रहे। किसी के मुँह में न तो हँसी थी, न शब्द थे।

पूजा होते-हवाते पहर-भर रात बीत गई। चाँद उगा था, पवन सिहर रही थी। बेजुणी का पद-पाठ बंद हुआ। घर के भीतर से थर-थर स्वर में पुयू बोली,—"छोरा कहाँ है ? मेरा बेटा ला दे।" बेजुणी हँसी। सबने जाना कि देवता छोड़ गया है। अब साधारण ज्वर-ताप भर ही बच रहा है, अब डर नहीं। जासिरी की बुढ़िया ने हाकिना को पुयू की गोद में बढ़ा दिया। नींद से उठ कर हाकिना ने माँ को देखा और फिर आँखें मूँद चीन्हे ठौर पर अपनी संपत्ति टटोलता माँ के दूध में मुँह लगा कर सो पड़ा।

बेजुणी बोली,—"अब सोएगी। चल भाई चल, चल चलें। भारी-"

व्यक्ति को निरापद जान समाज वहाँ से उठ चला। व्यक्ति के सुख में ही कंध-समाज का सुख है।

चौहत्तर

पर पुयू का ज्वर उतर पड़ने को उतना तत्पर नहीं था। दो दिन रहकर ताप तो उतर गया ; पर हर तीसरे दिन बारी-बारी से चढ़ने लगा। पुयू को तिजारी ने 'धर' लिया। त्रेजुणी नित-दिन नाच तो नहीं आती, पर मंत्र नित्य गा आती है। दरवाज़े पर छलकती छाया-सी चिपकी उसकी मूर्ति देखते-देखते और रोज़-रोज़ उसकी "आऊड़ुगुरू-माऊड़ुगुरू" की भनभनाहट सुनते-सुनते पुयू ऊबती गई। उसकी निराशा और भी बढ़ती गई। उसे अब आशंका होने लगी कि हाय मैं मर नहीं पाऊँगी, जीवन के मारे अनभोग भुगतने को जीती रहना ही पड़ेगा शायद। ना, मरण नसीब नहीं ! हाय, कैसी अबलता है ! —करवट लेने में कष्ट, सिर झन्नाता रहता है, अंग-अंग चुभते हैं, हाथ-पैर छिटके जाते हैं, सिर मन-मन भरके भारी लगते हैं। एक दिन ज्वर हो, तो एक वर्ष का बल-बूता छीज जाता है।

दिन-पर-दिन बीतते रहे। पुयू घिसटती रही। जूड़ी दमादम आती और ताप तीर-सा बढ़ चलता। अंग-अंग से प्राण भागने लगते। माथा चकराने लगता। समझ गड़बड़ हो जाती ; उस गड़बड़ में कोई बात पैठ नहीं पाती। जब तक तिजारी चढ़ नहीं बैठती, तब तक पुयू बैठी काँखती रहती। उस समय बाप की सुध आती, माँ की सुध आती। जी होता कि जीवन की सारी रुआँसी अनुभूतियों को आँखों के आगे रखकर रोती रहे। रोग से दिन-पर-दिन क्षीण और दिन-पर-दिन खिन्न होती गई वह। उस खिन्नता में जब बूढ़ी दानवी की तरह जूड़ी आती, उस समय जीने की बची-खुची आस डूब जाती। जी बड़ा ही दुखी हो उठता। उस उदास दुख में मन सभी को क्षमा कर देना चाहता। पुयू दिउड़ू को खोजती ; पर दिउड़ू वहाँ नहीं होता।

सोचती,—मेरे होने-न-होने से दिउड़ू का क्या आता-जाता है ? वह तो बस बाट जोहता बैठा है कि यह कब मरे, बला टले ! मर जाऊँगी,

तो कोई और व्याह कर लेगा, सुख से रहेगा। जिस समय सूखी, हड़ियल, तपती छातियों में हाकिना लटक पड़ता है और रेत से तेल निकालने के विफल यत्न करने लगता है, उस समय बच्चे को सहलाती हुई पुयू न जाने कितनी-कितनी बातें सोच डालती है। बच्चे को हलराते-दुलराते संसार अन्धकार-ही-अन्धकार लगने लगता है और पुयू रो पड़ती है। ज्वर दिन-पर-दिन अबल किए डाल रहा है। डिसारी के इतने 'योग' आए-गए, कुछ न हुआ। बेजुणी के "माङड़ गुङ्क आङडुगुङ्क,—कालीगाइ पेतागाइ" के मंत्र अनर्गल झरते ही रहे, फल कुछ न हुआ। अब इनमें भी पुयू का विश्वास घट चला है। अब अगर वह मर जाय, तो किसी का कुछ नहीं बिगड़ेगा। दिउड़् तो नई बहू लायगा।—हाँ, बिगड़ेगा किसी का तो इस बच्चे का। बेचारे का सरबस छिन जायगा, कुछ भी बच नहीं रहेगा!

हालचाल पूछने गाँव वाले आते हैं। इधर-उधर की पूछते हैं, धुँगिया पीते हैं, चले जाते हैं। इस छोर से उस छोर तक मुँहा-मुँही दो पाँती में खड़े घरों का यह गाँव है। काँखते-कूँखते ओसारे तक निकल आने पर सारा गाँव दिख जाता है। दिन-भर सुनसान रहता है। सब अपने-अपने काम पर गए होते हैं। डूबती संझा की बेर ढोरों के पीछे-पीछे लोग लौटते हैं। उस समय बल मिलता है। कोई आए कि न आए, इतने लोगों को देखकर ही रोगिणी का साहस बढ़ जाता है।

हाल पूछता है लेंजू काका। दिउड़् उसे नहीं सुहाता। इसी से पुयू को अधिक चाहता है। माँ-बेटे को देखकर उसे अपनी सरदारी याद आती है। वह चाहता है कि लोग उस पर निर्भर करें; पर साँझ पड़ते ही लेंजू काका लापता हो जाता है। लौटता है, तो धुत्त होकर, सिर्फ़ लड़खड़ाने को।

बीच-बीच में दिउड़् भी आता रहता है। पुयू का सामना होते ही झेंपने लगता है। पुयू से आँखें चुराए रहता है। कहीं और देखता हुआ बस इतना पूछ लेता है—"कैसी है तू? कैसा लगता है?"—तिजारी जारी रही।

'डंगर-बात्री' की जड़ और गोलमिर्च की दवा पंदरह दिन खाने के बाद एक दिन ऐसा आया, जब न जूड़ी आई, न ताप चढ़ा। 'चितागुड़ी' ठकुरानी ने दया कर दी, तिजारी छोड़ गई। लेंजू कंध डिसारी को बुला लाया। नाड़ी परख कर, चेहरे और हथेली की जाँच-पड़ताल करके डिसारी हँसा। ज्वर नहीं रहा। डिसारी दवा दे गया। इसे खाने से ज्वर फिर लौटकर आ नहीं पायगा।

दो दिन बीते, तीन दिन बीते, ज्वर नहीं लौटा। पुयू निश्चिन्त हुई। पर वह देह क्या हुई? अंग-अंग रीते छुटे। हर अंग में कुछ ऐसा था, जो अब नहीं रहा। लग रहा है जैसे डाल से तोड़ ली गई हो। कानों में आँधी-सी चलती रहती है। आँखों के आगे रोशनी के गोल-गोल बुँदके से नाचते रहते हैं, चकत्ते-चकत्ते-सी अँधियारी नाचती रहती है। उजले बुँदके उड़ते रहते हैं, काले चकत्ते उनका पीछा करते रहते हैं। बैठी रहने पर भी नस-नस दुखती रहती है, रग-रग टूटती रहती है। हाकिना पिलपिला हो गया है। दिउड़् के चेहरे का पानी मर गया है। श्री उतर गई है। लगता है, जाने कितने दिनों से उसने मुट्ठी भर दाना भी नहीं खाया हो। घर-बार घूर-सा हो गया है। चारों ओर कचरा फैला है। कहीं झाड़-पोंछ नहीं हो पाई है। कितना सारा काम जमा हो गया है। पुयू झींकती रहती है।

उस दिन जामिरी की बुढ़िया आके जूड़ा बाँध गई। सूखे चेहरे पर तेल-हलदी मल गई। जामिरी की बुढ़िया बखान रही थी कि पुयू की देह कैसी हो गई है। उसके मुँह से इतनी उलाहना-भरी सहानुभूति सुन-सुन कर हँसी आती है। काम पड़ा था, हड़बड़ा कर पुयू बोली,—"हुआ-हुआ री माई, हो तो गया। छोड़ो, मुझे क्या यह पता नहीं है!"—उसे समझाने के लिए पुयू टटोल-टटोल कर अपनी नन्ही-सी आरसी ढूँढ़ लाई; पर आरसी में अपना मुँह देखते ही उसका रहा-सहा रंग भी उड़ गया। क्या हो गया मुझे? यह किसका मुँह है? थरथराते हाथों आरसी को बारंबार पोंछ-पोंछ कर वह देखती रही। आरसी पुरानी पड़ गई है। जाने, कब की है? हाट जाने का बूता हो ले, तो एक नई मोल ले आऊँगी। कहते हैं, मरने के

पानी में मुँह खूब दिखता है। इस आरसी में तो जितनी बार देखो, वही-का-वही मुँह दिख रहा है। हाकिना के होने पर पेड़ के ऊपर सीझी-सीझी-सी लकीरें पड़ गई थीं, जैसे किसी ने गरम छड़ों से दाग दिया हो। ज्वर के बाद अब तो पूरा चेहरा ही संतरे जैसा हो गया है! बस हड्डी-हड्डी, गड्ढा-गड्ढा भर। हड्डियों और गड्ढों के ऊपर से केंदू की लकड़ी जैसी चमड़ी मढ़ी है। बाल फर-फर उड़ रहे हैं। कितने छिदरे-छिदरे हो गए हैं? चाहो, गिन लो। जामिरी की बुढ़िया ने इत्ता सारा बाल ऊँछ-ऊँछ कर जमा कर डाला है।

अब यह देह कोई देह है? किस काम आएगी? किसके काम आएगी? किसकी देह है यह? अपनी देह देख के आप ही लाज आती है। अब यह अपनी एकमात्र संपत्ति केंदू-सी काली चमड़ी-मढ़ी कुछेक ऊबड़-खाबड़ हड्डियों की पोटली भर ही तो रह गई है! खड़ी हो, तो झवाँकर सिर चकरा जाता है, आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है। हाय, कैसी असहाय हो गई!

जवानी हवा-सी उड़ गई। बेगुनाह असमय बूढ़ी हो गई। सहारे-भरोसे से सूनी इस निर्दय दुनिया में एक असहाय, जर्जर, काँपकँपाती बुढ़िया। जम्हाई-पर-जम्हाई लेती, उसाँसों-पर-उसाँसें भरती, अपनी टलमल, दुर्बल, माँड़ी-भरी आँखों की पुतलियों-में-पुतलियाँ गड़ाती, स्थिर प्रतिज्ञा-सी करती हुई पुयू ने सोचा—इस देह को फिर पहले जैसी बना लूँगी! अभी जीवन दरकार है, अपने लिए न सही, हाकिना के लिए दरकार है!

न जाने कब से बिउड़ दरवाजे पर खड़ा उसे देख रहा था। चिलचिलाती धूप की तपिश और लू की लपटों की झुलसान में काम करके लौटा है। रंग इसीलिए मुरझा गया है। फिर भी धूल-पसीने से अटी उसकी तनी पुट्ठल पेशियाँ उसके 'भेंडिया' होने का सबूत दे रही हैं। कोई भी पहचान ले सकता है कि यह पट्ठा जवान है। होठों पर बाँकी हँसी बिधी हुई है। कटार-सी हँसी। तालियाँ पीटती-सी ठिठोलिया हँसी ओढ़े

दिउड़ू पुयू को निहार-निहार कर देख रहा था। तलहटी की पहाड़ियों की गुफा को किसी तरह खींच-तान कर बेर डूबते समय के हलदी-रंग से पूर रही है जामिरी की बुढ़िया। और पुयू चूड़ैल भुतनी-सी बैठी अपने मुँह की रूपश्री निहार रही है।

यही मेरी पत्नी है? इसी को घर लाने की मुझे ऐसी जल्दी पड़ी थी?

दिउड़ू भूल गया कि वह ज्वर की मारी है। वह खेत से लौटा है। काम से छुट्टी मिलने पर मँडलाने वाले सपनों से लदा लौटा है। अपनी आँखों में इस समय वह आप-ही-आप है, और कोई नहीं, कोई नहीं वहाँ।

"बड़ी साज-सजावट हो रही है! कहीं जाना है क्या?"

पुयू ने चौंक कर देखा। जामिरी की बुढ़िया ने उस बात को कान तक न दिया।

दिउड़ू बोला—"सूखे चिकटे मुँह को चिकनाने में सारा-सारा दिन लग जाता है और खेत के लिए थोड़ी खाद बनाकर भेजने में सत्तर बहाने होते हैं। इतना साज-सिंगार किसलिए? राँगा (कोयले) पर होंगा (हलदी) मलने से क्या होगा? तिस पर आरसी में निरेखन हो रही है।"

पुयू पुक्का फाड़के रो पड़ी। उस नन्हीं-सी पुरानी आरसी को तोड़-ताड़ कर दरवाज़े की ओर फेंक दिया।

"ओहो, इतने ही में इतना छल समा गया! बात-बात पर रुलाई!"

जामिरी की बुढ़िया खीसों धधक उठी। ऊपर से ठंडी पड़ती बोली—"काहे को रे बेटा, बेबात की बात! टंटा काहे को खड़ा करता है? इसमें क्या तुझे सुख मिलता है? देखता नहीं ज्वर की मारी है यह? तनिक भी दया-माया नहीं तुझमें?"

रोती हुई पुयू बोली—"मन करता है, तो कोई और सोनामुँही ब्याह क्यों नहीं लाता, मैं कोई मना थोड़े ही करती हूँ? मैं कोई राह छेंके बैठी

हूँ ?तू पट्ठा जवान है, मैं ही एक बूढ़ी हो गई हूँ ना ?सूखे मुँह और कोयले की तुझे क्या पड़ी है ? कौन बुलाता है तुझे कि आके इस कोयले को देख और अपना मन ख़राब कर ?"

दिउड़् का मन इससे भी नहीं पिघला। ऐसे कितने ही दृश्यों पर वह हज़ारों बार मन-ही-मन सोच-विचार चुका है। जाने कितनी रुलाइयाँ देखते-देखते उसका जी पत्थर हो गया है। पुयू का रोग छोड़ गया है, अपने सिर का भार टल गया है! अब इसके बाद पुयू का जो जी चाहे करे वह। उसके लिए परवा ही कौन करता है!

पर एक बात है। जामिरी की बूढ़ी के सामने बात करके गाँववालों से झगड़ा मोल लेना वह नहीं चाहता; इसलिए मन की खीज मन में ही दबाए दिउड़् पैर पटकता हुआ घर में पैठ आया।

ऐसे ही समय में उसे पुबुली याद आती है। पुबुली होती, तो घर सँभाल लिए होती शायद। अब तो तीन जने तीन ओर हैं। एक ओर वह आप है, एक ओर पुयू और तीसरी ओर लेंजू काका, जो केवल खाना-पीना और उड़ाना ही जानता है, इसके सिवा और कुछ जानता ही नहीं। एक से दो जने जमा हुए नहीं कि टंटा लग जाने की नौबत आ पहुँचती है। सब अपने ही घर में मेहमान की तरह रह रहे हैं।

अलस घड़ियों के अलसाए मन से दिउड़् ऐसी ही बातें सोचता रहता है। सोचता है, इन सभी को अगर भगा पाता, लाठी ले के खदेड़ आता, तो शायद नई राह पर जीवन के साथ नए सिरे से जान-पहचान हो भी सकती थी!....इसके बिना पिओटी आशा-मात्र ही रह जाती है, उसकी कोई सार्थकता नहीं मिल पाती।

धीरे-धीरे पुयू खड़ी हुई। धीरे-धीरे लाठी टेक कर चलने भी लगी। धीरे-धीरे लाठी छोड़ कर खाली हाथ चलने का अभ्यास किया। और अब गाँव के गलियारे में निकलने भी लगी है! पर पठारी ज्वर उसे लूट् ले गया, ठग ले गया! दिन-पर-दिन वह और भी अकेली पड़ती जा रही है। दिन-पर-दिन और भी हताश पड़ती जा रही है। पुयू अब वह पुयू नहीं रही।

पचहत्तर

"बाअली" पूजा थोड़े ही दिन चलती है। नई खेती के लिए पहाड़-के-पहाड़ जलकर पोड़ हो चुके होते हैं। 'पोड़' के बाद 'फाराष्टी' की नींद खुलती है।

'फाराष्टी' की नींद खुली। वह जाँच में निकला---कि किसने कितना जंगल जलाया---कि इससे जंगल की कितनी क्षति हुई? बीस कोस तक उसके जंगल हैं। चार-चार कोस पर उसका एक-एक रखवाला है, 'गारड़'। 'गारड़' और 'फाराष्टी' देखते ही रहते हैं, और सखुए के जंगल जल कर राख हो जाते हैं। मूल्यवान बँसवाड़ियाँ भसम हो जाती हैं। पर उस समय कोई नहीं जाता। क्या होगा जाकर? पहाड़ी राहें उतनी सुगम नहीं होतीं। जंगल में कुश-काँटे होते हैं, साँप-बिच्छू होते हैं, बाघ-चीते होते हैं। 'गारड़' अगर अपनी चौकोसी के बीच कोई केन्द्र अगोरे बैठा रहे, तो फाराष्टी साहेब अचल हो जाते हैं। इसीलिए तमाम 'गारड़' 'फाराष्टी' साहेब के साथ-साथ ही रहते हैं। एक 'गारड़' रसोई पकाता है, तो दूसरा काफी बनाता है। कोई बच्चे को गोद लिए बहलाता रहता है, तो कोई शिकार की टोह लगाता फिरता है। फाराष्टी के शिकार करने के लिए अच्छा-सा ठौर देख कर मचान बाँधता है। एक 'गारड़' बंदूक साफ़ करने पर तैनात होता है। वह 'फाराष्टी' के साथ-ही-साथ फिरा करता है। 'गारड़' अगर अकेला निकलता भी है, तो अपनी जान-पहचान वालों को पूछ-पुछारत करने को निकलता है। दारू पीता है, गाँजे का दम लगाता है, और न हुआ तो अफ़ीम खाकर अपने इलाके के पेड़ों के सपने देखता है। ज्वर और व्यभिचार से सड़-सड़ कर ये सभी बूढ़े घोड़ों जैसे लगते हैं। धँसे गाल, पके बाल, अधमानुषी हाल! आधा भी सभी नहीं, कोई-कोई तो चौथाई मानुष भी मुश्किल से होता है। वरदी में निकलते हैं, तो पुरानी पोशाक ढीली होकर झूलती रहती है, चमगादड़-सी लटकी फड़फड़ाती

रहती है। बीस कोस के पहाड़-पंठार, घाटी-ढलान, डाँड़ा-चोटी आदि का एक ही 'फाराष्टी' है वह। उसके सहकारी हैं पाँच 'गारड़'। पाँच में तीन बूढ़े हैं, एक काना है, एक बहरा है। 'फाराष्टी' का वेतन तीस रुपए माहवार है, 'गारड़ों' के सात-सात रुपए। कभी-कभी चार-चार पाँच-पाँच माह के वेतन बाकी पड़-पड़ जाते हैं। फिर भी 'फाराष्टी' 'लेंजर' के जूठे हाथ से खाता है, मोटिए को मजूरी देता है और महीने में बीस दिन मटरगश्ती करता है। पहाड़ी हवा बड़ी मीठी होती है, अपने टिका-सन के आस-पास के गाँवों में बड़े अच्छे चरावर हैं। 'फाराष्टी' शिकार करता है। जहाँ कहीं बकरा पाता है, पुलाव पार्टी करता है, पुराना रेकार्ड बजाकर "पालावाड़े-मालावाड़े" का गीत सुनता है, घर की याद करता है और 'गारड़'—सचिव-समूह से घिरा बैठा अपने जंगल का आलोक-समारोह देखता है।

"ओ बे सादू —"

"माहाप्रू ?— "[1]

"वह तो सर्गी घाटी ही तो जल रही है न रे ? ण्यापायु के पास की ?

"चितं-चितं, माहाप्रू— [2]

"और वह उधर रे ? "

"ग्याळ्पऽ डंबऽ सालों ने लगाई होगी माहाप्रू, माछपुट डूँगर-सा दीखता है—"

"निकलना कब है सादू ?......."

"तुम्हारा इष्टं [3] चितं, माहाप्रू, ग्याळ्पऽ पैसेवाले डंबऽ......"

बड़ा 'लेंजर' साहबी वरदी पहनता है। अधेड़ हो गया, अभी तक क्वाँरा है। भीतर से चटखनी लगा कर साहबी गत की नकली धुन पर

१ महाप्रभो !

२ जी हाँ, जी हाँ, महाप्रभो !

३ तुम्हारी मरजी !

बेला बजाता है, और नाचता है। बड़ा माथा है उसका। कभी सलाह देने, कभी जंगलात के मुकद्दमे में हाज़िर होने, तो कभी बड़ी-बड़ी योजनाएँ तैयार करने के लिए उसे महीने के अधिकांश दिन 'हुजूर' के काम से शहर जाना पड़ता है। जंगल से आने पर उसके काम होते हैं—दिखला-दिखला कर सिगरेट फूँकते रहना, सभ्य जगत् की पोशाकों का दिखावा करना, अँगरेज़ी बोली में फ़ाराष्टी को गालियाँ देना, और उसके नाम पर 'हुजूर' को रिपोर्ट भेजना। अवसर देख कर फ़ाराष्टी भी डाली-वाली लगाकर हुजूर को जाता है। 'लेंजर' बेला बजाता है, और नाचता है। 'हुजूर' में सारे कागज़ खो जाते हैं। 'फाराष्टी' पुलाव-पार्टी खाता है और 'लेंजर' की बुराइयाँ गाता है। कितनी बार जंगल जलते समय 'फ़ाराष्टी' और 'गारड़' के अनुपस्थित होने की जरूरत होती है। ज्वर की दवा खाने बारंबार रोशनी में जाना तो लगा रहता है, उसके अलावा और भी बड़े-बड़े काम होते हैं।

'अड़र' [1] आया, अमुक जगह सागुआन लगाए जाएँगे। लाल मिर्च बाँध कर गाँवों को खबर दी गई। लोग आए। चार महीने काम लगा रहा। शहतीरों पर नाम लिखी हुई खूँटियाँ ठोंकी गईं। उनके सहारे पेड़ लगाए गए। साल भर में ठूँठ बढ़-बढ़ कर बड़े-बड़े भिडों से हो गए हैं। पेड़ मुक्ति पा गए हैं। अब रिपोट!

इसके बाद अन्यान्य अनेकानेक काम होते हैं। पाँच साल से बँगला बन रहा है। ईंट पक चुकी है। अपने आप में यही एक बहुत बड़ा काम है। कभी कोई और बड़े अधिकारी राह-बाट वाले इलाकों में पधार रहे होते हैं, तो उनकी खोज-खबर पूछने जाना ही पड़ता है। न जाओ तो मूँड की 'छेंडी' [2] नहीं रह सकती। बाघ का शिकार होने-वाला होता है, तो यह पता लगाना है कि किस जंगल में बाघ के पाहुल दिखे हैं, वे कितने लंबे हैं, किस जंगल में बाघ की लेंड़ियाँ पड़ीं हैं। कितनी बड़ी-बड़ी हैं, आदि।

१ परवाना, आदेश। (अँगरेज़ी 'ऑर्डर' का कुभी तद्भव)।
२ सिर की खैर (नौकरी)।

नियमित तिकड़मों से बाघ मामू को फुसलाना पड़ता है। तीन दिनों तक उसे एक-एक भैंस खिलाई जाती है। धीरे-धीरे भैंसें रास्ते के अधिकाधिक निकटतर बाँधी जाने लगती हैं। इस तरह बाघ को फुसलाकर रास्ते के पास भटका लाया जाता है। फिर कहीं किसी दिन बड़े लोग बड़े पेड़ों पर सीढ़ियों के सहारे चढ़ कर बड़ी बंदूकों से बड़े बाघ मारते हैं और 'फाराष्टी' धन्य-धन्य हो जाता है! इसी तरह 'जंगल-मुरगा-शूट' करना पड़ता है। अर्थात् वनमुरगे को गोली मारी जाती है। बनमुरगे बड़े चतुर होते हैं, छिपे-छिपे फिरते हैं। रोज मनों मँड़ुआ-चावल बिखेर-बिखेर कर उन्हें एक ही जगह बटोर लिया जाता है। फिर कोई दिन नियत करके खदेड़ा होता है। बनमुरगे घने मेघों से उड़ने लगते हैं। गोली छूटती है, आठ-दस अभागे बनमुरगे आ ही पड़ते हैं। 'फाराष्टी' के तेवहार की पारणा (उद्यापना) मनती है। एक आदमी और इतने काम, तिस पर यह इतना बड़ा इलाका! हो तो कैसे हो? फिर ज्वर है, मच्छड़ हैं, कष्ट हैं, दुख हैं। कलेजा कड़ा करके फाराष्टी जंगल की दिवाली देखता है, पुराने रेकार्ड सुन-सुन कर मन की खराश मिटाता है, रेत-कागज[1] पर रिपोर्ट लिखता है। लाल मिर्च बाँध कर हरकारे दौड़ाता है। 'लेंजर' बेला बजाता रहता है। 'गारड़' सिर के दर्द के बहाने घर बैठ कर गाँजे का दम लगाता रहता है। और जंगल जलता रहता है।

म्ण्यापायु के रास्ते के ऐसे तो 'गारड़' हैं, और ऐसे हैं 'फाराष्टी'।

सब की होनी कोई एक जैसी नहीं होती। जिसका भला बदा होगा, वह इस ज्वरमय जंगल में आएगा ही क्यों भला? यहाँ आने पर चाहे जितनी भी अल्ली-टल्ली करो, जितनी भी फाँकी दो, जंगल-जंगल फिरे बिना काम नहीं चलता। और जंगल-जंगल फिरने वालों का किसी-न-किसी दिन बाघ के साथ देखादेखी हो जाना भी अनिवार्य ही होता है। 'गारड़' बेचारा 'फाराष्टी' के लिए काफी पहुँचाने मचान की ओर बढ़ रहा है

१ 'रेत-कागज': (बालिकागज): एक प्रकार का मटमैला कागज। —अनु०

कि बीच रास्ते से ही बाघ उसे उठाकर नौ दो ग्यारह ! हाजत निपटाने दिशा-मैदान बैठे हैं, और औचक बाघ उठा के चंपत ! राह चल रहे हैं और बाघ के कौर में जा पड़े। घर से पैर निकाल चुकने पर फिर भगवान् का ही भरोसा है। पठारी ज्वर ने किसी के दाँत झाड़ दिए हैं, तो किसी के पेट में सेर-सेर भर की तिल्ली बढ़ा दी है। हाथों में और गले में चाहे जितने भी गंडे बाँधे रहो, परिवार के दो-चार जने पठारी ज्वर की भेंट चढ़ेंगे ही। 'गारड़' भी मरते हैं, 'फाराष्टी' भी मरते हैं। गश्त में निकलने पर यह ठिकाना नहीं रहता है कि छावनी कहाँ डलेगी। किसी की गोंठ में, किसी के ओसारे में या किसी पेड़ तले। तीन चौथाई दिन तो जाड़े और बरसात के होते हैं। कुहरे का घटाटोप अंधकार होता है। भींगते-थरथराते उस कुहासे के भीतर ही पैदल चलते रहो। न कहीं राह-बाट होती है, न कोई यान-वाहन। मर जाने पर नाम लेने को भी कोई नहीं होता। कंध कहता है "बुरा 'डुमा' था। तभी तो इतना जल्द मर गया। इसमें दुःख की क्या बात है ?" और इसी जीवन के लिए 'गारड़' को सात रुपए माहवार मिलते हैं, 'फाराष्टी' को तीस रुपए और सो भी चार-चार पाँच-पाँच माह तक बाकी पड़े रहते हैं। बीस कोस के इतने बड़े जंगल की रक्षा का भार बस एक ही 'फाराष्टी' के मत्थे होता है और उसे कुल मिला कर पाँच ही 'गारड़' मिले होते हैं। उनके जीने-मरने की खोज-पूछ करने की गरज किसी को नहीं होती। उनके लिए न अस्पताल होता है, न डाकघर। उनके लिए सभ्य जीवन की न तो कोई सुविधा होती है, न आनंद। वे निर्वासित हैं। उन्हें न कोई आशा है, न सुख-सपने। उनका जीवन वन्य है, निठुर है, निर्मोही है। मानुष ने उन्हें अमानुष होने की सीख दे रखी है, जीवन ने उन्हें सुविधावादी अवसरवादी बनना सिखलाया है। इसीलिए 'फाराष्टी' ऐसा 'फाराष्टी' है, इसीलिए 'गारड़' ऐसा 'गारड़' है।

वे आए हैं। खबर आई है। आगे-आगे खबर चलती है। बाजों की धुन पर। इस गाँव के कंध ने ढोल पीट दिया, उस गाँव के कंध ने इशारा समझ लिया। उसे पता चल गया कि 'फाराष्टी' आया है। उस गाँव के कंध ने

भी ढोल पीट दिया, और खबर उसके बाद वाले गाँव को भी मिल गई। हाट-बाट में अब यही चर्चा है। इस गाँव से उस गाँव मेहमानी करने जाने वाले कंध के पास भी यही खबर है। कंध पहले से तैयार है। चंदे लग रहे हैं। पैसे जमा हो रहे हैं। मँडुआ, बेसन, मिसरी-कंद, लाल मिर्च, इमली, पुराने अनाज आदि जुटाए जा रहे हैं। एक ही तो 'फाराण्टी' है, कितनी बार आ सकता है गाँव में? जी भर दो। संतोष देकर विदा न किया, तो आफत में फाँस देगा। आप कौपीनें पहन कर, रूखे सिर रह कर मेहमान की आवभगत के लिए इतने साज-सामान कोई प्यार से नहीं जुटाता, डर से ही जुटाता है। पंचायत होती है, एक-एक बात पहले से ठीक-टाक कर ली जाती है। 'पोड़' खेतों को जहाँ तक पार लगता है, जोत-गोड़ रखा जाता है। जुते-गुड़े खेतों को देख कर 'फाराण्टी' को यह पता लगाना कठिन होता है कि नया 'पोड़' कौन है, और पुराना कौन है। गाँव में लोग यह सलाह कर लेते हैं कि कोई किसी का नाम न बताए, 'फाराण्टी' जो कूत दे, उसे आपस में मिल-जुलकर चुका दिया जाय और छुट्टी पा ली जाय। बहुत हठ करे, तो दो जने निकल आएँ, कहें—मैंने 'पोड़' किया है। जो भी जुरमाना होगा, जो भी सजा होगी, सब मिल-जुल कर भुगत लेंगे।

यह भी पहले से ही ठीक कर रखा जाता है कि उसका डेरा कहाँ पड़ेगा, उसका भार कौन ढोएगा, मुरगा कहाँ से आएगा, कौन बकरा मारा जायगा। सब तैयार रहता है, बस 'फाराण्टी' के आ जाने की ही देर रहती है।

उस रात डिसारी ने सारी रात तारों पर टक बाँधे ही बिताई थी। भोर होते-न-होते सारे लोग उसके पास जुड़ आए थे। "कह डिसारी, 'फाराण्टी' तो आ गया है, पर 'योग' कैसा पड़ा है? फल क्या होगा?" रात-रात भर बैठे रह कर डिसारी ने ये सवाल हल कर रखे हैं। इतना कष्ट वह किस लाभ के लोभ से उठाता है? अपने समाज के लिए ही तो? डिसारी कहे जाता है—"योग आधा भला है, आधा बुरा।" इसी के अनुसार पंचायत के फ़ैसले भी बदलते हैं। छोटे बकरे की जगह बड़ा बकरा

मारना तय पाता है। इसी के अनुसार अन्यान्य सामग्रियाँ भी घटाई-बढ़ाई जाती हैं। सभी अधिकारी महाप्रभु होते हैं। 'फाराष्टी' भी किसी से ऊना नहीं है। 'पोड़ू' करो तो वह पकड़ता है, जानवर मारो तो वह पकड़ता है। गोरू चराने पर पानू (टैक्स) लगाता है, हल रखने पर 'पानू' लगाता है। इसके सिवा उसे और भी कई अधिकार हैं। और-और अधिकारियों को वह नाना विषयों की सूचनाएँ भी देता है। उन्हें बता आता है कि कौन दारू चुआता है, कौन अपने दरवाज़े के आगे कचरे डालता है। बताए भी तो क्यों नहीं? सभी अधिकारी आखिर हैं तो एक ही जाति के? वन के कंध से सभी भिन्न हैं।

डिसारी की दुआ हो ली। अब बेजुणी की दुआ की बारी थी। झाकर देवता, घर-देवता और आपद-तारिणी चितागुड़ी ठकुरानी की गुहरावनी की गई। उन्हें बता दिया गया कि अधिकारी आ रहा है, वह कुल का पूत नहीं है, दल का मानुष नहीं है। उनसे वर माँगा गया कि अधिकारी के आने से कोई आपद्-विपद् न पड़े। कंध के हाथ-पैर बँधे होते हैं। नई दुनिया की आहट से ही उसके प्राण भय से काँपने लगते हैं। सब से अधिक डर उसे क़ागज पर की लिखावट से होता है। डर, आशंका और अविश्वास के थपेड़े खाता, झकोरों में झूलता, वह निस्तार की और कोई सूरत नहीं देखता। उसका बस एक ही काम रह जाता है, देवता पूज-पूज कर, धरती पर सिर पटक-पटक कर निहोरे करना, दुहाइयाँ भरना और वर माँगना कि हे देवता! विपद् न आए, कष्ट न हो, तुम सब ठाकुर रक्षा करो।

धूप रहते ही फाराष्टी आ पहुँचा। आगे-आगे दिउड़ू साँवता, उसके पीछे बारिक भुरसा मुंडा और गाँव के मुखिया जेठरैयत और उनके पीछे सारा गाँव जुटकर आधे रास्ते से ही उसके अगवानी करने गए। साँवता मिट्टी के एक चुक्कड़ में थोड़ी-सी खीर लिए चला। पत्ते से मुँह बाँधकर रस्सी से झुलाए। साथ ही केले का एक घौद भी। परिछन की पैर-पूजा पहले कर लेनी जरूरी होती है। अधिकारी इतनी दूर से पैदल आ रहा है, थककर चूर तो हो ही गया होगा। आधी राह चल लेने पर बैठ कर काफ़ी-

वाफ़ी पी ले और तब गाँव में आए, यही ठीक है।

वह रहा। वह देखो, आगे-आगे कंध मोटिए चल रहे हैं। उनके पीछे बेंत लिए 'गारड़' है। सब के पीछे 'फाराष्टी' है। काना 'गारड़' कांधे पर बंदूक लिए है। म्ण्यापाय् वाले उन्हें देखते ही दौड़ पड़े, और दौड़ते हुए ही ऊपर से घाटी में उतरे। घाटी में पेड़ की छाँह तले एक चट्टान है। जितने भी अधिकारी आते हैं, उनकी अगवानी में बाट-परिछन वहीं की जाती है। पास पहुँच कर सभी "महाप्रभु-महाप्रभु" पुकारते हुए झुक पड़े! जैसे आँधी के आगे बाँस के वन झुक जाते हैं। 'फाराष्टी' खीज गया। मुँह से दक्खिनी सूटा[1] निकाल कर ज़ोर से धरती पर दे मारा। उसकी सारी देह पसीने से लथपथ हो रही थी। गरजकर बोला—"क्यों बे ग्याळप साले, जंगल जला-जला कर इस धूप में मुझे दौड़ाने में बड़ा मजा आता है? ठहरो, तुम्हारी भुगतान किए देता हूँ, स्साले!—क्यों बे साला सॉवता. नई सॉवतागिरी के जोश में सारा जंगल फूँक डाला। सॉवतागिरी की करामात दिखाने चला है? ठहर साले, मैं तेरे सिर के ऊपर किसी डंबं को सॉवता बिठाता हूँ! देखता रह!" जवाब में चारों ओर से केवल "महाप्रभु-महाप्रभु" की दुहाइयाँ उठ रही हैं। 'फाराष्टी' की धमकियाँ-फबतियाँ सुन कर लोग 'गारड़ों' को घेर-घेर कर फुसफुसा रहे हैं। एक जाता है, एक आता है। न जाने किस मंत्रणा में पूरी गोष्ठी व्यस्त है। जंगल के लोग फाराष्टी की धमकियों का कुछ और ही अर्थ समझते हैं। वे इन धमकियों को एक सवाल के रूप में लेते हैं। इस सवाल के रूप में कि सब ठीक-ठाक कर रखा है न? सब कुछ जुटा रखा है न? खान-पान, डेरे-डंडे या लेन-देन में कोई असुविधा तो नहीं होगी न? बारीक चावल, महँकता घी, बकरा, मुरगा, सब कुछ रखा है ना, या कि कोई कमी रह गई है?"

दो बार साला-ग्याळप सुना दो और भुगतान की धमकी देकर डरा दो, और बस! फिर तो ये जंगली लोग आप ही अधिकारी के चरणों में दौड़ पड़ते हैं। "—तू जरा समझा दे माहाप्रू—तू बता दे माहाप्रू—

---

१ चूरट।

हमारा क्या है माहाप्रू—हमारा कुछ नहीं माहाप्रू—हम तो जंगल के बंदरों जैसे हैं, जहाँ से जो मिला है 'सञ्ञा' (जुटा) रखा है,—ऐसा मत कह माहाप्रू, ऐसा मत कह ! ऐसा कहेगा माहाप्रू, तब तो हम मर जायँगे ! मरेंगे नहीं भला ? तू अधिकारी है माहाप्रू। तू कोपेगा तो हम कहाँ रहेंगे ? हम ठहरे देसिया, घर से बाहर पैर रखा नहीं कि सिक्सन[1] लँघ जाता है। डग-डग पर लाँघते हैं, दोष करते हैं, तू ही रक्षा करता है। तू रक्षा न करे, तो फिर कौन करेगा माहाप्रू—? हमारा दिकू[2] देख माहाप्रू, बड़े माहाप्रू को ज़रा ठीक से समझा के बता दे माहाप्रू—"

'फाराण्टी' बैठ गया। कंध बिजना डुलाने लगे। एक ओर आग सुलगा दी गई। अंटी में मुरगी के अंडे और दूसरी चीज़ें छिपाए हुए लोग चोरों की तरह दबे-दबे डरे-डरे आग के पास आवा-जाही करने लगे। कोई पूछता तो कहने लगते—"कुछ नहीं, कुछ नहीं दे रहा। क्या दूँगा ? जंगली मानुष ठहरा, है ही क्या जो दूँ ? एँ ?—ना ना, बड़ा ही भला है, उत्तम है हमारा महाप्रभु अधिकारी। महाप्रभु अधिकारी के खिलाफ़ कुछ कहने का माथा है मुझमें ? कोई कष्ट नहीं देता, कोई अत्याचार नहीं करता। ठाकुर जैसा लोग है, देवता जैसा।"

महाप्रभु चट्टान पर विराज रहे थे।—"ओ बे सादू, इन ग्याऴप सालों ने बालम्मा[3] बाँधा भी है या यहीं बिठाए रखेंगे ?"

"हट हट, जा जा," की धूम मच गई। 'गारड़' बोले—"अबे साले, जा गाँव में बंदोबस्त कर। काफ़ी पीके हम गाँव में जायँगे या यहीं बैठे रहेंगे ?"

पहाड़ों के ऊपर के गाँवों में बसे लोग उतर-उतर कर देख गए। इसी

---

१ सिक्सन लंघ जाता है = किसी न किसी कानून का उल्लंघन हो जाता है।

२ दशा, दुर्दशा।

३ पर्णकुटी

का नाम अधिकारी है ? इसी के लिए इतनी तैयारियाँ हो रही थीं ? लोग इसी की सोच रहे थे ? सो लो, सचमुच आ गया !

जलपान हो लिया। प्रभु अधिकारी उठे। उनके मोटिए कंधों से इस गाँव वाले सारा हालचाल पूछपाछ चुके थे। लोग तितर-बितर होकर आगे-आगे दौड़ पड़े। स्त्रियाँ छिपने लगीं। बच्चे भागने लगे। पीछे-पीछे छड़ी टेकता, जूते मचमचाता अधिकारी चला। उसके पीछे इस गाँव के 'बड़े' लोग चले। आगे-आगे 'महाप्रभु' की रट में दुहाई फिरती चली। दाँएँ-बाँएँ से दंडवत होते चले। 'जुहार-जुहार' की गुहरावनी होती चली। और पीछे-पीछे से "साला, ग्याळप ऽ' लाँजिकोड़ा का, लम्ड़ा-कोड़का (रंडी का जना) "आदि गालियों की आशीर्वादियाँ बँटती चलीं।

"क्यों बे, जंगल काटा है ?... क्यों बे, जानवर मारे हैं ? "

"हाँ महाप्रभु, बस्ती से थोड़ा ही हट कर 'बालसा' बाँध दिया है। वहाँ लकड़ी भी है, पानी भी है, छत्तीसों विनियोग पूरे हैं।"

महाप्रभु पहुँचे। पधारे। खोद के गड़ी टुटही खाटें बिछी थीं। महाप्रभु विराजे। चूरुट के कश लगाने लगे। सिर टेक-टेक कर माथे की धूल बिना पोंछे ही सारे कंध उन्हीं की ओर टक बाँध कर बैठ गए। अब से लेकर महाप्रभु के लौट जाने तक वे इसी तरह छावनी को घेरे बैठे रहेंगे। गुमसुम बैठे रहने से कहीं वह आशंकित अलच्छन घड़ी आ न जाय और अधिकारी 'पोड़' की चर्चा छेड़ न बैठे, इस डर से लोग कुछ-न-कुछ लाते ही रहे। एक आता, एक जाता। साँवता और मुखिया-मुरब्बी जैसे लोग उनकी भेंट की रसद पत्तों के दोनों में ले-लेकर सिर झुकाए जाते और अधिकारी के चरणों तले धर-धर आते। बकरे का मिमियाना सुनाई पड़ा। मुरगे का कुर्राना सुनाई पड़ा। भाँति-भाँति के शब्दों और नाना प्रकार की सामग्रियों से छावनी कोई और ही दुनिया बन गई।

पहली शांति उतर चुकने पर झुटपुटे की बेर अधिकारी जंगल घूमने चला। चढ़ता-चढ़ता गाँव-पहाड़ की चोटी तक गया। उसी टीले से दूर-

दूर तक के जंगल-पहाड़ देख लिए। "ओ बे सादू, वह जो वहाँ एक चक-सा है, निसार गाँव के पहाड़ से—"

"माहाप्रभु, और वहाँ, हारसूपद का खेंदा (डाँडा), डेङणागुड़ा की तलहटी का पहाड़, चिकूगुड़ा का दमक—[१]"

'गारड़' कहता जाता, 'फाराष्टी' लिखता जाता। कंध लोग डर के मारे एक दूसरे का मुँह ताकते रहे। चिंतित हो उठे। अपने लिए नहीं, दूसरे-दूसरे गाँवों के लोगों के लिए! 'फाराष्टी' एक नज़र देखकर ही पाँच-पाँच कोस दूर तक के पहाड़ों के ऊपर 'पोड़ू' खेतों के रकबे का हिसाब करके लिखता जा रहा था—"निसार डाँड़ा ३०·७० एकड़, सर्गी (शाल-वृक्ष) का जंगल, एक-एक पेड़ की गुलाई ६ फ़ीट से १६ फ़ीट तक। हार-सूपद के खेंदा तले ४·०·९ एकड़, साढ़े सत्ताइस गाड़ी बेल-बूटे, ऊपर १६·५८ एकड़। सर्गी (शाल) दौना-काठ, बीजा (पीला शाल) और बकायन (महानीम) के पेड़, गुलाई ७ फ़ीट से १३ फ़ीट तक।" बेजुणी की दिव्य दृष्टि और डिसारी की तारा-गणना से भी कहीं तेज़, कहीं साफ़, कहीं अचूक, कहीं पैनी, कहीं सूक्ष्म-गणक है यह दृष्टि और इसकी माप-तोल। कंधिया भाई अवाक् रह गए। काठ-सा मार गया उन्हें तो। वहीं-के-वहीं खड़े रह कर 'फाराष्टी' ने दस-ग्यारह मील दूर तक की परिधि के 'पोड़ू' चकों के रकबे, पेड़ों की जाति, उनकी गुलाई आदि एक-एक तफ़सील कागज पर टाँक ली। जाने कैसे-कैसे अगम-गहन जंगलों की बातें! जा-जाकर देख-सुन कर लिखता तो एक-एक के लिए कम-से-कम एक-एक महीना लगता और सब के लिए तो पूरा एक युग! न जरीब घसीटी गई, न घेर-घारकर पैमायश की गई! म्ण्यापायु के पहाड़ के सींग पर साँझ की बेर खड़े 'फाराष्टी' ने दशमलव बिंदु तक का रकबा चुटकी बजाते पा लिया। आवर्त्त दशमलव बिंदु तक भी छुट नहीं पाया। महीनों का काम पाँच मिनट में कर दिखाना उसकी पारंगति ही नहीं, बहादुरी भी है। उसे तो फ़ौरन तरक्की मिलनी चाहिए।

---

१. सानुदेश।

साँझ आ गई। अँधेरा होते ही लेंजू कंध सोनादेई के घर गया। आज तुरुंजा भी घर पर है, बामु डा भी है। बारिक के साथ ओसारे में ही बैठ कर लेंजू कंध ने दारू पी। "ज्यादा मत पी बारिक। बू आएगी। अधिकारी पकड़ के पिटवा देगा। ला, मुझे दे।"

"और तू ही भला ज्यादा पी के कैसे चलेगा साँवता? चल चलें।"

"गाँववाले क्या सोचेंगे बारिक? और दिउड़ु तो हर घड़ी जोंक-सा चिपका रह रहा है।"

"उसका हीला मैं कर दूँगा। तू मुझ पर छोड़ तो दे साँवता! देख मैं कैसे करता हूँ! पहले 'गारड़' माहाप्रू को कहना पड़ेगा। हम दोनों चल के 'गारड़' को घर बुला लाएँ। 'गारड़' ही 'फाराष्टी' से बात करेगा। 'फारास्टी' लौट के 'रिबिणी' से कहेगा, और 'रिबिणी' कहेगा निङमन से। काम ऐसे होता है। सारे अधिकारी भाई-भाई होते है। एक जान ले तो सभी जान लेंगे। आखिर एक दिन तुम्हारे मत्थे सिरोपा बँधेगा। तुझे नायकी मिलेगी। तब तू समझेगा कि मेरी बात सच है कि झूठ है! तू गाँव का साँवता होगा। मुझे अच्छी तरह खेत-बाड़ी तो देगा न साँवता? या कि उस समय भूल जायगा?"

सोनादेई भीतर चूल्हे के पास बैठी थी। आग की दाँक में उसका मुँह लाल-लाल लग रहा था। इससे उत्साह मिल रहा था। लेंजू कंध सोच रहा था कि मैं सचमुच साँवता बन जाऊँगा।

"कुछ रखा है न साँवता? या कि सब-कुछ जबानी जमाखर्च ही होगा?"

सोनादेई बड़े आग्रह से देख रही थी कि देखें लेंजू कंध क्या जवाब देता है! उसके कपड़े फट गए थे। हाथ भी खाली था। मुँह खोलकर कहना पार नहीं लगता।

"कुछ तो है ही बारिक। न भी हो, तो हथफेर ले लूँगा। ऐसा तो है नहीं कि कोई देगा ही नहीं?"

बारिक ने लंबी उसाँस भरी। आदमी की अच्छाई में उसका विश्वास बहुत ही थोड़ा है। लोग बेकार ही मेल-जोल बढ़ाते रहते हैं; पर छूँछे-ही-

छूछे। पैसे की बात उठते ही मुँह पर ताला पड़ जाता है। लेंजू कंध पकड़ में आना नहीं चाहता। यह बताने से कतरा रहा है कि पास में कितने पैसे हैं।

रात घड़ी भर बीत गई। दोनों यार गए। अँधेरे-अँधेरे में फुसफुसाकर जाने क्या बात की। बूढ़ों का विद्रोह है यह। राह में खाँसते-खाँसते और दो-चार बूढ़े आ मिले। जांबा कंध आया। बात चल पड़ी। उपाय सोचे जाने लगे। दिउड़ू को उखाड़ कर लेंजू कंध को साँवता बनाना है। बात तो सोलहो आने ठीक है ; पर यह हो कैसे? पूछने को सभी पूछते हैं, पर राह कोई नहीं सुझाता। दिउड़ू जान गया तो वज्र-मार मारेगा। कोई छोह-मोह नहीं उसे। 'फाराष्टी' की छावनी के पास पहुँचते ही पहली दुर्घटना घट गई। दिउड़ू चौके के पास से झपटा आया और बारिक पर बरस पड़ा। पता नहीं मारा भी कि नहीं मारा। "कहाँ था? अब तक क्या कर रहा था? इतनी देर कहाँ लगाई? नशेबाज़ कहीं का। तुझसे किसका क्या भला होगा? अधिकारी आए हैं, कहीं आना-जाना हो, हाँकना-बुलाना हो, तो कौन करेगा? बारिक-धरती तुझे इसी काम के लिए मिली है, दारू पीने के लिए नहीं! चल, तुझे 'गारड़' के आगे ले चलता हूँ . . ।"

'गारड़' एक जगह आराम से बैठा बाट जोह रहा था। —"साला, ग्या ळप ऽ" गरजते हुए उसने एक प्रचंड थप्पड़ जड़ डाला—"साला! बारिक बना फिरता है! पुकार-पुकार के गला बैठ गया, सुनता ही नहीं! आ, ले, 'नोकी-डाबले' (बरतन-बासन) 'गाड़' (नदी) से माँज-मूँज ला। जल्द आना, राह में ही कहीं मर मत जाना।" बारिक की सुध-बुध हेरा गई थी। जाते-जाते रुआँसे से सुर में कहता गया—"बिना दोष पिटवा दिया मुझे। मुझ में धरम है दिउड़ू साँवता, मैं बूढ़ा हूँ!"

'गारड़' अपनी जगह पर लौट गया। 'फाराष्टी' घर में लेटा था। कंध बच्चे उसी के पैर दाब रहे थे। 'फाराष्टी' लेटा-लेटा सब सुन रहा था। सोच रहा था—'गारड़' बूढ़ा हो गया है, तो क्या हुआ, अशक्त अभी नहीं हुआ है।

गाँव के बूढ़े दिउड़् को घेरे बैठे थे।—"बिना कारण बारिक को पिटवा दिया साँवता—"

क्या कसूर था उसका? साँझ डूबे तक यहीं था। घर गया और उलटे पाँव लौट आया। इतनी देर भी तुझसे रहा नहीं गया? इतना भी सह न सके? 'नोकी-डाबले' माँजने को इतने लोग तो थे ही! बूढ़े बारिक के बिना कोई काम पड़ा थोड़े ही रहता?"

"बूढ़े साँवता जीते होते तो ऐसा कभी न होता दिउड़, कभी न होता!"

अब और टंटा बढ़ाने की चाह दिउड़् की तनिक भी न थी। पराए हाथों से किसी को पिटवाने का उसका मतलब कभी न था। अब यह बात गाँव में उठेगी। लोग दोष देंगे, दूसेंगे।

मुँह बिचका कर दिउड़् ने कहा—"बारिक का पच्छ लेने की ही इच्छा हो रही हो, तो जाओ उस घर में 'फाराष्टी' सो रहा है, उससे पूछो। बारिक-बारिक पुकारते-पुकारते वह हार गया। कहीं कोई हो, तब तो सुने! बारिक-धरती की उपज वह खाए और अधिकारी मुझे खाए। पार न लगता हो, तो काम छोड़ दे, किसी और को बारिक बना देंगे।"

बूढ़े चुप हो गए। अधिकारी रिसिया गया है! रीस-खीस का कोई कारण हो कि न हो, बूढ़ों के चुप होने को इतना ही काफ़ी था। लेंजू का दिल बैठ गया। बड़ी-बड़ी आशा लेके आया था वह। हाट में खो गए बच्चे की तरह जिसका-तिसका मुँह टुकुर-टुकुर ताक रहा था। 'गारड़' के लिए वह अंटी में पैसे भी लाया था; पर बारिक ही नहीं, तो बात कौन करे? दूसरा ऐसा कोई भी नहीं, जो उसके लिए बात चला सके। 'फाराष्टी' जाने किससे बातें कर रहा है। अच्छा, अगर भीतर जाकर बच्चों में मिल जाऊँ और उसके पैरों पर हाथ फेरने लगूँ...."

बहुत सोच-विचार लेने के बाद वह भीतर गया। बच्चे उसके पैर दाब रहे थे। एक बच्चा बड़ी देर से लगा था। लेंजू ने उसकी जगह ले ली। कुछ देर चुपचाप चापता रहा; पर कुछ ही देर चाप सका। यकायक 'फाराष्टी' ने पैर खींच लिया और गरज उठा—"पैर दबाना तूने कब

सीखा बे साले ! हाथों में खाली काँटे ही काँटे उगा रखे हैं साले ने। नाखूनों से नोंचता है। दाब रहा है कि छेद रहा है बे? लेंजू काका ने चुपचाप सुन लिया, सह लिया। पर फिर भी धीरे-धीरे हाथ फेरता ही रहा। अधीर होकर 'फाराष्टी' ने पुकारा—"ओ बे सादू, उस लौंडे को बुला दे रे। यह बुड्ढा न जाने कहाँ से टपक पड़ा है मुझे तंग करने को।"—लेंजू काका डर कर पीछे हट गया। अब तो महाप्रभु के पैरों पर हाथ देने का उसे कोई अधिकार ही न रहा। दरवाजे पर बैठा घात लगाए रहा। बड़ी देर बाद डरते-डरते बोला—"माहाप्रू, हमारे गाँव में बड़े बुरे दिन आए हैं माहाप्रू! गाँव में अब कोई सुख नहीं, कोई भलाई नहीं। गाँव बिखरा जा रहा है माहाप्रू।"—बात शुरू कर दी थी, तो लेंजू काका मन की बात पूरी कह भी डालता, पर माहाप्रू बिगड़ उठा—"तुझे पूछता कौन है बे 'पट्कार' कहीं का? तुझ से सौ-पचास माँग ही कौन रहा है, जो तू यहाँ दाल-भात में मूसलचंद बना बकवास करने आया है? कि गाँव बिखर रहा है, खाना नसीब नहीं हो रहा, हम मरे जा रहे हैं? चोर ग्याळपऽ साले, भोर-भिनसारे जंगल बरबाद करने निकल पड़ते हैं और 'तनखी' (जाँच) करने आओ, तो बातें बनाते हैं। 'दिकू' देख माहाप्रू! कुछ नहीं है माहाप्रू!! ओ बे सादू!!!"

बाहर से दिउड़ू दौड़ा आया। बोला—"बात करने का ढंग तो आता-जाता नहीं, प्रभु-अधिकारी के आगे मुँह खोलने कहाँ से टपक पड़ा तू लेंजू काका?"—हाथ पकड़कर घसीट ले गया। अधिकारी का बिगड़ना सुनकर वह मन-ही-मन हँस रहा था; पर सोचा कि बारिक की तरह मेरा काका भी पिट गया, तो बात कुछ भली न होगी। लाचार इच्छा न होते भी वह बीच ही में घुस पड़ा और घसीट लाया। लेंजू काका नीचे से ऊपर तक पीपल के पात सरीखा काँप रहा था। उधर 'गारड़' भी 'फाराष्टी' के पास गया। भीतर की बातें सुनाई पड़ रही थीं। "इन ग्याळ्पऽ सालों की कुछ न पूछ सादू, कुछ न पूछ! बुड्ढा चोर की तरह दबे पाँव आया और मतलब क्या था, जानता है तू? बैठा-बैठा मुझे फुसलाने का! ठगने का! जैसे मैं कोई दुध-मुहाँ बच्चा हूँ!"

मीठी-मीठी गालियों में लेंजू को ऊब-डूब करता दिउड़ू बोला—"कहने मे सुनता तो है नहीं तू इचाबा[1]! उलटे मुझपर रिसिया उठता है। अब देख, तू ने यह क्या किया! उसने खाक समझी तेरी कही! तू जा, मैं जाके उसे समझाता हूँ।"

दिउड़ू लल्लो-चप्पो और निहोरे करके माफ़ी माँगने गया—"बूढ़े की बातका कोई बुरा न मानना माहाप्रू! तू बाप है, हम तेरे बेटे हैं। अपना दुख तुझसे न रोएँ, तो किससे रोएँ माहाप्रू! कौन सुनेगा?"

चौक से भुने माँस की गंध आ रही थी। फाराष्टी ने उधर का ही ध्यान किया।—"ओ बे सादू, पहले दो पारचे वैसे ही ला रख।—हाँ, क्या कहा साँवता? कल सवेरे चलना। सभी 'पोड़ू' मुझे दिखला देना। अच्छा? अरे, कसूर तो कर ही बैठे हो, अब छिपाने से छिपेगा थोड़े ही?"

१ छोटा बापू अर्थात् चाचा।

छिहत्तर

सेवा करते-करते आधी रात भी पीछे रह गई। गाँववाले फ़ाराष्टी की छावनी पर जमे रहे। वहीं सो भी रहे लोग। मच्छड़ों से कटवाते रहे। फुसुर-फुसुर बातें करते, उद्धार के उपाय सोचते रहे। कैसे इसके दावों से उभरे आदमी ? कंध झूठ नहीं बोलता ; पर बात छिपा रखने में उसे कोई आपत्ति नहीं होती। रात-भर उधेड़-बुन रही। रात-भर देवी-देवता सुमिरे जाते रहे। "हे माँ चितागुड़ो, परेवा चढ़ाएँगे, मुरगा चढ़ाएँगे, त्राहि माँ ! निकौड़िया गाँव है, निदरबी गाँव है। हे माँ झाकर-देवता, रींधी दारू से नहलाएँगे तुझे, बकरा बलि देंगे, सूअर बलि देंगे, इस 'फ़ाराष्टी' के कंठ में विराज, 'गारड़' के कंठ में विराज ! रक्षा कर माँ, रक्षा कर !" वन-देवता आके खड़ा नहीं होता, पर ढारस देता है, दिलासा-भरोसा देता है। मन को धीरज बँधा-बँधाकर सोचते-सोचते गाढ़ी नींद सवार हो गई। लोग अचेत पड़े रहे। ऊपर तारे टिमटिमाते रहे, नीचे बिखरे नंगे लोग खुले में पड़े सोते रहे।

सवेरा हुआ। सवेरे से ही 'फाराष्टी' का अभिषेक होने लगा। फिर भार-की-भार सामग्री आई। जितनी भी चीज़ें होती हैं, सब। जो उसने कही हैं वे भी, जो नहीं कहीं वे भी। 'फाराष्टी' ने नित्य-कर्म निबटा लिए। खबर है, आज यह गाँव छोड़ जायगा। सुनकर सभी की छातियाँ डर से दमादम उछल रही हैं। आफ़त की घड़ी पास आती जा रही है। अब 'फ़ाराष्टी' काम की बात छेड़ने ही वाला है।

उसने सभी को जमा किया। सभी चुप साधे बैठे रहे। आदेश दिया, —"जाओ सभी नहा आओ।" मरके आने को कहा होता, तो वह भी सिर-आँखों पर होता। यह तो कोई ठिठोली है। बड़े लोग कभी-कभी बच्चों के-से खेल खेलना पसंद करते हैं। नहा-धोके जूड़ों में तेल चुपड़े सभी फिर आ जुटे। 'फ़ाराष्टी' महाप्रभु लुंगी पहने, बड़ा-सा सूटा सुलगाए,

कश लगाते बैठे थे। संगी उनके खड़े उनके वचन की राह देख रहे थे। महाप्रभु बोले—"ओ बे सादू, थैली लाना जरा।" एक थैली लाई गई। सभी की आँखें उसी पर टँगी थीं। थैली में हाथ डालकर 'फ़ाराष्टी' ने काठ की एक पुतली-सी निकाली। पुतली का माथा सिंदूर से पुता था। कंध लोगों के आगे पुतली को दो बार नचाकर उसने एक पत्थर के ऊपर 'थाप' दिया। फिर गंभीर होकर बोला—"यह देख। यह तिरुपति ठाकुर है। जुहार कर, जुहार कर।"

चारों ओर से नारा उठा,—"जुहार माँ, जुहार, जुहार!"

फ़ाराष्टी बोला—"अरे, माँ यह नहीं है रे। बापा है बापा।"

"ठाकुर जो होता है, वह माँ भी होता है और बापा भी माहाप्रू।"

'फ़ाराष्टी' कुछ न बोला। लोगों के मन थाहने को ताकता रहा। सभी की आँखें उसी पुतली पर ही अटकी थीं। ठाकुर को जो प्यार करते हैं, उनके सिर जिस किसी भी ठाकुर के आगे आप-ही-आप झुक पड़ते हैं। ये कंध यह नहीं जानते कि तिरुपति ठाकुर कौन हैं। फिर भी सम्मान किसी की भी आँखों में कोई ऊना नहीं है।

"इतना घूर क्या रहे हो? चाहें तो तुम सभी को खा डाल सकते हैं।"

"माहाप्रू..., माहाप्रू..., ऐसा न कह माहाप्रू। ऐसा कहेगा तू, तो हम मर जाएँगे। मरेंगे नहीं भला?"

"सुनो कंध लोगो, तुम सभी नहा-धोके आए हो, एक-एक करके आते जाओ और तिरुपति[1] ठाकुर के सिर पर हाथ रखकर साफ़-साफ़ कह जाओ कि किसने कहाँ कितना जंगल मारा है।"

सभी चुप। कहीं जरा हिलने तक की आवाज नहीं। इतने बड़े प्रस्ताव के लिए कोई भी प्रस्तुत न था। कोई भी हिला-डुला नहीं।

---

१ द्रविड़ भाषाओं में, विशेषकर तमिळ में, 'तिरु' शब्द 'श्री' का पर्यायवाची होता है; पर 'तिरुपति' आम तौर पर श्रीपति विष्णु को नहीं, बल्कि सीतापति भगवान् रामचंद्र को ही कहते हैं।—अनु०

'गारड़' बकते फिरे, "क्यों बे, अधिकारी माँ-बाप ने जो कहा, सो करता क्यों नहीं है बे ? क्यों बे, सुनाई नहीं देता ?"—लोग एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। किसी ने जवाब नहीं दिया।

पाँचों 'गारड़' माहाप्रू उठे। लाठियों से कोंच-कोंच कर लोगों को उठाया—"आ आ, तिरुपति ठाकुर को छूके कह, आ। हमें बिठाए ही रखना है क्या ?"

आफत आखिर आ ही पड़ी। सभी एक-साथ 'होइ-होइ' करके उठ पड़े। सभी एक स्वर से—"नहीं-नहीं" बोल उठे। 'फाराष्टी' बैठा रहा। उसने ऐसे कितने कांड देखे हैं। इन्हें खूब चीन्हता है। सभी तर्क विफल हुए। अधिकारी का आदेश मानना ही पड़ेगा। आपस में जी-भर बोल-बतरा कर लोग फिर गुमसुम हो पड़े। फिर भी अधिकारी ने हार नहीं मानी। चेताने लगा—"हाँ हाँ, उठ उठ।"—"महापुरु को कैसे छुएँ माहाप्रू ? उन्हें छूके पर्माण् कैसे करें ? पाप लग जायगा माहाप्रू—"

"अबे, आता है कि नहीं !"

इधर यह माहाप्रू चिग्घाड़ रहा है, उधर उस माहाप्रू को छूना पड़ेगा। दोनों एक-से-एक महाविपद् हैं। दोनों के बीच भय से विह्वल आँखें हैं। अनागत की आशंका खाए डाल रही है। धीरे-धीरे बहस ठंडी पड़ गई। अधिकारी की चेतावनियों का आतंक बढ़ता गया। पर्माण् (शपथ) से कंध बेतरह डरता है। अपना विश्वास उसे दुर्वह बोझ-सा लगता है। गोष्ठी की ऐसी विकट घड़ी में डिसारी उठ खड़ा हुआ। कंध के देवता आकाश के दरमू की ओर हाथ उठाकर और झुकते हुए दरतनी को छूकर हाथ सिर से लगा लिए। बोला—"हमें पाप लगेगा ? नहीं, हमें पाप नहीं लगेगा, दोष नहीं लगेगा ! अधिकारी कहते हैं, तो जा..." पर आगे जाय कौन ? साँवता पीछे हट गया है। और सभी सिर टेकने में लगे हैं। खीजकर 'फाराष्टी' ने पुकारा—"ओ बे सादू, तू ग्याळपऽ किसी काम का नहीं !"

सादू 'गारड़' तत्पर हुआ। पास के एक बूढ़े का हाथ पकड़ के घसीट लाया और बोला—"छू छू, कह कह।" वह बूढ़ा जांबा कंध था। आकुल होके जांबा बोला—"माहाप्रू, माहाप्रू, तेरा गू-मूत खाता हूँ माहाप्रू।" सादू ने जांबा का हाथ जबरदस्ती उस काठ की पुतली की ओर खींच लिया। जांबा सिर से पाँव तक थर-थर काँप रहा था। जब तक उसका हाथ काठ की पुतली से सूत भर अलग रहा, तब तक वह भरे-भरे गले से—"मैं नहीं माहाप्रू, मैं नहीं माहाप्रू" रटता रहा! 'गारड़' ने जांबा के हाथ को और खींचकर काठ की पुतली के सिर पर दे मारा। जांबा पल भर में ही पसीने से नहा गया। 'फाराष्टी' ने पूछा—"बता, कहाँ का जंगल मारा है?" बड़ी-बड़ी आँखें फाड़े जांबा उस पुतली को घूरता रहा। कहने लगा,—"चंपा के पेड़ों के खेंदा में। दो मोड़ के लगभग धरती होगी।—" एक-एक बात बता गया वह। 'फाराष्टी' ने कागज निकाला, लिखना चाहा। डरे बच्चे-सा चीख मार कर छटपटाता हुआ जांबा फाँद पड़ा—"मत लिख माहाप्रू, लिख मत। तेरे पैरों पड़ूँ, लिख, मत।" पर 'फाराष्टी' लिखता गया। जांबा कंध मुँह बाए देखता रहा। उसके रोम-रोम से पसीना धार-धार छूटता रहा। कोई कुछ लिखने लगता है, तो कंध पगला जाता है, उसके प्राण रो पड़ते हैं।—"हर कहीं मेरी हाँ-ही-हाँ है माहाप्रू, किसी बात से मैं 'मेंड़ुआर' (इनकारी) नहीं हूँ, तेरा जूठा खाके हम वन में पड़े हैं माहाप्रू, किस कसूर से लिखे ले रहा है माहाप्रू?—!-"—माहाप्रू ने एक न सुनी। एक की शपथ पूरी हुई, दूसरा आया। एक-एक कर सभी आ गए। खेंदा के खड्ड में पड़ते सूअरों की तरह एक के पीछे एक आता रहा और पुतली के माथे हाथ दे-दे के अपना सारा अपराध सुना-सुना जाता रहा। 'फाराष्टी' सब लिखता गया। पुतली नचाकर गाँव के गलियारे में ही बैठे-बैठे उसने सारी खबर जुटा ली। मौके की सरजमीन के ऊपर वह नहीं गया, अपनी आँखों यह नहीं देखा कि 'पोड़ू' किस जंगल में हुआ है, फिर भी उसकी रिपोर्ट सोलहों आने चौकस तैयार हो गई।

तिरुपति माहाप्रू फिर थैली में पैठ गए। उनका काम पूरा हो चुका। अब फिर उनका आविर्भाव किसी और गाँव में होगा। फाराष्टी हिसाब करने लगा। हिसाब कर चुकने पर उसकी वक्तृता चली। वहाँ उस जंगल के भीतर भी वक्तृता की गुंजायश है, स्थान है, उपादेयता है। ओले पड़ने के पहले आने वाले अंधड़ की तरह उसकी अधिकांश वक्तृता के झोंके लोग इस अपेक्षा में सहते गए कि देखें माथा फटना कब शुरू होता है। उस अंधड़ में पान की पीक की फुहियाँ उड़ चलीं, काकानाड़ा चुरुट के धुएँ के बादल गुँगुआ उठे, भारी-भारी गले से निकलते शब्द वज्रपात की सूचना देते चले। सब मिला-जुलाकर निकट भविष्य का एक भयंकर प्रलयंकर चित्र उपस्थित हो गया। उस चित्र का ध्यान करने पर चामुंडा की लपलपाती जीभ तले जेल, जुरमाने, सरबस का स्वाहा, मार-गाली, घर टूटना, गाँव उजड़ना आदि एक-से-एक भीषण अंत दीखता है। "साले ग्याळ्पऽ कंध, साले पट्कार कंध लोगो, तुमने यह क्या किया, कहो तो? 'लेंजर' मेरे गले में फाँसी लगा देगा ग्याळ्पऽ, तुम तो मुझे बुड़ा मारोगे, साले! कैसा सुन्दर जंगल था, कैसी बड़ी-बड़ी शहतीरें—"

"माहाप्रू, बेल-बूटे माहाप्रू! पहले के आबाद 'सरुआ डङर'[1] ही मारे हैं।—"

"फिर मेरी बात काटी लाँजीकोड़का! ओ बे सादू, इसकी मरम्मत कर दे जरा रे! हाँ, कितना सुन्दर जंगल था! बाघ का घर था! उसे भी जला डाला तुमने! बाघ को बेघर कर डाला। इसी तरह सारे जंगल पार दोगे तुम तो! फिर तो बाघ को रहने का कोई ठौर ही नहीं रहेगा। फिर बाघ आके तुम्हीं को खाएगा। खैर, जो किया किया, अब हर-जाने भरो! मरो साले!"

---

१ एक बार जंगल साफ कर लेने के बाद नई झाड़ियों के जो छोटे जंगल दुबारा-तिबारा उग आते हैं, वे "सरुआ डङर" कहलाते हैं।—अनु०

हरजाने का हिसाब हुआ। "अब दें कहाँ से माहाप्रू ?" फिर भार के भार माल-असबाब आने लगे। चोरों की तरह चुपके-चुपके पिछवाड़े की राह छावनी भरी जाने लगी। पैरों से बँधे मुरगे कुर्र-कुर्र कर रहे हैं, बकरी में-में कर रही हैं। फाराष्टी उधर ही कनखियों से ताकता रहा। हरजाने का हिसाब लगाता रहा। "न दोगे, तो मेरा क्या, मैंने तो लिख रखा है। यह देखो। कचहरी जाना। वहीं बातें कर लेना। मुझे फिर दोष मत देना। ओ बे सादू—"

फाराष्टी ने कलम वाला हाथ कागज पर रखा। इधर से एक-साथ विकल चीत्कार उठी,—"माहाप्रू, हे माहाप्रू, तेरे पैरों पड़ूँ माहाप्रू ! सच कहते हैं माहाप्रू, देना पार नहीं लगेगा !"

"अच्छा तो, लिख ही डालता हूँ। तुम 'मेंड़ुआर'[1] साले ऐसे नहीं मानोगे—"

फिर वही आकुल-व्याकुल चीत्कार उठी—"कोड़ी भर घटा दे माहाप्रू, तेरे पैर धरूँ—"

घड़ी भर यों ही बीती। घरनियाँ घरों में छिप-छिप कर दूर से ही सब सुनती रहीं। आखिर बात तय पा गई। मुँह सुखाए कंध भाई चले गए। 'फाराष्टी' पुकार उठा—"ओ बे सादू, काफी ला।"

गाँव में रुपए जुटाने की धूम शुरू हुई। साँवता, बारिक, अगुआ रैयत और बड़े-बूढ़े गाँव के गलियारे में जमा हुए। अधिकारी ने फैसला सुना डाला है। 'अप'[2] करके गाँव ने छुटकारा पा लिया है; पर अदायगी में मोहलत नहीं मिलने की। चुका दो, तभी वह उठेगा। बड़ी देर तक बहस चलती रही। कौन कितना दे ? जिसने जितना 'पांड़ू' किया था, उसे उसी हिसाब से हरजाना भी देना पड़ा। हिसाब हुआ। इस बीच थोड़ी-थोड़ी देर पर छावनी से 'गारड़' भी कई बार आया और "जल्दी करो, जल्दी करो" कह-कहकर हड़बड़ा-हड़बड़ा गया। डरू

---

१ इनकारी, ऐसा शठ जो कोई बात न माने।

२ अपराध स्वीकार करके।

रैंयत ठहरी, सुध-बुध हेरा-हेरा जाती थी। जैसे-तैसे हिसाब-निकास का झमेला सुलझा लिया गया। लाठी ठकठकाता बूढ़ा बारिक घर-घर घूम कर शोर मचाने लगा—"ला ला, देर हो रही है।"

कंध का हर घर दो-कमरा घर होता है। पिछला कमरा घुप्प अँधेरा रहता है। वहाँ घर-देवता का 'थान' होता है, पुरखों की यादगार होती है। वहीं कहीं मँड़ए के तले-ऊपर थाक-थाक रखे कूँड़ों-मटकों की पाँतों के किसी कोने में दीवार के अन्दर एक बिल होता है। बाँस की एक मोटी नली उस बिल में धँसी होती है। यही नली हर घरका अपना खजाना होती है। इसी नली में कंध का सरबस छिपा रखा गया होता है। इसी में कंध की काँटों-काँट सूखी देह का पसीना, उसके हृत्पिड का रक्त, कुछेक रुपयों की निधि होती है। कंकर-पत्थर से लड़-लड़ कर, शीतातप-वर्षा से गुँथ-गुँथ कर आदमी अनाज उपजाता है। उस उपज पर कितने ही पंजे गड़े होते हैं। साहूकार की दादन, शिस्तू-दास्तू-पानू आदि कितनी देनें होती हैं। सारी उपज सस्ते में इन्हीं के पीछे उड़ जाती है। इनसे जो बच जाय, तभी कहीं रुपया घर में आ पाता है।

आ भी जाय, तो टिक नहीं पाता। निराशा की अँधियारी ओढ़ाता, बाँस की नली सूनी करके, वह न जाने कहाँ उड़ा चला जाता है।

दिउड़ू साँवता बाँस-नली के पास माथे पर हाथ दिए बैठा झींक रहा था। नली खोलने को हाथ उठाए नहीं उठता था। सिर चकरा-चकरा उठता था। नली पर टकटकी बाँधे उदास-उदास बैठा दिउड़ू सोच में पड़ा था। बाहर से बारिक ने पुकारा—"लाया साँवता? बेर टली जा रही है। 'गारड़' माहाप्रू बाट जोह रहा है।" दिउड़ू सुनकर भी चुप रहा। अँधेरे-अँधेरे में ही दो धार आँसू झड़ पड़े। नली झाड़-झूड़कर रुपए लिए दिउड़ू बाहर निकल आया।

लेन-देन के पर्व की भी पूर्णाहुति हो गई। कागज पर कुछ लकीरें डाल-डालकर फाराष्टी बोला—"ले, रसीद ले, इसे रखे रहना।" लोग

घड़ी-घड़ी अपने कागज उलट-पुलटकर देखते रहे। क्या माने-मतलब है इसका? क्या है इसमें? मुरगा? बकरा? बोझ-के-बोझ अनाज? रुपए? इतने सारे पदार्थों का समूतल यह कागज का टुकड़ा भर है? इसमें न तो गंध है, न स्वाद है, न वजन है! चार अंगुल का कागज, हाथों में खसखसाता है।

कंध पढ़ना नहीं जानता।

गाँव से मोटिए आए। बेठ-बेगार के लिए लोग जुटाना बारिक का काम होता है। माल-असबाब बाँध-बूँध लिए गए। जाते समय एक अधन्ना फेंकता हुआ 'फाराष्टी' बोला—"ले बे साले साँवता, ले। नहीं तो मेरे पीछे में जो भी आएगा, उससे कहता फिरेगा तू कि यह दिया, वह दिया, इसने दिया, उसने दिया, पर एक वह बिना पैसा दिए ही चला गया! लौंजीकोड़ का!"

सतहत्तर

'फाराष्टी' गया।

डर-भय गया। वह उधर चला जा रहा है वह। अधिकारी की ठाटबाट से। मोटिए उसके भार ढो रहे हैं। झटपट पहाड़ पार करता जा रहा है। दूर, दूर तर, दूरतम होता जा रहा है। गाँव की बकरियाँ मिमियाती हुई पीछे-पीछे घिसट रही हैं। पैरों से बँधे मुरगे लाठियों में टँगे, सिर नीचे को लटकाए, झूलते जा रहे हैं। जितना जाना था, चला गया! पर चक्का घूमते देर कितनी लगती है, 'फाराष्टी' के फिर लौट आने में कितने दिन लगेंगे भला?

'बालसा' कुटिया सूनी पड़ी है। आसपास जूठन और कचरे के ढेर बिखरे पड़े हैं। कहीं मुरगे की पाँखें, कहीं पर के बाल, कहीं माँड़, कहीं पत्तल। कमर का बल-बूता लुट गया है, गाँठ के पैसे छिन गए हैं, आदमी का मुँह बुझी लुकाठी-सा झँवाकर काला पड़ गया है!

पर कंध कभी हताश नहीं होता। हताश हो जाय तब तो इस पठारी देश में जीना ही असंभव हो जायगा। आपद्-विपद् अकारण आती है, औचक आती है। उसकी बेर-घड़ी नहीं होती, समय-असमय नहीं होता, योग-नक्षत्र नहीं होता। 'फाराष्टी' के जाते-न-जाते छक-छक कर दारू पी जाने लगी। गाँव की स्त्रियाँ राहत की साँस लेके गलियारे में फिरने लगीं। बच्चे-कच्चे हँसे। लोग बैठे धुँगिया पी-पीकर चर्चा करने लगे कि इतने रुपए उँड़ेल डालने पर भी अपना कोई घाटा नहीं होगा। 'पोड़' खेत खूब उपजेंगे। नौतोड़ हैं। घाटे-नफे के इस हिसाब में अपनी देह की मेहनत का कोई लेखा नहीं घुसा। बघलगी के उपद्रव का लेखा नहीं जुड़ा। दाल में नमक की तरह थोड़ी-थोड़ी-सी दादनी बाँटकर साहूकार पहले से ही सारी उपज सस्ती उठा लेने का जो बन्दोबस्त कर लेता है, उसका कोई लेखा नहीं लगा। केवल,—कंध खुश रहने को कोई-न-कोई

बहाना, कोई कारण गढ़ता रहता है, इस हिसाब में बस वही उतना है।

इतने बड़े दुख पर दुबारा ध्यान दिए बिना ही लोग फिर खेतों को चल पड़े। अभी आधा दिन पड़ा है, कुछ-न-कुछ निबटा ही लेंगे! न जाने कितने अधिकारी आते-जाते रहते हैं, न जाने कितने घाटे-नुकसान होते रहते हैं, साल-भर यों ही कुछ-न-कुछ लगा ही रहता है, सब के पीछे आदमी हाथ-पर-हाथ धरे झींकता बैठा रहे, तब तो आयु यों ही कट जाए! पहाड़ों की संधियों पर फिर नित-जैसी वही चहल-पहल है। जैसे कुछ हुआ ही न हो! यहाँ तब और अब सब समान हैं।

पर साँझ को काम से लौटने पर जब सोचने की फुरसत मिली, सारी चिन्ताएँ एक-साथ घिर आईं। भाग्य का पुजारी पांडरू डिसारी भी तारों को भूलकर भगवान् को पुकार उठा—"ऐसा क्यों किया भगवान्, ऐसा क्यों किया? हम कौन, 'फाराष्टी' कौन और 'गारड़' कौन? हमारा पैसा वह क्यों ले? जंगल किसने लगाया था?" बेजुणी कहने लगी—"देवी-देवता दुख देते हैं कि आदमी ठाकुर की याद करे। पर अबूझ मन इतने से बूझता नहीं, आदमी सोच में पड़ जाता है।"

दिउड़-लेंजू में बहस छिड़ गई। दिउड़ू ने सारा दोष लेंजू पर मढ़ दिया। लेंजू काका ने 'फाराष्टी' को रिसा दिया। इसीलिए इतने रुपए देने पड़ गए। लेंजू कहने लगा कि दिउड़ू को अधिकारी चलाने नहीं आता। ठीक से उसे सँभाला होता, तो थोड़े में ही मामला पट जाता। तकरार बढ़ती देख बहुत सारे लोग जुट आए। घर की लाज बचाने पुयू बीच में पड़ी। ससुर को टाल दिया, पति को अटका लिया। फल यह हुआ कि चचा-भतीजे का झगड़ा मिट गया; पर मिटा रोगिणी पुयू के ही सिर पर। दिउड़ू गरजा—पुयू रोई, हाकिना रोया। उन्हें सँभालने जामिरी बूढ़ा आप दौड़ा आया।

साँझ के पहर कितने घरों में कितनी अशांति मची, इसकी कोई खोज-खबर 'फाराष्टी' को नहीं थी। वह तो ठहरा परदेसी, उसे क्या पड़ी है? बैली के तिरुपति ठाकुर ने उसका काम सहल कर दिया। वह इसी

में खुश था। इधर का काम निबट चुका, अब किसी नए गाँव में कोई नया नाच नचाना है। ऐसे कितने ही अधिकारी यों ही लूट-लूट कर चले जाते हैं। किसी में इतना बल नहीं कि उन्हें रोके, इतना बूता नहीं कि उन्हें टोके। नई दुनिया में रहते हुए भी ये अतीत के, प्रेत के, पुजारी हैं। कोई पिछड़ा हो कि पुरोगामी हो, पुरनियाँ हो कि नई पीढ़ी का हो, किसी के भी व्यक्तित्व में इतना जोर नहीं कि तन कर खड़ा हो जाए और डटकर, आँखें तरेर कर, अधिकारी की हाँ को ना कह सके। मुँह से तो बोल नहीं फूटते, पर बोड़ा[1] साँप की तरह वह दुम से खाता है। खाता जरूर है, यही उसका संतोष है। यही बात है कि गरीबों के टोले में साँझ पड़ते ही इतने झगड़े-टंटे, इतनी गाली-गलौज फूट पड़ती है। दिन-भर का पिया हुआ सारा अपमान, सारी मार-गाली उस समय मन की ऊपरी सतहों पर उभर-उभर आती है। आदमी के पशु मन में प्रतिहिंसा का नशा सनसना उठता है। अपमान करनेवाला, गाली देनेवाला, मारने-पीटनेवाला तो उस समय मौजूद होता नहीं, वह तो मार-पीटकर कब का चंपत हो गया होता है। नशा झाड़ा जाता है, कोई-न-कोई बहाना ढूँढ़कर अपने ही घरवालों के ऊपर। घर-घर में रुलाई का रोर उठता है। आदमी अपना ही घर फूँककर उसे प्रतीक शत्रु की दुर्दशा मान बैठता है और अपने-आप को धोखा दे-देकर अपनी छाती ठंडी करता है।

बे-बात की बात पर मार-धाड़ और उठा-पटक करके, गाली और रुलाई की मजूरी गँठियाकर, दारू पीकर, दिउड़ू साँवता निश्चिन्त हो चुका था। कितने ही और घरों के लोग इसी तरह निश्चिन्त हुए। रात का अँधेरा बढ़ चला। गाँव के अलावों की आग बुझ चली। रात की आश्वस्ति में उतरे नशे की सच्ची अनुभूति हुई। दिन की बातें, रूखा जीवन--- व्यर्थ है यह जीवन, झूठ है !! व्यर्थ है वह आप, केवल झूठे सपने, व्यर्थ, व्यर्थ !!

पर दिन फिर आता है। वह भी दिन में फिर लौट आता है। फिर

---

१ कहीं-कहीं इसे "धामिन साँप" भी कहते हैं। ---अनु०

घाटे की यादें आती हैं। फिर अभाव के खरोंचे लगते हैं, चुभन लगती है, टीस उठती है। बैल बूढ़े हो गए, एक जोड़ा और ले रखना ठीक रहता। लँगोटी पुरानी हो गई है, चार हाथ कपड़ा होता, तो तीन 'पोशाकें' बन जातीं। बरसात आ रही है, खाँसी, कलेजे के दर्द, पठारी ज्वर के दिन आ रहे हैं। खेस खरीदे बिना काम नहीं चलेगा। बीबी के लिए काच के हार, अँगूठियाँ, लड़के के लिए खाजा ; अपने लिए एक टाँगिया, सिले पत्तों की बरसाती ! उस समय कंध फिर उस आधी-रीती बाँस-नली के पास बैठा तप करता है। सोचता रहता है कि किसी देवता के आशीर्वाद से बाँस की वह फोंफी भर उठती तो अच्छा होता ! धरती में बीज ही नहीं गए, उगेंगे क्या ? जो भी थोड़ी-घनी उपज होगी, वह जाने कब पकेगी, कब बिकेगी और कब रुपया आएगा ! उसी में अभी और भी कई अधिकारियों के धावे होंगे। निडामण[1] आने को है, रिबिणी[2] आने को है, शिस्तू[3] चुकाना है। सब के लिए पैसे उस फोंफी से ही आने हैं, जो देवता-घर के कोने में खुभी है। दिउड़ू वहीं पालथी मारे बैठा सोच में पड़ा था।

पुयू का नसीब भी दिनों दिन दरकता ही जाता है। दिउड़ू अपने मन की अशांति उसी के ऊपर झाड़ता है। गरमियाँ बीत चली हैं। हर दूसरे-तीसरे दिन तीसरे पहर अंधड़-झक्कड़ के बाद एकाध हलके दौंगरे गिर जाते हैं। चढ़ती बरसात चढ़ती जवानी-सी होती है। उसमें गति होती है, भार नहीं होता। विस्तार होता है, दायित्व नहीं होता। आदमी के मन पर भी आजकल इसकी हलकी छाया पड़ती है। भीनी-भीनी माटी की सोंधी-सोंधी गंध से पुरानी चिन्ताएँ नए प्रकाश के लिए अँकुराने लगती हैं। मानव-किसान उर्वर-ऊसर का विचार किए बिना ही अपनी भावनाओं-कल्पनाओं के बीज बोने को आकुल-व्याकुल हो उठता है।

जब-जब दिउड़ू पुयू को देखता है, तब-तब उसके सपनों में पिओटी खिलखिलाकर हँस-हँस पड़ती है। जिस समय आसमानों पर उमँड़ती

१ अमीन। २ तहसीलदार। ३ लगान।

कालिमा पहाड़ों की कालिमा से मिल कर हवा में घुमड़ते उजले मेघों को पीठ-पीछे ढकेल देती है और गंभीर होकर अधर में टँगी रहती है, उस समय सनसनाती हुई बहती हवा दिउड़ के कानों में पिओटी की पुकार गुँजा-गुँजा देती है। दिउड़ पुयू को कष्ट दे-देकर देखता रहता है। हड्डी-हड्डी सूखी पीठ, सिर के रूखे बालों तले गाँठों-गाँठ गुँथी हड्डी भर ही तो है! मुँह गाड़े पड़ी रहती है। काँपती रहती है, थरथराती रहती है। रीती-रीती, खोखली-खोखली रुलाई रोती रहती है। चें-चें करके नाक बजाती रूठती है। सूखी पीठ हिलती है। गंदे असुन्दर बाल धूल में लोटते हैं। जाने क्या-क्या बके जाती है। टूटे खँडहर मन की कोई रुँआसी कहानी बखान रही है शायद। उस खँडहर में न जाने कितनी वज्रपाती आँधियाँ हैं! दिउड़ अपमान करता है, नीची निगाह से देखता है। फूलों का हार गले की फाँस हो गया है। उसके मन में करुणा का लेश नहीं है। धुँगिया सुलगाए खूँटे-सा बेहिस बैठा दिउड़ कभी-कभी उधर ही देखता है। कभी-कभी और भी छेड़-छाड़ देता है। इसमें उसे मजा आता है।

पुयू को तो दिउड़ हरा देता है, हाँ हाकिना हार नहीं मानता। स्थिर निष्ठुर दृष्टि से बाप को घूरता रहता है और खेलता रहता है। निर्विकार भाव से माँ के पास खिसककर उसकी छाती मुँह में भर लेता है। और दूध चूसने लगता है। म्ण्याका हाकिना, सरबू साँवता का वंशधर, मानव की संतान! दुख, दैन्य, रोग, शोक, पराधीनता, सभी भाँति के गरल-हलाहल का मिला-जुला अमृत है यह! सब को पचा डालेगा! दिउड़ साँवता का पशुबल उसे अभिभूत नहीं कर पाता। आलोक उसका खेल का साथी है। पवन उसका जीवन है। अंधकार उसका विश्राम है। वह मानव-शिशु है। वह विचित्र है!

दिउड़ हाथ बढ़ाता है; पर उसके पास वह नहीं आता। उसकी आँखों में सर्वांगपूर्ण समालोचना है। वह उसी तरह ध्वंस के ऊपर अक्षत रहता है। शासन के घेरे से वह बाहर है। दिउड़ उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता।

आलोक की ऋतुएँ समाप्त हो चली हैं। अंधड़ से हाकिना को डर लगता है। जो देह दिउड़् की निगाहों में कुछ नहीं है, वही देह हाकिना का दुर्ग है। उसी की निर्भय गोद में लेटा-लेटा हाकिना अंधड़-झक्कड़ से जान-पहचान करता है। गरमी के बदले एकाएक ठंडी हवा के सोते बहने लगना, ऊँघती-सी सुस्ती के बदले एकाएक पैंगे भरती झूलती-झूमती दुनिया,...सारी जानी-पहचानी धारणाएँ उलट-पुलट जाती हैं। माँ किवाड़ में भीतर से चटख़नी चढ़ा देती है, फटे आँचल को कई-कई तह परताकर लपेट-लुपूटकर ओढ़ा देती है, कान के पास गीत गुनगुना-गुनगुनाकर थपकियाँ देती है। देह गरमाते ही नींद आ जाती है। घर में और कोई नहीं होता। होता है चौथाई बच्चा और आधी माँ। दोनों एक दूसरे के आसरे हैं, एक दूसरे के भरोसे हैं। तीसरा कोई नहीं, कोई नहीं।

दिन-भर बहुत लड़-झगड़ कर साँझ को वह चला गया था। बड़ी प्रचंड आँधी थी। पास के घर से जामिरी की बुढ़िया की जरा भी सुन-गुन नहीं आ रही थी। आँधी के बाद अँधेरे-ही-अँधेरे में पानी का अच्छा ख़ासा दौंगरा जी-भर बरस गया। बौछार थमने का नाम नहीं ले रही थी। सुबह का बासी 'पेज' पड़ा था। चूल्हा नहीं सुलगाया। हाकिना सो रहा था। थकी नींद से उठकर पहर रात रहे पुयू बाहर आई। बाहर न दिउड़् था, न लेंजू काका। कंधगाँव में घर-घर किवाड़ें बंद थीं। अँधेरे में कुछ सुझाई नहीं पड़ रहा था।

पुयू बाहर बैठी सोच रही थी कि चली जाय। दबा कोप जब-जब उभर आता है, तब-तब वह यही सोचती है। सोचती है यह यंत्रणा किस-लिए भोगती रहूँ? यह ब्याह तोड़ देने में ही भला है। पर जब-जब निकलने को होती है, अँधेरा दिखता है, अंधड़ दिखता है, धारणा बदल जाती है। वह बारम्बार भीतर जा-जाकर हाकिना को लपेट-लपेट आती है। छोड़ दे तो बेचारे को मच्छड़ काट के खा जायें!

मन कहता है कि यह फटी नसीब फिर नहीं जुड़ने की; पर अँधेरा ढारस नहीं देता।

उस दिन वह देवी-देवता सुमिरती रही। वे तो हर कहीं हैं, हर कहीं उनकी आँखें हैं। कहीं कुछ छिपा तो है नहीं उनसे! उन्हीं से मंगल है, उन्हीं से सब का कल्याण है। लोगों से वे इतनी भक्ति पा रहे हैं, इतनी पूजा पा रहे हैं; पर उनकी दया कहाँ है?

अपने लिए उसे कुछ नहीं चाहिए। सारी मनौती अपने बच्चे के लिए ही मानती है।

इतना अभोग, इतना निरादर! यह हाकिना सच-मुच बढ़ के मानुष होगा भी?

उसकी विह्वल चिन्ताओं को चीर-चीरकर देवता का उज्ज्वल रूप उसकी कल्पना में आ खड़ा होता है। कंधुणी के अनुभव और अभिज्ञता से गढ़ी कल्पना में। बावला मन पूछता है—"यह क्यों? यह कब तक?" मन की गहराइयाँ देवता के मुँह से जवाब देती हैं—"अँधेरे के बाद उजेला होता है।" जीने की स्वाभाविक मानव-प्रवृत्ति कभी पराजय स्वीकार नहीं करती। मरते दम तक वह अजेय बनी रहती है।

वह रात भी साधारण रातों में से ही एक रात थी। कोई घटना नहीं घटी। कहानी बढ़ी नहीं, जहाँ-की-तहीं रही; पर मन-ही-मन उसने जवाब पा लिया। वह निश्चिन्त हो गई। तपस्या की सिद्धि के लिए डौंड़ी-पीट आदेश आवश्यक नहीं होता।

पुयू शांत हुई। हाकिना को गोद में लेकर गाढ़ी नींद में अचेत सो रही।

अठहत्तर

बंदिकार।

साँझ डूब रही थी। पिओटी अपने घर के ओसारे में बैठी जूड़ा बँधा रही थी।

यहाँ वह देह नहीं जुगाती, जाँगर चलाती है। माँ के संग जाके गाँव के खेतों में काम करती है। उस काम के बदले में अब उसकी अपनी अलग झोंपड़ी है, खाने को मँड़ुए का भात मिल जाता है, लँगोटीधारी जंगली कंध-समाज में थोड़ी-सी जगह है; पर कंध होने पर भी रूप सँवारना, सिंगार करना कोई मना नहीं है। पिओटी कंधुणी-वेश में भी अपने को सुन्दर बनाए रखती है। फूलों के गहने पहने रहती है।

हर साँझ को ठीक इसी बेर वह सज-सँवरकर बाहर निकलती है। यों ही, बिना कारण। न निकले तो शांति नहीं मिलती, जी उखड़ा-उखड़ा रहता है। आदत पड़ गई है। वृथा प्रतीक्षा का खोमचा सिर पर लिए वह डबडबाए मन से दर-दर मारी-मारी फिरती है। यहाँ वह मैदानी देश नहीं। उसे तो पीछे छोड़ आई है। सजने-सँवरने का यहाँ कोई मूल्य नहीं। किसी की आँखों में पहचान ही नहीं है। यहाँ सिंगार की भूख ही सिंगार का सार है, बस वही एक हाथ आती है। फिर भी जब कभी वह यह चर्चा छेड़ती है कि "इस वनवास में कहाँ जीवन बिताऊँगी," तो माँ का मुँह झुलस-सा जाता है। माँ जाने कैसी तो हो जाती है।

पत्थर-ही-पत्थर हैं यहाँ, धूल-ही-धूल है। तम्बाकू के नाम पर थूकना-ही-थूकना मिलता है। "और कहते हैं, मैं भी क्या तो इन्हीं के रक्त से हूँ, कहाँ तो इन्हीं में से एक हूँ! हुँः! ये तो बर्बर हैं बर्बर!" इसके सिवा छिपा-दुबका कोई और अर्थ तो उसे नहीं सूझता। वह खीझ उठती है, झल्ला उठती है। जी उचट जाता है। वह मुक्ति खोजती है।

जूड़ा बाँधते-बाँधते माँ ने पूछा—"दुपहर को साँवला बच्चा क्या

कह रहा था पिओटी ? "

"काम था।"

"कुछ कहा नहीं ? "

"कहा तो। काम था, सो पुकारा था ! "

"उसी की दया है कि हम जीती हैं। तू तो जानती ही है पिओटी। काम रहता है, तो साँझ पड़ने पर जाके कर क्यों नहीं आती उसके घर ? गाँव-भर में मानुप तो ले देके वही है। और किसके काम करे-धरेगी ? गई और चली आई ! यों छटपटाके भाग-भाग आने से उसका काम कैसे चलेगा ? कह तो भला ? "

"काम करने को क्या लोगों की कोई कमी है माँ ? "

"ना री, सच कहती हूँ। जूड़ा तो बँध ही गया। अब जा, उसका काम पूरा कर आ ना ?—"

"अब साफ-सुथरी हो लेने पर अँधेरे में सिर पर खाद लाद के खेत में पहुँचाने जाऊँ ? "

"खाद लादेगी ? "

"तो और काहे को बुलाया था उसने ? कहा भी—यों अलसाने से मेरा काम नहीं चलेगा। अभी से खेत को खाद ढोई न गई, तो उपजेगा क्या और खाएँगे क्या ? "

"और कुछ न कहा ? "

पिओटी ठठा पड़ी। मन का सारा मान-अभिमान, सारा रोष, उसने उस हँसी में भरकर माँ के ऊपर दे मारा। माँ खिन्न हो गई—"उसका काम ठीक से किया कर पिओटी ! मेरी बात हँसी में उड़ाए देती है ? "

"खाद, माटी, राख, गोबर, गोड़नी, जो भी कहता है, करती ही तो हूँ माँ ! सब तो करती हूँ। कहीं कोई चूक, कोई टाल-मटूल थोड़े ही है ? "

"अच्छा-अच्छा ! तुझे जो अच्छा लगे री बिटिया, जो ठीक लगे—"

दोनों गुमसुम पड़ गईं। "चिढ़ती रहे। बे-समझे-बूझे जो चिढ़े, उसका

कोई क्या करे ? " पिओटी सोच रही थी।" माँ चाहती है कि मैं हारगुणा को जाल में फाँसू, ब्याह लूँ, गाँव की माटी में अपनी एक और जड़ गहरे पैठ जाय और माँ देखे। अपनी रुचि का अपमान करके थोड़ी दूर तक मैं उतरी भी ; पर उसकी ओर से फिर भी. . . , सब अपनी नसीब का खेल है ! "

"समझी पिओटी ? हारगुणा-जैसा कोई नसीब चोखी होने पर ही मिलता है। मैं माँ हूँ, तू बेटी है, अब इससे अधिक और तुझे क्या कहूँ ? मेरा कोई नहीं है, मैं पराए आसरे हूँ। तू ब्याह कर लेती, तो मेरा भार उतर जाता। और नहीं तो भला और किसलिए मैं इतनी दूर दौड़ी-दौड़ी आई हूँ ? मेरे तो ले-दे के बस एक ही पेट है—"

"और मेरे भी क्या कोई दो पेट हैं माँ ? "

"अच्छा भई, जैसी तेरी मरजी—"

ज़रा देर राह देखती है। फिर कहती है। रोज़ कहती है। उकसाती है। खींचती है। ढकेलती है। खिजाती है। पता नहीं क्या सोच रखा है उसने ? कुछ समझती ही नहीं। और न समझने की कोशिश ही करती है। शायद सोचती हो कि सभी उसी जैसी 'पञ्चियाणी' [1] हैं, कि आदमी को बाघ बना डालने का दुस्साहस जैसा उसमें है, वैसे सब में है !

लंबी उसाँस भरकर पिओटी उठी। आज अंधड़-झक्कड़ नहीं है। साँझ बड़ी सुंदर उतरी है। ऐसी साँझ में तो मन होता है कि आह अगर कोई आ जाता !

"खड़ी-खड़ी किस सोच में पड़ी है बिटिया ? इतना नहीं सोचा करते। जा ना, घूम-फिर आ। जा—"

"हाँ—"

अनमनी-सी हुई पिओटी निकल पड़ी। दूर पठार के ऊपर निगाहें

---

(१) जादूगरनी ।

पड़ीं, तो हटाए नहीं हटतीं। बुझती-बुझती-सी मैली-मैली छाँहें वहाँ, किसी के गहरे दुख की मूक चितवन-सी, अटकी हुई हैं।

ऐसी साँझों को जी में कुछ ऐसा लगता है, मानो जिससे आनंद पाना था, उससे मार खाकर भगा दिया गया हो आदमी। लगता है, यह धरती अपनी नहीं, यह दुनिया अपनी नहीं, ये लोग अपने नहीं। लगता है जीवन दाँव बचाकर निकल गया है, पकड़कर रखा नहीं जा सका।

गलियारे में भीड़ बढ़ी। झुंड-के-झुंड लोग आ जुड़े। लड़कों ने ढोल बजाना शुरू किया। धाङड़े कंध-वंशी फूँकने लगे। अँधेरे में छाँहों-सी चुपचाप घरनियाँ 'झोला' की ओर आवाजाही करने लगीं। इतने लोग? पर अपने लिए कौन है?

वह अचीन्ही है!

गुमसानी बुढ़िया के घर के आगे छोटी-सी संगत बैठी है। छोकरियाँ भी हैं, बूढ़ियाँ भी। कई उसी की ओर उँगली उठाकर कुछ फुसफुसा रही हैं। जो कहना हो, कहें। सुनते-सुनते कान सह गए हैं। गुमसानी ने पुकारा—"आ री बिटिया, किधर चली?" पिओटी आ के बैठ गई। बात-बात में उस देश की, मैदानी दुनिया की चर्चा छिड़ पड़ी। वे पूछतीं, वह बढ़ा-चढ़ाकर बखानती, बड़ाई करती। साँझ बूड़े उस देश में क्या हो रहा होगा? घर-घर में बाजे बज रहे होंगे। अहा-हा, कितना सुंदर बाजा होता है वह भी। लोग दारू पी रहे होंगे, गा रहे होंगे। कोठों की बात, गाड़ियों की बात, लोगों की बात। जाने कितनी बातें। इन्हीं बातों में पिओटी समझती है कि मैं जीती, ये हारीं। सुननेवालियों में कोई मुँह बाए ताकती, खुला मुँह मूँदे न मुँदता, कोई केवल 'आ-हा-च्च्च्-च्च्च्' करती। कोई झूठ मानती, बहस करती, हँसती-हँसाती। जाने कितना बखान गई वह। सुनते-सुनते वे उकताकर उठती गईं। उनकी ही हो रहने की वह जितना भी चाहती, इस गप के मारे उतनी ही पराई होती जाती। आदमी औरों की बड़ाई के आगे या तो सिर झुका देता है, या उठकर चला जाता है? अपने को छोटा और औरों को बड़ा मानकर उसे अपनी आँखों के आगे बिठा

रखने में वनवासी मानुष का मन छोटा हो जाता है।

कितने दिनों तक यों ही गप्पें हाँकती रहेगी यह? बातों-ही-बातों में फिर उसी अशोभन कुतूहल ने ज़ोर मारा—"इतना भला राज छोड़कर यहाँ क्यों चली आई नुनी [1]? क्या हुआ था?" हारगुणा बैठा-बैठा बातें सुनता है। वह मतामत नहीं देता। बूढ़े भी मतामत नहीं देते, टीका-टिप्पणी नहीं करते। सिर्फ़ सिर हिलाते रहते हैं कि हाँ हाँ, हम भी जानते हैं। गप्पों-ही-गप्पों के फेर में काफ़ी अबेर हो गई। 'टोकियाँ' [2] कब की चली गई थीं। रह गई थी अकेली गुमसानो और वह आप।

"हमारा गाँव तुझे सुहाता है नुनी—?"

"सुहाता है।"

"इतनी बातें जान लीं, इतने देश देख लिए, अब ब्याह नहीं करेगी, यों ही रहेगी नुनी?—"

अब क्या जवाब दे वह?

"हमारे गाँव का साँवता, हिकोका हारगुणा—"

अब चली चरखी! जहाँ कहीं भी उसकी माँ की सखी-सहेली होगी, वहाँ हिकोका हारगुणा की चर्चा छिड़के ही रहेगी। चारों ओर से बस यही बात खाए डाल रही है। लोग दूसरों के लिए वर-कन्या परखते हैं। दूल्हा देखते ही दूल्हन और दूल्हन देखते ही दूल्हे की खोज मन-ही-मन करने लगते हैं। अब सहा नहीं जा रहा था। पिओटी उठी, बोली—"मैं जाती हूँ।"

बे-ब्याहे बढ़ते जाओ, तो लोग उँगली उठाते हैं, ताने कसते हैं, साँठ-गाँठ करके जाल बिछाते हैं।

टोले के छोर पर हारगुणा का घर पास आता जा रहा था। यहाँ से अब वह अपनी झोपड़ी को लौट जायगी। आज का दिन भी यों ही गया। माँ ने कहा था, साँझ डूबने पर साँवता के घर जाना। माँ क्या जाने कि कितनों कितनों से बे-बुलाए बोलने जाती है बेटी! कितनी साज-सँवार, कितनी

---

१ दे० पादटीका पृष्ठ ३०२

२ युवतियाँ।

औसर-सुविधा जुटाती रहती है ! सब 'टोकों'[1] के अपने-अपने मन के जोग 'टोकियाँ'[2] हैं, उनसे वह सज में उन्नीस है कि धज में, रूप में कि सिंगार में ? उसके आगे सब हेठी हैं, बासी हैं, फूहड़ हैं ; पर बाउरी[3] के टोले में माणिक ! इनमें कौन है, जो उसका मोल समझेगा ?

हारगुणा अपने ओसारे में अकेला ही बैठा था। चुपचाप धुँगिया पी रहा था। पिओटी उसके पास लग आई। खाँसकर उसका ध्यान खींचा। हारगुणा चौंका नहीं। कितनी ही बार वह जान-बूझकर हारगुणा के साथ अकेली हुई है। कंध की विशिष्ट दृष्टि से उसे एक बार तलवे से चोटी तक निहार लेने के सिवा हारगुणा ने और कुछ कभी न किया। लँगोटी-धारी कँध छोकरा ! और गाँव-भर की इतनी मान्यता इसे ही मिली है ?

मजूरों से भी बढ़कर खटता है ;पर और सभी बातों में ऐसा उल्लू है कि- -

कई बार ऐसा हुआ है कि हारगुणा लकड़ी काट रहा है, और वह जानबूझकर 'झोले' में उसके पास ही नहाती-धोती रही है, बाल सुखाती रही है। कई बार ऐसा हुआ है कि बोझ उठाते समय उस पर कैसी-कैसी चितवनों के संकेत फेंका किए हैं, कई बार देह-से-देह सटा-सटा दिया है। फिर भी हारगुणा की यही रट रही है कि " काम करती रह, बैठ मत। " सिर्फ नंगा कंध ही नहीं वह, पत्थर भी है, स्नेह-संवेदना से, अनुभूति-सहानुभूति से सोलहों आने सूना। माँ ये बातें नहीं जानती। जानती भी होती तो क्या होता ?—

हारगुणा की ओलती-तले आ गई।

" बैठा है साँवता ? "

" कौन ?—पिओटी ? "...

हारगुणा पर घिन आती है। अपने आप को ऊँचा पहाड़ माननेवाले

---

१ क्वाँरे युवकों।

२ क्वाँरी युवतियाँ।

३ अछूतों की एक जाति।

सभी पुरुषों से घिनाती है पिओटी। उफ़, कैसी अवमानना है इसके स्वर में! पहचाना तक न हो जैसे सचमुच! एक लड़की लात मारके किसी और के साथ भाग गई है, ठीक ही किया है, फिर भी कितनी ऐंठ है इस मुए मरदुए में?

"किसकी सोच में हो साँवता?"

"किसकी सोचूँ नुनी? अपना बैठा हूँ, किसी की सोचकर क्या मिलेगा?"

अँधेरा गाढ़ा हो गया है। आवाजाही एकदम बंद है। पिओटी को एक चाल सूझी! ओटे से लगकर हारगुणा के मुँह के पास मुँह ले जाकर फुसफुसाई—"मैं जानती हूँ। साँवता किसी साँवता की बेटी की सोच रहा है। म्यापायु याद आ रहा है साँवता? सच कहना, नहीं?"—पिओटी खदकती हुई हँसी। हँसते-हँसते लोट गई।

हारगुणा चौंक पड़ा। बोला—"कहीं से पी आई है क्या नुनी? जा, घर जा। थिराके सो रह। आजकल अधिक पीने से सिर फिर जाता है।"—यह पत्थर सिर्फ़ पत्थर ही नहीं है। धारदार पत्थर है। ठंडा पत्थर। ताने ऐसा कसता है, काट खाता है।—"पिये होती तो महकता नहीं साँवता? तू क्या सोचता है? या तुझे यों ही लगता है?"—पिओटी फिर हँसी—"मुँह सूँघेगा साँवता? यह ले। यह, यह। सूँघ देख। लगता है?" ओटे पर दोनों हाथ टेककर पिओटी हारगुणा पर झुक पड़ी। गरम उसाँसों से हारगुणा का मुँह सीझने-सा लगा—"अच्छा, अच्छा, हुआ हुआ। मान गया। मुझे 'पाड़ने'[1] आई है टोकी? बेकार है। 'पाड़' नहीं सकेगी। जा, घर जा।"

पिओटी और भी हँसी। हारगुणा बोला—"खड़ी क्यों है? घर जा, माँ खोज रही होगी।"तो हारगुणा (जटायु) का आसन हिला आखिर! अचंभा लग रहा था। अँधेरी रात में अपने ओसारे में बैठे-बैठे इस तरह मैदानी जूती से परिचय पाना उसके सपने में नहीं था। पिओटी लौट पड़ी। हारगुणाको राहत मिली। थोड़ी दूर जाकर पिओटी चीखी—"ओ-ो-ो-ह!

---

१ पृष्ठ ३१४ का अंतिम अनुच्छेद देखिये।—अनु०

साँवता,. . . ओ-ो-ह।" कूदकर हारगुणा दौड़ पड़ा। छटपट करती लँगड़ाती पिओटी लौटी आ रही थी। मुँह में वही "ओह-ओह" की विकल चीत्कार थी।

"क्या हुआ नुनी? क्या हुआ, क्या हुआ?"

उसी पर लोटती-लिपटती नागिन-सी उसके गले में बाँहें डालकर पिओटी बोली—"कुछ डँस गया-सा लगता है। जूड़ी-सी आ रही है। लहू में कुछ सनसनाता हुआ-सा चढ़ रहा है। ले चल, देखूँ पहले।" हारगुणा की सुधबुध खो गई थी। बोझ अँकवारे ही वह ओटे पर चढ़ गया। ओसारे में दिया न था। पिओटी चिल्लाई—"दिए के पास . . दिए के पास।" रह-रहकर पिओटी की देह छलमला-छलमला उठती थी। अपने आश्रय को वह और भी जोर से दबा-दबाकर पकड़-पकड़ लेती थी। उसकी कँप-कँपी हारगुणा की देह में भी समा-समा जाती थी। वह सिहर-सिहर उठता था।

बोझ वैसे ही उठाए हारगुणा ने धक्का मारकर अपने घर की किवाड़ खोल ली। भीतर चूल्हे में थोड़ी-सी आग थी। अँधेरे में पिओटी को उस चूल्हे के पास सुलाकर वह आग जलाने में लग पड़ा। पिओटी की "ओह-ओह" बंद ही नहीं हो रही थी—"किधर गया साँवता? मुझे डर लग रहा है। बड़ी जलन हो रही है रे।" बेचैनी से छटपटा रही थी वह। हारगुणा दिलासा बँधा रहा था—"ठहर, मैं देखता हूँ नुनी। —कोई डर नहीं —कुछ नहीं होगा।" वह चूल्हा फूँकने में लगा था। आग बली। एक लुकाठी लेकर साँवता रोगी देखने लगा—"किधर डँसा है ?यहाँ?"

"ना ना, वहाँ नहीं, यहाँ यहाँ।"

"यहाँ?"

"ना!"

हारगुणा पसीने-पसीने हो चला था—"नहीं मिला नुनी!"

कान के पास भारी-भारी उसाँसें! उसे बहुत ही कसकर जकड़े हुई थी पिओटी। लुकाठी जलते-जलते उसके हाथ के पास तक आ पहुँची थी।

पिओटी ने फूँक मारकर बुझा दी। घर घुप्प अँधेरा हो गया। धड़कती छाती से हारगुणा ने सुना, पिओटी धीमे-धीमे हँस रही थी। किसी ने उसे बाँध डाला है, चूर-चूर करके पीस डाला है। न वह है, न पिओटी है, कोई नहीं है, कोई नहीं है। केवल सपना, सपना !

. . .

रात पहर भर का समर जीत चुकी थी। पसीने में नहाया साँवता बाहर ओसारे में आ बैठा। चारों ओर नीरव निस्तब्धता छा रही थी। सिर भारी-भारी लग रहा था। जम्हाई-पर-जम्हाई आ रही थी। बहुत सोच में पड़ा था हारगुणा साँवता। सोच-सोचकर थका जा रहा था; पर समझ में खाक नहीं आ रहा था कुछ। कुछ जान नहीं पाया, पर सारी बातें अब एक वास्तवता हैं ! मन में द्वंद्व है कि यह सपना है या सचाई, सचाई है या सपना !——अलसाकर उसने धरती की शरण ली। ठंढी हवा जरा सिहकी। हारगुणा सो रहा।

पिओटी घर लौटी। पता नहीं हारगुणा से ब्याह हो पाएगा कि नहीं ! पल-भर की जीत दिन-भर की जीत नहीं भी हो सकती। हारगुणा ने छला था, उकसाया था। पुरुष के संयम ने उसके मन में भीतर-ही-भीतर द्वेष की आग सुलगा दी थी। वह धधककर जल गई, सो अच्छा ही हुआ। पर मन का भीतरी गह्वर अब भी सूना-सूना है, रीता-रीता है। वहाँ अब वह द्वेष भी नहीं रहा, आनंद तो खैर है ही नहीं। हर जीत की तरह उसकी यह जीत भी एक उदास हार है। समाप्ति के बाद दुख-ही-दुख हाथ आता है।

माँ ने पूछा—"साँवता के घर गई थी ?"

'हाँ' कहने का कलेजा न मिला। डरते-डरते पिओटीने कहा—"ना—"

"नहीं गई ?"

"क्यों जाती ? क्यों चिढ़ाती है मुझे ?"—मतली आ रही थी। पिओटी बाहर चली गई। सकते में पड़ी बुढ़िया उसे निहारती रह गई।

उन्नासी

सुबह फिर भेंट हुई हारगुणा से। रात की छलना की बात सोचकर लाज लग रही थी ; पर जिस निकटता की ढलाई-गढ़ाई की आशा की थी, वह कहाँ है ? हारगुणा सोलहो आने निर्विकार दिख रहा है। पर नहीं, वह भी रक्त-माँस का ही बना है। खेत के काम से थककर पास के जंगल की छाँह में सुस्ताते समय हारगुणा ने हँस-हँसकर पूछा—"कहाँ डँसा था ? बताया क्यों नहीं ? कैसा है ? ठीक है अब ?" उसके व्यंग्य ने पिओटी को मानो काट गिराना चाहा। हारगुणा हँसता-हँसता पास आ गया-—"मैदानों में इतने सारे पाठ पढ़ा देते हैं ?" पिओटी भागी। जी-जान लगाकर भाग खड़ी हुई। केवल लाज के मारे ही नहीं, डर के मारे भी। हारगुणा फिर मन लगाकर काम में जुट पड़ा।

पास-पास काम करते समय पिओटी सोच रही थी कि यह चक्का घूमते-घूमते कहीं-न-कहीं तो अटकेगा ही। इतनी अटकल लग रही थी कि हारगुणा पीछे लग पड़ेगा। हो सकता है कि पल-भर के उस खेल-तमाशे के लिए हारगुणा के चरणों में बँधा रह जाना पड़े। सदा को। माँ खुश होगी। गुमसानी खुश होगी। पर अपना यह दुर्दम दुरंत मन ? उस मन में तो हार-गुणा एक खेल के सिवा और कुछ भी नहीं है। कुछ भी नहीं ! सोचती—हारगुणा से यों ही डर रही हूँ शायद। योद्धा-सा पुट्ठल, सबल और पट्ठा जवान है। वयस अधिक भले ही न हो, मर्द-बच्चा तो है। उसी भय के बहाने चौकस रहने के कारण ढूँढ़ती वह हारगुणा को कनखियों-कनखियों देखती रहती है। दूर से लंबी निगाहें डाल-डालकर वह हारगुणा के अंग-अंग को निगाहों-ही-निगाहों टटोलती है। गंजे पहाड़ पर काम होता है। काम करने वाली 'टोकी' वह कोई अकेली ही नहीं है। और न हारगुणा ही कोई अकेला पुरुष है। दुपहर को हारगुणा कान के पास आकर कह गया—"कल क्या डँसा-डँसा करके वह जो चौंक पड़ी थी न, उसी से

मठरा रही हो शायद। उसी कारण देह शायद अलसा गई है, काम करने में सत नहीं मिल रही है। है न ?"

"भाक्" कहकर पिओटी ने जो मुँह उठाया, तो हारगुणा वहाँ नहीं था। दूर किसी और दल को काम बता रहा था। धूप खड़ी पीठ पर आई ; पर हारगुणा का जी अब भी नहीं उकताया ? यह लँगोटीपोश भी लोहे के मानुष जैसा कंध 'भेंडिया' है। यह भी कोई काम में काम हुआ ? कुदाली लिए पत्थर पर मारे ही चला जा रहा है। एकाग्र ध्यान से। उसके सपने में क्या है ? पिओटी है ? और कोई लड़की है ? या कि उसे 'काम' की भूख ही नहीं है ? नहीं है। सभ्यों की तरह उसकी भावना में वह पिलपिली, ओदी, लंगड़ी चिंता राज नहीं करती। साड़ी का पल्लू, केश-तेल की सुगंध, छातीफाड़ ठंडी साँसें, राज नहीं करतीं। विकार वहाँ हृदय की फल्गुधारा बनकर सम्मान नहीं पाता। ऐसे लोगों को तो कुभी-कंध नाक की एक ही सिकोड़ में सीधा करता हुआ कहता है--"दुनिञाँ!"

हारगुणा पिला पड़ा है। पहाड़ पर उसकी खेती उपजेगी। साँवा, मँडुआ, अलसी। उसकी खेती जंगल-सी लोट जायगी। कंकर-पत्थर से आदमी का भोजन उगेगा। परिश्रम उसकी दवा है। पसीने का मोल उसका ध्येय है। पर पिओटी रह-रहकर उसके माथे को ऐसी चितवनों से निहारा करती है, जो मानो उसे फाड़ देना चाहती हों। वह देखती है कि वही नहीं, सभी वैसे ही पिले पड़े हैं। कल के बने-से। कैसी अशिक्षित बर्बर जाति है ! काम, काम, काम ! काम के भीतर कोई प्यार-मनुहार नहीं, राग-सुहाग नहीं, कविता-कल्पना नहीं, बस काम, काम, काम ! पीछे से ठिठोली सुनाई पड़ती है, "देख देख, मैदानी छोरी ने कितना काम कर डाला।"

"मैदानी लोग फूले-फूले दिखते भर हैं, भीतर कड़कड़ाता जोर नही होता।"

"काम करने से हाथ-पैर में घट्ठे पड़ जाएँगे ना रे, वरना अलसाते काहे को वे ?"

"पर खाने से पेट नहीं बिगड़ता, उस समय आलसीपन हवा हो जाता है।" पिओटी ने मुँह फेर लिया। लोग दाँत निपोर-निपोर कर हँस रहे थे। उसकी

गोल-गोल बाँहों और बाँकी-बाँकी निगाहों का कोई मोल इनके लिए नहीं है। और हँसी ? बाप रे कैसी विकट-विकराल हँसी है इनकी ? मर-खपकर पिओटी काम करती रहती है। आदत नहीं है। कष्ट होता है। .

यह मजूरिया जीवन सिर-आँखों लेके दुख पाने ही माँ इतनी दूर दौड़ी आई है ? सब दिन की तरह सूखी निचुड़ी हुई-सी, अधपके बैंगन-सी होकर पिओटी घर आई। माँ ने फिर कहा—"जाती क्यों नहीं ? आदमी तुझे गँवाते हैं ? "

कहीं भी जाने की इच्छा न थी ; पर रात बढ़ी। कल वाली बेर हुई, तो कल वाली चिंता फिर एक बार सवार हुई। धड़कती छाती लिए वह फिर सांवता की ओलती तले जा खड़ी हुई।

ओसारे में कोई न था। सांवता नहीं था।

बेर काटने को पिओटी पास के अंधेरे कोने में बैठ गई। बड़ी देर तक बैठी रही। कान खड़े किए रही। कितनी निश्चल रात है ! कहीं कोई आहट नहीं। कहीं कोई पत्ता तक नहीं खड़कता !

ओसारे में जाने का कोई काम न था। नहीं, ओटे पर नहीं चढ़ती मैं ! घर में कोई हो या न हो। दो बार खाँसी। कहीं से कोई जवाब नहीं। लौटकर घर की ओर चली। कुछ ही दूर गई होगी कि पीछे से हारगुणा सांवता और सोभेना कंध की आवाजें सुनाई पड़ीं। मुड़कर देखने लगी। अँधेरे में धुँगियों के दो गुल भुकभुका रहे थे। एक दूसरे से थोड़ी ही दूर पर चल रहे थे और पास बढ़े आ रहे थे। दोनों ऊँचे स्वर में बातें कर रहे थे। कोई बहस छिड़ी थी।

कल का समय आज बदल चुका है। आज कल की तरह 'ओह-ओह' करने से कोई नहीं सुनेगा। इतना सब जान-बूझकर भी मन का व्यर्थ कुतूहल केवल पिटने को ही बढ़ा जा रहा है शायद। नाः, ये बातें मेरे बारे में नहीं हो रहीं। हारगुणा कह रहा था—"बिल्ली-झोले की राह छकड़ा ले जाओ, वो सीधे लक्ष्मीपुरा चला जायगा। तू और रास्तों की बात करता ही क्यों है ? " सोभेना कह रहा था—"खालकणा छोड़कर बिल्ली-झोला जाने

की क्या जरूरत है ? चंपा-गाँव जाना है क्या ? " "अच्छा, अच्छा, आ बात सुन।"—फिर आवाज़ें ओटे पर से आने लगीं।

पिओटी ने कल वाले स्वर का अनुकरण करके मन-ही-मन "ओह-ओह" किया। यही उसके मन का संगीत था। इसी को दुहराती वह घर की ओर लौट चली। आज की रात इसका कोई जवाब नहीं मिलने का।

कंधिया भाई को कभी काम की कमी नहीं होती। एक-न-एक काम सदा लगा ही रहता है। थोड़े ही दिनों में अब बरसात आनेवाली है। उसके पहले ही सारे खेत जोत-गोड़ लेने होंगे। हारगुणा साँवता दिन-पर-दिन काम के पीछे और भी मरता जा रहा है। जाने कितनी बार पिओटी उसके साथ मिल कर काम करती है; पर हारगुणा तो मानो इतना भी नहीं पहचानता कि यह पिओटी पुरुष है कि स्त्री। काम की घानी में उसके लिए हर कोई बस दो-दो हाथ भर ही होता है, दो हाथों के सिवा कोई कुछ भी नहीं। यह कर,—वह कर,—यह नहीं हुआ,—वह नहीं आया। बाहर की नई शिक्षा में शिक्षित पिओटी का नारीत्व कामकाजी पुरुष की सरल निर्भरता को केवल उपेक्षा-ही-उपेक्षा, अवहेला-ही-अवहेला मान बैठता है। पिओटी होठों को दाँतों दबाए काम किए जाती है। घृणा के भीतर छिप-छिपकर रिसियाया कुतूहल उठता है : ये भी कैसे लोग हैं ?—क्या बात है ?

धूप चिलचिला उठी। दुपहरी हो आई।

कोई किसी बहाने सुस्ता रहा है, तो कोई किसी बहाने। कोई किसी उपाय से तो, कोई किसी ढंग से। थोड़े-से लोग अभी भी खेत में ही हैं। फिर ये सुस्तानेवाले भी खेत पर लौटेंगे। गंजे पहाड़ के खेत के पास ही छाँहदार जंगल है। पिओटी उस जंगल में जा बैठी। जगह-बेजगह काँटेदार झाड़ियों में बेरियाँ लगी हैं। नीचे झरने का कलकलनाद सुनाई पड़ रहा है। हलकी-हलकी हवा झिर-झिर बही। पिओटी एक पेड़ से उठंगी ढलान की ओर ताकती बैठी रही। सीधे-सीधे लंबे-लंबे सखुओं के जंगल दूर-दूर तक फैले हुए हैं। हरियावल और गंजे पहाड़ों के बीच-बीच में थोड़ी-थोड़ी दूर पर अनेक कुंज हैं। ढलान की ओर झरना है। पेड़-पौधे भी उसके

दोनों ओर बढ़ते नीचे तक चले गए हैं। पेड़ों के कंधों पर हरी-हरी सिवारी बेलें छिपी-छिपी चढ़ती गई हैं। डालों पर परगाछा बंदे उगे हैं। ये अमरबेलों के भी चाचा हैं, फूल-पत्तों से भरे। पेड़ों पर हाथी के कान जैसे बड़े-बड़े कड़े-कड़े छत्रक उगे हैं। उनसे बारीक हरे-हरे चूरे झड़ रहे हैं।

एक नर हिरन आया। पीछे-पीछे हिरनी। दोनों ढलान की राह नीचे की ओर उतर पड़े। पिओटी अपेक्षा करती रही ; पर झरने के अविराम कल-कल शब्द के सिवा और कुछ भी सुनाई न पड़ा। कल-कल शब्द छंद-छंद में बँधे उठ रहे हैं। मानो समय की छाती धड़क रही हो। मिट्टी के आकर्षण में देह अचेत बँधी रही। जाने कब से ! समय का उसे कोई ध्यान ही नहीं रह गया था। उधर उस करारे की ओर हारगुणा साँवता उतरा। पीछे-पीछे कोई 'टोकी' थी। पिओटी कूदकर खड़ी हो गई। राह-कुराह की बात भूलकर उनके पीछे दौड़ पड़ी। ज्यों-ज्यों नीचे उतरती जाती, जंगल और घना होता जाता ; पर उसे न जाने क्या चीज़ पीछे से ढकेले जा रही थी और वह बढ़ी ही चली जा रही थी। पागलों के प्रलाप की तरह पहाड़ों के किसी मोड़ से उन दोनों की बातें कभी दूर तो कभी पास सुनाई पड़ रही थीं। कभी आधा शब्द तो कभी चौथाई। मतलब कुछ भी खुल नहीं पा रहा था। फिर यकायक आवाज़ें फुसफुसाहट में बदल-बदल जातीं। दन-दनाती हुई पिओटी आगे चली। सामने एक करारा तले के सँकरे 'झोले' में फट गया था। करारे से उतरने की कोई राह न थी। और उस पर पाँती-पाँती जंगलों-भरी पर्वतश्रेणी थी। एक के पीछे एक। ऊपर आसमान था।

रह-रहकर आदमी के शब्दों-सी कोई आवाज़ होती और फिर मौन पड़-पड़ जाती थी। मानो कोई जान-बूझकर उकसा रहा हो, भरमा रहा हो। हारगुणा कहीं नहीं दिखता, उसकी संगिनी कहीं नहीं दिखती। पिओटी राह भूल गई थी। छाँहें गहरा आईं। झुटपुटा-सा हो आया। दुख और उत्सुकता को भय दबोच बैठा। अकेली थी।

दौड़ते-दौड़ते जंगल का चक्कर लगा आती। फिर वैसा-का-वैसा ही जंगल घेर लेता। कुछ देर रुकी रहकर वह फिर किसी एक ओर पैठ

जाती। हर कहीं एक-जैसे सखुए खड़े थे। हर कहीं एक-जैसे खात-खड्ड और ढूह-डूँगर थे। कहीं कोई पहचान नहीं। एक छोटी-सी मूँड़िया पहाड़ी मिली। बड़े-बड़े चट्टानी ढोकों के एक ढूह के ऊपर अजात अगाछा बंदों के स्वच्छंद बाजार से लगे थे। बंदे और पेड़ों की डालों पर उगते तो बहुत देखे थे; पर इस तरह स्वतंत्र रूप से पत्थर पर उगे उन्हें कभी न पाया था। जैसे जात-निकालों ने अपनी अलग जात बना ली हो, अलग बस्ती बसा ली हो। कौन-सा राज्य है यह? कैसी दुनिया है? ऊपर देखा, वहाँ भी उन्हीं हरे पत्तों की रेलपेल थी। किसी संधि के अवकाश पर विस्तृत आकाश से छायाएँ निचुड़ी ढली पड़ रही थीं। कभी हवा में बरसात के पहले उठनेवाली गंध मँहमँहा उठती थी।

पिओटी आस-भरोस छोड़ चुकी थी।

खँखारता कौन है? खाँस-खाँसकर कष्ट कौन पा रहा है? इस जंगल में मधुमक्खियाँ बहुत हैं। उनकी भनभनाहट घाँय-घाँय बज रही है। जाने क्या बड़े ज़ोर से धमाधम-धमाधम पैर बजाता और तालू से जीभ टकरा-टकराकर चटाक-चटाक टिटकारी भरता भागा फिर रहा है।

पिओटी प्राणपण से दौड़ पड़ी। काँटे चुभ-चुभकर पैरों को लहू-लुहान कर चुके थे। फिर काँटे लगे। चीरों पर चीरें। लहू की धारों पर धारें। ठेसों पर ठेसें लगीं। उँगलियाँ फूट-फूट गईं। वह गिर-गिर पड़ती, पर फिर-फिर उठ-उठकर दौड़ती ही गई। बेरियों जैसे बड़े-बड़े आँसू झड़ पड़ रहे थे; पर मुँह खोलकर, फूटकर, रो पड़ने का साहस न था। भय गले को दबोचे बैठा था। पिओटी दौड़ती गई।

अचानक जंगल का छोर आ गया। सामने खुले खेत फैले पड़े थे। लोग सिर झुकाए काम कर रहे थे; पर यह जगह वह नहीं थी, जहाँ वह अपने गाँववालों के साथ काम करती थी। बड़ी देर तक भटकती रहने के बाद ही वह हारगुणा के खेत पर पहुँच सकी। हारगुणा निर्विकार बैठा कुदाली चला रहा था। कोई परिवर्तन नहीं था उसमें; पर सोचते-सोचते

आखिर पिओटी को लगा कि और न सही, उसके दोनों गाल आँखों तले थोड़ा ढुल जरूर गए हैं !

अचंभे से ताकता हारगुणा बोला—"अरे-अरे ! ओ री हमारी मैदानी टोकी रे ! कहाँ भटक गई थी नुनी ? यह क्या हो गया है ? "

काहे की 'टोकी' और काहे की 'नुनी' ? और वह छोरी क्या हुई ? यह तो यहाँ कुदाली चला रहा है ! इसीके लिए इतना किया ? वह आप है कि अकेली खड़ी है ! कोई इधर देखता तक नहीं ! मेघ आ रहे हैं। आँधी उठ रही है।

बुद्धू-सी निठल्ली खड़ी रहना अखरा। झेंप-सी लगी। पिओटी भी काम में जुट पड़ी।

हाथ-मुँह धूल-धूल हैं। माटी भीतर भी पैठ गई है। यों ही माटी में मुँह गाड़े अनवरत खटे जाना पड़ेगा। इससे बढ़कर कोई बड़ा जीवन, कोई बेहतर जीवन यहाँ नहीं है। पिओटी सोच में पड़ गई। पर सोचने की कोई खास जल्दी नहीं पड़ी थी। सभी एकट्ठे ही खेत में लगे-भिड़े पड़े हैं। गोष्ठी की रीति-नीति यही है। इसी रीति-नीति से काम किए जाना पड़ेगा। कोई और चारा नहीं !

अस्सी

रोगी मन घर से बाहर हाँक लाया। असुस्त मन, बेचैन मन। दिउड़ साँवता निकल पड़ा। घर की चीज़ मन नहीं भाती। पराए माल की चाह जगी रहती है। हड़बड़ी में राह कटे नहीं कटती। बंदिकार काले कोसों दूर लगता है। पिओटी की याद बारंबार आती है। आनेवाले अनुभवों की कल्पना करता राह चला जा रहा था दिउड़ । पाप हो कि पुण्य, 'हिए की लगी' ऐसी तीव्र थी कि उसकी तीव्रता ने दिउड़ को भविष्य देखने की दिव्य दृष्टि दे दी थी। दिउड़ मन की आँखें वहीं गड़ाए सोचता रहा। एक जीवन एक जीवन नहीं होता। उसमें अनगिनत जीवन होते हैं। एक में एक समाए हुए, पिरोए हुए। इसी तरह आदमी जी पाता है। कई-कई जीवन, चलचित्र की तरह आते-जाते रहते हैं। कितने ही अतीत, कितने ही भविष्यत्, दृश्य बदलते रहते हैं। ऐसे भावी दृश्य, जो दिनों की स्थूल गणना में कभी घटित नहीं होते। कभी घटित हो भी सकेंगे कि नहीं, यह कोई नहीं जानता। दैनंदिन व्यक्तित्व की गाड़ी भावों की उग्रता और कल्पना के दबाव से ढकेली जाकर कितनी ही बार सीधी राह से भटक-भटक जाती है। गुमराह होकर लुढ़कती-लुढ़कती कहीं-की-कहीं जा लगती है। सुस्थता नहीं मिल पाती उसे। आकांक्षा सुस्थ होने ही नहीं देती। फिर भी यह इतनी बड़ी आँखों-दिखती सृष्टि आखिर आकांक्षाओं के जाल में फँस-फँसकर ही तो बनी है! आदमी एक-एक दिन में न जाने कितनी-कितनी बार पगलाता है। उस पागलपन में भी सुख पाता है। गिरस्ती सँवारता-सँभालता है और गिरस्ती के सुख उठाता है। और फिर एक दिन उस गिरस्ती को उलट- पलट डालने में भी सुख पाता है। मानव अस्थिर प्राणी है। और फिर भी वही मानव स्थाणु भी है। उसमें जीवन की गति है, तो मरण की स्थिति भी है। कितना अनोखा है वह भी!

वह छाया-छवि है—पिओटी!

केवल नारी है वह !—वही देह ! जो पुयू की है, वही पिओटी की भी है। वही देह !—जो माँ की होती है , वही पत्नी की भी होती है।

नित की परिचित। पर नित नया-नया परिचय भी अँकुरता रहता है। कभी उसी दूध[1] को हाथों से पकड़-पकड़कर चूसा था। फिर उसी का किसी और ढंग से भोग किया। संतान बनकर जहाँ उपजा, वहीं संतान उपजाने का बीज बो दिया।

फिर भी पिओटी पिओटी है ! वह पुयू नहीं है। दिउड़ु साँवता के अस्थिर मन में पिओटी पुयू से सर्वथा भिन्न है। पुयू किसी अतीत जीवन की है, पिओटी आज की। देह के अणु बदलते गए हैं, बाहर के रूप, भीतर के कलेवर, नए हो गए हैं ; पर मन के कोई अणु नहीं होते। वह तो एक परिव्याप्त शक्ति है। एक स्वाधीन अस्तित्व है, हवाई है, आसमानी है। आज का मन पुयू को भुला चुका है। पुयू का लोप हो गया है। वह बिक चुकी है, "आटाड्ा हाड्ुरा" (हाट में बिके सौदे की तरह) ! "माटाड्ा बाचुला" (बाट में बिके सौदे की तरह) ! आज पुयू नहीं है। लौकी के तुंबे में पड़े बासी खाद्य और कलेवे के पाथेय के रूप में मँडुआ, कंदा और हाँड़ी को ठोंगो-थैलियों में बाँधकर उसने लाठी में लटका लिया था। कमर में कौपीन थी ही। और सोने के लिए धरती ही काफ़ी होती है। चलते-चलते कहीं राह से थोड़ी सूखी लकड़ी तोड़ कर सियाड़ी की डोरी से उसी लाठी में झुला लेगा, काँधे पर टाँगिया तो है ही। बलिष्ठ देह में रोग का कोई लच्छन नहीं, कोई लांछन नहीं। विदेश[2] के लिए वह निश्चिन्त है।

मुरगों की बाँग की बेर वह निकला था। कंध को कहीं भी जाना हो, निकलता है सदा "मुरगा-बाँग" की ही बेर। अँधेरा फट चुका है। मन कभी-कभी उछाहों में हुलस-हुलस उठता है। रह-रह कर। राह में 'झोला' पड़ा। नित्य-कर्म से निबट लिया। ऊँची-नीची सतहों की धरती

१ स्तन।

२ विदेश = प्रवास।

पर पौ फटी। उजेला लहरा गया। धाऊड़ीआम खेंदा की एक छोटी-सी चोटी के ऊपर चढ़ते समय धरती लाल रंग में रँग गई। हरा-नीला सूरज उगा। दूर म्ण्यापायु दिखा। धुँधला-धुँधला-सा। हरे खेतों की धूल अबीर-सी लग रही है।

दिउड़ू सांवता को सवेरा होने-न-होने से कोई मतलब न था। उसकी अनुभूति में होने या देखने की कोई हिस न थी। उसकी बाहरी-भीतरी परस सो गई थी।

प्रकृति में इतना कोलाहलमय कलरव हो रहा था, इतना बड़ा विप्लव हो रहा था; पर उसे कोई खबर ही न थी! वह निर्लिप्त था। दिउड़ू के मन में तो अभी भी वही छाँह-लौटान की बेर थी, और वही निर्जन वन था, जहाँ चैती शिकार पर जाकर अचानक एक नए जंतु से भेंट हो गई थी। जहाँ उसने पिओटी का प्रथम दर्शन किया था। अपने ही पैरों की आहट से ध्यान टूटा तो देखा, राह से बहुत दूर भटक गया हूँ। लौट पड़ा। लौटते समय ध्यानपट का दृश्य बदल चुका था। सखुए के जंगल की ओर पीठ किए, 'झोला'-किनारे म्ण्यापायु वालों की शिकार-छावनी पड़ी है। पिओटी वहाँ बारंबार आ-जा रही है। पिओटी आ रही है, पिओटी जा रही है! उसी के संपर्क से समय की ठीक वही घड़ी लौट आई है! और उसी लौट आई घड़ी में उस स्थान के वे सारे दृश्य भी लौट आए हैं! बाहर कुछ भी नहीं है, जो कुछ है सो भीतर-ही-भीतर है।

और भीतर केवल पिओटी है।

केवल पिओटी !

पिओटी, जो कि मन की एक अवस्था है।

और कुछ नहीं।

पहाड़ों की यही श्रेणी म्ण्यापायु और बंदिकार के बीच का सिवाना है। धाऊड़ी-आम इस श्रेणी का एक डाँड़ा है। पहाड़ के ऊपर के चट्टानी 'दमक' के ऊपर-ऊपर भी इस गाँव से उस गाँव जाने की एक पगडंडी चली गई है। धाऊड़ीआम के ऊपर कंध बटोहियों के एक झुंड से भेंट हुई।

चिलिशंका के लोग हैं ये। डुंबागुड़ा हाट जा रहे हैं। अरे ठीक तो! आज तो हाट का दिन है। बंदिकार में पुरुष आज कोई न होंगे। सब हाट गए होंगे। तो क्या बंदिकार जाने के लिए आज का दिन जान-बूझ कर चुना है? हो-न-हो, मन की गहराइयों का यही फ़ैसला हो। कौन जाने? पर दिउड़् साँवता को यह पता न चला कि उसके मन ने उसके लिए जान-बूझ कर यह सुविधा कर दी है। उसे तो लोगों को हाट जाते देखकर ही यह बात याद आई। बड़ी खुशी हुई। जी बहुत ही खिला-खिला-सा लगा।

"कहाँ चला साँवता?"

"बंदिकार जा रहा हूँ। बाअली-नूजा[1] आ रही है न, परेवा लाने जा रहा हूँ।"—मुँह से बात निकल जाने पर ही यह ध्यान आया कि ठीक तो, इस खेप में परेवा खरीदे ही क्यों न चलूँ? परेवे सभी गाँवों में नहीं होते। खोज-ढूँढ़ के रखे न रहो, तो मौके पर मिलते ही नहीं।

चिलिशंका-वाले चले गए। और भी कई गाँवों के झुंड मिलते रहे। आते गए, जाते गए। दिउड़् साँवता उस चट्टानी दमक के ऊपर टहलता कई-कई फेरे लगाता रहा। उसे अपने मन का कोई पता न था। पता न था कि मन मठियाना क्यों चाहता है, देर क्यों करना चाहता है। लोग जा रहे हैं, सौदे जा रहे हैं, पीछे-पीछे कुत्ते जा रहे हैं। दिउड़् साँवता आँवले तोड़-तोड़ कर खाता रहा। दमक के ऊपर थोड़ी-थोड़ी दूर पर पाँती-पाँती बड़गद हैं। इनकी बिचली पाँत ही म्ण्यापायु और बंदिकार के बीच की रेखा है। दोनों गाँवों के लोग इस सीमा के बड़गदों को गंजे पहाड़ के बचे-खुचे शेष बाल के रूप में देखते हैं। जब तक ये बड़गद खड़े हैं, तब तक दोनों गाँवों के बीच शांति है, दोनों के इलाके बँटे हैं, कोई गोलमाल नहीं है।

सौदों में लाई चली। मालीगाँव की लाई और गुड़ की छोटी लाई। दिउड़् ने सोचा कि चढ़ान चढ़ने के बाद काफ़ी सुस्ता चुका, अब चला

---

१ बालिपूजा। वामन के दाता राजा बलि बुवाई के बहुमान्य देवता हैं। दक्षिण भारत में मलयाल-देश (केरल) का जातीय वर्ष-पर्व 'ओणम' भी बालि-पूजा और बुवाई का ही तेवहार है।—अनु०

चाहिए। दो पैसे की लाई ले ली। चौबीस गंडे लाइयाँ आईं। तुंबे में भर लीं। पीछे पिओटी को देने में काम आएँगी। बंदिकार की ओर की उतराई पर चल पड़ा। उस समय अगर कोई यह कहता कि तू यहाँ लाई मोल लेने के लिए ही बैठा राह तक रहा है, तो वह कभी न मानता, अविश्वास करता।

गदबागुड़ा [1] पीछे रह गया। कंध-बस्ती के लिए सीधी राह चली गई है; पर दिउड़ ने वह राह छोड़ दी। कंधुणियों के नहान-घाट के रास्ते चला। धूप बढ़ चुकी है। थोड़ी देर में नहाने की बेर हो रहेगी; पर दिउड़ के जानते मन ने, सचेत मन ने, यह बात कतई सोची न थी।

'झोले' के पानी में छपाछप-छपाछप हो रही है। बतरान सुनाई पड़ रही है। झोले की बाँक पर कपड़ा धोने की भट्टी का धुआँ उठ रहा है।

दिउड़ थोड़ी दूर और ऊपर की राह से पैठ गया और नहान-घाट के पीछे की ओर जा पड़ा। देखा—पिओटी आ रही है। अचानक आँखें चार हो गईं। दोनों एक-साथ चौंक पड़े। पिओटी कंधे पर घाँघरी डाले दातून चबाती चली आ रही थी। वैसे ही ठिठक रही। पहले दिउड़ ही बोला—"क्यों री नुनी, भली तरह तो है न?"

लोग आ-जा रहे थे। पिओटी ने केवल हँस दिया, मुड़कर 'झोले' की ओर चली गई। कभी इधर तो कभी उधर मुड़ती हुई। दिउड़ भी गाँव की ओर चल पड़ा। पीछे देखा, पिओटी राह धरे चली जा रही थी। क्यों, अटकी क्यों नहीं? जाने दो, फिर तो भेंट होगी ही। ना जाने कितनी बातें सोच-साचकर इधर आया हूँ यहाँ! मीठी-मीठी बातें, स्वादिष्ट बातें। तुंबे में उसके लिए लाई पड़ी है, मन में कितनी बातें पड़ी हैं। पिओटी चली गई।

सपनों का सिलसिला टूट गया। न जाने कितनी बेर हो गई है। कहाँ आया है वह? दिउड़ साँवता बुद्धू-सा ताकता रहा। कहाँ आया है,

१ गाँव से छोटी बस्ती 'गुड़ा' कहलाती है। 'गदबा' एक आदिम जाति है। 'गदबागुड़ा' गदबा नामक उस आदिम जाति की किसी बस्ती का नाम है।—अनु०।

कहाँ जाना है ? पहले जो ही मिला, उसी से पूछ बैठा—"क्या हो, तेरे गाँव में परेवे हैं ?"

"बहुतेरे हैं।"

"कौन बेचता है ?"

"जंगल के परेवे बेचेगा कौन ?"

दिउड़ गाँव में पैठा। कंध गाँव में परगाँवा लोगों के आते ही सभी पहले संदेह से देखते हैं। उसने ठीक सोचा था, गाँव के अधिकतर लोग हाट गए हैं। लौटते-लौटते काफ़ी रात हो जायगी। हो सकता है, रात में न भी लौट सकें, कल सवेरे लौटें। गाँव में रह गए हैं सिर्फ बूढ़े पुरनिए, या लौंडे-छौंड़े। इनमें भी पुरुष कितने हैं ? बहुत थोड़े। बाकी सारी स्त्रियाँ ही हैं। सब अपने अपने काम में मस्त हैं; पर काम में व्यस्त उन स्त्रियों की आँखें दिउड़ पर ही हैं। वे उसे परख-परख कर देख रही हैं। इसने अपनी बहन को इस गाँव में ब्याहना ठीक नहीं समझा। अब किस मुँह से यहाँ आया है ?

दिउड़ बिना बुलाए ही टिङ् कंध के ओसारे में जा बैठा। कंध को अपने टिक रहने के लिए यह पूछने की कोई गरज नहीं होती कि यह घर किसका है, यह ओसारा किसका है। बैठ गए, बैठ गए। दिउड़ ने साथ की सूखी लकड़ियाँ उतार रखीं और दो-चार पत्थर लाकर चूल्हा बना डाला। अब वह इस गाँव का अतिथि हो गया। चूल्हा बनाने का यही अर्थ होता है। बच्चे जुड़ आए, गुलगपाड़ा मचाने लगे। घरनियाँ कुछ कहे बिना ही दरवाज़े पर चावल, परेवे, मुरगी के अंडे आदि चुपचाप रख गईं। दिउड़ साँवता ने रसोई चढ़ा दी। इस गाँव में उसे दावती भोज की सामग्री पकाने को मिल रही है। संबंध ही ऐसा है !

रसोई पक रही थी। उसी साँकरी गली से पिओटी निकली। ठिठोली करती बोली—"अच्छा, तुम्हें पकाने भी आता है ?"

दिउड़ बोला—"करता क्या ? पका-पकाया तो तुमने दिया नहीं—"

"आके माँगा जो नहीं ! क्यों नहीं माँगा?"—पिओटी हँसी।

"माँगने जोग मन तो मेरा बनाया नहीं तुमने, अब वह बात पूछने से क्या लाभ ?"

कनखियों से ताकती, दिउड़ की छाती में आग सुलगाती पिओटी चली जा रही थी। दिउड़ ने पलटकर पुकारा—"सुनती जा—कहाँ रहती है ?"

"वह देख ना, उस मोड़ के बाद जो घर है, वही हमारा है।"

"और कौन-कौन हैं ?"

"माँ है। अटका क्यों लिया, कुछ देना है ?"—पिओटी हँसी।

दिउड़ ने लौकी की तुंबी उतारी। पर नन्हे-नन्हे बच्चे खड़े देख रहे थे। सब को लाई देने लगो, तो पिओटी के लिए क्या बचेगा ? कितनी बातें की होतीं; पर बच्चे आँखें फाड़े ताक रहे हैं। परगाँवा बच्चे, गाली देके भगाए भी नहीं जा सकते। दिउड़ ने बड़ी-बड़ी आँखें तरेर कर उन्हें घूर देखा। पर बच्चे निरे उल्लू निकले। उनकी सरल चितवनों के आगे उसके तेवर हार गए। हाथ खुजला रहे हैं, पर तुंबे से लाई निकालते नहीं बनती। बच्चों को विष-दृष्टि से घूरते हुए दिउड़ ने प्रतिज्ञा की कि एक भी लाई इन्हें नहीं देनी, सब-की-सब पिओटी खायगी ! सब !

उसके बाद झटपट काम निबटाया। रसोई पकने का नाम ही नहीं ले रही थी। लकड़ी ओदी थी। हाँड़ी का पानी मरा तक नहीं था। अभी कितने ही काम पड़े थे। दिउड़ हड़बड़ा-हड़बड़ा कर चूल्हे में जलावन ठूँसने लगा। धूएँ से आँखें पानी-पानी हो गईं। झर-झर आँसू बहने लगे। उधर से किसी ने ठिठोली की—"कैसा आदमी है री मैया, रसोई पकाना तक नहीं सीखा ! बहन भी ऐसी ओलती हुई रही होगी, तभी तो हमारे गाँव को नहीं दी, क्यों ?"

सब सहना पड़ेगा। केवल उस पिओटी के लिए ! जिसके जो जी में आए, सोचा करें। मेरा इसमें क्या ? लोग तो कहेंगे ही। किसी का मुँह जाबा थोड़े ही जा सकेगा ?

हाँड़ी में 'पेज' खदका। परेवा, मुरगी का अंडा, कंदा, सब की एक-

साथ मिली खिचड़ी ! खाना-पीना हो ले, तो परेवे की टोह में गाँव का चक्कर लगा आना है। उसी अवकाश में पिओटी से भी मिल लिया जायगा।

खाना-पकाना बारह-पणिया[1] हुआ आ रहा था कि इतने में धीरे-धीरे मेघ घिर आए। दूर से सनन-सनन साँय-साँय जलब्यारियाँ बह चलीं। देखते-देखते पेड़-पौधों को झकझोरता, रोर मचाता, अंधड़ उठ आया। अँधेरा चारों ओर से घिर आया। दसों दिशाएँ मुँद गईं। भीषण झंझा। बिजली कड़कने लगी। ओसारे में भी एक जोर का झकोरा आया और चारों ओर चिनगारियाँ बिखेर कर चूल्हा बुझा गया। सरदी से सिकुड़ा-ठिठुरा गुड़ी-मुड़ी हुआ दिउड़ दीवार से सटा बैठा रहा। अँधेरा गहराने लगा। घर-घर किवाड़ें बंद हो गईं। हाट का दिन है, मरद-मानुष हैं नहीं, परगाँवा मेहमान ठहरा, किस घर के आगे जाके खड़ा हो और कहे कि जगह दो ? टपाटप बूँदें पड़ने लगीं। हवा-पानी के झोंके हहाते हुए पूरे ओसारे में खेलते रहे, छान-छप्पर से झगड़ते रहे। पड़छत्तियाँ उड़ गईं। दिउड़ का मन बैठा जा रहा था। घड़ी भर को घर भी याद आने लग गया। सोचने लगा—यही मौसम रहा तो घर कैसे लौटूँगा ? ठनके ठनकते रहे। आकाश जैसे रह-रह कर तड़ातड़ फटा जा रहा हो। बदन पर ठंढी हिंवाल पवन कँटीले कोड़ों-सी बरसाने लगी। आश्रय ढूँढ लेना आवश्यक हो उठा। दिउड़ ने अधपका खाना तुंबे में उँड़ेल लिया और पोटली दाबे नीचे उतर पड़ा। दुरवस्था से मुँहाँमुँही सामना होते ही धीरज आया। दिउड़ ने देखा—यह अच्छा मौका है। मौसम ने सुविधा कर दी है। बदली की अँधियारी में गूँज-सी उठती हुई उसकी काली अँधियारी उग्र चिंता ने फिर सिर उठा कर निर्णय दे दिया—यही तेरा ऋतु 'योग' है दिउड़ !

एक ही सीध में दो पातियों में बसे गाँव में दाएँ-बाएँ भाँति-भाँति की किवाड़ें बंद पड़ी दिखीं। कहीं टाट की तो कहीं काठ की। केवल किवाड़ें-ही-किवाड़ें। बाहर कहीं कोई कुत्ता तक नहीं दिखता। अभी-अभी तो कैसा

---

१ तीन चौथाई। (सोलह पण में बारह पण) जैसे हमारे यहाँ बारह आने या बारह आना कहते हैं। (१६ पण = १ काहाण—अनु०)

खुला-खुला था! इतनी ही देर में क्या-से-क्या हो गया! पठारी मौसम यों ही औचक्के बदल जाया करता है। उसमें कोई स्थिरता नहीं होती, कोई निश्चिति नहीं होती। स्थिर तो यहाँ केवल दो ही चीजें होती हैं। एक वन की माया और एक पहाड़ का आसन। झटपट चल, झटपट चल। मोड़ पार करके यही शायद पिओटी का घर है। दिउड़् ने किवाड़ पर दस्तक दी। कोई जवाब नहीं। पुकारा। पर सुनता कौन है? बारंबार किवाड़ पर चढ़ाई करता गया। तनिक भी कुंठा नहीं लगी। मन-ही-मन इतना सारा-कुछ सोचते-सोचते उसने पिओटी पर एक तरह से अपना अधिकार-सा स्थापित कर लिया है। अपनी दखल है, इसमें लाज की बात ही क्या है? पिओटी ने दर-वाज़ा खोल दिया। सात जनम के पहचाने-सा दिउड़ रूठकर बोला— "इतना किवाड़ पीटता रहा, कोई जवाब ही नहीं?"

अँधेरा घर था। बीच में लकड़ी के बूरे का ढेर लगा कर अलाव जला रखा गया था। बूरा सुलग रहा था। धुआँ उठ रहा था। पिओटी के पीछे खड़ी उसकी बूढ़ी माँ अकबका कर ताक रही थी। खुली किवाड़ पाकर ठंढी हवा हाः हाः हाः हाः हँसती हुई पैठी आ रही थी। पिओटी ने किवाड़ लगा दी। धीमे-धीमे, स्नेह से बोली—"मैं तो बैठी ही थी। अंधड़ आया तो सोचने लगी—कहाँ गए तुम? तुम ठहरे म्प्यापायु के साँवता। सो सोचा, साँवता साँवता के घर न जाकर मेरे घर क्यों आने लगा?"

पिओटी ने अपनी माँ की ओर देखा। दिउड़् साँवता का परिचय वह कैसे ढंग से दे चुकी थी!

दिउड़् की देह पर हाथ फेरती पिओटी बोली—"ओहो, भींग गए हो? हम तुम्हारे जैसे साँवता तो नहीं, गरीब लोग हैं, मेहमान जैसे चुपाए रहोगे, तो जान भी नहीं पाएँगे। रखो रखो, भार-पोटली उतार डालो। आओ देह सेंक लो।"

पिओटी हँसी। दिउड़् का हाथ धर के आग के पास घसीट ले गई। बोली—"यहाँ कोई लाज नहीं।" माँ-बेटी और पाहुन, तीनों अलाव के

पास बैठे। पिओटी की माँ से पाहुन परचा नहीं था, लजा-लजा रहा था। पिओटी बोली—"माँ है मेरी। हम दो औरतें ही इस घर में हैं।"

बातें करने को बुढ़िया एक विषय पा गई। बोली—"हाँ बापा, कुल दो ही हैं हम। और हमारा कोई नहीं! कहा—पिओटी, बाप तो तेरा गया, अब इस परदेस में क्या धरा है, चल गाँव चलें। सो, आ गई। नन्ही थी तभी से बड़े-बड़े जतन से पाला है इसे। बहुत-बहुत दुख बदे थे इसे तो। जो हो, पराए देश में राजा होने से अपने देश में भिखारी होना ही अच्छा। न क्या? तेरा क्या कहना है बापा?"

पिओटी की माँ बड़बड़ाती गई। जाने कितनी बातें! नन्हें दिउड़ू को देख गई थी। सरबू साँवता बड़े भले लोग थे। इत्यादि।

पिओटी बोली—"खाने की तो पूछी ही नहीं माँ। पहले तो वही पूछना था न? हाँ, कुछ खाया है?"

पिओटी का सहज-सरल बरताव देखकर दिउड़ू को लाज लग रही थी; पर पिओटी सहज में छोड़नेवाली भी न थी। बाहर हवा की हूहूकारी चल रही थी। किवाड़ को झकझोरे डाल रही थी। यह हवा सारे लाज-संकोच की दवा थी। अँधेरा जब चारों ओर को रूँध लेता है, तो वह आदमी को आदमी के पास ला देता है, एकट्ठा कर देता है। दिउड़ू के पास और कोई चारा न था।

पास की नन्ही कुठरिया में पिओटी की माँ उस अधपके 'पेज' को पकाने चली गई। इस घर की आग झर्वा चली थी। अंधड़-ही-अंधड़ में बादल फट पड़े हैं। धारापात हो रहा है। पहाड़ पिट रहे हैं। अँधेरा बढ़ रहा है।

बूरे की सुलगती आग की दौंक में पिओटी और दिउड़ू बैठे रहे।

पिओटी ने पूछा—"किधर चले थे?"

"परेवे मोल लेने।"

"परेवे इस गाँव में मिलते हैं?"

"वह तो मुझ से अधिक तू ही जानती होगी।"

पिओटी हँसी। बोली—"घर में बाल-गोपाल तो भले-भले हैं ना ?"

दिउड़ यह ठिठोली समझ नहीं पाया।

पिओटी ने पूछा—"घरवाली अच्छी तरह है ?"

"हाँ।"

"उसे ऐसी आँधी-तूफान में अकेली छोड़ कर तुम परेवे लेने कैसे चल पड़े ?"

दिउड़ गा उठा। घरवाली का एक-एक ऐब बखान गया। पिओटी हँसती रही और मखौल में सहानुभूति दिखाती "आहा, आहा" करती रही। दिउड़ की हड्डियों में आग-सी लग गई थी। वह और भी गरमा-गरमा कर पुयू को गलियाता रहा। हज़ार-हज़ार सौंहें खाता रहा कि पुयू को ज़रूर ही छोड़ दूँगा। अब और घुट-घुट कर मरना एकदम नहीं चाहता। उस अप्रगल्भ प्रलाप के भीतर से ही पिओटी उसे तोले ले रही थी। उस घर से पिओटी की माँ की कोई सुन-गुन नहीं आ रही थी। हाँड़ी में खदबदाते 'पेज' की आवाज़ भर ही उधर से आ रही थी। दिउड़ ने इधर-उधर देख कर यह दिलजमई कर ली कि अब संकोच करने की कोई बात नहीं है। बोला—"लाई खाएगी नुनी ? लाई—?" और तुंबे से लाई निकालकर पिओटी की ओर बढ़ा दी। पिओटी बोली—"तुम्हें भी तो भूख लगी है, आओ, मैं खिला दूँ..."

"और मैं नहीं खिलाऊँ, नुनी ?..."

जिस समय दोनों एक दूसरे को लाई खिला रहे थे, पिओटी की माँ धीरे से आई और उलटे पाँव लौट गई। दिउड़ की सारी बात उसने कान पातकर सुन ली थी। उस घर में लौट कर मन-ही-मन न जाने किसे दंडवत प्रणाम किया और मुँह के भीतर-ही-भीतर बोली—"उसका कपाल, तेरी दया।"

इधर दोनों चौंक पड़े। पिओटी ने पुकारा—"माँ—"

"हाँ बेटा, रसोई हो ली।"

एक्यासी

रात बीत जाने पर दिउड़ू सांवता उस घर से निकला। मुरगे बाँगें दे रहे थे। अँधेरे में झीना-झीना उजेला झिलमिला उठा था। बादल बचे-खुचे टूँड़े झाड़ रहे थे। अंधड़ दूर निकल गया था। उसके चले जाने की चाप साँय-साँय सुनाई पड़ रही थी। सुबह तक रहने का कोई कारण न था। बंदिकारियों से मिलने-भेंटने का काम ही क्या है?

रास्ते पर दो डग आगे आकर पिओटी कान के पास फुसफुसाई—"परेवे तो लिए ही नहीं साँवता?—" दिउड़ू लौट पड़ा। पिओटी हँसती फुदकती लंबी छलाँग भरकर दूर जा खड़ी हुई। बोली—"अबकी आना तो बकरी खरीदने भर के पैसे लिए आना।"

"असल दुधार गाय लेने आऊँगा, नुनी। अच्छा, मैं चला—"

अँधेरा अभी फटा नहीं था। राह में झाड़-जंगल पहाड़-डूँगर हैं। माँ कहती है—भिनसारे के पहर क्या तो जीव-जंतु फिरते हैं, राह में मिलते हैं। पिओटी सोच में पड़ गई। मन छोटा हो गया। हिलते पानी-सा उसका तरल मन भी इस अजीब आदमी के पास अनजाने ही बंधक पड़ गया है। मैदानी लोगों के से कुंडल इसके भले ही न हों, उनकी जैसी कोट-कमीज, साफे-पाजामे की पोशाक इसकी भले ही न हो, पर है यह भी न्यारा ही। पोशाक उतार डालने पर जो देह रह जाती है, वह बल-बूते, डील-डौल, गठन-गढ़न की सुंदरता और छलकते स्वास्थ्य के पौरुष में ही औरों को चुनौती देती है। इन सभी बातों में यह आदमी उनसे बढ़ा-चढ़ा है। और सिर्फ़ देह ही क्यों? मन भी इसका ऐसा तरल है कि मज़े में आँचल के पल्लू में बाँधे रखो। घरनी अपने पुरुष के ऐसे ही मन के गुन गाती है। और फिर साँवता है, दिउड़ू साँवता, ऊँचे कुल में पैदा हुआ है। पिओटी लुभा गई थी। इतने भिनसारे चला जायगा यह!

"चला ही जायगा? माँ से मिल के नहीं जायगा?"

माँ कंबल ओढ़े उसी रसोईघर के चूल्हे के पास सोई पड़ी थी।

"माँ जाग जाय, तो कह देना नुनी कि मैं चला गया।"

"तुझे डर-भय नहीं लगता? जंगल की राह है। ऐसी घोर अँधियारी में अकेला ही जायगा?"

"यह तो सच है नुनी, कि मौसम बघलगी का है। बादल घिरे हों, तो बाघ लगते हैं। धाङ्ड़ीआम खंदा की वह चोटी है न, वहाँ पर थोड़ा डर रहता है; पर मेरा कौन क्या करेगा नुनी? काँधे पर टाँगिया है। नित-दिन की चली राह है। मुझे क्या डर? तू मेरे लिए सोच मत कर नुनी, मुझे जाने दे। हाट-के-हाट आया करना, एँ? वहीं मिला करेंगे? थोड़े ही दिनों की तो बात है। अच्छा तो मैं चलता हूँ।"

विषैली-विषैली-सी रात में घुल-मिलकर वह अंतर्धान हो गया। पिओटी ने लंबी उसाँस भरी। दूर कहीं हवा की साँय-साँय दूरी में घुली जा रही थी। दो पतरेंगे कहीं होड़ बद कर पुकार रहे थे। बादल आसमान पर धुएँ की तरह तिरे जा रहे थे। बड़ी कड़ाके की ठंड थी।

अवसाद की मारी आँखों में नींद काँटे चुभो रही थी। फिर भी घर से चले जा रहे इस विचित्र पुरुष का मोह छोड़ता नहीं था। कितना निडर है! कितना बलवान है! पर फिर भी कैसा बच्चों-सा सरल है! सरल और सुबोध! मैदानी लोगों की तरह अपने बल और साहस की डींगें हाँकना इसने नहीं सीखा।

पिओटी जा के सो रही। प्रात के मुख-सपने ओढ़े हुई---

कानों में बड़े जीवन की हुलास की पुकार गूँज रही थी। दिउड़ चला जा रहा था। उसके मन में घाटे का कोई लेखा नहीं था। और न घाटे के घाव निहार-निहार कर रीं-रीं रिरियाते रहने की, नाक बजाते रहने की, कविता ही थी। चिर-स्थायी कोई चीज वहाँ होती ही नहीं। खिलौने की पुतलियाँ तोड़ने को ही गढ़ी जाती हैं। वहाँ कोई ऐसी शक्ति थी, कोई ऐसी आत्मा थी, जिसकी एक-एक नींद में एक-एक कल्प बीत-बीत जाता है, जिसके स्वभाव से पानी या तो बुलबुला बन जाता है या भाप, जो पीछे

रह कर ही अपनी विचित्र सृष्टि को देखता है, और गुड़ियों-खिलौनों की अपनी क्षणभंगुर दुनिया को अमर होने की आशा देता है। जिसकी प्रवृत्ति सदा मिट्टी में जड़ जमाने की होती है। लाख अंधड़-झक्कड़ आएँ, लाख उलट-पुलट कर जायँ; पर वह फिर जड़ पकड़ेगी ही। नए भेस में ही सही, पर मिट्टी नहीं छोड़ेगी। इसी प्रवृत्ति के तगादे पर उसने पुराने को छोड़ कर नए का ग्रहण किया था, दुख को भूलकर आनंद को गले लगाया था। खिलौने की यह पुतली ऐसी पुतली है, जो टूटकर बिखर जाने तक चिरंतन मरण के साथ जूझती ही रहती है। उसका मन अजेय है।

आज की प्रात में वह सुंदरता नहीं है। बादलों ने चारों कोने घेर डाले हैं। थोड़ा भी आकाश खुला नहीं छोड़ा है। दूर के पहाड़ दिखाई नहीं पड़ते। पास के पहाड़ उदास और निष्प्रभ हैं। ढलान के मुँड़े खेतों पर बरसाती बफारे का धुआं फैल रहा है। चारों ओर रुआँसी-रुआँसी ओदी-ओदी, ठिठुरी- ठिठुरी निर्जनता है।

पर दिउड़् साँवता का मन कोई खराब न था आज। उसके अशांत अंतर में शांति पधार चुकी थी। आज वह नए घर और नए संसार को अपनी मुट्ठी में कसकर पकड़ सकता है, आज उसने पिओटी को पा लिया है। आज उसके मन को किसीसे भी कोई शिकायत नहीं है। पुयू तक से भी नहीं। पुयू भी आज उसका जी नहीं उचाटती, विरक्त नहीं करती, पुयू को तो वह हीन मान कर हेय समझता है। कोई रोष-असंतोष नहीं उसके प्रति।

गाँव पास आया। अभ्यास के अनुसार पुरानी धारणा उभरी। जानी-चीन्ही डीह की जानी-चीन्ही चिंता। पुयू के प्रति रोष भले ही न हो; पर टूट रहे नाते के भीतर से इतने दिनों की गाँठ याद आकर चेताए दे रही थी, कि टूटही हो, कि घुनाई हो, यह भी है अभी, कहीं गई नहीं है। उलझन से जी झल्ला रहा था, किसीको कुछ बताए बिना ही चला क्यों गया! वे पूछेंगे, जवाब देना होगा! चोरी करके लौटने-सा लग रहा था! पिओटी का मोह चाहे कैसा भी हो, उसे चाहने का गुणधर्म किसी और ही तरह का है।

गाँव पहुँचते-न-पहुँचते पांडरू डिसारी से भेंट हो गई—"बाअली-पूजा आ पहुँची है। साँवता, कोई जोड़-जुगाड़ तो हुई ही नहीं— कहाँ गया था? बड़ी दूर से लौट रहा है?—"

"बाअली-पूजा? कब का योग पड़ा है?"

"अब दिन ही कितने हैं?"

"इतना अचानक?"

डिसारी हँसा। आकाश की ओर हाथ उठा कर बोला—"सब उनका नियाव है साँवता, सब उनकी मरजी है। हम से पूछ-बूझ कर तो वे योग देते नहीं, कि हम पहले से जान लें। कल साँझ को बैठा-बैठा तारे देख रहा था। सोच रहा था, जाने कब बाअली-पूजा पड़े। देखा, वे एक जगह जुट आए हैं। बाअली-पूजा के सभी सितारे समान तेज लेके एक जगह मिला रहे हैं। सोचा, अरे अब तो समय नहीं रहा, चलके कह तो दूँ—"

"तब तो अच्छी बात है डिसारी। 'कासिरी'[1] हो चुकी है। सारा गाँव बाट जोह रहा था कि झटपट बाअली-पूजा हो ले, तो बीज बो डालें। सब यही सोच रहे थे कि कब पूजा होगी।"

"कब होगी? क्यों? इस साल कोई नई बात तो होनी नहीं थी! जिस तरह हर साल बुध के दिन पूजा होती है, उस तरह अब के भी होगी। 'समजा' योग में बुध के दिन बाअली-पूजा शुरू होती है और गुरुवार को समाप्त हो जाती है। साल-साल यों ही तो होता है, अब के भी होगा। देवताओं के चारों धरम बने रहें। कुछ बिगड़ता है, तभी तो दिन का अदिन होता है, दुर्दिन आता है.."

दिउड़ू सोच में पड़ा था। अब घर पहुँचना था। पुयू बैठी पका रही होगी। बेचारी के विरुद्ध पूरा षड्यंत्र रच कर घर लौट रहा हूँ। और अब उसी से कहना पड़ेगा कि भात दे, पानी दे। डिसारी ने दिउड़ू साँवता के गंभीर मुँह को ही देखा। मन-ही-मन नया नतीजा निकाल कर दुखी हुआ। बोला—"तू जो सोच रहा है साँवता, वह मैंने भाँप लिया है। दुनिया

---

१ खेतों की जुताई-गुड़ाई।

का कोई बड़ा आदमी सो जाय[1], लड़ाई छिड़ जाय, या देश टूट जाय, तो आकाश के उन तारों का योग भी असमय अ-दिन में पड़ता है, पूजा-पर्व भी अ-दिन में पड़ते हैं। सच। तेरे बाप सरबू साँवता बड़े लोग थे। सरबू साँवता मर गया है। तू यही न सोच रहा है कि बाअलीपूजा का योग अदिन में क्यों नहीं पड़ा? कि तेरे बापा क्या कोई ऐरू-गैरू थे? पर बात यह है बेटा, कि वह सिर्फ मरा ही तो नहीं, हाकिना बनकर तेरी गोद में फिर जनम भी तो ले चुका है! बूढ़ा था, बच्चा बन गया है, इसमें आता-जाता ही क्या है? सब जस का तस है, फिर योग बदले तो क्यों बदले? योग बदलने का कोई कारण नहीं।"

दिउड़ू डिसारी से विदा हुआ। हाकिना! ठीक कहा! हाकिना भी तो है! अपने कुल को बढ़ाने वाला, वंशधर! हाकिना ने तो कुछ नहीं बिगाड़ा, कोई अनिष्ट नहीं किया? बेटा बाप का होता है। पुयू जायगी, हाकिना रहेगा; पर यह भी एक समस्या ही है। हाकिना को छोड़ के पुयू रहेगी कैसे? निबल पुयू, बे-आसरा पुयू, संसार में जिसका अपना कोई नहीं है। दिउड़ू के मन की निष्पत्ति आज स्थिर है, इसीलिए उस अडिग निर्णय की छाँह तले पुयू के प्रति सहानुभूति भी जग रही है। मन के भीतर से उसे ठेल-ठाल कर बाहर कर चुका है, इसीलिए बाहरी आदमी की-सी असंपृक्त ठंडी चितवन से उसे देख पा रहा है, और सोच पा रहा है।

ना, उसे अब गाली नहीं दी जायगी, कष्ट नहीं दिया जायगा, जितने दिन रहना है, सुख से पड़ी रहे; पर जाना तो उसे पड़ेगा ही। राजी-खुशी से न जायगी, तो जोर-जबरदस्ती से बाध्य होकर जाना पड़ेगा। नाता अब अचल हो चुका है। फिर, जान-बूझकर जीवन को भसम करते रहने से कौन-सा फल मिलेगा?

वहाँ पुयू बैठी है। यही एक दिन अपनी घाड़ड़ी थी। अब नहीं रही! झटपट पाँव पखारने का पानी ला दिया। एकदम नरमाकर पूछा—"कुछ खाया है? आ, खिला दूँ।" चेहरे पर कोई राग-अनुराग नहीं है। मार

[1] मर जाय।

खाने की राह तकती-सी वही नित की चितवन है। इतना डर? क्यों, किसलिए? दिउड़ू ने भी नरमाने की कोशिश की ; पर नरमा न सका। यह चितवन उससे कितना घिनाती है। बाहर-बाहर डर है, भीतर-भीतर घिन। और आँखों में उस घिन की कोई निशानी तक नहीं! छिपाए रखती है! दिउड़ू ऐसे ही जाने क्या-क्या सोचता रहा। बोला—"इतनी दूर से थका-माँदा आया हूँ, यों गूँगी-सी खड़ी क्या है? मुँह उस तरह क्यों बनाए हुई है? मैं तुझे मारूँगा क्या?"

वैसे ही शांत भाव से पुयू बोली—"आ, खा ले। सब हो-हवा चुका है।"

पर यह पूछती क्यों नहीं कि कहाँ गया था? एक बात तक न पूछी? क्यों? मानो जानने को इसके कुछ भी छिपा-छिपाया भेद हो ही नहीं। उमी पुयू ने परोस दिया। चिन्तित मन से दिउड़ू खाने बैठा।

आधा खा चुका था। सोचा, अब कह डालूँ। कह डालूँ कि—"क्यों, अब और मुँह बनाने में क्या धरा है पुयू? फिर, यह झूठमूठ की गिरस्ती घसीटे फिरने में क्या धरा है? पराई बेटी तू मेरे घर में काहे को घुट-घुट कर मरती रहेगी? तू अपनी राह ले, जहाँ मन हो, चली जा—"

थकी-माँदी देह में मँड़ुए के गरम-गरम भात के चार कौर बड़े ही अच्छे लगते हैं। पेट भरने के साथ ही जी नरमा उठता है। दिउड़ू का मन भी एक साथ कई ओर खिंच-खिंच कर फटा जा रहा था। यह निबल अबला! इतने दिनों तक बेचारी एक आदमी के पूरे घर-संसार का भार जैसे-तैसे ढोए चली जा रही है। और कुछ करे या न करे, काम करती रही है। बेटा जन दिया है। कुछ-न-कुछ उपकार तो इसके हाथों भी हुआ ही है आखिर!

ना! तथापि इसे जाना ही पड़ेगा!

बीच आसमान में बादलों का धुआँ लहरा रहा है। दूर दिगंत से काले भँवराले बादल उमकते हुए ऊपर को उठे आ रहे हैं। हाड़ कँपाती ठंडी हवा झाँय-झाँय बह रही है। कैसी निस्तब्धता है! प्रकृति की ओर से

मिले इस अपमान के भीतर आदमी उलट कर गरमाहट खोजता है। अँधेरा घर था। किवाड़ लगी थी। अँधेरे घर में बूरे की दहकती आग के पास दो जने आमने-सामने बैठे थे। ये दो जने दो जने भर ही हैं। बस यही उसका प्रतिवाद है। स्वस्थ सबल पुरुष स्वास्थ्य खोजता है, सुन्दरता खोजता है। हाड़-चाम के कंकाल को लेके क्या करे वह? इसका तो अपने लिए अब कोई प्रयोजन नहीं! पिओटी आएगी ही!

चुपचाप खाता जा रहा था। पुरुष का दंभ उभड़-उभड़ कर गले तक आ-आ कर रह जाता था। बस दो शब्द ही तो कहने हैं—"पिओटी आएगी। तू जा।" इन दो शब्दों की एक चोट में ही मामला साफ! पर कहा पार नहीं लग रहा।

पुयू की रसोई स्वादिष्ट बनी है।

उसने कुछ कहा तो नहीं था; पर उसके अनजानते ही पुयू उसे निरख-निरख कर निहार रही थी। इस आदमी की एक-एक भाव-भंगी वह पहचानती है। ढोल पीटने नहीं बैठती; पर छाया-सी लगी रह कर एक-एक बात समझ लेती है, एक-एक मुद्रा का मर्म पहचान लेती है।

सो, इस नीरव मानव को आँखों-ही-आँखों समझने में वह लीन थी। एक-एक घटना की याद एक-एक प्रकार की भावभंगी और चितवन से निकल-निकल कर उसकी आँखों के आगे खड़ी हो जाती है और अनुभूति में ठीक वैसे ही रूप धारण करती है। अनुभूति के उस शब्द-हीन बोध के सहारे पुयू बैठी-बैठी अपने पति के सम्पर्क में करुण रस का अभिनय देख रही थी। बाहर बरसात है, धरती का रूप रुआँसा-रुआँसा है। यह नई अनुभूति उसके अनुरूप ही है। दोनों समान हैं।

कितनी दूर—कितनी दूर—

पति बहा चला जा रहा है। संसार बहा चला जा रहा है। जितने भी जाने-पहचाने आसरे-भरोसे हैं, जो-जो भी अपना है, सब तूफान में घोलमट्ठा हुए भँवराते बहे चले जा रहे हैं। मुँह तक नहीं खोलता यह तो! इसका पत्थर का कलेजा रत्ती-भर भी नहीं पसीजता।

पुयू ने मुँह में कपड़ा कोंच लिया और रो पड़ी। दिउड़ साँवता प्रकृतिस्थ हुआ। हाँ, इसका यही रूप अपना जाना-पहचाना है! रोष में उबल कर खाली हो चुके जूठे पत्तल पर हाथ पटकता हुआ बोला—"निकल जा..., निकल जा यहाँ से..., मेरे इस घर में पैर धरते ही इसकी रुलाई फूट पड़ती है—" बाकी जितनी भी सारी नरम-नरम बातें उसने सोच रखी थीं, सब भूल गया। पुयू फिर वही पुयू हो रही, जो उसकी आँखों मे उतर चुकी थी, जिसे छोड़ देने का उसने पक्का इरादा कर लिया था, जिसके प्रति उसके मन में कोई दया-माया न थी, कोई छोह-मोह न था।

बयासी

पाँच दिन तक झड़ी लगी रही। अंधड़ चलते रहे, पानी पड़ता रहा। पाँच दिनों के बाद आसमान अचानक खुल गया। दो दिन गए, तीन दिन गए, बारिश ने मुँह तक नहीं दिखाया। जंगल का कुहासा धूप में झिलमिला उठा है। दुपहर के समय जंगल के अन्दर से गरम भाप उठती है। माटी में हाल आ गई है। जोत कर बीज बो देना भर रह गया है।

ठीक ऐसे ही समय में डिसारी का 'योग' पड़ा है। बुधवार। बाअली-पूजा का दिन। सवेरे उठते ही पांडरू डिसारी को एक नई अनुभूति हुई। उसने महसूस किया कि सभी पूजाओं का कर्त्ता मैं हूँ। आज मेरी बुवाई-पूजा है।

डिसारी की बुढ़िया बहुत पहले ही उठ चुकी थी। आग जला कर नदी की ओर गई थी। संसार में उसका सरबस ले-दे के दो ही तक सीमित है। एक अपनी बुढ़िया और दूसरा अपना खेत। 'बाअली'-पूजा करा चुकने पर खेतों को बो डालना है। कितनी सारी उपज होगी? और बुढ़िया? फल उसने भी दिए थे; पर वे सब-के सब चले गए। अब वह आप है और उसकी बुढ़िया है। दोनों बूढ़े-बूढ़ी बच रहे हैं। वह आप ठाकुर 'डुमा' का बेदाम का चाकर है। सितारों से उसकी बातें होती हैं; पर इतने पर भी वह ज्वर को, छाती के दर्द वाले ज्वर को, चेचक को, किसी को भी रोक नहीं पाता, मरण को अटका नहीं पाता। फिर भी वही डिसारी है, गाँव का सर्वज्ञ सिद्धांती है।

देवताओं के विश्वास का बोझ अकारण ही ढोते रहना और हर बात पर हँसते रहना उसका काम है। इसी के सहारे उसे पूजाएँ निभानी होती हैं। आज 'बाअली'-पूजा तो कल 'टाकू'-पूजा, परसों दसहरा-पूजा। इसमें कोई दान-दक्षिणा नहीं मिलती। डिसारी ही एक ऐसा पुरोहित

है, जिसे पैसे नहीं मिलते। उसने तो गोष्ठी-गत गिरस्ती में एक दायित्व का भार अँकवार रखा है। सब के मंगल के लिए समाज का इतना काम सँभाल लेने को वह बाध्य है।

आज की सुबह और-और सुबहों से कोई उतनी भिन्न नहीं है। हाँ, डिसारी की आँखों में आज के दिन का एक विशेषत्व अवश्य है। गाँव के पेड़ों में झुंड-की-झुंड मैना चिड़ियाँ नाना रागिणियों में गा उठी हैं। आज मोर की केका भी बहुत ही साफ सुनाई पड़ रही है। धूप में आज कैसा रंग है! आज दिगंत की शोभा कैसी अनोखी है! प्रकृति बाट जोह रही है! कि आज मनुष्य बीज बोएगा।

किन्तु डिसारी के मन ने आज कोई और भी पुकार सुनी है। आज घर-घर लोग अपने सारे बाल-गोपाल के साथ, सारे कुटुम्ब-परिवार के साथ एकट्ठे होकर आनन्द करेंगे। इसके लिए आज डिसारी को भी कुछ बाल-बच्चे रहने चाहिए थे। सुबह-सवेरे ही चारों ओर धूमधाम शुरू हो गई है। बच्चों ने भुने चबेने खा-खा कर ढोल पीटने शुरू कर दिए हैं। आज अपना निपूतापन खल रहा है। बच्चों की याद आ रही है।

डिसारी उठा। पूजा के आयोजन करने निकल पड़ा। गाँव के लोग सब कुछ जानते हैं। तथापि दल में बँधे तमाम और-और लोगों के लक्षण के अनुसार वे भी जान-बूझ कर मठियाए रहते हैं, बताए जाने की बाट जोहते बैठे रहते हैं। नायक को बताने जाना होगा—गाँव के साँवता के पास। साँवता—! हुँह—पांडरू डिसारी ने हँसकर मुँह मोड़ लिया। तथापि इसी आदमी से सरबू साँवता जैसे पुराने कैंडे के आदमी ने इतनी आशा लगा रखी थी! ना, इन लौंडों से कुछ न होगा। पूजा के आयोजन बड़े-बूढ़े करेंगे। सरबू का भाई लेंजू कंध, लेता, आरजू, बागी, जांबा। रहे 'टोके', तो वे मौज मनाने, रास-रंग और आमोद के भागी होंगे। छोरों के तो छोरियाँ हैं, बूढ़ों के लिए धुँगिया और कर्तव्य दो ही आधार हैं।

'बाअली'-पूजा के उपलक्ष्य में भोर ही से घर-आँगन की लिपाई-पुताई लग गई। रंगबिरंगी माटियाँ आईं। लाल गोपी-माटी, उजली खरिया

माटी, हलदिया चिकनी माटी, काली गोंदिया माटी। छोपें लगने लगीं, गिलकारियाँ शुरू हुई। घाँघरियाँ लपेट कर कमर तक चढ़ाए कछोटे कसे स्त्रियाँ पिली पड़ी थीं। स्त्रियाँ दायित्व के तीन चौथाई भाग की भागी हैं। उन्हीं का विशेष आग्रह रहता है कि "योग कब पड़ा है डिसारी—"

"बता जा डिसारी, बता जा डिसारी—"

नन्हे-नन्हे बच्चे पैरों में लिपट जाते हैं। पूछते हैं, आज भोज होगा कि नहीं। जवाब पाते ही उछलते-कूदते फाँदते-रेंगते चले जाते हैं। सुबह से ही धाङड़ियाँ नहा-धोके चकाचक चमकती आती हैं। डिसारी को सुना-सुना कर आपस में ही कहती हैं—"रात को पूजा में देर हुई, तो उतनी ठंड में हम नाच नहीं पाएँगी, सो जान रखना। रात को डर लगता है। रात को ठंड लगती है। साँझ रहते ही अपने मंत्र समेट लेना।"

जिधर जाओ उधर ही डिसारी-डिसारी लगा है। बात-बात में डिसारी ही इतने सारे लोगों का अवलंब है। इसीलिए आज डिसारी की फरमाइश भी कुछ ऐसी ही होगी, जिससे देवता के काम में भी कोई खोट न रहे और आदमी के काम में भी कोई बाधा न पड़े। काम करते-करते वह बँध पड़ा है। समाज को देख-देख कर वह अपने निज के शौक भुला लेता है। सब उसी के हैं, वह सभी का है!

बारिक के घर की गली के मोड़ पर कई बूढ़े बैठे बहस कर रहे हैं। बहस पूजा के आयोजन के विषय में है। लेंजू कंध बोला—"देख तो डिसारी, मुझे दारू जुटाने का भार सौंप रहे हैं। वह भार तो मैंने उठा लिया। अब रहा साग-सगोती[1] जुटाने का भार। मैं कहता हूँ कि वह भार दिउड़ू सँभाले; पर ये मानते ही नहीं। उसके लिए भी जांबा और लेता मुझी को धर रहे हैं।

"हम तो उसे न चीन्हते हैं, न जानते हैं। लौंडा-छौंडा लोग है, क्या भरोसा उसका? तुझे न धरा जाय, तो जाने दो, गाँव-भोज चौपट होने दो। साँवता तो था सरबू साँवता और तू है उसका भाई!"

---

१ माँस।

डिसारी बोला—"साग के लिए इतनी ठेलाठेली काहे को कर रहे हो ? गाँव में किसी के बैल-बकरे नहीं हैं क्या ? चंदा उगाह ही रहे हो, हक पैसा देके ले लेना। इसमें है ही क्या ?"

ना, गोलमाल तो इसमें एकदम नहीं है। बीमा कंध के पास एक बैल है, जो किसी काम का नहीं रह गया है। माँगने पर दे ही नहीं रहा है। कहता है, डुडुमागुड़ा हाट ले जाके बेच आएगा। उसी के लिए ही तो यह इतनी सारी तकरार है ?"

डिसारी ने हँस कर कहा—"इसी को कहते हैं बारिक-बुद्धि ! तुम अपने हाथ के पैसे छोड़ोगे नहीं और दूसरों को कहोगे कि माल दे दो। गलियारे की दफा लागू कर दो, पैसे दे दो और माल ले लो। गाँव का ही आदमी तो है, तुम्हारे हिसाब से माशे भर भी अधिक ले ले, तो फिर देखा जायगा। और दफा लगाने पर भी माल न दे, तो पंचायत फिर बैठेगी।"

"क्यों भला ? मेरा क्या आता-जाता है ? साँवता को कह दो। उसे जहाँ से भी लाना हो, लाए। बीमा इनकार करे तो वह बीमा को गाँव से निकाल दे—!"—लेंजू कंध ने राह बताई।

डिसारी खीज गया।—"ना ना, यह सब बचकाना बातें हैं। तू जा बारिक, मैंने जैसा कहा है, कर। बीमा देगा। देगा क्यों नहीं ? आज तेवहार मनाना है, या झगड़े-टंटे में फँसना है। उसके बाद—पेट की चिंता तो यों ही टली। रहा पूजा-मंडप का सवाल। 'छामुड़िया' कौन बनाएगा ? पूजा का संचालन कौन करेगा ? यह सब भी साँवता पर ही छोड़ दोगे ? अगर ऐसा ही करना है, तो करो। खाली बैठे-बैठे भोज खाते रहो।"

सभी उठ पड़े। इसी फटकार की बाट जोह रहे थे सभी। सब से बड़ा काम तो अभी गाँव के अंदर है।

घर-घर से लोगों को बुलाकर टाँगिया सँभाले सभी जंगल की ओर चले। डिसारी बेजुणी बूढ़ी के पास गया। बेजुणी को सब मालूम है; पर फिर भी उसके साथ पहले से ही सलाह-मशविरा किए रहना जरूरी होता है।

धूप खड़ी सिर पर आ गई। गाँव के गलियारे में काम शुरू हो गया। गड्ढे खोदना, खूँटे गाड़ना, 'छामुड़िया' तैयार करना, घर खड़ा करना—कामों की कोई कमी न थी। पास ही ढोल बज रहा था। लोग ढोल के ताल-ताल पर काम किए जा रहे थे। यही उत्सव की सूचना थी।

ऊमस और घाम-भरी धूप के समय दिउड़ खेत से लौटा और हाथ में बरछा लिए जटाजूट फड़काता उसी राह पर आ पहुँचा। देखा, लेंजू कंध छाँह तले पत्थर पर बैठा धुँगिया पी रहा है और देवता-कोठी की तयारी देख रहा है। बूढ़े भोज के बारे में चिंतित चर्चा कर रहे हैं। किसी खास व्यक्ति को संबोधित न करते हुए ही दिउड़ भरे गले से गरजा—"यहाँ क्यों? यह जगह किसने चुनी? यह किस की बुद्धि है कि एक बारिक के घर के पास 'छामुड़िया' बन रहा है? एँ?"

लेंजू कंध सुनी-अनसुनी करता धुँगिया पीता रहा। जांबा का थूथन और भी खूँटे-सा लटक गया, गरदन और भी फूल गई। लेता दिउड़ के पास गया और उसकी बाँह को कसकर पकड़ते हुए उसके मुँह के पास खुला पंजा हिला-हिला कर दिखाने लगा। दिउड़ साँवता को झगड़ने के लिए उपयुक्त पात्र न मिला। क्लांत विरक्ति के भाव दरसाता चिल्लाया—"बारिक, बारिक। बुड्ढा गया कहाँ?"

"यहीं हूँ साँवता, यहीं हूँ।"—पसीने से लथपथ बूढ़ा बारिक एक डाल पकड़े धूप में खड़ा था। पास खड़े किसी आदमी के हाथ मे डाल को थमाकर हुकुम के बंदे-सा साँवता के पास जा खड़ा हुआ और लल्लो-चप्पो करने लगा।

"यह जगह किसने चुनी बारिक? पारसाल तो थोड़ा और नीचे झोंपड़ी बँधी थी शायद—"

कभी साँवता की ओर तो कभी बूढ़ों की ओर करुण विचलित दृष्टि से देखता बारिक बोला—"डिसारी ने यही जगह बताई। बेजुणी ने कहा—यहीं ठीक रहेगा। अब इतने पर भी तू इसे अनीत तो बता नहीं सकता था साँवता? यही सोच कर हमने यहीं काम शुरू कर दिया।

ऐसी ही कोमल बातों से डंबॅऽ औरों के हृदय मोड़कर अपने बस में कर लेता है। दिउड़ नरम पड़ गया। स्नेह के स्वर में चिल्लाया—"जरा जल्दी करना रे, जल्दी करना। जल्द झोपड़ी बाँध डाल। वहाँ उधर थोड़े और पत्ते खोंस दे। भीतर के भेद बाहर से दिखाई पड़ें, तो पूजा क्या खाक होगी? अरे, उधर पाख टेढ़ी हो रही है।"

बूढ़े फिर भी न चौंके। काम की रफतार न बढ़ी, न घटी। बूढ़ों की ओर खीस भरी निगाहें डालता और कुल्ला भर थूक फेंकता दिउड़ साँवता धरती पर लात मार कर घर की ओर चला गया। उसका यह विश्वास तनिक भी धूसर न हुआ कि मैं न देखता तो काम बिगड़ गया होता।"

झोंपड़ी खड़ी हो गई। डालों और पत्तों से चौमूँद। उसके भीतर रेत की वेदी बनी। छाँह-लौटान की बेर सारा गाँव उस पूजा-घर के पास जमा हो गया। बाजे-गाजे और कोलाहल के बीच एक चंगेरी खचिया में भरी रेत लिए और उस रेत में खुँसे हाथ-हाथ भर के मकई-मँडुआ के पौधों को नए अँगोछे से ढँके हुए पांडरू डिसारी लोगों की नजरों से उन पौधों को बचाता 'छामुड़िया' के अंदर घुस गया। रेत की वेदी पर नए पौधे 'थाप' दिए। फूल, चौरेठे, हलदी में रंगे अरवा चावल आदि से चौक पूर दिए, रेत में बीज बो दिए, गुग्गुल जलाकर धूपदानी रख दी, दरवाजे पर घी की बत्ती जला दी और बाहर निकल आया। इस तरह प्रसिद्ध 'बाअली' पूजा का शुभ दे दिया गया।

किसी देश में चैतन्य महाप्रभु की बलियात्रा होती है, तो कहीं बालुंका पूजा होती है। जयपुर [1] के राजा के घर पर भी कंध की बाअली-पूजा होती है। मैदानी अंचलों में कुछ खेल-कौतुक भी इस पूजा में मिला होता है। लोग 'पाला' [2] वालों की तरह भेस बनाए, प्रेम का अभिनय करते जुलूस निकालते हैं, शोर-शराबे से कान फटने लगते हैं। वह भी एक बलियात्रा

१ उड़ीसा की एक रियासत।

२ होड़ बदकर पुरानी कविताओं का पाठ करने वालों का यात्रा-दल। उड़ीसा में पाला अत्यंत ही लोकप्रिय है।—अनु०।

ही होती है। पर कंध की 'बाअली-पूजा' इन सब से न्यारी और स्वतंत्र है। उसके अर्थ और होते हैं, उसका विधि-विधान न्यारा होता है। वह अत्यंत गंभीर, अत्यंत पवित्र होती है। उसमें कोई खेल-तमाशा नहीं होता, धरनी-माता की पुनीत पूजा होती है।

पूजा आरंभ हुई। सारा गाँव पूजा-कोठी के आगे पाँतें बाँधे बैठा था। पूजा-कोठी के दरवाजे पर बेजुणी बैठी मंत्र-पाठ कर रही थी। उसके दोनों हाथों में मुरगी के दो चूजे थे, जिन्हें वह अक्षत चुगा रही थी। उसके साथ दो और बूढ़ियाँ बैठी सिर हिला-हिला कर मंत्र-गीत की टेक में गला दे रही थीं और ताल रख रही थीं। द्वार के पास ही बाजे बज रहे थे। 'बाअली' पूजा चल रही थी।

मंत्र अछोर होते हैं। अटूट पढ़े जायँ, तो अनंत तक चलते रह सकते हैं। जितने देवी-देवता हैं, एक-एक करके सब के नाम ले-लेके मंत्र दुहराना पड़ता है। कंध-देश के जितने भी प्रमुख स्थान हैं, सब के नाम गाने पड़ते हैं। जितने प्रकार के शुभ हो सकते हैं, जितने प्रकार के मंगल हो सकते हैं, सब की तालिका देवता के आगे बखानी जाती है। आदमी की घर-गिरस्ती, देह-नेह, उपज-पाती, सब के संबंध में देवता-पितर के निहोरे करने पड़ते हैं। सभी पुरानी पूजाओं की तरह इसमें भी वही पुरानी दुआएँ मनानी पड़ती हैं। वन को जायँ तो काँटे न लगें, बाघ न लगें, रोग न लगें, सोग न लगें, ढोर न मरें, डंगर न मरें, इत्यादि। जिनकी घर-गिरस्ती पहाड़ों पर, बादलों और गीधों के बीच होती है, उनकी विपदाओं की सूची भी बड़ी लंबी होती है। शुभ मनाते-मनाते बेजुणी सभी वारों, मासों, नक्षत्रों, योगों आदि के नाम याद खुरच-खुरच कर गाती गई। कहीं ऐसा न हो कि किसी मुहूर्त का नाम छूट जाय। लक्ष्य यह था कि प्रत्येक पल कंध जाति के लिए सुविधा का पल बने। बाजों के ताल-ताल पर छंदों में बंधी इतनी बातें एक साथ गानी हों, तो बेर कहाँ से मिल सकती है?

धीरे-धीरे बेजुणी गाती जा रही थी। नाच का देवता धीरे-धीरे बूढ़ियों पर सवार होता जा रहा था। धूप-गुग्गुल का धुआँ आँखों को भर रहा था।

बाजे कानों को भर रहे थे। झूम-झूम कर मंत्र पढ़ते-पढ़ते सिर नशे से भर रहा था। कालिसी[1] लग रही थी। तीनों बुढ़ियाँ स्तोत्र-पाठ करते-करते ही छलाँगें मारतीं पीछे जातीं, रेंगती-फाँदती आगे आतीं और लड़ाकू मेढे की तरह तीनों सिर ठकाठक टकरा-टकरा लेतीं। फिर तीनों ही एक दूसरे के सिर नोंचने लगतीं। धीरे-धीरे बड़े स्तोत्र समाप्त हो चले। रींधी दारू और मुरगी के चूजे का लहू धरती पर ढाला गया। बेजुणी को 'कालिसी' लगी। उसके साथ ही बाकी दोनों बूढ़ियाँ भी बेसँभाल हो पड़ीं। ढोल और भी ढाँय-ढाँय पिटने लगे। पूजा-कोठी के आगे बेजुणी ने होम का धुआँ खाया, पेट में खाँड़ा भोका, काँटों पर चली, काँटे के झूले पर बैठ के पेंगे भरे। देवता ने अपने आपको इस तरह प्रगट किया। बेजुणी के पास-पास वह दोनों बूढ़ियाँ भी नाचती रहीं। लहरों-सी लहराती, कभी इस पाँत में तो कभी उस पाँत में हुड़दंग मचाती घुस-घुस पड़तीं। लोग पाँतों से टूट कर बिजना से उड़ाई जा रही धूल की तरह चारों ओर बिखर-बिखर जाते। जो जिधर पाता, औरों के सिर-से-सिर टकराता फिरता। यह पर्व ही सिर टकराने का पर्व है। सिरों पर सिरों की ठोकरें खा-खाकर लोग केवल हँम-हँम पड़ते। चारों ओर हुल्लड़-हुड़दंग मची थी।

उधर पूजा-कोठी के आगे कांबेला जानी और पांडरू डिसारी मंत्र पढ़ने में लीन थे। इस मंत्र-पाठ में धरती की कहानी है। धरती कैसे गढ़ी गई, कंध कैसे पैदा हुए, वंश कैसे बढ़े, मनुष्य का समाज धीरे-धीरे कैसे फैला, वृत्त कैसे बढ़ता गया आदि। इधर पाठ पढ़े जाते रहे, और उधर बेजुणी और उसके संग दोनों बूढ़ियाँ घूम-घूम कर उन्हीं कथाओं का अभिनय करती रहीं। अधनंगे कंध दर्शकों के आगे नाच के माध्यम से समाज-शास्त्र की व्याख्या होती रही।

मानव की पहली गिरस्ती जंगल से कंद खोद लाने से शुरू होती है। बेजुणी दौड़ी-दौड़ी गाँव के खँड़े के जंगल में जाती है और आम की एक गुठली,

---

१ देवता सवार होना। जिसे 'कालिसी' लगती है, वह अपने आप को भूलकर देवता की ओर से बोलता है।—अनु०

इमली का एक बीज और कुछ बेलों के पत्ते नोच लाती है। उसके बाद शिकारी मानव। कंधे पर धनुष और हाथों में बरछे लिए बेजुणी झूठमूठ के शिकार के अभिनय करती है। धीरे-धीरे मानव किसान बनता है। बेजुणी खुरपी लिए बाजों के ताल-ताल पर धरती गोड़ती है, बीज बोती है। धीरे-धीरे उसका समाज बढ़ता है। बेजुणी डींगे हाँकती टोले में घूम आती है —"ला हल बना दूँ, मेरे बच्चों को दे देना।" वैसे ही फिर लुहार का अवतार बन कर पुकार उठती है— "हल की फाल टूट-टूट जा रही है ? दाँतर-कुल्हाड़ी चाहिए ?" तो टोले के चक्कर लगाती बेजुणी कभी लुहार तो कभी कुम्हार, तेली, ताँती, गुड़िया,[1] मजूरिया आदि के अभिनय दिखाती फिर रही है और गाँव के लोग उसके पीछे-पीछे चल रहे हैं। बीच-बीच में बूढ़ियों पर नाच-देवता का दौरा आ-आ जाता है, और वे नाचती-नाचती अपने सिर टकरा-टकरा लेती हैं। ये जितने भी वृत्तिधारी हैं, सभी गाँव के सेवक हैं, सेवैत हैं। ये सारे गाँव के काम करते हैं, और सारा गाँव मिल कर इनका भरण-पोषण करता है। गाँव का अर्थ ही है, मानव के किसी एक दल की छावनी। व्यक्ति के पहले समाज का स्थान होता है। समाज पहले, व्यक्ति पीछे। बेजुणी गाँव का जेठरैयत बन कर बीच गलियारे में बैठी और पंचायत का अभिनय किया। गाँव का बारिक बन कर घर-घर घूम आई और लगान चुकाने का तगादा कर आई। हर घर का दरवाजा लाठी से पीट-पीट कर घर-घर से अपना पावना वसूल लाई। गाँव का बड़ा साँवता बनकर उसने गाँव का पालन किया, हानि-लाभ समझा दिया। इन सारे अभिनयों के लिए उसने कोई पोशाक नहीं बदली। पोशाक ही क्यों, वहाँ न तो रंगमंच था, न रंगालोक था, न रूप-सज्जा थी, न नेपथ्य था। पूरा खुला गलियारा था और हर साल की तरह ठाकुर के आगे संकेतों-रूपकों में वही पुराना अभिनय था ; पर ऐसे अभिनय को देखने के लिए भी इतने सारे लोग थे !

बाजों से गलियारा कंपकँपा रहा था। दारू के दौर चले। कई पी-पी के माते भी। समाज की इस अवस्था तक पहुँच कर 'बाअली' पूजा के

१ गुड़, तंबाकू आदि बनाने वाली जाति-विशेष।

अभिनय की आवृत्ति की इतिश्री हो गई। कारण, इसके आगे की राह अभी तक यहाँ पहुँच नहीं पाई है। नई सभ्यता की पैठ अभी तक यहाँ नहीं हो पाई है। नई समस्याओं ने अभी तक प्रबल रूप धारण नहीं किया है।

अभी और भी कितने अभिनय बाकी रह गए। कोई मजलिसों में मतवाला हो रहा है, मुफ्त की धन-दौलत किसी के घर बही आ रही है, कोई उसके घर के पास ही दिन-रात हाड़तोड़ खटनी खट-खट कर भी फाके कर रहा है, भूख से तड़प रहा है। जाने कितने प्रकार की धोखाधड़ियाँ, ठगी-चोरियाँ, जाल-फ़रेब हो रहे हैं; पर ये सारी चीजें अभी कंध-समाज में पैठ नहीं पाई हैं। वहाँ अगर एक ने एक कंदा भी खाया, तो दूसरा उपवास नहीं कर सकता। कंध-बेजुणी ये नए नाच नहीं जानती। उसके सभी नाच पुराने हैं।

आगे से पीछे तक, तब से अब तक की सभी सामाजिक अवस्थाओं को रूपांकित कर लेने के बाद 'बाअली' पूजा का पर्व समाप्त हो गया। मानव जंगल से निकल कर, सभ्य बन कर, किसान बन चुका है। पानी में सोनेवाले प्राणी ने हल की मूठ धर ली है। इसीलिए माता वसुमती की पूजा करता है। पूजा हो ली, अब बुवाई होगी। कंध-देश का एक बड़ा तेवहार समाप्त हो गया।

रात-भर भोज और नाच होते रहे। बाजे बजते रहे। निस्तब्ध रात में दूर के गाँवों से उन बाजों के जवाब आते रहे। कितनी देर तक ढोल-मंजीरे और अलगोजों के जोड़े स्वरों की होड़ लगाते बजते रहे। जो धरती अन्न देती है, उसकी-कृतज्ञता-भरी वंदना होती रही।

तिरासी

बुध के दिन पूजा भी हुई, नाच भी हुए। पर गुरुवार को केवल नाच-ही-नाच हुए। उस दिन पूजा-मंडप के भीतर रेत में खुँसे पौधों को और पूजा में लगे फूल-पत्तों को पानी में बहा कर गाँव के लोग खेती के कामों में लग पड़े। धूप बड़ी कड़ी फैली है, पर बरसाती धूप का क्या भरोसा? आसमान के कोरों पर गाले-के-गाले बादल रुई की तरह उड़ रहे हैं। आज कामों की भीड़ बहुत बड़ी है। माटी की हाल के सूख जाने का डर है। गँवाने का समय नहीं है।

जिस समय काम का नशा सिर पर सवार होता है, उस समय आदमी बीच-बीच में तुंबों-तुंबों मँड़ुआ-"पेज" और मँड़ुआ-भात खोजता है, रह-रहकर धुँगिया चाहता है। घर में घरनी न हो, तो जुगाड़ का महकमा भार बन जाता है। हल जोतते-जोतते साँझ तक देह अकड़ जाती है, लौटते ही दारू ढालना जरूरी हो जाता है। और ढोल भर दारू भीतर ढाल लेने के बाद 'धोई मूली और बिन-धोई मूली का भेद' मिट जाता है। उस समय कोई चुन-चुनाव नहीं होता, कोई तोल-काँटा नहीं होता। काम निबटा चुके मानव की पशुजीवन-यात्रा ठीक पशुओं की तरह ही चलती है, और फिर गाढ़ी नींद सभी भले-बुरे पर परदा डाल देती है।

पुयू सोच रही थी कि उसके शुभ दिन लौट आए हैं। दिउड़ू को आजकल उसके साथ जिद्दा-जिद्दी और चुँथौवल करने का समय नहीं मिलता। अपमान करने के बजाय आजकल वह उसे काम फ़रमाता है —"कल पीपलवाले खेत में बोने के लिए थोड़ा-सा बारीक 'गुणपुरी' धान देना। और थोड़ा-सा 'ठाकुरभोग' इस साल की बुवाई से बचाकर रख लेना। जब-तब कोई न कोई प्रभु-अधिकारी असमय ही गाँव में आ पहुँचते हैं। उन्हें सीधा[1] देने

---

१ पकाने के लिए अतिथि-अभ्यागत, पंडे-पुरोहित आदि को दिया जाने वाला कच्चा अन्न।—अनु०

को घर में कुछ बढ़िया अनाज रहना ही चाहिए।"

पुयू मन-प्राण ढाल-ढाल कर काम करती है। दिन में तीन-तीन बार खेत पर जाकर कलेवे दे-दे आती है। डिउड़ू के लौट कर विश्राम करने तक घर-बार झाड़-पोंछ कर, लीप-पोत कर, सजा-सुजू कर तैयार रखती है, अपना सँवार-सिंगार किए रहती है। साथ ही घर के और सारे छोटे-मोटे काम भी सँभालती है, बच्चे को भी पालती है। साँझ डूबने पर निराले में 'झाकर' देवता के पास दो दिए बाल कर, फूल चढ़ा कर, 'जुहार' करती हुई उन्हें गुहरा आती है कि—'महाप्रभु, बेआसरा दुखियारी की गुहार सुन ली तूने, गरीब हाकिना की गुहार सुन ली तूने। तुझे अशेष धन्यवाद। यों ही दया बनाए रखना महाप्रभु! जो कहेगा तू, दूँगी। सब दिन दिए जलाती रहूँगी।"

दिउड़ू आजकल अपने प्राणों की पुकार को मथ-मथकर नहीं देखता। आजकल वह खेती देखता है। यही सोचता रहता है कि झटपट बुवाई हो ले, तो निचिन्त हो लूँ। भोजन के स्वाद का उसे ध्यान नहीं रहता, पुयू के स्वाद का ध्यान नहीं रहता। उसकी आँखों में बस एक ही दृश्य फिरता रहता है। बाप-दादों से चली आई इतनी सारी धरती है, उसकी बुवाई जल्द-से-जल्द निबटा लेनी है। किसान की दृष्टि में 'मेघों की डाक और खेती की ताक' ही सब से बड़ी चीज़ होती है। एक दिन इधर-का-उधर हो जाय, एक दिन नष्ट हो जाय, तो बालियों के पकने के समय बोझ-के-बोझ धान बरबाद हो जाएँगे। कोई बिरवा नन्हा-का-नन्हा ही रह जायगा, तो किसी पौधे में कीड़े पड़ जायँगे। दिउड़ू साँवता अपने 'गोती' हलवाहों के पीछे-ही-पीछे लगा रहता है। बैलों से बातें करता रहता है। माटी बैल किसान, दूजा एक जहान! बस, एक ही बात उसके मन को खरोंचती रहती है—न जाने लेंजू काका को क्या हो गया है, न तो वह भले में साथ होता न बुरे में। भरपूर सहायता पाने की तो उससे आशा करना ही बेकार है। जो जी में आए, करता है, जी भर दारू पीता है, धुँगिया फूँकता है, और जहाँ-तहाँ फिरता रहता है। दिउड़ू समझ चुका था कि लेंजू काका बदलकर और-

का-और ही आदमी बन गया है, ज्यादा बहसा-बहसी करने पर अनिष्ट की सृष्टि कर बैठेगा। उसे गाली दो, तो गाँव के बड़े-बूढ़े उसी का पच्छ ले उठते हैं। अभी चुप रहना ही ठीक है। पीछे कभी अवसर देख कर लेंजू काका के ऊपर दाँव साधा जा सकता है।

"देखती है पुयू, लेंजू काका के ढब ! इतना पका-परोसकर उसे काहे को देती है ? इतनी पूछ उसकी न हो, तो क्या काम नहीं चलेगा ?—"

पुयू खुश होती है। वह इस बात का बस इतना ही अर्थ समझती है कि दिउड़ अब फिर उसके साथ पहले की तरह घर-गिरस्ती की गूढ़ बातों की चर्चा करने लगा है। वह कोई प्रतिवाद नहीं करती ; पर फिर भी लेंजू काका चाहे जैसा भी हो। काका है, उसकी 'पड़ी'[1] में कटौती करने की बात वह सोच भी नहीं सकती।

अवसर देखकर वह लेंजू काका के पास बैठ कर उसे फुसलाती है-— "काका, इतनी सारी धरती है, वह अकेला आदमी है। अकेले वह सारी बुवाई पार लगा सकेगा ? तू भी ज़रा देख-सुन देता तो क्या होता ?" लेंजू कंध हँस पड़ता है। पुयू को वह चाहता है। उसे दुखाने का जी नहीं होता उसका ; पर सरबू साँवता की इस बहू को वह कैसे समझाए कि उसका दर्द ठीक किस जगह पर है।

"कल तू जाएगा काका ?"

"हाँ हाँ—"

पर कल को लेंजू काका जा नहीं पाता। बारिक के घर के तले की ढलान पर बैठा-बैठा खात में बनी झोंपड़ियों को निहारता रहता है।

वहाँ काम की धूम है। आदमी का पसीना, बैल का पसीना, और धरती का पसीना, तीनों एक ही कड़ाह में उबल रहे हैं। माटी-बैल-किसान की पूरी दुनिया जाँगर चला रही है। लोग जोते जा रहे हैं, बोए जा रहे हैं। कंधुनियाँ बाँस की चंगेरियों-खचियों में, नन्ही-नन्ही टोकरियों में, बीहन उठा-उठा

१ राशन, खूराकबंदी। खास करके अन्न-वस्त्र आदि की निर्दिष्ट सहायता।

कर देती जा रही हैं, कंध अँजुली-अँजुली ले-ले कर उन्हें माटी में फेंकते जा रहे हैं। हल में जुते जानवरों का कोई चुन-चुनाव नहीं है। गाय-गाय, गाय बैल, बैल-साँढ़, बैल-बैल, साँढ़-साँढ़, जिसने जैसी जोड़ी पाई है, लगा के जोत डाली है। हल की मूठों पर हलकी-हलकी ही दाब डाली जा रही है। बुवाई के लिए उतनी ही काफ़ी मानी जाती है। तले के खेतों में धान बो रहे हैं, डूँगरों पर मँडुआ, और ऊपर-ऊपर डाँड़ों पर साँवाँ। ढलानों पर काँदुल (बड़ी रहर) और जहाँ-तहाँ रेड़। मेघ-देवता पानी देगा, सड़े पत्तों की काली खाद बही चली आएगी। "आटामड़ा लेहें पोरू पायासे, पायर माड़ा लेहें कुडाला ञाञापे!—" वन के पेड़-पौधों-सी, लता-गुल्मों-सी, फ़सल उपज-उपज पड़ेगी! जंगल की-सी खेती, वन-वन, पाँतर-पाँतर खेती, अनगिनत अकूल खेतियाँ लहरा उठेंगी। लोगों को इधर-से-उधर बुलाती पुकारें सुनाई पड़ रही हैं, लोगों की हाड़तोड़ मेहनत दिखाई पड़ रही है। गाँव में कोई न होगा, सब वहाँ खेतों पर ही हैं। लेंजू कंध अलसाया-अलसाया सोच रहा है, पुयू ने कहा तो था—

कहा था, —पर बच्ची ठहरी, वह क्या समझेगी? दिउड़ू के मन का कोई ठीक-ठौर नहीं, उसके मन का घोड़ा घड़ी में इधर तो घड़ी में उधर छूटता रहता है। दिउड़ू ने शायद यह समझ लिया कि सरबू साँवता का छोटा भाई उसका आश्रित है, कि वह पराया है, पराए से भी बदतर! इस दुनिया में जब तक अपना भाई था, तब तक अपना सब कुछ था, आज भाई न रहा, कुछ भी न रहा। आज अपना कुछ नहीं, कुछ भी नहीं! किस के लिए हाड़-से-हाड़ बजा-बजा कर, चमड़ी सुखा-सुखा कर खट-खट मरूँ, किसके लिए? एक ही पेट तो है, भरेगा नहीं क्या?

मन मान कर बैठा। मन रूठ बैठा। रूठे-रूठे उदासी उतर आई। मन का पुराना रोग उभर आया। मेरा कुछ नहीं, कुछ भी नहीं! मेरा कोई नहीं, कोई भी नहीं! लेंजू काका बैठा-बैठा धुँगिया पीता रहा। फिर उठा, चुपचाप बारिक के घर में जा पैठा और स्वर को कोमल-से-कोमल बनाता हुआ पुकारा—"सोनादेई, तू है?"

• • •

बुवाई सात-आठ दिन चली। बीच-बीच में आँधी-पानी भी आते रहे। ठंड बढ़ती गई। रुआँसे-रुआँसे बदली-पानी के दिन बढ़ते गए। दिउड़् साँवता काम में मन लगाए गतानुगतिक राहों पर बढ़ता रहा। कीचड़-पानी के स्पर्श पा-पाकर भी अलसाए मन की छटपटाहटें उसे याद नहीं आईं।

बरसाती झड़ियों का सामना करने की तैयारियों में जलावन की लकड़ी सहेजी-सँजोई जा रही है। सभी अपने-अपने ओसारों में सियाड़ी के पत्तों के ढेर लगाए अपने-अपने लिए 'तर्लातर्ली'[1] बुन रहे हैं, पत्तों के छाते बुन रहे हैं। क्या स्त्रियाँ, क्या पुरुष, सभी। कुसुंबी का तेल निकाला जा रहा है। बरसात के दिनों में देह में कुसुंबी का तेल नहीं चुपड़ा हो, तो आदमी की खुली चमड़ी की राह कफ, खांसी, नजला आदि रोग भीतर पैठ जाते हैं। कामों की भारी भीड़ है। हाकिना को गोद में लिए पुयू बैठी-बैठी अपने स्वामी की सुविधा के लिए बरसाती सामान तैयार कर रही है। सभी घरों की घरनियाँ अपने-अपने घरों के दरवाज़ों पर टाँगें पसारे बैठी बरसातियाँ बना रही हैं।

बादल उमड़-घुमड़ के छा गए। चारों ओर अँधेरा घिर आया। मूसलाधार बौछारें होने लगीं। दिन-रात की पहचान बौछारों में डूब गई। पुयू दरवाज़े पर बैठी 'तर्लातर्ली' बुनती रही। बिजली की कड़क-पर-कड़क कड़क-कड़क उठती थी। एक-पर-एक। हवा और पानी एक साथ घुल-मिलकर पहाड़ पर प्रलय मचाए हुए थे। पुयू दिउड़् की सोच में पड़ी थी। जाने कहाँ शरण ली होगी उसने, कहाँ नहीं !

बेर माथे पर आ गई थी। बादलों की फाँक से बेमँजी थाली-सा निस्तेज मैला सूरज झाँक उठा था। दिउड़् भींगकर लथपथ हुआ, ठंड से थरथराता हुआ, घर आया। पुयू बोली—"भींग क्यों गए ? खैर, आओ, आग जलाती हूँ, सेंक-साँक लो।" पर दिउड़् का रंग ही और था। घर में पैर रखते-न-रखते

---

१ पत्तों की बरसाती। इस शब्द के तर्लातर्ला, 'तर्लातर्ली' "तर्लीतर्ला" आदि और भी कई उच्चारण-भेद कुभी-भाषाओं में प्रचलित हैं।—अनु०

वह महारोष से उबल पड़ा। पैर पटकता, आँखें तरेरता, गालियों की बौछार करने लगा। आदमी खट-खट कर मर जाय ; पर कोई हाथ बँटाने वाला नहीं ! अब तक 'तर्लातर्ली' छाता-छतौड़ी तक तैयार नहीं हो सकी। इसके लिए कौन दायी है ? पुयू ! खेत के कामों में इतनी देर लग रही है ! इसके लिए कौन दायी है ? लेंजू कंध ! कौन नहीं जानता कि वह हर घड़ी डंबेंऽ के घर में घुसा रहता है ? मिल कर काम भी नहीं करता, बाँट कर अलग भी नहीं होता। लेंजू से हट कर पुयू के ऊपर, पुयू से हट कर लेंजू कंध के ऊपर, गालियों की बौछार लगातार धुआँधार चलती रही। पूछा—

"दारू है ?"

"जो थी सो तो सुबह ही पी गया था तू ही, अब और कहाँ से आए ?"

"ना ! कुछ भी नहीं !...इस घर में कुछ भी नहीं रह सकता ! पुबुली थी, तो सब-कुछ सँजोये रहती थी ! अब कौन रखे, कौन बूझे ?"

और फिर पुबुली की ही चर्चा रही। वह ब्याह के चली गई, इसके लिए भी दायी पुयू ही तो है ! रोष में गरजता हुआ दिउड़ बोला—"ठहर तुझे निकाले देता हूँ ! उस लेंजू बुड्ढे को भी निकाल कर बाहर करूँगा। बारिक का घर उजाड़ दूँगा। तभी मेरे मन को चैन मिलेगी ! तभी मेरे मन को शांति मिलेगी !"

भींगता हुआ ही दिउड़ फिर गाँव में निकल गया।

पुयू थर-थर काँप रही थी। इतने दिनों तक मौसम अच्छा था। आज फिर...। कितनी कठोर बातें कहता है ! वज्र की तरह मारकर आदमी को सत्तू-सत्तू बना डालता है। पुयू बीच के इन कुछेक दिनों के सुख और आनंद को भूल गई। फिर वही रोना-धोना, फिर वही झींकना-कुहकना। वह जहाँ की तहीं रही, जस की तस। कहीं कुछ भी न बदला था।

अँधेरा बढ़ चला। नीचे से ऊपर तक बादलों का समुद्र हिलोरें मार रहा था। कहीं आराम नहीं था, कहीं गरमाहट नहीं थी। पहाड़ के ऊपर से मेघमय भाप उड़ी आ रही थी। ढूह-डूँगर कुहरे में दूर बहे चले जा रहे-से लगते थे। उनके ऊपर बादलों-पर-बादल लदे थे। बादलों के उन पहाड़ों

की चोटियाँ आसमानों को थूनी-सी लगाए थीं। यह समझ पाना असंभव था कि इन में कौन बादल है और कौन पहाड़। ना, इस मौसम का कोई भरोसा नहीं! इसमें टूटी दीवारें और भी ढह-ढह पड़ती हैं, टूटे हुए दिल और भी टूट-टूट कर मलबे के ढेर बन जाते हैं।

पुयू सोच में पड़ी थी। यहाँ सिर गाड़े पड़ी क्यों हूँ? कौन-सी आशा है यहाँ? दिउड़ू फिर वही भीम-अवतार बन गया है! कहीं से पेट भर दारू पीकर लौटेगा, दोष-पर-दोष लगाएगा, गालियों से कलेजा छलनी कर देगा !

शायद दो-चार हाथ मार-पीट भी दे!

आसमान खुलते ही मौका देखकर कहीं धाङड़ी की खोज में निकल पड़ेगा! कहीं मौज मनाता फिरेगा!

गालों पर हाथ टेके बादलों को निहारती पुयू बैठी रही। मन में विद्रोह धीरे-धीरे धुआँता जा रहा था। बरसात को देख-देखकर कोई भी दिलासा-भरोसा नहीं मिल रहा था। अपना कपाल फिर पलट गया है! दिउड़ू फिर कुछ दिन अशांति ही अशांति में कटाएगा! सीधी राह चल पड़ने का बूता अपनी कमर में है नहीं!

बिजली कड़की। अँधेरे घर में हाकिना चिहुँक उठा और रोने लगा। पुयू दौड़ी-दौड़ी भीतर गई। मन बारंबार उड़ कर भाग जाना चाहता है और बारंबार यह हाकिना ही उसे घसीट कर वापस ले-ले आता है। कोई चारा नहीं रहता। मेघ झर-झर बरसने लगे। दिउड़ू लौट कर नहीं आया। बच्चे को सुलाकर पुयू फिर उसी जगह आ बैठी। बैठी रही। जामिरी के घर में किवाड़ लगी थी। बूढ़ा हाड़ बरसाती ठंड सह नहीं पाता। सुख-दुख की बातें करने को भी कोई नहीं!

बैठी बादलों के दृश्य देखती रही। पति रहा तो क्या और न रहा तो क्या! बादलों की भाप पहाड़ों से उड़-उड़ कर चारों ओर बिछ-बिछ जाती है। घहर-घहर घहराते गरजते-कड़कते मेघों के तीर मुड़-मुड़कर बेध-बेध

जाते हैं। झुंड-के-झुंड। अँधेरा फैलता ही जाता है। घटने का नाम नहीं लेता। ओसारे तले के गलियारे में सोता बह चला है।

सारा दृश्य आतंक का है। प्रलय गरज रहा है। लगता है, जैसे सब-कुछ टूट कर बह जायगा। कुछ भी शेष नहीं रहेगा। बादलों का ठाकुर 'बीमा' राजा पगला गया है। उसके मतवाले अभिमान की छटा में मानव के सारे आस-भरोस बहे चले जा रहे हैं। आलोक की कहीं कोई किरण नहीं रही है।

उस विपदा के आगे सिर झुकाए ये कुछेक कंधकुटियाँ ठंड में ठिठुरी सी गुड़ीमुड़ी हुई एक-साथ सटी-सिमटी बैठी हैं। जंगल के भीतर, चट्टानों के जोड़ों पर उनके अस्तित्व का कोई पता भी नहीं चलता। ढूहों-ढूहों से पहाड़ हैं, ढेर-ढेर से जंगल। प्रकृति के इस पहाड़ी उभार के देश में आदमी की बस्तियाँ चींटियों की देह-सी हैं। यहाँ मानव को अपनी महत्ता का कोई मान-अभिमान नहीं होता। यहाँ का मानव मात्र भाग्यवादी ही हो सकता है। पुयू उसी दृश्य में आपा खो रही थी। जानते मन में तो चिंता का लेश तक नहीं था; पर अनजानते मन की गहराइयों में मेघों का गर्जन गूँज-गूँज रहा था। वहाँ चित्र उपज रहे थे, अनुभूतियों में विचित्रता थी ; पर सभी के ऊपर करुण रस के घन-गहन मेघों की काली-काली परतें ढँकी पड़ी थीं। पुयू का अंतर्मन बाहर की दुनिया की परछाईं मात्र था।

बाहर कोई नहीं था। कुत्ते का कोई भटका पिल्ला तक नहीं। बेर ढलते-ढलते वर्षा भी बुढ़ा चुकी थी। कोई भींगता-भाँगता आया, भागा-भागा जटाजूट फड़काता आया। दिउड़् नहीं, यह तो लेंजू काका था। पुयू देखकर चौंक पड़ी। उसकी मुखमुद्राओं में, उसकी चितवनों में, आज यह कैसा तूफ़ान था! आते-ही-आते लेंजू काका गरजा,—"पुयू, बेटा होके भी दिउड़् ने आज मुझे गरदन पकड़ के निकाल दिया। मैं जा रहा हूँ।"

क्या कहता है यह! पुयू की छाती के भीतर जाने क्या कुछ हो गया। यह इस तरह कँपकँपा क्यों रहा है? बावलों-सा आँखें क्यों तरेरे है?—"लेंजू काका, तेरी तबियत ठीक नहीं है, बैठ जा, धुँगिया पी ले, ठहर कुछ देती हूँ।"

"अब यहाँ फिर-फिर बैठूँगा? यह तो उसका घर है क्या तो! यह घरबार, खेतबाड़ी सब क्या तो उसीकी है! उसका यही दावा है। फिर यहाँ मेरा क्या काम? घर से तो उसने मुझे धक्के मारकर निकाल डाला! देखा, बूढ़ा है, इससे कुछ पार नहीं लग सकता, और मुझ पर हाथ उठा दिया! अरे तू तो कल का बच्चा है! दारू और छोकरियों के फेर में तेरा माथा इतना बिगड़ गया? तू मुझे कहता है कि निकल! आज मेरा भाई न रहा! भाई मर गया है, इसीलिए न? कुत्ते-सा जाने किस कोने में छिपा फिरता था, आज मेरे भाई के न होने से ही तो ऐसा साँढ़ बन गया है? सब मेरा-मेरा करके हड़पे ले रहा है और मुझे खदेड़े दे रहा है! पटकार गंडा! निस्ता-पिस्ता! आज भी टाँगिए से तेरा सिर उड़ा दे सकता था; पर जाने दे, तेरा खून क्या करना, तू मेरे भाई का बेटा है! भाई का बेटा न होता, तो तेरी बोटी-बोटी उड़ा डालता! चील-कौओं को खिला देता! तुझ से वह दरमू निबटे! तुझ से यह दरतनी निबटे! तेरा घर मिट जाय! तेरे कुल-खूँट में कोई न रहे! तेरा जड़-मूल से बंटाढार हो जाय, सत्यानाश हो जाय—"

पुयू ने उसके पैर पकड़ लिए और रो-रो के लोट गई। बोली—"तू क्या कहे जा रहा है लेंजू काका? ऐसा तो तू कभी न हुआ था!"

कोप के मारे रुआँसा-रुआँसा-सा हुआ लेंजू कंध बोला—"ऐसी झड़ी लगी है, ऐसे अंधड़-झक्कड़ हैं, हवा-पानी है, बारिक के घर बैठा आग ताप रहा था। किसका क्या बिगाड़ा है, किसका क्या खाया है, क्या उजाड़ा है? उसी पर भूत सवार था। जाने कहाँ से फट पड़ा। जो मुँह में आया, बक गया। ऐसी-ऐसी बातें, जो मैंने बाप-दादों के दिनों में भी कभी न सुनी थीं। माटी में पटक कर लोथड़े-सा घसीटता मुझे पानी में ढकेल दिया। बोला—'जा, मेरे गाँव से निकल जा। भाग, यहाँ फिर अपनी परछाईं भी मत पड़ने दे।' मेरी मान-मानता भूल गया, मेरे बाप-दादे उखेड़ने लगा, गालियों से सात पीढ़ियों की छातियाँ छेद-छेद के छलनी कर दीं। सदा

से उसका बरताव मेरे साथ 'गोतियों' [1] सा रहा है। अब इतने पर भी रहूँगा यहाँ? तुझे कहने आ गया था कि ऐसा न समझ ले तू कि बे-कहे चला गया। कैसी भली बच्ची होके भी तू कैसे पटकार के साथ पड़ी है! जाने कैसे निभती है तेरी! अब और मुझे मत बाल माँ, मत बाल। रीस कहीं और चढ़ी तो खून-खराबा हो रहेगा। फिर मैं अपने-आप को सँभाल नहीं पाऊँगा। सिर पर खून सवार होने के पहले ही मुझे चला जाने दे। छोड़, मैं जाता हूँ—"

लेंजू काका कोई अधिक बौराया न था। दिउड़ ने ही शायद कोई प्रलय मचा रखा है उधर। पुयू ने लेंजू कंध को छोड़ दिया। दरवाजे के बाहर जाकर बरसते पानी में भींगता हुआ लेंजू कंध विकट चीत्कार करके रो उठा और रोते-ही-रोते बोला—

"अरे मेरे भाई रे, मेरे सरबू साँवता रे, तू ही देख, तू ही सुन। मेरी घरनी मर गई, मेरी नसीब फूट गई; पर कभी मैंने तेरा साथ न छोड़ा। सदा तेरे सब-कुछ को अपना सब-कुछ मान के गले लगाए रहा रे भाई! तेरा घर-बार सँभालता रहा, तेरी खेती-बाड़ी सँभालता रहा। तू मेरे सिर पर सब सौंप कर चला गया, तो मैं इस डीह पर 'डिहवार-धामना' [2] साँप की तरह पड़ा रहा। आज तेरे बेटे ने मुझे मार भगाया, मैं जा रहा हूँ!"

बौछारों का वेग कई गुना बढ़ गया। हाथों को हाथ सुझाई नहीं पड़ रहे थे। पास के पाखे की दीवार का एक कोना टूट कर धसकता हुआ बैठ गया। दीवार धूल बन कर कीचड़ में मिल गई। उधर दूर लेंजू काका चला जा रहा था। रुलाई के भीतर-ही-भीतर पुयू को भय भी लगा। क्या देख रही हूँ? यह सब क्या हो रहा है? उसका माथा चकरा गया।

---

१ क्रीत दासों। पृष्ठ १८८ की पादटीका देखिये।

२ घरों और खँडहरों के रखवाले माने जाने वाले विशाल विषहीन साँप।

साँझ पास हुई आ रही थी। बादलों का अँधेरा घुमड़-घुमड़ कर बढ़ा ही जा रहा था। एक विकराल काला भालू जैसे बढ़ता-बढ़ता पूरे आसमान को छाप बैठा था और अब धीरे-धीरे नीचे उतर रहा था। चारों ओर फैले उसके काले झबराले अवयव धरती के गिर्द सिमटे आ रहे थे। बीच में उसकी उजले धब्बों वाली छाती सिकुड़ी आ रही थी। लग रहा था जैसे दुनिया पर अब चढ़ बैठा, अब चढ़ बैठा। कितना भयंकर, बाप रे! पुयू सोच में पड़ी थी। तो लेंजू कंध क्या सचमुच चला गया? लौट के फिर नहीं आएगा? ऐसे घनघोर आँधी-पानी में कहाँ जायगा बेचारा? हवा के झकोरों से हड्डी के भीतर की मज्जा भी ठंड से कँपकँपा-कँपकँपा उठती है। खाया-पिया भी नहीं उसने जाने के पहले। क्या हो गया यह?

पुयू को बेचैनी-सी लगी। सोचा—चल के दिउड़ू को ढूँढ़ूँ। सोचा, जाके उसे फटकारूँ। क्या कर लेगा दिउड़ू मेरा? बूतेवाला है तो क्या, दारूखोर है तो क्या, दस जनों के आगे ब्याहा तो है मुझे? ब्याहता हूँ, कोई रखेल तो नहीं कहीं की? पर हाकिना को अकेला छोड़ कर बाहर पैर बढ़ाते डर लगता था। पुयू वहीं-की-वहीं बैठी रही।

कुछ देर बाद दिउड़ू आया। दारू पी के धुत्त, अंड-बंड चिल्लाता। "अरी ओ पुयू, अरी ओ हड़-सूखी, ओ कंकाल, कहाँ गया वह बुड्ढा? इधर आया था क्या? शाः!—ईचाबा[1] लेंजू काका। गंडा-पटकार-निस्ता-पिस्ता-दुनिआँ कहीं का।—दारूखोर डंपटकार[2]! डंबेंऽ के घर खाता है, डंबुणी रंडी रखता है, वही मेरा 'ईचाबा' होगा? कहलाता है मेरा हितू। अरे हाय रे हाय रे हितू! जोता-गोड़ा, कासिरी[3] मारी, बुवाई सारी कर डाली, पर घड़ी भर को भी खेत के ऊपर मुँह नहीं दिखाया। वाह रे हितू! जब देखो तब दुम समेटे डंबेंऽ-बारिक के घर, भीतर की कोठरी में, चूल्हे में मूँड़ घुसेड़े बैठा है! जब देखो तब

१ छोटा बाप अर्थात् चाचा।

२ डंबेंऽ-पटकार (कुभी संधि)।

३—दुबारा जोता।

'डंबेड़-डंबेड़ ' [1] दारू पी रहा है ! जब देखो तब सोनादेई का मुँह टुकुर-टुकुर निहार रहा है ! न काम, न धाम । तू डूब-डूब कर पानी पीता रहे और मैं जानूँ तक नहीं ? मैं साँवता हूँ, तू मेरी प्रजा है ! तू कंध होके भी डंबँऽ के घर यारी करता रहे, 'दुनिञ्चाँ' [2] होता रहे और मेरे गाँव में बसा भी रहे ! तू है कौन बे ? तू मेरा काका है ? मेरा काका होता तो रंडी-पतुरिया की नाँद में मुँह न देता, मेरा काका होता तो बेलस [3] अपुरुष की तरह कछौटा समेटे रहता । तू मेरा "ईचाबा" नहीं ! तू मेरा कोई नहीं ! मेरा ईचाबा तो मर गया । न जाने किस वन में मर-खप गया । तू जाने किसका पापी 'डुमा' है ।"

दिउड़ू बकता गया ।

"ईचाबा मर गया रे !

आलो आलो हातेयुँ हातेयुँ !"

(हाय हाय मर गया रे !)

दारू अधिक पी ली है उसने । पागल-सा हो उठा है । पुयू ने जाके पकड़ लिया । लड़खड़ाते मतवाले को सहारा देके घर के भीतर ले गई । मुँह से एक शब्द तक न कहा । दिउड़ू रुआँसे सुर में मरण के विलाप-गीत की टेक धरे था—"हाय रे ईचाबा, मेरा 'बेलस' जैसा ईचाबा, मर गया रे, मर गया ।...आलो आलो हातेयुँ हातेयुँ ।..." विलाप करते-करते लोट गया और मरे काका के सोग में धरती पर सिर पीटने-पटकने लगा । फिर करवट बदलकर सो गया ।

अँधेरे ने सब-कुछ अपनी चादर में लपेट लिया । हजारों माँदल एक-संग बजाती-सी झमाझम बौछारें लगी रहीं । हाय-हाय करती हुहुआती

---

१ चुक्कड़-चुक्कड़ । डंबेड़ वह चुक्कड़ है, जिसे मटके में डुबाकर दारू निकालते हैं ।

२ पाप और दुराचार से जातिभ्रष्ट ।—अनु०

३ रति-अशक्त ।

पवन बहती रही। पुयू ने किवाड़ में बेंवड़ा लगा दिया। चूल्हा सुलगाकर रात का भोजन उबालने में लग पड़ी। सोचने को बहुत सारी बातें थीं। किसी भी बात पर विश्वास करने का जी नहीं चाह रहा था। सोच रही थी—जब जो होना होगा, हो लेगा। उसकी बुद्धि इतना ही चल पाती थी।

बरसात उतर पड़ी है। घनघोर बरसात।

चौरासी

पुयू को सारी रात नींद नहीं आई। सारी रात जागी रही। टक-टकी लगाए रही। बाट जोहती रही। बैठी रही। रह-रह कर लगता कि वह आया लेंजू काका। आ गया क्या? कोई थरथराते गले से पुकार रहा हो मानो—"पुयू सो गई क्या?—" हाँ, पुयू घोर नींद में अचेत सोई है! उसे क्या चिन्ता! उसी की अदावत के मारे और कष्ट पाते रहें, उसके ठेंगे से! वह तो अपना पड़ी सोती रहेगी! पुयू बारंबार बाहर झाँक-झाँक आती। दूर-दूर तक देख-देख आती। लेंजू काका की कोठरी की किवाड़ जस-की-तस बन्द थी। हवा उस पर धड़ाधड़ धक्के-पर-धक्के मार रही थी। निर्जन रात, प्रबल मेघ, लेंजू काका नहीं था।

अपना ही मन जवाब देता है। सहने की भी एक सीमा होती है। वह सीमा अब पार हो चुकी है। लेंजू काका उसे लाँघ कर चला गया है। अब घर बारह-बाँट हो जायगा, तहस-नहस हो जायगा। सरबस गया, छार-छार हो गया।

सरबू साँवता ने घर खड़ा किया था। लक्कड़-पत्थर, कील-काँटे, छप्पर-छान, पाख-दीवार। सब गया!

सखुए के पेड़-सा प्रकांड था वह आदमी भी। पुराचीन कंध था। समाज का कंध। संस्कारों के प्रतीक जैसा।—हाय कुलवृद्ध, संस्कृति के रखवाले! अपने दिल, अपने समाज की रखवाली करता-करता जगती पर एक पूरा युग बिताकर चला गया वह! घर के आगे पड़े उस चट्टानी पत्थर के ऊपर उसका आसन था। उसी पर बैठा-बैठा राज किया, जब तक जिया।

आज वह नहीं रहा। आज समाज के ऊपर उसका तेज नहीं रहा। आज पवन में उसकी परस नहीं रही। अब रह गया है केवल विष, केवल हलाहल। सब को पकड़ कर साथ रखने की, गूँथ रखने की सामर्थ्य

अब नहीं रही किसी में। उस शक्ति के बिना सब चूर-चूर होकर धूल-धूल हो चुका है। वह धूल भी अपनी जगह पर नहीं है, लीक से भटक गई है, कक्षच्युत है। हवा उसे उड़ाए फिरती है, बादल उसे बहाए फिरते हैं। जो जिधर पाता है, बहा चला जाता है। कहीं स्थिति नहीं, कहीं बँधी गति नहीं। हर कहीं विच्युति है, विशृंखला है, उच्छृङ्खलता है। समय का विष व्याप गया है। युगान्तर, मन्वंतर!

पुयू सोच में पड़ी थी।

पुयू सोच नहीं रही थी, उस के मन की गहराइयों के आईने पर पहाड़ों के इस देश के मेघों की झाँई पड़ रही थी। अँधेरा था। ठंड थी। जाने कितने ही सनसनाते स्वर कानों के परदों से टकरा-टकरा कर, चूर-चूर हो-हो कर, बिखर-बिखर पड़ते थे। लौट-लौट पड़ते थे। धरती की फाटों से उतरता अँधियारा गड़गड़ाता ढुलकता पाताल की ओर चला जा रहा था। जो कुछ भी पुरातन था, जो कुछ भी संस्कृतिवान था, वह मिट चुका है। उसमें से कुछ भी अब नहीं रहा। कहाँ है वह जाना-पहचाना पृष्ठपट? यह कैसा प्रलय है? भविष्यत् का रूप क्या है?

हाकिना सोया था। दिउङ् सोया था। घर के भीतर कोई हिल-डुल, कोई खड़कन, नहीं थी। फिर भी पुयू के मन को किसी अनजाने काले भय का ठंडा परस सिहरा-सिहरा देता था। सोचने में डर लगता था। हाथ हिलाने तक में डर लगता था।

मसान में चौंक कर जग पड़ी है क्या?

ओह! कैसा जानलेवा डर है?—क्यों? यह भय क्यों? यह अँधेरा क्यों? यह बरसात क्यों?

दिउङ् सुबह देर से उठा। आँखें ललौंही पड़ गई हैं। माथे पर हले खेत की सिताओं-सी सलवटें पड़ी हैं।

ठिठोली करता-सा हलका-हलका उजेला हुआ है। थोड़ी ही दूर पर धुँधला-धुँधला-सा दिखाई देता है। उसके आगे उतना भी नहीं। फिर वही अँधेरा है। वैसी ही ठंड है। मेघ भी उसी तरह फटे पड़ रहे हैं।

समय की थाह नहीं लगती। दिउड़ ऊँची बाँबी-सा ओसारे में खेस ओढ़े बैठा रहा। पुयू से न तो कुछ पूछा, न माँगा। पुयू अपना काम करती रही। कनखियों-ही-कनखियों दिउड़ को देखती भी रही। पीछे से दबे पाँवों चुपके-चुपके आकर धुँगिया का मूठा रख गई। आग की बोरसी रख गई। हाकिना बराबर उसकी देह में अँठैल[1] सा चिपका रहा।

कितनी ही देर उसी गुमसुम में कट गई। अबेर हो चली। गाँव के लोगों का कलेवा हो चुका। कोई घर ऐसा न होगा, जहाँ अभी तक खाना-पीना बाकी पड़ा हो। पास जाके पुयू ने धीमे से कहा—"खाना नहीं है?" उत्तर में दिउड़ ने एक विकट-विकराल चिग्घाड़ मारी। इस गर-जने का कोई अर्थ समझना असंभव था। चौंक कर पुयू पीछे सटक गई। फिर धीरे-धीरे सरकती पास गई। और भी धीमे से बोली,—"तबियत ठीक नहीं लगती? झिसारी को बुलाऊँ?"

दिउड़ ने मुँह खोला। बोला—"पीछे क्यों पड़ी है? देखेगी?"

पुयू लौट गई। काम में लग गई।

दिउड़ वहीं बैठा छलकती-छलकाती बरसात को देखता रहा।

कुछ देर बाद यकायक गरजा—"दारू!"

"सुनती है? सुनाई पड़ता है? कहा—दारू!"

नरम-से-नरम सुर में पुयू अपराधिनी-सी बोली—"कहाँ से पाऊँ? घर में तो है नहीं।—"

"जा, बारिक के घर से ले आ।"

बच्चे को छाती से चिपकाए पीठ झुकाए भींगती-भींगती पुयू बारिक के घर की ओर दौड़ पड़ी। चौमूँद अंधे भय का भार गले तक उठ-उठ आती रुलाई को दबोच-दबोच कर नीचे खिसका-खिसका दे रहा था। सचमुच आज उसके लिए एक नया सवेरा था। साँवता की पुतोहू और

---

१ जानवरों के बदन में चिपका रह कर उनके लहू पर पलने वाला मटर-सा गोल, उजला सख्त-जान कीड़ा।—अनु०

सांवता की घरनी होकर भी वह डंबॅऽ- बारिक के द्वार पर हाथ पसारने जा रही थी। आज तक उसका हाथ कभी तले नहीं पड़ा था।

यह भी कोई बात-में बात हुई ? पर बात हो कि घात हो, मैं किसी भी बात में बाधा न दूँगी। इस ललौंहे सवेरे में भी पिछली कालरात्रि की शत्रुता की गंध मिटी नहीं है। ललौंहा है तो क्या, अँधेरा वैसा ही है, ठंड वैसी ही है। माथा फटना है, तो आप ही फटे, जानबूझ कर उसे फड़वाऊँगी हरगिज नहीं।

"बरसते पानी में किधर भागी जा रही है नुनी ? अरे-अरे ! अरी ओ नुनी, सुनती तो जा।—"

"हे नुनी, भींग क्यों रही है तू ? यह ले, 'तर्लातर्ली' तो लेती जा। 'आलो-आलो' ओ हाकिना की माँ।—"

दोनों ओर टोले-पड़ोस वाले अपने-अपने ओसारों में अलाव पर घुटने जोड़े बैठे हैं। हर आदमी उसे देखते ही पुकार-पुकार उठता है। वर्षा तड़ातड़ चोटें कर रही है। ना, इधर-उधर समय गँवाने को बेर नहीं है। झगड़ा -झंझट मोल नहीं लेनी। जिसे जो सोचना है, सोचा करे। यह रहा बारिक का घर। गलियारे में कोई होता तो कहला भेजती। पर है कहीं कोई नहीं। करना क्या ? आज डंबऽ के घर में भी पैठना ही पड़ेगा। कुल की बहू ! ससुर होता तो क्या कहता—

"असमय ऐसी झड़ी में किधर आई सांवताणी ? आ आ, ऊपर उठ आ, उठ आ। आ रे, ओह-ओह, ओह, नन्हे छोरे को भी भिगो डाला। ए बहू, अइ ओ बहू, सांवता के घर के लोग आए हैं, खाट तो डाल दे री। आः, क्या ही दुर्दिन आ गए हैं ! बादल बरसते हैं, तो बरसते ही चले जा रहे हैं। बैठ, बैठ, अलाव ताप नुनी, अलाव ताप। सेंक-सांक ले नुनी, सेंक-सांक ले, नहीं तो 'लसम [1]' लग जायगा। किधर चली है ?"

बूढ़ा बारिक भुरसामुंडा डंबॅऽ बेचैन हो उठा। मन में भारी कुतू-

---

१ छूत।

हल उठ रहा था। न दिन-सा-दिन है, न बेर-सी-बेर, आज ऐसे असमय में साँवता की औरत इधर टपक कैसे पड़ी ? पिछली रात इस घर में एक घटना घट गई थी। उसके बाद से फिर लेंजू कंध दिखाई नहीं पड़ा। अब यह दिउड़ की औरत आप बरसात में भींगती-बूरती बच्चा लिए भागी आ रही है ! खैर, खाट पर बैठ गई ! कैसा मुँह बनाए चारों ओर ताक-झाँक रही है ! कुछ कहती क्यों नहीं ?

"कह नुनी कह, मन खोल के सब कह डाल। मैं तेरे ससुर का कुत्ता हूँ। मुझ से कोई संकोच न कर।"

पुयू सोनादेई को निहार रही थी। यही है बारिक की बहू ? मुँह नहीं खोलती ! सिर गाड़े ससुर का कहा किए जा रही है। इसके पास ऐसा क्या है, जिसके लिए गाँव में ऐसा-वैसा हो गया, हाट बैठ गई ?

बारिक पैनी निगाहों से उसके हाव-भाव निरख-परख रहा था। तो अनुमान ठीक ही निकला शायद ! पुयू इस सोनादेई को ही निहार रही है, पलक तक नहीं झपका रही। हाँ-आँ ! लोग मेरी बहू को ही दायी ठहराएँगे ! मुझे सब पता है ! मुझे क्या नहीं मालूम ? पाप का दंड खून ! भगवान् देखता है, इस बिचारी का कोई दोष नहीं !

पुयू भूल बैठी कि आई किसलिए थी। यही वह घर है ? कितना गंदा है !—सचमुच यहाँ की हवा में इसके काले इतिहास की गंध चिपकी हुई है। तुरुंजा और बाळमुंडा चोरी करते हैं, बारिक दारू पकाता है, सोनादेई किवाड़ के कोने में जाल बिछाए मकड़ी-सी घात लगाए बैठी रहती है ! तो यही है वह सोनादेई ?

"किधर चली ? बताया नहीं नुनी ?"—

बारिक सोच रहा था, यह सुनती नहीं क्या ?

इन औरतों की छाती में बूता ही कितना ? कहीं कुछ देख लिया, तो यों ही बुद्धू-सी थमकी बैठी रह जाती हैं।

समाज तो पकड़ेगा निश्चय ही। दूसेगा, थूकेगा। हद से हद हुई तो बारिक का काम छुड़ा देगा, बारिक - धरती से निकाल देगा। निकाल दे !

पर फिर ?—अपनी जाँगर चला कर कमा खाना तो डंबॅऽ ने कभी सीखा नहीं। सच तो यह है कि कमा कर खाने की बात से ही वह घिनाता है।

बारिक बेचैन हो उठा।

पुयू इस सोच में पड़ी थी कि छोटी बन कर थोड़ी-सी दारू माँगूँ तो कैसे माँगूँ ? क्या कह कर बात छेड़ूँ ? फिर यह सोनादेई ! इस सोनादेई के आगे अपनी हेठी कैसे करूँ ?

बहुत देर आगा-पीछा करने के बाद थूक निगलती-निगलती बोली,—"साँवता तुझे बुला रहा है।"

"बुला रहा है ? इसके लिए तू दौड़ी आई ? क्या हुआ उसे ?"

"हुआ, कुछ नहीं। बदली का मौसम है, ठंड लग रही है। बोला—नशा-पानी कहीं मोल भी नहीं मिलता, जा बारिक को बुला ला—"

"ए-ए-ए-! मेरा राजा बुला रहा है रे ! अरी ओ सोनादेई ! मेरी लकुटिया तो दे री —"

लकुटिया ही बारिक की चपरास है, लकुटिया ही उसका हस्ताक्षर है। एक ही लकुटिया पीढ़ी दर-पीढ़ी बाप के हाथों से पूत के हाथों, पूत के हाथों से पोते के हाथों, बढ़ती चली जाती है।

बारिक हड़बड़ाया। जल्दी दिखाई—"दे री, दे दे री, इस बरसाती ठंड में मेरा मालिक मुझे याद कर रहा है ! अहा, हा, उसकी पादुका शीतल रहे ! कैसी दया है ! अरी ओ, मालिक कहता है कि दारू-पानी नहीं है ! सोनादेई री, सोनादेई, उस घर से जरा वह मटका तो ला दे। पिए मेरा राजा। असल रीधी दारू। पानी बूँद भर भी नहीं। बरसाती हड़कंप में देह गरमा उठेगी।—जल्दी कर, जल्दी कर।—"

गला फँसा-फँसा कर चिल्लाता बारिक घर से ओसारे में और ओसारे से घर में बावला-सा दौड़ता फिर रहा था। हाँ, बड़ा ही चतुर है वह। कल रात की दुर्घटना के बाद सब के आगे साँवता की खुशामद करना उसके लिए बहुत जरूरी काम हो गया है।

सोनादेई ने लकुटिया बढ़ा दी, दारू का मटका ला दिया । बूढ़ा बारिक अपने बेटों को गालियाँ देता रहा—"देख तो भला, इस आँधी-पानी में दोनों भाई किधर चले गए, कुछ पता-ठिकाना तक नहीं ! होते तो यह ढो न ले चलते ? कितना भारी है—"

सोनादेई ने 'तर्लातर्ली' बढ़ा दी । बारिक बोला—"एक तू भी ले ले नुनी । बरसात में भींगती कैसे जायगी ?" पुयू ने नाक सिकोड़ ली । ना :, इतना सम्मान अपने ऊपर अब भी रह गया है । कहा—"ना: ।"

"इतने जोर के पानी में कैसे जायगी नुनी ?"

"तू चल पहले । मैं पीछे से आती हूँ । "

"अच्छा हाँ, बैठी रह माँ, बैठी रह । अहो, मेरे कैसे भाग्य, कैसे पुण्य उदय हुए ! अरी ओ सोनादेई, साँवताणी के पैर दाब दे । देख, तनिक भी हेला-अवहेला हुई तो लौटके मैं पंडे वाली पिटम्मस करूँगा, मार-मार के कचूमर निकाल दूँगा ! अच्छा, मैं चला ।"

सोनादेई मुँह में कपड़ा ठूँसे हँसे जा रही थी । वह जानती है कि बारिक हर बात में मात्रा बढ़ा दिया करता है । आगे-आगे बारिक दारू ले के चल रहा हो और पीछे-पीछे साँवता की घरनी ! पुयू को यह दृश्य पसंद नहीं आया । रुक रही यही अच्छा है ! दिउड़् का मन समझ जायगा, फिर वह चिढ़ेगा नहीं ।

निर्जन घर ! दो स्त्रियाँ पास-पास !

सोनादेई ने मुँह में ठूँसा कपड़ा नहीं निकाला । पुयू की ओर निहारती वैसी-की-वैसी ही हँसती रही । बाहर की तो पूछिए मत । ओह, कैसी प्रलयंकर वर्षा थी ! तले के खात के उस पार का आधा भाग ऐसा लग रहा था, मानो जम-जम कर वज्र-सी कड़ी-कड़ी पड़ गई धूमिल-धूमिल भाप का कोई समुद्र हो । धरती गरज रही थी । सोनादेई हँस रही थी ।

दिउड़् साँवता की घरनी के मन में न जाने कैसे-कैसे संदेह उठे । हाय, क्या हो गया है हमारे संसार में, जिसके लिए हीनातिहीन, नीचातिनीच डंबुणी तक इतना हँस सकती है ? नारी-मन का सहज कुतूहल उझक-उझक कर झाँकना चाहने लगा । पुयू ने सोचा—यहाँ पर और कोई तो है

नहीं जो ताने मारेगा ? हँसती है, हँस ले, हर्ज ही क्या है ? पर बात क्या है ? इस घर का भेद क्या है ? बाळमुंडा-जैसा पति पाकर सोनादेई कभी तपस्विनी तो रह नहीं सकती ? डंबुणी ही तो है ; पर कैसा स्वास्थ्य है ! कैसी देह है ! शैतान-सी चुप्पा-मुँही है । आँखें सदा नीचे ही रखती है । चौकस न रहो, तो उलट कर साँपिन-सी देखती है । पुरुष को ठग ले सकती है ; पर स्त्री को नहीं ! इस मौन-मूक हाव-भाव में कोई गंभीर गर्व नहीं क्या ? जाने कितनी ही चोरी-चुपके की छिपी-छिपी घटनाओं पर यह नीरव टिप्पणी तो नहीं ? पुयू का आग्रह पूछ बैठने को अकुला रहा था । वह जानना चाह रही थी कि सोनादेई क्या जानती है, कितनी दूर तक जानती है । गला थरथराती-थरथराती पुकारा—"सोनादेई—"

"ठंड नहीं लगती साँवताणी ? बच्चा भी तो है । घर के भीतर आ जा ।"

"घर के भीतर जाऊँगी भला, सोनादेई ?"

पुयू को अचंभा लगा । कैसा विचित्र अनुरोध है ।

सोनादेई ने कुछ न कहा । भीतर चली गई । उसके जाते समय जाने क्या तो साँय-साँय सुनाई पड़ी । वह हँस गई ? या कि उसे ठंड लग रही है ? कुछ देर बाद सोनादेई ने आग जलाई । बोरसी में आग भर लाई । पास आके बोली- "गुनगुना पानी मिला कर थोड़ी दारू ला दूँ, हल्की दारू ?"

पुयू बोली—"क्या कहा ? अभी मुँह खोल के बात तक नहीं की । मुझे तू चीन्हती नहीं क्या री ?—"

सोनादेई इस बार मुँह खोल कर हँसी । लजाने की कोई गरज नहीं उसे । कहा—"सात्रा [1] बूढ़ा जो कह गया है, वह तो तू ने सुना ही है ? मैं तेरी सेवा करूँगी । हम ठहरे तुम्हारे नौकर । हमारा घर क्या तुम्हारा नहीं है ? भीतर आती, अलाव के पास बैठती, गरमाती, जरा आराम कर

१ ससुर ।

लेती, तो क्या होता ? जो ऐसा करते हैं, उनकी जात थोड़े ही चली जाती है ? उन्हें क्या लोग पास नहीं फटकने देते ?"

पुयू ने मन-ही-मन कुछ समझ लिया। फिर कोई जवाब नहीं दिया। सोच-साच कर पूछा—"सोनादेई, कल लेंजू काका यहाँ आया था ?"

सोनादेई फुफकार उठी। फन काढ़ती-सी बोली—"यह बात मुझ से क्यों पूछती है साँवताणी ? उस गोलमाल में मेरा क्या ? उस बुड्ढे से नहीं पूछा, उस नशेबाज बुड्ढे से ? जो बारह तरह के लोगों को ले-ले के घर में पूरता रहता है ? मैंने तो अपना सिर बेच लिया है। बुड्ढा बैठा हुकुम चलाता रहेगा, मैं बैठी पैर दाबती रहूँगी। मेरा जनम ही शायद इसी के लिए हुआ है ; नहीं तो क्या तू इस समय, किसी के यहाँ न रहने पर, मेरे वर के घर न रहने पर, इस तरह से मुझ से सफाई तलब करती कभी ? मेरा करम ही फूटा है !"

सोनादेई रो पड़ी। पुयू ने पूछा—"सच तो बता री, तेरा वर यहाँ होता, तो तुझे बल मिलता क्या ?"

"मिलता नहीं भला ?"—सोनादेई कहने लगी—"कहाँ मैं, अबोध अल्हड़ बच्ची, कहाँ ये गड़बड़झाले, ये गाली-गलौज, ये झगड़े-टंटे—"। थूक निगल कर उसने बात पलट दी—"उस बुड्ढे को ही मार, उसी को पीट, जो करना है उसे कर। सब अनर्थ की जड़ वही है। सब नाच उसी ने लगाया है। वही मुझे झगड़े-झमेले में घसीटता है। मैं डरू—डरपोक हूँ। यही देख, तू तैयार होके आई है ! बच्चा ठंड में थरथरा रहा है, जरा आग तक न सेंकी, इसलिए कि मैंने कहा था। मारना है मार ले, काटना है काट डाल, जो करना है कर। इस मेघ-देवता को साखी रख कर कहती हूँ, जो नेम देगी वही नेम करूँगी। बघछाला लूँगी—'सिकसन'[1]—पोथी सिर पर उठाऊँगी, जैसे कहेगी वैसे करके कहूँगी, पर कहूँगी यही कि मैं निर्दोष हूँ, मैं निर्दोष हूँ.......।"

---

१ कानून की धाराओं की।

सोनादेई चीख मार कर रो पड़ी । उसका रोना देख हाकिना भी रोने लगा । पुयू अचंभे में पड़ी ताकती रही । बाबा रे, यह औरत कितनी देर से छले जा रही थी ! कितनी साँगें मारती है ! कोई मामूली जीव नहीं है यह !

"क्यों री, तू इस तरह रो क्यों रही है ? मैंने कुछ कहा तो नहीं तुझे ?"

सोनादेई रट लगाए थी, मैं निर्दोष, निर्दोष हूँ !—"तुम सब कोपोगे, बुड्ढे को गाँव से खदेड़ दोगे, गाँव वाले इस कुटिया को उजाड़ देंगे । करो, जो करना है ! तुम्हारी मरज़ी । मैं क्या कहूँ ? जहाँ बन पड़ेगा, चली जाऊँगी । बस इतना-भर जान रख तू कि मैं निर्दोष हूँ, मैं निर्दोष—"

"जानती हूँ, जानती हूँ सोनादेई ! कौन दोष दे रहा है तुझे ? मैं क्या मानुष नहीं हूँ ? मैं न जानूँगी ? लगता है, ये बादल कभी छँटेंगे ही नहीं । चलूँ, देर हो रही है उधर । अच्छा, मैं चली ।"

सोनादेई की ओर मुँह फेरे बिना ही पुयू बाहर उतर पड़ी और बरसात में भींगती घर की ओर चली । इसके बाद वहाँ रहना असंभव था ।

पचासी

बरसात के दिन यों ही दनादन बीते चले जा रहे थे। दिन गिनना किसी के बस की बात न थी। कोई गिने भी तो कैसे ? पता ही नहीं चलता था कि कब दिन हुआ और कब रात हुई। बादल वैसे ही दिन-रात लदे रहते थे। बौछारें ढालने लगते, तो ढालते ही चले जाते। दिन-रात का भेद अँधेरे के झीनेपन-गाढ़ेपन में ही सिमट गया था। रात का अँधेरा गहरा मजीठिया काला होता था, दिन का कभी गाढ़ा कत्थई काला तो कभी बैंगनी-काला। दिन के समय कभी थोड़ा-घना उजाला छिटकता भी था, तो देश अनजाना, अचीन्हा-सा लगता था। बरसाती पेड़-पौधों के जंगल बेतरह बढ़ गए थे, गंजे पहाड़ भालू की तरह झबरैले हो उठे थे, स्थायी जंगल इतने घने हो गए थे कि निगाहें पैठ नहीं पाती थीं।

पठारी बरसातें बूँदें नहीं बरसातीं, तड़ातड़ कोड़े बरसाती हैं। बड़े-बड़े बेरों-सी बूँदें एक-पर-एक पटापट-पटापट ओलों-सी पड़ती हैं और बाप रे, कैसी ठंडी हिंवाल होती है ! हवा हर घड़ी सनासन-सनासन चलती रहती है। हवा की गति ले के बादल घोड़ों से दनादन-दनादन भागे चले जाते हैं। आँखों से तो दीखते ही हैं, बदन को भी छू-छू जाते हैं। गाँव-खेड़ों की राह घरों को भरती-पूरती चलती है बादलों की भाप। हाँ, इस तीन हजार फ़ीट ऊँचे पठार की झोपड़ियों को। कानों में चौबीस घड़ी विमानों के उड़ने की-सी आवाज घनघनाती रहती है। कानों की झिल्लियाँ झिल्लियों-सी झाँय-झाँय झनकारती रहती हैं। जंगल के भीतर हहर-हहर झकोरे हहराते रहते हैं। प्रकृति में तुमुल कोलाहलमय हलचल मची रहती है। बिजली रह-रहकर तड़ातड़ कड़क-कड़क उठती है। इतने प्रकार के स्वरों-शब्दों में आशा की कहीं कोई वाणी सुनाई नहीं पड़ती। और न रण में उतर पड़ने की ललकार ही। पैदल चलो, तो बादल और हवा के झकोरे कहीं के कहीं ढकेले लिए चले जाते हैं। जाड़ा कड़ाके का पड़ता है।

इसी तरह न जाने कितने दिन बीत जाते हैं। सहते जाना पड़ता है, टालते जाना पड़ता है। इसके सिवा और कोई चारा ही नहीं होता।

पत्ते की घुप्प-अँधेरी कोठरी के भीतर धुआँ साँसें रूँधता है। बड़ा-सा अलाव धू-धू जलता रहता है। दरवाज़े पर का छोटा-सा ओसारा सीलन और ओदेपन मे चपचपाता रहता है। पैरों का कीचड़ और 'तर्लातर्ली' तथा पत्तों की छतरी से धार-धार चूता हुआ पानी उसे पूरा डबरा बनाए रहते हैं। गीली गँधाती चमड़ी में सिकुड़ा कुत्ता पड़ा सोता रहता है। मुरगों-मुरगियों के झुंड कीचड़ में चोंच मार-मार कर चुगते रहते हैं। सूअरी सोंय-सोंय करती पास ही फिरती रहती है। गाँव-खँड़े के मैले और कीचड़ में लोट-लोटकर आती है, पीठ की चमड़ी लहरा-लहरा कर देह झाड़-झाड़ जाती है। गाय-बछरू सिर झुकाए उदास-उदास आँखों से ताकते रहते हैं। घर-घर से खाँसी की खाँय-खाँय सुनाई पड़ती है। घर-घर मे ज्वर में पड़े लोगों का काँखना-कराहना सुनाई पड़ता रहता है। घर-घर में लोग ओक-ओक कर के कै करते रहते हैं। नाक में लौंदे-का-लौंदा नेटा सुड़सुड़ाता रहता है। लौंडे फटी-चिटी बोरियाँ पीठ से बाँधे दरवाज़े पर बैठे ढमाढम ढमाढम ढोल पीटते रहते हैं और बादलों के देवता 'वीमा' राजा की वन्दना के गीत गाते रहते हैं।

गाँव की माँ-बहनें इस मौसम में भी पानी लाने 'झोला' जाती हैं; कंदा खोदने, बाँस के कोंपल लाने जंगल जाती हैं। पहाड़ के ऊपर 'झोला', पहाड़ के ऊपर जंगल! खड़ी चढ़ाई-उतराई और फिसलन भरी राहें! राहों की फिसलन मिटाने के लिए आँचल से धान की भूसी ले-लेकर बिछाती चलती हैं फिर भी पैरों के जमने की दिलजमई नहीं रहती। सारी-की-सारी राहें पेड़ों के खूँटड़ों और पुरानी मजबूत बेलों की लत्तरों को हाथों से पकड़-पकड़ कर पार करनी होती हैं।

गाँव के पुरुष इस मौसम में भी पहाड़ की तलहटियों, ढलानों और डाँड़ों-चोटियों पर आबाद खेत देखने जाते हैं। कहाँ फ़सल कितनी बढ़ी है; कहाँ की मिट्टी बह गई है, मेंड़ बाँधनी होगी; कहाँ पानी जमक गया है,

नाली काटनी होगी ; कहाँ खेतों के खिसक जाने का खतरा है, सिरे पर पत्थरों के ढेर लगा-लगाकर 'मूड़े' बाँधना होगा आदि । इस असंभव ऋतु में भी बादलों के साथ कुल्हाड़ी की चोटें मिलाकर कंधवीर 'पोड़' चोटियों पर गैंती मार-मार कर पत्थर उखाड़ते हैं और खेत निकालते हैं ।

और 'बिसर' तो इसी मौसम में होता ही है । बाँस की डोंगी-सी बनाकर 'झोले' में डाल दी जाती है । डोंगी का मुँह सोते के ऊपरवाले भाग की ओर और पीठ बहाव की ओर होती है । पीठ की ओर बड़े-बड़े पत्थर पायों के रूप में लगा दिए जाते हैं । डोंगी के भीतर डाल-पात भर दी जाती है । आशा यह की जाती है कि 'गाड़' (नदी) जब बढ़ेगी, पूर आएगा, तब मछलियाँ ऊपर चढ़ेंगी और जब नदी उतर जाएगी, तब मछलियाँ इसी डोंगी में फँसी रह जायँगी । मछली पकड़ने की इसी भाग्य-वादी पद्धति का नाम है—'बिसर' !

यह मौसम कोई दो-चार दिनों का तो है नहीं कि आदमी हाथ-पर-हाथ धरे घर के भीतर पालथी मारे बैठा आग सेंकता रहे । काम-धाम बन्द कैसे हो सकता है ? हाट-बाट बन्द कैसे हो सकती है ? हाट न जाओ, तो यहाँ चुटकी-भर नमक मिलना भी मुहाल हो जाय । लोग "तर्लातर्ली" बाँधे, बोझ-के-बोझ सियाड़ी-पत्तों की छतौड़ी ओढ़े, कंधे पर टाँगिया डाले, बादलों की भाप में मिलकर एकाकार हुए, जहाँ-तहाँ के चक्कर लगाते फिरते हैं । पहाड़ों के डाँड़ों पर आदमखोर बाघ घात लगाए बैठे रहते हैं । पहाड़ी 'डंगरचीती' साँप, काले-कलूटे काले नाग, कलाटी आदि अन-जाने पैरों तले की मौत जहाँ-तहाँ दुबकी पड़ी रहती है । और अँधेरा है, जो रह-रह कर सारे संसार को ढँक-ढँक लेता है । बादल हैं कि चेतने तक नहीं देते । हवा है कि पैर उखाड़-उखाड़ देती है । फिसलन है कि जिसके आगे कोई सँभाल काम नहीं देती । पेड़ उखड़-उखड़ कर गिरते रहते हैं, कौन जाने कब कौन उनके तले आ जाय ! कभी-कभी तो ऊपर पहाड़ से लुढ़कते हुए एकदम तले की तलहटी में आ जाते हैं । इसी तरह चट्टानें लुढ़-

कती हैं। अनजानते में ऐसी नई चट्टानें रास्ता बन्द कर देती हैं। जिधर भी जाओ, जंगल-ही-जंगल मिलते हैं। मामूली 'पीरी' (साबे) घास भी डेढ़-डेढ़ दो-दो पोरसे की हो जाती है। उसके भीतर आठों पहर अनजाने भय छिपे रहते हैं।

यही है पठारी बरसात।—केवल अँधेरा, शोर, धक्का, पानी और ठंड!

पहाड़ के बाद पहाड़, न जाने कितनी दूर तक ये श्रेणियाँ यों ही चली गई हैं। पहाड़, खाई, खात-खड्डे, दर्रे, व्यूह, चोटियाँ, चट्टानें! न कहीं राह है न बाट है। न कोई गाड़ी है न छकड़ा है। मरने-जीने का न कोई लेखा है, न गिनती है। है केवल पेड़, पत्थर और पानी। आदमी की तो यहाँ कोई गिनती ही नहीं। आदमी यहाँ नगण्य है!

फिर भी मानव-संस्कृति का परिचय धीरे-धीरे स्थिर-निश्चित गति से अग्रसर होते जाने की कहानी है। फ़सलें बढ़ रही हैं। खेतियाँ बढ़ रही हैं। खेतों के विस्तार बढ़ रहे हैं। जाने कितनी बरसातियाँ तैयार हो रही हैं। जाने कितने संग्रह, कितने आहरण-आनयन-आयोजन बढ़ रहे हैं। रक्त बह रहा है; पर रक्त बढ़ भी रहा है। माँस बढ़ रहा है। ऐसे दुर्दिन-दुर्दैव में भी, प्रकृति की ऐसी घोरतम शत्रुता के बावजूद, मानव का मन अजेय है, उसकी कल्पना अजेय है, उसके प्राण अजेय हैं। वह ऋषि है, स्थित-प्रज्ञ है!

उसी कालरात्रि के बाद की बात है।

अपमान की टोकरी सिर पर ओढ़े लेंजू कंध गाँव की हलचल गाँव में ही छोड़कर चुपचाप चला गया। नीरव, निःशब्द!

पहले कभी उसकी भी अपनी खेती थी। पत्नी रुपनी के मरने के बाद उजड़ गई थी। वह चाहता तो दिउड़ू से अपना भाग लेकर अलग हो जा सकता था। अभी उसी दिन की तो बात है, पुबुली के चले जाने पर बात-की-बात पर तन गया था और दिउड़ू के ऊपर पंचायत बिठाली थी। इस बार भी पंचायत तो कम-से-कम बुलवा ही सकता था! इस

गाँव में दिउड़ की अवज्ञा करके भी वह स्वतंत्र रूप से बसा रह सकता था।

पर वह सब उसने कुछ भी नहीं किया। एक ही धक्के में उसकी आँखें खुल गई थीं। उसने अपने-आप को केवल निठल्ले, बेमसरफ़, निरुपाय बूढ़े के रूप में ही देखा था। सोनादेई के पास से, बरसाती रात के सुख से, गरमाहट के आराम से, जिस समय उसके भतीजे ने झगड़ा-तकरार के बाद उसे घसीट कर बाहर कर दिया, उसकी नशाखोरी और आलसीपन को इस ज़रा-सी बात पर लताड़ दिया, डंबुणी से उसके संबंध की चर्चा करते हुए वीभत्स गालियाँ दीं और वज्रकठोर मुट्ठियों में उसका टेंटुआ पकड़कर हिलाता हुआ भरी बरसात में बाहर ढकेल दिया, उस समय लेंजू कंध ने विह्वल आँखों से देखा कि वह आप ही अपराधी है, कि उसके आगे जो आदमी खड़ा है, वह कल का लौंडा नहीं, उसका मान्य साँवता है, पूरे कंध-दल का मुखिया, जो अपने पीछे-पीछे पूरी गोष्ठी को जंगल-जंगल लिए फिर सकता है, जो राजा का सिरोपा बाँधता है, जो दल-भीतरी मामलों का विचारपति बनकर ऊँचे पत्थर पर बैठता है और अपराधी को दंड देता है, जो डंबऽ-संपर्क से अपनी आभिजात्य-हानि करनेवाले, दल की मानहानि करनेवाले कंध को, सिर मुँड़ाकर, लात मारकर, धक्का-गरदनिया देकर गाँव से बाहर निकाल दे सकता है! इसी अपराध का नाम 'दोष' है और ऐसे अपराधी का ही नाम है 'दुनिञाँ'! प्राचीन जाति अत्यन्त सावधानी से, अत्यन्त संतपंण से, अपने रक्त को एकदेशी रखती है। सोचती है, रक्त की शुद्धता से ही जाति के मनोभावों, जाति की विशिष्टताओं की परम्परा अटूट, अविच्छिन्न और अक्षुण्ण बनी रह सकती है। सोचती है कि उसकी सभ्यता-संस्कृति हिमालय की तरह संसार की सभी जातियों की शिक्षा-दीक्षा से, सभ्यता-संस्कृति से ऊँची है। और जो अपना रक्त दूषित करके इस परम्परा पर और इस उच्चता पर आँच आने देता है, इस एकदेशी नीति का उल्लंघन करता है, उसे प्राचीन गोष्ठी बहिष्कार का दंड देती है। वह जाति-च्युत होकर अजात बन जाता है, उच्चता से गिरकर त्रिशंकु बन जाता है।

जिस बात को गोष्ठी नहीं चाहती, वही पाप कहलाती है। उस पाप का साखी हर आदमी के मन में होता है। वह साखी खुद आदमी के ही हाथ या मन का रचा हुआ, गोष्ठी का ठाकुर या ठाकुरों का दल होता है। दरतनी देखती रहती है, दरमू देखता रहता है, झाकर जानता है, बेजुणी बूढ़ी आदि देवताओं के 'अपने लोग' भी जानते हैं। तिस पर तुर्रा यह कि साँवता खुद सामने खड़ा है! सिर्फ एक भतीजे में इतनी शक्ति कहाँ कि इतना बड़ा पराभव उसके सिर थोप देता!

कोई और बेर होती, तो कौन जाने हाथ टाँगिये पर चले गए होते! तुरंजा लंबी उसाँस भरता कहीं भाग खड़ा हुआ था। बारिक धरती पर दंडवत् की मुद्रा में पट लेटा शुतुरमुर्ग-सा मुँह गाड़े पड़ा था। सोनादेई जाने कहाँ किस अँधियारे में जा छिपी थी। लेंजू कंध बाधा नहीं दे सका। उसने जाने क्या-कुछ कहा जरूर था; पर चाहे जो भी कहा हो, ऊपरी मन की बात ही कही होगी। उसका सारा नशा हवा हो चुका था। रह गई थी बस एक ही चिन्ता। वह यह कि अब अपने और दिउड़ु के बीच की दूरता कैसे अधिक-से-अधिक बढ़ जाय! उसने भागने का पक्का निश्चय कर लिया। बरसाती प्रलय है तो क्या, बरसाती अँधियारी है तो क्या, भागना एकदम जरूरी है!

बाहर निकलते ही उसने मुड़कर एक बार पीछे देखा और फिर सिर पर पैर रखकर भाग खड़ा हुआ। पानी में भींगा, ठंड में थरथराया; पर भागता ही गया। कुछ दूर जाकर रुकने पर ही उसे होश हुआ कि हाय, यह क्या हो गया?

सिर के गीले बाल सँवारे। अपने-आपको रिसा-रिसा कर फुलाया। यह सोचकर कुछ दृढ़ भी हुआ कि दिउड़ु निकले तो उसे खदेड़ूँ। मेरी देह को हाथ लगा दिया! कंध का अब इससे बढ़कर और क्या अपमान हो सकता है? दरमू है, दरतनी है, और फिर भी यह घोर अन्याय! जो आप साँवता होने के योग्य है, उसका एक मामूली लौंडा ऐसा अपमान करे!

टोले-पड़ोस के घर दिखे। घर-घर में किवाड़ें बन्द थीं। कितने घरों के भीतरी भाग दिखाई पड़ रहे हैं ; पर वह दिउड़ आ क्यों नहीं रहा है ? लगता है, बारिक के घर में और सबों को भी दंड दे रहा होगा। टोला दिख रहा है। टोले की उपस्थिति का भान होते ही लेंजू कंध का रोष थपाक से थसक कर बैठ गया। जैसे हवा की किसी एक ही फूँक में दिए की लौ बुझ गई हो ! बात फैल जायगी ! टोले वाले भी जान जायँगे ! वे भी मार-मार कर निकाल बाहर करेंगे ! पंचायत किस बिरते पर करूँगा ? किस बिना पर ? क्या कह कर ? पैर अपने आप बढ़ने लगे। राह अपने-आप अपनी छोटी-सी कुठरिया की ओर मुड़ने लगी। ऐसा मन वहीं विश्राम चाहता है।

तो यही है अपना घर ? पुयू बैठी थी। पुयू को देखते ही फिर उसका भीतरी भेस बदल गया। आखिरी अधेड़ वयस है, इस घर का मुरब्बी हूँ, सरबू साँवता का भाई हूँ ! मेरा अपमान ! और ऐसा अपमान !

और फिर तो भाई के मरने के बाद से दिउड़ के हाथों मिले सारे अपमान, सारी अवहेला, सारे अधःपतन, सब एक-एक करके याद आने लगे। यह पुयू उन सबकी साखी है, उन सबका प्रमाण है ! नरमाता-नरमाता लेंजू कंध गरमा उठा। पुयू से विदा ली। पीठ फेर कर चला गया।

इतने दिनों से जो विद्वेष और अभिमान मन के भीतर-ही-भीतर रुँधे थे, अनुकूल परिस्थिति पाकर वे सब-के-सब एक-साथ ही धुँधुआ उठे। अपमान और भय भी कोप और रोष में परिणत होकर मन को शान्ति देने लगे। लेंजू कंध ने निश्चय किया कि अब और कोई ममता नहीं रखनी, कोई उपरोध नहीं रखना, कोई बंध-संबंध-प्रतिबंध नहीं रखना ! पहले इस गाँव से निकल जाना है, फिर और कुछ सोचा जायगा ! रात आ रही है, देर नहीं की जा सकती। वह आतुर हो उठा। निकल पड़ा।

टोले में साँझ के पहले का कलरव उठ रहा है। कहीं से दिउड़ की आवाज़ सुनाई पड़ रही है। लेंजू कंध ने गति और तेज़ कर ली, पैर और झटकार के उठाने लगा। पैर आप-ही-आप खात की खेती-कुटियों की ओर

बढ़ चले। टोले के छोर पर बारिक के घर के पास अटका। राह जनशून्य थी। ठीक उसी समय ध्यान आया कि इस तरह मेघ में नहाता, ठंड में थरथराता कितनी राह तय की जा सकेगी भला? अँधेरा घिरा आ रहा है, हवा प्रचंड हो उठी है, दस हाथ की दूर की राह भी सुझाई नहीं पड़ती, पानी ऊपर से गड़गड़ाता पड़ रहा है, नीचे से हरहराता बह रहा है, ...आश्रय कहीं नहीं?

सोचा, चलके बारिक के घर से पत्तों की छतरी (छतौड़ी) और एक 'तर्लातर्ली' माँग ली जाय। और आश्रय? —आश्रय हो कि न हो, इस गाँव को छोड़कर तो जाना ही है!

बारिक के घर के अहाते में पैठने के पहले वह फिर ठिठका, थमका। थमककर इधर-उधर की अलियों-गलियों में नजरें दौड़ाईं। साँझ का झुट-पुटा दूर के मेघों के अँधियारे-सा धरती को ढाँपे आ रहा था। बरसते पानी में धुँधली-धुँधली दिख रही दूर की मूँड़िया पहाड़ियाँ काले बादलों की रेखाओं में घुलकर एकाकार हो गईं। धीरे-धीरे ये भी दृष्टि की परिधि से बुझ जायँगी। छोड़ो भी।—फिर उसी घर के ओसारे में चढ़कर लेंजू कंध ने पुकारा—"बारिक"—। फिर खाँसा और खड़ा रहा।

अभी देर ही कितनी हुई होगी, जब ठीक यहीं उसके सिर पर गाज गिरी थी, जब उसके मन में यह तूफ़ान उठा था, जो दूर खदेड़े लिए जा रहा है? ठीक यहीं तो उसका आरंभ हुआ था न? और फिर उसी ठौर एक बार और आके खड़े होने पर उस झुकी-झुकी अँधेरी छान से कैसा मायाजाल भीतर खींच रहा है! सचमुच कैसा इंद्रजाल है यह! मन के पिछवाड़े में सोनादेई किसी पंखदार नन्ही परी-सी बैठी रूपे के खरल में सोने के सोंटे से भूलने-भुलाने का कीमिया कूट रही है। सोनादेई, सोनादेई—हे सोनादेई, —हे, . . . हे! मुँह नहीं खुलता। वही अँधियारी कुलबोर चेतनाबोर माया। पैरों में बंधन, मुँह पर ताले। अब साँझ-पहर जाए भी कहाँ आदमी? जाने की गरज़ ही क्या पड़ी है?—"बारिक—बारिक—"

"नहीं है।"

"मोनादेई..."

कोई जवाब नहीं।

बहुत देर आगा-पीछा रहा। फिर वह विचलित हो गया। मचल पड़ा। घर के भीतर पैठ ही गया। बूरे की वही बोरसी अब भी जल रही थी। मोनादेई चुपचाप कोने में खड़ी थी। कुछ न बोली। लेंजू कंध उसे पकड़ के अँकवारने लगा। सिर के भीतर का सारा-कुछ फिर गड्मड हो गया, गोलमाल हो गया।

"आह, छोड़ हट! पानी में भिगोने क्यों लगा, कह तो? आह—"

मोनादेई सिहरती कँप-कँपाती सिमट गई, और अपने को छुड़ाकर सहमी-सहमी-सी परे हट गई। लेंजू कंध के बावले मन को इसका कोई भी अर्थ न सूझा। वह फिर आगे सरक गया। गला बिठा-बिठाकर फुसुर-फुसुर बक चला—"चल निकल चलें! तू और मैं।—निकल चलें! कौन क्या कर लेगा हमारा? डर किसका? भय किसका? आ।" सोनादेई के पास जाकर उसका हाथ पकड़ लिया। झटककर हाथ छुड़ाती और दूर हटती हुई सोनादेई तीव्र स्वर में फुसफुसाई—"छि:। रत्ती-भर भी लाज-सरम नहीं? डर-भय नहीं? मेरा वर आ जाय, ससुर आ जाय, तो क्या गत बनेगी तेरी?—क्या हो गया है तू?—छि:! थू: तेरे मुँह को—"

बात कह नहीं पा रही थी। शब्द अटक-अटक जाते थे। देह फूल रही थी, काँप रही थी। लाल खरुए की घाँघरी पहने उसकी जाँघों पर सुलगते बूरे की दौंक पड़ रही ही थी। लेंजू कंध अटक गया। ठिठकता बोला,—"एँऽऽ?" खाँसी उठी।

"याँव-याँव खें-खें क्या कर रहा है यहाँ? बुड्ढा बंदर कहीं का। जा जा, बुड्ढे, जा। बंदरमुँहा कंकाल बुड्ढा दारू पी-पीके मन-ही-मन धाङड़ा-नाच नाच रहा है। काहे को खड़ा है वहाँ? फिर आग लगानी है? जाता है कि...?"

बुड्ढा ? धाङ्गड़ा-नाच नाचता हूँ ? बुड्ढा बंदर ?—मानो किसी ने लेंजू कंध के ब्रह्मताल पर वज्रघोर डंडा दे मारा । बेचैन लड़खड़ाता वह बाहर चला गया ? कहाँ आया था ? छतरी-छतौड़ी दरकार थी ? वह तो भूल ही गया था। अनर्गल वर्षा है। बादल दुलकते आ रहे हैं। देह लथपथ है। सरासर ओदी है। तले पानी है, ऊपर पानी है। तले खात में खड़ी 'कंधगुड़ियों' की राह यह रही। तीखे नुकीले पत्थरों पर होकर, फिसलने-खिसकते उखड़े पिच्छल पत्थरों पर होकर।

सोनादेई फसक कर, फैलकर बैठ गई और हाथों में मुँह लेकर रोने लगी। घर के लोग चोरी करने गए हैं। और घर में उत्पात मचा है। हाय, कैसा घर है यह ? क्या घर है ? नारी के चरित्र हो कि न हो, आत्मसम्मान अवश्य होता है।

लेंजू कंध सिर गाड़े लड़खड़ाता चला जा रहा था। आँखों में आँसू जहाँ-के-तहाँ रुक गए थे। पवन पीछे ढकेल रही थी। जन्मभूमि की ओर। बारिश थमने का नाम नहीं ले रही थी। अँधेरा घिरा आ रहा था। कहीं कुटरा बोला। कहीं कुररी प्राण कंपाती पुकार उठी— "कुर्र कुर्र"। इसके बाद अभेद अँधेरा होगा। पठारी बरसाती रात का अँधेरा। ढलान पर कोई गँवई बतराते चढ़े आ रहे हैं। इधर पुआल की पुंजों में अब कोई न होगा। हवा की साँय-साँय में आनेवालों की बात कुछ सुनाई नहीं पड़ती। सिर्फ़ आवाज़ आ रही है। पीरी (मावे) ग्राम कितनी ऊँची उपज गई है। कोई दिखाई नहीं पड़ता।

केवल कंध होने के कारण ही जंगल की संधि-संधि पर मिलने वाली फाटों, पिच्छल चट्टानों और करारी कगारों वाली राहों में पैर अडिग सधे पड़ते रहे। कहीं मोड़-मरोड़ या मोच-खरोंच न लगी, कहीं पैर खिसक या फिसल न पाए। पैरों के निशान सीधे नीचे-ही-नीचे को पड़ते चले गए। पनियाली ठंड में अंग-अंग काँपते-थरथराते रहे। नाक से मेंह-सा पानी झरता रहा। आज कहाँ टिकान होगी ? लेंजू कंध दो-दो पाँच के फेर में पड़ा रहा। सुपारी के एक बड़े पेड़ तले खड़ा होके पीछे को ताक-झाँक लिया।

गाँव दिखाई नहीं पड़ता। गाँव के पीछे की करारे-सी खड़ी पहाड़ी दीवार दीख रही है। धीरे-धीरे वह अत्यन्त जर्जर बूढ़ा हो गया। निठल्ला, बेमसरफ़ बे-आसरा बूढ़ा। अपना कोई नहीं! एक दिन इसी गाँव में सब थे। आज किसी को अपनी खोज-पूछ नहीं, किसी को अपनी चाह नहीं, किसी को अपनी दरकार नहीं। आज इस मरणयात्रा-सी भयंकर अनजानी राहगिरी में कहीं भी इन खड़खड़ाती हड्डियों के लिए गरमाहट नहीं, सिर पर कहीं छिगुनी की टीप-भर भी छान-छप्पर नहीं।

बरसाती अँधियारी में अतीत की छवि कण-कण जुड़ती-जुड़ती फिर उभर आई। अपनी रुपनी! रुपनी आज होती! बाल-बच्चे होते! इस गाँव में मैं भी मानुष बनके बसा होता!

और आज इस गाँव से लात खाकर निकाला जा रहा हूँ!

सारा बल-बूता बटोरकर उसने छाती पर बाँहें मोड़ लीं और अँधेरे में खो गए गाँव की ओर मुँह करके तनकर खड़ा हो गया। आँखों से धार-धार आँसू बह चले। गाँव के पैरों तले लोटती पगडंडी के पत्थरों की धार निठुर और काट निश्चल थी। छाती के रक्त को नस-नस में दौड़ाता, उसाँसों में झंझा उठाता, लेंजू कंध प्रतिज्ञा की दृढ़ता के स्वर में बोला :—

"जाता हूँ। मर तो चुका ही। अब भूत बन के आऊँगा। गाँव उजाड़ने। और जो बचा रहा, तो अपने इन्हीं हाथों से इस गाँव को भसम कर जाऊँगा। सोनादेई डंबुणी को भी। दिउड़ कंध को भी।"

दाँत किटकिटा-किटकिटा कर फुसफुसाता बक चला—"जनम-माटी! जनम-माटी! आज से तेरे संग मेरा बैर—"

बदरी की सन्नाती चौवाई कभी हाँय-हाँय हलकोरती पैर उखाड़ के उड़ाए लिए जाती, तो कभी धक्के दे-देकर आगे ठेल-ठेल देती। और कभी गालों पर तड़ातड़ तमाचे जड़ती, गरदन पर ठाँय-ठाँय घूँसे मारती। खेती वाले खात के चारों ओर गोल घेरे में खड़े जंगलों की छानें ओढ़े विकट-विराट् पहाड़ खड़े हैं। ऊपर का अँधेरा आसमान को सिर उठाए टेके है। नीचे उसके अवयवों से उसके लंबे-लंबे सोते अँधेरे-ही-अँधेरे में खात के

भीतर घुसे पैठे आ रहे हैं। अँधेरा सचमुच ही पाँच हाथ दूर है। खेती वाले खात की मेड़ों-मेड़ों पोरसे-पोरसे-भर ऊँची खसखस और साबे (पीरी घास) के जंगल हैं। कहीं-कहीं कटे पेड़ों के ठूँठ हैं। दीमकों की ऊँची-ऊँची बाँबियाँ हैं। पैर फिसल-फिसल कर खेत के कीचड़ में घुटनों तक धँस-धँस जाते हैं। जिधर भी जाओ मच्छड़ों और डाँसों के घनघनाते झुंड उड़ रहे हैं। मेंढक एक सुर से टर्राते कान बहराए डाल रहे हैं। इन कीचड़मय दलदली क्यारियों में भी जाने कौन-से जंतु सड़सड़ाते-सँसरते चल-फिर रहे हैं। मेड़ों पर भाँति-भाँति की खसखसाहटें सुनाई पड़ रही हैं। चौमेड़ों पर खड़े पेड़ों-पौधों पर जगमग-जगमग जुगनू बैठ रहे हैं। चाहे जितनी भी राह पार कर लो, आगे वही-की-वही चौकोर क्यारियाँ, वही-की-वही झबरीली मेड़ें दिखाई देती हैं। हाँ, अँधेरा जरूर बढ़ता जाता है। भभूतिया रंग के बादलों के तीर चारों ओर से झुंड-के-झुंड घिर-घिर आते हैं और आँजर-पाँजर बेध-बेध जाते हैं। बरफ़ानी ठंड से देह जमी जा रही है। डालों-टहनियों की खरोंचे छुरी की धार-सी लगती हैं। पत्थर नुकीले काँटों से चुभते हैं। जगह-जगह अँधेरा सिमट-सिमट कर गहरा-गहरा गया है। थोड़ी-थोड़ी दूर हट-हटकर। ये कुंज हैं। जहाँ-तहाँ औचक्के ही खात के 'झोले' को चले जा रहे सोतों के विस्तार मुँह बाए मिल जाते हैं। पानी सुसुआता हुआ बह रहा है। उतरता है, पैठता है, निकलता है, उठता है। और उसी तरह एक आदमी भी चला जा रहा है, डगमगाता, लड़खड़ाता, गिरता-पड़ता, और उठ-उठकर फिर चल पड़ता हुआ।

'झोले' का घुटने-भर पानी ही सरकटे नाग से सोते की तोड़ में आदमी को घसीटे बहाए लिए जा रहा है। आगे-पीछे दो काली-काली दीवारें हैं। यहाँ आदमी की बस्ती कहाँ? बरफ़ानी ठंडा पानी कहता है कि सो रह, सो रह। घसीटे लिए जा रहा है, सीधा चलने ही नहीं देता। कानों को किसी प्रबल-प्रचंड अंधड़ के रोर सुनाई पड़ रहे हैं। 'झोले' में गरजता हुआ पूर आ रहा है। उछाल लेगा, पटक-पटक कर कुचल-कुचल कर चूर-चूर कर डालेगा और बहाकर न जाने कौन-से देश ले जायगा। रोर

पास आ चला। अँधेरे में कुछ दिखाई भी तो नहीं पड़ता।

लो, आ गया! आ ही गया आखिर! कानों में मृत्यु का कराल रणडंका बज उठा। कान फटे जा रहे हैं। घर जितना ऊँचा पानी आ रहा होगा। बड़े-बड़े पत्थर उखाड़ता-पछाड़ता ठेलता-पटकता साथ ला रहा होगा। बड़े-बड़े पेड़ों को जड़ से उखाड़े भँवराता-नचाता बहाए ला रहा होगा। लेंजू कंध ने सोचा,—अब अंत आ गया। कोई पैर उखाड़े डाल रहा है। उसने आँखें मूँद लीं। ठीक उसी समय वज्र घहरा। तड़तड़ कड़कती बिजली कौंध गई। पल-भर को चारों ओर दिन का-सा उजेला छा गया। लेंजू कंध ने देखा कि वह तो थोड़े ही पानी में बहता-बहता बिलकुल कछार पर आ लगा है। ऊपर चँदोवे-से तने मेघ लटक रहे हैं। पानी पड़ रहा है। जीने का आग्रह दृढ़ हो चला। बुझती-बुझती-सी लौ फिर बल पड़ी। ठंड से सुन्न पड़ गए लोथड़े पैरों को घसीटता-घसीटता वह कगार पर आ गया और जैसे-तैसे करारे पर चढ़ गया। औघट घाट की चौपट बाट से चल पड़ा। इधर से आज तक कोई भी गुजरा न होगा। कुछेक दूर ही निकला होगा कि पुल पर से गुजरती रेलगाड़ी-सा झझकारता पूर 'झोले' में आ गया। बाल-बाल बचा! ज़रा देर और बिजली कौंधी न होती, तो. . .। ठंड में ठिठुरता-ठिठुरता फिर खेतोंवाली धरती पर चढ़ आया। जाने कितने लोगों को पूर बहा ले जाता है। आज मुझे भी लगभग ले ही चला था।

बारिश की सनसनाहट धीमी पड़ती जा रही थी। 'झोले' की गुर्राहट अभी भी कानों में बज रही थी। हवा हिलकोरे मार रही थी। मेघ केवल झींसी-झींसी फुहियों में बरस रहे थे। घड़ी-घड़ी बिजली चुप-चाप कौंध-कौंध जाती थी। इधर थोड़ी ऊबड़खाबड़ ऊँची भीठ धरती है। रेतीली है। सामने संतरे के कुंज दिख रहे हैं। उसके और आगे दर्रे की दीवार का पत्थर पेड़-सा खड़ा है। उसके भीतर खेती की रखवाली की मँड़ैया जरूर होगी।

लेंजू कंध उधर ही चला। ऐसा ही कोई आश्रय उसके मन में था।

पर आश्रय भी क्या? पैरों तले की माटी पचपचाती, कीच-भरी है। राह टटोल-टटोलकर चलनी है। संतरे और केले के जंगल के भीतर छाती-

छाती भर ऊँची 'गाँटिया'[1] उपजी है और उसी के बीच 'कंधगुड़िया' है। दाईं ओर पहाड़ की ढलान दिख रही है। उस पर अगम गहन जंगल है। नाना जाति के जीव-जंतुओं का वास है। बरसाती अँधेरे में मंतरे के कुंजों में झाँको तो भय से प्राण धुकपुकाने लगते हैं। जाने किसका सामना हो जाय! जाने छिपा बैठा कौन जंतु उछलकर झपट्टा मार बैठे। रोशनी की परछाईं तक यहाँ नहीं है। आखिरी भरोसा बस एक ही आस पर टँगा है। वह यह कि हो सकता है, दिन को काम करने आए लोग मँड़ैया में कुछ छोड़ गए हों। बे-आसरे का आसरा, हताश की आशा, बस इतनी ही-सी है।

'गाँटिया' के खेतों से होकर लेंजू कंध झटपट डग भरता बढ़ चला। राह-बाट कोई न थी। थी तो बस मर्मर, खड़खड़, साँय-साँय! मँड़ुए का बड़ा भाई यह 'गाँटिया' भी कितनी जल्द बढ़ जाता है! लंबे-लंबे, चौड़े-चौड़े, कड़े-खुरदुरे पत्तों पर लोटे का लोटा पानी टिका है। पत्तों के कँटीले रोयों से चमड़ी छिल-छिल जाती है। पैरों में अब कोई कस-बल शेष नहीं। देह निर्जीव-सी हो पड़ी है। मुरदा लाश-सी। कोई वनजंतु अँधेरे में खाँय-खाँय खाँसता-सा बेराह की राह तीर-सा बेधता भागा जा रहा है। 'गाँटिया' के खेत पीछे छूट गए। दर्रे की दीवार के किनारे-किनारे चीन्ही-जानी-जैसी राह से बढ़ते लेंजू कंध ने 'कंधगुड़िया' के लिए अँधियारे के अतल समुद्र में डुबकी लगा दी। निस्तब्ध, निर्जन, नीरव अंधकार में। झिल्लियों की झनकारें उस निस्तब्ध नीरवता को और भी गहराए डाल रही थीं। अब बादल बारीक रेत-सी फुहियाँ बरसाने लगे। इतनी देर के संगी मेंह जैसे कहीं खो गए। उनकी टपाटप पड़ती बूँदों की लवें मानो बुझ गईं। हठात् नीचे-ऊपर हर-कहीं सुनसान सन्नाटा छा गया। हाट उठ जाने पर हाट के मैदान जैसा। लेंजू कंध की छाती ठंड से जमी आ रही थी। अब चला नहीं जा रहा था।

भय, भय, भय! मरने का भय! बाघ के जबड़ों तले कच्चे चबाए जाने का भय! सोए वन को चिहुँका-चिहुँका कर जब-तब भाँति-भाँति के रोर

1 बड़ा मँड़ुआ। अगला अनुच्छेद देखिए।

उठते हैं। सिर पर चिड़ियाँ फड़फड़ाती उड़-उड़ पड़ती हैं। अब और कितनी दूर? राह खो तो नहीं गई? लेंजू कंध ने अपने-आप से कई बार पूछा। कोई जवाब नहीं मिला। बारंबार भय से चौंक-चौंककर पेड़-पौधों में टकराता, पल-पल पर मर-मरकर फिर दूसरे पल सुगबुगा-सुगबुगाकर जी-जी उठता, घिसटता-घुमटता वह आगे बढ़ा। कौन बैठा था? यकायक फाँद पड़ा, झपाक-सी आवाज़ हुई और न जाने कौन इधर-से-उधर भागता निकल गया। कौन था? पीछे से कौन दौड़ा आ रहा है? दुलकी चाल से? धरती धमक रही है। धबाधब-धबाधब की चाप सुनाई पड़ रही है। न जाने कितने संदेह, कितने भय, इस अँधेरे से उठते रहते हैं। पुकारो तो बियाबान वीरान सुनेगा, मर जाओ तो सिर्फ़ अँधेरा ही देखेगा! मनुष्य की तो परछाईं तक नहीं यहाँ!

मंतरे का जंगल भी पीछे रह गया। एक जगह थोड़ा-सा खुला मैदान था। उस खुले में एक अकेली झोंपड़ी पड़ी थी। झोंपड़ी के भीतर कंध-मँड़ैया थी। लेंजू-कंध को साहस मिला। यकायक सारी देह में दर्द उठा। अंग-अंग छिटका पड़ रहा था, टूटा पड़ रहा था। मँड़ैया के मुँह पर खड़े होते समय छाती पर हथौड़ों की चोटें-सी पड़ रही थीं। अगर भीतर कहीं कुछ हुआ तो? कभी इनमें आदमी होते हैं, कभी नहीं भी होते! मधु-मक्खियाँ छत्ते लगाती हैं, भालू बच्चे जनता है, बाघ अड्डा मारता है, साँप कुंडली मारे बैठे रहते हैं।

बाहर ही उस मँड़ैया की गीली छान पकड़कर टट्टी पर देह ढील दी। उस समय याद आया कि अभी रात ज़्यादा बीती न होगी, म्प्यापायु गाँव में बारिक के घर में सोनादेई चूल्हा जलाए रसोई पका रही होगी, बारिक चूल्हे के पास बैठा आग सेंक रहा होगा, दारू पी रहा होगा। सोनादेई का ध्यान आते ही उसका क्रोध फिर उबल पड़ा और आँखों को अंधा कर गया। देह से गड़गड़ पानी चू पड़ा। लेंजू कंध मँड़ैया के भीतर पैठ गया।

पैरों तले सूखे तिनके खसखसाए। ऊपर छान थी। तो, यही आश्रय है! बाप रे, कैसी ठंड है! लेंजू कंध ने गीले कपड़े उतार डाले और दरवाज़े

पर पसार दिए। खिसकता-खिसकता भीतर पहुँचा। सूखे तिनके बटोर कर कुछ बिछा लिए, कुछ देह के ऊपर लाद लिए। फिर चारों ओर नज़र दौड़ाई । उसकी संधानी कंध-दृष्टि मँड़ैया के एक कोने पर पड़ी, तो अटकी की अटकी ही रह गई। अँधेरे में न जाने क्या जगमगा रहा था। जुगनू हैं ? वनबिलाव है ? लकड़बग्घा है ? तालियाँ पीटीं। प्रतिध्वनि गूँज गई। घिमटता-खिसकता उसी कोने की ओर गया। झुककर देखा। हाथ मारकर देखा । आग ! --आग ! --उसकी निस्तेज छाती में आनंद के ज्वार बाँसों उछलने लगे। मूठ भर तिनके बटोर कर पूले बनाए। छोटे-छोटे पूलों के ढेर लगाए। प्राणों का सारा ज़ोर लगाकर फूँका। आग जल उठी !

मँड़ैया छोटी-सी ही थी। छान-छप्पर की छाजन से बची-खुची फूस की एक पूँज कोई यहीं छोड़ गया था। तिनके सारी मँड़ैया में तह-पर-तह बिछे पड़े हैं। एक और कोने में दो पत्थर जोड़ कर चूल्हा-सा बना रखा गया है। उसमें थोड़ी-सी अधजली लुकाठियाँ पड़ी हैं। पास ही मोटी-मोटी आधी जली आधी बची लकड़ियाँ भी हैं। धूनी की होंगी। भैंस के चरवाहे इसी तरह जंगल में खाते-पकाते दूर-दूर तक चले जाते हैं। बाट के बटोही रात पड़ने पर इसी तरह टिकान करते हैं। चोरों के भोज ऐसी ही मँड़ैयों में हुआ करते हैं ।

लेंजू कंध ने धूनी की मोटी-मोटी शहतीरों के दो कुंदे सुलगाए। धधकती दौंक में अंग-अंग सेंक लिए। धीरे-धीरे स्पर्श-शक्ति लौटी। धीरे-धीरे चमड़ी गरमाई। अब अंदाज़ा लगा कि देह की कितनी क्षति हुई है, कितना कष्ट हुआ है ! आग को देखते रहने से भीतर भी साहस का संचार हुआ। जंगल की डरावनी अँधियारी और बदली की प्रलयंकर ऋतु को भुलाकर चित्त आग की प्यारी-प्यारी दौंक में रम रहा ; इस जनहीन पाँतर में आग की उस छोटी-सी चिनगारी को छोड़ जाने वाले के प्रति मन अनंत कृतज्ञता से नत हो गया। कौन होगा वह ? सचमुच कोई बटोही ही था, या कोई सहायक 'डुमा' था ? रुपनी तो नहीं ? लेंजू इन्हीं चिंताओं में झूलता रहा।

ऐसा भी सुना जाता है कि मरे हुओं का 'डुमा' अपने प्यारों पर आपद-विपद पड़ने पर मदद किया करता है, अनदेखे ही कितनी तरह की सुख-सुविधाएँ जुटा जाया करता है। तो क्या सचमुच अपनी मरी-खोई रूपनी ही बरसाती-अँधियारी की भटकती राहों से निकाल लाई है, विपदा से उबार लाई है? कहाँ जंगल, कहाँ फिसलन-भरे नुकीले पत्थरों की राहें, कहाँ 'झोले' के पूर में सौ-सौ पटके खाकर मरने की निश्चित आशंका और कहाँ इन सब से बाल-बाल बचते निकलना, यह मँड़ैया, ये फूस के गादे, यह आग की चिनगारी! पग-पग पर निश्चित मरण का आमना-सामना था! पर मरण नहीं हो सका!

रूपनी! —किसी खोए-गँवाए भूले-बिसरे अतीत की संगिनी! आज क्यो रूपनी बारंबार मन की किवाड़ झकझोर-झकझोर कर चेता रही है, जगा रही है? लेंजू कंध रो पड़ा। आग की गरमाहट से केंदू की लकड़ी में बहते-पानी की तरह आँसू बहा-बहाकर वह आप भी ओदा हो रहा। सचमुच ऐसा लग रहा था, मानो रूपनी अभी कल ही मरी हो, मानो कल ही उसे बाघ ने खा डाला हो।

कितने ही लोगों की धाङड़ियाँ अभी जैसी की तैसी हैं! अपनी ही धाङड़ी मर गई! उसी को क्यों मरना था? उसके प्यार में कितना खिचाव था। उसका प्यार कितना दृढ़ था! प्यार ने ही उसे विपद के मुँह में बुला लिया था! प्यार करने आकर ही वह बाघ का ग्रास बनी थी! रूपनी! —रूपनी!

ऐसा रोना लेंजू कंध बहुत दिनों से नहीं रोया था। रूपनी के बाद बेब्याहा रँडुवा रहकर ही इतने दिन काट दिए। बावलों की तरह जीवन को उजाड़-उजाड़ कर फेंकता रहा! प्रेम ही नहीं, तो जीवन क्या? कभी-कभी शायद यह मांस कटकटाया ज़रूर है, देह का नियम मानकर किसी नारी के पीछे यह लेंजू दौड़ा ज़रूर है; पर वह नशा सदा उस मुहूर्त का नशा ही रहा है। वह तो जंतु-देह का विकार रहा है, लहू की मौज रही है, उसे प्रेम तो कोई कह नहीं सकता! वहाँ तुंबियों में गरम पानी ढाल-ढालकर,

मल-मलकर नहलाने-धुलानेवाली, आँचल से पोंछनेवाली तो कोई नहीं होती ? वहाँ बारंबार पूछ-पूछकर, रींध-पकाकर परोसने वाली तो कोई नहीं होती, जबरदस्ती ठूँस-ठूँसकर खिलानेवाली तो कोई नहीं होती ? वहाँ आँधी-पानी में भींगकर भी खेतपर तुंबियों-तुंबियों गरम खाना पहुँचानेवाली तो नहीं होती कोई ? और---और वहाँ बघलगी के मौसम में स्वामी की रखवाली के लिए आधी-आधी रात को तलहटी की मँड़ैयों में जाकर बाघ के मुँह में कूद पड़नेवाली तो नहीं होती कोई ?!

प्राणों को ठेस लगने पर पत्नी याद आई थी । सुमिर-सुमिर कर लेंजू कंध रोए जा रहा था।

रोते-सेंकते रोते-सेंकते धीरे-धीरे बल का संचार हुआ। सोचा, भाग खड़े होने के सिवा और कोई चारा न था। काँधे पर टाँगिया हो और बाँहों में बूता हो, तो कंध किसी बात से नहीं डरता। डरता है तो बस लाज और अपमान से। ऐसा भी तो हुआ है कि किसी कंध ने अगम-गहन वन के भीतर पानी का सुभीता देखकर अकेली झोंपड़ी खड़ी कर ली है, थोड़ा-सा जंगल साफ़ करके साँवा-मँड़ुआ की खेती कर ली है, हल्दी बो ली है, शहद और पालुआ बटोर-बटोर कर गुजर-बसर कर ली है ? टाँगिए से काठ-बाँस काट लिए, अपने हाथों से तैयार धनुही या बहुत हुआ तो ओड़ियानली ले के शिकार मार लिए, रात को महुआ बटोर कर दारू चुआ ली, और अलगोजे टेर-टेर कर रातों को अकेले ही अलाव के पास नाच भी लिया ! पर आदमी रहता है दल में ही ! अकेला रहना पार नहीं लगता ! पर इसके लिए कोई चिंता नहीं ! किसी एक ने अगर अच्छा बना लिया, तो दूसरे बरजोरी खिंचे चले आते हैं। एक से दो बासे होते हैं, दो से चार। बस्ती से 'गुड़ा' होता है, 'गुड़ा' से बढ़ते-बढ़ते गाँव। जाने कितने ही कंध तो अपने गाँव के गाँव उठाए जंगल के भीतर घूमते-घामते कहीं और नए गाँव बसा लेते हैं। जीवन जब तक है ,तब तक पेट तो पालना ही पड़ता है ; और कपाल में जो होता है, वह लाठी के हाथ हो लेता है।

अबेर हो गई। लेंजू कंध उठा। गीले कपड़े निचोड़कर पसार डाले। मँड़ैया का फाटक खींचकर बंद कर डाला। फूस बिछाकर सेज डँसाई। पुआल ओढ़ कर, आग के पास गरमाता, थकी-माँदी नींद में सो पड़ा।

मेंह फिर बरसा। हवा फिर सन्नाई। कुटिया दुलकी। चारों ओर अँधेरा और जंगल था। मनुष्य कहीं नहीं था। आधी रात को नींद खुल गई। लगा जैसे पास ही कहीं महाबल चिग्घाड़ रहा हो। गालियाँ बककर कान पाते रहा। बड़ी देर तक वन के शब्द अकानता रहा। फिर सो गया।

रात उतर रही थी। नींद फिर खुली। प्रबल कंप लग रहा था। देह थरथरा रही थी। लेंजू कंध को ध्यान नहीं था कि घर पर नहीं हूँ। ओढ़ने को अपना मोटा खेस टटोलता रहा। देह बहुत दुख रही थी। ठंड के मारे बुरा हाल था। आग रुआँसी होते-होते मंद-मलिन पड़ गई थी। फूँकने को गरदन बढ़ाई; पर कँप-कँपाकर फिर निस्तेज हो पड़ा। थरथर काँपता झींगा मछली की तरह छटपटाता रहा। नींद फिर नहीं आई। कभी रिमि-याता तो कभी रो उठता। जूड़ी में दाँत ठकठकाता, घुटनों को पेट में कोंचता पड़ा रहा। देह का बल पूर के पानी-सा देह छोड़कर उमँड़-उमँड़ पड़ता था। सिर में डाँस डँस रहे थे। उसे पूरा होश नहीं था।

लेंजू कंध को पठारी ज्वर ने धर दबोचा था।

पौ फटी। बारिश अब भी ज्यों-की-त्यों धूम मचाए थी। लेंजू कंध फूस के भीतर वैसे ही पड़ा था—कंध तकवैये की अगोरनी मँड़ैया की उस एकान्त निस्तब्धता में! जूड़ी अब नहीं थी। ताप था। पूरा चढ़ आया था। कभी-कभी करवट-भर बदल लेता था। आधे होश और आधी बेहोशी के आलम में छटपट कर रहा था। दो पहर यों ही बीत गए। कभी-कभी उस आधी चेतना में ऐसा लगता, मानो पास ही कहीं लोगों की बतरान सुनाई पड़ रही है। लोग पास के पहाड़ों में बाँस की कोपलें और सियाड़ी के पत्ते तोड़ने आए होंगे। पिछवाड़े की मँड़ैयों वाले खेती देखने आए होंगे। 'झोले' में लोग मछली मारने आए होंगे। संसार अपने कामों में मस्त है। यह पूछने की गरज किसे पड़ी है कि लेंजू कंध मरा कि जीता है?

किसी को भी नहीं। ज्वर के बावलेपन में रो-रोकर लेंजू कंध यही सोचता रहा कि सबने मुझे पराया बना डाला। किसी की भी यह चाह नहीं कि मैं जिऊँ। सब यही चाहते हैं कि मैं मर जाऊँ।

पर मरने की चाह उसे खुद तो हरगिज़ नहीं थी, ज़रा भी नहीं। दुनिया की आँखों में आग की मेख ठोंकता-सा वह जीते रहना चाहता है। पड़ा रहना चाहता है। फिर होश डूब जाता और वह ज्वर में उसी तरह पड़ा रहता।

तीन-दिन, तीन-रात ! पेट में एक दाना तक नहीं गया। तीन दिनों का निर्जल उपवास रहा।

ज्वर की छटपटाहट, बेहोशी और बावलेपन के कुछ घट जाने पर वह मँड़ैया से निकलता और पास के पतले नाले से थोड़ा पानी पी आता। इस तरह कितनी बार होश में आया और कितनी बार फिर बेहोश हुआ, इसका कोई ठिकाना न था। कौन जानता है, आदमी को कब किस अवस्था का सामना करना पड़ जाय। दूसरी रात को आग भी नहीं थी। जाने कब बुझ चुकी थी। सोच रहा था, कहीं से पीपल और गम्हार की सूखी लकड़ी ढूँढ़ लाऊँ और रगड़ कर आग निकाल लूँ; पर कुछ कर नहीं पा रहा था। बड़ी ठंढ थी। झड़ी लगी थी। देह में बेतरह दर्द था। अंग-अंग फटे पड़ रहे थे। टुकड़े-टुकड़े हुए जा रहे थे। सिर मन-मन के वज़न का होकर टूटा पड़ रहा था। उसे सुध भी न रहती थी कि क्या कर रहा हूँ और क्या सोच रहा हूँ।

तीन-दिन, तीन-रात। ज्वर, खाँसी, कै, दर्द। हाथ-पैर सचमुच कैसे सूख-सूखकर सिकुड़-सिमट गए हैं ! बल सिरे से जाता रहा ! लेंजू कंध ने सोचा, अब मर रहा हूँ। यों ही माटी में मिल जाऊँगा ! किसी का मुँह तक देख न पाऊँगा ! मृत्यु ! हाय, मृत्यु कितनी भयंकर होती है !

भूख और ज्वर से तप-तप उबल-उबलकर एक दिन वह उठ खड़ा हुआ। अब बुखार न था; पर कमज़ोरी बेहद थी। झोंपड़ी के दरवाज़े से चिपका निराश आँखों से बाहर की ओर ताकता रहा। भूख और

दारू-धुँगिया की याद सताने लगी। क्यों ? कहाँ हूँ ? यहाँ कहाँ है कोई ? अगम-अरण्य में अकेला हूँ !

उसने मुँह और देह पर हाथ फेरा। देह में बहुत-कुछ ऐसा था, जो आज नहीं है। हर कहीं गड्ढा-ही-गड्ढा है। हर कहीं हड्डी-ही-हड्डी है। चेहरे पर कड़ी जटिल दाढ़ी बढ़ आई है। मुँह में कैसी-कैसी, तरह-तरह की गंध है। गंध को डुबाने के लिए न दारू है, न धुँगिया है।

इच्छा हुई कि अब फिर राह पर लग पड़े ; पर उठ कर खड़ा होते ही सिर झाँय से चकरा उठता था। ज्वर का मारा, रोगी आदमी, अकेला कहाँ जाय ?

आज सुबह शक्ति आई है। आग बना पाऊँगा शायद ! बड़े कष्ट से लकड़ी घिस-घिसकर थोड़ी आग निकाली। वर्षा आज कम पड़ गई है। बेर ठीक सिर पर चढ़ आई है। थोड़ी-थोड़ी दूर पर केंदू के छिदरे-छिदरे जंगल हैं। उस पार के पहाड़ की ढलान पर बड़ी-घनी जंगली बँसवाड़ी है। ऊँची ढलान से पहाड़ के ऊपर तक चढ़ती चली गई है। अगम वन है। वर्षा की फाँक से थोड़ी रोशनी फैली है। जाति-जाति की चिड़ियाँ खुशियाँ मना रही हैं। यह, यह सीटी तो भिंगराज की है ! मुरगे बाँगें दे रहे हैं। मोर की केका गूँज रही है। ऊपर पूरबी घाट का गरुड़, 'मोर-मार' पंछी मँड़ला रहा है। लाठी टेकता-टेकता वह पास के जंगल में गया। जंगली 'गुरुड़ी' आम फले हैं। उधर उस बेल में गुच्छे-के-गुच्छे कुँदरू फले हैं। जंगली कुँदरू, बिंबा, तिलकोर, जंगली पान। लेंजू कंध की भूख बढ़ गई थी। पेट में दिया-सा बल रहा था। जंगल से फल-मूल जुटा लाया। आग में पका-पकाकर खाया। वह दिन भी वहीं काट लिया। थोड़ा-सा दम मिला। बुखार नहीं था। खाँसी घट गई थी। जीते रहने का आग्रह भी प्रबल हो उठा था। किसी भी तरह पास के गाँव बंदिकार तक पहुँच लेना चाहिए। वहीं जाके कड़ा पड़ूँगा। उस गाँव और इस गाँव में मन-मुटाव हो ही गया है ! ठीक रहेगा। देह ठीक हो लेगी, तो गाँव के मुखिया की अनुमति लेकर पड़ोस के जंगल में मँड़ैया डाल लूँगा। धीरे-धीरे।

किसी का आश्रित नहीं होना पड़ेगा। इस गाँव के साँवता का भाई हूँ, उस गाँव के साँवता के पास सिर बेचकर 'गोती' रहना ठीक न होगा; रह सकूँगा भी नहीं। बस यही ठीक है, अलग रहकर अपना 'गुड़ा' बसा लूँगा। जिसके पति को बाघ ने खाया होगा, उसी से ब्याह करूँगा। कंध जाति के बंध-नियम को भंग नहीं करूँगा। अपना घर होगा, अपनी खेती होगी।

बंदिकार ही ठीक रहेगा। दूर रहकर सब आरोपों से इनकार कर जाऊँगा। बारिक से मेरी कोई दोस्ती न थी। सोनादेई को मैं नहीं पहचानता। किसीने देखा है? किसने देखा है? दिउड़ मेरा बैरी है। किसे विश्वास होगा? कुल का मुखिया मैं हूँ! उस दिउड़ और उस सोनादेई के कपाल में आग लगाने के लिए मण्यापायु के पास ही, पर अलग होकर, रहूँगा। कलह का बीज बोऊँगा, पानी दूँगा, पेड़ उगाऊँगा। फिर अपने वैरियों से निबट लूँगा।

इस द्वेष ही से उसे बल मिला। इसीने उस ज्वर के टूटे रोगी से राह तय कराई। कंध रिसिया उठे तो राह के पेड़ों तक को काट फेंकता है, चट्टानों तक को उखाड़ फेंकता है।

सवेरा हो चला था। मण्यापायु पर रक्तचावली चबाता गालियाँ बकता वह मँड़ैया से बाहर निकला। ठुकुर-ठुकुर करता चल पड़ा। कोई देखकर ही कह दे सकता था कि यह दुबला-पतला निर्बल अधेड़ कंध निराश्रय है, जो किसी दूर पठार से मारा-मारा चला आ रहा है। कोटरों में धँसी आँखों की मूक चितवन अर्थहीन तो थी; पर अपनी अर्थहीनता में ही वह इतना जरूर जता देती थी कि यह बटोही उत्पीड़ित है, दरिद्र है, अरक्ष है।

छियासी

बंदिकार में पिओटी बाट जोहती बैठी थी। उसी 'झोले' की राह दिउड़ साँवता आएगा ! म्प्यापाय् गाँव का साँवता ! उस दिन भी ऐसा ही अंधड़-झक्कड़ था। उस दिन भी ऐसी ही झड़ी लगी थी । उस दिन भी ऐसा ही 'अ-दिन' था ।

अब तो प्रबल वर्षा है। वर्षा ऋतु पूरे जोबन पर है। 'झोला' को जाओ तो उस दिन की बातें याद आने लगती हैं। बाट जोह-जोह कर निराश लौट आना पड़ता है।

यह सोच दिन-दिन गहराता जाता है। कभी-कभी वह बदली-भरी अँधियारी में ओसारे पर बैठी सोचती रहती है। भगवान् ने दया करके उसे सोच-सोच मरने की सूझ-बूझ दे दी है ! बातें आप-ही-आप एक दूसरे के छंद में मिलकर उलझ-उलझ जाती हैं। उनके अर्थ आप-ही-आप तुल-तुल जाते हैं। फलाफल के चित्र आँक-आँक जाते हैं। और इस तरह मन को दुखाते रहते हैं। इतनी-सी छोटी वयस में ही अनुभव उसे कोई कम नहीं हुए हैं। दक्खिन के शहर में न जाने कितने सोमैय्या, मडन्ना, पेटैया आदि मिल चुके हैं।

सोचती है, पुरुषों का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है ! अपना अभाव पूरते ही वे कहीं उड़े चले जाते हैं। स्त्री का स्वभाव इसके ठीक उलटा होता है। वह जितना ही पहचानती है, उतना ही लिपट पड़ती है, अँक-वार उतना ही कस लेती है। सहेली पैंडितेलियम्मा के उपदेश याद आते हैं। कहा करती थी—'कतराई रह, दूर-दूर करती रह, तभी जीतेगी, वे हारेंगे। तब तू हँसेगी, वे रोएँगे। बेदाम के गुलाम बने तेरे पैरों पर नाक रगड़ते रहेंगे।' सहेली पैंडितेलियम्मा सचमुच सुन्दरी है। कमर में सोने की कर-धनी, बाँहों में बिजायठ ; पर कैसी निठुर है ! उसके कलेजे में हिया नहीं है। काँसे के लोटे-सी पिटने पर टनाटन बजती है। कहती है—'इस

राह चलके पहले प्राणों को जलाकर राख बना लिया और फिर उस राख के ऊपर कोठे-अटारी वाले महल खड़े कर दिये ! देख, देख।'

सीख नहीं पाई। जिसकी जैसी गढ़न !

दिउड़ साँवता को हँसी-हँसी में उड़ा डालने की कोशिश की थी। आप फाँस में पैर उलझा लिए ! केवल इस पेट के लिए और-और कंधुणियों-सी पीठपर पीठपंखा या 'तर्लातर्ली' बाँधकर, सिर पर छतौड़ी ओढ़ कर, बारिश में भींगते काम पर जाना पड़ता है, पहाड़ के ऊपर की धरती गोड़ने जाना पड़ता है। आदत-आदत की बात है ! अब अपनी भी आदत होती जा रही है ! अब इन हाथों में भी घट्ठे हैं ! अब इन पैरों में भी रेत के खाए गड्ढे हैं, छलनी की तरह ! कभी किसी के खेत में काम तो कभी किसी के खेत में ! कभी बुवाई तो कभी निराई, कभी रोप तो कभी पनालों की सफ़ाई। पिओटी सब करती है ; पर जगह-जगह उसके काम करने की परदेसी शैली पकड़ जाती है। लोग ताड़ जाते हैं। धाङड़ियाँ काम पर गीत छेड़ती है, तो सुर नहीं दे पाती। तुंबे से मँड़ुआ-'पेज' ढालकर सब के आगे सुड़-सुड़ पीने लगने में कुंठा लगती है। चाल में, चलन में, रहन में, सहन में, चितवन में, अदा में, रंग में, ढंग में, हर कहीं पालन-देश की छटा निथर-निथर पड़ती है। सब से अलग ! कोई ठट्ठा-ठिठोली नहीं करता। कोई मुँह नहीं निहारता। नए ढंग के व्यक्ति को तोलने-मापने की प्रवृत्ति किसी की नहीं होती। अपने घर की गिनती 'गाँडी छुंडी' घरों में होती है। हम लोग गाँव की रैयतों में हतभागे-अभागे हैं। हम, यानी वह बूढ़ी और उसकी बेटी मैं। हम केवल मजूरे हैं। सारे दल की करुणा के पात्र हैं। इसीलिए किसी से अधिक घुल-मिल भी नहीं पाती। साँवता हारगुणा कंध की आँखों में आँखें डाल नहीं पाती। भले ही वह एक लँगोटधारी कंध क्यों न हो ! वह पुरुष है, अपनी अहमिका पहचानता है। भीतर से वीरान है। अकेला, जहाँ किसी और की पैठ नहीं ! सहानुभूति उसे छू तक नहीं गई। अपना जीवन भी क्या जीवन है ? इस बरसात की रुत की तरह ही ओदा-ओदा, रुआँसा-रुआँसा, रुँधा-रुँधा बीता जा

रहा है, किसी अभागे पठार के ऊपर ! आशा की कोई रेख भी कहीं नहीं झलकती । जिधर देखो उधर ही जंगल-जंगल है । जिधर देखो उधर ही मेघ घिरे हैं, जिधर देखो उधर ही झाले हैं, नाले हैं, अँधेरे में ढुलकता भागता पानी है, उलटी दुनिया है । बस हवा-ही-हवा और वर्षा-ही-वर्षा है ! और ठंड, ओह कैसी ठंड है ! साहस नहीं खुलता, राह नहीं सूझती । परिस्थितियाँ माटी में दाबकर गरदन झुकाए डालती हैं । सभी की तरह मुझे भी कल-पुरजे-सा काम किए जाना पड़ता है ! दिन तो जैसे-तैसे काटने ही होंगे !

आदमी की कोई गिनती है ? वह तो चूहे-सा है, गीदड़-सा है । भाग्य-वादी है । प्रकृति के पूर की तोड़ आती है । और वह आशा में दुम उठाए बहा चला जाता है । उड़ा चला जाता है । फिर नसीब में जो हो, हो ले !

इन्होंने अपनी बड़ाई करनी नहीं सीखी । होड़ बद-बदकर एक-एक करके सबसे बढ़ जाना नहीं सीखा । अलग अकेला पड़कर युद्ध करना नहीं सीखा । यानी जीने का मोल देना नहीं सीखा ।

इनका जीवन बस खुभार में गजबजाते सूअरों के दल-सा है । खुभार में ही चलते रहते हैं और एक दूसरे की साँसों की गरमाहट से गरमाते रहते हैं । ठंड और बरसात के दिन इसी तरह काट लेते हैं । यही चलन है । खुभार के भीतर धनी-गरीब का भेद नहीं है । अबल-बली का भेद नहीं है । सब समान हैं । एक से गँधाते, एक से अधनंगे, एक भाव-भावना, एक ध्यान-धारणा ! सब मिल-जुलकर बारी-बारी से एक दूसरे के खेत भी आबाद करते हैं । पैसे का कोई मोल नहीं । पैसे पर कोई गर्व नहीं । कमर में सोने की करधनी और हाथों में कंगन की महिमा ये मूरख क्या जानें ! ये बुद्धू कंध क्या जानें कि उन गहनों में कौन-सा अरूप गर्व जमकर रूप पा गया है ! मजूरी खट-खट के मरते रहो, यहाँ कोई तो देगा मँडुआ, कोई केवल दारू तो कोई केवल कुँगिया ! कोई माँगता ही नहीं कि और दे दे, किसी को यह दुख

ही नहीं होता कि इतना कम मिला ! तभी तो इस अँधेरनगरी के चौपट राज में कोई किसी सुन्दरी को बस में करने के लिए छै-गज़ी दक्खनी साड़ी भेंट नहीं करता ! कोई रुपया नहीं दिखाता ! आदर-मान नहीं करता, लाड़-प्यार नहीं करता, राग-सुहाग में अपना बखान नहीं करता, अपनी धन-दौलत की बड़ाई नहीं गाता ! ये न मोल जानते हैं, न मौज ! पशु हैं पशु ! पशु से भी अधम हैं !

कंथुणी पिओटी सभ्य आँखों से कंध-समाज को देखती है, उस पर विचार करती है। उसकी चटक-मटक, उसकी सज-धज, उसकी अदाएँ, सब यहाँ पर बेकार हैं। व्यर्थ !

फिर भी उसने म्ण्यापायु के साँवता को प्यार किया था। उसी अबोध पशु ने, बलिष्ठ पशु ने उसके हाथ चाटे थे। बड़ी-बड़ी आँखों से मुँह निहार कर सचमुच कहा था कि बता दे, मेरे किस तरह मरने से तू खुश होगी ! तू कहे तो इस पहाड़ को बारंबार लाँघता-लाँघता मर जाऊँ, पत्थर भोंक-भोंक कर मर जाऊँ। तू कहे तो पेड़ उखाड़ डालूँ, दूर से दौड़ा आकर बड़ी-बड़ी चट्टानों पर सिर दे मारूँ, सींगों की चोटों से चट्टानें उखाड़-उखाड़कर खुरों से रौंद-रौंद डालूँ और कंकर बना-बनाकर 'झोलों' में बहा-बहा डालूँ। देखेगी आज़मा के ?

उसी बलिष्ठ पशु को प्यार किया था उसने। ढेर-के-ढेर पेड़ों-पत्थरों की अनजानी दुनिया में उसका बस एक ही मित्र है, एक ही बन्धु, एक ही अपना...म्ण्याका दिउड़ु साँवता !

आ जाता ! माँ का मन पुलकित हो जाता, हिकोका हारगुणा नाम के उस लौंडे का गर्व खर्व हो जाता, कंध-समाज में नाम हो जाता, और.... और इस बरसाती ठंड में मकड़ी के जालों-भरे सूखे पत्तों के खोल की बरसाती में देह की गरमाहट बचा-बचाकर वन-वन के कीचड़-पत्थर में खट मरने से जान बच जाती। यह ठीक है कि वह साङन्ना-सोमैया-सा नहीं है। सो तो वह सात जनम में भी नहीं हो सकता ! पर साङन्ना-सोमैया यहाँ मिलते कहाँ हैं ?

दिन डूबे पर धुँआँ और दारू की गंध से चेतना डुबा देनेवाली पंगतों में वह जा नहीं पाती, मन मारे अपनी मँड़ैया में ही पड़ी रहती है। पहले-पहल तो साँझों को न जाने कैसी छटपटाहट-सी लगती थी। न जाने कितने बनाव-सिंगार करके निकला करती थी ; पर अब वह बातें नहीं रहीं। काले झँवाए, पानी खाए, मुँह के ऊपर तेल मलने को हाथ नहीं उठते। जूड़े बाँधना भूल जाती है। मोटा-मैला खरुआ पहने दुबकी बैठी रहती है। लगातार झड़ी लगाए बरसती बौछारों के शब्द सुनकर साँझ-पहर नींद नहीं आती। मन हाँय-हाँय हाँफने-सा लगता है। मुँह से बोल नहीं फूटते।

इन बरसाती रातों में मन के इस रूठे अभिमान का मुँह चिढ़ाते-से कहीं ढोल-मांदल बज उठते हैं, तो किसी घर में अलगोजों के जोड़े टेर उठते हैं। जो मौसम उसे ज़रा भी नहीं रुचती, उसी में यह जाति मौज मनाती है! उनकी गीदड़ों-जैसी माँदों में दारू गरमाहट लाती है। धुँगिया मुँह को खोलता है। छोटी हो कि बड़ी हो, यह पत्तों की झोंपड़ी ही उन्हें स्थितिवान जीवन की आश्रयमय भित्ति का परिचय देती है। यह बरसात उसे धो नहीं पाती, बहा नहीं पाती।

एक माँ, एक बेटी। ले दे के बस दो ही। जब तक माँ सह पाती है, तब तक पूछती नहीं, फुसलाकर कहती नहीं कि "अकेली क्यों बैठी है बिटिया, जाके टोले-मुहल्ले में घूम-फिर क्यों नहीं आती? जा।" पर कभी-कभी गुमसानी आ धमकती है। शळपू कंध खोज-पूछ लेने आता है और उपदेश बघारने को पालथी मारकर बैठ जाता है। उन अँधियारी रातों में भी पाड़ियाणी बेटी के मुँह पर ही बारंबार डिसारी से पूछती है—"सितारों से कोई जवाब मिला डिसारी? इस पिओटी के नसीब के भले-बुरे के बारे में?" ज़हर-सा लगता है। छटपटाकर भाग जाने को जी होता है ; पर राह अँधेरी है। पठारी कंध-बस्ती है। जाय तो कहाँ जाय?

बदली के मौसम जैसे-जैसे बढ़े चलते हैं, दिउड़ू सांवता की याद सताने लगती है। चौमूँद मन की दबा-दबा रखी गई इच्छा उसे घूर-घूर कर

देखती हूँ। दम-दिलासे देती हूँ।—निश्चय ही आएगा वह ! मन-ही-मन वह कितने खेल खेलती हूँ। कितनी बार तो छाती दमा-दम धड़कने लगती है, कान के छोर तप-तप जाते हैं। फिर सारा भीतरी हरापन सूख-सूख जाता है, सारे उभार दब-दब जाते हैं, मुँह पर काला पानी फिर-फिर जाता है। पिओटी पठारी बरसात को निहार-निहारकर सोचने लगती हूँ कि नाः, अब वह नहीं आएगा ! मेघ फटने के नहीं, आसमान खुलने का नहीं, पिओटी को यहीं मरना है ! अँधेरा नहीं टलेगा, सूरज अब नहीं निकलेगा !

मन-ही-मन मानती हूँ कि मैं कोई ऐसी-वैसी नहीं, कोई मुझे कठपुतली बनाकर नाच नहीं नचा सकता। दक्खिन के उस शहर में न जाने कितनी सीखें पाके, कठिन जीवन के निर्मम संघर्ष में सीख-सीखकर बढ़ी हूँ। परीक्षा दे चुकी हूँ। कठिन परीक्षा ! कितनी बार जीती भी हूँ ! जीत-जीत कर सबों को भगा-भगा दिया है ! पर आज ? आज वही जीत हार बन रही है। जीवन विजन एकाकी है !

पर सोचती हूँ, मोह की वयस कट चुकी है। कमसिनी में ही मन अनुभवों से पक्का हो गया है। जिस समाज में बढ़ी हूँ, वहाँ मोह को हथौड़ों से पीट-पीटकर तोड़ दिया जाता है। मोह व्यापारी का काल होता है। मन का रोग होता है। देह में घुन-सा लग जाता है। जीवन के तालाब में जहाँ धीरे-धीरे तैरना होता है, जहाँ हर कहीं से लाभ उठाकर और कहीं घाटा न चुकाकर पार लगना होता है। जहाँ न कहीं अटकना होता है न तले डूबना। हाँ, हाथों में हाथ डालकर उपहार बटोरते चलना होता है। जहाँ दिन-भर के अनुमान जमा करके फूलदान सजाने के लिए पिछले दिन के सूखे फूलों को निकाल फेंकना होता है !—जहाँ यह सब होता है, वहीं, उसी माल्याणी[1] समाज के भीतर पलती आई थी वह, वहीं बढ़कर बड़ी हुई थी ! पर वे सीखें अब किस काम की ? वह संयम कहाँ काम आए ? किस अदा पर अपने को उजाड़ बैठी ?

१ मालिनों के। (जो धनियों के गुलदस्ते और उनकी स्त्रियों के जूड़े अपने फूलों से सजाती हैं।)—अनु०

मन से पूछती है। छाती को पत्थर करने की कोशिश करती है।

पर आदमी-आदमी है। कोई पत्थर नहीं। वह रक्त-मांस का बना है। कोई कल-पुरज़ा नहीं। भूल करना उसका स्वभाव है। पिओटी बेचैन हो उठती। उसकी आँखों में पठारी देश का पुरुष बस वही मण्याका दिउड़ साँवता है।

आषाढ़ बीत चला है। इस मास की महिमा आम की गुठली कूटने के पर्व में है। 'टाकू' पर्व में। इसमें बाघ-देवता की पूजा होती है। जब-तब जंगलों में बाघ-देवता की गर्जना सुनाई पड़ जाती है। लहू डर से पानी हो जाता है। उन्हें शान्त करना पड़ेगा। इसके लिए जंत्री-पत्रे के अनुसार विधान है। कंध-डिसारी ने रोहिणी-'योग' 'धर दिया'। जानी और डिसारी के मंत्रों और बेजुणी के नाच के साथ 'टाकू' पर्व मनाया गया। आम की गुठलियाँ बटोर कर कूटी गईं, मुरगी के चूज़े की गरदन तोड़कर लहू ढाला गया, बीच राह पर घुटने भर ऊँचा 'झामुड़िया' बाँध कर उसमें फूल, मुरगी के अंडे, भात और चीरेंठे का नैवेद्य चढ़ाया गया। गाँव के पास के जंगल में ढोल-माँदल बजाकर 'टाकू' पर्व की पारणा कर ली गई। पेड़ की जड़ पर लकड़ी के ऐसे खाँड़े-बरछे आदि चढ़ाए गए, जिन पर बाघ के चित्र लिखे थे। बँहगियों की बँहगियाँ आम की गुठलियाँ सँजो रखी गईं। खाद्य चुक जाने पर इन्हीं गुठलियों की लप्सी बना करेगी। इमली के बीजों का गूदा और शळप-सुपारी [1] की लकड़ी का भीतरी सत्तू भी उस समय लप्सी के रूप में अतिरिक्त-खाद्य होंगे।

'टाकू' पर्व बीत गया; पर बाघ-देवता फिर भी शान्त न हुए। खबर है, बाघ गोरू पकड़-पकड़ के खाए डाल रहे हैं। कहीं-कहीं एकाध आदमी भी उनके ग्रास बने हैं। चंपी साहूकार की भैंसों के दो चरवाहे बाघ की भेंट चढ़ चुके। खालकणा के बारिक-बूढ़े की भी वही गत हुई। कुट्टिङ गाँव के लोग लछमीपुर हाट आए थे, उनमें से एक लुहार को महाबल उठा ले गया। बड़शंका गाँव के एक कंध की बाघ से आमना-सामनी हो गई थी।

१ पृष्ठ १९७ की पादटीका देखिए।

नसीब भला था, ओड़िया-नली दाग कर किसी तरह जान बचा के भाग आ सका। बदली के दिनों में चर्चा सदा बाघ की ही रहती है। खबरें जाने कैसे-कैसे फैल-फैल आती हैं। बचे लोग मरे हुओं की सोच-सोचकर जुड़ी हथेलियाँ माथे से सटाके 'जुहार' करते हैं और गुहार करते हैं कि 'विपदा न पड़े!'

नित्य वही-की-वही बातें सुनकर कान घिस जाते हैं। बौछारों वाले अंधड़ नित्य के दृश्य हैं। कभी बदलते ही नहीं। वर्षा का ज़ोर बढ़ने लगा, काम लगभग बन्द हो आया। कितने ही वीर-बाँकुड़े, कितने ही दुस्सा-हसी, ज्वर, खाँसी और छाती के दर्द से पटरों से पड़-पड़ गए। जिधर देखो उधर ही जंगल बढ़ गए हैं, घास-फूस बढ़ गई है, गंदगी बढ़ गई है। जानी-पहचानी राहों पर पेड़ उग-उग आए हैं, पत्थर खिसक-खिसक आए हैं और राहों की पहचान बदल-बदल गई है। 'झीलों'-नालों में पानी भर गया है। दस हाथ चौड़े 'झोले' तक का भी कोई विश्वास नहीं। कौन जाने कब बहा ले जायँ! अँधेरे और बादलों की भाप के कुहरे में बाघ औचक ही झपट ले जाते हैं। नदियों में 'साठी' साँप का खतरा रहता है। साठी साठ हाथ लम्बा होता है और धागे-सा पतला। देह में लिपट जाता है। और लोग यह भी कहते हैं कि वह अपने शिकार की आँखें काढ़-काढ़कर खाता है। सारे भय पीछे डाल दो और साहस करके निकल भी पड़ो, तो रपटीली काई-भरी चढ़ाई-उतराई की चटियल राहों पर हवा एक भी दशा उठा नहीं रखती। और कहीं आगे-पीछे या दाँए-बाँए पाँव खिसके तो जान से हाथ धो लेना पड़ता है।

काम-काज बन्द हैं। भीषण झड़ियाँ लगी हैं। सूझ-बूझ हेरा देती हैं, चेतना हवा कर देती हैं। पिओटी पूछती है—"ये झड़ियाँ कब तक लगी रहेंगी माँ?" उसके प्रश्न में रूठे मान-अभिमान का तीव्र स्वर माँ पहचान नहीं पाती। ढारस बँधाती कहती है—"अब ये बादल और कितने दिन बरस ही पाएँगे भला? बहुत ज़ोर मारने लगेंगे, तो लोग 'बीमा'-राजा

को पूजा 'खिलाकर' बन्द नहीं करा देंगे क्या ? पूजा ऐसी चीज़ है कि उससे वर्षा कराई भी जा सकती है और बंद भी कराई जा सकती है। बात-बात पर पूजा देख-देखकर पिओटी हैरान रह जाती है। आज यह पूजा, तो कल वह पूजा, रोज़ का यही धंधा है !—"ऐसा ही मौसम रहा, तो यहाँ हम जी भी पाएँगे माँ ? देखा, कैसी दुरदुर-छीछी लगी रहती है, कैसा अपमान होता रहता है ? इससे तो कहीं अच्छा वहीं था। वह मैदानी देश इतना अखरने क्यों लगा था माँ ? ऐसा तो था नहीं कि वह देश कोई काटने दौड़ता रहा हो ?"—माँ जवाब देने की परवा नहीं करती। जो लोग वनदेश में नया-नया आते हैं और लगातार बीस-बीस, तीस-तीस दिन सूरज नहीं देख पाते, अँधेरे-ही-अँधेरे का राज देखते हैं, वे सभी पहले इसी तरह सोचते हैं। फिर धीरे-धीरे परच जाते हैं, हिल जाते हैं, और विचार बदल लेते हैं। पर यहाँ में और मैदानी देश में तुलना ? बुढ़िया सोच तक नहीं सकती ! ऐसे प्रलयंकर अंधड़-झक्कड़ वाली वर्षा में आदमी और कुत्ते सिमटे-सिकुड़े घर में बन्द रहते हैं, काम-धंधे बंद रहते हैं, मजूरी-पाती बंद रहती है। फिर भी सब को खाने को कुछ-न-कुछ मिल ही जाता है। अपने घर में न हो, तो साँवता के घर से आ जाता है। अपना देश है यह ! अपने देश में कोई भला-बुरा घटित हो गया, तो सभी मिल-जुलकर सहायता करते हैं।

उस दिन दिया-बाती की बेर हो गई थी। 'तर्लीतर्ली' ओढ़े, पानी छपछपाती, गुमसा की बुढ़िया आ पहुँची। चिल्लाई—"अरी ओ पिओटी की माँ, अरी ओ पाड्डियाणी, अरी तू घर में है न ?" पिओटी उधरवाली कुठरिया में रसोई पका रही थी। गुमसानी का आग्रह-अनुग्रह आज बढ़ गया था—"ला ला, एक घुँगिया तो बढ़ा। ओह, बड़ी ठंड है ! हाँ, सुना तूने ? सुना कुछ ?"

बुढ़िया बस्ती का अखबार है। बस यही तो इतना शौक़ है उसे—"सुना, पिओटी की माँ ? म्यापायु के साँवता का चाचा आया है।"

पिओटी चौंक पड़ी। हाँ, आज की खबर ताजगी-भरी है ! अच्छी खबर है !

पिओटी की माँ अनमनी-सी बोली—"एँ ऽऽ ?"

"म्ण्यापायु का लेंजू, री ! सरबू साँवता का भाई। आह, बड़ा भला आदमी था सरबू साँवता !"

बुढ़िया जल्द कह क्यों नहीं डालती ? ऐसे घोर अंधड़-पानी में चाचा अकेला तो आ नहीं सकता, भतीजा भी साथ-साथ जरूर आया होगा !

"बड़े दिनों से देखा न था री ! कैसी गत हो गई है बेचारे की ! आह, सरबू मर गया, घर उजड़ गया !"

दिउड़ साँवता कहाँ गया ? अबकी क्या लाया होगा ? वही लाइयाँ ? आना ही हो शायद ! सीधा आ जाने की आदत ही नहीं उसे।

"सुना, पिओटी की माँ ?... गाँव-भर में हाट-सी लगी है। इस वर्षा में भीगता-बूरता कैसे आया ? जीता कैसे बच आया ? अचंभे की बातें हैं ! वैसे ही बुखार में पड़ा है। सोभेना के दरवाजे। क्या-क्या बक गया है !.... यही था दिउड़ के माथे में ? दिउड़ जैसा बेटा....."

"क्या हुआ, क्या हुआ है दिउड़ को ?"—पिओटी चिड़चिड़ा उठी—"माँ तू ने देखा ही है, उस बार अपने घर आया था....."

गुमसानी कुछ न बोली। तंबाकू चबाती रही। उस लड़की को बड़ी ही कड़ी निगाह से ताकती रही। पिओटी चुप हो गई। धुकपुकाते मन से साँसें रोके पूरी खबर सुनने की राह देखती रही। दिउड़ अब तक आया नहीं.....

बुरी बात होगी !... हाँ बुरी बात न होती, तो ज्वर का मारा उसका चाचा यहाँ आता ही क्यों ?

गुमसानी फिर अपनी कहानी कहने लगी। धीरे-धीरे पिओटी की दुश्चिंता कट गई। उसके मुँह पर एक नीरव हँसी छा गई। गुमसानी कहे जा रही थी—"दिउड़ ने अपने चचा को मार भगाया है, अपनी स्त्री पर

अत्याचार करता है, दारू और उद्धतपने के पीछे न जाने कितने नियम भंग कर डाले हैं। दिउड़् निठुर है, निर्मम नीच है, पाखंडी है।"

दोनों बूढ़ियाँ उसी चर्चा में लगी रहीं। हारगुणा साँवता ने ण्यापायु के लेंजू को अभय दिया है, सहायता की है, रैयत होने में उसे कोई बाधा नहीं होगी ; पर लेंजू चाहता है कि चंगे हो लेने पर जंगल में एक खेती-मँड़ैया बनाए। पुराने ढंग-का कंध है। तले-हाथ होकर लेना नहीं चाहता। लोग उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। वह गाँव का अतिथि है। दिउड़् की सभी निंदा कर रहे हैं। बहन उसने कहीं और ब्याही। बात पक्की हो गई थी, तोड़ दी। वचन देके पूरा नहीं किया। उसके जंगल में और गाँव के ढोर पैठ जायें तो उनकी खैर नहीं। जाने कहाँ खो जाते हैं। सारा दिन दारू पी के घुत्त रहता है। छिः, वह भी कोई आदमी है। अमानुष है, अमानुष!

पिओटी ने संतोष की साँस ली। पहला आश्वास तो उसे यह मिल गया कि दिउड़् भला-चंगा है, उसे कुछ हुआ-हवाया नहीं है। फिर यह सुनकर तो उसका मन और भी हुलस उठा कि किसी अनजाने कारण से वह अपनी स्त्री और बच्चे की ओर आँख उठाकर नहीं देखता। बाकी सारी बातें गधे के सींग में गईं। मन के भीतर जो छवि थी, उससे ये बातें कहीं मेल नहीं खातीं। दिउड़् आ जाय, तो इन सबकी स्पष्टता वह माथा ऊँचा करके कर देगा।

लाख निंदा सुन लेने पर भी यह विश्वास हरगिज़ नहीं हो सकता कि दिउड़् बुरा है। लोगों के जो जी में आए, कहते रहें।

गाँव में कई दिनों तक यही चर्चा रही। सोभेना के ओसारे का आधा भाग बाँस की टट्टी से घेर दिया गया है। वहीं एक आदमी बसा हुआ नजर आता है। टूटा-टूटा-सा अधेड़ आदमी है। चेहरा तो एकदम भयंकर है उसका। बच्चे पास फटकने का जीवट नहीं पाते। औरत देखते ही उसकी चितवन अजीब तरह से टँगी रह जाती है। बैठा-बैठा धुँगिया फूँकता रहता है और खाँय-खाँय खाँसता रहता है।

वह दिउड़् का बैरी है।

गाँव का अतिथि है।

गुमसानी रोज़ साँझ को सप्यापायु के साँवता के घर की ख़बरें सुना जाती है। साँवता की स्त्री के प्रति, उसके बच्चे के प्रति गुमसानी की सहानुभूति का कोई ठिकाना नहीं। ऐसा लगता है मानो वे उसके अपने ही पेट की संतानें हों।

पिओटी सोच में पड़ जाती है। सोच-सोच कर अपने मन को समझाती रहती है। दिउड़् रास्ता साफ़ कर रहा है। घर की सफ़ाई कर रहा है। किसी दिन औचक ही आ धमकेगा। अपनी बात सोचने पर वह समझ पाती है। इतनी विपदा में भी उसका एक मन है जो ज्यों-का-त्यों दृढ़ रह गया है। अपनी इतनी दुर्बलता को क्षमा करने की सामर्थ्य उसमें है।

सतासी

अंधड़, अंधड़, अंधड़ ! मेंह और अंधड़। अंधड़ बारंबार जड़ से हिला-हिलाकर उखाड़ फेंकता है, या धँसा डालता है। बाहर की ओर देखना पार नहीं लगता। आदमी अंदर की ओर देखना चाहता है। वह मापता-तोलता है, याद करता है, व्याकुल होता है, छटपटाता है, व्यर्थ बाट जोहता रहता है कि जाने कब क्या घटित हो जाय। कब, कब, कब ?

पर कोई घटना घटित नहीं हो पाती। ऐसी, जिसे हाथों में लेकर देख सके, अपनी आँखों देख सके और फिर यह कह सके कि हाँ, यह घटना घट गई है। सारी तपस्या उस एक अनजानी घटना के लिए ही होती है। बाहर की प्रकृति एक चित्र-पीठिका बनकर आदमी को उसकी अपनी निजी चिंताओं का दर्शन कराती है। बरसाती बूँदों की चोटों की गूँज मन की गहराइयों में कोई बेसुरी रागिनी बनकर उठने लगती है, अछंद, ग्रामहीन, अपूर्ण रागिनी बनकर।

सँजो रखे महुए के साथ आम की गुठली का गूदा और इमली के बीज का गूदा मिलाकर घर की घरनी दो हँड़िया खाद्य तैयार किए रहती है। वही पुरातन गँवई रीत ! वही पुरानी बरसाती छवि। चारों ओर से घिरे पठारी बादल नन्ही-नन्ही झोंपड़ियों को झकझोरते उसी तरह बरसते रहते हैं। यहाँ जो भी है, पुराना है।

लेंजू कंध चला गया है। हलवाहों-चरवाहों और हाटियों के मुँह से न जाने कैसे-कैसे यह खबर आ पहुँची है कि वह बंदिकार में बस गया है। दिउड़ू साँवता चुपचाप सुन लेता है, कोई मतामत नहीं देता। भैंस की-सी चुप्पी साधे रहता है। बातें कम करता है। ओसारे में स्थिर भाव से बैठा एक पर एक धुँगिया भसम करता रहता है। उसे कुछ भी नहीं सुहाता। हर बात से कुढ़न-सी होती है। गाँव सारी बातें जानता है; पर कोई भले-बुरे की चर्चा करने नहीं आता।

घटना घट गई। लेंजू कंध को मार-पीटकर भगा दिया। अब मन इस बात की बाट जोहता रहता है कि कोई आके गालियाँ देता, धमकाता, सफ़ाई माँगता और वह कैफ़ियत देता, समझाता ; पर यहाँ तो कोई पूछता ही नहीं। उस दिन जांबा कंध इधर से निकला, तो मठियाता-सा जान पड़ा। बूढ़े जांबा कंध की बुढौती से दिउड़ को सहानुभूति है। सिर नीचा किए दिउड़ सांत्वना अपेक्षा करता रहा ; पर जांबा कंध अटका तक नहीं।

वह दिन-भर बैठा-बैठा न जाने क्या सोचता रहता है। पुयू देख-देख जाती है ; पर टोकने का साहस नहीं पाती। दिउड़ ताकता रह जाता है। कुठरिया में लेंजू कंध की खटिया पड़ी है। फटे-चीथड़े कपड़े-लत्ते लटक रहे हैं। पुरानी फटी 'तर्लातर्ली' दीवार मे लगी तंबू-सी तनी है। उसी कमरे में उसकी लाठी भी है। कबूतर के इसी दरबे से उठकर वह आदमी उस दिन भोर-ही-भोर बाहर चला गया था, जिसकी बात दुबारा सोचने को भी जी नहीं चाहता। रोष, ईर्षा और अवहेलना से उसके प्रति मन एकदम फट गया है। जी होता है, आदमी उस सूनी कुठरिया को मुँह लटकाए देखता रहे। कुठरिया ज्यों-की-त्यों पड़ी है। धुले-पुँछे अतीत की यादों से जुड़े किसी 'न-है, न-था' जैसे आदमी की परछाईं-भर वहाँ रह गई है। घर की छान तले निलचट्टे उड़ते फिर रहे हैं। रीता,—सूना,—यही रीतापन-सूनापन दिउड़ को लेंजू का जवाब है।

कितने दिन हो गए?—नाः, कितने बरस हो गए?—बरसात वैसी-की-वैसी ही लगी है। समय की कोई माप-तोल नहीं मिलती। घर के एक किनारे लेंजू काका की कोठरी जस-की-तस पड़ी है। मुँह के सामने पठार का गाढ़ा अँधेरा है। मेंह के तीर छुट रहे हैं। गलियारे में पानी बह रहा है। पीछे आँगन में एक स्वास्थ्य-हीना स्त्री कल की तरह अनवरत काम किए जा रही है। यह स्त्री ही उसके पौरुष का पूर्ण विराम बनी हुई है। एक बच्चा है, जो कान फाड़े डालता है। चारों ओर मानो कोई विद्रूप धिक्कार छाया हुआ है, जो छिप-छिपकर मन को बेधता रहता है। दिउड़ गुमसुम बैठा रहता है। दसरू कुत्ते तक को मारता-पीटता या भगाता नहीं है। दसरू

पीछे ठंड से रोंगटे खड़े किए सोया रहता है। कितने दिन हो गए ?—उस पहले दिन की तरह ही बारिक रोज दारू का मटका लिए आ पहुँचता है। दिउड़ सांवता गरजता है—"बारिक !" बारिक दारू बढ़ा देता है। फिर और कोई बातचीत नहीं होती। बारिक अपनी चमड़ी बचाना जानता है। दारू पी-पी के दिउड़ किसी घटना के घटने की राह देखता है, प्रस्तुत होता है कि अब कोई-न-कोई घटना घटेगी, ज़रूर घटेगी। अँधेरा कैसे बढ़ने लगा है। आवा-जाही बंद पड़ गई है। लोग अपने-अपने घरों में बंद हैं। फ़सल खेतों में आप-ही-आप बढ़ रही होगी। दिउड़ केवल उदासी लिए बैठा रहता है। सोचने की फुरसत मिली है। गड़बड़ मचाने को कोई नहीं। समाज उसे भूल गया है।

उस दिन साँझ को मेंह का बरसना थोड़ा थम-सा गया था। घोर अँधेरा था। बारिक के आने की बेर टली जा रही थी। टोले के ओसारों में घर-घर से रोशनी की मंद-मंद दौंक छिटकी पड़ रही थी। अँधेरे में कोई इधर ही चला आ रहा था। अहा, दारू की गंध, दारू की गंध। दिउड़ सांवता गलियारे में उतर पड़ा।

"सांवता !"

"कौन रे ? ...."

"मैं, सोनादेई, दारू ला दी है..."

"बारिक कहाँ गया ?"

"छाती के दर्द में पड़ा है सांवता..."

अँधेरे में एक आकृति-मात्र है। और कुछ नहीं दीखता। दारू का मटका लेने को हाथ बढ़ाए तो हाथों में पड़ गई सोनादेई की कोमल बाँह। गोल-गोल नरम-नरम, मांसल। आकृति गड़ी कील-सी खड़ी रही। हिली-डुली नहीं, टली नहीं, बाँह नहीं खींची।

"लाई है ?"

"हुँ-ऊँ।"

दिउड़् कुछ देर तो वैसे ही वह बाँह पकड़े रहा। फिर हाथ उठा लिए और दारू के मटके को पकड़ लिया। थोड़ी-सी पी। पूछा- "आज तू आई ?"

"हूँ-ऊँ !"

"तेरा वर ?"

"बूढ़े की छाती में तेल मल रहा है।"

"तुरुंजा छोगा ?"

अँधेरे में हँसी सुनाई पड़ी। दारू की गरमाहट लहू में खेल गई। हँस-हँस के सोनादेई ने कहा- "तुरुंजा डरा । अच्छा, . . . मैं चली साँवता।" दिउड़् ने कुछ न कहा । अँधेरे की आकृति दो पग भी गई न होगी कि दिउड़् ने पुकारा—"हे-ए. . . ." ! सोनादेई रुक गई । दिउड़् उसके पीछे लग गया ।

मन के भीतर अँधेरे के जिस पहाड़ को इतने दिनों तक छिपाए रखा था, उसमें आज एक सोता फूट पड़ा । सोते की धार में अँधेरे की बड़ी-बड़ी चट्टानें कट-कट कर गिरने लगीं । बाहर फैले अँधियारे में अलबत्ता कोई विराम न था। मेंह-पोंछन फुहियाँ झींसी-झींसी पड़ रही थीं ; पर दिउड़् के मन के अँधेरे में एक चहलपहल-भरी गति आ गई है। चेतना को डुबोने-वाला कोई वेग बह चला है । कुछ भी सूझ नहीं रहा, कुछ भी समझ में आ नहीं रहा।

बात कल की-सी लगती है ; पर बात है उस साल की, जिस साल राजा मरा था। नंदपुर के अंचल में, बरिगिमुठा पहाड़ के पठारों पर और पट्टाङि के पास के पहाड़ों पर ऐसा ही एक अँधेरा सोता फूट पड़ा था । तल-हटी के नन्हे-नन्हे से गाँव में लोग निश्चिन्त सो रहे थे ; पर आदमी की बस्ती की उस सुस्थता, गरमाहट, और भरोसे की लापरवाही के ऊपर पहाड़ ढह पड़ा। गाँव की कोई निशानी तक न रही। एक भी आदमी का कोई पता तक न लगा। जो उत्तुंग चोटी युगों-युगों के सुस्थिवाद का दायित्व सँभाले खड़ी थी, वह यकायक पलटकर नीचे आ पड़ी। वहाँ का चित्र सदा के लिए बदल गया। कौन जानता था ? किसने यह अटकल लगाई थी कि पहाड़ तले कहीं

माटी-पानी उछल पड़ने को तैयार हो रहा है ? कौन इस खोज में लगा था कि पहाड़ का 'दबाव' कितना है ? कौन जानता था कि दिन-पर-दिन रूँध रखे गए विप्लव के वेग, चट्टानें ओढ़े बैठे विशाल-विकराल असुरों की तरह इन पहाड़ों की जड़ों में दुबके बैठे हैं ? घटना घट गई, सब-कुछ भहराकर ढह पड़ा और गड़गड़ाता हुआ लुढ़कता रसातल को चला गया।

अँधेरे की परछाई चल रही है। मुँह नहीं खोलती, बात नहीं करती। बस आगे-आगे चल रही है।

सज़ा देगा शायद ! देगा नहीं ? गाँव का साँवता है। गोष्ठी का रखवाला मुखिया है। पुरखों की सँजोई रक्त-शुद्धता को अशुद्ध करने देगा ? गोष्ठी की बुनियादें हिलने देगा ? कंध-संसार को अकंध होने देगा ? जाति-जाति के बीच अभेद्य बाड़ें लगी हैं। उसमें पानी नहीं पैठ सकता। हवा तक नहीं पैठ सकती। यही मरे-खोए बूढ़े-पुरखों का निर्देश है। जाति को अटूट रखने के लिए न जाने कितने प्रकार के विधि-विधान हैं, कितने प्रकार के घृणा-द्वेष के संस्कार हैं। इन्हें भंग करनेवालों की सज़ा लहू की धारें बहा के ही पूरी हो पाती है।

चली जा रही है वह ? 'डंबँऽ' ! 'पाण' ! गंडा, अजाति ! कंध नहीं वह, किसी पुरातन काल में कंध जाति के द्वारा विजित डंबँऽ जाति की है! कंध जाति में कभी घुल-मिल नहीं सकती यह जाति। सिर्फ इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए मानव के मन में जन्म के दिन से ही न जाने कैसी-कैसी धारणाओं के बीज बोए जाते रहते हैं। वह डंबँऽ है। मानुषी है तो हो, डंबँऽ तो है। मानुषी चेहरे और मानुषी खाद्य से ही क्या होता है ? ये तो चोर हैं, लुटेरी जाति के हैं, असत् जाति के हैं, गंडा हैं, पटकार हैं, अछूत हैं।

इसने गाँव के कम-से-कम एक को तो जाति-बाहर कर ही डाला है। गाँव का साँवता दंड देगा, अवश्य देगा, निर्मम-कठोर दंड देगा। मामूली-सी औरत है। सीधी गरदन, थोड़ा-सा नरम माँस, हाथ की मुट्ठियों में सिमट आना कोई बड़ी बात न होगी। धीरे-धीरे मुट्ठी कसती जायगी,—कंध

साँवता-का दंड, निर्मम दंड। तले दरतनी, उपरे दरमू। मुझे दोष न लगे! मुझे पाप न लगे! तुम सिरजते हो, तुम्हीं खाते हो। हे देवता, मुझे दोष न लगे। गाँव का साँवता दंड देगा। दंड दे दिया होता तो अच्छा था।

गाँव की कंध-बस्ती का छोर आ चला था। बारिक के घर की ओर, खाल की तकवैया मँड़ैयों की ओर, निर्जन राह चली गई है। राह पर अकेला अँधेरा ही है। अँधेरे में धीरे-धीरे सोनादेई चली जा रही है। भागने की कोई तैयारी नहीं कर रही। उसके पास ऐसा कुछ है ही नहीं, जिसके खो जाने का डर हो। यह काजल-काली अँधेरी रात, तारों की टिमटिम तक नहीं। देह सब-कुछ सह चुकी है। इससे भी काला, इससे भी अँधियारा, इससे भी निठुर, कोई जीवन हो ही नहीं सकता। पीछे-पीछे नशे में धुत्त साँवता आ रहा है। सोनादेई चलती चली जा रही है। निर्जन राह आधी पार हो चुकने पर सोनादेई ने यकायक गुनगुनाना शुरू कर दिया। पहले धीमे-धीमे गुनगुनाई। फिर अपने में भरोसा जगा, और भी स्पष्टतर स्वर में गाने लगी। धीरे-धीरे आवाज़ ऊँची करती गई और फिर गला खोलकर गा उठी। अँधेरी रात में अकेली है तो क्या, कोई परवाह नहीं, कोई डर-भय नहीं। मायके के गाँव केलार में भी पहाड़ों-ढलानों की राहों में अकेली पड़ने पर डंबों धाङ्गड़ियाँ गीत गाती हैं। डंबुणी राहों में गाती है। गाँव की पंगतों में तो डंबुणी गाना सिर्फ सीखती है। लोग कहते हैं, डंब-जाति माया-विनी जाति है। गीतों में रिझा लेती है, भरमा लेती है। अदाओं में भुलाकर माल चुरा लेती है। सोनादेई के मन की गहराइयों में क्वाँरे दिनों के गीतों की धुनें गूँज रही थीं। अँधेरे और मौसम का यह सारा 'योग' उसे नया पुनर्जन्म दे रहा था।

दिउड़ साँवता ने पुकारा—"सोनादेई, हे सोनादेई, तू गीत गा रही है?"

जवाब में वह हँसी। झड़-झड़कर नन्हे-नन्हे टुकड़ों में बिखर गई पंखुड़ियाँ फिर जुड़-जुड़कर फूल बन गई हैं। अँधेरा ओढ़े चाँदनी की माया चुपड़े हुई, वह टलमल-टलमल-सी फूल बन गई है, खिल उठी है। छूने

जाओ, तो बिलाकर धूल बन जाती है, हट आओ तो फिर जस-की-तस फूल बन जाती है। मानव-पशु के मन की गहराइयों में उसके नाच की डोर का अनदेखा अंकुश रहता है। वह खुद कुछ भी नहीं, एक ख्याल भर है, बस——

"गीत गाती है मोनादेई ?..."

"कैसी रात है ? कैसी राह है ? साथी-संघाती कौन है ? डर लगता है साँवता..."

मोनादेई फिर गाने लगी। दिउड़ू साँवता पास लग आया।

• • •

उसी रात। पुयू हाकिना को गोद में भरे सो रही थी। माँदगी से अकुलाया उसका मन चिहुँक उठने में अशक्त था। वह सपने में सुख ढूँढ रहा था। आसमान साफ़ है, तारे झिलमिला रहे हैं। टहाटह लाल एक नन्ही चिड़िया अपने बच्चे को लिए उड़ी फिर रही है। प्रकृति की सुषमा का हलका-हलका सहारा लिए आसमानों की ओर उड़ी चली जा रही है। बच्चे को आहार देती है। चोंच मिलाकर बच्चा आहार लेता है। कितनी ही बार पुयू आप बच्चा बनकर सोचती है, कितनी बार वह टहाटह लाल माँ-चिड़िया बन जाती है। कभी लहराती-लहराती भरी-पूरी खेतियों की फ़सल के साथ लहराती है। भावनाएँ सँभाल नहीं पाती। आहार का चुगाया जाना देखती रहती है। जाने क्यों आँखों से धार-धार आँसू बह जाते हैं।

आधी रात को दिउड़ू लौटा। दसरू भूँका। दिउड़ू ने डाँटकर भगा दिया। लौटकर किवाड़ खटखटाई। पुयू की नींद खुल गई। च्चु:-च्चु: करती हाकिना को सहलाया और ऊँघ-से मलमलाती आँखें मुँदी-अधमुँदी किए जाके किवाड़ खोल दी। लौट के फिर सो रही। दारू की अति-उग्र गंध आई। दिउड़ू गरजता हुआ जाने क्या-क्या कह रहा था। नींद के भोरपन में ज़रा-ज़रा सी याद आई कि वह साँझ झुटपुटाने पर गया था, कुछ खाया-पिया नहीं है। अब और मनावन करने का जी न हुआ। पुयू फिर सो रही।

सुबह उठके दिउड़ू और दिनों की तरह मन मारे बैठा नहीं रहा। मौसम वैसा ही था ; पर दिउड़ू 'तर्लातर्ली' बाँधकर खेत की ओर मुड़ा।

आज उसके प्रताप में तेज बल उठा है। वह सबके ऊपर साँवता है। बारिक के ओसारे में अपेक्षा करता रहकर उसने बारिक के बेटे बाळमुंडा को भेजकर जांबा कंध को बुलवाया। बारिक छाती-दर्द के बहाने नशे में डूबा घर के भीतर सोया है। सोनादेई किवाड़ के पास नीचे को मुँह गाड़े गुमसुम खड़ी है। शांत, चिकनी-चुपड़ी, मौन-मुँही, मांसल सोनादेई। आँखें उसकी उनींदी-उनींदी हैं। सदा की भाँति फटी लुगड़ी पहने है। वेश-भूषा में कोई सज-धज नहीं है। दिउड़ साँवता जांबा कंध के आने की बाट जोह रहा है। सोनादेई से उसे कुछ कहना नहीं है। मन के पिछवाड़े में कोई चीन्हाचीन्ही-सी जरूर चल रही है कि रात अँधेरे में किसी ने गीत गाया था ; पर उसके बाद न जाने कितने मेंह टूट-टूटकर बरस चुके हैं। रात की कहानी धुल-पुँछकर अतल 'झोले' में समा चुकी है। यही अपनी देह है, नीरोग, कर्मठ, अक्षत। यही अपना गाँव है, मैं इस गाँव का साँवता हूँ। मन के भीतर अपने कर्त्तव्य का बोध है, कहीं कोई दुविधा नहीं है।

बाळमुंडा के संग जांबा कंध आया। डंबँऽ के अहाते में पैठने से हिचका। —दिउड़ बुला रहा है। अवज्ञा और घृणा दरसाता जांबा कंध बारंबार थूका, कपड़ा लपेटकर पोटली मुँह में कोंच ली और जाके दरवाजे के सामने की ओलती-तले साँवता के आगे खड़ा हो रहा।

"तुझे बुलाया है जांबा बूढ़ा..."

"थूः। हाँ....."

"मेरे खेत में चार दिन काम करा दे..."

"एँऽऽऽ?"

"मेरे खेत में चार दिन काम करा दे, चल 'गुड़िया' को चलें...."

"मैं जाऊँ? मेरा अपना काम कौन करेगा?"

"बात टालेगा? रैयत होके भी सांवता की जरूरत में काम नहीं आएगा? अच्छा, नहीं तो न सही। मत कर।——"

जांबा कंध छटपटा उठा। क्या करे, क्या न करे। कुछ सुझाई नहीं पड़ता। हाँ, यह तो ठीक है कि साँवता के 'काम कर' कहने पर रैयत काम करने

को बाध्य है; पर कंध के गोष्ठी-मान गाँव में इस चलन का कोई ज्यादा रिवाज नहीं है। यह ठीक है कि सरबू सांवता कभी-कभार बुला भेजता था; पर बहुत कम। और दिउड़ू सांवता ने तो पूरी छूट दे दी थी। अब यकायक यह आफ़त कहाँ से आ पड़ी?

"चुप लगा गया जांबा? जी न चाहता हो तो 'नाही' कर दे।"

थूक निगलता-निगलता जांबा बोला--'नाही' क्यों कहूँगा सांवता? तब यह जरूर है कि गाँव में इतने रैयतों के अछते यह बेठ मुझी पर क्यों लद रही है? और भी तो कितने ही हैं?"

"यह सब मैं नहीं सुनूँगा जांबा। अकेला पड़ गया, खेती-बाड़ी बड़ी है, तेरे पास तेरे बेटे हैं। पहले तू चार दिन काम कर दे। यह बेठ-बेठ की रट क्या लगा रखी है? यह राजा-घर या साहेब-घर की बेठ है? काम माँगा, काम दे।"

"अच्छा!"--कहकर जांबा सिर गाड़े चला गया। डिसारी के लेखे में उसका जनम 'बेड़ताइ' योग में हुआ है। जो भी उत्पात आएँगे, पहले उसी के सिर घहरेंगे।

दिउड़ू खेत को चला। आज सबेरे ही झड़ियाँ थम गई हैं। मेघों की ललौंही-ललौंही मूँगिया भाप भर रह गई है। धूप नहीं है; पर उजेला फैल गया है। हवा तेज है। आज कंध 'गुड़ियों' में चहल-पहल मच गई है। इतने दिनों के काले-कलूठे अँधियारे मौसम की पो उजली-मूँगिया मेघमय भाप के रूप में फट गई है।

अट्ठासी

पठारी बरसात ने मुहलत दी है। चारों ओर निरौनी की धूम है। मेघों की छुट्टी है, आदमी को काम करने का अवकाश मिला है। एक दिन को भी उधर से आँखें फिरी नहीं कि चौकन्ने शत्रु की तरह घास-फूस फ़सल को दबोच बैठते हैं। नतीजा यह होता है कि पकने के समय 'भरण'-का-'भरण'[1] अनाज नष्ट हो जाता है। 'कोरापुटिया' विलायती पौधा है। उड़-उड़कर कहाँ-से-कहाँ व्याप जाता है। किसी की फुलवाड़ी से तो किसी की बाड़ी से। लाख मारो, मरता ही नहीं। खात के 'बेढ़ा' वाले धान में बाँस की जाति के तरह-तरह के पौधे, नरकट, सरकंडे, खसखस आदि धावा बोल देते हैं। ढलान की फ़सलों पर जंगली पेड़ों का प्रकोप होता है। गिर्ली धातुकी-आँवला, अमरूद, इमली, कुढ़ई, केंदू। बढ़ जाने पर शत्रु माटी में जड़ें बिछा लेते हैं। इसीलिए निरौनी के इस मौसम में भोर से साँझ तक लोग खेतों में ही होते हैं। गाँव की रखवाली को केवल कुत्ते रहते हैं।

खेती-बाड़ी ही कंध-काम है। अँधेरे में विज्ञान का उजेला नहीं है। ज्ञान यहाँ वही है, जो मानव ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी पुरखों के अनुभव से सीखा है। विज्ञान के लिए माटी है, पानी है, मौसम है, बस है नहीं कुछ तो फ़सल ही नहीं है उसकी। खेती की फ़सलें बदल-बदलकर धरती का सार बढ़ाने की जानकारी यहाँ नहीं है। अभ्यास के शासित मन से जितनी जानकारी मिल गई, मिल गई। बाकी सारे काम दरतनी माता को सौंप दिए गए हैं। छोटे-छोटे बैल जोतकर बित्ता-भर धरती गोड़ ली और फिर हलके हलों से खेती कर ली। यह भी संभव न हो, तो गुड़ाई कुदाल से ही कर ली और बीज बो डाले। पहाड़ी धरती है, ऊँची-नीची, ऊबड़-खाबड़, कहीं

१ एक भरण = ८० गउणी = ८ मन (अंचल-भेद से एक भरण तोल का नाज छः मन भी हो सकता है और बारह मन भी। कटक के अंचल में आठ मन के बराबर होता है।)—अनु०

ढूह-डूँगर तो कहीं खात-खड्डे। माटी पथरीली है, चट्टानी ढोकों, रोड़ों-कंकड़ों और कंकरियों से भरी। पहाड़ तोड़ कर पैंड़ी-पैंड़ी क्यारियाँ बाँध दी जाती हैं। बिना पैंड़ीदार क्यारियों के यहाँ खेती नहीं होती। ढलानों और ऊँची-नीची ज़मीनों में ही नहीं, खात के अंदर के धनखेतों में भी ऐसी ही तले-ऊपर पैंड़ीनुमा क्यारियाँ होती हैं। 'झोले' का करारा टूटने पर उसे कुछ और चौड़ा करके बाँध बाँध देते हैं और दो साल तक पानी में बुड़ाए रखते हैं। दो साल के बाद पानी के भीतर से 'अटाळ' खेत निकलते हैं। 'अटाळ' निकालने के लिए बड़ी कड़ी और चौकस चौकीदारी रखनी पड़ती है। ज़रा भी गफ़लत हुई, तो 'झोले' में नया झरना उतर आता है और धार के वेग से ज़मीन को बहा ले जाता है। मिट्टी की जगह बालू रम जाता है। यहाँ बाँध का बल ही खेती का बल होता है। 'अटाळ' में तंबाकू की फ़सल होती है, रबी होती है। 'झोले' के भीतर के गहरे खेतों में धान होता है। यह धान खूब उपजता है। एक-एक झमाट में सोलह-सोलह, अट्ठारह-अट्ठारह बालियाँ लगती हैं। धान 'पदर' में अर्थात् कम ऊँचाई वाले खेतों में भी होता है। खेत का रस घट जाने पर उसमें मँड़ुआ, साँवा, अलसी, काँदुल-सी बड़ी अरहर आदि उपजाते हैं। पहाड़ी ढलानों पर नीचे मँड़ुआ, उसके ऊपर साँवा और उसके भी ऊपर चावली-बंगा के पेड़ों-जैसे ऊँचे-ऊँचे मोटे-मोटे पौधों वाली काँदुल अर्थात् बड़ी अरहर की खेतियाँ होती हैं। पहाड़ की चोटियों के आस-पास बड़े-बड़े रेंड़ के पेड़ वाले खेत होते हैं। ऊँचे पहाड़ों पर चकले-के-चकले 'पोड़ू' चलाकर गंजे पाँतरों में फ़सलें उगाई जाती हैं। पहाड़ के किनारे-किनारे जंगली जानवर उतर-उतर कर खड़ी खेती चर-चर जाते हैं। रखवाली करनी होती है। और रखवाली में बाघ और साँप के खतरे बने रहते हैं। मौसम के दुर्योग लगे रहते हैं। खाद के नाम पर इन खेतों को कठकोयले की राख तथा छिड़काव जैसे गोबर के सिवा और कुछ नहीं मिलता। 'पदर' खेतों को बीच-बीच में चौमासा-मघार छोड़ कर विश्राम कर लेने दिया जाता है। ऐसी विकट परिस्थिति में भी दरतनी-माँ दया करती है,—"खेती सियाड़ी-बेलों-सी उपज जाय"

की कंध-विनती सार्थक होती है। पहाड़ से सड़े पत्तों की खाद और जंगली मिट्टी का सत बह-बह आता है, जंगल की फसल जंगल जैसी बढ़ती है। अनाज काफ़ी होता है। धरती अधिक है, लोग कम हैं।

बरसात के बीच-बीच में यही दृश्य दिख-दिख जाते हैं। मौसम खुला है, मेघ-देवता 'बीमा'-राजा का एक धावा मुड़ के पीछे हट गया है, केवल कुहरा रह गया है। हलके-हलके मेघ हलकी-हलकी बौछारें बरसा जाते हैं। थोड़े दिनों के ऐसे ही विश्राम के बाद फिर अटूट झड़ियाँ लगेंगी। तब तक के कुछ दिन खेतों पर धूम-धाम, चहल-पहल और कोलाहल के दिन रहेंगे। रंग की कणिकाएँ माटी को छोड़कर आकाश को उठ गई हैं। पेड़-पौधों और लता-बेलों की ठेलाठेली लगी है। पहाड़ का राज्य ओदेपन से चिपचिपा और उजेले से झिलमिला है। खेतों की उपत्यका को मुखरित करते और आकाश को हुलसाते-उछाहते झुंड-के-झुंड सुए उड़ते फिरते हैं। ढलानों पर दल-के-दल मोर हैं। आम के पेड़ों पर भी मैना के अनेक झुंड हैं। और इन सबकी चहक-चहचहाहट से भी कहीं मनोहर स्वर मनुष्य का कंठस्वर है। जहाँ भी खेत हैं, वहीं भीड़-के-भीड़ लोग हैं। कहीं काम की बेकली में गाली-गलौज का बाजार गर्म है। कमेरे लोग नरम-नरम भूमिकाएँ बाँध-बाँधकर बातें करना नहीं जानते। यहाँ के सारे नाते अखाड़िए होते हैं। क्या आदमी के साथ, क्या बैलों के साथ और क्या मिट्टी के साथ! जहाँ-तहाँ चिड़ियों की पाँखों-सी 'तर्लातर्ली' ओढे बाड्डियाँ एकट्ठे झुकी काम किए जा रही हैं और एक तान से गाए जा रही हैं। तानें लगातार उठती रहती हैं, गीतों के सिलसिले कहीं टूटने नहीं पाते। वैसे ही पहाड़ की खोहों-खातों से फेफड़ों का पूरा दम लगाए टेरते जोड़े-जोड़े अलगोजे सुनाई पड़ते हैं। जहाँ-तहाँ अगम बीहड़ों में भैंस के चरवाहों के बनजारे गोंठ हैं। शब्दों और रंगों की दुनिया सुंदर लगती है, सुंदर दिखती है।

उसी सुंदर दुनिया में खड़ी फ़सलों के पीछे-पीछे बच्चों-सा मुँह बनाए और बच्चों-सा मन किए दिउड़ सांवता रेंगता-छलाँगता फिर रहा था। अपने लोगों के काम की देखभाल करता फिर रहा था। आप भी खटता

फिर रहा था। इस चट्टान से उस चट्टान पर फाँद-फाँद कर मेड़ों-बाँधों की मरम्मत करता था, नालियाँ खोलता था, हवा के वेग से टाँगियाँ भाँज-भाँजकर ढूह-के-ढूह जंगल-झाड़ काट-काट कर ढेर-पर-ढेर लगाए जा रहा था। उत्साह देने को गाँववालों का चिल्लाना सुनाई पड़ता रहता था। "हेइरे! अरे उधर धँस गया है रे—देख तो भला रे, 'गाड़' (पूर) ने क्या कर डाला है रे।—अरे ओ काट डाल, काट डाल उन सारे 'कोरापुटिया' कुंजों को—अबे ओइ आलसी, कब तक धुँगिया पीता रहेगा बे?"—खेतों के पास-पास रसोई का धुआँ उठ रहा है। काम के अवसर पर गीतों-ही-गीतों में युवक-युवतियों के बीच प्यार की बदा-बदी लगी है। दोनों दल बारी-बारी से गा रहे हैं। फूलों के गहने पहने जा रहे हैं। जूड़े सँवारे जा रहे हैं। नन्हे बच्चे मछली मार रहे हैं। इतना काम। किसलिए? किस साहूकार का सोने का कड़ा मोटा करने के लिए वन के भीतर ये अधनंगे लोग घिरनी-नाच नाच रहे हैं? यह प्रश्न कोई पूछता ही नहीं। जीवन की शेष घड़ियों के बाद मरना तो सुनिश्चित है, फिर भी जीवन को कोई मरण का विरह-विलाप नहीं मानता। आए, जब जिस साहूकार को आना हो; कंध तो अपनी खेती में लवलीन रहता है।

काम के नशे में दिउड़ू की कल्पना जाग पड़ी थी और उस कल्पना में नए जीवन की छवि नाच उठी थी। मन की रुँधन कट गई थी। लेंजू काका गया, जाय; बंदिकार की रैयत बनकर जंगल में बसा रहे, कोई अफ़सोस की बात नहीं। वह मनुष्य है मनुष्य! कभी वह बाप के मरने के बाद बाप की जगह पर साँवता बनकर फूला नहीं समाया था। उसी तरह उसी जगह उसी पत्थर पर लंबी धुँगिया सुलगाए, हाथ-पैर जोड़े बैठा रहा था। कब की बात है वह? अब भेजे में वह धारणा न रही। उसके बाद लेंजू काका चला गया। आज लेंजू काका की बात सोचने लगो, तो ऐसा लगता है, मानो वह आप ही आदमखोर बाघ है, जीते-जागते आदमी को लाश बना छोड़ता है और उसका लहू पी-पीकर मद के नशे में फूल-फूल उठता है। वह जांगल मानव है, बनैला आदमी! पशुबलवादी जड़वादी मनुष्य केवल जीतकर ही रुक नहीं जाता। जीत के बाद हारनेवाले को जलाकर भसम कर डालता

है, मिट्टी में मिला छोड़ता है। नारी का धर्षण ही नहीं करता, धर्षण के बाद उसकी हत्या करता है। मानव-मन की अँधेरी गुफा की इसी पशु-धारणा के बस उसने लेंजू काका को मार भगाकर सोनादेई को पैरों तले रौंद डाला था। और आज खेत पर रैयतपने और साँवतापने को घोल-घालकर माथे में जय-तिलक लगाए आनंद में मगन था। ऐसे अवसर पर अब सोनादेई को कौन याद करता है ? आज सोनादेई उसकी आँखों में कुछ भी नहीं है, लाश से भी हेठी है। उसके लिए मन में अब कोई सोच-फिकर नहीं है। आज न तो कोई अकारण कुतूहल है, न अकारण छाती में धुकधुकी। सोनादेई एक डंबुणी मात्र है। एक अलच्छन अभागन औरत मात्र ! एक-पर-एक आते-जाते रहते हैं। जांबा कंध ने माथा झुका दिया है। बारिक पालतू कुत्ता भर है। गाँव में ऐसा कोई नहीं, जो आँखों-से-आँखें मिलाकर 'नाही' करने का साहस कर सके। अपने खेत अपने लग रहे हैं। भले-बुरे की पहचान किए बिना ही समय ने यह जतला दिया था कि वह बल में बलीयान है, प्राणों में प्राणवत्तर है। वह उद्धत है, दुर्दम है, दुर्मद है, दुर्द्धर्ष है। उसके मन में कोई दुर्बलता नहीं।

वह जोर लगा-लगाकर काम करता है।

अस्थायी बंधन जुटाकर स्वाधीन जीवन गढ़ लेने को मन की प्रवणता बारंबार तगादे करती है।—यही उसकी स्वाधीनता है। —नित नवीन। —मनमानी। —जो जी में आए। —दो दिन का खेल। आज उठाया, कल ढा दिया।

लँगोटीधारी बनैला कंध ! पर मन उसके भी है। मन के सहज गुण से वहाँ भी गुल खिलते हैं।

वह अपने-आप को सरबू साँवता से मिलाकर देखता है, लेंजू कंध से मिलाकर देखता है। पर देखता है अपने-आपको ही बड़ा बनाकर। पिओटी के पीछे पुयू की देह हवा में घुल जाती है। पिओटी।—वह तो बरसात उतरने पर शरद की हलचल है ! भुलाए नहीं भूलती।

कंध-कंधुणियों के गीत सुनाई पड़ते हैं। निवेदन और प्रति-निवेदन ! प्रश्न और उत्तर। काम करते-करते गीत का कोई पद मन में बिंध जाता

हैं। पैर उखड़ जाते हैं। काम मठरा जाता है। तो अब और अपेक्षा क्यों कर रहा हूँ? किसलिए? ठीक!..पिओटी!—पिओटी! मन को बहलाने के लिए वह झटपट काम किए जा रहा है।

माटी का आँजन अंग-अंग में आँजे, लगे पड़े हैं लोग।

खेतों की उस उपत्यका में बेजुणी बुढ़िया उतरी आ रही थी।

दुपहरी ढल गई थी। वर्षा नहीं थी। धूप के रंग और वन के रंग कुहरे में और-के-और दिख रहे थे।

मंदार-माला पहने थी। भाँति-भाँति की पहाड़ी जड़ी-बूटियों के हार गूँथे पहने थी। लाल घाँघरिया पहने एक लाल कली खोंसे लाठी टेकती एक पतली छाया-सी सीधे नीचे उतरी चली आ रही थी।

उसका कोई अतीत नहीं। उसका कोई भविष्यत् नहीं। दोनों छोर इस वर्तमान में ही गुँथकर उलझ गए हैं। गाँठ पड़ गई है। आज का-सा मौसम, दिव्य दृष्टि की भी दरकार नहीं होती। आँखें खुली रखने पर भी इस लोक और उस लोक के लोगों की मिलावट दिखाई पड़ती है। धनखेत मोटे नीले साँप-से बल खाते दूर तक लंबे पड़े हैं। इनमें जाने कितनी गरई मछलियाँ बढ़कर कढ़ाई के लिए तैयार होंगी। अनाज होगा। अनाज, मानुषी खाद्य, मानुषी गिरस्ती, मानव का आत्मसम्मान! वह देखो दरतनी-माँ हँस रही है! बेजुणी उसे हँसती देख रही है! "जुहार माँ जुहार, कोटि-कोटि जुहार तेरे चरणों में! तू न पाले तो हम कहाँ रहें। यों ही सदा 'टोकी'-सी बनी बिराजती रह। यों ही प्रसन्न-प्रशांत हास तेरी आँखों में खेलता रहे। तेरी पादुका शीतल रहे, पादुका शीतल रहे।" बेजुणी सोचती है कि वह दरतनी-माँ को देख रही है। वह न देखेगी, तो और कौन देख सकेगा देवता को? दरतनी माँ डील-डौल में सुघड़ कंधुणी-जैसी दिखती है। सिर पर ओढ़नी है। चेहरा हलदी की उबटन और रेंड़ी के तेल मलने से चकाचक-चमक रहा है। गले में लाल-लाल और काले-काले दानों के कई-कई हार हैं। स्नेह से दूध बहा जाता है, दूध बहा जाता है। धनखेतों से सिर

उठाती है 'कांडुल' के खेतों से झाँकी दिखाती है, मँडुए के वन में बाल खोले बैठी है।

"जानती हूँ माँ, दिनों-दिन दशा दीन-हीन होती जायगी, रैयत के खलिहानों की रास ढो-ढोके पराए घर जा रहेगी, खेतों की उपज हज़ार छल-बल से सोख ली जायगी, घानी में लिपटी खल्ली भी पराई हो जायगी, मानुष-पन रह नहीं पाएगा। सब जानती हूँ तेरी दया से। जो होना होगा पीछे होता रहे, मेरे देखते में वह सब मत होने दे माँ। इतने दिन तेरी सेवा की, इतनी विनती भी मेरी नहीं मानेगी?"

दरननी माँ खेती की उस उपत्यका में बैठी सिर हिला रही है। पहाड़ के उस पार बैठा 'बीमा-'राजा वाहवाही ले रहा है। अच्छी वर्षा की! जंगल की बाँक पर धार-धार बहते झरने की आरसी दिख रही है। वहीं वन के देवों-देवियों के घाट हैं शायद। कोई बाल खोले सुखा रहा है, कोई टहल रहा है, कोई कुछ ढूँढ़ता फिर रहा है। ऊदे-ऊदे दिन के उजाले में देवताओं के खेल चल रहे हैं। कितने अनजाने संबोधन करके मन-ही-मन भुनभुनाती बेजुणी नीचे उतर गई। गाँव के लोगों की बतकही-बतरान सुनाई पड़ रही है। लोग दिखाई पड़ रहे हैं। बेजुणी का सगा-सगोता कोई नहीं है, ये ही उसके-अपने हैं। अपने लिए जीना वह कब की भूल चुकी है। उसका गाँव-दल ही उसका कुटुंब-परिवार है। पत्ते झड़ चुके हैं, चूड़ियाँ टूट चुकी हैं, सूखा ठूँठ होकर भी दस जनों का खोरुआ[१] होने में ही उसका आनंद है।

आकाश की बातें! देवताओं की बातें!—सब बातों के मूल की बात है उसका दल, उसका समाज, उसका गाँव। उन्हीं के भरोसे वह मरण को जीतकर अकलन वयस के जबड़ों में फँसी होने पर भी धरती पर पैर टेके आज भी जी रही है। कितने-कितने चले गए, वह अब भी है। पुनर्जन्म की उसे कोई जरूरत नहीं।

---

१ अलाव की आग खोरकर राख झाड़ने के लिए छोटे फावड़े-सा लकड़ी-ही-लकड़ी का औज़ार।

"किधर चली ?—बेजुणी, हे बेजुणी ! —"

"निराएगी बेजुणी !"

"सुनेगी नहीं। लगता है उसकी बुलाहट पड़ी है, देवता के 'थान' को जा रही है।"

सुनने की उसे क्या पड़ी है ? हठात् उसे अपने आत्मसम्मान की याद हो आती है। साधारण लोगों से वह बहुत ऊँचे पर है। अमरूद के पेड़ तले रेंद'ऽ काठ्क'ऽ टिट'ऽ आदि अमरूद खा रही हैं। डाल पर जंजेइ बैठी है।

एक गाय को दो ओर से खदेड़ते हुए दो जने पुल्में और बात्री जंगल की ओर चले गए।

दिउड़् सॉवता की घरनी बेटे को काँख-तले दबाए सिर पर हँड़िया लिए खेत से लौट रही है। हाथ बढ़ाकर हाकिना को दिखा रही है—"वह देख, वह देख, बेजुणी है बेजुणी।"

बेजुणी नाक की सीध में चली जा रही है। देखती सब-कुछ है; पर अटकती कहीं नहीं। सरेह के बीच-बीच में दाँए-बाँए की मेड़ों-मेड़ों, पास-पास अनगिनत काली-काली पसीने से तर पीठें हैं। काम जारी है, बातें जारी हैं। काम के शब्द सुनाई पड़ रहे हैं। यही उसकी परिचित पृथ्वी है, यही उसका परिसर-परिवेश है, नित-नया नित-पुराना ! बेजुणी तितली-सी उड़ी जा रही है। जानी-चीन्ही बंधनी के भीतर वह स्वाधीन है।

करारे के ऊपर पांडरू डिसारी एक नए नाले में पत्थर धँसा रहा था। झुका हुआ दोनों हाथों से ठेलने में लीन था। दिन में तारे तो गिने नहीं जाते, दिन में खेती के काम होते हैं—"किधर चली बेजुणी ?—"

अटककर एकलौता दाँत हिलाती बेजुणी ने मुँह बा दिया। उसकी बड़ी-से-बड़ी हँसी इतनी ही होती है। नीली धूमिल गहरी आँखों पर सिकुड़ी-कुँचियाई हलदिया चमड़ी उतरी हुई है। बरस-बरस के बारह अनभोग[1] गहरी तहों-पर-तहें जमाकर रह गए हैं।

---

१ भूख, अभाव, दुख-कष्ट आदि।

बेजुणी की प्रसन्न हँसी।

खोए इतिहास की मुट्ठी-भर धूल !

"किधर चली बेजुणी ? पल भर बैठ ले। रुक जा पल भर !"—डिसारी ने लंबी-लंबी उसाँसें भरीं। कमर की अंटी से धुँगिया निकाली। मन-ही-मन बुदबुदाने लगा—"पानी बड़े ज़ोर का रहा ; पर अभी तो रोहिणी ही चढ़ी है। इस साल बहुत बरसेगा।"—बेजुणी अनमनी होके एक पत्थर पर बैठ रही। डिसारी ने खेती-बाड़ी की चर्चा की। फ़सल अच्छी होगी। ढोर-डंगरों की महामारियाँ नहीं होंगी। बात के बीच में ही बेजुणी ने बैठे-बैठे सिर हिलाया और उठ खड़ी होती हुई बोली—"भला नहीं, यह भला नहीं—"

"बघलगी होगी ? कहती हो बाघ निकलेंगे ?"—गहन वन की ओर ताकता डिसारी बोला। बेजुणी ने उदास होके चारों ओर देखा। ज़ोर-ज़ोर से सिर हिलाती कहने लगी—"भला तो कुछ भी नहीं।" फिर उठी और चल पड़ी। डिसारी पीछे से निहारता रहा। बेजुणी पहाड़ की ओर चली जा रही थी। ढलान पर साँवा-मँडुआ के खेतों में लोग-ही-लोग थे ; पर वह कहीं अटकी नहीं, सीधे ही चलती चली गई। कहाँ जा रही है ? डिसारी ने मन-ही-मन कहा—"बावली!—बौरा गई है !" और फिर अपना पत्थर धँसाने में लग गया। धूप फीकी पड़ चली। बादल का एक छोटा-सा टुकड़ा पहाड़ के पाँजर-पाँजर धुआँ बिखेरता चला आ रहा था। बौछार के पहले ही सोते के मुँह पर पत्थर धँसा देना ज़रूरी था।

"भला नहीं होगा।"—बूढे-बूढ़ियों के मन यों ही सोचा करते हैं। लोग बुढ़ापे में भूतों की छाया देखते हैं। अकारण ही अमंगल की आशंका करके आप डरते हैं और औरों को डराते हैं।

खेत भर उठे हैं। फ़सल के साथ-साथ किसानों की छातियाँ भी उछाहों उछली पड़ती हैं। डिसारी को 'भला न होने' का कोई कारण ढूँढे न मिला। उसने बात भुला दी और जी काम में लगा लिया।

बेजुणी पहाड़ के पास पहुँच गई। पहाड़ कंध-'गुड़िया' के मुँड़ेरे की तरह खड़ा था। घने जंगलों से लदा-फँदा। बीच में एक जगह तिकोना-सा

चकला, 'पोड़' करके निकाल लिया गया है। यह तिकोना ऊपर तक उठता चला गया है। इसमें बारह घरों की खेती है। दिउड़ सांवता काम करता फिर रहा है।

दिउड़ ने पूछा—"कहाँ चली बेजुणी ?"—और फिर ठिठोली की—"काठ-पात लाने ?" बेजुणी खड़ी होकर सांवता को एक-टक देखने लगी। कुछ बोली नहीं। फिर धीरे-धीरे चल पड़ी। ढलान पर थोड़ी दूर ऊपर तक चढ़ गई। गाँव-पहाड़ की चोटी के ऊपर से, कंध-मँड़ैयों की भिन्न-भिन्न दिशाओं से, मानव की उस काम-भुई[1] को नए-नए दृष्टिकोणों से देखना उसे बड़ा ही अच्छा लगता है। मन में नई-नई धारणाएँ आती हैं इससे।

इतने सारे लोग काम कर रहे हैं। सब एक ही घर के हैं। ऊपर भी लोग हैं, तले भी लोग हैं, सभी भाई-भाई हैं। आसमान में दरमू है, नीचे दरतनी है और इन दोनों के बाल-बच्चे हैं संसार के इतने सारे लोग! सभी एक ही घर के, एक ही परिवार के, भाई-भाई हैं। धरती सुंदर है, दुनिया सुन्दर है। यही सुंदर पृथिवी अपना घर है।

धूप कितनी ढल गई! घर-लौटानी धूप की दौंक पहाड़ के राज में रंग-बिरंगे रंग उँड़ेल रही है। फिर भी मानो इन सभी रंग-रँगीले चित्रों के ऊपर मुरझा पड़ने की, बुझ जाने की कोई अग्रसूचना खेल रही है। यह दृश्य रह नहीं पाएगा, सारा-का-सारा बुझ जाएगा! ऐसे समय में इतनी ऊँचाई से चिन्ता की आँखें खोलकर देखने लगो, तो बड़ी उदासी महसूस होती है। बादल का एक टुकड़ा आसमान पर एक कोने से कोयले की-सी कालिख पोतता हलके-हलके उड़ा चला आ रहा है। ऐसे में मन की भूली-बिसरी खोई, रुआँसी चिन्ताएँ किसी गली-कूचे से उड़ती-फिरती पास आ जाती हैं। बेजुणी फिर बेजुणी नहीं रह पाती, सूखी-सी एक मानवी भर ही रह जाती है। ऐसे में न जाने कितने घाव काल की छवि को अपने पीछे टाँगकर अतीत के अँधेरे से उभर-उभर आते हैं। निर्जन-निराली हरियावल में अकेले खिले लाल फूल की तरह आँखों को बाँध रखते

१ कर्मभूमि।

हैं। सूखे हाड़-चाम की ठठरी के भीतर अनुभूतियों के रेले बे-बुलाए पिले चले आते हैं। बेजुणी बैठी-बैठी अपने ही मन की बात सुनती रहती है।

किसी पुराने युग की कहानी है यह। आज उसके रंग तो क्या छाया भी धुँधली है। किसी दिन यह बूढ़ी बेजुणी भी धाङड़ी हुई थी। दिउड़ को देखते ही सरबू साँवता याद आता है। धाङड़ी-दिन जा चुके हैं, सरबू साँवता जा चुका है। सब बीत-बिता चुका है। फिर भी इस जानी-पहचानी धरती के जाने-पहचाने दृश्य साल-साल आते-जाते रहते हैं, जाने-पहचाने खेल-तमाशे साल-साल आते-जाते रहते हैं। नहीं आते, तो केवल वे धाङड़ी-दिन ही फिर कभी लौट के नहीं आते।

सरबू साँवता भी उन्हीं दिनों धाङड़ा हुआ था। लाख सोच मरो, पर इस निराली बेर के साथ बूढ़े सरबू साँवता का कोई मेल बैठ ही नहीं पाता। वह तो उन्हीं दिनों का-सा मूँछ-उठान जवान बना आके पूछने लगता है—"सजी-धजी क्यों नहीं ? कोई तैयारी नहीं ! आज जंगल की सैर को नहीं जाना ? हमारी 'खारी' सेंत-मेत में खाकर साँभर हिरनें चंपत हो जायँगी, जियादी हिरनें नौ-दो-ग्यारह हो जायँगी !"—और फिर उसके साथ-साथ चट्टानें फलाँगती, पहाड़ों के दर्रों-दर्रों और उठानों-उठानों हिरनी-सी भागती फिरने का वह नशा ! क्या मिला उससे ? प्रतिदान नहीं माँगा, रूठी नहीं, मान-कोप के तपन में अपने-आप को असमय ही झँवा नहीं लिया, बल्कि धीरे-धीरे पत्थर बन गई, पत्थर !

"तेरी चाल बड़ी सुन्दर है। तू चलती नहीं, नाचती है।"

"इतना मत देख मेरी ओर। यों देखेगी, तो मेरा ध्यान बँट जायगा, समझ रख, और ध्यान बँटा रहा, तो जानवर भाग जायँगे !"

"ना भई ना, अब और कभी भी तुझे साथ नहीं लाना ! तू आती है, तो मेरा मन और कहीं लगता ही नहीं।"

साँभर और जियादी हिरनें खारी खाती-खाती आवाज़ पहचान लेतीं और भाग-भाग जातीं। और वह आदमी फिर भी इसी मुखड़े को निहारता बैठा रह जाता ! विह्वल आँखों में कभी पलक पड़ती नहीं दिखती। देह

में कोई लहर-सी खेल जाती। हँसी छलक पड़ती।

"अच्छा, रहने दे। अब शिकार नहीं करना! चल, उस चट्टान पर बैठें। उठ, उठ........"

थोड़ा और बाँए को। मखुए के छिदरे-छिदरे पेड़ों पर लदी सियाड़ी-बेलें छान-सी छाए होतीं। उसी लता-मंडप तले वह चौड़ी चट्टान थी। तीन ओर से बन्द मंडप, एक ओर थोड़ा-सा खुला। उस खुले की राह पहाड़ की खड़ी कगार दीखती। सूत डालकर सीधी खड़ी की गई दीवार-सी। नीचे पाताल तक चली गई। दूर खेतों की उपत्यका दीखती। किसान-राज की विराट-रूप भात-हाँड़ी-सी!

सूरज का डूबना वहाँ से अत्यन्त मनोहर दीखता।

वह यौवन का तीर्थ था। बस थोड़ा और, थोड़ा और बाँए को।

सरबू साँवता अपना नहीं हो सका। उसके लिए आज कोई दुख नहीं। मानुष का मन जहाँ-जहाँ जाता है, वहीं सटा नहीं रह जाता। मिल कर घर नहीं बसाया। न जाने कैसे-कैसे लहू का तेज ठंडा पड़ गया। वह मुँह-मुखड़ा, वह आँखें, वह देह, सब न जाने कहाँ चले गए। धीरे-धीरे संसार की ओर से मुँह फेर कर देवता-राज में मन रमा लिया। स्वामी नहीं, संतान नहीं, घर नहीं, परिवार नहीं, गाँव की बेजुणी हो रही।

वह देखो, नीचे!....दिउड़ू साँवता काम में लगा है। ऊपर लोग हैं, तले लोग हैं। 'पोड़ू' चकले में भालू के झबरों से पेड़-पौधे उग आए हैं। निरौनी का काम बहुत अधिक है। बेजुणी बाँई ओर को चली गई। बरसात ने प्रलय मचा दिया है। तह-की-तह माटी बह-बह गई है। ऊपर से आते सोतों की राहों पर जहाँ-तहाँ पत्थरों के ढेर लगे हैं। टीलों से। जानी-पहचानी राहों पर जंगल उग आए हैं। नई अनजानी राहें निकल आई हैं। सब-कुछ नया-ही-नया है। जंगल का हर-कुछ एक अचंभा है। खेतों के चकले के दोनों किनारे पहाड़ की झुकी दीवारों पर जंगल खड़े हैं। नाना जाति की ककौड़ियों[1] से ढँक जाने के कारण भुँघड़े

१ फ़र्न जाति के पेड़ों।

पत्थर दिखाई नहीं पड़ते। चट्टानों पर भी नाना जाति के सिवार छाए हैं। गुदगुदे गद्दों-से। जहीं-तहीं ठौर-कुठौर हठात् सीधे-सादे रंगों के गुच्छे के गुच्छे फूल खिले मिलते हैं। पेड़ों के तनों पर बघनखी के फूल गुच्छे-के-गुच्छे खिले हैं, सूप-जैसे काठसत्तू लटके हैं, उजले हाथी के उजले कान-जैसे हड़-भंगा[1] के पत्ते झूल रहे हैं। छिन में पत्तों की फाँकों से धूप झाँकती है, तो छिन में बादल घिर आते हैं और घुँघराता धुँआँ-धुआँ-सा छा जाता है। बेजुणी सोचती है कि चलते-फिरते बादल हैं, दो-चार बूँदें झाड़-झूड़ के चले जायँगे। पैर आप-ही-आप उस चटाईनुमा चट्टान की ओर बढ़ गए। कोई दूर न थी वह !

चट्टान पर खड़ी बेजुणी डूबने जा रहे सूरज पर टकटकी बाँधे ताकती रही। आज का दिन भी सुन्दर है, ठीक उसी दिन जैसा सुन्दर ; पर वह दिन कहाँ ? वह दूर, भात की हाँड़ी-सी उपत्यका के उस पार के, लहरिया पठार की ओर निहारती रही। कितना नीरव, कितना निर्जन-निराला है ! लंबी साँसें आईं। कोटरों-जैसी आँखों में अँधेरे की माया घूँसे मारती-सी धँस पड़ी। सचमुच आज सब-कुछ उसी दिन जैसा लग रहा है ! हाय, कितने जल्द बीत गए वे दिन भी ! दिन गिने भी न जा सके ! रस्सी की गाँठों की कोई धाक न मानी ! साँझ डूब गई। जो भी था, सब मिट गया !

यही सूरज रोज उगता है और रोज उस पार चला जाता है ; पर धरती पर पैर टेके एक ही अवस्था में खड़ा रह कर उसकी धूप की आवा-जाही को निहारते रहने की बूटी किसी के पास नहीं है। सारी ताली-कुंजी देवता के हाथों में है। मनुष्य तो देवता का खिलौना, कठपुतला-मात्र है !

वह बेजुणी हो रही है। देवता का ज्ञान अरज लिया है। फिर भी मानुषी दुर्बलता की बेड़ियों में जकड़ी बंदिनी बनी पड़ी रही है।

१ लकड़ी पर बरसात के असर से उग आने वाले उजले वनस्पति, जिन्हें हड्डी टूटने पर दवा के काम में लाते हैं।—अनु०

संसार के जितने भी भोग-विलास हैं, सबका मोह उसने उतार फेंका है। सुख की गिरस्ती बसाने की, सांसारिकता की, सारी धारणाओं से पिंड छुड़ा लिया है। त्याग किए हैं। स्वाद भुला दिया है। संयम के नियम पाले हैं। यह सब कर-करा चुकने पर ही देवता के चरणों में अपने को निछावर करके बेजुणी बन सकी है वह ! पर इस पुरानी चट्टान पर उन पुरानी यादों के सहारे उन पुराने दृश्यों के ऊपर टकटकी लगाए नितांत निराले निर्जन में अपने-आप से बातें करते समय उसे वह विश्वास भी छोड़ जाता है।

ठगी जाती रही है। छली जाती रही है। ठगाते-ठगाते ही बूढ़ी हो गई है। इसीलिए मन चेता-चेता देता है कि सब-कुछ पोला है, खोखला है, असार है।

उस पार से मेघ उठे। अँधेरा करते फैल आए। पल-भर में ही धूप बुझ गई। ऊपर आकाश चिकना काला था। नीचे खेतों पर भोर की-सी छाँहदार अँधियारी फैल गई थी। उजले बगलों की एक पाँत हार में गुँथी आसमान में टँगी झूलती-सी इस ओर से उस ओर को उड़ी चली गई। चिकने काले आसमान तले। बेजुणी मुँह उठाए उधर ही निहारती रही। पल-भर तक अपने-आप को भूली रही ; पर दूसरे ही पल हाहाकार की उस खोई हुई रागिणी को लौटा लाई और स्थिर खड़ी उसी के सुरों में भीतर-ही-भीतर बजती रही। मेघ का धुआँ पास आया। बेजुणी को उसका कोई डर-भय, कोई आतंक न था। भीनी-भीनी तेजाबी दुर्गन्ध आ रही थी। ओदी सील-सिलैंधी दुर्गन्ध। चिरायँध, मानो मरी जल रही हो और उसकी गंध में सड़ी-मरी की गंध घुल गई हो। दुर्गन्ध पास आती जा रही थी। काळखुंट [1] के फूल होंगे ; पर गंध पास क्यों आती जा रही है ? पास-ही-पास कहीं गिर रहे दौंगरे की आहट जैसे टप-टप-टपाटप शब्द सुनाई पड़े। चारों ओर घटाटोप कालिख-सी पुती है। बगले चले जा रहे हैं। यह लो, चारों ओर उजेला हो गया !

---

१ एक बेल, जिसके फूलों से ठीक बाघ की जैसी बू आती है। पृष्ठ ९० देखिए।—अनु०

हठात्, अनमनी बेजुणी चौंक पड़ी, पलक झिपकाते-न-झिपकाते धरती पर आ रही और किसी के वज्रबंधन में जकड़ गई। तूफ़ान के साथ घुल-मिलकर वह न जाने कहाँ घिसटी चली जा रही थी। सारा बल-बूता बटोरकर बुढ़िया ने तीन बार चीखें भरीं और फिर होश डूब गए, आँखें मुँद गईं। आदमखोर पटाळिया[1] बाघ बेजुणी को कसकर पकड़े छलाँगें मारता पहाड़ के ऊपर चढ़ गया। कितनी ही देर बाद यंत्रणा से चौंक कर बड़बड़ाती-सी बुढ़िया दो बार और चीखी। आखरी चीख गले में घड़घड़ाकर मर गई। शिकार को नीचे फेंक कर बाघ गरजा, कूदा-फाँदा और फिर शिकार के ऊपर आ बैठा।

तिरते बादल हलकी-सी बूँदाबाँदी बरसाकर तिरे चले गए।

बेजुणी नहीं लौटी।

बूँदाबाँदी के समय लोग जहाँ-तहाँ पेड़ों तले मुँह गाड़े बैठे थे। किसी-किसी ने झड़ी की टपटपी और हवा की साँय-सननन में कोई अस्वाभाविक-सी घिघियाती चीख सुनी भी थी ; पर किसी ने भी उधर ध्यान नहीं दिया। जंगल में बस रहने पर भी लोग जंगल के सभी गूढ़ भेद समझ नहीं पाते। जंगल में न जाने कितने प्रकार के शब्द सुनाई पड़ते हैं, उन सब पर ध्यान देता रहे आदमी, तो हर खड़कन पर चौंक-चौंक उठे और काम कोई भी न हो पाए।

दूर हलदिया धूप पहाड़ के अधिक भाग को झलका गई। धीरे-धीरे चारों ओर धूप निकल आई। पानी पर उजेला पड़ा। बेजुणी देखती, तो यही सोचती कि दरतनी-माँ संझा-नहान नहाकर धूप में खड़ी है, दरमू सतरंगा धनुष लिए खड़ा है। अहा, क्या ही सुन्दर, क्या ही सुन्दर! दया किए रह देवता, तेरी पादुका शीतल रहे! झुटपुटे के पहले की इस ललौंही लुकभुकाती धूप में काम निबटा लेने के संकेत-सा यह उजाला भी जल्द ही बुझ जायगा, मर जायगा। उसके बाद घर लौटने की बेर

१ पहाड़ों की पतली पट्टियों पर रहनेवाले भयंकर चीते।

होगी। यकायक दसों दिशाएँ भाँति-भाँति के शब्दों से मुखरित हो उठीं। पहाड़ तले मोर-मोरनियों के झुंड दिन-ढले का आखरी नाच नाचने लगे और म्याँव-म्याँव करके एक दूसरे को पुकारने लगे। कुंजों-झुरमुटों में नन्ही-नन्ही चिड़ियाँ स्वरलिपि के भग्नांश-सी चहकारें चहक उठीं। झुंड-की-झुंड चिड़ियाँ इस पेड़ से उस पेड़ उड़ती फिरीं। खेतों की उपत्यका मे युवक-युवतियों के प्यार की लेन-देन के गीत गूँज उठे। दिन-ढले की धूप चारों ओर हँस उठी। सूरज पहाड़ के मुकुट के पास झुक पड़ा। गिरि-शिखर की मेघ-पगड़ी में अपरूप रंगों के विन्यास की छटा फूट पड़ी।

पहाड़ के ऊपर किसी एक ने पूछा—"बेजुणी कहाँ है, बेजुणी कहाँ है ?"—फिर कई लोग एक-साथ ही पूछने लगे—"बेजुणी किधर गई ?" बेर चुकी आ रही थी। लोग कह रहे थे, बुढ़िया को बादल घिरने के पहले ही इस जंगल की कोर धरे ऊपर की ओर को जाते देखा है। बहुत आगा-पीछा करके लोग जंगल के पास जाकर पुकारने लगे—"बेजुणी-बेजुणी......" ! कोई जवाब न मिला। काँधों पर टाँगिये ताने कई बेजुणी-बेजुणी चिल्लाते हुए उस चट्टान तक गए। वहाँ मदार के फूलों की पंखुड़ियाँ बिखरी पड़ी थीं।

लाल मूँगों के हारों में से एक हार छातीभर ऊँची एक झाड़ी की ठूँठ टहनी से उलझा लटका था। ओदे वन में सड़ायँध-चिरायँध दुर्गन्ध अब भी लिपटी थी। और कोई निशानी न थी। लोग भागे-भागे लौट आए। हथेलियों को गुलियाकर सींघे फूँके। तले की पूरी उपत्यका में महारोर मचा दिया। चारों ओर बिखरे लोग-बाग भागे-भागे आके एक जगह जमा हुए। हाथ और सिर हिला-हिलाकर तर्क करने लगे। मुँह में तो केवल तर्क-ही-तर्क थे ; पर मन को अनजाने भय और आशंका की मथानी मथे डाल रही थी। कोई दौड़ा-दौड़ा नीचे गया और पास के खात से भैंसों का एक पूरा ठट्ठ, मय चरवाहों के, हाँक लाया। धूप अब-मरी तब-मरी हो रही थी। आगे-आगे भैंसों का ठट्ठ हाँकते और पीछे से टाँगिया कुल्हाड़ियाँ भाँजते, पेड़ों पर लाठी पीटते, 'होइ-होइ' चिल्लाते

कुछ लोग जंगल में पैठे। अधिक दूर जाना नहीं पड़ा। एक पौधे की टह-नियों में बेजुणी की लाल घाँघरी फटकर लीरे-लीरे हुई झूलती मिली। हवा में बाघ की गंध थी। कुछ ऊपर, एक पत्थर के ऊपर और भी हार पड़े थे। लहू डबराया था। ढलान की दीवार की गीली-गीली गंजी माटी पर घिसटन की एक नई पगडंडी-सी ऊपर की ओर पड़ती चली गई थी। जहाँ लहू डबराया था, वहाँ पर लोग अटके। उनके अटकते ही ऊपर चोटी पर महाबल की चिढ़ी हुई-सी हल्की गर्जना सुनाई पड़ी। फिर भैंसों की ओर मुँह करके भयंकर गर्जन करता हुआ और फुलाकर अपने-आपको भैंसों जैसा बनाता हुआ महाबल उठ खड़ा हुआ। इधर लोगों को काठ-सा मार गया। वे भैंसों के पीछे पथराई मूरतों से खड़े माथे पर हाथ सटा-सटाकर जुहार करने लगे—"महाप्रभु, महाप्रभु, हम पर कोप मत महाप्रभु, कोप मत। दया कर, दया कर!"—ऊपर चोटी से तले की ओर ताकता महाबल अपना पराक्रम जताकर खड़ा रहा। कुछ देर बाद फिर दो बार गरजा। ऐसा गरजा कि पेड़ के पत्ते झड़ पड़े, लोगों की छातियाँ कँपकँपा उठीं। उसकी पूरी देह में बिजली की-सी कोई लहर खेल गई। मुँह बाकर दिखाता और दुम से धरती पीटता हुआ वह उठा और एक ओर को छलाँग मारी। बेजुणी की खोज में निकले कंध बुड्ढुओं में ताकते-के-ताकते ही रह गए। सिर को झटकारकर 'पटाळिया' बाघ ने बगल की ओर की एक चट्टान-संधि के खोल से बूढ़ी बेजुणी की विकलांग लाश उठा ली और झाड़-पीटकर झींगुर पकड़ती गौरैया-सा उसे जबड़ों तले दाबे शून्य-ही-शून्य में छलाँगता पहाड़ की दीवार के किनारे-किनारे बढ़ा चला गया। रास्ते-भर लाश से लहू चूता गया।

सब देख रहे थे। किसी के बोल नहीं फूट रहे थे। किसी के मुँह से "ले गया, ले गया" के शब्द तक न निकले। पटाळिया बाघ निर्भय कुदानें भरता चला गया।

उसके आँखों से ओझल हो जाने पर लोगों ने हल्ला मचाया। जिधर बाघ गया था, उधर की ओर टाँगिये तान-तानकर, लाठियाँ हिला-हिला

कर 'होइ-होइ' करने लगे। सूरज डूब चुका था। वनदेश के ऊपर विषण्ण छायाँ छा गई थी। डिसारी बोला—"चुप रहना। चिल्लाने की जरूरत नहीं। पहले चुपचाप निरापद घर पहुँच लेना है। राह में बाघ-डुमा घेर सकता है; इसलिए चुप रहना ही भला है।"

बाघडुमा! बाघ के खाए आदमी की प्रेतात्मा! जितना डर बाघ से नहीं होता, उससे अधिक बाघडुमा से होता है। आप मर गया होता है, इसलिए जीते हुओं से उसे डाह होता है। डाह की यह जलन भारी खतरे की चीज होती है। वह राह से भटका देता है, डराता है, आफ़त में फाँसता है। लाल मुँह होता है उसका। लाल गंजा सिर होता है। नन्हा बच्चा-सा बना वह बाघ की दुम पर बैठा वन-वन डोलता फिरता है और बाघ को बुद्धि देता रहता है। वही बाघ को यह सिखाता है कि किस आदमी को किस तरह से खाया जा सकता है। रात आ रही है। राह-बाट में बेजुणी का 'बाघडुमा' भटकता फिर रहा होगा। अजब नहीं कि आमना-सामना हो जाय!

चरवाहे अपनी भैंसें हाँक ले गए। ग्यापायु के लोग सिर गाड़े, झुंड में सटे-सटे, घर लौटे। किसी के पैर खिसक-फिसल रहे थे, तो कोई किसी डाल से गिरते पत्ते की खड़क पर चौंककर उछल-उछल पड़ता था, छलाँगें मारने लगता था। कोई दूर के अँधेरे कुंज की ओर उँगली बता-बताकर साथियों को अटका-अटका लेता था, तो कोई साँसें रोककर अँधेरे में भी आँखें मूँदे अपेक्षा करता रहता था; पर बाघडुमा के बदले मिलता था कोई गीदड़।

यों ही उठते-पड़ते राह कट गई। ऊपर गाँव में रोशनी दिख रही थी। रोशनी से साहस मिला। गाँव-पहाड़ की ढलान पर पैर रखते ही लोग निश्चिन्त होकर जिधर-तिधर बिखर गए। बातें करते या चिल्लाते हुए सबने अपनी मनमानी राह घर ली। सब इसी फेर में थे कि आगे घर पहुँचूँ और आज की सबसे बड़ी खबर घर वालों को सुनाऊँ। सब तफ़-सीलें बतानी होंगी, कि कैसे बाघ ने "ह्रों-ों-ों-" की, कैसे देखा, कि

कैसे कोई डरा-वरा नहीं। कि कैसे 'मैं' सब के आगे खड़ा था। न जाने कैसी-कैसी बहादुरी बखानी जायगी। गाँव घाँव-घाँव से काँप उठा। प्रिय-जनों ने सकुशल लौट आए अपने प्यारों को अँकवारा, लाड़-दुलार की ठिठोलियाँ कीं। इन्हें भी बाघ खा गया होता! इनके सही-सलामत बच आने पर कितने ही लोग कृतज्ञता के मारे रो-रो पड़े। कितने भरोसे दे-दे के, छाती फुला-फुला के भाषण झाड़ने लगे! बाघ के मुँह के कितने पास थे हम! ठीक विपदा के मुँह के ऊपर खड़े थे! फिर भी, बच तो निकले ही हैं।

दिउड़ साँवता सब के साथ गाँव में नहीं पैठा। कुछ पीछे ही रह कर धीरे-धीरे आता रहा। अकेला एकर सोचता हुआ चलता रहा। जो देखा है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। अभी थोड़ी ही देर पहले जो व्यक्ति अपने साथ गप लड़ा गया था, वह क्या अब सचमुच ही नहीं रहा? विश्वास करने को जी नहीं चाहता। कितना भयंकर था! सिर के भीतर बादलों के लद जाने जैसा। चिन्ता-शक्ति की कल बिगड़ गई है।

बारिक के घर से गाँव की ओर जानेवाली निर्जन पगडंडी के मोड़ पर मुरवे की बाड़ के अँधियारे में कोई खड़ा था। लगा जैसे सोनादेई हो। दिउड़ उसके पास आ गया। पहचाना। दो पग आगे बढ़ गया। चाल धीमी पड़ गई। पीछे से चुप-चुप पुकारती-सी आवाज़ आई—

"साँवता....."

"क्या री?—क्या कहती है तू?"—दिउड़ एकदम कुढ़ गया-सा गरजा।

"डर लगता है,—साँवता! सब क्या कह रहे हैं?—बेजुणी—"

"डर लगता है तो मर!"—दिउड़ अकारण ही रिसाया। और फिर अपनी राह लग पड़ा। अब मन हलका लग रहा था।

थोड़ी देर हो-हल्ला रहा। फिर सन्नाटा छा गया।

उस रात लोगों ने अपने-अपने घरों के बेंवड़े अच्छी तरह आजमा-आजमा के ठोंक लिए। रात को कोई भी उठकर बाहर न निकला। घर-

घर में लोग झूठमूठ के ख़र्राटे भरते पड़े रहे और कान पाते बाहर की एक-एक आवाज़ अकानते रहे। सब को यह विश्वास था कि बाघ-डुमा की बोली ज़रूर सुनाई पड़ेगी ; पर कुछ भी सुनाई न पड़ा। रात की निस्तब्धता 'बीमा'-राजा ने ही भंग की। आधी रात के बाद से बौछारें पड़ने लगीं।

नवासी

सवेरा होते-होते बादल छँट गए थे। आसमान खुल गया था। अलस कुहरे के ऊपर उजाले का बूरा झड़ा पड़ रहा था। रातों को तारे गिननेवाला पाँडरू डिसारी बीच गलियारे में बैठा खेतों की उपत्यका की ओर टकटकी बाँधे ताक रहा था। आँखें जैसे उधर के ही किसी विन्दु पर सट गई हों। वहीं कहीं बेजुणी पड़ी होगी। किसी पत्थर की फाट में; किसी अनजाने पेड़ तले! जिस पेड़ का कोई नाम तक नहीं! धूप चढ़ने लगी। उधर, वहाँ, पहाड़ के ऊपर, आसमान के छोटे-से खुले भाग में, गीध मँड़ला रहे हैं। बासी लाश पड़ी होगी। गीली, सराबोर। ठंडा कर पाला बनी हुई। टुकड़े-टुकड़े हुई, खा के जूठन छोड़ी हुई, नुची-चुँथी मानवदेह! मक्खियाँ छापे होंगी। चींटियों की पाँतें लगी होंगी। लाश पहचानी तक नहीं जायगी। मानव-देह! ओह!!

सोच-सोचकर डिसारी ठंड से कँपकँपा उठा।

उस मानव-देह को, उस लाश को, गीध नोंच-नोंच कर खा रहे होंगे। कूदता-फाँदता आकर महाबल बाघ बचे-खुचे गात फाड़-फाड़ जाता होगा। कल वही बेजुणी राह चल रही थी, बातें कर रही थी, आगामी दिनों की बात सोच रही थी, विचार रही थी! और आज वहाँ, उस अगम वन में उसकी लाश पड़ी होगी। मनुष्य वहाँ कोई न होगा। होगी केवल दरतनी की पत्थर-मय गोद। होंगी केवल दरमू की आग-सी बलती आँखें। होंगे केवल बाघ, गीध, चींटियाँ!—

सिहरता-सिहरता डिसारी का मन कुछ-कुछ राहत पाने लगा। दम मिला। मैं वहाँ न था! मैं बच गया। जीता हूँ। जीता बचकर, अपने बासे घर सुख से बैठा वह बेजुणी के लिए शौकिया दुख करता रहा। उसके अपने भीतर जीवन की एक यही प्रतिक्रिया हुई। बेजुणी सिधार गई। अब समाज के काम-काज चलाने के लिए फिर नई बेजुणी तैयार की

जायगी। आज फिर डिसारी के 'योग' देने पर कोई और बेजुणी देवता की वंदना करेगी, जुहारेगी, मनुष्य के मंगल के गीत गायगी, फाँद-फाँदकर नाचेगी, रेंग-रेंग कर नाचेगी। पर वह बेजुणी कुछ और भी थी। वह कंध-देश का एक प्राचीन विस्मय थी। एक खोए युग का इतिहास थी। डिसारी सोचता रहा। और किसी की भी मजाल न होगी कि डिसारी की गणना को फूँकों उड़ा देकर दिव्य-दृष्टि के दर्शन बखान सके। तो क्या वह देवता को देखा करती थी? या कि कोटरों में धँसी गोल-गोल-सी आँखों में अँधेरा छाता देख के देवता को देख पाने का भान कर लिया करती थी? नक्षत्रों का 'योग' होने से क्रिया होती है और क्रिया से फल होता है। उतने ही निश्चित रूप से, जितना निश्चित कि दो और दो का चार होना होता है। बेजुणी इस बात को ग़लत साबित नहीं कर पाई। नक्षत्रों ने 'योग' दिया और बाघ ने बेजुणी को खा डाला। वह मर गई। मरी बेजुणी के प्रति उसे दया आई। उसने अपने विश्वास में बल संचारा। बोला—हाय रे हाय, बावली-सी बुढ़िया, न जाने कब की बुढ़िया, किस युग से चली आ रही बेजुणी—सिधार गई!

बेजुणी को बाघ ने खाया था। काम बढ़ गया। गाँव वालों के हित के लिए अब उसके 'बाघ-डुमा' को बस में करना होगा! एतवार के दिन 'रोहिणी' योग पड़ने पर 'बाघ-डुमा' को बुलाना होगा और कील ठोंक कर बाँध डालना होगा। 'जेटी' योग में जंगल को मंत्र से घेर कर कील ठोंक देने पर बाघ घेरे को फाँदकर इधर आ नहीं सकेगा। इतने-से छोटे काम के लिए भी कितनी ही तरह की प्रवीणताओं और कितनी ही तरह की विचक्षणताओं की आवश्यकता होती है! डिसारी ने आकाश को जुहार करके गुहराया—"तुम्हीं उद्धार करोगे। तुम जानो।"

आलस तोड़ने को धुँगिया सुलगाकर उसी पत्थर पर बैठा-बैठा डिसारी पहाड़ पर मँडलाते पैंतरे भरते गीधों को देखता रहा। मन में बारंबार अस्वास्थ्यकर कुतूहल उठ रहा था, — कुछ बचा भी होगा कि नहीं? कुल हाड़-चाम मिलाके अँजुली-भर की तो थी ही वह, अब उसकी लाश में

से बचा ही क्या होगा ?

जाने कितने दिनों का संबंध इन दोनों के बीच था। कई युगों का ! दोनों मिलकर गाँव के धर्मबल थे। डिसारी 'योग' देता, बेजुणी पूजा कर-करके नाचती और लोगों के मनोरथ पुजते । किसी को ज़रा सर्दी-जुकाम का दौरा हुआ, किसी की बाँहों में मोच आ गई, सामान्य-से-सामान्य अनिष्ट हुआ, सब को दूर करना डिसारी और बेजुणी का मिला-जुला काम था। डिसारी सोच रहा था, बघलगी हो गई है, आज उसके उपलक्ष में पूजा होगी। बेजुणी भी रहती, तो क्या ही भला होता ! बेजुणी चाहे जिस पंथ की भी हो, डिसारी के अनुदिन जीवन की संगिनी होती है, उसका बल होती है। आज वह बल नहीं रहा।

लोगों की आवा-जाही शुरू हुई। सभी विचलित थे। घूम-फिर कर वही बात चर्चा का विषय बनती थी। बेजुणी के मरण की बात। बात उठाओ कि न उठाओ, केवल भय-ही-भय छाया रहता है। खेतों वाले खात की ओर देखो, तो छाती का लहू सूखने लगता है। दल के भीतर से एक को बाघ ने खा लिया, अब बघलगी लग गई। बाघ और 'बाघ-डुमा' मिलकर जाने कितनों का सफ़ाया कर डालेंगे। आदमी के माँस का स्वाद क्या ले लिया उसने, अब से आदमी ही उसका खाद्य हो गया। राह चलना दूभर हो जायगा। जहीं-तहीं वह घात लगाए बैठा होगा। खेतों में काम करना मुहाल होगा। पास के किसी कुंज से निकल पड़ेगा। दिन को खेतों में, साँझ को खेत से लौटने की राहों पर और रातों को गाँव के तले की ढलानों पर घात लगाए बैठा करेगा। हर दूसरे-तीसरे दिन उसे एक आदमी के शिकार की ज़रूरत होगी। चाहे जिस गाँव से भी हो, अपना शिकार तो वह जुटाएगा ही। वह महाबल ठहरा, देवता ठहरा, किसी के प्रति उसका कोई खास वैर-विरोध या उपरोध तो होता नहीं !

जंगल में बसे हैं, तो जंगल से कन्नी काटना तो हो नहीं सकता ! बघलगी होगी, तो बाघ लगेगा ही। बहस में दिउड़ साँवता भी शामिल हो गया। सुबह उठते ही उसने पहला काम यह किया है कि बारिक को बुलाकर

पुलिस-थाने इत्तला देने भेज दिया है। संग-साथ को चार सँघाती साथ कर दिए हैं। सरकार का 'अडर' है, 'रपोट' न भेजो, तो सज़ा हो जाती है। बघलगी के समय एक दल पुलिस को ख़बर कर के लौटता है, तो आधी राह में ही दूसरा दल मिल जाता है। बाघ ने फिर चोट की होती है और पुलिस को ख़बर जा रही होती है। दिउड़ साँवता ने कहा—"कल बेर मूँड़ के ऊपर आने तक हमारे लोग पुलिस में पहुँच गए होंगे। उसके बाद चार दिन के भीतर किसी को आना होगा तो आ भी जा सकता है।"

"झटपट भेज दिया सो ठीक ही किया साँवता ! नहीं तो फिर—"

पुलिस आके जाँच कर जायगी कि आदमी बघलगी से मरा है या कि और किसी तरह। बाघ को मारने के लिए पुलिस नहीं आती। बाघ मारने कोई नहीं आता। बाघ मरता है, तो कभी अचानक कंध की ओड़िया नली से ही। उसके लिए भी डिसारी के 'योग' की ज़रूरत होती है। चार हाथ लंबी नली किसी पेड़ में बाँध दी जाती है। बारूद में आग लगाने पर घड़ी भर सरसर-सरसर होता रहता है। बाघ जिधर भी जाता है, शिकारी नली का मुँह उधर ही घुमा देता है। फिर नली का धमाका छूटता है। तोप के धमाके-सा। तब तक अगर बाघ भाग नहीं गया होता, और नली के गोले से बिध जाता है, तो उसका मरना निश्चित समझो; पर इन सारी बातों के लिए डिसारी से 'योग' ले रखना होता है। लोग इस बारे में गुल-गुपाड़ा मचाते गप लगा रहे थे। डिसारी आज दूने वेग से अपने 'योगों' की शक्ति का प्रचार कर रहा था। खूब ज़ोर-ज़ोर से धुआँ छोड़ता वह लोगों को यह अच्छी तरह समझाए दे रहा था कि कैसे 'योग' लाँघने से क्रिया विफल होती है और विपद में पड़ना पड़ता है। लोग अचंभे से मुँह बाए सुन रहे थे। दल बाँधकर घर-संसार चलाने वाले सभी लोगों का यह स्वभाव होता है कि एक के विपद में पड़ने पर सभी अपनी-अपनी सोचकर अभिभूत हो उठते हैं। उन्हें भरोसा, ढारस और साहस-बल देकर सीधा किए रखना डिसारी का काम होता है। उसकी पुरोहिताई का सार यही होता है।

डिसारी कहे जा रहा था—"नियम मानकर चलने पर कोई दुख, कोई

कष्ट, कोई आपद्-विपद् नहीं पड़ने की। जो करना हो पूछकर करना, समझ-बूझ लेना तब करना, फिर भय की कोई बात न होगी। भय क्या—?"

मन की बेचैनी के कारण लौंडे-छौंडे भी डिसारी का विरोध नहीं कर सके। डिसारी की बातें मरी बेजुणी की याद दिला-दिला दे रही थीं। वह भी ऐसी ही न जाने कितनी-कितनी बातें बकती रहती थी। ऐसी बातें, जिनका अनुभव साधारण लोग अपने जीवन के दौरान में कर नहीं पाते। उस पके-पोपले मुँह से ज्ञान की न जाने कितनी ही बातें बहती रहती थीं। ऐसी-ऐसी बातें, जिनसे रोंगटे खड़े हो-हो जाते। ऐसी-ऐसी बातें, जिनसे सिर चकराने लगते। फिर भी 'कर्म' (भाग्य) की डोर ने उसे भी खींच ही लिया और वह भी बाघ के पेट में जा रही। सारी 'पाङ्ग्ण'-विद्या की, सारे अलौकिक ज्ञान की इतिश्री उसी में हो गई।

डिसारी कहे जा रहा था—"अब यही देख। बेजुणी मर गई। बूढ़ी हड्डी को चूल्हे की गरमाहट के पास बैठा रहना था, वन-वन मारी-मारी फिरने की उसे क्या पड़ी थी? हम उसे सब-कुछ देते नहीं थे क्या? हम उसकी खोज-पूछ में कोई चूक करते थे? फिर उसे खेतों पर जाने का क्या काम था? अच्छा, गई तो मान लो गई; पर बावली-सी बरसाती वन में पैठने की क्या ग़रज़ पड़ी थी उसे? कोई कह सकता है कि वहाँ क्यों गई वह और क्यों बाघ उसे पकड़ पाया? कोई नहीं कह सकता। सब अपने-अपने भाग्य की बात है। उसीका चक्कर है यह। सितारों का 'योग' ही ऐसा था, वह क्या करती? सब उन्हीं की दया। इस 'योग' में पड़कर मानुष-जैसी नितांत बुद्धिमान जाति का व्यक्ति भी ठीक ऐन मौके पर कोई-न-कोई ऐसी भूल-चूक कर बैठता है कि मरण के मुँह में खिंचा चला जाता है। आज रैयत रैयत क्यों है और साहूकार साहूकार किसलिए है? आज पूरा-का-पूरा दल किसी दूसरे दल के पास सिर-बिका दास क्यों है? क्यों, किसलिए, एक तो कैद की सजा देता है और दूसरा कैद की सज़ा भुगतता है? कहीं धूप कहीं छाया क्यों है?—(ऊपर को हाथ उठाता हुआ) सब उन्हीं की माया है। उन्हींकी लीला है, उन्हींके मन की मौज है। वहाँ न

आगा होता, न पीछा होता, न भला होता, न बुरा होता । वे भी किसी भाग्य के चक्कर में घूमते रहते हैं और किसी के लिए कोई तो किसी के लिए कोई घटना सिरजते रहते हैं। इसीलिए मैं कहता हूँ कि तुममें कोई छोटा हो कि बड़ा, सभी हर-दम 'योग' को मानकर चलो, 'योग' को मान कर काम करो। फिर तो चाहे जो भी हो, उसमें अपना कोई दोष न होगा।

"केले 'लदा योग' में रोपना, आम 'जेठी योग' में रोपना, संतरे 'मेड़िङ शिरा योग' में तोड़ना, सळप-सुपारी के पेड़ 'समाज योग' में काटना, सियाड़ी के फल 'रोहिणी योग' में लाना,—सत्ताईस नक्षत्र हैं, उनके सत्ताईस 'योग' हैं। उठो तो उसमें योग, बैठो तो उसमें योग, चलो तो उसमें योग, टिको तो उसमें योग, 'योग' को मानोगे नहीं भला क्योंकर ?

डिसारी के व्याख्यान में व्याघात पड़ गया। गाँव की माँ-बहनों के विलाप का रोर इतने ज़ोर से उठा कि कान बहरे हो पड़े। मानो सभी एक-साथ फट पड़ी हों। सच भाई सच, बेजुणी मरी है आखिर, ये सियापा न करें ? पुरुषों की अपेक्षा कंधुणियों के उपस्थित-कर्त्तव्य-ज्ञान की अधिकता ही इससे प्रगट हो रही थी। भोर-ही-भोर उठकर वे घर-घर से एक दूसरी को बुला लाई थीं और प्राचीन प्रथा के अनुसार गाँव के बीच के 'भेरामण'[1] में गोल बाँध के बैठ गई थीं। सभी के एकट्ठी हो लेने पर सुर-तान मिलाकर उन्होंने मरी बेजुणी के सोग में विलापना शुरू कर दिया—

"आलो आलो ! हातेयुँ हातेयुँ ! पापू !
नीङे वाताणाकि । नीङे तियाताणाकि । पापू !"
(हाय हाय ! मर गई री मर गई ! हा कपाल !
तुझे सोख लिया क्या ! तुझे खा डाला क्या ! हा कपाल !)

मरण के संगीत की लय धीरे-धीरे चढ़ती गई। पहले धीमे-धीमे बहते छंद गीत-से उठ-उठकर विलाप बने। फिर बेजुणी के गुण गुन-गुन कर

---

१ गाँव के गलियारे में पंचायती बैठक की खुली जगह। पृष्ठ २१४ की पहली पादटीका देखिए।—अनु०

विलाप का स्वर करुण-से-करुणतर होता गया। धीरे-धीरे विलाप करुण-क्रंदन में परिणत होता गया। आँखों से झर-झर आँसू बह चले। मन की टीस बढ़ चली। स्त्रियाँ दोनों हाथों से अपने मुँह-गाल नोंच-नोंच कर रोती बैठी रहीं। रुलाई थमने का नाम ही नहीं ले रही थी।

मानुष-देह धरने पर रोने के कारणों की कोई कमी नहीं रहती। किसी का बाप मरता है, तो किसी का पूत। किसी का अगर कोई भी नहीं मरता, तो उसे अन्यान्य दुःख होते हैं। जाने कितने अभाव जला-जलाकर दाग़ छोड़ जाते हैं। जाने कितने वियोग-विछोह घाव कर-कर जाते हैं। रोने के लिए कमर कस कर बैठे रहो, तो रोने के कितने ही उचित हेतु याद आने लगते हैं। फिर विलाप के सुर फूट पड़ते हैं। फिर वह विलाप चाहे अनदेखे देवता के लिए हो, चाहे देखी-सुनी बेजुणी के लिए। उस अवस्था तक पहुँच जाने पर तो सोते में बहते पानी को पनाला काटकर एक ख़ास ओर को बहा ले जाना भर ही बाकी रहता है।

बेजुणी चल बसी है। खेती के खात के पास वाले पहाड़ के ऊपर अभी भी गीध मँड़ला रहे हैं। गाँव में विलाप की टोली बैठी सिर धुन रही है—

कौन थी वह बेजुणी? किसी की क्या थी? उसके न धी थी न पूत, उसके लहू का अंश कोई न था। निपूती, निरंशी बुढ़िया मर के भूत हो गई थी। उसके कोई अपने न थे, कोई हित-मीत न थे, कोई बैरी न था। लोग उसे जब से देखते आ रहे थे, तब से वह जैसी-की-तैसी बुढ़िया ही थी। लोग उससे काम इस कड़ाई से लेते थे, मानो जात-बिरादरी का काम लेने के सभी चौकस हक़दार हों। बुढ़िया गाँव के उस परले छोर पर मुरवे के पौदे की जंगल-सी उपजी गंदी बाड़ के पीछे टूटी-फूटी-सी झोंपड़ी की पड़ी-पड़ी-सी छान तले अकेली ही रहती थी। आधी मानुषी थी, आधी भुतनी। दूर के उस निराले-निर्जन में जाने क्या-क्या भयंकर काम किया करती थी। कोई-कोई कानो-कान फुसफुसाते थे कि उसने साँप पाल रखे थे, कि वह गीदड़ों के साथ बातें किया करती थी, कि वह मरे हुए लोगों से भेंट किया करती थी। उसे देखते डर लगता था। उसकी आँखों में आँखें

नहीं डाली जा सकती थीं। सारा जीवन वह मानुषपने के किनारे-किनारे ही रही और मरी भी वहीं, उसी भयंकर उपाय से । गहरे उतर के सोचो तो उसके मरने से किसी स्वार्थ से टनक नहीं उठती, कोई स्नेह पिघलने नहीं लगता। उसके कोई न था, कोई नहीं।

फिर-भी सारा गाँव उसके लिए रोता है।

वह गोष्ठी की एक जन जो थी।

नब्बे

एतवार की दुपहरी।

आस-पास के गाँवों के कंध पाँतें बाँधे म्ण्यापायु की ओर चले जा रहे हैं। पाँतों की धार टूटती ही नहीं।

हाथों में बरछे, कंधों पर टाँगिए, किसी-किसी के ओड़िया-नली। ठेंगों-लाठियों की बहँगियाँ बनाए, उसमें राह-बाट के लिए, 'बिदेस-परदेस' के लिए मँड़ए के आटे की पोटलियाँ, लौकी की तुंबियाँ और जलावन की सूखी टहनियाँ लटका रखी हैं। बरसात से बचने के लिए पीठों पर छतरी-छतौड़ियाँ बाँध रखी हैं। किसी-किसी दल में सभी की छतरी-छतौड़ियाँ एक ही आदमी ढो रहा है। सबने एक जैसी लँगोटियाँ पहन रखी हैं। सभी के खुले रूखे बाल फरफरा रहे हैं। सभी के बालों में जटाएँ हैं। किसी ने सिर में, किसी ने कान में तो किसी ने अंटी में धुँगिया पीने की चिलमें खोंस रखी हैं। जिसकी जहाँ मरज़ी। पाँतियों में एक के पीछे एक चल रहा है। एकहरी पाँतें बनाकर चलना ही वनवासियों का अभ्यास है। खातों-घाटियों, चोटियों-चौबाटों पर कई-कई गाँवों के लोग एकट्ठे हो जाते हैं, दल बढ़ जाता है। सभी के चेहरों पर, सभी की आँखों में थमे मेघों-जैसी छाई है, कोई एक-जैसी ही गहराई है। हर कहीं एक ही चर्चा है—"बघेई" (बघलगी) की चर्चा। तले के कुट्टिङ गाँव का साँवता आया है, सोना साँवता।—पाँच हाथ ऊँचा। केंदू-अड़ार का चाचिरी साँवता आया है। तीन हाथ का नाटा बौना। चारों ओर से लोग आ रहे हैं। सब के गाँव-गुड़े विचित्र हैं। खालकणा से, पीपलदर से, केशाकाबेड़ी से, दामनगंडा से, बड़ऽशंका से, भालूजोड़ी से, बाघमारी से, बंदिकार से,—न जाने कहाँ-कहाँ से लोग आ रहे हैं। सभी गाँवों के प्रतिनिधि आ रहे हैं। म्ण्यापायु में बघलगी हुई है, उसी की प्रतिकारी पूजा है। लाठी में लाल मिर्च बाँधकर खबर गई थी। लोग बैठे से उठ आए हैं। अब भी कंध बाहरी विपद् के समय मेल बाँधते हैं,

भले ही यह मेल अब हमलावर से युद्ध के लिए न होकर बघलगी-पर्व के लिए ही हो। कई-कई गाँवों के लोग राह-बाट में एकट्ठे होते हैं, तो नाना भाँति की चर्चाएँ भी उठती हैं। इन चर्चाओं का न तो कोई ठौर-ठिकाना होता, न कोई सिर-पैर। इनका न तो कोई ओर-छोर होता, न कोई शृंखला। कोई विपदाओं की बातें कर रहा है, तो कोई अपनी-अपनी डींगें हाँक रहा है।

कोई अपनी जाति के निकम्मेपन को कोस रहा है, तो कोई बाहर के शत्रु के घावों की व्याख्या कर रहा है ; पर सभी एकजुट होने की बात करते हैं। एकजुट हो, तो फिर इस बात की परवा न करो कि फल क्या होता है। यही कंध-जाति का जातिगत लक्षण है। हाथों के हथियार ले-दे के यही लाठी-लकुटियाँ, तीर-कमान, बरछे-टाँगिए ही हैं। इतने से हिंस्र जंतु नहीं मरते। ओड़िया-नली सुभीते का हथियार नहीं है, बहुत भारी होती है। बाघ मारने के लिए कोई फुरतीला हथियार चाहिए। ऐसा हथियार जिससे झटपट चोट की जा सके और निशाना पक्का हो। फल जल्द मिले और निश्चित रूप से मिले। कभी किसी युग में आदमी बली थे, बाघ-जैसे शत्रु को लाठियों से पीट-पीटकर बस में करते थे, और खाँड़े से मार-मार डालते थे। अब समय बदल गया है। बाघ का बल-बूता कोई बढ़ा तो नहीं है कहीं, आदमी का बल-बूता ही घट गया है ; इसीलिए अब क्षिप्र अस्त्रों की करामात-भर ही रह गई है। 'सी-मा' अर्थात् विदेशी बंदूक। जब चाहा तोड़ के गोली भर ली। बस 'सी-मा' है काम का हथियार। बात मानती है, झट मुँह फेर लेती है। ओट में रहकर निशाना साध लो और 'ड्राइ' कर दो, बस 'डाब्बु' होकर गोली बिंध जाना सुनिश्चित रहता है। पक्का। दूर से हथियार चला सकते हो, बाघ को टोह तक न मिले। औचक गोली लगे, बाघ सावधान न रहे। बस, ठीक जिस उपाय से वह आप शिकार मारता है, उसी उपाय से उसका भी शिकार कर लो।

बाघ बली है तो क्या, आमना-सामनी नहीं मारता। चोरी-चोरी चोटें करता है। बड़ा चतुर गुइयाँ होता है, बड़ा ही कौशली। ठीक वैसा ही

जैसा कि वह डापू [1] साहब था। नाच चल रहा है और वह बीच नाच से दोनों काँखों तले दो धाड़ड़ियाँ दबाए नौ-दो ग्यारह। बाघ की ही तरह जाने किन चट्टानों की संधियों में छिपा घात लगाए बैठा रहता था और 'सी-मा' नली से एक-एक पटाळिया बाघ को सुलाता जाता था। कैसा हथियार था उसका, कितना हलका ! कंध की नसीब में वैसे हथियार कहाँ ? पूरे गाँव की धरती बेचकर एक नन्हा-सा मोल ले भी लिया जा सकता था, पर 'अडर' ही नहीं है। 'लाइसन' [2] कराना पड़ता है। 'लाइसन' कराने जाओगे तो अधिकारी खरी-खोटी सुना के फटकार देगा। अबे हट ! तू पढ़ा-लिखा नहीं है, तेरे सिर का कोई ठीक-ठिकाना नहीं, कब गरमा उठे, कब बिगड़ जाय। तुम्हारे आपस में ही बैर-विरोध हैं, मारा-मारी करके मर-मरा लोगे। तुम अभी इसके योग्य नहीं हुए।

अब बताओ, कंध किस भरोसे इतनी बड़ी बात के लिए 'लाइसन' माँगने जाय ?

दूर मालकान पहाड़ के जंगलों में 'बंडा परजा' जाति के लोग हैं। ठिगने-ठिगने लोग। सिर के बाल जड़ के पास से कटे होते हैं। हाथों में सिर्फ़ तीर-कमान रखते हैं। उनके देश में कभी बाघ का कोप होता है, तो सभी एकजुट हो जाते हैं और जान हथेली पर लेकर सभी बाघ के पीछे दौड़ पड़ते हैं। बीहड़ जंगलों में गिरते-पड़ते हाथ-पैर तोड़-तोड़ लेते हैं; पर बाघ को मारे बिना चैन नहीं लेते। बाघ को मारते हैं, भूनते हैं, उसका मांस खा लेते हैं, तब कहीं उनकी रीस सिराती है। बाघ को भूनकर खाए बिना वे कभी घर नहीं लौटते। इसी एकजुट मेल और इसी जान-निछावरी दिलेरी के कारण उनके देश में बाघ की आवा-जाही बंद-सी पड़ गई है। स्वस्थ शांति से खेती करते हैं। बाघ अपने जंगल-राज में मुँह छिपाए फिरता है।

---

१ नाम कोई और रहा होगा। कंध की ज़बान पर घिसकर अर्थ-बाधी हो गया है। 'कुभी' में 'डापू' का शब्दार्थ है—बड़ा ढोल।—अनु०

२ अनुमति-पत्र। अंगरेजी 'लाइसेंस' का तद्भव रूप।

ऐसे हैं वे 'बंडा परजा'! उनकी स्त्रियों को नंगी रहने का शाप है। सीताजी का शाप। वनवास के दिनों में सीतादेवी डुडुमा (जलप्रपात) के पानी में नंगी नहा रही थीं। 'बंडा परजा' औरतों ने उनकी हँसी उड़ाई। इसीलिए शाप है। उसी दिन से वे नंगी हैं, सिर से मुँड़ी हैं, बाल नहीं रखतीं। उस 'डंबा परजा' देस (अर्थात् इलाके) में वे नंगी स्त्रियाँ इतनी स्वाधीन हैं कि पुरुषों को पाँत बाँधकर खड़ा कर देती हैं और पीछे से लुकाठी जलाकर उनके चूतड़ दागती हैं। जो पुरुष दागे जाते समय छटपट नहीं करता—चिहुँकता नहीं, उसी को चुनकर ब्याहती हैं। वे ठिगनी-बौनी वीरांगनाएँ सारी देह में अस्त्र-शस्त्र धारण किए रहती हैं और बड़े-बडे असाध्यों को साधती रहती हैं। कोंडाकांबेरू और भालूमेला जैसे दुर्गम पहाड़ों की संधियों-संधियों बेखटके भटकती आखेट करती फिरती हैं और बड़ी-बड़ी नीलगाएँ, अरना भैंसे आदि मार-मार लाती हैं। शिकार भी करती हैं, घर भी सँभालती हैं और खेती-बाड़ी के सारे रोजमर्रा के रोजगार आप ही निबटाकर अपने-अपने पुरुष को साँढ़ की तरह पालती रहती हैं।

मालकान पहाड़ है ही कितनी दूर? पर म्प्यापायु के लिए वही बुढ़िया नानी की कहानी बना हुआ है। कंध 'बंडा परजा' जैसे प्रतिहिंसा-परायण कभी नहीं हो सकेंगे। कारण वे सभ्यतर हैं। बाघ का मांस नहीं खाते। सभ्य समाज और सभ्य शासन में कई-कई युग बिताए होने के कारण, चक्रवर्ती कल्याण-व्यवस्था में शांत-शिष्ट बन गए होने के कारण, बेजुणी और डिसारी, धर्म और देवता, पुनर्जन्म और पुरुषकार, आदि की बातें सुनते-सुनते उनका बनैला दुस्साहस मिट चुका है, वे शांत और शिष्ट बन चुके हैं, अनासक्त हो चुके हैं। उनकी एकजुटी पूरी जाति के मेल से फटकर गाँव-मानी मेल-भर रह गया है। एक-एक गोष्ठी का एक-एक गाँव है। गाँव के स्वार्थ के लिए गाँव-गाँव के बीच बैर है। सिवाने के झगड़े हैं, सिवाने के पेड़ के झगड़े हैं। इस गाँव के ढोर उस गाँववाले मार लेते हैं। दस गाँव के लोग जुटते भी हैं तो केवल ऊपरी-ऊपरी मन से। इस गाँव की बेजुणी को बाघ खा गया है तो उस गाँव के रैयत इतनी दूर आकर राह के ठूँठों-खूँटों

की खरोंच-खराश का जोखम उठाने को भी बड़ी मुशकिलों से राजी होते हैं। ऐसी अवस्था में पड़कर पशुबल में बलीयान् वनशत्रु से आत्मरक्षा के लिए, उस हिंस्र भय का प्रतिरोध करने के लिए, कंध का एकमात्र सहारा अब मंत्रबल ही रह गया है। पूजा होगी। घुटने भर ऊँची 'छामुड़िया' बनेगी। उस पर मुरगी का अंडा तोड़कर चढ़ाया जायगा। धूप-दीप जलेंगे। पत्थर को ठाकुर मानकर, उसके पास घी का दिया जलाकर, मुरगे का लहू और रींधी दारू ढुलकाकर, 'मानसिक' किया जायगा। बूढ़ियों को "काळिसी'[1] लगेगी। वे 'किळिकिळा '[2] बजा-बजाकर, चीखें मार-मार कर भूत की तरह कूदे-फाँदेंगी, रेंगेंगी। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आई पद्धति से गाँव का पुरोधा बूढ़ा डिसारी बाघ से बल और हिंसकता उड़ा लेने के लिए "आड्डगुञ्ऋ माड्डगुञ्ऋ, काळीगाइ पेतागाइ, दिकिराइ पाइकराइ" के मंत्र घंटों दुहराता रहने के बाद कील ठोंक देगा और भीड़ लगाए बैठे लोग जंगल की ओर ठेंगा-टाँगिया हिला-हिलाकर हो-हल्ला मचाते चिल्लाएँगे: "हो बाघ, हो बाघ-डुमा, हो महापुरु, हो बाघ-देवता, हो बाघ-राजा, तू अपने वनदेश में ही रह। जहाँ से आया था, वहीं जा। फिर मत आना। यह कील फाँदकर हमारी खेती की धरती पर कभी मत उतरना। हमारे डिसारी ने मंत्र पढ़ दिया है। हम सभी मिलकर तुम्हें आज मुँह खोलके मना किए दे रहे हैं, हमारी जमीन पर फिर कभी मत उतरना, फिर कभी हमारा रक्त-मांस मत खाना, फिर कभी नरमांस मत खाना। हो हिंसा की आत्मा बाघ-डुमा, निनू इंबि जिरूवाती एजिरू हालामुड़े (जिस राह आया था, उसी राह चला जा)। हमारी चिरौरी-मिनती सुन। माहाप्रू, हमारी दिकू (दुरवस्था) देख। देख और दया कर। दया कर और फिर कभी मत आ। रो-रो के कहते हैं हम। कौन-सा हथियार है जो तुम्हें रोक पाएँगे? बात मान जा। कील ठोंक दी, अब फिर कभी मत आना।" इतने प्रस्ताव होते हैं, फिर भी बाघ एक-एक करके उठा ले जाता है, एक-

१ अपने ऊपर देवता की सवारी होने के भ्रम का मतवालापन।

२ उलू-ध्वनि। पृष्ठ २९० की पादटीका देखिए।

एक करके खाए डालता है । लाख कहो, बाघ एक नहीं सुनता । इसमें अचंभा भी क्या है ? अभद्र गँवार है ! गोरू के लोहू में नहाता है, आदमी के लहू से जटा बाँधता है, बदन सँवारता है, नरमांस खाता है, नर-रक्त पीता है, लड़खड़ाता है, मातता है और जाड़े के बीतने तक, चैत में जंगल के सूखने तक, 'बघेई' लगाए रहता है ।

बंदिकार के सोभेना कंध और शळपू कंध, पोड़ापदर का लिङ्गा साँवता, पटिसीळ का काङू साँवता, कोट्रागुड़ा का चेल्ली साँवता, सुगुरी-गुड़ा का कीया साँवता, बुर्जा का बेनू साँवता, चणाबाड़ का आरजू, मिमापाई का सुंद्रू कंध, बड़ऽकुट्टिङ्गा का नीली कंध, गिर्लीपुट का केसो जानी, महुल-कणा का शिव, काळियाझोला का नाचिका माल्ती—न जाने कितने गाँवों के कितने कंध-मुखिए इसी तरह की गप्पें लड़ाते चल रहे थे। कहीं की एक बुढ़िया मर गई है, उसी के लिए इतनी सारी कहानियाँ उमँड़ पड़ी हैं। साँवतों की बात का वज़न होता है । इसीलिए बाकी इतने सारे मेला-मेला-भर लोग कभी इसकी तो कभी उसकी बातों पर हाँ-हाँ होइ-होइ करते चल रहे हैं । इस बारह ओर के बारह गप-सड़ाके में राह की थकान और माँदगी भूल गई है । राह पर पैर चल रहे हैं, मुँह में जीभें जल रही हैं ।

बूढ़ा शळपू बोला—"हुआ रे हुआ ! बदा होता है तभी तो बाघ खाने आता है ! नहीं तो कितने ही लोग क्या बाघ के मुँह में पड़कर भी बच-बच नहीं आते ?"

"ठीक कहा । सब बदे की बात है । बदा हो तो बाघ खाता है, बदा हो तो बाघ आप मरता है —" केसो जानी ने कहा ।

"सत-सत । बदे ने किसी की गत छोड़ी भी है ? क्या मानुष, क्या पशु और क्या राज्य, सब बदे के अधीन हैं । बाघ अपने मन से थोड़े ही खाता है ? जानकार लोग कहते हैं कि भोर ही भोर नींद से उठकर बाघ अपने हाथ देखता है । देखता है कि आज शिकार मिलेगा कि नहीं ? मिलेगा तो कैसा शिकार मिलेगा ? बाघ यह सारा-कुछ अपने हाथों में देख लेता है । एक बार अपने हाथों में अपने शिकार की छवि देख लेने पर वह नदी-नाले, 'झोले'-

झरने लाँघता, पहाड़-पहाड़ चढ़ता-उतरता दौड़ा-दौड़ा जाता है, और घात लगाए खड़ा रहता है। शिकार आता है और बाघ उसे पकड़ ले जाता है। —सहज व्यापार है। धन्य है वह कालपुरुष!—" शळपू ने कहा।

सोभेना बोला—"सत होइ। लोग झूठ ही कहते हैं कि बाघ गंध पहचान कर दौड़ा आता है। ऐसी कौन-सी गंध हमारी देह में लिपटी होती है? ढापू साहेब अपनी देह में कौन-सी गंध चुभोड़े था?"

"ना-ना, यह कोई झूठ नहीं है—" चणाबाड़ के आरजू ने कहा—"जो मरने को होता है, उसकी देह से एक खास तरह की गंध आती है। उस गंध की पहचान स्यार, कुत्ते, गीध, आदि को होती है; पर सबसे अधिक होती है पटाळिया महाबल को। इसीलिए वह पत्थर-पानी पार करके आता है और ठीक उसी को पकड़ता है, जिसे पकड़ा जाना होता है। उस गंध की पहचान खुद मेरी सूँघ भी कर लेती है। न जाने क्या बात है! मेरा बूढ़ा मामूँ मरने को था। कैसा तो गँधाया। मैंने कहा—मामूँ, तेरी देह गँधा रही है। वह बोला—क्यों मेरी देह तो गँधाती नहीं लगती मुझे। मैंने कहा—मामूँ, तुझे 'लसम' हो गया है, तेरी देह गँधाती है, मेरी सूँघ पक्की है! मामूँ मर गया। उसके बाद चार दिन भी नहीं हुए थे कि मर गया। जब मेरी सूँघ ने गंध पहचान ली, तो बाघ नहीं पहचानेगा भला? उसके हाथ में पाँजी (पत्रा) होती है। उसे क्या नहीं पता, वह तो कालपुरुष है?"

पटिसीळ के काडू ने कहा—"उनका मरना बदा होता है तो बाघ आपस में ही लड़ मरते हैं। चीते को महाबल काट खाता है। जिस वन में पटाळिया होता है, वहाँ चीता छिपा-छिपा फिरता है। उस दिन हमारे गाँव के डूँगर के पास रात-भर उनका गरजना सुनाई देता रहा। दो पटाळिया महाप्रू लड़ रहे थे। ऐसा डर लगा कि रात-भर कोई भी सो न सका। तरह-तरह की बिकट-विकराल चिग्घाड़ें मार-मारकर दोनों रात-भर गरजते कूदते-फाँदते पहाड़ को रौंदते रहे। सुबह होते-होते सन्नाटा छा गया। धूप उठी। हम देखने गए। ओह, क्या देखा। देखा, छै-छै लाठी लंबे दो महाबल नुचे-खुँथे लहू-लुहान हुए मरे पड़े थे। भुँई पर जो रौंदा-रौंदी, नोंचा-नोंची हुई थी, उसे

कैसे बताऊँ ? माटी खुद गई थी, घास कुट्टी-कुट्टी कट गई थी, पत्थर जिधर-तिधर फिंक-फिंक गए थे। आसपास के नन्हे-नन्हे जितने भी पेड़-पौधे झाड़ी-झुरमुट आदि के कुंज थे, सब नुँच-नुँचकर गिली-जैसे टुकड़े-टुकड़े हो गए थे। हमने देखा और कहा—हे दरमू, तेरी दया। इसी तरह सभी बाघ लड़ मरते, तो आदमी सुख से रहता—"

सोभेना ने कहा—"मरेंगे, मरेंगे। सब वैसे ही मरेंगे ; पर उसके लिए 'योग' तो हो ले, लग्न तो हो ले। उस लग्न के आते-आते हम मर चुके होंगे, हमारे बेटे मर चुके होंगे, हमारे पोते के परपोते मर चुके होंगे। जो भी हो, हम तो न होंगे। इससे तो अच्छा यही है कि हम इतने सारे लोग जुटे हैं, हाथों में जो ही हथियार हैं, उन्हीं को लेके जंगल में पैठ जायँ और बाघ को घायल कर डालें। मार न भी पाएँगे, तो घायल कर ही देंगे। घायल बाघ आप ही सूख-सूखकर मर जायगा, जल्द मर जायगा। 'योग' कब होगा, कब नहीं, तब तक इतने दिन हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना कहाँ की बुद्धिमानी है ?"

"हउ-हउ। अच्छा, तू ही जा बाघ मार। तेरा नाम बाघमारू होगा।" शळपू कंध ने तिरस्कार किया।

नचिका मालती ने कहा—"हँऽ हो, भारी ठिठोली कर रहे हो तुम लोग तो। बाघ हमें पकड़-पकड़ के खाता जाय और हम बैठे 'योग' की बाट जोहते रहें ? जाने कब 'योग' होगा और कब बाघ मरेंगे ? भला कहा। अरे बाबू, अपनी लगी आप न बूझो-बुझाओगे, तो कोई गैर आके हमारे वन के बाघ थोड़े ही मार देगा ? आएगा कोई, तुम्हारा विश्वास है ? हर साल बरसात चढ़ते ही बघलगी होती है। जाड़ों में और भी होती है। हम हाट-बाट में बाघ-बाघ किए रोते-पीटते फिरते हैं। रोते-रोते आँसू भी नहीं रह गए अब। लोगों को क्या इसका पता नहीं है, कि हमारे वनदेश में साल-साल सौ-सौ लोगों को बाघ चट कर जाता है ? उन्होंने सुना नहीं है ? शहर के लोग झूठ-मूठ नाक बजा के दुःख मानेंगे, दरदीपन दिखाएँगे ; पर अपने कोठे-सोफ़े छोड़ के यहाँ आएँगे हरगिज़ नहीं। किसे क्या पड़ी है कि बिजली की बत्तियों और कल की गाड़ियों का सुख छोड़ कर परायों के

लिए बाघ से बैर लेने, इन झमेले-भरे जंगलों में दौड़ा आवे ? हमारा देश उनका जाना-पहचाना देश नहीं है, यहाँ की राहों का उन्हें कोई अता-पता नहीं है, रहने को यहाँ कोठे-सोफ़े नहीं हैं, खाने को उनके अपने देसवाले खान-पान के सर-सामान नहीं हैं, उनके लिए इतना सारा-कुछ जुटाने की मुसीबत कौन उठा सकता है ? और इतने पर बस थोड़े ही है ? बाघ मारने आ पहुँचने से ही कोई बाघ मिल थोड़े जाता है ? और मिल भी गया, तो इतनी आसानी से मारा थोड़े जाता है ? हमारे पाँड्रामाळी कोडिङ्गामाळी बाघ-डूँगर जंगलों में बाघ कितने ही दिनों से गुफाओं के भीतर खोह-दरखोह घर बनाए बैठे हैं। उन्हें टोह-टोहकर निकालने और खदेड़-खदेड़ कर मारने में बहुत समय लगेगा। औरों को बुलाने का कोई लाभ नहीं, जो जितना भी अपने से ही पार लगे, वह आप-ही-आप कर डालना—"

शिवजानी ने कहा—"यह तो ठीक है ; पर बाघ को मारे कौन ? हमारे शास्त्र कहते हैं कि बाघ को पूज। बाघ केवल जानवर ही तो नहीं, हमारा देवता भी है। कहा है कि क्षत्रियों के सिवा और कोई यदि महाबल को मारे, तो उसका वंश डूब जाएगा। चारों ओर बघलगी का राष्ट्र (उपद्रव) होगा ! भक्ति बूड़ी बाघ, भक्ति बूड़ी !—मान लो, 'अमान' [1] होके बाघ-भक्ति भुला भी दी और बाघ मारने निकल भी पड़े; पर मारोगे कैसे ? हम उसे देख भी नहीं पाएँगे और वह हमारे पास ही, बल्कि हमारे ही भीतर, रहकर सब-कुछ देखता रहेगा। हम अपने मचान बाँधे, सजे-सजाए लैस हुए, ओड़िया-नली लिए बाघ मारने जा रहे होंगे, और वह पीछे की किसी चट्टानी संधि से औचक ही निकल कर हमारे टेंटुए पर चढ़ बैठेगा और दाँतों में झुलाता नौ-दो-ग्यारह हो जायगा। उस दिन क्या हुआ ? मैं अपने दसरू कुत्ते को लिए अपने गाँव महुलकणा के 'खेंदा' [2] के पास अपना खेत देखने जा रहा था। ठीक छै हाथ दूर चंपा के बड़े पेड़ तले ढलानी चट्टान की ओट से महाबल उठ खड़ा हुआ और 'ड़ौं ओं ओं'

१ न मानने वाला। नियम का विरोधी। नास्तिक।

२ सानु-देश।

किया। समझ लिया कि अब तो मरण अटल है। नली उठाई। कहा—माहाप्रू, तू मुझे खाने आया है; पर मरने को मेरा मन ज़रा भी तैयार नहीं। माहाप्रू, घर में डोक्री[1] है, बहुत रोएगी, छै-छै बाल-गोपाल हैं, दाने-दाने को तरस-तरस के मर जाएँगे। तू चला जा महाप्रू, नहीं तो गोली मार दूँगा। फिर मेरा दोष नहीं होगा। जा माहाप्रू जा, रक्षा कर, मुझे पाप में मत डुबा। बाघ माहाप्रू ने आँ-आँ-आँ मुँह बा दिया, खंतियों जैसे दाँत निपोर के हँस दिया। मेरे तो प्राण सूख रहे थे। वह दुम को धरती पर पीटने लगा, कानों को कनपट्टियों से सटा लिया, गरदन सिकुड़ा के छोटी कर ली। मैंने समझ लिया कि अब फाँदा। कुत्ते को कहा दसरू बाबू, तू भाग, जा अपनी माँ को कह देना। पर दसरू ग्याळ्पऽ भागा नहीं, बैठा रहा। क्या कहते हो?—मैंने नली उठाई। कहा—माहाप्रू, चारों धरम तेरे, मेरा कोई पाप नहीं। सीधा करके 'ड्ढू' कर दिया। पता नहीं कैसे वह जान गया और सिर पर पैर देके भाग खड़ा हुआ। देखो ना, अब कौन जानता था कि वह वहाँ वैसी जगह पर निकल पड़ेगा?" शिव जानी उस्ताद शिकारी है; पर डींगें नहीं हाँकता, बातें बढ़ाके नहीं कहता।

"हँअँऽहो, बाघ-बाघ करते-करते सारा जंगल 'पोड़ू' की भेंट चढ़ जायगा।" मिनापाइ सुंद्रू बोला—"जंगल ही न होगा तो बाघ रहेगा कहाँ? लोग देख न लेंगे? मामूँ को 'बासू-बासू' (आ-आ) कहके बुलाएँगे, और कुत्ता-पिटान पीट-पीटकर शेष कर देंगे। साले का जितने दिनों का भोग है, भोग ले। उजाड़ ले हमारे गाँव, खा ले हमारे भाई-बंद। उसके ऊपर हमारे कुल-कुटुंब के आँसुओं के अर्घ्य पड़ते रहें।"

सुंद्रू बूढ़े का कोप देखके सभी हँसते-हँसते लोटपोट हो गए। शिवजानी ने कहा—"ऐसा न कह बाबा, ऐसा न कह। विधि ऐसा कहने की नहीं है। कहीं बैठा सुन रहा होगा।"

जाड़ों में वन-वन में ख़ाली बाघ की ही चर्चा रहती है। हर कहीं वही गप। एतवार की दुपहरी। वह उधर, म्प्यापायु की बस्ती दिखी। म्प्यापायु

---

१ देखिए पादटीका, पृष्ठ ३४९। यहाँ अर्थ ब्याहता पत्नी से है।—अनु०

वाले आ रहे हैं। गाँव में पूजा की धूम मची है। डिसारी अलसाया थका-माँदा बैठा बाट जोह रहा है। लोगों को आते देख 'ढापू' बज उठे, ढोल-ढाक बज उठे, टमक बज उठे। बूढ़ियों को 'काळिमी' लगी। वे नाचने लगीं। आ रहे परगाँवे लोगों की राह तकने की इच्छा ज़रा भी न थी। जैसे-तैसे झटपट काम हो चुके, तो वे अपने-अपने गाँवों की राह लें। बघलगी के मेले [1] दिन हैं, बिगड़ी राहें हैं।

"किस बेर का लग्न धरा है डिसारी?"

धरती में गड़े खूँटे को उँगलियों से दिखाके डिसारी ने कहा—"अब देर नहीं। धुआँ-पानी करते-करते लग्न आ पहुँचेगा।"

बजवैयों को इशारा करते हुए वह फिर बोला—"बजा। झटपट। अटक मत।"

आगंतुक एकट्ठे बैठ पड़े। ये केवल किसान ही नहीं, पूरी सेना-जैसे हैं। पर इनके वीर-बाँकुड़े-पन का कोई मोल नहीं। रक्त है, माँस है, टाँगिया है, नली है; पर समय ही हाथ हिलाने तक के लिए अनुकूल नहीं है। इसीलिए भेजे में बस डिसारी के श्लोकों और तंत्रों की अपेक्षा-मात्र है, और कुछ भी नहीं। घुटने मोड़े, लँगोटी पहने, धरती पर टेके दाँए हाथ में अपना मुँह थामे ण्ण्यापायु का पाँडरू डिसारी उस गड़े खूँटे पर टकटकी लगाए बैठा है। थकी-थकी उदास-उदास निगाहें कहीं दूर अटकी हैं। मानो देह यहाँ होने पर भी मन कहीं और हो। गोरे रंग का अधेड़ आदमी है। अधेड़ होने पर भी नोक-पलक सुंदर है। लोग कोलाहल मचाए हैं। सौ-सौ मुँह एक ही कहानी दुहरा रहे हैं। बेजुणी कैसे मरी। हाट-जैसी हहास उठ रही है। भाग्यवादी पाँडरू डिसारी अपने आसन पर धीर-स्थिर बैठा है। आँखें उस खूँटे पर टँगी हैं। ध्यान किसी अनागत लग्न पर है। सरल-विश्वासी सीधा-सादा, प्राचीन संस्कारों का कंध है वह!

घड़ी बीती। डिसारी ने ललकारा—"उठ, चल।"

---

१ बदली के, बादल-वर्षा के।

बाजे बजाते, हरबे-हथियार लिए मण्यापायु वाले और सहानुभूति के भार ढो लाए विभिन्न गाँवों के प्रतिनिधि कंध एकट्ठे ही गाँव से तले के खात की ओर उतर पड़े। जंगली कंध दल बाँधे हों, तो भीषण भीम-दर्शन लगते हैं; पर ये धूल-धूसर मैले-कुचैले कंध इतना बड़ा जुलूस बनाए जा कहाँ रहे हैं? जा रहे हैं केवल मंत्रयोग में भाग लेने। यह विश्वास किसी का नहीं है कि कील ठोंक देने भर से बाघ की आवा-जाही बंद हो जाएगी। विश्वास किसी का है, तो डिसारी का है। उसमें यह विश्वास न हो, तो उसके जीवन का कोई आधार ही नहीं रह जाता। सत् है,—सत् है,—मंत्र में बल था और मंत्र में बल है।—बिना डंडा घुमाए ही वह तालियाँ बजाकर और चौरेठा बिखेर कर बाघ को जंगल से भगा देगा? पूछो तो कहता है कि क्या ऐसे लोग नहीं हैं, जो जादू-टोने से साँप का मुँह बाँधकर उसे बस में रखते हैं—'पाती' डाल के बाघ को पास बुला लेते हैं? डिसारी पाँडरू कंध अटल विश्वास के साथ कहता है कि मंत्र के बल का ठीक से उपयोग हो, तो बंदूक तक का मुँह बंद किया जा सकता है। कितने जानवर भी यह मंत्र जानते हैं। तभी तो गीदड़ को गोली मारने से नली बिगड़ जाती है? एक था बळियार दुर्लभ माँझी। उसने दसहरे की यात्रा में राजा के महल में अपने करतब दिखाए थे। लोगों ने देखा कि उसे गोली मारो तो गोली उसे बेधती नहीं। उड़ती गोलियों को वह हाथ से पकड़-पकड़ लेता था। मंत्र का बल!—पाँडरू जानी को उसमें पक्का विश्वास है। सब-जानी (सर्वज्ञ) जानकार की तरह वह सिर हिलाता अपनी वनवासिनी गोष्ठी को पूजा के स्थान पर लिए जा रहा है। बातें कम करता है; पर करता है विश्वास की बातें, दूर की बातें। कुछ भी पूछो, एक सरल-सा उदाहरण देकर शांत सौम्य हँसी हँस देता है। अविश्वासी भी बातें घुमाकर, बात पलटकर, उसकी बात काट नहीं सकता।

"हेइ, वहाँ!"—लोगों ने जंगल की ओर बताया। दो सौ आँखें उधर ही टँग गईं। दिन के उजाले में वह खुली चटियल जगह एकदम साफ-साफ़ दिखाई देती है। फुलवाड़ी-जैसे हलके जंगल उगे हैं। चारों ओर चौमूँद

अरण्य है। वहीं महाबल ने बिना किसी दोष के ही बुढ़िया का टेंटुआ मरोड़ डाला था। डर, घिन, कोप, रोष,—सब एकट्ठे कोलाहल किए हैं। पाँडरू डिसारी सबके आगे खड़ा हो गया और छरहरा हाथ उठाकर थप्प् से सारा हल्ला-गुल्ला बंद कर दिया। बोला—"चुप कर।"

एकदम सन्नाटा छा गया। इतने सारे लोग यकायक चुप हो रहे। मौन साँसें रोके अपेक्षा करने लगे। यह कोई नई बात नहीं है। बघलगी और उस पर डिसारी की पूजा इस वनदेश में होती ही रहती है। अब डिसारी पूजा करेगा। चट्टान पर चढ़कर आसमानों की ओर हाथ उठाए दरमू को अपनी जाति के दुख सुनाएगा। बारंबार दरमू को साखी बनाकर कहेगा—देख, तले के मानुष इस धरती पर रहके विपद् में पड़े हैं, दुःख भोग रहे हैं। देख रे दरमू, तेरे रहते भाग्य के इतने अत्याचार! इतने दुःख, इतनी दुर्दशा! इतने वज्रपात, इतने अकाल-दुकाल! इतनी बघलगी, इतने हाहाकार! तू देखता नहीं?

होते-हवाते धूप का तेज हलदिया पड़ गया। दूर पहाड़ों के गात पर जहाँ-तहाँ बादलों के अबरखी परदे लटक रहे हैं। डिसारी चट्टान के ऊपर चढ़ गया। दरमू की ओर मुँह करके आसमान की ओर हाथ उठाए, गंभीर होके उसे सुमिरते हुए पुकारा—

"देख दरमू, अपने बाल-बच्चों की यह बदहाली तो देख!

"हम तेरे सारे नियम पालते हैं। किसी से बैर-विरोध नहीं करते। अपनी धरती गोड़-गोड़ के इस जंगल के भीतर, इन ढेर-के-ढेर पत्थरों के बीच, बंदरों से बसे हैं। अकिंचन हैं। निदरबी निकौड़िए हैं। कितने कष्ट का जीना जीते हैं, देख तो। किसी की कोई एक पूजा भी नागा नहीं करते। फिर भी बाघ-देवता हमें पकड़-पकड़ के खाए जा रहा है।

"दरतनी माँ, तू देख। तू देखती है और हमारी जाति मिटती जा रही है। इसका क्या उपाय है माँ?"

उतरकर डिसारी फिर मंगल बोला, असीसें दुहराईं। धरती पर 'छामुड़िया' बनाकर, फूल और चौरेठे बिखेर-बिखेरकर नाना भाँति के

मंत्रों से घड़ी-पहर-भर पूजा की। कितने ऐसे गोपन मंत्र हैं, जिनका भेद केवल डिसारी ही जानता है। बाजे बजते रहे। लोग बैठे-बैठे धुँगिया पीते रहे। बड़ी देर बाद डिसारी उठा और जंगल की कोर-कोर पर घूमता मंत्र पढ़-पढ़ कर कीलें ठोंक-ठोंक दीं। सभी को मना कर दिया, आज से इस जंगल में कोई नहीं जाए।

मुँह के बोलों से डिसारी ने बाघ और 'बाघ-डुमा' दोनों को अटका डाला।

म्ण्यापायु का एक आदमी उठ खड़ा हुआ। मंत्राए पानी के मटके को डिसारी ने उसके सिर पर धर दिया। 'बाघ-डुमा' का अभिनय शुरू हुआ। यह मटकाधारी अब मुँह नहीं खोलेगा। कोई कुछ भी पूछे, सिर्फ़ 'हूँ' भर कहेगा। सिर पर मटका लिए दूर जाके ढुलका आएगा। उससे सवाल पूछने का अधिकार सभी को है। उसका अधिकार केवल 'हूँ' कहने का है।

"तू बेजुणी का बाघ-डुमा है?"

"हूँ!"

"तू जा रहा है?"

"हूँ!"

"जंगल में रहेगा?"

"हूँ!"

"हमारा कोई अनिष्ट नहीं करेगा, भली तरह रहेगा?"

"हूँ!"

डिसारी ने उसे भी मंत्रा दिया है। उस पर धूल के छींटे मारे हैं, फूल से पानी के छींटे मारे हैं। वह पीछे को मुँह नहीं घुमा सकता। मुँह नहीं खोल सकता। चुपचाप चला ही चला जायगा। कुछ दूर जाने पर—

"तू चोर है?"

"हूँ!"

"तू खड्डार-पटकार है? दुष्ट बदमाश है?"

"हूँ!"

जितनी भी अवैध अश्लील गालियाँ हैं, सबके जवाब में वह केवल 'हूँ !' कहता है। 'हूँ' माने 'हाँ !' 'ना' कहना उसके बस का नहीं। ठीक है। बेचारा कंध चुपचाप 'हूँ-हूँ' करता पानी ढुलकाने चला जा रहा है। बाकी सारे कंध हँस रहे हैं, मखौल कर रहे हैं। 'बाघ-डुमा' भगाने की पूजा हो चुकी। अब घर लौटना है।

सभी 'होइ-होइ' करके उठ पड़े। बाजे बज उठे। बघलगी वाले जंगल की ओर मुँह चिढ़ा-चिढ़ाके, हाथ हिला-हिलाके, लोगों ने मंत्र की करामात वाले मनुष्य की शक्ति का गर्व दिखाया। बेजुणी की आत्मा को वनवास देकर लोग लौट आए। एक काम पूरा हुआ।

एकानवे

बादल फिर वैसे ही झूमते रहते हैं। कभी-कभी घुप्प अँधेरा करके बरस जाते हैं, तो कभी ज़रा-ज़रा खुल जाते हैं। बादल छँटते ही काम की धूम मच जाती है। घर के काम, खेत के काम, सब झटपट निबटा लेने होते हैं। कल की घटना से आज की घटना और आज की घटना से कल की घटना, कोई विशेष भिन्न नहीं होती। सब दिन एक-जैसे ही होते हैं।

घटना, घटना।—किसी घटना के घटने की बाट जोही जाती है; पर घटना तो घटने का नाम ही नहीं लेती। बड़ी छाँह छोटी होती है और छोटी फिर बड़ी होकर अँधियारी उतार लाती है। पत्ते झड़ते हैं, नरम-नरम कोंपलें उगती हैं। जंगल के अनगिनत पेड़ों पर अनगिनत नई टहनियाँ उगती हैं, पेड़ बढ़ते-फैलते हैं। कितने पेड़ उखड़ते रहते हैं, कितने नए पेड़ उगते रहते हैं। खेतों में बूटे अँकुरते हैं, और फ़सलें बढ़-बढ़कर जंगल-सी उपज-उपज पड़ती हैं। नित्य वही दिग्वलय, वही मनुष्य, वही काम-धंधे। कभी किसी को सरदी-खाँसी हो गई, तो कभी किसी को ज्वर ने धर लिया। इसमें भी नया कहीं कुछ नहीं होता। घटनाएँ संज्ञा का लोप कर-कर देती हैं; पर नयापन नहीं लातीं। सारी सृष्टि केवल एक क्रमिक गति है, एक नीरव छंद है।

कंध समय का लेखा-जोखा नहीं रखता। अपनी वयस तक भी याद नहीं रखता।

खेतों की निरौनी-निकौनी समाप्त हो चुकी थी। बदली के दिनों में धूप का मौसम देख कर एक दिन गाँव में एक नया आदमी आया। साथ में राह बतानेवालों और भार ढोनेवालों का एक दल लेके आया। साँवता के ओसारे में टिका। यह था साहूकार भोगिला जगन्नाथँऽ का गुमाश्ता। उसी के देश का आदमी। साहूकार के 'गोती' बाअली के बेटे सुग्री कंध ने उसके लिए रहने-सहने के सारे बंदोबस्त कर दिए। पानी-पत्तर, आग-

काठी, कंध-बस्ती से सीधा, मुरगा, सब-कुछ ! गोंठ वाली बाँस की टट्टी ओसारे की कोर पर घेरकर पाखे की दीवार बना दी, रस्सी की बुनी खाट डाल दी, सारे सर-सामान सजा-सुजू दिए।

साहूकार के गुमाश्ते छोटे साहूकार ने खाट पर बैठकर दक्खिनी सूठा (चुरुट) सुलगाया।

जंगल के भीतर इन 'अदिने' दिनों (असमय) में यह नया जंतु आ पहुँचा है। सभ्य देश का आदमी ! अंग-अंग छिपाए कपड़े पहने। ऐसा चौमूँद ढँक रखा है कि उसके चूतड़ों पर 'युज' रोग (कोढ़) हो भी तो दिखाई न पड़े। कमर में दाद हो भी तो बाहर से कुछ पता नहीं चलता। न जाने कितनी तरह के अँगरखे पहन रखे हैं। और मूँछें मूठ-मूठ भर की रखी हैं। वह तो देखने की चीज़ है एक। स्त्रियाँ किवाड़ की ओट से उसकी अंगभंगियाँ निहारती रहती हैं। बच्चे मुर्गी के किलकिलाते छौनों की तरह उसके कमरे के पास मँडला-मँडलाकर तितर-बितर हो-हो जाते हैं। बड़े-बूढ़े खेतों को गए हैं। इस आदमी का हर-कुछ किसी और ही ढंग का, किसी और ही जाति का है।

कंध छोकरे झाँक-झाँक कर देख जाते हैं। यह आदमी धुँगिया पीने के लिए काहाळी (कंध-चिलम) का उपयोग नहीं करता। मोटा-मोटा काला-काला क्या तो मुँह में खोंस लिया है। लकड़ी पर लकड़ी घिसकर आग नहीं निकालता। एक छोटी-सी डिबिया में नन्हीं-नन्ही तीलियाँ भर रखी हैं। उसमें से एक तीली निकाली, डिबिया पर एक चोट घिसी और छाँय से आग बल उठी। बरसात में बाहर निकलने को इसके पास 'तर्ला-तर्ली' नहीं है। डंडे में चमगादड़-सा क्या तो काला-काला लपेट रखा है। हाथों से क्या तो कर देता है और वह डंडे से लटकता काला चमगादड़ इत्ते बड़े काले फूल-सा खिल जाता है। उसी को सिर पर ओढ़कर वह खेतों को चला जा रहा है। पैरों में गोरू के खुरों से चमड़े के पैर पहन रखे हैं। ना भाई ना: !—एक नहीं अनेक अचरजभरी बातें हैं इसमें तो ! इसे आँखो से ओझल करना उचित न होगा। बच्चों के झुंड कुत्ते के पिल्लों-से पीछे-पीछे

लग पड़े हैं। साहूकार छाता ओढ़े खेतों की ओर गया। जिधर से निकलता, स्त्रियाँ निहुर कर पीठ फेर लेतीं और सिर पर ओढ़नी ओढ़े निहुरी खड़ी रह जातीं। कंधुणियाँ अनजाने अचीन्हे लोगों के मुँह नहीं देखतीं। रास्ते में भी जो बूढ़े-पुरनिए मिलते जाते हैं, झुक-झुककर दंडवत् प्रणाम किए ले रहे हैं। करें नहीं? कपड़े पहने हैं, अँगरखे चढ़ाए हैं, इसलिए 'अधिकारी'-वर्ग का है। घाटी के छोर से बूढ़े बारिक ने झाँका। बाआली के पूत सुग्री कंध ने पहचान दे दी कि यह 'काज्जा' (बड़े) साहूकार का प्रतिनिधि है। बकर-बकर ताकता बूढ़ा बारिक लकुटिया ठकठकाता खेतों वाले खात में उतर आया—"सत् सत्!—खेती जाने कब तक पकेगी, अभी तो पैसे-पैसे की मुहताजी है। जो भी पैसे थे, समेट-बटोर के 'फ़ाराष्टी' की विदाई में झोंक दिए गए। किसी-किसी साहूकार का पावना अभी भी बाकी है। बरसात थमने पर तगादे कर सकते हैं, कोई असंभव नहीं। हाँ, अनाज अच्छे खासे उपजे हैं, पानी की फ़सलें भी हैं, मधु भी मिल सकता है। अब नगद पैसे मिलेंगे। हाँ, बहुत ही भली बात होगी यह तो। इस वन में नगद पैसे, कच्चे पैसे, सदा नहीं मिलते—"

टुकुर-टुकुर ताकता, लकुटिया ठकठकाता, हड़बड़ाया-सा बारिक चला जा रहा है। उसकी निगाहें उस नए 'अधिकारी' के ऊपर जमी हुई हैं।

इस अँगरखे की छिपी जेबों में कितने सारे पैसे होंगे? कहाँ, किधर होंगे? पैसे में एक मोहक सुगंध होती है, मिले या न मिले, उसके पीछे-पीछे लगे रहने में मजा आता है।

साहूकार का प्रतिनिधि भुरसा मुंडा बारिक से गाँव के भले-बुरे के तथ्य खोद-खादकर पूछता खेतों वाले खात में उतरता चला गया। ओहो!—कितनी सुंदर फ़सल है! अनाज के पौधे गुल्ले-थुल्ले कोमल-कोमल बच्चों की तरह खड़े लहरा रहे हैं। पास-पास। दुधमुँहे, मानो न मुँह से दूध छुटा हो न आँखों से उसकी प्यास गई हो।—उपज कितनी होगी! गुमाश्ता की छाती पुलक उठी, कलेजा हुलस उठा। ध्यान आया कि देखो ना, इन

जंगलों के भीतर जितनी चाहो उतनी "जिन्सें" छिपी पड़ी हैं। हर कहीं माल-ही-माल है। सहेज-सँजो रखने की सूझ-बूझ किसी की नहीं है। समेट-बटोर रखने का बल-बूता किसी में नहीं है। खाने-उड़ाने को लोग नहीं हैं। तभी तो मैदानों की खेती को कभी बाढ़ बहा ले जाती है, तो कभी अंधड़-झक्कड़ सुला डालता है। छोटे-छोटे टुकड़ों के लिए लाठी-लठौवल होती है। साहूकार भोगिला जगन्नाथँऽ ने ठीक ही कहा था—"डर मत, जा। मैं जानता हूँ, माल है। पीछे जो भाव भी पड़े, ठीक-ठिकाना कर आ। बंगाले में सूखा पड़ गया है, भुखमरी होने वाली है। नीचे मदरास में अकाल की संभावना है। और अनाज के साथ मधु-मखाने आदि भी जुटा पाए तो समझो सोना बटोर लिया। अपने देश के लोग छूँछा भात उतारे बाट जोहते बैठे हैं कि कंध-पठारों से लाल मिर्च और इमली आए तो कौर उठाएँ। पुलाव के सहभोज हलदी की राह तकते बैठे होंगे। दुनिया-भर की स्त्रियाँ उबटन के लिए कंध-हलदी की बाट जोहती बैठी हैं। उनकी सीथें, माँगें, जूड़े रेंड़ के तेल के बिना रूखे होंगे। जा, बस एक ही बात करना। मुँह से निकली बात को पलटना मत। साँवता को पहचान के एकाध धुँगिया थमा देना और बाकी में से किसी को साला तो किसी को मामूँ (ससुर) कहके बस करना। डर मत, जा।—"

ठीक बात है। साहूकार भोगिला जगन्नाथँऽ भी खूब है। हँसी-ठट्ठे में ही सारी पक्की बातें, सार की बातें कह डालता है।

कल्पना-शक्ति न हो, तो आदमी ये बारह वन बहत्तर 'झोले' पार करके यहाँ व्यापार नहीं चला सकता, साहूकार नहीं बन सकता।

झींसी-झींसी फुहियाँ पड़ने लगीं।

कड़ी मटियल माटी की कीच-पाँक रौंदते लंगोटधारी कंध काम किए जा रहे हैं। सुथराई के काम, निकौनी के काम, जंगल के दाँत उखेड़ने के काम। चारों ओर के जंगल फ़सल की खेतों पर दाँत गड़ाए उतरे आ रहे हैं। इन्हीं जंगलों में बघलगी हुई है। पास के जंगलों में और भी न जाने कितने बाघ होंगे। जंगल के आदमी भी बनैले जानवरों-जैसे ही हैं। न सभा, न

समाज। न कोठा, न अटारी। न भीड़, न भड़क्का; न चहल, न पहल। है कुछ, तो केवल सन्नाटा, सुनसान, खाँय-खाँय! उधर बुध की रात और बीफे की प्रात से घर के आगे चौरेठे की रंगोलियाँ उरेह कर माँ लक्ष्मी की अगवानी की जा रही है। माँ लक्ष्मी आती रहती हैं, जाती रहती हैं; पर गुमाश्ता ने सोचा कि माँ लक्ष्मी का घर यहीं पर है। सोचते ही रोंगटे सिहर उठते हैं। यहीं आके बस जाना आवश्यक है! सखुए-सखुए, पहाड़-पहाड़ डोर बाँध-बाँधकर व्यापार का जाल यहीं बिछा देना आवश्यक है!

गुमाश्ता के मन की आस लपकें ले रही थी। उसका बनिया मन उसे बारम्बार याद दिला रहा था कि जिस चीज़ पर तुम पैर डाले खड़े हो, वह रुपया है, अर्थ है, वित्त है। इस रुपए का, इस अर्थ का, दूर-प्रसारी अर्थ यह है कि घर में गद्दे लगाए बैठे-बैठे फोकट मुनाफ़े बटोरते रह सकोगे। उसी मुनाफे से जीवन के सारे सर-सामान जुटते रहेंगे, भोग-विलास जुटता रहेगा। दाँए-बाँए रुपए हिलोरें मार रहे हैं। बोतू-भोंदू उल्लू जैसे निरक्षर आदिम-पंथी लोग हैं, जिन पर आधुनिकता की दौंक डालो तो देखते ही देखते जलकर, भूत बनकर, उड़नछू हो जायँ!

ध्यान आया कि सब-कुछ तो है, पर पहाड़ पहाड़ हैं, पठार पठार हैं। लाने ले जाने की सुविधा नहीं है। बाट-घाट नहीं हैं। जो है भी, बड़ी दूर की राहें हैं, कठिन और दुर्गम राहें हैं। रेल होती तो सस्ते में बटोर कर माल मालगाड़ियों में लाद देते और आनन-फ़ानन में जहाँ-तहाँ पहुँचा देते। मोटर की सड़कें होतीं तो जैसे "बोदिली-मकुआ बोदिली-मकुआ" करते हैं, वैसे "म्ण्यापायु-बंदिकार म्ण्यापायु-बंदिकार" भी पुकारते और यहाँ का माल वहाँ और वहाँ का यहाँ लाके ढेर लगा-लगा देते। कितने कष्टों से तो दो-चार जगहों तक लाल सड़क पहुँची है। फिर भी जगन्नाथँऽ कहता है कि मेरे पास काम करना हो, तो भैंसागाड़ी से जा, दांदनी दे आ, कटनी के दिनों में कौन जाने क्या भाव रहें। हो सकता है सड़क और पक्की हो जाय, और बढ़ जाय! झटपट जाके पहले से ही बाज़ार छाप न लो, तो कौन जाने शायद मोपन्ना-पापन्ना आदि साहूकार

भी जा पहुँचे, रिपुरुपेड़ी-चिड़ड़ू सेट्टी जा पहुँचे और हमारा व्यापार उखाड़ फेंके ! होशियार !

सोच-विचार में खोए रहने का समय न था। कानों में बूढ़ा बारिक न जाने क्या डाले दे रहा है। लोग बच्चों की तरह दौड़े आ रहे हैं। वह देखो, झुंड-के-झुंड, काम-धाम छोड़-छाड़कर। यही मौका है। जो चाहो कर-करा लो। जगन्नाथँऽ ने सब-कुछ बता दिया है। कागज़ कहाँ है ? गुमाश्ते ने जेबें टटोल-टटोलकर कागज़ का एक फटा-चिटा मैला-कुचैला-सा टुकड़ा निकाला। प्रवीण साहूकार के नीति-वचन लिखे चिट्ठे पर निगाहें दौड़ा कर साँस ली।

"पहले साँवता को खोजना। पका केला थमा देना। कहना जगन्नाथँऽ साहूकार ने मिताई लगाने भेजा है। साथ ही एक सूठा पकड़ा देना, आप ही दियासलाई बालकर मुलगा देना। सबसे सूठा पीने की बाबत पूछताछ करना। स्त्रियों का मुँह देखे बिना ही कहना, ए अय्या (हे माँ) ......उसके बाद......क्या लिखा है,—'नेही' कि 'लेही' ?—'नेही' 'नेही' ! 'नेही मणी' ? (भली तो है न तू ?,...'ए अय्या, नेही मञीं ?' काच का एक-एक हार सब के बीच बाँट देना। पैसे-पैसे वाली एक-एक आरसी और धेले-धेले वाली एक-एक कंघी सबको दे देना। एक-एक को। साँवता अभी लौंडा है, जैसा चाहो, भरमा लो। बूढ़ा कंध दिखे तो होशियार रहना। वे संदेही होते हैं—"

और भी न जाने कितने उपदेश लिखे हैं। ऐसे, जिनके उपयोग की अभी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है।

लोग घेर आए। गुमाश्ता ने संभाषण का समारंभ किया। कंध एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। रंग-ढंग देखकर विश्वास हुआ कि यह आदमी अपना हितू है। कितनी दूर तक आगे-पीछे लगे उसके सँग-सँग चलते गए। गुमाश्ता सिर हिला-हिला कर और किसी के सिर पर तो किसी की पीठ पर हाथ फेर-फेरकर जगन्नाथँऽ के उपदेश याद करता हुआ मुँह फेर-फेरकर बूढ़ों को "ए अय्या !" तो बूढ़ियों को "ऐ अद्दा !" (बापू)

—'लेही मञ्ञू' —'नाही मञ्ञाँ—'नेही मञ्ञी' —'धत्तेरे की !' ....लोग हँसते-हँसते लोटपोट हो रहे थे। गुमाश्ता और भी उत्साह में भरकर सिर हिला रहा था। बारिक समझाता चल रहा था। खेतिहर खेतों में ही रह गए। गाँव की ओर संग चले केवल साँवता और बारिक।

दिउड़ सूटा के कश लगा रहा था। पका केला लिए सोच रहा था, पिओटी होती, तो उसे ही दे देता ! पुयू को नहीं दूँगा ! घर ले जाना ही आफ़त है। कुछ दूर पिछड़ रहा और केले को मुँह में डाल लिया। बारिक गुमाश्ते के पास सटकर चलने लगा और अपनी डंबँऽ-प्रकृति के अनुरूप नरम-नरम नक्की सुर में दँतनिपोरी करने लगा—

"मेरे-को एक कह्ळी (बखशिश) देना ! बूढ़ा ठहरा, कोई 'कानी-कामू' (पैसा) हो तो दे !" गुमाश्ते ने दिया। बारिक ने उसके कान में मुँह सटाकर कहा—"सब भेद तुझे बता दूँगा ; मैं जानता हूँ, मैं !"

बात की करामात को बनिया खूब बूझता है। संसार में नाना प्रकार की देह-कलें हैं। कोई कल मजबूत है, तो कोई कमजोर ; पर सब की चाबी उसके मन में रहती है। उस चाबी के पास पराए मुँह की बात सहज ही पहुँच पाती है। बस कोई एक धारणा, कोई एक भावना भरके चाबी ऐंठ देने की देर होती है, ऐंठते ही कंध-देश की यह बलिष्ठ मानुष-कल भी सुभीते से हथियाने लायक बनकर झूल पड़ती है। उन हाथों में हथौड़ों की-सी चोट और वज्र की-सी शक्ति निहित होती है, उन पेशियों में पहाड़ उखाड़ फेंकने का बल होता है ; पर मन की चाभी घुमाए बिना उन हाथों और उन पेशियों में जंग लगने लगता है। हाथ उठते ही नहीं, पेशियाँ हिलती ही नहीं।

"तू बड़ा भला बारिक है रे बूढ़ा। तुझ-जैसे पुरखा-पुरनिया लोग न होते, तो यह गाँव मिट जाता।—"

"देख, देख ! तू पहचान वाला है। तभी तो झट पहचान लिया। भला पहचाने क्यों न तू ? हम गोरू चराते हैं, तुम मानुष चराते हो ! तू जानता है माहाप्रू, एक बात जानता है ? बूढ़े साँवता के मरने के बाद से

इतने लोगों के इतने प्रकार के झमेले, मैं ही हू कि सुलझा पाता हूँ। और किसी के बस के रोग नहीं ये। ऊँहूँ। पर कौन बूझता है इस बात को? अब यह जो इस बार का साँवना है न,—अच्छा, रहने दे, उसकी बातें फिर बताऊँगा—"

एक ही खींच में गाँव की सारी खबरें मिल गई। कौन कैसा रैयत है, किसकी कैसी अवस्था है,—सब!

व्यापारी का गुमाश्ता उस गाँव में एक दिन और रह गया। ठंडी-अँधियारी बरसाती रात में चौमुंद कंध-घर के भीतर अलाव के पास की पंगत में बैठकर उसने बहुत सारे तीर-तुक्के छोड़ डाले, बहुतेरे उपाय रच डाले, बहुतेरी बुद्धि भिड़ा डाली—"हम तुम्हारे हितू मीत हैं, हितकारी हैं। नहीं तो महाप्रसादी मिताई लगाने को इतनी सौगातें लेके इतनी दूर काहे को भेजता मुझे साहूकार भोगिला जगन्नाथऽ? तुम दुःख में पड़े हो इस वन के भीतर, केवल खटते रहते हो और मरते रहते हो, यह जान भी नहीं पाते कि संसार में सुख नाम की भी कोई चीज है। शहर आना। तुम्हारे मीत, हमारे साहूकार ने बहुत बड़ा-सा घर बना रक्खा है, उसमें रहना। नाना भाँति की नई-नई चीजें बिकती हैं, खरीद लाना। तरह-तरह के लोग-लुगाई देखना, तरह-तरह के कोठे-सोफ़े देखना, तरह-तरह की गाड़ियों पर चढ़ना, दसहरे का जुलूस देखना, पढ़े-लिखों का तेवहार दीवाली देखना, उनके साथ मिल-जुलकर मौज मनाना, आना, ज़रूर आना। हाँ! पर इन सब बातों के लिए पैसे की ज़रूरत पड़ती है। तुम्हारे वनदेश में पेड़-पत्थर हैं, पैसे नहीं हैं। इतनी फ़सलें उगाते हो, 'गाड़' बहा ले जाता है, सूअर उखेड़-उधेड़ डालते हैं, साँभर-जियादी चर जाते हैं, घर में रखो तो पुराने पड़के उमस-गुमस जाते हैं। कटनी के दिनों में हाट ले जाओ, तो पता नहीं किस भाव बिकें। इतनी मेहनत बेकार दो-कौड़ी की हो जायगी, फोकट में चली जायगी—"

बारिक हर बात पर "सत्-सत्" कहे जा रहा था। और भी कितनों ने ही "सत्-सत्" की यह टेक धर ली थी। साहूकार का गुमाश्ता उत्साह

पाकर अपनी योजना समझा रहा था।

"इस समय मेरे साथ भाव पक्का कर लो। अभी से यह पक्का रहे कि उस समय कितने में कितना दोगे। बयाने के थोड़े-थोड़े रुपए लेके रख लो। सूद नहीं लगेगा। कटनी के उतरते मास तक रुपए का एक रुपया ही देना रहेगा। साहूकार कहता है, कंध हमारे भाई हैं। सूद वे ही खाएँ। मैंने छोड़ दिया। रैयत सुख में न हो, तो हमारा भला क्या होगा भला?—"

"सत्-सत्"!—"सत्-सत्।"—"धरम-बात!"

"रुपए लेलो। भाव पटा लो। कटनी पर हमें तोल देना। यहाँ से ले जाना भी तो कोई कम कष्ट की बात नहीं। गाड़ी का खर्च, बैल का चारा, 'गोती' की मजूरी, ऊपर से राह में चोरी-डकैती का डर है ही। अब तुम्हारी मरजी। हम तो इस बरसाती ठंड-पाले में इतना भींग-भाँग के, दुख उठाके आए हैं तुम्हारे ही हित के लिए। लाभ तुम्हारा ही अधिक है, हमारा बहुत ही कम है। चारों धरम देख के मैंने कह दिया, अब तुम्हीं सोचो—"

किसी अनजाने चौपाए की चार टाँगों-जैसे चारों धरम को देखके गुमाश्ता ने कह दिया! उसका कहना था कि सभी 'होइ-होइ' करके राजी हो गए। जानवर उठकर खड़ा हो गया। कंध किसान की साल-भर की पैदावार पेट में डालकर खड़ा हो गया वह जानवर, साहूकार जाति का हितकारी और रैयत जाति का क्षयकारी वह बहादुर जानवर। व्यापारियों के समाज में इसी को 'गडम' कहते हैं। 'गडम' अर्थात् फ़सल कच्ची रहते ही सस्ते भाव पटाके दादनी बाँट देने और फ़सल पकने पर चुपचाप को ले जाने की तिकड़म! 'गडम' प्रथा 'गोती' प्रथा की बड़ी बहन है। 'गडम'! साहूकार की दौलत की नींव है, 'गडम'! रैयत की टूटी हड्डियों पर उसके 'चार धरम' हैं। 'गडम'!

बात पक्की हो गई। पिछले साल दो रुपए 'पुटी'[1] के भाव फ़सल बिकी थी, इस बार डेढ़ रुपए 'पुटी' पर खड़ी फसल अगाऊ बिक गई।

---

१ पुटी की तोल कहीं तीस सेर, कहीं एक मन, तो कहीं डेढ़ मन की होती है। कटक में एक मन की।— अनु०

सबकी आँखों में धूल झोंककर, किसकी उपज कितनी होगी, इसका अटकल-पच्चू अंदाजा कूतकर, किसी को दस तो किसी को पाँच रुपए थमाकर गुमाश्ता ने कागज़ करा लिया। काम सरते ही मोटिए-रखवाले संग लेके गुमाश्ता अपनी छावनी किसी और गाँव को उठा ले गया। उसकी नीति है—" खीर खानी है, पर करवट-ही-करवट।" धीमे-धीमे, हौले-हौले! सूरज उगता है तो पहले बीच में मोती-सा टलमल और किनारे-किनारे हीरे-सा जगमग उगता है। फिर किनारे-किनारे रूपे-सा रुपहला और बीच में सोने-सा सुनहला हो उठता है। फिर धीरे-धीरे किरणों का जाल फैलाता है, लाल, लाल, लाल! लाल, आखिर सब लाल हो जायगा!

बानवे

भविष्यत् !

कब होगा ? कब आएगा ?

कहाँ है वह ? किसी धुआँ-धुआँ दिगंत में उसका आस्थान है !

आदिम मन में अनदेखे भविष्यत् के लिए कोई स्थान नहीं। आज फ़सल घुटने-भर उठ चुकी है। कुछ दिनों में कमर-भर ऊँची हो रहेगी। इतनी बात तो जानी हुई है ; पर भविष्यत् ! उसे किसने देखा है ? कौन उसकी बाबत बता सकता है ? सोचो तो डर लगता है। मन उस पर जम नहीं पाता। कच्चा पैसा, नगद पैसा, नया आनंद लाया है। घर-घर में उसी की चर्चा है। मुट्ठी में एक, कुल एक-ही रुपया हो, तो उसे लेके खड़े रहने में घंटा-घंटा भर मन विचारों में विचरता रहता है, रमता रहता है। भूखे मन की न जाने कितनी ही बेपुजी आसें, कितने ही सपने, आके आँखों के आगे नाचने लगते हैं। रुपया कमर में ज़ोर लाता है। जहाँ कहीं दो जने जुटते हैं, वहीं वही बात छिड़ जाती है।

रुपए के पीछे लगा-लगा 'नाचनी' देवता गाँव में आया। जामिरी बूढ़े के घर फ़सल के अनुपात में सात रुपए आए हैं। जामिरी की बुढ़िया ने रुपए देखे। उसे ध्यान आया, बूढ़े की हड्डियाँ जाड़े में ठिठुरती हैं। जाने कितने बरस बीत गए। बूढ़े-बूढ़ी के बाल हलके-हलके भूरे पड़ने लगे थे, तब की बात है। तभी दोनों एक बार दसहरा देखने शहर गए थे। वहीं से वह बूढ़े के लिए जाड़ों की 'गड्ळी'[1] मोल ले आई थी। कितना गरम था वह। कितना आराम मिलता था ओढ़ के सो रहने में ! वयस बीतने के सँग-सँग उस 'गड्ळी' का अस्तित्व भी इधर कई बरसों से खंड-खंड होकर झड़ता-मिटता रहा है और अब लगभग मिट ही चुका है। बुड्ढा नितांत उघारा-सा ही सोता है। बुढ़िया रात-भर सोचती रही। औचक्के

---

१ कंबल।

में, असमय में, ये सात रुपए आ गए हैं। इसमें एक 'गड्ढोळी' आ सकती है। नहीं तो कितने में आएगी? दसहरा आ पहुँचा है। अपने बूढ़े के लिए एक 'गड्ढोळी' मँगाऊँगी। गरीब की साध नन्ही-सी, आस नन्ही-सी। सपनों-सी यह साध मन के पोर-पोर बेध गई। सवेरे घर-बार के काम-काज निबटा लेने पर उसके माथे के भीतर जाने क्या हो गया! बुढ़िया नाचने लगी और नाचती ही चली गई। रुकने-थमने का तो नाम ही नहीं ले रही थी। डिसारी बुला भेजा गया। आया, देखा। पड़ोसी आए। सिद्ध हुआ कि जामिरी की बुढ़िया को 'नाचनी' देवता लग गया है। बाजे बजे। धूप-दीप जले। इसी उपलक्ष में गाँव में भोज हुआ, दारू के दौर चले। अँधेरा, बदली, बूँदों लदी भाप के रेलों, थरथराती ठंड और हिंवाल पाले के बावजूद गाँव में आनंद की हिलोरें खेल गईं।

वनदेश के अंदर चारों ओर वन-ही-वन भरे पड़े हैं। घोर जंगल!—हठात् किसी जंगल से कोई अशरीरी मृदुवेग निकल आता है। नन्हे-नन्हे कुंज सिर हिलाने लगते हैं। उन पर छाई बेलों की कोपलें कान हिलाने लगती हैं। ऊपर डूह-डूँगर सियाड़ी के हारों की चादर ओढ़े टुकुर-टुकुर ताकने लगते हैं, सखुए के विशाल पेड़ अस्थिर होके हिलने-डुलने लगते हैं, सियाड़ी-बेल की उसकी जटाओं के भीतर कोई पगलाया-सा विप्लव खेल जाता है। किंभूत-किमाकार रूपवाला नाच-देवता किसी पेड़ का सहारा लेकर विस्मय के क्वाँरे मंत्रों के ताल-ताल पर विचित्र भंगियों में नाच-नाच उठता है। उसका जन्म किसी अगोचर में होता है। उसका घर किसी गोपन में होता है। उसका कोई आदि-अंत नहीं मिलता। वन के छौने मूढ़ बने मुँह बाए सिर्फ़ ताकते रह जाते हैं। कहीं कुछ हिलता-डुलता तक नहीं। कहीं कोई पत्ता तक नहीं खड़कता और कोई अकेला पेड़ प्रबल आलोड़न से विह्वल हुआ-सा दीखता है। बस घड़ी-भर की ही तो बात होती है। फिर वह पेड़, पेड़-सा थिराया खड़ा-का-खड़ा रह जाता है। विप्लव का देवता सनासन सन-सनाता हुआ बड़े क्षिप्र वेग से कहीं दूर भागा चला जाता है। रूढ़ संस्थितिवाद की जड़ें पकड़कर झकझोर डालने के लिए।

ऐसा है यह 'नाचनी'-देवता! वह अघोरी होता है अघोरी। बिना कारण ही जब-तब बेजुणियों के ऊपर या और किसी भी स्त्री के ऊपर, आके सवार हो जाता है। उठती-बैठती, खाती-पीती, मामूली-सा विश्राम लेती वे आठ दिनों तक नाचती रहती हैं। फिर उनके संग और भी स्त्रियाँ नाच में योग देती हैं। मंगल के मंत्र जपे जाते हैं, घुटने-भर ऊँचे 'छामुड़िया' मंडप पर मुरगी के अंडे चढ़ाए जाते हैं, डिसारी पूजा करता है; पर नाचनी-देवता हँसी-खुशी का देवता है। वह हँसाता है, जी बहलाता है, तबियत खुश करता है। वह किसी के अमंगल के लिए नहीं आता। आता है दरम् और दरतनी की ओर से अपने लाड़ले कंध-बच्चों को असीसें देने।

जामिरी की बुढ़िया नाच रही है। गाँव-भर के नन्हे-मुन्नों और गाँव-भर की माँ-बहनों का वहाँ जमघट लगा है। पुयू भी हाकिना को काँखों तले दाबे उसी भीड़ में बैठी है। कान बहराने बाजे बज रहे हैं। दिउड़ अपने ओसारे में अकेला बैठा है। अपनी सारी फ़सल पकने के पहले ही बेच चुका है। साँवता होने की वजह से दादनी में बीस रुपए मिले हैं। साहूकार का 'मीत-महाप्रसाद' बन गया है। साहूकार के गुमाश्ते से ढारस के वचन सुनकर गर्व से फूल उठा है। सम्मान पाकर बड़ा हो गया लगता है। गुमाश्ते की बातों के बीज उसके माथे में अँकुरा चुके हैं। अब उनमें कोंपलें लग रही हैं, पत्तियाँ खुल रही हैं। अनजाने सुखों की कल्पना उसे पैंगे दे रही है। अनहोने कुछ-पीले कुछ-रंगीले सुखों के सपने उसकी आँखों के आगे नाच रहे हैं। सब सपने घुल-मिलकर गडमड हुए जा रहे हैं और उनके बीच से कड़े पत्थर की नुकीली चोटी-सी कोई अघसोची प्रतिज्ञाएँ उभरी आ रही हैं। ये प्रतिज्ञाएँ मन-ही-मन सबल-से-सबलतर होती सदा ऊपर को उठती चली जा रही हैं। मन की गहराइयों की निभृत धारणाएँ-भावनाएँ वास्तव रूप अपनाती जा रही हैं। पिलपिलापन छोड़कर कठिन रूप ले रही हैं। उनका यह नया रूपायन सामने खड़ा होकर चितवनों में दृढ़ता ला रहा है। कुछेक रुपयों के दबाव से कोमल मन की नरम-नरम दुर्बलताएँ सदा तले-ही-तले की ओर धँसती चली जा रही हैं। पारिपार्श्विक भावनाओं के थपेड़ों ने

मानो उसे इस बात की दिलजमई करा दी है कि अब बेर हो चुकी है, देर मत कर, कर डाल जो करना है।

बादल घिरे हैं। अँधेरे-ही-अँधेरे में बेर ढली चली जा रही है। बरसात थमती नहीं दिखती, उबेर होती नहीं दिखती। ठंड लगातार बढ़ती ही जा रही है। पवन बूँदियों के छींटे दूर-दूर तक उड़ाए डाल रही है। झपसी लगी है। झपासें आ रही हैं। लगता है फिर इक्कीस दिनों तक चलनेवाली इक्कीसी झपसी शुरू हो गई है। घर से बाहर निकल पाना मुहाल है और पड़ोसन बुढ़िया है कि ऐसे दुर्दिन में ही नाच उठी है। क्या तो 'नाचनी' सवार है उस पर! सारा गाँव वहीं जुटा है। इस भीड़-भड़क्के से उसका जी कुढ़ रहा था। क्या है वहाँ? सारा गड़बड़झाला है, गोल-माल है! दिउड़ू को निराले एकांत की जरूरत है। उसे अपनी भावनाएँ सजानी हैं। उसे नई राह की दिशाएँ ठीक करनी हैं। बादलों के हार-के-हार मण्यापायु से बंदिकार की ओर तिरे चले जा रहे हैं। यह बरसात मन में पुराने के प्रति एक विद्रोह जगा रही है। नए के प्रति राग-अनुराग का एक नया आवेग आवेश के साथ उमँड़ पड़ा है। मन की स्थिरता खो गई है। अंतर के सभी कोलाहलों को इस आवेग ने पीछे ढकेल दिया है और आँखों के आगे अँधेरे का एक अथाह सागर उमँड़ा रखा है। वहाँ सन्नाटा है—सुनसान, रुआँसा, ओदा-ओदा सन्नाटा! हवा उदास मन की असार खोखली वाणी-सी बही जा रही है।

दिउड़ू एकाएक उठ पड़ा और जामिरी के घर की ओर बढ़ गया। जाने कब उसके अनजाने ही उसके मुख की मुद्रा कर्कश हो उठी थी। आँखों में कोई धुआँती आग सुलग उठी थी। वह जामिरी के ओटे पर चढ़ गया और अपनी पत्नी के कान के पास जाके फुफकार उठा—"पुयू!" मुँह फेरकर दिउड़ू का चेहरा देखते ही पुयू आशंका से काँप उठी। भीड़ में हाथ बढ़ाकर पुयू के हाथ को झटकारता दिउड़ू बोला—"घर चल!" भीड़ को ठेलती-ठालती निकल कर पुयू घर चली। जामिरी की बुढ़िया नाचती रही। बूढ़ा बुद्धू-सा उसे निहारता बैठा रहा। दिउड़ू घर लौटा। पीछे से जामिरी बूढ़े की चिरौरी सुनाई पड़ रही थी। डिसारी के निहोरे करता वह

कह रहा था—"झटपट उतार दे डिसारी, झटपट उतार दे। आठ दिन नाचती रहने की इस बुढ़िया की अवस्था नहीं है। बिलट जायगी।" बूढ़ा अपनी यही विनती बारंबार दुहराए जा रहा था। सुबह से अब तक यह बुड्ढा एक ही आसन से बैठा हुआ है। सभी लोग 'नाचनी' देख रहे हैं, असीसें ले रहे हैं, गाँव का तेवहार मना रहे हैं, पर जामिरी के बस एक ही चिंता पड़ी है। उसे और कुछ भी सूझ नहीं रहा। संसार में उसकी बस यही संपत्ति है। बुढ़िया ही उसका सरबस है। सदावर्त में उसे भी लुटाकर दीवालिया बन जाने के डर से उसका हृदय टूक-टूक हुआ जा रहा है; पर उसका यह मोह भी दिउड़ की आँखों में काँटों की तरह खटकता है। आखिर इस बुड्ढे को हुआ क्या है? लोक-लाज ताक पर धर के भोर से ही इतने लोगों के सामने बस एक ही रट लगाए हुआ है!—

पुयू घर आई। बच्चे को कँखियाए कोठरी के भीतर पैठ गई। दिउड़ साहूकार का 'मीत' बन गया है! बीस रुपए का मालिक! गाँव का बड़ा मुखिया, साँवता! लेंजू कंध अब नहीं रहा, बेजुणी अब नहीं रही। वह भाग गया, वह मर गई। बदली की अँधियारी में चिंताएँ गहन निबिड़ हो उठी हैं। दिउड़ ने पुकारा,—"पुयू।"—

"हाँ?"—पुयू घर के भीतर चूल्हे के पास बैठी अधमरी आग को फूँक-फूँक कर जिलाने में लगी थी। पुयू उठ खड़ी हुई। उसके दोनों कंधों पर दोनों बाहें डालकर मुँह के पास मुँह सटाकर उसी तरह फुसफुसाता दिउड़ बोला—"पुयू!" धक्का खाकर दूर फिक गई-सी सिकुड़ती हुई पुयू ने कहा—

"चला क्यों आया तू? नाचनी नहीं देखी? क्या सोचेंगे वह?"

दिउड़ केवल हुँकरा, गुर्राया। ओटे पर आ बैठा। अशांति लग रही थी। धीरे-धीरे पुयू के दोष गिनने-गुनने लगा। कैसी अबूझ है। दीदा जलके कैसा खाक हो गया है! रसोई-पानी का कोई ठीक-ठौर नहीं। दारू-पानी का कोई बंदोबस्त नहीं। धुँगिया-चिलम का कोई पता-ठिकाना नहीं।

दिउड़ रह-रहकर उसे गालियाँ देता रहा। घर के भीतर काम में लीन पृयू केवल हँसती रही।

गालियाँ बकते-बकते मुँह थक गया। दिउड़ चुपचाप उठा, — 'तर्लातर्लो' ओढ़ ली और बाहर निकल पड़ा।

तिरानवे

डंबऽ बारिक के घर तक पहुँचकर दिउड़् शांत हुआ। ठंड हड्डियों में समाने लगी। देह गलने-सी लगी। बौछारें तेज़ पड़ीं। बेर कैसे झपाटे से भागती है आजकल! साँझ का अँधियारा घटाटोप घिरा आ रहा है। दिन का कोलाहल डूब चला। साँझ की यही तो वह ज़रा-सी बेर है, जब दूर के आकाश पर ताकने से मन किसी विराट् नेतिवाद से, किसी बड़े बिछोह से आप ही सिमटकर कहीं भाग जाना चाहता है,—जब लगता है कि कहीं कोई नहीं है, कहीं कुछ नहीं है, निर्जन-निस्तब्ध बरसाती राह पर कोई अकेला पथिक खोया हुआ किसी अनिर्दिष्ट मंज़िल की ओर बढ़ा जा रहा है। दूर कहीं से चिकनी काली ओढ़नी बिना कोई सूचना दिए धीरे-धीरे फैलती चली आ रही है। उसके आगे-आगे कुहरे से हलके धूसर मेघ का धुआँ उड़ा आ रहा है। बूँदियों के उजले-उजले तीर एक दूसरे को काटते गुणक-चिह्न बनाते बरसे जा रहे हैं। बिना किसी आडंबर के बरसे जा रहे हैं। उनके निशाने भी धरती को बेधते किसी अंधकार में डूबे जा रहे हैं। वही सुनसान राह है। कुंज ठंड में काँपते-से धीरे-धीरे हिल रहे हैं। चारों ओर निहारने पर पहाड़ों की श्रेणियाँ पुंज-पुंज अंधकार की तरह दिखाई देती हैं। ये अंधकार मानव-मन को तेज नहीं देते, उकसाते नहीं, दबा डालते हैं, कुचल डालते हैं। विह्वल भाव से आगा-पीछा करता दिउड़् साँवता बारिक के अहाते के आगे इधर-से-उधर मँड़लाता रहा। ठंड से ठिठुरते अँधेरे में वासना की भूख बढ़ उठी है, बढ़-बढ़कर उसे ग्रसे जा रही है। प्रकृति की महा-विदाई की इस निर्वाक् घड़ी में वह अपनी छाती तले की धड़कनें भी बहुत साफ़-साफ़ सुन रहा है। वह बाहर कुछ नहीं देख पाता, केवल अपने भीतर को ही देख रहा है। देख रहा है कि "मैं क्या चाहता हूँ? मेरे गोपन मन का इतने दिनों का अभियोग क्या है?" मानो हाट से लौटती बेर राह-किनारे के आम के पेड़ तले कोई अकेला बैठा अपने-आपको तोल रहा हो। इस

तरह उसने न जाने कितनी ही बार सोचा होगा ; पर सोचे हुए काम को कर डालने के लिए हाथ उठते ही नहीं। इस दुर्बलता का कारण क्या है ? बाहर से देखो तो भीतर की यह हलचल दिखाई नहीं देती। बाहर से बस इतना ही दीखता है कि कोई आदमी मुँह नीचे गाड़े ठिठकता हुआ बारिक के घर की ओर पग भरता चला जा रहा है। पैरों में ठेस लगी। कोई पत्थर टकराके ठन्न-से बोला। अटका। हठात् ध्यान आया कि लेंजू कंध भाग चुका है, बेजुणी को बाघ खा चुका है, सरबू सौंवता मर चुका है। बीते दिनों की ठीक यही अनुभूति कैसे-कैसे विचित्र अनुषंगों में याद आने लगती है। क्यों, किसलिए ? दिउड़ सौंवता ओटे के पास लग आया। ओसारे में घुप्प अँधेरा था। अपने मन ने उजेला बाल दिया। मन की गहराइयों का अति-प्रिय पिशाच सारे अस्तित्व को ग्रसकर मुस्तैद खड़ा हो गया। समाज की नीति, समाज के संचित विश्वास, समाज की न्याय-भावना, गुफावासी वनैले मानुष के लिए बेड़ियाँ मात्र हैं। गुफावासी मानव-मन किसी की परवाह किए बिना, किसी का मुँह ताके बिना, किसी की बाट जोहे बिना, अपने सँग बस आप ही रहना चाहता है। दिन के उजाले में संगी-साथियों की भीड़ के बीच उसे देवता बनना रुच सकता है, भा सकता है, सुहा सकता है ; पर इस अबेर के इस बौछारी मौसम में वह करवट फेर लेना चाहता है। समाज के दस जने के संग गिरस्ती करने में अपने आपको दबाकर अपने जिस निभृत अस्तित्व को तले दबा रखा है, उसे बाहर निकाल लाना चाहता है। ना, वन का मानव-मन विषय ढूँढ-ढूँढकर सोचना नहीं जानता।

अँधेरे को देखकर उत्तेजना आ गई है। कानों में विमान उड़ने-सी भाँयं-भाँय हो रही है। दिउड़ ओटे पर चढ़ गया। पुकारा—"बारिक !" ओटे के कोने में बाळमुंडा गुमसुम बैठा था। उठकर पास आ खड़ा हुआ। सौंवता के कुछ कहने की बाट जोहे बिना ही बोला—"टोले में होगा बूढ़ा। जाता हूँ, बुला लाता हूँ।" वाक्य पूरा करता-करता ही ओटे से उतरा और चला गया। कैसा अद्भुत बरताव है इसका। दुबका-दुबका रहता है, भागा-भागा फिरता है। थमका-ठिठका दिउड़ खड़ा रहा। भीतर कहीं से कुछ

खुटखुट-खुड़खुड़ सुनाई पड़ी। पुकारा—"बाळमुंडा।"—बाळमुंडा चला जा चुका था। कोई जवाब न मिला। 'बाळमुंडा तो चला गया!'—बस और कुछ भी दिउड़ सोच न सका। गरमाया लहू उसे ढकेल रहा था, दनादन उस अँधेरे घर में पैठ गया वह।

अँधेरे में कुछ दिखाई नहीं दे रहा था।

घर के भीतर से वही खुटखाट-खुड़खाड़ सुनाई पड़ रही थी। और चूड़ियों की खनक पागल किए दे रही थी। बारिक को बुलाने गया है, वह आता ही होगा। बारिक से काम है। पर ना: काम-धाम अभी कुछ भी सूझ नहीं रहा। जिस दिन बेजुणी को बाघ खा गया था, उस दिन साँझ-डूबे घर लौटती बेर राह किनारे बाँहें पसारे कौन खड़ी थी वह, भिखारिन सी? पर वह कुछ भी याद नहीं आ रहा था। इस समय किसी और बात का ध्यान न था। ध्यान था तो बस एक, अँधेरे का। अँधेरे का और अपना। अँधेरे का और अँधेरे की आत्मा 'उस' का। किस कोने में दुबकी है वह? कहाँ है उसका अस्तित्व? बार-बार ठेस लगती थी, बार-बार हाँड़ियाँ लुढ़क पड़ती थीं, वार-बोर छींकों पर झूलती चीजें सिर से टकराती थीं। घुप्प काले 'झोले' की कीच-पाँक में बनैले सूअर-सा सुँसुँआता दिउड़ टटोल रहा था। इस टटोल का कोई ओर-छोर नहीं मिल रहा था।

हठात् किसी से टकराया। यही है! दीवार से लगी-लगी खिसकती दरवाजे की ओर जा रही थी। दिउड़ ने दोनों बाँहों में कस लिया उसे। पागलों-सा सारा जोर लगाकर। सारी पेशियाँ टनकाकर। लची जा रही है। पिसी मेरी देह में घुली आ रही है! गुनगुना माँस, नरम माँस! और कितना दबाने पर इसकी हड्डी की मज्जा फूट निकलेगी? इसके इस स्थूल, वास्तव, पृथक् अस्तित्व के बने रहने की दरकार ही क्या है? मिल जाय मुझमें, समा जाय। इसकी सत्ता का लोप हो जाय! भोग की वस्तु ही तो है, खाद्य ही तो है?! बनैली नीलगाय की तरह फुँफकारता और बाघ की-सी मुट्ठी में उसे कसता दिउड़ उस पर भिड़ा जा रहा था। क्यों? कोई हेतु नहीं, कोई ज्ञान नहीं! हाथ में आया वह ग्रास पल-भर और उसी तरह उस

बाहुबंधन में बेतरह छटपटाया, प्रबल वेग से छलमलाया और न जाने कैसे बंधन शिथिल पड़ गया और आबद्ध जंतु अपने को छुड़ाकर बाहर की ओर भाग चला । छन-भर का यह ज्वार-भाटा दूर से तिरस्कार करता-सा सपना तोड़ गया—" साँवता ! " यह टूटती लहर कितनी दूर है ? यह चूर-चूर फेन कितनी दूर है ? यह "साँवता"-पुकार किसकी है ? 'वह' कहाँ जा खड़ी हुई है ?

दिउड़ साँवता बाहर आया । मन के पिशाच ने अभी भी आस नहीं छोड़ी थी । बाहर अँधेरा कितना बढ़ गया है । सूना घर है । और कोई नहीं । बादल गड़-गड़ चू रहे हैं । धीरे-धीरे हाथ बढ़ाता दिउड़ आगे बढ़ता गया । सोनादेई खड़ी थी । झट पलट पड़ी और दूर सिमट खड़ी होती हुई भीत-करुण गले से इतना सारा क्या-क्या बक गई—

"एँ एँ—एँ—कहाँ आया है तू साँवता ? —ऐसा क्यों हो रहा है तू ? —क्या बात है ? क्या—क्या—"

यही है वह सोनादेई ! दिउड़ ठंडा पड़ गया । बोला—"सोनादेई ।" कोई जवाब नहीं । "सोनादेई—" एक बार और नरमाकर पुकारा और दो डग आगे बढ़ गया । सोनादेई बच्चों-सी चिल्लाती बाहर बरसते पानी में कूद पड़ी । भींगती खड़ी रही । बोली—"मुझे डर लग रहा है ।—कहाँ गए सारे ?—" ओलती-तले खड़ी होके स्वर में सारा ज़ोर भरके, शंख फूँकती-सी पुकार उठी : "बाबा !—हेऽऽ बाबा !—हेऽऽ बाबा !—"

नशा टूट गया । दिउड़ ने पुकारा—"भींग क्यों रही है । आ जा, ऊपर आ जा ।"

उसकी अनसुनी करती सोनादेई ने ससुर को पुकारा—"हे बाबा !"

सिर ठंडा पड़ चुका था । छाती के भीतर दुरमुस पीटती-सी धड़कनें धीमे-धीमे क्षीण-से-क्षीणतर होती जा रही थीं । उसे अब और अनुरोध करके ऊपर बुलाने की मन की अवस्था रह नहीं गई थी । दिउड़ दोनों हाथों में मुँह लेकर धसक के बैठ गया । जी दब गया था । अचंभे में पड़ा सोच रहा था कि यह क्या हो गया ? सोनादेई ऐसी क्यों हो गई । स्त्रियों का

चरित्र भी विचित्र होता है। दिउड़ अपने मन को तोलने लगा। इधर के कुछेक दिनों की घटनाओं की याद करता सोचता रहा। सोचता रहा कि इस बीच कब क्या किया कि सोनादेई भी छिटक के दूर जा पड़ी? कौन-सी घटना हुई, जिससे वह इतनी बिदक गई? सोचता रहा। ना:, आप पहल करके सोनादेई को दावत तो मैंने कभी नहीं दी। सोनादेई आप ही बढ़-बढ़ कर आ लिपटी थी। और फिर धीरे-धीरे न जाने क्या सोचकर आज फिर इस तरह खिसक गई। दिउड़ की कंध-धारणा के अनुसार स्त्रियों पर किसी की बस नहीं चलती। स्त्रियाँ आप-ही-आप बदलती रहती हैं। जब जैसी मरजी। मन हुआ तो हाँ, न हुआ तो ना। सोनादेई आसरा ढूँढ रही थी, सहारा ढूँढ रही थी, आज उसे किसी सहारे की दरकार नहीं। बरसाती अँधेरे में अपनी ओलती-तले भींगती खड़ी रहना ही उसे अच्छा लगता है; पर क्यों? क्या हुआ? उधेड़बुन में वह सिर धुनता रहा; पर दूर को पुकारती सोनादेई की बारंबार की गुहार उसकी चिंताओं की डोर उलझा-उलझा देती थी। सोनादेई पुकारे ही जा रही थी—"बाबा—हेऽऽ बाबा!"

ठंडे सुर में रूठता, मान करता-सा दिउड़ साँवता बोला—"काहे को भींगी मरती है सोनादेई? कोई आता तो है ही नहीं। आ जा, तू ऊपर आके चुपचाप आराम कर, मैं जाता हूँ।"

और वह उठ पड़ा—"सुनती है? मैं जाता हूँ। बारिक आए तो कह देना।"

सोनादेई ने अनसुनी कर दी। कुछ और दूर हट कर पुकारने लगी। जान-बूझकर थोड़ा-थोड़ा और खिसकती गई। मकड़ी के जाले ने दिउड़ के पैर छान लिए। वह खड़ा रहा। जाने के लिए भी उसे सोनादेई की अनुमति चाहिए थी।

आगा-पीछा का भाव कट गया। दूर से आवाज़ आ रही थी—"हाँ, हाँ।" बारिक और बाळमुंडा दोनों आ रहे थे। सोनादेई बाळमुंडा के पास दौड़ गई और मान करती ठुनकती सी बोली—"अरे, बड़े भले लोग हो तुम भी! साँवता को बिठाला तक नहीं! अँधेरे में बाहर खड़ा छोड़

के जो तू गया सो गया। पुकारते-पुकारते हार गई, सुनता तक नहीं।"

उस आवेदन में गर्व भी था, ताच्छिल्य भी। बाळमुंडा का हाथ धरे झटकारती आती सोनादेई ने फिर कहा—"कैसी सूझबूझ हो गई तेरी, बता तो।"

जाने कितने अनगिने दिनों बाद स्त्री ने आज उसका हाथ छू लिया है। सामने साँवता खड़ा है। बाळमुंडा हाथ छुड़ा के दौड़ा-दौड़ा घर में पैठ गया और वहीं से बोला—"मैं ज़रा दिया बाल लाऊँ।"

अब कहीं सोनादेई को भरोसा मिला था। बारिक को देखती वह आश्वस्त हुई जा रही थी। दिउड़ साँवता तीखी निगाहों से घूर रहा था।

उसके उद्वेग को हँसी में उड़ाता बारिक बोला—"क्या, हुआ क्या? घर में कोई और न था, तू तो थी ही? अपने साँवता को रख नहीं पाई? उलटे मुझ बूढ़े पर दोष थोप रही है? खाट-पाट डाल दी होती, दिया-बाती बाल दी होती, बरसाती रात ठहरी। साँवता तेरा कि मेरा? मेरा तो राजा है। तुझे पता नहीं? सच कि झूठ, तू मेरा राजा है न साँवता?"—साँवता का मुँह निहारता बारिक हँस-हँस कर बकता गया। दिया आया। सोनादेई सिर गाड़े मुँह सुखाए खड़ी थी। साँवता हँसा नहीं। गंभीर हो के हुँकारा—"हूँ, ऊँ-हूँ।"

बारिक बोला—"तब से खड़ा है, बैठ साँवता बैठ। अरी ओ सोनादेई, उस हँड़िया में क्या है, ला। बैठ साँवता। आप चला आया। तेरी दया! तेरा ही घर है, तेरा ही बार है, तेरी दया न हो, तो हमारा जीना बंद।" नाना वाक्यों से स्तुति की उसने। लेंजू कंध के मामले को लेकर साँवता को जो रीस थी, उसे बारिक भूला न था। गीत गा-गा के रीछ को रिझाने-जैसी स्थिति थी उसकी। ऊपर से हँस-हँस कर चाटुकारी कर रहा था और भीतर-ही-भीतर डर के मारे सूखता जा रहा था। फिर क्या सोच बैठा है यह? आने के पीछे क्या मतलब है? कुछ बोलता क्यों नहीं है? बारिक ने पुकारा—"किधर गई सोनादेई? इतनी देर क्यों कर रही है? क्यों बे, भकुए-सा खड़ा क्या है बे बाळमुंडा? जा के ढूँढ़ नहीं लाता बे?"

"कहाँ जाऊँ ? तू ने जाने कहाँ रखा है। मैंने देखा थोड़े ही है !"

"किधर गई सोनादेई ? और जाय भी कौन ? मैं देख लूँ तो सारा आप ही पी बैठूँ। बूढ़ा ठहरा, अपने को सँभाल नहीं पाता। हइ, अच्छा, कोई मत जाय। साँवता आप भीतर जाके पी आए। जा साँवता, सोना-देई बता देगी, भर पेट पी लेना, भर पेट।" "जा, जा" कहता हुआ उसने साँवता के मुँह पर ताक कर हँस दिया। बोला—तू जा, तू, जा, दर-वाजे पर मैं तो बैठा ही हूँ।" और स्वगत कहने लगा—"ओह, कैसी ठंडी रात है। अँधेरी रात। कहीं कोई नहीं है !"

दिउड़ू उसकी दावत पर हिला नहीं। पेड़-सा खड़ा-का-खड़ा रहा। बोला,—"बारिक......"

"और कोई बात साँवता ?.....क्या ?"

"बात नहीं है तो क्या तेरे घर यों ही दौड़ा आया हूँ ? बुड्ढा उल्लू कहीं का।"

"एँ-एँ।"—सिर झुका कर दुहरा होता बारिक साँवता के आगे बारिक-सा खड़ा हो रहा। बोला—"कह, कह !"

"कल मेरे संग बंदिकार चलना होगा। तुझे और बाळमुंडा, दोनों को।"

"कहाँ जायँगे, लेंजू काका को ढूँढने ?"

अब दिउड़ू सँभाल नहीं पाया। इतनी देर तक का सारा रोष फट पड़ा। चप्पत तान के टूट पड़ा। उधर से किलकिलाती सोनादेई दौड़ी आ गई। सोनादेई को देख के दिउड़ू चुप हो गया। रोष उतरने लगा, भभकने का नाम ही नहीं ले रहा था। शान्त हो के सोनादेई ने पूछा—"बूढ़े से कौन सा कुसूर हो गया ? मारे क्यों डाल रहा है तू इसे ?" बारिक के कंधे पर हाथ डाल कर सोनादेई ने उसे धीरे से बिठला दिया। बारिक थरथरा रहा था। सोनादेई बोली—बैठ-बैठ। माई री, बुढ़वा कितना कँपकँपा रहा है। इस तरह इस गाँव में पड़ा रहा, तो किसी दिन पिट-पिट कर टें बोल जायगा बाबा। डंब'ऽ हैं, तो क्या जीवन जीवन नहीं है ? बात-बात पर मार-पीट,

गाली-गलौज, ज़ोर-जुल्म, ज़बरदस्ती ! मैया री मैया ! क्या कह डाला बाबा ! कौन-सा कसूर कर डाला रे बुड्ढा ! "—वह कनखियों-कनखियों साँवता को ही देख रही थी।"—कह ना, कह ना......"

सोनादेई को देख-देख के दिउड़ू ने लेंजू कंध वाली बात उधेड़नी चाही। पर बात गले में ही अटकी रह गई। इस सोनादेई में इतना तेज कहाँ से आ गया ? क्या सुन रहा हूँ ? मुँह की बात को मन के भीतर कैसे धँसाती जा रही है।.....दिउड़ू साँवता भकुए-सा खड़ा रहा। बदल कर ठंडा पड़ते हुए कहा—"मुझे रिसाना मत बारिक। बात करना तो धीमे करना। हाँ, कल सवेरे बंदिकार जाना है। काम है। बघलगी की राह ठहरी, अकेले नहीं जाते। तू बारिक है। लोग माँगें तो लोग दे, बेगार माँगें तो बेगार दे। इतनी बात मत पूछ कि क्यों। मुँह-फट मत बन। इतना पुराना बारिक है तू। कभी किसी और से भी पूछा था, या मुझी से पूछने चला है रे ?"

"कसूर हो गया, साँवता, कसूर हो गया। तू न मारेगा, तो और कौन मारेगा ? मार, पीट, तेरी दया। अरी ओ छोकरी, तू औरत हो के बक-बक क्या किए है ? हर कहीं बढ़-बढ़ के लड़ने आती है !—यह भी कोई तेरा मायका थोड़े ही है !...."

सोनादेई चली गई।

"मुझे मार साँवता, मार, पीट, मार डाल, जान से मार डाल। कल मुरगा बोलते ही बंदिकार जाऊँगा। बूढ़ा ठहरा। बात भूल से निकल गई। नसा दिया। कसूर हो गया।"

"मुरगा बोलते हाज़िर रहना।"—कहता हुआ दिउड़ू साँवता अँधेरे में बिला गया। वह सोच भी नहीं पा रहा था कि बारिक का कसूर क्या था। पीछे से बारिक का गरजना सुनाई पड़ रहा था। सुनने को मटि-याकर चाल धीमी कर ली—"कैसी अबूझ है तू। आया था, तो सँभाला क्यों नहीं उसे ? जतन से रखा क्यों नहीं ? रिसा क्यों दिया ?"

बाळमुंडा की आवाज बिलकुल नहीं सुनाई पड़ती थी। सोनादेई

जाने क्या अंटशंट बकती सफाई दे रही थी। बातों में रुलाई का सुर आ मिला। बारिक और भी गालियाँ देने लगा। यह लो, सोनादेई पुक्का फाड़ के विलाप करने लगी। दूर-दूर तक अँधेरी बरसात में केवल सोना-देई के रोदन के ही स्वर गूँज रहे थे, सोनादेई के विलाप के स्वर।

आज सारा मामला ही उलट-पुलट गया है।

कहाँ आया था और क्या - कुछ कर बैठा। यह रोना-धोना, यह गाली-फजीता, आखिर किसलिए ? लोग इतने बदले-बदले क्यों हो रहे हैं ? कुछ समझ में नहीं आता। बस ऐसा लगता है कि कोई पीछे से ठेले जा रहा हो। यहाँ पल-भर भी मत रुक, पल-भर भी मत रुक। दिउड़ु साँवता भाग आया। धीरे-धीरे सारी चिन्ताएँ चारों ओर से खिच-खिच आईं। सिमट-सिमट आईं। ध्यान एकाग्र होकर पिओटी पर जम रहा। मन को बल आया। अँधेरी बरसात में उस परकीया के ध्यान से मन को गर-माता-गरमाता वह घर पहुँचा।

पुयू आग जलाए बैठी थी। पुयू अभी तक सोई नहीं ! मूढ़ बन गया-सा हाकिना बाप का मुँह ताकता रहा। पुयू हँसी। बोली—"जाना चाहता है तेरे पास। ले लेगा जरा ?"

दिउड़ु कुछ न बोला। मान करती-सी पुयू बोली—"कह रहा था तू कि भूख लगी है, और बे-खाए ही चला गया !"

"हाँ, सब कर-धर के परोस गई थी तू ! खाया नहीं ! कसूर हो गया ! बड़ा कसूर हो गया ! अच्छा, अच्छा, अब और मत कोपना। दे, खाने को दे।......"

पुयू ने झटपट खाना परोस दिया। दिउड़ु कुछ बोला नहीं, चुप लगाए खाने बैठ पड़ा। जामिरी की बुढ़िया को नाचनी-देवता छोड़ गया है। लगता है जामिरी की चिरौरी-विनती से पिघल गया। अब सन्नाटा साँय-साँय लगता है।

बड़ी रात तक नींद नहीं आई। आज भिनसारे ही निपटारा कर डालना है। मुरगा बोलते ही उठकर बंदिकार को चल देना है। बारंबार

छटपटी-सी लगती है। मन में तूफ़ान है। नींद नहीं आती।

सोचता रहा, बंदिकार जाने की बात पुयू को बतानी है कि नहीं ? पूछ बैठे तो ? कहने का हौसला न हुआ। सब दिन-सा आज भी हुआ। अन्तिम विच्छेद के द्वार पर अटका रह कर वह आप ही अप्रस्तुत हो-हो उठता था। यह, पास ही, पुयू सोई है। अचेत नींद में। जानती है ? क्या जाने वह ? कुछ संदेह भी है उसे ? कैसी लग रही है !...मानो आजन्म इसी घर में रहती आई हो, मानो यह सबकुछ उसी का हो, सोलहों आने उसी का। गरदन उठा कर दिउड़् ने देखा—"नाः, कहना पार नहीं लगेगा। पीछे देखा जायगा।"

दिउड़् सो रहा।

सोचा, क्यों, क्या यों नहीं हो सकता कि दोनों रहें ? पिअंटी भी, पुयू भी ? मैं उदार हूँ, दयालु हूँ, मुझे कोई आपत्ति नहीं, ब्याहता को आँधी-पानी में ढकेल देना मैं नहीं चाहता ; पर अकेली पुयू मेरे काम न आई। आदमी के सहने की भी एक शक्ति होती है, उस शक्ति की भी एक सीमा होती है।

यह छोर भी दिखता है, वह छोर भी। कभी इस ओर तो कभी उस ओर। आँखें मूँद लेने पर भी अप्रिय चिंताओं से त्राण नहीं। मन को बेकार ही डँस-डँस जाती हैं। विषैली नागिनों-सी। चाहे जितना भी सोचता हूँ, जितना भी मन कड़ा करता हूँ कि अब तो निश्चय पक्का कर लिया है, अटल कर लिया है, उतना ही एक मामूली-सा 'लेकिन' आके सिरके भीतर घाँव-घाँव करने लगता है। कान के पास भनभनाते किसी अकेले मच्छड़ की तरह। उसी एक 'लेकिन' का सहारा ले-लेकर यह दुबली-पतली स्वास्थ्य-हीना पुयू आज भी उस दिन की नई दूल्हन-सी कँपकँपाती उठ खड़ी होती है, जब उसके भी स्वास्थ्य था, तेज था, आकर्षण था। उस दूल्हन पुयू की याद अतीत से एक ही छलाँग में वर्तमान को फाँदती धीरे-धीरे भविष्यत् में बिछ जाती है। मच्छड़ों का भनभनाना बढ़ चला है। बेचैन किए डाल रहा है।

लपेट-लुपूट के पड़ रहने पर नींद आ गई। जो होना होगा, होगा। समाधानों का कोई अंत नहीं है।

बौछारों के बीच हवा हू-हू पुकार रही है। दूर की आवाजें उसी हू हू-कार की पीठिका हैं। गलियारे से आवाज़ आई—"सांवता, सांवता!" दिउड़ हड़बड़ा के उठ पड़ा। बाहर ढँका-लिपटा बूढ़ा बारिक और उसके पीछे बाळमुंडा खड़ा था। मौसम देख के दिउड़ ने पूछा—"इतना अँधियारा हो रहा है, मुरगा बोल चुका?"

बारिक ने कहा—"अँधेरा है। बरसात है। ठंड है। बोलने को मुरगा तो बोल गया। अब तेरी मरज़ी।"

"ओह, बड़ी ठंड है।"

दिउड़ ज़रा देर झिझका-सा खड़ा रहा। फिर हठात् मन-ही-मन कोई आवेग उठा। बोला—"चल! चल, चल!" झटपट जाके तर्लातर्ली, बरछा, टाँगिया आदि उतार लाया। उसकी पोटली और तुंबी पहले से ही तैयार रखी थी। जा के उठा लाया। घर से पैर निकालते समय नज़र पुयू पर जा पड़ी। कुछ आगा-पीछा किया। सोच में पड़ा। नींद में पड़ी पुयू मांसल लगती है। उसकी हड्डियाँ कहीं छिप गई हैं। पुकारते ही उठ पड़ेगी। सोचा, कहके जाऊँ?

ना:, रहे।

दिउड़ निकल पड़ा। बहुत ही व्यस्त और व्यग्र हुआ-सा बारिक से बोला—"चल, चल!"

चौरानवे

बंदिकार।

बरसाती मौसम में अलाव के पास आग सेंकती ओढ़ी-लपेटी बैठी मंडली में फिर वही गपशप चल रही है। लेंजू कंध बंदिकार कैसे आया, क्यों आया, क्या हुआ था आदि। ले दे के यही तो एक नई चर्चा थी, दुहराते-दुहराते यह भी पुरानी हो चली है, घिस चली है। गाँव का मेहमान अब सोभेना के ओसारे में नहीं रहता। क्रमशः देखा गया कि अतिथि की क्षणिकता की चकाचौंध उसमें नहीं रही। वह तो अब गाँव का रैयत है। किसी के घर आता-जाता नहीं है। राग-अनुराग के पुट देके वैसी बातें भी नहीं करता। जब देखो गुड़मुड़ी सिकुड़ा-सिमटा बैठा रहता है। पिटते समय के गँवई कुत्ते-सा। मानो वह नगण्य से भी गया-बीता हो, हीन से भी हीनतर हो। संसार में अपने-आपको पसार डालने की प्रवृत्ति उसमें नहीं है। सिमटे-सिकुड़े बैठे रहने को जितना ठौर चाहिए, उतने में ही उसका काम चल जायगा। देह-नेह की सुध नहीं रखता, जटा-जूट की सज-सँवार में ध्यान नहीं देता, खाना-पीना तक भूल-भूल जाता है, बस हर घड़ी दुख के भार से सिर झुकाए रहता है, बेलस हड्डियाँ बाँकी किए रहता है। न बात, न चीत ; बस, चुप साधे बैठा रहता है।

पानी लाने आती-जाती पिओटी उसी ओर मुड़-मुड़ के देखती आती है। जान-बूझ कर गहने झनकार-झनकार देती है। कपड़ा फड़फड़ा जाती है। दुःख के ध्यान में लीन, टूटा, पस्त, अधेड़ लेंजू सिर उठाके देखता तक नहीं।

गाँव में रहते-रहते अचानक एक दिन लेंजू खो गया।

लोगों ने इधर देखा, उधर देखा, कहीं पता न चला।

कहाँ गया ? पिओटी सोच में पड़ गई—" माँ, वह भला-सा बूढ़ा सोभेना के ओसारे में बसा था न, कहाँ गया वह ? अहा, बेसहारा बूढ़ा बेचारा ! "

" उसे वैसा मत जान री बिटिया। उस गाँव के साँवता का भाई है।

बदे की कह, नहीं तो इस गाँव में भला वह पाँव ही क्यों देता। घर-घर दर-दर का भिखारी होनेवाला आदमी है वह? कभी नहीं!"

"पर गया कहाँ, माँ? दिखाई नहीं देता।"

"मुझे कहके थोड़े गया है री बिटिया? कहीं गया होगा—"

उसी दिन साँझ को गुमसानी ने पिओटी का संदेह दूर किया। लेंजू कंध म्ण्यापायु नहीं लौटा था, उस दिन हारगुणा साँवता से बातें करके बंदिकार से ज़रा हट कर जंगल में किसी खेती-मँड़ैया के अंदर जा बसा है। पहले भी वहाँ एक घर रैयत बसा था। खेती की मँड़ैया अगोरने को वहीं एक घर है। लेंजू कंध उसी में रहेगा। वहीं रह के खेती करेगा। इसी गाँव का रैयत बनकर।

"अपने बाप का असल बेटा है हमारा हारगुणा साँवता।" गुमसानी कह रही थी—"लौंडा-छौंड़ा है तो क्या हुआ? कैसी पकी सूझ-बूझ है! किसी को रोके क्यों भला? कहता है, खेत गोड़, उपज बढ़ा, पड़ा रह। सब भली तरह रहें तभी तो गाँव का नाम ऊँचा होगा? पहले भी उस घर में दो भाई रैयत थे। दिन-रात काम लगा रहता था। जंगल-झाड़ साफ़ करके झोले के किनारे-किनारे केले-संतरे लगा रखे थे। गाय-गोरू पाल के जगह बढ़ा रहे थे। कौन कह सकता था कि पहाड़ के खोल में ऐसी सुंदर जगह निकाली जा सकती है। बाहर से ज़रा भी टोह नहीं मिलती थी; पर भीतर इतने सारे काम हर घड़ी लगे ही रहते थे। अभी हाल की ही तो बात है। एक भाई को ज्वर ने घर लिया था, मर गया बेचारा। फिर उस साल भारी बघलगी हुई और दूसरे भाई को बाघ खा गया। तब से उस जगह की श्री उड़ गई थी। अब फिर एक रैयत मिल गया है।"

अर्थात् लेंजू कंध पहाड़ के खोल में जा छिपा। बूढ़ा आदमी ठहरा; वहाँ बाघ है, ज्वर है, विस्तृत जंगल है, ये सब उसका सत्कार करेंगे। दिउड़ु साँवता का वह बैरी वहीं रहेगा। अच्छा हुआ, उसका मुँह देखते ही जी आशंकाओं से भर जाता है।

एक दिन मन की यह वृत्ति भी पलट गई। जगन्नाथँऽ साहूकार का गुमाश्ता उस गाँव भी आ पहुँचा। फिर सभ्य देश के मानव के दर्शन हुए। खोई हुई जानी-पहचानी दुनिया के परिचित आदमी-सा वह बड़ा ही भला लगा। पुराने शौक फिर उभरे। पुराने जीवन ने फिर पुकारा। दो दिन रहा वह। और उन दोनों दिनों वह दिउड़् साँवता तक को भुलाए रही। पर सब-कुछ मन-ही-मन। मन होता था कि एकांत मिले तो इस नए अतिथि के पास जाके तैलंगी (तेलुगु) भाषा में कुछ पूछ-ताछ आती। पूछती, किस देस से आए हो? किस राह आए? इस जंगल से छुटकारा पाना बहुत-ही दुष्कर है? वह समझ जाता कि इस जंगल में पड़ी है तो क्या, आम कंध-कंधुणियों जैसी नहीं है।

उस देश की सभ्य भाषा का व्यवहार यहाँ आके पिओटी ने कभी नहीं किया। पहले तो मन-ही-मन तेलुगु में बातें सोच लेती थी, तब कहीं कुभी में बोलती थी। पर धीरे-धीरे कुभी भाषा में सोचने भी लगी। मुँह खुजला रहा था; पिओटी उस परदेसी साहूकार-गुमाश्ता से चाहे जैसे भी हो, बातें करने को उतावली हो रही थी।

माँ को कुछ बताए बिना ही उसने किवाड़ लगा के भीतर से बेंवड़े चढ़ा लिए और टहनियों की बुनी पेटी खोल कर अपनी छोड़ी हुई पोशाक निकाल ली। तैलंगी कपड़े-लत्ते पहने, तैलंगी गहने तैलंगी ढंग से सजा के पहने। घड़ी-भर तक सब काम छोड़-छाड़ कर बैठी चोटी गूँथती और चेहरा सँवारती रही। आधी अँधियारी वाले उस उजाले में नन्हीं-सी आरसी के आगे बैठी शृंगार करते समय तेलुगु गीत आप-ही-आप उसके मुँह से फूट पड़े और वह मगन-मन गुनगुनाने लगी। कभी कोई षोडशी कलावती यही 'कलावचरिम्' गा-गा के नाचा करती थी—

"तेरा मुखड़ा छिपा-छिपा चांद है!
"व्यर्थ दुनिया की आंखों से लाज है!
"दुख पाओ न, चांद को उगाओ!
"मैं उगा हूं इधर, देख आओ!

"शरमाओ ना, चांद यह उगाओ !"

उस पुरानी केंचुली के भीतर उसे लगा कि वह पुरानी काया वापस मिल गई है। उस पुरानी काया में उसने फिर एक बार अपनी उन पुरानी अनुभूतियों को जिला के देखा। सब ठीक-ठाक लगा। ठीक वैसा ही, जैसा यहाँ आते समय था। राह भूल कर इस जंगल में उड़ आई मैदानी हलदी-बसंत चिड़िया की तरह। किवाड़ खोलकर ज़रा-सी फांक कर दी। बाहर कंध देश की गंध थी। गंदगी ! दूर कहीं कंध लोगों की बतरान-बतकही सुनाई पड़ रही थी। गाँव के गलियारे में कोई न था। पिओटी दरवाज़े के पास आरसी लिए बैठी अपने आपको ही निहारती जा रही थी। अपने आप में ही विभोर हुई जा रही थी। मुँह चिकनाते समय उसी गीत की उकसाती-सी टेक फूट-फूट पड़ती थी :

"तेरा मुखड़ा सलोना सा चांद रे,
तेरा मुखड़ा छिपा-छिपा चांद है।"

हठात् ध्यान आया कि सब तो हुआ ; पर जूड़े में खोंसने को सेवती का फूल तो है ही नहीं ! जूड़े में सेवती या गुलाब न हो तो सिंगार अधूरा ही रह जाता है। उसी भावना की राह धीरे-धीरे स्मृतियों के संसार में अभावों का कोलाहल पैठ आया और सपने को तोड़ गया। उसी तरह छैंगजी साड़ी पहने, चोटी लटकाए, पिओटी फिर बेंवड़े ठोंककर बैठ रही। उसे शांति नहीं मिलने की ! कभी नहीं, कभी नहीं !

माँ ने पुकारा—"किवाड़ खोल।"

गुमसानी बुढ़िया ने पुकारा—"ठंड लगती है री बिट्टो, खोल दे किवाड़।"

हड़बड़ाई उठी और किवाड़ खोल दी। खोलते ही दोनों बूढ़ियों ने उसे देखा और देखते ही भौंचक्की-सी मुँह बाए खड़ी रह गईं। गुमसा की बुढ़िया ने मुँह मोड़ देखा और बोली—"यह कैसा भेस है ओ री मैया मेरी ? ज़रा भी पहचानी नहीं जाती।"

पिओटी की माँ ने कहा—"पगली है पगली ! जाने क्या याद आ जाया करता है इसे तो !—"

वह कुछ और कहने जा रही थी ; पर अपने को रोक लिया। देखा, गुमसानी कैसा तो मुँह बनाए प्रश्न-सूचक दृष्टि से ताक रही है। बोली—"ऐसा क्या है जो इतना याद आता है री ?"

पिओटी मारे मान के जली जा रही थी। माँ थी, इसलिए कुछ कह नहीं सकी। उसकी माँ ने ही कहा—"यहाँ ऐसे कपड़े आँखों देखने को भी मिलने से रहे। जा, उतार के रख आ। खराब हो गए, तो और फिर कहाँ पायगी ?"

पिओटी के रुँधे बोल खुले। सूखे गले से हलका विरोध निकला—"एक बार पहन ही लिया, तो ऐसा कौन खराब हो जायगा ?"

माँ ने कहा—"अच्छा, अच्छा, वह सब रहने दे । उतार डाल। बरसात के दिन हैं। कीच-पाँक है।—"

गुमसा की बुढ़िया ने कहा—"हाँ री हाँ।—ये सब क्या। जो देखेगा वही पूछेगा। क्या मिलेगा इस खेल में ?"

थप्पड़ खाए हुई-सी मुँह सुखाए पिओटी कोने वाले कमरे में घुस गई। बच्चों-सी छलकती, कपड़े खोल-खोल के पटकती हुई बड़े कमरे में बैठी बूढ़ियों को उसने यह बात जता दी कि तुम्हारी बात तो माने ले रही हूँ; पर किसी दुर्योग में पड़कर। लो, यह पहली बौर थी, मुरझा के मर गई। समाज की बँधी लीक से तनिक भी इधर-उधर उतर पड़ने पर इस जंगल में भी निस्तार नहीं।

साहूकार के गुमाश्ते के पास तक भी पहुँच नहीं सकी वह। गुमाश्ता सांवता के ओसारे में बैठा बातें कर रहा है। वहाँ जाके तेलुगु बोलने लगे, तो हारगुणा विकृत भाव से तरेर कर जरा हँस देगा ; पर जाय तो कैसे ? गाँव के मुखिए उसे अगोरे बैठे हैं। जाने की राहें सब बंद हैं।

पिओटी ने सारी खबरें सुनीं। गुमाश्ता आया है। दादनी देके खड़ी फ़सल के भाव पक्के कर जायगा। पकने पर उसी भाव खरीदेगा। गाँव में इसी की चर्चा है। साहूकार लाख तरह से भली बातें समझा रहा है ; पर हारगुणा के ऊसर भेजे में कुछ घुसता ही नहीं है। वह मना कर रहा है।

कहाँ तो हारगुणा ने कहा है कि "रुपए की क्या दरकार है साहूकार? हम अपने गाँव में यों ही भले हैं। फ़सल पक ले, खा-पीके बच ले, तो फिर देखा जायगा कि उस समय भाव क्या है? तू कहता है कि उस समय मंदी पड़ जायगी? पड़ेगी तो पड़ने दे, तब की बात तभी देखी जायगी। अभी से क्या पड़ी है? कभी मरना तो है ही; पर उसके डर से आज से ही भात खाना छोड़ तो नहीं देते?"

साहूकार ने लाख समझाया कि पड़ोसी गाँव म्ण्यापायु के लोग अपनी सारी उपज अभी से बेच-बाच के निश्चित हो चुके हैं; पर हिकोका हारगुणा केवल हँसा—"सच?" म्ण्यापायु ने बेचा हो, तब तो बंदिकार हरगिज़ बेच नहीं सकता। म्ण्यापायु के ठीक उलटे रस्ते चलने की बात से हारगुणा के मन को और भी दम मिला। उसका दंभ बढ़ गया। हारगुणा ने अपनी टेक न छोड़ी, मत न बदला, अड़ा-का-अड़ा रह गया।

दो दिनों के लिए पिओटी के मन को भड़काकर, छिपी प्रवणता को उभाड़कर, गुमाश्ता गाँव छोड़ के अपनी राह लगा। मैदानी देस की यादें भी उसी के साथ लौट गईं। एकाकी मन के भीतर मुक्ति की जो आशा थी, लौट गई। पुराने जीवन का जो मोह था, लौट गया। यह अगम वन, यह इतने ऊँचे पहाड़ पर बसी भेंड़ों के रेवड़ की बाड़ जैसी पर्णकुटियों की बेढंगी बस्ती, जहाँ मुरवे की बाड़ों के पास नंगे बच्चे नाचते रहते हैं, पास के जंगल से लकड़हारे की कुल्हाड़ी की ठकाठक चोटें गूँजती आती हैं, ये पुराने दृश्य—ये सब तो अपने लिए कारागार हैं!

कितने दिनों तक उसका मन दबा-दबा रहा। बूढ़ी माँ पाझियाणी है तो क्या, मन की टीस समझ नहीं पाती। बीच-बीच में रह-रह के करुण विलाप कर उठती है—"हाय, जंगल का पानी इसे रास नहीं आता, मेरी बेटी सूखी जा रही है। क्या करूँ, निकौड़िया ठहरी। बरसाती ओले-पानी हों कि ठंड-पाला हो, काम पर गए बिना बनता नहीं।"

पास-पास झपाटे से काम करती कंघुणियाँ इसका क्या अर्थ समझें

भला ? खेत का मालिक केवल दुःखी हो रहता है—" इस 'टोकी' के हाथों काम अच्छा नहीं होगा।"

चर्चा छिड़ती है कि "कंधुणी है तो क्या, पली मैदानों की है। वहाँ पल कर सब भूल-भाल गई है। मैदानी राज की सीखें ऐसा आलसी, ऐसा निकम्मा बना छोड़ती हैं ? छिः ! "

फिर गात-गात पर ठंडे हिंवाल बादलों की वही खरोंचती चोटें, वही थपेड़े। पैरों में फिर वही लसीला कीचड़ ! फिर पत्थरों का वही चुभना, वही ठेसें, वही ठोकर ! फिर वही ऊबड़-खाबड़ फिसलन-भरी राहें ! फिर वही दुनिया, जहाँ वास्तव जीवन को पल-पल वास्तव न समझो, तो पग-पग पर विपद मुँह बाए खड़ी रहती है। और इस गाँव में अपनी रहनी, बत्तीस दाँतों के बीच जीभ की-सी !—सभी रैयतों से छुटे, ठुकराए काम को करके भी गोष्ठी के आसरे पर जीवन-धारण ! ऊपर से यह सपने का रोग ! —सोच मरने का आलस निराशा की जड़ता को सामने पाकर जीवन के धक्के खाकर, किसी कोने में जा छुपता है। कुछेक दिनों में ही पिओटी फिर सहज सतह पर उतर आई। लौटी जा रही सी आशाओं-कल्पनाओं की फाँक से इस जीवन के इन्द्रधनुष-सा दिउड़ू साँवता फिर उग आया और अपनी सतरंगी झलक दिखाने लगा। किसी के गुण गुन-गुन कर उदास होना भी जीवन का ही एक लक्षण है। उसके बिना आदमी जी नहीं सकता। बरसाती बूँदों के पार पहचानी अनुभूतियों की लीलाभूमि, बंदिकार के पास के उस जंगल की ओर टकटकी बाँधे पिओटी फिर दिउड़ू साँवता के गुण गुन-गुन कर जीने लगी। दोनों ओर सोतों-सी बही जाती औरों की सुख-दुःख की गिरस्तियाँ उस धारणा को बड़े ही विसदृश भाव से उग्र-से-उग्रतर बनाती रहीं। पिओटी बाट जोहती रही। सभी यादें बसती मन में ही हैं। आदमी कभी किसी को भुलाए रहता है, तो कभी किसी को। आजकल पिओटी मैदानों की यादें भुलाए है।

कुछ पूछना हो, तो कैसे-कैसे छल-छद्मों से पूछना पड़ता है। कभी काम करते समय, कभी गुमसानी से, तो कभी गाँव की अलियों-गलियों में किसी

और से, तरह-तरह के ऊटपटांग सवाल पूछती है पिओटी—"अच्छा, अरी ओ, गाँव यह अपना बड़ा है कि म्ण्यापायु ? कैसे उल्लू हैं वे, उपज खेतों में ही बेच डाली ! इतने कंध हैं वहाँ, किसी को सूझ न हुई ? हाँ भई हाँ, साँवता तो सचमुच ही अबूझ है ; पर उसकी घरनी भी तो है ? उसने उसे बुद्धि न दी होगी ? हाँ सच-सच, वह साँवता अपनी घरनी तक को नहीं पूछता। उपज तो बेच ली, अब इस समय रुपए लेके क्या कर रहे होंगे वे ? ठीक कहा, रुपए ले के घर बैठे मौज उड़ा रहे होंगे। ठंड के दिन हैं, तिस पर उस गाँव में बघलगी भी हुई है ; ऐसे दिनों में अगर हाथ में पैसे हों और घर में ही भोज मिलता रहे, तो कोई बाहर काहे को निकलेगा ? तुमने उस चौपटनाथ लंठ साँवता की घरनी को देखा है ? उसमें क्या खोट है कि अपना दूल्हा पूछता तक नहीं उसे ? कोई दोष नहीं ? बड़ी भली है ?" और फिर मुँह सुखाकर बातें बनाती पिओटी कहती—"होगी। ऐसे लंठों को ही तो भली घरनी मिला करती है।"

तबियत होने पर पिओटी हँसना-हँसाना भी जानती है। मैदानी देश की संस्कृति का आवरण तो उसका अभिनय-मात्र है—"क्या कहा ? सूख के काँटा हो गई है बहूटी बिचारी ? अहा-हा—च्च्चू च्च्चू !— और करे भी क्या बिचारी ? और चारा ही क्या है ? जब दूल्हा ही मन नहीं देता, तो जीने में स्वाद ही क्या भला ? अहा-हा !"

वह कल्पना में पुयू को देखती है। न जाने क्यों पुयू का ध्यान करने बैठते ही लेंजू कंध का ध्यान आ जाता है। वह पुयू को देखना तो चाहती है ; पर सहानुभूति आ नहीं पाती। दिउड़ु से पहचान है ही कितने दिनों की ? पर यह बात वह कभी नहीं सोचती। इतने ही दिनों में उसके मन ने जाने-अनजाने कितना-कुछ सोच डाला है। सोचते-सोचते वह दिउड़ु को अपने अस्तित्व के अणु-अणु में पिरो चुकी है। दिउड़ु पिओटी का है, पुयू के लिए वहाँ कोई जगह नहीं।

वह मन-ही-मन दिउड़ु को घसीट लाती है। पल-पल वह साँसों और चितवनों में मन का सारा बल डाल-डाल कर उस पठार की ओर टक लगाए मौन टेरती रहती है—दिउड़ु आ जाए ! —झटपट चला आए !

पंचानवे

यह रहा बंदिकार—

दिउड़ू सांवता की राह कितनी जल्द कट गई। बादलों के फेन के ऊपर सूरज कुल लाठी भर ही चढ़ा होगा। धूसर लग रहा है, भभूती रंग का। सामने 'झोले' की कलकल सुनाई पड़ रही है। बाळमुंडा पिछड़ कर कहीं दूर पीछे घिसट रहा है। सांवता के साथ लगे रहने को दौड़ते-दौड़ते बारिक की नाकों में दम है। देह गिर चली है और पूत निकम्मा है! सारा कोप उस निठल्ले पर ही उतारता बारिक गालियाँ भनभना रहा है। 'झोला' कुछ ही दूर रह जाने पर दिउड़ू खड़ा हो गया और बारिक के आ मिलने की राह देखता रहा। आम की जड़ से उठँग के बारिक हाँफा। आज तो मौत ही समझो बेचारे की।

न बात न चीत, भद्र होके भी चोर की तरह लपकता डग भरता यह आदमी बंदिकार किसलिए आया है? बारिक कुछ सोच नहीं पाता। उठानें छलांगों में चढ़ता है, ढलानें दौड़ता हुआ उतरता है। चेहरे पर झींसियों के थपेड़े खाता, कानों में भाँय-भाँय बहती ठंडी हवा की चिकोटियाँ सहता। यह तो भागा ही चला जा रहा है! फिर भी थकता नहीं, रह-रह कर गीत भी गुनगुनाता है! क्यों, किसलिए? जिज्ञासा की उत्सुकता बारिक को खाए डाल रही थी। पूछो, तो कहीं फिर रिसिया न उठे! लंठ है। और बारिक में भी अब पहलेवाला कुतूहल तो रहा नहीं! सिर ढांक लिया है, कान मूँद लिए हैं, अब चिंता है तो यही कि इस आदमी से छुटकारा कैसे मिले। फिर भी मुँह खोल के कुछ कहने का हियाव नहीं होता।

"बंदिकार तो आ रहा सांवता। कहाँ आए हैं हम? अब क्या करना है?"

"ऐं?—" दिउड़ू कुछ कह नहीं सका। अँगूठा चूसता खड़े-का-खड़ा रहा।

"बड़ा तेज चलता है सांवता तू तो। 'भेंडिया' ठहरा, तेरा क्या होगा? मैं बूढ़ा हो गया हूँ, दौड़ते-दौड़ते अधमरा हो गया! —"

सामने पेड़-पत्थर की आड़ में बंदिकार गाँव की बस्ती दीख रही थी। झोले के उस पार। दिउड़् को कुछ भी सुनाई नहीं पड़ रहा था। बारिक सोच में पड़ा था कि अब क्या होगा? हठात् मुड़ कर दिउड़् सांवता ने बारिक से कहा—"अब तू लौट जा बारिक। पहुँचा तो दिया ही!" और नरम पड़ा—"बरसाती मौसम में इतनी दूर आया तू, न दारू मिली, न घुँगिया, बीमार तो नहीं पड़ेगा न तू?"

अचंभे में बारिक की आँखें फटी-की-फटी रह गईं। यह क्या हो गया? सांवता के मुँह से ऐसे नरम बोल! "जा बारिक, लौट जा। तुझे और नहीं घसीटूँगा। बघलगी की राह है, नहीं तो तुझे इतना परेशान नहीं करता। बाळमुंडा कहाँ रह गया? अच्छा, उधर वहाँ तुल्ले-तुल्ले डग भरता ठमकता आ रहा है। उह, तू जा।"

यह नरम सुर! और इतनी जल्द लौट जाने को क्यों कह रहा है? पिंड छुड़ाने को इतना व्यग्र क्यों हो उठा है? बारिक झटपट बहुत कुछ सोच बैठा। बाँकी हँसी हँसकर अति-विनय दिखाता बोला—"तेरे साथ कष्ट क्या सांवता? मेरे बिना कौन-सा काम बिगड़ा जा रहा है वहाँ? तू ही बता, पराए गाँव में तुझे अकेला छोड़ के कैसे जाऊँ भला? तेरा काम निबट ले तो संग-संग ही लौट चलेंगे। थोड़ी-सी देरी ही सही, इसमें क्या?"

"ना ना, तुझे अब और कष्ट नहीं दूँगा। तेरी अवस्था अब दौड़-धूप की नहीं रही। बेकार लाया तुझे। दो 'भेंड़िए' ले लिए होते तो अच्छा था! —"

"मेरे लिए चिंता मत कर सांवता।"

"ना, ना, तू जा। पीछे और भी घनघोर दौंगरे गिरेंगे। अभी सुबह-सुबह का समय है, लौट जा, भाग जा।"—अब इसके बाद बात काटना असंभव होगा। इस 'टोके' की भंगियों और मुद्राओं में उद्वेग के लक्षण स्पष्ट हैं। बारिक मौन पड़ गया। सांवता कुछ कहे बिना ही आगे बढ़ चला।

बारिक थोड़ी देर मठगाता खड़ा रहा। फिर उसके अदम्य कुतूहल ने जोर मारा और डर-भय भूलकर 'झोले' की ढलानों पर दौड़ता वह पीछे से पुकार उठा—"साँवता ! "

दिउड़् गरजा—"फिर कहाँ चला आया तू ? "

"जरा घुँगिया हो, तो देता जा साँवता। लंबी राह है, रहेगा तो मुँह में डालता रहूँगा।"

अंटी से बड़ा-सा घुँगिया निकाल कर उसे देता हुआ दिउड़् बोला—"ले, और अब भाग जा, मेघ आ रहे हैं।"

दिउड़् ने बढ़ने को फिर पैर बढ़ाए। विरक्ति के भाव उसके मुँह पर स्पष्ट लिखे-से थे। फिर भी बारिक लल्लो-चप्पो से बाज न आया। बोला—"साँवता—"

दिउड़् छटपटा उठा। उसके मुँह से दरदीली 'ओह' निकली। बारिक जवाब पा गया। वचनिका लंबी करता सिर हिलाता हुआ हाथ जोड़ कर बोला—"साँवता मारना है मार, जो करना है कर, तेरी दया ! मैं बूढ़ा हूँ। तेरे बाप का चाकर। बचपन से ही तेरी कितनी लातें खाई हैं, कोई ठिकाना नहीं। तब से सोच रहा हूँ, कुछ समझ नहीं पाता ! तू कहाँ आया, तेरा क्या काम है, मुझे क्यों भगा रहा है। कुछ नहीं बताएगा ? "

दिउड़् तेवर चढ़ाए तरेरता खड़ा रहा। बारिक कहता गया—"तेरे बाप के राज से ही मैं बारिक हूँ। कौन-सा अपराध कर दिया मैंने, जो तू संदेह करता है मुझ पर ? कपट न कर साँवता, विश्वास कर मुझ पर, विश्वास कर। विश्वास ही नहीं रहा, तो मुझे मार-पीट, लतिया के भगा दे। मेरे जीने का फिर क्या काम ? विश्वास ही नहीं, तो अपनी जगह में क्यों बसाए है मुझे ? निकाल दे फिर तो—"

दिउड़् जल-भुनकर राख हुआ जा रहा था ; पर बाहर उसका मुँह बंद था।

"अपने को क्यों कोस रहा है बारिक ? छिपाने की कोई बात नहीं है। बुरा काम है।"

"मैं कोई दुधमुँहा हूँ साँवता, जो समझ नहीं पाऊँगा ? फिर रिसिया रहा हूँ तो तेरी दया ! मार खाने को पीठ पसारे न होता, तो तेरा बारिक रह सकता था कभी ? "—बारिक बड़-बड़ करता अपनी ही अलापता रहा। दिउड़ू सकते में पड़ा। अब इससे छुटकारा नहीं मिलेगा !

समझा-बुझा के कहा—"बारिक, तुझे पीछे सब समझा दूँगा। जा, किसी से कहना मत। अभी बता नहीं सकता। तेरे साथ होने पर मेरा काम बिगड़ जायगा।"

आखिरी बात कह कर दिउड़ू चला गया। 'झोले' के किनारे जाके मुड़ देखा, वारिक नहीं था, कोई नहीं था। झटपट पानी में पैठ गया। उस पार के करारे से फिर मुड़ देखा। दूर भुरसा मुंडा बारिक चला जा रहा था। इधर पीठ थी। आगे-आगे उसका बेटा बाळमुंडा था। चले जा रहे थे दोनों, मण्यापायु के प्रतिनिधियों की तरह। पल-भर को ब्याहता पुयू का मुँह अकारण ही आँखों के आगे कौंध गया। उस चेहरे पर न कोई आनन्द था, न सहानुभूति। अब रेख लाँघ जाने में ही आनन्द है।

दिउड़ू उस किनारे को छोड़ कर यह किनारा पा गया था। लपकता पिओटी के घर की ओर बढ़ा।

नन्हे-मुन्ने गलियारे में मेला लगाए बैठे थे। गाँव के बड़े-बूढ़े खेतों पर गए होंगे। घरनियाँ पराए गाँव के आदमी को देख कर आपस में फुसफुसाने लगीं। बंदिकार के कुत्ते चुपचाप पैर दबाए पीछे से आके परगाँवे साँवता को गरदनें तान कर सूँघ रहे थे। यह पता लगा रहे थे कि देखें यह शत्रु है कि मित्र। बस्ती में पैठकर दिउड़ू साँवता कुछ झिझका। अकेला था। कैसी तो भकुआन-सी लग रही थी। पिओटी के घर की ओर जाते समय राह में शळपू कंध आ मिला।

"किधर चला साँवता ?"

"काम है।"

"सब तो खेतों पर गए हैं। काम तो उनके आने पर ही होगा !"

"हूँऊँ !"

"बघलगी का क्या हाल है ?"—और फिर और-और विषयों पर भी गप-शप चल पड़ी। "काम है" सुन लेने के बाद, क्या काम है, कैसा काम है, किससे काम है आदि पूछ कर अपने अस्वस्थ कुतूहल को जताना शळपू कंध ने उचित न समझा। पास-पास टहलते हुए दोनों बातें करते बढ़ते गए। दिउड़ू बातों-ही-बातों में पिओटी के घर की ओर बढ़ता आया। ओसारे में चढ़ने लगा, तो शळपू ने टोक दिया—"यहाँ क्यों ? यह तो एक राँड़-बेवा का, अनाथ का घर है।"

"क्यों ? कौन रहता है यहाँ ?"

"है, एक बुढ़िया है। उसका दूल्हा कळिङ्ग देस[1] में मर गया। माँ-बेटी उस देस से भाग आईं। यहाँ न खेत है, न बाड़ी है। मजूरी करके दिन काट रही हैं। और फिर, हमारे साँवता को दया भी है !" फिर भी दिउड़ू उसी ओसारे में बैठा शळपू से बातें करता रहा। रह-रह कर पीछे भी देख लेता था। पिओटी की बुढ़िया माँ आके दरवाज़े पर खड़ी हुई और फिर घर से निकलके बस्ती में चली गई। दिउड़ू के मन का सवाल भाँपता-सा, संदेह के सुर में शळपू कंध ने पूछा—"पिओटी की माँ, तू तो लौट आई ! पिओटी तो घर में है न ?" दिउड़ू साँवता अनमना बना बघलगी की बतकही किए जा रहा था। पिओटी की माँ कह गई—"ना, पिओटी अभी नहीं आई है।" शळपू कंध आश्वस्त हुआ। माँ-बहनों के घर के आगे अनजाने लोगों को बिठाल कर गप लड़ाना उसकी शिष्टाचार-धारणा के विपरीत है।

बातों-ही-बातों में दिउड़ू साँवता ने तोल लिया कि औरों की निगाहों में इस घर का मान कैसा है। गाँव में इतने दिन रह चुकने पर भी यह लड़की कळिङ्ग देस (अर्थात् आन्ध्र देश[1]) की रीति-नीति सोलहों आने छोड़ नहीं सकी है। सब कुछ ठीक है ; पर ऐसा कोई अपना नहीं है, जो

---

१ कळिङ्ग या कलिंग ओड़ीसा का ही नाम है, दक्षिणी ओड़ीसा का ; पर यहाँ शळपू का तात्पर्य तैलंग देश अर्थात् आन्ध्र-देश से है। —अनु०

रक्षक बन सके। गाँव में इसका 'आसन' [1] नहीं है। परदेसी पानी छोड़ नहीं सकने के कारण अभी तक ब्याह का कोई डौल भी नहीं आया है।

बेर देख कर शळपू ने पूछा—"तो आज रह जाना है क्या साँवता ?"

"हाँ, बघलगी की राह ठहरी। बेर चोटी से ढलते ही मेंह आ जायगा। इसीलिए आगा-पीछा है।"

"तो चल, हमारे ओसारे में टिक जा, साँवता। कोई असुविधा न होगी।"

बुड्ढ़ा जोंक-सा चिपक गया है। मेहमान रखने की उसकी साध से बाध्य होकर दिउड़ू को जाना ही पड़ा। शळपू की बकवास खतम होने का नाम ही नहीं ले रही थी। कंध-संसार की कोई चर्चा वह छेड़े बिना रहना नहीं चाहता था।

"उपज खेतों में कच्ची ही बेच के बुद्धिमानी नहीं की साँवता।..."

"और करता क्या ?"—दिउड़ू ने सफाई दी—"रुपये का बड़ा टोटा है। फाराष्टी......"

"फ़राष्टी क्या हमारे गाँव नहीं आया था ? अरे आया तो क्या हुआ ? हम वह लोभ सँभाल गए। एक बार चसका लगा देने पर, एक बार राह दिखा देने पर, फिर कोई निस्तार है कहीं ? बाबा, वे अधिकारी-मैदानी लोग ठहरे, हम किस गुण में उनके समतूल हैं, जो निभा पाएँगे ? बड़ी लाल सड़क लुंचोपुरा तक खुद आई है। देखना अब कैसे-कैसे धावे होते हैं!....."

दिउड़ू केवल हँसा। दूर खेतों से लौटते खेतिहरों का कोलाहल सुनाई पड़ा, कान आप-ही-आप खड़े हो गए। कोलाहल पास आता जा रहा था। अब वे आ रहे होंगे। पल-भर को फिर पिओटी याद आई। परिस्थिति की जटिलता भूलकर अपने उच्छ्वासों का बना विकृत जीवन सहज-सरल

---

१ मान।

लगा। लाज क्या है, डर क्या है? साफ़ बात है। लड़की की मँगनी करने आया हूँ, इसमें हर्ज ही क्या है?

शळपू ने अपनी उजली बरौनियों तले की बाँकी चितवन से यह भाँप लिया कि यह जवान मेरी बातों को कान नहीं दे रहा। इसका मन कहीं और है। बेर की ओर ताक कर सिर हिलाता बोला—"अब उचके-उचके रहने से क्या लाभ साँवता? बेर ढल चुकी है। आज घर लौटने की आस छोड़ दे।......."

"घर!"—अनमने दिउड़ू के मुँह से यह शब्द अनजाने ही चू पड़ा। घर का नाम सुनकर हँसी आई। शळपू भी हँसा। बोला—'हाँ, 'डोंकी'[1] अकेली होगी। शायद कह आया होगा तू कि यही पास ही तो है बंदि-कार, काम निबटा कर देखते-देखते आ रहूँगा। है न? पर एक बार यहाँ आ गया, तो फिर लौटने की राह बन्द! हउ, ऐसा भी होता ही रहता है। ऐसा तो हो नहीं सकता कि 'डोंकी' एक दिन भी अकेली निभा न ले सके!"

बुड्ढे का रसिया ढारस दिउड़ू के इस कान आया, उस कान बह गया। मन बहुत सारी मंज़िलें पार कर चुका है। घर की याद नहीं आती।

"आ-रेऽऽ, दिउड़ू?...."

"आ-रेऽऽ, मण्यापायु का साँवता कब से विराज रहा है?"

"ओड़े सोइ, ओड़े सोइ, (ऐ संगी, ऐ संगी), दुनिया के क्या हाल-अहवाल हैं?"

लोग घेर आए। बारह ओर की बारह बातें होती रहीं। बातों-बातों में लोग यह पूछना भूल गए कि दिउड़ू किस काम से आया है। शळपू के ओसारे में गप-शप होती रही और दारू तथा धुँगिया से अतिथि-सत्कार भी चलता रहा। पहला काम तो यह अतिथि-सेवा का ही होता है। काम की बातें पीछे होती हैं। और भी लोग आते गए। बंदिकार के पुरुष आए,

---

१ पत्नी।

स्त्रियाँ आईं। पिओटी आँचल चबाती, कनखियों से ताकती अपने घर की ओर लपकती चली गई। दिउड़ ने भी कनखियों-ही-कनखियों उसे जाते देख लिया था। देह में और-और कंधुणियों की-सी ही 'तलरातलरी' लपेटे थी, पर उसकी भंगी का क्या कहना ? और उसकी मटक! —उसका तो कोई जवाब नहीं! हाथों में कुदाली जरूर थी; पर हाथ-पैर औरों की तरह कीचड़-सने नहीं थे। किसी झोले में मल-मल कर धोए आई है। सिर पर सजा-सजाया जूड़ा है, मानो अभी-अभी नहा-धो के सजाव-सिंगार किए आ रही हो! दिउड़ का मन वहीं चिपका रहा। उस देह-रूप का ध्यान करके वह छलना का आवरण गढ़ने को दूने वेग से गप-शप में मात उठा। भेंट-मुलाकात का पहला दौरा उतर गया। कमासुत लोग एक-एक करके अपने-अपने घर गए। दिउड़ के लिए सीधा आया। किसी-किसी घर से पका भात ही आया।

शळपू कंध भीतर से ओसारे में निकला। पूछा—"काम क्या है, यह तो बताया ही नहीं। लोग खा-पी के फिर खेतों को चले जायेंगे।"

दिउड़ पिओटी के घर की ओर देख रहा था। भीड़ छँटते ही पिओटी आ खड़ी हुई। गीले कपड़े निचोड़ के सुखाने थे, ओदी 'तलरातलरी' झाड़ के पसारनी थी, ओसारे में उसे कई काम थे। रसोई पकाने का बहाना करता हुआ, दिउड़ मुग्ध भाव से उधर को ही टक बाँधे रहा। पिओटी अँगड़ाइयाँ ले रही थी। शळपू कंध ने फिर पूछा—"तू समझा नहीं साँवता ? काम क्या है, यह तो बताया ही नहीं ?"

अपने को सँभाल लेकर खोखले सुर में दिउड़ ने कहा—"काम एक थोड़े ही है ? किसे कहूँ ? सब तो 'होइ-होइ' करके चले गए।"

"तू पकाने क्या बैठ गया साँवता ? इस गाँव के पके भात में शायद स्वाद नहीं आता होगा ? है न ? जो हो, लोगों ने बड़ी साधों दिया है, कष्ट हो तो हो, काम चला ले। पकाने बैठो तो पता नहीं किस युग तक पके।"

"सच कहा।"

"तो फिर खाने बैठ जा। मैं पत्तल लाए देता हूँ। देखता हूँ, मेरी कुटिया में क्या है।" शळपू भीतर चला गया। दिउड़ू पिओटी को निहारता रहा। दीवार से उठँगी टाँग पसारे बैठी थी। वह उठा, ओटे की कोर पर आ गया। और-और ओसारों में भी लोग बैठे थे। खाना-पीना चल रहा था, काम-धंधा चल रहा था। कोई-कोई पर-गाँवा जानकर बीच-बीच में इधर भी देख-देख लेते हैं। पिओटी दोनों हाथों से छान पकड़े ओटे की कोर पर लटकी-सी झुकी एक-टक इधर ही ताक रही है। उन आँखों में कितनी कहानियाँ हैं, कौन कहे? दुनिया के सामने, गलियारे में भरी भीड़ के सामने तो चितवनों-चितवनों ही बातें हो सकती हैं। और चारा ही क्या है? शळपू पीछे से पूछता आया—"हाथ-मुँह नहीं धोना?"

कुढ़न को छिपा कर दिउड़ू अस्वाभाविक तत्परता के साथ हाथ-मुँह धोने लग पड़ा। खाने बैठा। उस ओसारे से पिओटी अपनी माँ के पीछे-पीछे घर में पैठ गई। दरवाजे पर पहुँचते समय किसी बात पर मुँह लंबा करके हँस गई। दिउड़ू की खाने की इच्छा मंद पड़ गई। उधर ही देखता रहा। हाथ बारे रहा। एक ओसारे से कुछ बच्चे उसकी ओर अँगूठे दिखा-दिखा के कुछ कह रहे थे। शळपू कंध बिगड़ उठा। बोला—"भूल मेरी ही हुई। बूढ़ा हुआ; सूझ-बूझ सठिया गई है! गोंठ की एक टट्टी लाके बाँध दी होती, तो बेचारा निश्चिन्त हो के मुट्ठी भर भात तो खा पाता? देखो तो भला, इन दुष्ट पिल्लों को, कैसी गोलमाल मचा रखी है!" शळपू की झिड़की पर लौंडे चुपचाप मुँह नीचे करके बैठ गए। शळपू कंध कुढ़-कुढ़ कर उन पर भुनभुनाता रहा। दिउड़ू ने देखा, पिओटी का ओसारा खाली था। मठरा-मठरा के धीरे-धीरे खाने लगा। शळपू का मन भुलाने को अपने आने का एक उद्देश्य समझाने लगा—"हल में जोतने के अच्छे से बैलों की कोई जोड़ी चुननी है कहीं। मोल लूँगा। तुम्हारे गाँव में तो गोरू बहुत........"

शळपू कंध ने बड़े आग्रह के साथ इस चर्चा में योग दिया। हँस-हँस के कहने लगा—"उपज-बिक्री के पैसे हैं, बैल मिलेंगे क्यों नहीं?"

सोचा, तो यह मामला है ! इस बरसात में दिउड़् सांवता इसी के लिए पधारे हैं ! आप न आ के किसी और को भेजने से भी तो काम चल सकता था ! पर लड़का होशियार है ; अपनी आँखों से देख कर भाव पटाने के खयाल से आप ही चला आया है । चालाक है । फिर कैसे कहते हैं लोग, कि म्प्यापायु के सांवता में विषय-बुद्धि नहीं है ? कितना दुनियादार है यह लड़का ! जाने किसने तो ऐसा कहा था ? लेंजू कंध ने शायद। लेंजू कंध ने यहाँ आने पर जो-जो बातें कही थीं, सब शळपू को याद हो आई । गंदी बातें ! घिनौनी बातें ! समाजद्रोही बातें ! पर, जिसके विषय में उसने इतनी सारी बातें कही थीं, वह आप आके यहाँ बैठा है । खुद शळपू कंध के ओसारे में ! बैठा है क्या, बैठा खा रहा है !

चिन्तित होकर शळपू कंध दिउड़् का मुँह ताकता रहा ।

सोच रहा था, शायद बैल लेने का बहाना-भर ही हो ।

और भी तो कितनी बातें होंगी । दोनों गाँवों के बीच जमीन की अदला-बदली, सिवाने के पेड़, लगान चुकाने की बात.....कितनी सारी बातें हैं, जिन पर सलाह-मशविरा करने आया होगा । दोनों गाँव जुड़वें से आस-पास बसे हैं, चर्चा को लाख विषय होंगे ।

दिउड़् खाता-खाता उधर भी देखता रहा । पिओटी अब तक नहीं निकली ।

सोच-साच कर शळपू कंध ने पूछा—" सांवता, बुरा न मानना, एक बात पूछूँ ?— "

दिउड़् चौंका । उस घर की ओर से नजर फेर ली । भर्राए गले से कहा—" क्या ?"

" सांवता, बाप क्या और चाचा क्या ! एक ही होते हैं । लेंजू बूढ़े को गाँव से खदेड़ क्यों दिया ? रो-रो के मरा जाता है बेचारा ।"

आश्वस्त हो के दिउड़् ने कहा—" ओह ! वह बात......."

" हमें बड़ा बुरा लगा सांवता । हम ठहरे बूढ़े पुरनिए । हमें क्यों

पासँग में डालने लगे तुम ? फिर भी, हर बात की एक सीमा तो होती ही है ?"

"सच कहा।"

"हुआ क्या ?"

दिउड़ू हँसा। कहा—"पहले तो जिस आदमी ने भिखारी-सा तुम्हारे चरणों में शरण ली है, उसी की सुनोगे न ? उसे छोड़ कर मुझ पर विश्वास कैसे करोगे तुम लोग ? तुमने उसे आसरा दिया, आश्रय दिया, अपने गाँव में थोड़ी-सी जमीन दे दी; अच्छा ही हुआ, तुम्हारे गाँव में एक रैयत बढ़ गया। अब उन सब बातों पर मुझ से बहस करने से तुम्हारे मन को शान्ति थोड़े ही मिलेगी ? तुम अपनी रैयत को छोड़ के हमारे थोड़े ही होगे ? मैं तो कोई तुम्हारी रैयत नहीं हूँ न ?—"

शळपू की आँखों के आगे कुहरा-सा छा गया। दोनों एक दूसरे को निहारते रहे। थोड़ी देर ठहर कर दिउड़ू ने कहा—

"तुम्हीं बताओ तो भला, घर की बात को लेके परायों के साथ पंचायत करने से क्या होता है ? ठीक कहा है तूने, जो बाप सो चाचा। इतनी ही सूझ जो उसे होती, तो अपने बेटे को यों झाड़ के फेंक देता और चोरों की तरह पीठ फेर कर यों भाग ही आता ? क्यों आया ? अपने गाँव में क्या उसकी कोई बस नहीं ? मेरा अख्तियार क्या उससे अधिक है वहाँ ? इस रास्ते मे जरा सोचो तो तुम लोगों को अपने सवालों का जवाब आप ही मिल जायगा। अपने गाँव में तो वह मुँह भी नहीं दिखा सकता। मेरा चाचा है, कुत्ता भी हो तो है चाचा ही। कैसा भी हो, यों हाट-बाट में उसके छिपे पाप उघारने से मुझे पाप लगेगा। वह क्यों आया, इसका जवाब सब से अधिक वही जानता होगा। पराए घर की भीतरी बातों में इतना रस लेना, उनकी इतने खुले बंदों चर्चा करना पुरखे-पुरनिए कंध को शोभा नहीं देता, शळपू डिसारी।"

शळपू का मुँह बन्द हो गया।

जाने कब किससे उसने यह बात सुनी थी!—पुरानी कंध-पंचायतों

में ऐसे बोल पहले भी सुने जाते थे। ऐसी ही मुँहतोड़ ठीक-ठीक बातें, ठीक इसी गंभीर भंगी से कोई और भी सुनाया करता था। सही हो या गलत हो, औरों को कायल कर देना, चुप कर देना, यह लड़का भी खूब जानता है।

अपने ही मन से उभरी आ रही कुढ़न को दबा कर शळपू कंध गंभीर बना सोचता रहा। हाँ, सरबू सौंवता, कुलवृद्ध सरबू सौंवता भी ठीक इसी तरह बातें करता था। उसकी दलीलें भी ऐसी ही होती थीं। कोई चाहे कितना भी चिढ़ के क्यों न आए, कोई मार-पीट करने पर उतारू हो के भी क्यों न आये, सभी उसके चरणों में अटक रहने को बाध्य हो जाया करते थे।

अब इसके बाद कोई तर्क नहीं चल सकता। बातें करते-धरते कहीं कोई बात अखरती-सी लगी नहीं कि कंध बनैला मानुष हो उठता है। तर्क की डोर टूट जाने पर उसमें जबरदस्ती गाँठों-पर-गाँठें बाँधते हुए निबटारे को अनिर्दिष्ट काल तक टालते जाना कंध कभी नहीं चाहता। उसे वह सब अच्छा नहीं लगता। इसीलिए बात लग जाने पर वह भयंकर हो उठता है। फिर तो चाहे मरता है या मारता है।

शळपू कंध ने देखा, दिउड़ू की मुद्रा गंभीर है। खाना हो चुका। दिउड़ू झटपट उठके हाथ धोने लगा। बात करने में उसका जी बिलकुल नहीं लग रहा था।

शळपू मन-ही-मन सरबू, दिउड़ू और लेंजू, इन तीनों को पास-पास खड़ा करके मिलान करने लगा। वैसे सरबू-पन लेंजू में भी है। न होता तो बंदिकार बस्ती में रैयत होके रहने से इनकार न करता और बाघ-भालुओं के बीच उस अकेली मँड़ैया में बसना पसन्द नहीं करता। और दिउड़ू तो सरबू का बेटा ही है। अभी इसी घड़ी वह सोलहों आने सरबू बन कर आँखें तरेरता हुआ शळपू जैसे आदमी को ठिकाने लगा चुका है। सचमुच अपने बाप का पूत है। बाँस की कोठी में बाँस। फिर भी उस युग और इस युग में अन्तर तो है ही। प्राचीन की आत्मा नवीन की मज्जा में है

तो जरूर ; पर नवीन प्राचीन नहीं है। दोनों में कितना अन्तर है !

शळपू का जी चाहा कि अब उठ चले। कहा—"तू रह साँवता, मैं जरा खेत देख आऊँ, सुबह जाना नहीं हो पाया, अब इस बेर भी न जाऊँ तो काम नहीं चलेगा। अच्छा, मैं जाता हूँ।"

शळपू चला गया। दिउड़् अकेला बैठा रहा। छाँहें लौट पड़ीं। पानी नहीं पड़ रहा था, उबेर थी। धूप निकली थी। दुपहरी का सुस्ताना हो चुका। गाँव के लोग फिर खेतों को लौट पड़े। दिउड़् ने देखा, पिओटी जो घुसी, सो घुसी ही रह गई, बाहर नहीं निकली। गाँव सूना पड़ गया, और पिओटी अभी भी उसी घर में थी !

कुछ और देखने का बहाना करता हुआ वह बाँकी चितवनों से गाँव के गलियारे को इस छोर से उस छोर तक देख-देख लेता था। दोनों ओर पाँतीबन्द लंबे ओसारों में इक्के-दुक्के लोग इधर-उधर हो रहे थे। उनके सिवा वहाँ और कुछ नहीं था। और कुछ था, तो केवल कुत्ते और मुरगे थे। काजल-काले अँधियारे बरसाती मौसम में म्ण्यापायु से बंदिकार तक सपने के आवेश में छुटे चले आते समय इस लोकलाज की बात उसने एक बार भी सोची न थी ; पर कैसा दुर्योग आ पड़ा, कि भेंट पहले शळपू बूढ़े से हो गई ! वह कितनी सारी बातों की ओर से सचेत कर गया है ! अकारण ही मन में चोर पैठ गया।

अब साँसें गरमा-गरमा कर, छाती की धड़कनें बजा-बजा कर प्रतीक्षा-ही-प्रतीक्षा करनी रह गई है ? प्रतीक्षा, केवल प्रतीक्षा ! बड़ी देर बाद, देखा कि ओसारे सूने पड़ गए हैं। वे इक्के-दुक्के लोग भी चले जा चुके हैं। केवल एक रुलंडा बच्चा है किसीका, जो उस ओर के ओसारे में बैठा रोए जा रहा है। दिउड़् हड़बड़ा के उठा और लपकता हुआ, दोनों ओर देखता हुआ पिओटी के घर में जा पैठा। पैठते ही फुसफुसाता हुआ बोला—"पिओटी, मैं आ गया हूँ।"

पिओटी निढाल पड़ी-सी दीवार से उठँगी बैठी थी। हड़बड़ा के उठ पड़ी। भीतर से किवाड़ लगा के बेंवड़े चढ़ा दिए। दिउड़् ने देखा, घर

के भीतर फिर वही जाना-पहचाना अँधेरा है, फिर वही जानी-पहचानी आग है, जिसकी दौंक फिर उसी तरह हलके-हलके मुसकुरा रही है। भँवरी चक्कर में पड़ा फिर वही मुहूर्त्त चक्कर काटकर लौट आया है। जीवन फिर पूर्ण है, फिर अमृत है।

छियानवे

बड़ी देर तक सुख-दुख की बातें होती रहीं।

पिओटी अब भी वही पिओटी है। मैदानों की बेटी। न जाने कितने नरसिंहरावों, सोमैयों, पेटम्नों की यादें हैं, उसके पास।

दिउड़ू सांवता अब भी वही दिउड़ू है। कंधदेश की धाङ्गड़ियों के हाथ-पैर के गहनों की झंकार की ओर उसके कान बहरे हो चुके हैं। पिओटी के व्यक्तित्व में न जाने कितनी फिसलनों का दर्द है, कितनी ठेमों की टीस है। दिउड़ू के व्यक्तित्व में भी। हारगुणा कंध पिओटी का न हो सका, सोनादेई दिउड़ू की मुट्ठी से खिसक गई। और पुयू ? मन को कैसे-कैसे भुलावे देकर उसे कहाँ उस मिङटिङ के जंगल से पकड़ लाया था दिउड़ू ? पर वह भी दिउड़ू के जीवन का कितना-सारा भाग चाटकर खाली कर गई। दिउड़ू और पुयू, मानो पास-पास पड़े दो दर्पण हों। कितनी ही परछाइयाँ पड़ चुकी थीं दोनों में; पर उन सब की सत्ता आज बिला चुकी है। अब इस घड़ी दोनों नए बंधन में बँधने को मुक्त हैं। जीवन के क्रमवाही इतिहास का मूल उद्गम इस समय इनमें से एक के भी मन में न था। समाज और भले-बुरे की बातें इस समय भूली-बिसरी बातें थीं। किवाड़ बंद हैं, गीदड़ की मांद से छोटे इस घर की छोटी-सी छान और छोटी-सी दीवारों ने सीमा बाँध दी है। यही दुनिया है, इसी में चक्कर काटते रहो, परिक्रमाएँ करते रहो। इसके बाहर जो भी होगा, होगा, भीतरवालों के लिए तो सब न-होने के बराबर ही है। बेर-अबेर की सुध-बुध न थी। छाँहें बढ़ चली थीं। गाँव के लोग काम से लौट रहे होंगे; पर उन्हें इसका कोई ध्यान न था।

पिओटी की माँ कोनेवाली कुठरिया में ही कहीं सोई पड़ी थी। वहीं से पुकारा—"बेर हुई, 'झोले' को जा पिओटी। जाना नहीं है ?" दिउड़ू किवाड़ खोल के बाहर चला गया। बाहर धूप झुके-झुके मेघों में ढली पड़

रही थी। गाँव में कोई-कोई गलियारे के इस पार से उस पार आ-जा रहे थे। सोचने-विचारने को अभी बहुत सारी बातें रह गई थीं। बंदिकार की बस्ती से निकलकर दिउड़ खेतों वाली तलहटी की ओर चल पड़ा। दूर से ही लोग लौटते दिखे। बहाना तैयार था। जिस-तिस से पूछता फिरा कि गाँव में किसी के पास बिक्री के अच्छे बैल हैं? बिक्री के बैल गाँव में नहीं मिला करते। नितांत निकौड़िया हुए बिना कोई अपने बैल नहीं बेचता। पर नाहीं सुन-सुन कर दिउड़ निराश नहीं हुआ। झूठमूठ को बैल ढूँढ़ते-ढूँढ़ते सचमुच मन बढ़ चला कि अच्छे बैल मिल जाते तो खरीद की बात ठहरा लेना कोई बुरा न होता। सोभेना कंध लौटा आ रहा था। शळपू, हारगुणा और गाँव के और-और मुखिया-जेठरैयत लौटे आ रहे थे। सोभेना ने उपदेश दिया—"बैल ही मोल लेना हो, तो गुड़िया के भीतर जाकर गोंठ-गोंठ की टोह लगानी पड़ेगी साँवता। गाँव में जो इक्के-दुक्के होंगे वे तेरे मन को थोड़े ही भाएँगे?"

दिउड़ हर बात पर "सत्-सत्, हाँ हाँ" कहे जा रहा था। उसे कोई जितना उपदेश चाहे दे ले। सब दरकार हैं। उपदेशों से किसी का अनिष्ट नहीं होता। अजीर्ण नहीं होता। उत्साह दिखा-दिखाकर अपनी पसंद के बैल के सींग, दाँत, गढ़न आदि की ज़रूरतें बखानता हुआ दिउड़ गाँव में लौट आया। बात ठहरी कि कल सूरज उगने की बेर वह 'गुड़िया' को जायगा और अपनी आँखों से देख-भाल कर चुन लायगा। कल के लिए कामों की सूची काफ़ी लंबी तैयार हो गई।

साँझ-डूबे शळपू कंध के ओसारे में पंगत बैठी। गप्पें लड़ाने को लोग जुटे। हारगुणा साँवता भी आके बैठ गया। दिउड़ की बहन आज भी उसे याद आती है; पर उस भावना को मन के बाहर निकालना, लोगों पर प्रकट होने देना, उसे ठीक न लगा। शळपू कंध भी बैठा था। वयस के हमजोलीपन के तकाजे पर लेंजू बूढ़े के साथ उसकी सहज सहानुभूति है। लेंजू की वर्णना को वह भुलाए भूल नहीं पाता; पर वह बात अब न उठे, सो ही अच्छा। आखिर शळपू भी तो भद्र है। लोग जानते हैं कि जब कभी बंदिकार के

ढोर-डंगर चरते-चरते म्ण्यापायु के सिवाने के भीतर वाले जंगलों में निकल जाते हैं, तभी कितने ही मवेशी न जाने कहाँ छिप जाते हैं, लाख ढूँढने पर भी मिल नहीं पाते ; पर भद्रों की चर्चा में ऐसे अभियोगों को स्थान नहीं मिलता। अतिथिसत्कार में कोई त्रुटि नहीं रखी गई है। शिकार काटा गया है,दारू लाई गई है, घुंगिया लाया गया है। बड़ी देर तक गप-शप होती रही। सहज भाव से, निस्स्वार्थ भाव से, अकारण भाव से, भावों-विचारों की लेन-देन होती रही। कोई एक श्रोता जमुहाई लेकर अँगड़ाता उठ खड़ा हुआ। हारगुणा ने बाहर आकाश की ओर देखा। बोला—"आ-रेऽऽऽ, इतनी बेर हो गई, तूने तो खाया-पिया तक नहीं।—"

हारगुणा साथ चलने का आग्रह करने लगा।—"चल मेरे घर सो रहना।" दिउड़ू ने शळपू बूढ़े की ओर देखा। साँझ डूबने के बाद उसने कितने जतन से ओसारे में बाँस की टट्टी लगाकर घर जैसा बना दिया है, पुआल का गद्दा- सा बिछा कर बोरियाँ डाल दी हैं, बड़े प्रेम से अलाव लगा दिया है। उसका जी तोड़ना ठीक न होगा। दिउड़ू ने कहा—"ना, रहने दे। यहीं सुविधा रहेगी। बड़ा आराम है।"

सभा विसर्जित हो गई।

पिओटी के घर के आगे, घर के भीतर के अलाव की दौंक पड़ रही थी। दिउड़ू छटपट करता रहा। शळपू कंध न जाने क्या-क्या बके जा रहा था। दिउड़ू के कानों में उसकी एक भी बात समा नहीं पा रही थी। उसने मुँह फेरा। शळपू कंध कह रहा था—"गाँव का साँवता हो या राजा हो, इससे क्या? पाहुन जिसका है, उसके पास रहेगा। कैसे आया था, मेरे घर से तुझे छीन ले जाने? हारगुणा[1] कहीं का! कैसा युग आ गया है? आजकल के 'टोके' मान-मरजाद तक भूल गए हैं। मना कर दिया, सो भला ही किया तू ने साँवता।" दिउड़ू के प्रति उसका सम्मान बढ़ा आ रहा था।

"मैं भी तेरे ही पास सोऊँगा। समझा साँवता?"—दिउड़ू चौंक पड़ा।

१ शब्दार्थतः "गीध कहीं का!"

बोला—"तू जहाँ जैसे सोता है, वहीं सो रह। मुझे कोई असुविधा न होगी।"

"यह भी कोई बात हुई? अपने पाहुन को अकेला फेंक दूँगा भला?"

कुढ़ने से कोई फल मिलता दीख नहीं रहा था। बुड्ढे को जाने क्या सूझी है, पुरानी मर्यादा के आदर्श दिखलाने का शौक चर्राया है। शळपू ने समझाया कि इस गाँव में रातों को करेला-पाती [1]बाघ कुत्ते चुराके खाने घुस आया करता है कभी-कभी। कोई बड़ा नहीं, छोटा बाघ है। दिउड़ को ढारस मिला। फिर तो कुत्तों के गड़बड़ मचाने की कोई आशंका नहीं। दोनों ने ओसारे में ही खाया-पिया। शळपू ने अपना बिस्तरा भी दिउड़ के बिस्तरे के पास ही लगाया। ओसारों में घर-घर से आती अलावों की दौंकें एक-एक करके बुझती गईं। किवाड़ें एक-एक करके बंद हो चलीं। शळपू सो रहा। दिउड़ू भी सो रहा।

दिउड़ू सांवता सोया नहीं, सोने का बहाना किए पड़ा रहा और शळपू की साँसों का बजना सुनता रहा। उसके बारे में तीखे मनोनिवेश से सोचता रहा। किसी बूढ़े के विषय में इतने गौर से इतनी देर तक सोचते रहने का उसका यह पहला ही मौका था। उसके जोंक से चिपके बैठ रहने से लेकर सचमुच सो जाने तक उसी के ध्यान में था दिउड़ू। बीच-बीच में बुड्ढे की साँसें खर्राटे बन-बन जाती थीं। चारों ओर सन्नाटा पड़ चुका। अब किवाड़ों के बंद किए जाने की आहट तक सुनाई नहीं पड़ रही। कहीं-कहीं इक्के-दुक्के कुत्ते डरे-डरे-से हलके-हलके भूँक उठते थे। घड़ी-घड़ी पहर-पहर-भर पर दूर कहीं कुररी विलाप उठती थी। आखिर दिउड़ू उठकर खड़ा हुआ। पुआल खड़की। शळपू बूढ़े के खर्राटे ताल बिगड़ने से बेताल हो गए। किसी-किसी खर्राटे के बदले अब फुफकारती-सी लंबी उसाँसें उठने लगीं। मन-ही-मन उसे 'गंडा-पटकार' कहता, गालियाँ बकता दिउड़ू फिर सो रहा। उसे यह पता नहीं था कि इस बुड्ढे की नींद पतली है कि गाढ़ी है। आशंका-ही-आशंका में रात भागी जा रही थी।

---

१ ढुरके। पृष्ठ १३ की पहली पादटीका देखिए।

गीदड़ों ने हुआँ-हुआँ शुरू किया। कुछ देर बाद चाँदनी छिटक आई। शळपू का ध्यान करके वह इसी उधेड़बुन में पड़ा रहा कि जाऊँ कि न जाऊँ! सोचता रहा और छटपटाता रहा। फिर होश आया, कैसा उल्लू हूँ मैं? शळपू की नींद अगर खुली भी, तो क्या यह कह कर छुट्टी नहीं मिल सकती कि बाहर गया था। बाधा पाकर और उत्कंठा में पड़कर बड़ी मामूली-मामूली बातों में भी आदमी भूल कर बैठता है।

जान-बूझ कर पुआल खड़काता, पैर बजाता दिउड़ू बाहर निकल गया। शळपू घोर नींद में था, खर्राटे सुरताल-बँधे चल रहे थे। दरवाज़े पर खड़ा होकर चारों ओर निगाह डाली। कहीं कोई दिखाई न पड़ा। फीकी चाँदनी में काले बादलों की छाया दौड़ रही थी। दोनों ओर के घर भूत-खानों से लग रहे थे।

पिओटी की झोंपड़ी को देख कर छाती जोर-ज़ोर से धड़कने लगी। बावला हुआ दिउड़ू नींद में चलने वाले की तरह बढ़ता गया। किवाड़ खुली थी।

"पिओटी —"

"पिओटी सो रही है, आ जा।"—दिउड़ू चौंका। अँधेरे में चुपके-चुपके बोलता यह स्वर किसका है? लौटकर दरवाज़े की ओर बढ़ने लगा। — "ठहर जा ना, चला क्यों जा रहा है?"

ठंड लग रही थी। छाती सर्द हो आई थी। बाहर कैसा सन्नाटा है। फिर वही स्वर। कहाँ से आ रहा है? दीवार से कि छप्पर से? मन में उठते सवाल का जवाब मिला—"मैं पिओटी की माँ हूँ। ठहर जा, आग सुलगाए देती हूँ।"

दिउड़ू शांत हुआ। देखते-ही-देखते फिर वही लाज चढ़ बैठी। डर लगा, बुढ़िया क्या कहेगी? चूल्हा फूँक-फूँक कर बुढ़िया ने आग सुलगा दी। आदेश दिया—"किवाड़ बंद कर ले। आ, बैठ जा।"

देखा, पिओटी चूल्हे के पास ही सो रही है। आँखें बारंबार आग की ओर ही फिर-फिर जाती थीं। बुढ़िया सिर पर ओढ़नी ओढ़े खड़ी थी। कुछ

बोलती नहीं थी। दिउड़् समझ नहीं पा रहा था कि इससे क्या पूछे। बड़ी देर बाद, मानो पूरे एक युग के बाद, बूढ़ी बोली—"तेरे बाल-बच्चे कितने हैं?"

दिउड़् ने जवाब दिया।

बूढ़ी बोली—"तेरे साथ जाने को मेरी बेटी नाच रही है। तू उसे व्याहेगा क्या?"

सिर हिलाकर दिउड़् ने समझाया कि, हाँ।

"यही मेरी सब कुछ है, मेरा सरबस। जनाना घर की बेटी, आग-सी। और फिर तेरे तो और एक घरनी भी है।"—दिउड़् को झेंप-सी लग रही थी—"सब सँभाल तो पायेगा न?"

सिर हिलाकर दिउड़् ने हामी भरी।

"देखना भला। खबरदार रहना। मेरी लाड़ली की दुर्गत तो नहीं होगी?"

दृढ़ता के साथ दिउड़् ने कहा—"कदापि नहीं।"

"तू ने मुझे बचन दिया। यह आग साखी रही। बचन तोड़ना मत। नहीं तो इस बूढ़ी के आँसू तुझी पर पड़ेंगे। अब तू जान, तेरा काम जाने!"—बात पूरी करके पिओटी की माँ कोनेवाली कुठरिया में पैठ गई।

दिउड़् मूढ़ बना खड़ा रहा। हिल-डुल तक न सका। यह क्या सुन रहा हूँ, यह क्या देख रहा हूँ? आग बुझी आ रही थी। चूल्हे के पास पिओटी घोर नींद में अचेत पड़ी थी। कोनेवाली कुठरिया के अँधेरे से बूढ़ी की रुलाई सुनाई पड़ रही थी। कितना रो रही है पिओटी की माँ। दिउड़् मौन खड़ा-खड़ा उस दृश्य की कल्पना कर रहा था। छाँह-सी बूढ़ी! कभी मेरे और पिओटी के बीच आके खड़ी न हुई! कभी शासन नहीं दिखाया! सोते के तोड़ में जाने-अनजाने सरबस दाँव पर लगाए बहती रही है! मानो वह आप कुछ भी न हो, कोई भी न हो! आज जाने क्या रौंदे डाल रहा है उसे? अँधेरे में रो-रोकर आत्मनिवेदन कर रही है। कितनी रात होगी अब?

चूहा तक नहीं खड़कता ; पर इसकी आँखों में नींद नहीं ! बाट जोहती बैठी रही थी कि 'वह' आएगा।

सिर चकरा गया। मोह का जाल शिथिल पड़ता सिमट गया। आत्मरक्षा के कर्त्तव्यों की चिंता हुई। सोचने लगा, क्या करूँ अब ? यह तो ठीक ही है कि दुनिया हाय-तोबा मचाएगी। छाती पर वज्रपात-सी चोट खाकर पुयू भी छोड़ जायगी। कुठरिया से बुढ़िया की सिसकियाँ उठ रही हैं। सिर झन्ना क्यों रहा है ? लगता है भीतर भेजे में कोई झिल्ली झीं-झीं झनकार रही हो। चारों ओर केवल सिसकियाँ-ही-सिसकियाँ गूँज रही हैं ? कैसी माया है यह ? पुयू चली जा रही है, उसका अपराध क्या है भला ? लाख दाबने पर भी छाती का कोई कोना सूना-सूना लग रहा है। धड़कनें मानो किसी खोखली पोल में धक-धक कर रही हों। चारों ओर रुलाई है, चारों ओर ओदापन-गीलापन है, चारों ओर कीच-पाँक है,—चारों ओर केवल निराशा-ही-निराशा है। अंधड़ उठा शायद। ठंडी हवा ने दूर जंगल का टेंटुआ मरोड़ दिया हो जैसे, बेकली भरी रुलाई उठ रही है। अंधकार, अंधकार : सब कुछ लोप हुआ जा रहा है। एक पूरे जीवन की सारी अनुभूतियाँ बटोरे, झाड़-झूड़ कर पोटली बाँधे पुयू चली जा रही है। और हाकिना ? अबोध, निरीह, निर्दोष, दुधमुँहा बच्चा ? कुल के दिए की नन्ही-सी बाती ? —वह भी चला जायगा ! सोच-सोच के मरा जा रहा था, कोई राह मिल ही नहीं पाती थी। बुढ़िया रो रही थी। मन को कोई दिलासा नहीं मिल रहा था। मैं भूल तो नहीं कर बैठा ? हाँ, भूल कर बैठा, भूल कर बैठा !

बेर का पता नहीं लग रहा था। बड़ी देर बाद फिर मौन छा गया। दिउड़ू होश में आया। बुढ़िया की कोई आहट नहीं आ रही थी। चौंककर दिउड़ू लौट पड़ा। किवाड़ खोल कर बाहर आया। ओटे पर अँधेरी परछाईं तले जा बैठा। सारा-कुछ निश्चल था। बेहद ठंड पड़ रही थी। दरवाजे के आगे गलियारे में दलदली कीचड़ पर बुझी-बुझी-सी चाँदनी फैली थी। अपने को अँधेरे में छिपाकर चाँदनी के [illegible]

पचासों तरह की उधेड़-बुन में पड़ा रहा। दो-दो-पांच के चक्कर में एक-पर-एक भावनाएं आती-जाती रहीं। धीरे-धीरे देह फिर गरमा आई। नशे की झड़ी में झूमता वह फिर उस धरती-चूमती झुकी ओलती-तले ढेर हो रहा। रात ठंड के मारे जमी जा रही थी। मानो गश खाके बेहोश हुई जा रही हो। चांदनी और बादलों का नीरव जादू फैल रहा था। दरवाज़ा खुला पड़ा था। भीतर पिओटी सोई पड़ी थी।

दिउड़ उठकर चहलकदमी करने लगा। कई बार दरवाज़े पर जा-जाकर चोर की तरह चुपके-चुपके देख-देख आया और दबे पैरों लौट-लौट आया। फिर न जाने कब और किस तरह अपने आपको भूल-भालकर घर के भीतर खिंचता चला गया। चूल्हे के पास मंद-मंद हलचल थी। देखा पिओटी जस-की-तस सोई पड़ी है। उसकी देह के कोर-कोर पर आग की दौंक की एक सीमारेखा-सी पड़ी है। नींद में भोरी-भोरी ही पिओटी ने अँगड़ाई ली। दिउड़ खिंच पड़ा। चूल्हा फूंकने के बजाय थरथराती साँसों से पिओटी के कान फूंकने लगा—"पिओटी, पिओटी, उठ।" बारंबार हिलाया। धत्तेरे की! सारी दुर्बलता न जाने कहाँ हवा हो गई। अच्छा ही हुआ। इतनी दूर बढ़ चुकने के बाद यह कैसी भकुआन आ लगी थी? पैर क्यों ठिठक रहे थे? किस बात की अपेक्षा थी? "उठ, उठ, पिओटी—"

नींद में भोरी पिओटी लाड़ लड़ाती-सी तेलुगु में बड़े दुलार से बोली—"एउँरो?" (कौन?) उसके सपनों में वही मैदानी देश था। गहरे निर्जन तालाब के भिंडे पर इक्के-दुक्के छरहरे नारियल खड़े थे। चोटी के पत्तों के महामुकुट पर चाँदनी खेल रही थी। हवा चली। पेड़ डोलने लगे, धीमे-धीमे।

बुढ़ापे की देह, कमजोर हाजमा, शळपू कंध अपने ओसारे में सो रहा था। खर्राटे गले में अटक-अटक कर तरह-तरह के विचित्र शब्द करते लौट-लौट आते थे। खंडहर देह में भटकते सपने मन को सुख दे रहे थे।

सपना देख रहा था, नींद खुलने का समय का आखरी सपना। बेर डूबी आ रही है। पहाड़ के ऊपर से ढोर-डंगरों की पलटनें गंजे डूँगरों

पर होती हुई नीचे तलहटी में उतरी आ रही है। एक ऊँचे डूँगर पर खड़े वे—यानी शळप, और दिउड़ साँवता बैल चुन रहे हैं। 'गोले' (ललौहें) और चरक (भभूती साँवरे) बैलों के झुंड-के-झुंड चले जा रहे हैं। दूसरे रंगों के बैल दिखाई नहीं दे रहे। पुकारो तो सुनते ही नहीं, रोको तो अटकते ही नहीं, एक दूसरे को ठेलते-ठालते भागे चले जा रहे हैं। झुंड-के-झुंड। ढोरों की बहती धार लंबी पड़ती जा रही है।

बूढ़े को कैसे-कैसे तो खाँसी आ गई। कुछ ठंड लगी। नींद खुल गई। देखा दिउड़ नहीं है। उठ बैठा। जी-भर खाँसने लगा। कमज़ोरी लगी। फिर सो पड़ा। सोचा, दिउड़ बाहर गया होगा, आ जायगा। नींद आ गई।

उधर उस घर में दिउड़ चौकन्ना था। पिओटी भी कान खड़े किए थी। बूढ़े की खाँसी सुनकर दिउड़ उठा। बोला—"जाऊँ"। उसे रुकने को हाथ दिखाती पिओटी बढ़ती किवाड़ की ओर गई। धीरे-धीरे किवाड़ खोल के बाहर चली गई। दिउड़ सोच रहा था, बस आज की रात ही तो? आज की रात ही इस परगाँव में चोरों-सा चलना है। कल से यह आशंका न होगी। पिओटी के लौटने की बाट जोहने में जी छटपटा रहा था। अब वह खाँसी सुनाई नहीं दे रही थी। कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता था। घर के भीतर का अँधियारा कैसा तो भँवरा रहा था, घुँघरा रहा था। छाती की धड़कनें अटक-अटक जाती थीं और फिर धुक-धुकी से बढ़कर दुरमुसी धमाधमी बन-बन जाती थीं। लगा जैसे पिओटी को बाहर गए कोई युग बीत गए हों।

पिओटी लौटी। कहा—"बूढ़ा तो खर्राटे भर रहा है।" बाहर निकलने का जी न हुआ। पूछा, "रात कितनी होगी पिओटी?" पिओटी फिर बाहर गई। लौटकर कहा—"सुकवा (शुक्रतारा) उग गया है।" अच्छा, तो बेर आ पहुँची! अब झटपट बातें खतम की जाने लगीं। पिओटी राजी है। पैर उठाए बैठी है। इतने दिनों के बाद तो ओली-तले की बेरियाँ फली हैं। हाथ से जाने देना सरासर मूरखाई होगी। फिर भी जग-दिखावे को पचासों अगर-मगर लगाने लगी। दूसरे के स्वार्थों को जो तिनके की तरह नखों से

तोड़ कर उड़ा देते हैं, न देर लगती है न हिचक, न माया न मोह ; वे अपने क्या राई और क्या पहाड़, सभी छोटे-बड़े स्वार्थों को दाँत निपोर-निपोर कर सहेजते रहते हैं। उनमें तिनके की खरोंच तक वे सह नहीं पाते। हर-कुछ ठीक-ठाक रखने को बात-बात पर वादे कराते हैं। पिओटी बारंबार दिउड़ू से पूछती है—"राजी ?" और दिउड़ू बारंबार उसके हाथ दाब के कहता है—"राजी।" उसके मुँह से शपथों के सोते बह चले हैं। कोनेवाली कुठरिया से पिओटी की माँ पाड्डियाणी कान लगाए एक-एक शर्त सुनती रही और सिसकती रही। अचंभे में पड़ी रही कि इन दोनों में कितना गाढ़ा लगाव है, देखो तो कोई !

किसीकी गोंठ में गाय रँभाई। पिओटी भुनभुनाई—"मैया री, बेर कैसी लपकी भागी जा रही है ? देख तो भला !" दिउड़ू कुछ न बोला। उसी समय कोने वाली कोठरी से पिओटी की माँ निकली। बोली—"पिओटी ठंड लग जायगी, आ, कुछ ओढ़-लपेट ले।" पिओटी उठके चली गई। कुछ ही देर बाद ओढ़े-लपेटे बाहर आई। माँ-बेटी दोनों। पिओटी ने ठिठोली की—" कल के जाते-जाते आज हो गया। मेरे गाँव का भात मुँह लग गया, घरजमाई रहना है क्या ?" दिउड़ू ने पूछा—"चलें ?"

"तेरी इच्छा !" पिओटी हँसी। उसकी मर्दानी भंगिमा दिउड़ू समझ न पाया। बोला—"जंगल की राह, भिनसारे का पहर, जानवरों के लौटने की बेर, तुझे डर तो नहीं लगेगा ?"

पिओटी ने कहा—"बाघ कोई जंगल में ही होते हैं, गाँव में नहीं होते ? तेरा जी चाहता हो तो निकल, मुझे तो कोई डर नहीं लगेगा।"

पिओटी की माँ ने कहा—"उठ पूत, उठ। रात रहते निकल पड़ें। राह में 'गदबा' लोगों का 'गुड़ा' [1] तो है ही। जिसे काम होता है, राह-बाट से डरने से उसका काम नहीं चलता।"

तीनों बाहर निकले। अभी लोग जगे न थे। गलियारे में दोनों ओर की गोंठों से मुँह चिढ़ाती-सी फों-फों उसाँसें उठ रही थीं। ढोरों की। धरती कड़ी पड़ चुकी थी। कुहरे पर मरियल-सी मुरदार चाँदनी पड़ रही थी। दो घड़ी की

1 टपरा। टोले से भी छोटी बस्ती को 'गुड़ा' कहते हैं। —अनु०

मेहमान रह गई ! झोले की ढलान उतरते समय किसी के घर के भीतर से ऊँघते-ऊँघते-से मुरगे ने बाँग दी। दिउड़् चौंका। झटपट लपक चल, लपक चल। तीनों हाथ-मुँह लपेटे चले जा रहे थे। किसीके मुँह में कोई बोल न था। 'झोला' पार करते समय पानी की कलकल-छलछल डरावनी लग रही थी। पीछे से पिओटी की माँ ने पुकारा—"खबरदार बापा, खबरदार, बाएँ मत जा, गड्डा है।" दोनों ओर जाने क्या-क्या इधर से उधर चले जा रहे थे। खेत-कुंज, जंगल, छतनार पेड़ों की अमराई, ढूह-डूँगर, खात-खड्डु,ऊ बड़-खाबड़ राहें—दिउड़् आगे को झुका लगभग भगा जा रहा था। डोर में बँधी घिसटती-सी एक धाङड़ी और एक बुढ़िया पीछे-पीछे खिंची आ रही थीं। बड़ी देर तक तीनों चलते रहे। सामने किसी के मंदिर-जैसे नुकीले छप्पर के मुँडेरे पर एक कलँगीदार मुरगा चढ़ बैठा और पाँखें फड़फाता बड़े पैने सुर में ज़ोर-ज़ोर से बाँगें देने लगा। दिउड़् ने देखा, पौ फट चली है। 'गदबा' लोगों को बस्ती दिखी। पीछे देखा, कुहरे में बंदिकार के पास का दिग्वलय भी ओझल पड़ गया था। पीछे से पिओटी की खिलखिलाती बोली सुनाई पड़ी। सबेरे पहर के पतरेंगे-सी चहक उठी थी। हुलासों भरी, उछाहों छलकती, आशाओं में सराबोर नरम-नरम बातें ! जंगल में आने के बाद जंगल की नित-दिन-की-घिसघिस वाले जीवन-क्रम से आज उसे छुट्टी मिल गई है। घिसने का अध्याय आज से समाप्त होता है और जीवन का एक नया अध्याय शुरू होता है। मनभाते जीवन का ! कर-धर के परोस देने को पला-पुसा आदमी मिल गया है। अब छुट्टी-ही-छुट्टी है।

"लो गदबा-गुड़ा आ गया"—पिओटी की माँ ने कहा—"मैं यहीं से लौट चली पिओटी ! ...तुम दोनों जाओ। ...फिर तेरा घर-बार हो लेगा, तो तुझे आके देख जाऊँगी। जा बेटी, जा। देर मत कर। अबेर हो जायगी। ...मेरी धी तेरे पीछे लग गई बापा, आज से तेरे हाथों में सौंपे दे रही हूँ। तुझ से 'झोला'[1] माँगनेवाला कोई नहीं है। फूल की तरह पालना। और अधिक क्या समझाऊँ ? मेरी बस यही एक दौलत थी। सरबस ! इसीलिए—"

---

१ दैन-मुहर का कंध संस्करण।

बात अधूरी ही छोड़कर बुढ़िया खड़ी हो गई। दिउड़ की छाती का एक बोझ हलका हुआ। एक आशंका थी, जो मिट गई। पिओटी दिउड़ के पीछे लग गई। ऊपरी मन से पुकार कर कहा—"तू नहीं आती माँ ?—"

"ना, तू जा। और बतकही मत लगा।"

दिउड़ ने कहा—"झटमट चल। मठराने मे अबेर हो जायगी।"

अकेली बुढ़िया उमी राह को बड़ी देर तक टकटकी लगाए तकती रही। आँखों के आगे से उड़ गए-से दोनों ओझल हो रहे।

दिउड़ ने हाथ बढ़ा दिया। कहा—"मेरा हाथ धर ले। तू चल नहीं पा रही।"

आज मुबह-ही-मुबह जीवन का नया अध्याय शुरू हो गया। दिउड़ सोच रहा था—आज से सब-कुछ नया-ही-नया होगा। पुरानी गिरस्ती की सोच रहा था। 'वह' रहेगी या चली जायगी ? गाँव के लोग क्या कहेंगे ? पुयू किस तरह देखेगी ? क्या-क्या मोचेगी ? इतने दिनों घुलते रहने के बाद आज सचमुच पिओटी को लिए जा रहा हूँ। बाप रे, दिन-रात कितना सोचता रहता था इसके बारे में ! सोचा था—बड़ा कठिन होगा ; पर कितने सहज भाव से हाथ धरे चली आई यह ! सब भला-ही-भला हुआ, पर परिछन करके घर में पधरा ले जाने को कौन आएगा ? न किमी से कुछ कहा, न पूछा, अनाहूत दूल्हन औचक्के लिए चला आया !

कैसी मुबह है आज की ? मुक्के मार के कटहल पका लेने पर भी कौन-सा अभाव है, जो इतना खल रहा है ? जो चाहा सो हुआ, अब फिर यह उचाट-उचाट-सी क्या लग रही है ? गाँव ज्यों-ज्यों पास आता जा रहा था, त्यों-त्यों मन रुआँसा-रुआँसा हुआ जा रहा था। माथे से बार-बार पसीना छूट रहा था। छाती अकारण ही कँपकँपा रही थी।

पिओटी ने चिकोटी-सी भर कर छिनगाया—"इसीके लिए इतनी बातें बघारता था ? घर से बाहर निकलते ही मुँह पर जैसे ताला पड़ गया, मुड़ के बात तक नहीं करता तू तो ! मैया री, थका मारा, कौन दौड़ेगा इतना ?"

दिउड़ू ने कहा—"झटपट पहुँच लें। तभी तो सब होगा !"

पिओटी ने कहा—"अब जल्दी ही क्या है ? गाँव के पास आ गए। कोई चोर-डाकू तो हैं नहीं कि डर जायँ ?"

"ना, ना। मैं चोर कहता थोड़े हूँ। तू चोर नहीं, पर मैं तो हूँ ही........" दिउड़ू खाली हँसता रहा। इस बात का जवाब नहीं दे सकती वह। पिओटी बकर-बकर मुँह ताकती रही।

"अटके बिना बनने की नहीं। देखना नहीं, आगे जंगल है। इतने सवेरे अकेले उस अँधेरे गीले जंगल में पैठने की क्या पड़ी है ? मेंह नहीं, बादल नहीं। जब तक धूप खुल के निखर न आए, तब तक मैं तो यहाँ से टलने से रही। मुझे जंगल नहीं सुहाते।"

लाचार दिउड़ू भी बैठ रहा।

पिओटी ने कहा—"तू भी तो कोई कम नहीं थका। बाप रे, कितना पसीना। सिर के बाल कैसे हो रहे हैं। कंघी होती, तो तेरी चोटी बाँध देती। तुझे क्या हो गया है ? रतजगे और ठंड लगने से तबियत कोई ऐसी-वैसी तो नहीं हो गई ? चेहरा लटका-लटका-सा है। क्या सोचा जा रहा है ? राह ? जंगल ? बाघ ? घर ?...क्या ? हाँ, घर सचमुच याद आ रहा होगा। घर पर घरनी है ! मैं तो कोई ब्याहता हूँ नहीं !"

हँसते-हँसते वह लोट-पोट हो रही।

दिउड़ू ने कहा—"ना, कोई हँसी-ठिठोली नहीं करता। सच कहता हूँ। चल, चले चलें। कोई डर नहीं। जानी-पहचानी राह है। उधर, काम भी कई पड़े हैं। कोई दूर नहीं। यही दाएँ-दाएँ चलके आगे दर्रे की पगडंडी है। दोनों ओर ऊँची बाड़ें, बीच में सँकरी राह। सीधी चली गई है। अपने गाँव के खेतों वाली तलहटी में। उसी तलहटी में एक अच्छा-सा डेरा है। इसी साल नई छान छाई गई है। दमदार घर है। आरामदेह। केले की सुन्दर बाड़ी है। चारों ओर दूर-दूर तक। संतरे के कुंज हैं। सुन्दर जगह है। गाँव वहाँ से दिखाई नहीं पड़ता।"

पिओटी पलक झपकाए बिना, मुँह उठाए सब सुन रही थी। यकायक

झपाटे से उठ पड़ी। आँखों के आगे कुहरा-सा छा रहा था। दोनों कोए डबडबा आए थे। होंठ फड़क रहे थे! चिल्ला उठी—"उसके बाद? हाँ, कहे जा; अटक क्यों गया? उसी सुन्दर तलहटी में, उसी दमदार झोंपड़ी में, बाड़ी से केले-संतरे खाती मैं छिपी रहूँगी, तेरी रखेल बन कर! अहा, कितना सुन्दर होगा! घर में घरनी होगी, खेतों पर रखेल होगी, तू आएगा, जाएगा! कभी वहाँ, कभी यहाँ! संगिनी दोनों जगह होगी, अकेलापन अखर नहीं पाएगा! बहुत प्यार करेगा तू, बड़ी साधों रखेगा, बड़े स्नेह से दुलारेगा! कहे जा, कहे जा। अटक क्यों गया? मन में इतनी बातें छिपा रखी थीं, फुसलाने के पहले एक न बताई। बात पक्की करने के पहले यह सब छिपाया किसलिए था? हुउ, जो हुआ सो हुआ। राह सामने पड़ी है, दाएँ-दाएँ, झटपट चला जा, बहुत काम पड़े हैं। जा—"

थूक निगलता-निगलता दिउड़ॢ बोला—"छि: पिओटी, भोर होते-न-होते कलह बो दिया। यही विश्वास है मुझ पर? मैंने यह थोड़े ही कहा था?......."

"क्या कहा था? कह जा। कह, मैं तो तेरे कहने की राह तक ही रही हूँ—"

मन-ही-मन सीधी होती आ रही पूरी योजना मिट्टी में मिल गई दिउड़ॢ की। अब पलभर के ही भीतर फैसला कर डालने को लाचार हो जाना पड़ा। चाहे तो इधर, नहीं तो उधर। बीच की कोई राह नहीं। खेल खेलने की मौजों के सपने छूमंतर हो गए। सिर के भीतर न जाने क्या हो गया। माथे की सलवटें धू-धू जल उठीं। सारे भाव पेंगे भरते इस छोर से उस छोर जा पहुँचे। लाल-लाल आँखें मिटमिटाता दिउड़ॢ कहने लगा—

"यह पता न था पिओटी कि तू यों बात-बात पर संदेहों की डाल-डाल पात-पात फाँदती फिरेगी और इस तरह आप तंग होगी, मुझे तंग करेगी! क्या कहा मैंने और क्या सोचने लगी तू? रखेल! किसने कहा

कि तुझे रखेल रखना है ? 'बंदाण' ब्याह क्या नहीं चलता ? मेरा मन जिसे चाहेगा, ब्याहूँगा। मजाल है जो कोई मुझे डरा दे ? मजाल है जो कोई मुझे दोषी ठहरा सके ?"

आँखों की ओट के अनदेखे समाज पर मन का सारा रोष उँड़ेलकर दिउड़् फूल उठा। बातें करते-करते उसका बल ऊना से दूना हो गया। पिओटी अपने आदमी के इस रुद्रावतार को भर-भर आँखों निहारती रही। मुँह सिकोड़े आँखें झिलमिलाती निहारती रही। अहा, कितना सुन्दर है अपना यह बलिष्ठ पशु ! यह बेदाम का गुलाम ! रास थामना जान गई, तो मेरे लिए धधकती आग में कूद सकता है !

दिउड़् कहे जा रहा था—"तुझे थकी जानकर कह रहा था। राह-बाट में बैठने पर हर आने-जाने वाला देखेगा, पूछेगा। चलती राह पर बैठ कर हटियों-हटवैयों में सेंतमेंत की चर्चा चलवाना ठीक नहीं। इसीलिए कह रहा था—'गुड़िया' की राह चलें, वहाँ अच्छी-सी जगह है, थोड़ा सुस्ता लेते। फिर गाँव को जाते।"

पिओटी फ़ौरन बदल गई। भरमाए लिए जाती-सी आगे-आगे दौड़ती कहने लगी—"किसने कहा कि मैं थक गई ? देखती हूँ, आगे कौन जाता है ? राह-राह चल। सुनसान जंगल की राह मुझे नहीं सुहाती। मुझे गाँव की राह पसन्द है।"

दिउड़् पीछे-पीछे चला।

सत्तानवे

बड़े सवेरे उठकर पुयू ने देखा कि दिउड़ू नो लापता है !

उसका बिस्तरा ज्यों-का-त्यों चूल्हे के पास पड़ा था । उसके सोने की बोरी, उसकी गुदड़ी, उसके कपड़े, सब ; पर वह आप न था । पुयू अचंभे में पड़ गई । ठंड और बदली का मौसम, हड़कंप मचाती सनसनाती हुहुकारती हवा, गया कहाँ वह ? इतने सवेरे तो वह कभी उठता भी न था । लाख दुरदुराने पर भी पुयू रोज़ इस समय उसके पैर दाब दिया करती थी । वह हाथ-मुँह लपेटे पड़ा रहता था और उसकी भिनसारे की नींद को ज़रा और आरामदेह बनाने के लिए पुयू फूँक-फूँक कर आग सुलगा देती थी । और आज वह इतने सवेरे उठकर चला गया है, आश्चर्य !

पुयू अपने कामों में लग गई । हाथ कामों में लगे थे और मन टटोलता फिर रहा था कि बात क्या हुई ? निगाहें दिउड़ू को ढूँढ़ रही थीं । बात मामूली-सी थी ; पर इतने मे ही जी उचट गया था । विघटन छोटा हो कि बड़ा हो, आज सुबह-ही-सुबह घट चुका था । इतने बरसों से एक सुर-ताल में बँधी चली आ रही गिरस्ती में यह बेसुरी, बेताल अघटन घटना घट गई थी ।

'झोले' गई, तो बारह बहानों से पूछ-ताछ की । ना, कोई नहीं जानता, किसी ने उसे देखा ही नहीं । पुबुली की सहेली पुल्में ने ठिठोली की—"दिन के समय ही इतनी खोज-ढूँढ़ काहे को पड़ी है री भाभी ?" अल्हड़ उजड्ड जंजइ झुंड भर माँ-बहनों के सामने ही हाकिना को छीनती बोली—"होशियार बेटा, होशियार !" हँसी-ठिठोली और बोली-ठोली में औरों को चाहे जितना भी सुख मिला हो, पुयू बेचारी को यह सब कैसा तो सालता-सा लग रहा था । अन्तर का स्तर-स्तर उखड़ा-उखड़ा लग रहा था । जाने दे, कहीं गया होगा उठके, उसके लिए इतनी सोच-फिकिर काहे को ? पहली पहचान की याद आई । उन दिनों भी सरबू का पूत

यों ही बिना कुछ कहे-सुने उठके चल दिया करता था। और फिर वन से कोई कुटरा हिरन या मोर मार लाके पुयू के आगे मुला दिया करता था। सभी चकित रह जाते थे। आस-पास लोग जमा हो जाते थे। बाप को देख के लजाता हुआ कहने लगता कि "जा रहा था, राह में मिल गया।" और पुयू को कनखियों-कनखियों देखता रहता था। गिरस्ती के ये ही नन्हे-नन्हे खेल पुयू को काम करते समय याद आ रहे थे। हाथ अलसा रहे थे। आज भी कुछ वैसे ही गुपचुप लापता हो गया है; पर वह दिउड़ अब कहाँ ? वह दिउड़ आज नहीं रहा।

रींध-पकाके बाट जोहते-जोहते कलेवे की बेर टल गई। दिन ढलने लगा; पर अब भी बे-खाए-पिए बैठी थी। मेंह बरस के फट गया। उबेर हो गई। फीकी धूप निकली। धीरे-धीरे तेज पड़ गई। गाँव के लोग खा-पी के खेतों को गए; पर दिउड़ का अब तक कोई पता नहीं ! "साँवता कहाँ गया ? किसी ने देखा है ? कोई जानता है ?"

"नहीं तो।"

जामिरी बूढ़े ने पुछवा भेजा-"जा के देख तो आ भला, बहूटी बैठी-बैठी झींक क्यों रही है ?"

बुढ़िया आई--"क्यों री ? क्या है ?"

"कहाँ तो गया है ! खाने नहीं आया। देखा है ? जरा पूछती।"

जामिरी बूढ़ा लाठी टेकता गाँव में पूछने निकल पड़ा। पुयू वैसे ही दूर सूने पाँतरों को ताकती बैठी रही। आस लगाए, . . .शायद बूढ़ा खबर ला दे। लेल्लू कंध के दरवाजे की इमली की छाँह गाँव के गलियारे में बिछ गई। कहाँ है दिउड़ ? बेर तो गई। वह उधर, जामिरी बूढ़ा लौटा आ रहा है ! बूढ़ा-बूढ़ी बतियाने लगे--"कहीं कोई टोह तो न मिली। खेतों की 'गुड़िया' को गया होगा, कोई काम होगा।" पुयू का माथा ठनका। डर रीढ़ सिहरा गया ! बेजुणी याद आई। गई थी, लौट न पाई ! बघलगी के दिन हैं ! तो क्या ......?"

उसने हाकिना को निहारा। आँखें आँसुओं में तैरने लगीं। मन को

कितने-कितने कैसे-कैसे पाप-भाव छू गए।

यह भी कहीं हो सकता है? ऐसा भी हुआ है कहीं?

थसक कर सिर पर हाथ दिए बैठ गई। आँखें दूर के उन भरे-भरे भयंकर वनों से हटाए नहीं हटती थीं। कहाँ गया वह, कोई खबर तक नहीं! कोई टोह तक नहीं!

जैसे-तैसे अपने को सँभालके खड़ी हुई। और-और ढंग से सोचने लगी। बिना कहे-सुने किसी और गाँव को चला गया हो कहीं? अपनी खेती-बाड़ी के भले-बुरे की कोई बात होगी,—बताता ही कब है वह किसी को? कुछ बातें, जी में आया तो, बक जाता है; कितनी ज़बान पर भी नहीं लाता। घर में जाके देखा तो 'तलरातलरी' नहीं थी। लाठी-बरछे नहीं थे।—यह तो खैर मामूली बात है; पर खेस क्या हुआ? छान से जो तुंबियाँ लटक रही थीं, वे कहाँ गईं? घर खाँय-खाँय लगता है। जैसे कहीं कुछ रहा हो, जो अब नहीं है। सामने ओसारे की कीच-पाँक में आदमी के पैर अँके हैं। ऊह खुली, बात सूझी, बारिक से पूछ देखा जाय। ठीक!...बारिक हाथ की 'बारिसी' (बसूला) होता है।...नहीं भी जानता होगा, तो ढूँढ़ने निकल पड़ेगा।

भुरसा मुंडा बारिक अपने ओसारे में बैठा चिलम पी रहा था। एक ओर कुछ ढपाढप हो रही थी। देखा—बारिक की बहू सोनादेई टाँगें पसारे बैठी साँवा-घुरची में साँवा कूट रही है। पुयू पहुँची।

"बारिक, एक बात है।"

चिलम फेंककर बारिक हड़बड़ाता दौड़ा आया। साँवतानी आई है! सोनादेई ने हाथ बारकर, स्थिर होकर, देखा। पुयू नन्हा-सा मुँह लिए धीमी-धीमी आवाज में जल्द-जल्द क्या तो कहे जा रही है बारिक को। बारिक सिर हिला रहा है। पुयू के मुँह के रंग उड़े हुए हैं।

"अब इसमें इतना घबराने की क्या बात है, साँवतानी? साँवता कहीं खो थोड़े ही गया है?"

थोड़ी देर चुप रहकर सोचता-सा बारिक बोला—"यही सोच रहा हूँ कि गया तो गया ; पर तुझे बता क्यों नहीं गया ?"

सोनादेई ने हँस दिया। ताने से बोली—"उसे इतनी देर खड़ी रखने में तुझे क्या मिल रहा है बाबा ?.....कह दो ना, कि साँवता बंदिकार गया है। कहने से कोई पाप थोड़े ही लग जायगा ?"

"बंदिकार ?" —पुयू ने भावमूढ़ होके पूछा।

बारिक हँसा। कहा—"कहके गया होता। सोचा, तू तो जानती होगी। अब उलटे तू ही पूछ रही है। मैं तो चकित हूँ। बड़े लोगों को कुछ कहा नहीं जाता। नहीं तो मैं कहता कि देखो ना, इतना बड़ा साँवता होके भी हमारा साँवता बच्चों-सा है !"

वह और भी हँसा। कहा—"तुझ से ठट्ठा खेल रहा है साँवतानी ! नहीं तो क्या, सुबह मुझे आके उठाया, तुझे उठाके कह न दिया होता ? सुबह ही आके बोला—उठ, चल, तू चल, तेरा बेटा चले। गए दोनों बाप-पूत। न जाता भला ? न जाने को सिर पर दो सिर कहाँ है ? अभी-अभी तो लौटके आ रहा हूँ।"

"कब आएगा ?"—पुयू ने पूछा।

"आज तो आना हो नहीं पायगा। कल सवेरे शायद।"

"किसलिए गया है ? तुझे पता न होगा बारिक ?..."—लाज से पानी-पानी होती पुयू ने पूछा।

बारिक ने कोई जवाब न दिया। उसे चुप देख ठठाकर हँसती सोना-देई बोली—"तेरे लिए कोई अच्छी दामी चीज लाने गया होगा साँव-तानी। नहीं तो क्या ऐसी बरसाती 'बघेई' मौसम में कोई घर से पैर काढ़ता है कहीं ?"

बारिक भी हँस पड़ा। कहा—"देख, मखौल करती है।...झूठ नहीं बोला करते।" फिर पुयू की दृष्टि के आगे नरम पड़ता बोला—"सच कहता हूँ। मुझे कुछ पता नहीं।...कल लौटेगा।"

मुड़के पुयू लौट पड़ी। उसके बाद सोनादेई की खिलखिलाहट का तार बँधा। साँवा कूटते मूसल के ताल-ताल पर।

गई, एक चिन्ता मिटी।

किस काम से बंदिकार गया है ?

पर यह इतना हँसती क्यों है ? इस सोनादेई की हँसी के पीछे कौन-सा विकट इंगित छिपा है ? बाप रे, ऐसी हँसी ! हँसी है या हाड़-मांस झाड़ देने वाली कोई निर्मम ठिठोली है यह ? पुयू गुनावन में पड़ गई। उधेड़बुन की चुभन बेतरह सताने लगी। बारिक शायद सब-कुछ जानता है ; पर बताता नहीं। चतुर डंबऽ पात-पात चलता है। उससे छिपा क्या होता है ? पर जानता है तो कहता क्यों नहीं ?

खैर, अब उसकी आशंका न रही। खबर तो मिल गई न !

पर जितना ही सोचती, मन उतना ही खटाना जाता। कोप और मान से भस्म हुई जा रही थी। इस तरह अकारण ही ताच्छिल्य दिखलाकर दिउड़् को सुख मिलता है। वह बारंबार यह समझा देना चाहता है कि तू कोई नहीं है, तेरा कोई सुख-दुख नहीं, तेरा कोई मान-अपमान नहीं। वह जानता है कि यह सब सहती रहेगी, कुछ कह नहीं पाएगी ; पर उस दिउड़् को डोर में बाँधकर किवाड़ की आड़ में छिपा रखना कौन चाहता है ? फिर वह बड़े अँधेरे छिप-छिपकर क्यों गया ? कोई मतलब जरूर होगा। सोनादेई जानती है, बारिक जानता है, एक यही अभागिन नहीं जानती ! नारी-मन परख पहचानता है, उसका दर्द वहीं होता है।

बेर डूबे तक मुँह सुखाए बैठी रही। अँधेरा उतरा तो बच्चे को बोधने-बहलाने भीतर गई और चूल्हा सुलगाया। बच्चे को सुला दिया। कुछ पकाया-वकाया नहीं, भूखी सो रही। सोच के मारे आँखें झिपकती ही नहीं थीं। कैसा अनादर है ! कैसी अवहेला है ! क्या जीवन है यह ! लाख रो-पीट लेने पर भी मन की यह पीर मिटने को नहीं ! लाख मुँह सुखाने पर भी, लाख ठंडी आहें-उसाँसें भरने पर भी, यह बोझ हलका न होगा, इसे बदला नहीं जा सकेगा ! रात, अँधेरी मेघल रात ! आज अकेली

है वह ! आँखें मूँदते ही सोनादेई की उत्कट हँसी बारंबार खुभने लगती, खोदने लगती, एक-एक घटना गुँथ-गुँथ के आँखों के आगे झूल पड़ती, रुलाई आती ; पर नींद नहीं आती । नींद नहीं आती, रात काटे नहीं कटती । चिन्ता, चिन्ता, चिन्ता ! चिन्ताएँ चमगादड़ों-सी अँधेरी रातों में कैसे पंख फड़-फड़ाती लहू चूसने उड़ी चली आती हैं ! न सोचो तो बेर काटे नहीं कटती, और सोचो तो त्राण नहीं ! बचपन से अब तक के ऐसे ही इतिहास न जाने कितनी धारणाओं में, कितने रूपों-रंगों में बारंबार आते हैं और मन को मथ-मथ कर दो बूँद आँसू में बिला-बिला जाते हैं ।

युग पलट गया है, गाँठ ढीली पड़ गई है, झींक-झींक कर नक्की सुरों में रोते रहने से पुराना फिर नया नहीं होने का !

अट्ठानबे

पौ फटी। सुबह हुई।

आज दिउड़् आएगा।

आज मन और-का-और हो गया है। कल के ढीले-ढाले काम सहेज-सुधार देने को मन चिनगारी-सा फनफना रहा है। सब ठीक-ठाक न रहे तो दिउड़् आके बिगड़ सकता है। पुराने घर को नई आँखों से देखकर पुयू ने देखा कि अभी बहुत काम पड़े हैं। घर के भीतर भी, बाहर भी। झाड़-पोंछ में जुट पड़ी। झटपट 'झोले' से नहा आई और रसोई पकाने बैठ गई। मँड़ुआ से बदल कर दारू ला रखी, घुँगिया ला रखा। झक्की ठहरा, घर आते ही हर चीज ठीक-ठाक पानी चाहिए ! इतने दिनों बाद धूप निकली है। रो-पीट चुकने के बाद वनदेश झिलमिलाती आँखों से निहार रहा है। गाँव के गलियारे में हँसी छलकी फिर रही है। आज सभी खुश हैं। सभी धूप में बैठे सिर की चोटियाँ सँवार रहे हैं। पुयू ने सिर में कंघी-चोटी कर ली। धुला कपड़ा पहन लिया।

लंबी बदली के बाद की धूप है आज ; इसलिए हर कोई गुनगुना रहा है, हर कोई गा रहा है। पड़ोसिनें आके पुकार गई हैं कि काम झटपट निबटा के आज जंगल की सैर को जाना है। पुयू कई बार बाहर जा-जाकर दूर तक की राह तक-तक आई। देर हुई तो सारी रसोई सिराके पानी हो जायगी ! और जब तक वह आ न जाय, तब तक काम से छुट्टी भी नहीं मिलती। गाँव के मुरगे पहर भर दिन उठे की बाँग कब के दे चुके। बेर दो लाठी चढ़ गई। ओसारों-ओसारों लोग खाने बैठ गए। फिर भी दिउड़् का अभी कहीं पता नहीं। पुयू खड़ी इधर-उधर देखती रही। एक कौआ डिसारी के घर की छान पर बैठा लगातार काँव-काँव किए जा रहा था। गलियारे में पतिंगे उड़ रहे थे। सामने नीला जंगल धूप में चमकता आँखें चौंधियाए डाल रहा था। लगता था जैसे चोटी का [illegible]

उड़ रहा हो। पर इन दृश्यों पर उसकी आँखें अटकती न थीं। सब उसे फीके लग रहे थे। मन में वही धुकधुकी लगी थी। अब तक आया क्यों नहीं वह ? ओटों के ऊपर वही पुराने दृश्य थे। पड़ोसियों के घरों के आगे खुशियाँ छलक रही थीं। सभी इस समय हाँड़ियों और तुंबियों से पत्तल के दोनों में 'पेज' ढाल-ढालकर खा रहे थे, और बातें कर रहे थे। इन खुशियों के आगे अपनी खोखली गिरस्ती और भी काट खाती-सी लगती थी। दिउड़ू नहीं लौटा।

कलेवे की बेर भी टल गई। पुयू बे-खाए-पिए, भूखों-प्यासों मुँह सुखाए बैठी रही। दूर से मानो कई लोगों का एक साथ बतराना सुनाई पड़ने लगा ! लोग एक के पीछे एक गाँव के छोर की ओर चले जा रहे थे। कानों-कान कोई बात फैल रही थी। स्त्रियों को भी सुन-गुन हुई। वे भी उधर ही चलीं। पुयू का जी न हुआ कि जाय। गाँव में तो यों ही कोई-न-कोई मौज लगी ही रहती है ! बात-बात पर हाट लग जाती है। कौन जाय ! ऐसी मौजों में उतराने के लिए अब वह उमंग नहीं रही जी में। पर, गाँव की यह लहरी तो इधर ही बढ़ी चली आ रही है ! लोगों की बतरानों का धाँव-धाँव शोर बढ़ता ही आ रहा है। मानो इस कलरव की दुनिया के ऊपर के ढक्कन को कोई धीरे-धीरे उठा रहा हो, एकदम धीरे-धीरे। क्या है यह ? गुल-गपाड़ा मचाए लोग आपस में क्या बतकही कर रहे हैं ? और रोर इतना प्रबल होता पास-पास क्यों आता जा रहा है ? क्या कह रहे हैं ?.....साँवता ? ! "साँवता" शब्द सुनते ही चकोह में ढकेल दी गई सी पुयू बाहर दौड़ पड़ी। और...और, देखा।

ओटे से पूरा उतरी भी न थी कि पैरों को काठ-सा मार गया। जहाँ-की-तहाँ ठिठकी खड़ी रह गई। गड़ी कील-सी अचल। देखा, दिउड़ू साँवता दरवाजे की ओर ताकता खड़ा है और उसके पास ही सिर पर पोटली लिए एक नई धाकड़ी खड़ी है। सारा गाँव जुटा है। गोल बाँध-बाँध कर लोग पचासों मुंडों में खड़े हैं। जितने मुँह उतनी ही तरह की पूछताछ, उतनी ही तरह के तर्क-वितर्क। सब की आँखें उन दोनों पर

लगी हैं। पुयू को देखते ही हो-हल्ला बढ़ गया। जनता के भीतर जैसे कोलाहल का कोई नया सोता बह चला। क्या हो रहा है? सारी दुनिया नाचती-सी लग रही है। चकराती, उलटती, लड़खड़ाती, गिरह मारती सी! दुनिया पागल तो नहीं हो गई है? आज पुयू की 'मेरिया'—बलि तो नहीं चढ़ाई जा रही है? चारों ओर से हजार तरह की बातें टुकड़ों-टुकड़ों में उड़ी आ रही हैं और उसे बोटी-बोटी काटे डाल रही हैं। और यह दिउड़ू क्या कह रहा है?—नई घाङड़ी लाया हूँ, एक घरनी के रहते दूसरी लाना कोई मना थोड़े ही है?—लोग मेरी ओर दौड़े क्यों आ रहे हैं?... चारों ओर ये लोग-बाग, पेड़-पौधे, घर-बार आदि चाक पर चढ़े-से नाच क्यों रहे हैं? नाचते-नाचते सब मिल-मिलाकर एक-जैसे हुए जा रहे हैं! लो, अब वह भी नहीं, वह भी नहीं!.....

सारी अनुभूतियों पर पूर्ण-विराम लग गया था। पुयू मूर्च्छित हो गई थी।

आँखें खुली तो हाकिना को टटोला। पास ही सोया था। आग धुआँती जल रही थी। घर के भीतर अँधेरा था। सारा-कुछ निश्चल पड़ गया था। सोचा, रात अभी बहुत है। लगा, जैसे नींद की बौरान में क्या-क्या असार सपने देखती रही थी। करवट बदली। ऐं, यह सब गीला कैसे हो गया? कोई कुछ कह रहा है। कौन है? उसी अँधेरे में जामिरी की बूढ़ी प्रगट हुई। सिर सहलाकर हँसती हुई नरम सुर में बोली—"उठी क्या री माँ?....." और उसके पास ही भर्राये गले से जामिरी बूढ़े का थरथराता स्वर—"उसके मुँह के पास मँड़ए का थोड़ा-सा गुनगुना 'पेज' सटाके धर। अभी उसे बुलवा मत।...."

धीरे-धीरे होश-हवास लौटे। भावनाएँ लौटीं। मठराती-मठारती सी। लगा जैसे छींटे पड़ रहे हों, बढ़ते आ रहे हों। फिर चमकते पानी की तरह याद चमकी...रात हो गई, दिउड़ू नहीं लौटा!...बड़ी-बड़ी आँखें फाड़े चारों ओर देखा। जामिरी की बुढ़िया मुँह पर झुकी च्चू-च्चू करती चुमकारती सिर दबा रही थी। बूढ़ा किवाड़ खोलकर बाहर चला गया।

अभी तो कितना सारा दिन पड़ा है ! फिर रात कैसे हो गई थी ?

धीरे-धीरे सारी बातें याद आईं। धीरे-धीरे प्राणों के अंततम प्रदेश से सारा-कुछ निचुड़ता आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें बनकर आँखों की राह बह चला। बुढ़िया ढारस बँधाने लगी— "छि: माँ, बच्ची-सी करती है ! सँभाल ले, सँभाल ले ! बाद की औरत बाद, पहले की पहले ! तेरा क्या ऊना हो गया है ? रो क्यों रही है ?"

और फिर सब-कुछ अंधड़ के वेग से यकायक याद आ गया। हाँ, यह तो अपना घर नहीं, जामिरी का घर है ! अपने घर में तो......

आगे सोचने का हियाव न हुआ। रुलाई सारी भावनाओं को ढकेलती, डुबोती, उछालती, फूट पड़ी। आज एक-एक आँसू की, पूरे जीवन की कमाई इस तरल संपत्ति की एक-एक बूँद की, जरूरत है।

पुयू की रुलाई जारी रही। बूढ़ी की सांत्वना जारी रही। पुयू की रुलाई बढ़ती गई। बूढ़ी की सांत्वना बढ़ती गई।

हाकिना उठा, देखा कोई असुरी-सी बुढ़िया माँ को रुला रही है। उसने अपने नन्हे गले का उग्रतर क्रंदन-स्वर भी माँ के क्रंदन-स्वर में मिला दिया।

"यह क्या ?....खाली रोती ही रहेगी ? ...ओ री, अरी ओ पुयू, पुयू, जरा देख तो बच्चे की क्या गत हो रही है ?—इसे दूध दे, दूध। अरी ओ बावली, सुनती नहीं ?......."

जामिरी की बुढ़िया उसे बारंबार झकझोर-झकझोर कर हिला रही थी। रुलाई के सोते का छोर आ चला था। सिर्फ पानी ही चुपचाप आँखों से बहे जा रहे थे। पुयू ने मुँह उठाया। देखा, हाकिना धरती पर लोट-लोट कर रो रहा था। रोते-रोते झँवा कर मुँह काला पड़ गया था। काला मजीठ ! छटपटाते-छटपटाते हाथ-पैर अकड़ चले थे। जाने कब इसने थोड़ा-सा दूध पिया था। बच्चे को समेट के उठा लिया। हाय, इस उत्तान बच्चे की अब क्या गत होगी ? फिर एक दौंगरा, फिर एक बौछार। रह-रह कर नन्ही-नन्ही बूँदियाँ छींटे मारती फुहियों-सी झड़-झड़ पड़तीं। बरसात में भीगे पेड़ के पत्तों पर उबेर में अटकी बूँदें जैसे अलसाई हवा के हलके झकोरों से यकायक झड़-झड़ पड़ती हैं। हाकिना ने दूध में मुँह डाल दिया। चूसने लगा तो चूसता ही चला गया। जाने कब का भूखा था, झिनझिनी लगने लगी है ! चोरी-चुपके माँ का मुँह भी निहारे ले रहा है।

बच्चे को दूध पिलाने से विवेचना-शक्ति धीरे-धीरे लौट आई। पैरों तले ठोस दमदार वसुंधरा आसरा देने लगी। चारों ओर का सूनापन झीना पड़ गया। आँसू-छलछल आँखों के आगे पिछले पहर की ठंडी धूप ओटे पर पड़ी। खुली हवा मन की टीस सहलाती हुई, मठराती हुई, बह चली। याद लौटी। ना, जीवन है, संसार है !

"चल ना, बाहर आ जा जरा, आ....." बच्चे को दुलारती-सी जामिरी की बुढ़िया पुचकारने लगी। किवाड़ को अच्छी तरह खोल दिया। "आ, अरी ओ माँ, आ....."

पुयू उसके पीछे-पीछे बाहर निकलके ओसारे में आ बैठी। गलियारा

कितनी जल्द सूना पड़ गया ? कहाँ गए लोग ? कहीं कोई नहीं ! वह औरत उदास बैठी पीछे को गरदन मोड़े विकल चितवनों से देखती रही। जामिरी की बुढ़िया पास में कमर पर हाथ दिए खड़ी एक-टक उसी को तकती रही। बुड्ढी जाने क्या-क्या कितना-कुछ बके जा रही है !

जामिरी की बुढ़िया की कोई भी बात पुयू के मन में पैठ नहीं पा रही थी। कुछ सुनती है, कुछ सुन भी नहीं पाती। इसमें क्या रखा है ? छूँछी बातें ही बातें हैं, बेकार !

पुयू इस धरती पर नहीं थी।

"ऐसे मन मारे क्यों बैठी है बेटी ? पुयू, पुयू, बात क्यों नहीं करती ? बोल बेटी, कुछ बोल ना ! हाय, चेहरा तेरा कैसा लग रहा है ! अरी ओ बिटिया, क्या हो गई तू ? घड़ी भर भी अपने को सँभाल नहीं पाई, बावली कहीं की ? और भी तो हैं। पके बालों भी गिरस्ती कर सकती है तू तो, लाल खिला सकती है ! क्या, तुझे हुआ क्या है ? इतनी बेकल हो गई ? कौन देखेगा, कौन दम-दिलासा देगा ? यही देख ना, बूढ़ा सह नहीं पाया, निकलके बाहर चला गया ! बाप रे, क्या रुलाई है, कहीं न ओर है न छोर ! बही जाती है, बही जाती है ! मन ने रुलाई का सुर धर लिया है, छोड़ता ही नहीं ! ओह, चुप भी हो ना ! बेकार क्या रखा है रोने में ?"

छोड़ दे। सोचने दे। देखने दे।

अकेली ही इस खोखली दुनिया को देखने दे। एकांत दे।

बुढ़िया मुँह के पास परदे सी टँगी झूल रही है।

जहाँ जो भी था, चला जा चुका है। घर पड़ा है, लोग नहीं हैं। गोंठ मुँह बाए देख रही है, खूँटड़ों से छूँछे पघे बेकार झूल रहे हैं, ढोर-डंगर कोई नहीं हैं। झुलसी धनखेती फट-फट कर मुँह बाए पड़ी है, मुँह में एक बूँद पानी तक नहीं पा सकी है। 'झोले' के किनारे-किनारे ललौंही-उजली हड्डियों के ढेर-के-ढेर लगे हैं, पानी के बदले काली-काली बारीक रेती के सूखे दियारे भुन रहे हैं।...सारा जवार मुँड़ा-मुँड़ा, तघड़ गंजा, रूखा,

कड़ा और कर्कश हो उठा है। कहाँ छिपी थी इतनी तपिश ?...नंगे पहाड़ की खुरदुरी चट्टानी फाटों से कोई लगातार राख ही राख उड़ाए जा रहा है। टूटी टोकरियाँ फूटी हाँड़ियों और खिलौने की टूटी-फूटी पुतलियों को ढकेलती एक दूसरे को खदेड़ती उड़ी चली जा रही हैं। हजारों हजार ! फटेहाल छान धीरे-धीरे बैठी आ रही है। अब-गिरी अब-गिरी हो रही है। तिनके फड़फड़ाते उड़े जा रहे हैं, फूस उड़ी जा रही है, पुआल उड़ी जा रही है। काले-ललौंहे और काले-भभूती बाँस बूढ़े आदमी के दाँतों की तरह अँधड़ में हिल रहे हैं। झुंड-के-झुंड छान-छप्पर हिल-हिलकर गिर-गिर पड़े जा रहे हैं, पस्त हुए जा रहे हैं। यह लो, राख का धुआँसा घटाटोप घिर आया ! पहाड़ की कंदराओं से कैसा विचित्र किळकिळा [1] उठ रहा है ! ओह, कैसा तपन है, कैसी ऊमस है ! सब-कुछ झुलस गया, सब-कुछ झुलस गया ! क्या हुआ ?.....

इसके आगे सोचा न जा सका। काच-सी दो आँखें कोटरों से बाहर ठेलती-सी वह दीवार से उठँगी बैठी रही। न हिल, न डुल ; मूरत-सी अचल। गोरू-लौटान[2] की बेर हो गई। कितने लोग थपाथप पैर बजाते गलियारे से गुजरे। मटके कँखियाए माँ-बहनें मुँह बन्द किए इधर-उधर झाँकती 'झोले' की ओर चल पड़ीं। लंबी पाँत-सी लग गई। बच्चे कूदने लगे। धूप हलकी-हलकी मुसकाती पहाड़ के ऊपर जा रही। पुयू का अटल मौन अटल रहा।

उस घर में हँसता कौन है ? यह किसकी बतकही की भनक है ?... नींद से उठी-सी पुयू मुँह उठा कर सुनने लगी।

दिउड़ हँस रहा था। उसकी नई घरनी हँस रही थी। बैरी पड़ोसी हँस रहे थे।

धीरे-धीरे आँसू सूख आए। मलिन मुँह के ऊपर तह-की-तह गरमाहट सिहक-सिहक आई। कनपट्टियाँ गरमाईं। कान खड़े हुए। प्यार

(१) उलू-ध्वनि। दे० पादटीका पृ० २९०।
(२) गोधूलि-वेला।

की बातें हो रही हैं। खिलखिला कर हँसा जा रहा है ! मेरे ही घर में, मेरे ही मुँह के ऊपर बैरी दिखा-दिखा के अदावत साध रहे हैं। पुयू रोष के मारे फूल उठी, कड़ी-से-कड़ी पड़ती गई। अब रुलाई नहीं आ रही थी। बल मिला, पके लोहे सा, फौलाद-सा, रोष का बल ! जी हुआ कि यों ही बैठी-बैठी सुनती रहे और रिसाती रहे। बड़ी देर बाद झपाटे के साथ दरवाजा पार करके उतर पड़ी। अपने आपको कोसने लगी, छिः, यहाँ क्यों बैठी हूँ, क्या देखने को ?

बच्चे को समेट कर कलेजे से लगा लिया और लेके चल पड़ी।

उस समय अँधेरा घिर चुका था।

सौ

"कौन जा रहा है ?"

पुयू चौंक पड़ी। अटक रही। मुड़के पीछे ताका।

मुँह खारा-खारा हो आया। मन में आग लपकी। गाँव का छोर आ गया शायद ! कहाँ चली जा रही हूँ ?

दो डग और बढ़ी। पीछे से डिसारी फिर गरजा—"अँधेरे में जंगल की ओर कौन जा रहा है ? सुनाई नहीं देता क्या ? आ, लौट आ।"

पुयू कुछ न बोली। चुपचाप सिर झुकाए लौट पड़ी। आकाश में तारे बिखरे पड़े थे। सदा की तरह आज भी पांडरू डिसारी अपने घर के आगे, ऊँची चट्टान पर बैठा सितारों का 'योग' देख रहा था। सितारों की टिमटिमाती हलकी रोशनी में उसकी देह का बस धुआ भर पहचाना जा सकता था। सिलेटी सिलुएती धुआ। न हिल, न डुल, पत्थर-सा बैठा था।

डिसारी फिर अपने काम में खो गया। जिसे टोका था, उसे भूल गया। आँखें फिर वहीं ऊपर को जा टँगी। दूर गलियारे में दोनों ओर के चूल्हे-चौके में बल रही रसोई-की-आग की लाल-लाल दौंक झिलमिल-झिलमिल झलक रही थी। लोग झुंड-झुंड जुटे जहाँ-तहाँ टोलियाँ बनाए जमे-बैठे थे। बतकहियाँ चल रही थीं।

क्या बतकही होगी ? मेरी बात के सिवा और क्या होगी ? दुनिया भर की सहानुभूति पीछे से खाने को दौड़ी आती है। हाटें बैठी हैं। गाँव-खेड़े की धूल-राख के घूरों पर नाम लिया जा रहा है, शुहरत हो रही है ! उस छोर पर घर है अपना, अपना घर, अपना संसार, अपने धाङड़ी-जीवन की समाधि ! पिछली यादें उभरीं, जी कुहक उठा।

कमर पर छोरे ने अँगड़ाई ली। गोद में ही जाने कब से सोया पड़ा है बेचारा ! क्या गत होगी इसकी ? कौन अपना कहकर—'मेरा' कहकर

पुकारेगा इसे ? कौन अपना आँचल 'माणिक'[1] ओढ़ाके पाले-पोसेगा ? किसके बूते यह मानव-छौना तनके खड़ा होगा ?

आँसू चुपचाप धार-धार चू पड़े। याद आया भगवान्। ऊपर आसमान में दरमू, तले दरतनी। डिसारी के आसनवाली चट्टान-तले सिसकियाँ भरती रो उठी। पुयू भी मुँह उठाकर आसमानों को ताकने लगी।

चरम वेदना के मूर्त रूप-सी काली निराशा में प्राणों के भीतर से "भगवान् भगवान्" की यह गुहार उठी। टूटी हाँड़ी की पोली गेंड़ली, लंबी आहों-उसाँसों के तपन की लू, आँसुओं लथपथ मानव का अपने हाथों गढ़ा संस्कार....... अँधेरा भगवान् !

"कौन रोता है ? क्या हुआ ?" डिसारी कूद के नीचे उतर आया और पास आ खड़ा हुआ। "ओह ! साँवता की 'डोक्री'[2] ! मत रो माँ ! रो मत। चल, चल।" कोमल स्वर में पुचकारता हलके हाथों अपने दरवाज़े पर ले गया। पुकारा, "अरी ओ बूढ़ी, इधर तो आ। देख कौन आया है !" किवाड़ खोल के बुढ़िया ने पुयू को देखा। कुछ बोली नहीं, दोनों बाँहें पसारकर अँकवार लिया और अँकवारे-ही-अँकवारे घर के भीतर ले गई। पीछे-पीछे पांडरू डिसारी भी भीतर आया।

किसी के मुँह में कोई बोल न था। चूल्हा जल रहा था। रसोई पक रही थी। पुयू दीवार से उठँगी बैठी रही। बूढ़ी ने चूल्हे में और लकड़ियाँ ठोंस दीं। आग की दौंक में घुटने जुटाए, गाल हाथों में लिए बैठा डिसारी सोचता रहा। उसके झिलमिलाते गोरे माथे पर कोई छाया उतरी, कोई उजली दमक कौंधी,....रंग आए-गए, और आखिर धीरे-धीरे पसीना बुँदकों-बुँदकों घमघमा उठा।

कितनी देर यों ही बीत गई। चुप-चुप बुढ़िया ने चुप-चुप बात उठाई। डिसारी ने सिर हिलाया। बात चली। हर कहीं वही बात, वही

१ कुभी में ही नहीं, ओड़िया, तेलुगु आदि में भी आँचल की यह उपमा मुहावरा बन गई है। —अनु०

२ गृहिणी। (दे० पादटीका पृष्ठ ३४९।)

बात ! पुयू सोच में पड़ी थी । संसारी लोगों के सरल उपदेश...सह जा सब-कुछ, मुँह-कान मूँद ले, बदे के आगे सिर झुका दे, एक-न-एक दिन सब ठीक हो जाएगा ! दुष्ट दंड पायगा, न्यायवंत पुरस्कार पायगा, उसी दिन के भरोसे आस बाँध, धीरज धर, जी कड़ा कर ले !

जी रखने के ढारस हैं ये आदमी के ! इसमें क्या रहता है ?

धीरे-धीरे ढारस की वाणी फिर चुक गई, मुरझा गई । पुयू के मुँह पर आग की दौंक पड़ रही थी । आँसू सूख आए थे । बाहर का तूफान भीतर को भेद रहा था । वहाँ बात पहुँच नहीं पाती, आप-ही-आप रास्ते में ही कहीं चू पड़ती है । फिर वही चुपचुप घर, वही सन्नाटा और वही कठ-पुतलों की तरह बैठे बूढ़ा-बूढ़ी । रसोई की हाँड़ी में एक ताल से खदबद-खद-बद आवाज हो रही थी । इतने बड़े घुप्प अँधेरे के बीच मानुष की यह इतनी नन्ही-सी अँगीठी ! वहाँ पर धुआँती आग कभी लाल, कभी बैंगनी तो कभी हरी लपटों में लवें लेती रंग-बिरंगी बल रही है । और बाहर ? बाहर केवल अन्धकार है, केवल अन्धकार !

वहाँ कोई सहानुभूति नहीं !

लंबी उसाँस भरता डिसारी उठा । उसकी आँखों की भभूती पुतलियों तले लाली छा गई थी । झटपट कह गया—"जा, थोड़ा-सा कुछ खा ले माँ, मुझे अभी देर है ।" डिसारी बाहर चला गया । बुढ़िया चौंककर रसोई पर ध्यान देने लगी । पुयू भी बाहर आ गई । पाँडरू डिसारी पैड़ियों पर खड़ा कहीं दूर को देख रहा था । कुछ कहेगा ? सब जानता है, सब जान ले सकता है, प्रसिद्ध सिद्धान्ती है । पूछने पर 'नाहीं' थोड़े कर देगा ? दीवार से लगी पुयू बड़ी देर तक पूछूँ-पूछूँ करती सोचती रही । पूछने को होंठ कँपकँपा के फिर स्थिर हो गए । कई पल बीत गए । पूछना पार न लग सका । खड़कन सुनकर डिसारी मुड़ा । बोला,—"फिर बाहर क्या आ गई तू ? बच्चे को ठंड लग जायगी । जा माँ, भीतर जा, खा-पी ले । मुझे अभी देर होगी । जा, इतना दुख काहे को ? मन को भुला ले । भूल जा, बिसार दे । हमारा जनम आनन्द के लिए हुआ है । आप न चाहें

तो फिर किसमें शक्ति है हमें पीड़ा पहुँचाने की ? संसार में दुख नहीं है ।"

कह के चला गया । कितनी सुन्दर बात है !

फिर वह अपनी चट्टान के ऊपर जा बैठा । रात भर पता नहीं कितने तारे गिनता रहेगा ! वह बड़ा ठहरा, ज्ञानी ठहरा, उसके पास विश्वास है, आनन्द है । पर सबके पास वह विश्वास कहाँ, वह आनन्द कहाँ ? सब उसी जैसे थोड़े ही हैं ?

बिसार दे ! दुख नहीं !...ये क्या उसके प्राणों की बातें हैं ? ये क्या सच हैं ? नाः ...ये सितारों की बातें हैं, आसमानों की बातें हैं, रक्त-माँस के बने मानुष की बातें नहीं !

अँधेरा ढुलकता चल रहा है । काले अँधेरे 'झोले' में अँधेरे की पूर की तरह ।

आसमान में टिमटिम तारे हैं । बहुत दूर । उदासी के इशारों की तरह ।

पूछने पर जवाब नहीं मिलता । निर्मम चौमूँद यवनिका है वह !

चट्टान के ऊपर डिसारी, सत्य का खोजी, बैठा रहा । देखता रहेगा, रोक नहीं पाएगा ; समझता रहेगा, समझा नहीं पाएगा । भरी बरसात में किसी अकेली सूखी उबेर रात की तरह । किसके लिए है वह ?... मेरे लिए तो हरगिज़ नहीं !

जुगनू उड़े फिर रहे हैं । अँधेरा गुलिया-गुलिया कर लहरियों-सा बिछा है । गलियारे में न तो रोशनियों की दौंक है, न आदमी का स्वर । मानो सभी सो पड़े हों, सब-कुछ सो पड़ा हो । सभी को डुबाती, सभी को उछालती एक शीतल विस्मृति लदी आ रही है ।

रात बढ़ती रही । रात ढलने लगी ।

डिसारी आया । बुढ़िया गुमसुम दरवाज़े पर बैठी थी । फुसफुस दो-दो बातें हुईं । बुढ़िया ने हाथों के इशारे से दिखला दिया । आँचल ओढ़े पुयू दीवार से सटी गुड़ीमुड़ी हुई सो रही थी । डिसारी झुक पड़ा । धीरे-

धीरे उसका सिर सहलाने लगा। पुयू नींद-ही-नींद में कँपकँपा गई। थमती रुलाई की हिचकी-सी उसकी साँसें सुनाई पड़ रही थीं। बूढ़ी ने पूछा—"यहीं सोती रहने दूँ?"

डिसारी ने कहा—"सोने दे। जी-भर सो लेने दे इसे। नींद में है। उठाना मत। कुछ ओढ़ा देना। ओसारे में टाटी भिड़का देना। हम तो हैं ही, डर क्या है? किसकी बेटी और किसकी बहू! हाय...."

मन-ही-मन डिसारी कहने लगा—"सरबू साँवता, सरबू साँवता, यह क्या हुआ?"

एक सौ एक

पौ फट रही थी ।

बच्चे को बहलाती पुयू उठ खड़ी हुई ।

डिसारी और उसकी बूढ़ी, दोनों सोए हैं । सभी सोए हैं । नए जीवन की समस्या लेकर भोर की सवारी चली आ रही है । कंध के लिए बस एक बात कह डालना ही काफ़ी होता है—." मेरा मन तुझ से राजी नहीं "! उसके बाद क्या रहा ? इस गाँव में अब अपना क्या स्वार्थ है ? लोग उठेंगे, झंझट-झमेला बढ़ जायगा । किसी के मातहत होकर रहना तो है नहीं !

नन्ही-सी चिड़िया का भी कोई अपना घोंसला होता है , नन्ही-सी चींटी की भी अपनी बाँबी होती है । मुझे रहने को ठौर नहीं ? रात की प्रतिज्ञा साकार होकर आँखों के आगे उग आई । दिख गया, दूर पठार के भीतर मिङटिङ गाँव है । बाप के घर की दीवारें ढह पड़ी हैं । पुराने लोगों में से कितने ही मर-खप कर कहीं खो चुके हैं । फिर भी अपना कहने को गाँव का नाम तो है ही । वह महाबली पहाड़ अब भी ज्यों-का-त्यों खड़ा है । वह चंपा झरना अब भी ज्यों-की-त्यों बहा जा रहा है । मानी बूढ़ा रघू साँवता बड़े आदर से समेट लेगा । कोई समझे कि न समझे, पुबुली समझेगी । धरती की गोद में सब के लिए बासा है, चिन्ता काहे की ? यह दो-दिनों का जीवन ही तो काटना है ? फिर तो परिवर्तन होगा ही । ये दो दिन कट नहीं पाएँगे ?

डिसारी ठीक कह रहा था, दुनिया में मरण नहीं है, दुख नहीं है ।

उतर पड़ी । लपकती बढ़ चली । पर यह क्या ? क्या हो गया है ?... नया युग, नई दुनिया ! लाख दम-दिलासे देने पर भी प्राणों के तार भीतर ही भीतर कँपकँपा रहे हैं, नई दुनिया थरथरा रही है !...होंठ काँप रहे हैं;

आंखों से आँसुओं की बड़ी-बड़ी बूँदें टपक-टपक कर मुँह में समाए जा रही हैं !

उदीयमान सूरज को निहारती हुई पुयू जी कड़ा करती बारंबार मन-ही-मन दुहराए जा रही थी ;

"जीवन में स्वाद है, रस है । मरण नहीं, दुख नहीं !"

●